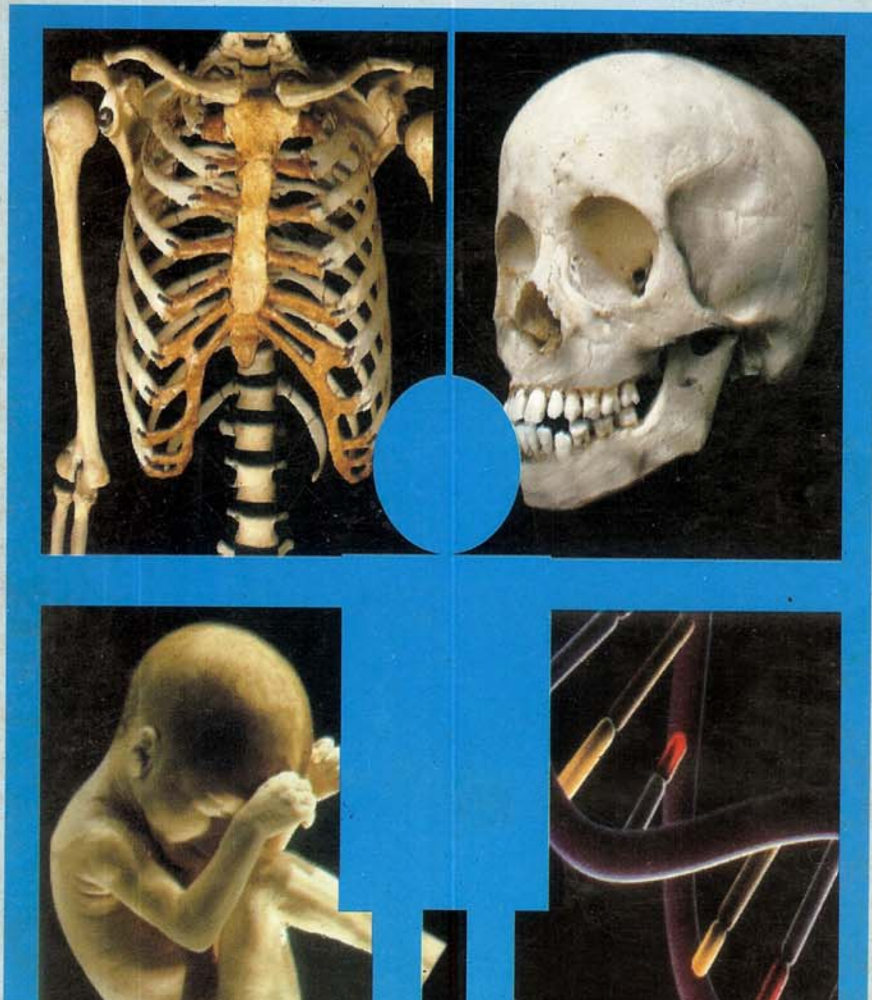
जैविक मानवविज्ञान

BIOLOGICAL ANTHROPOLOGY



लेखक
डॉ० उदय प्रताप सिंह

प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ

घटित हुए है। इन हिमयुगों, जिस समय धरातल के अधिकांश भाग हिमाच्छादित रहते थे, के मध्य में अन्तर्हिमयुग घटित हुए है। इस समय बर्फ पिघलती थी। गुंज हिमयुग सर्वाधिक प्राचीन है जो सम्भवतः 20 लाख वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था।जब आस्ट्रेलोपिथेसीन अफ्रीका में उदविकासित हो रहे थे। ये गुंज–मिण्डेल अन्तर्हिमयुग एवं मिण्डेल हिमयुग में अन्य फैले। मिण्डेल रिस अन्तर्हिमयुग एवं रिस हिमयुग (मध्य प्लाइस्टोसीन) में होमो इरेक्टस प्राचीन विश्व में अधिकांश भागों में विस्तीर्ण हो गये। होमो इरेक्टस के वंशज रिस–वुर्म अन्तर्हिमयुग में और विस्तृत हुए जिनका, विशेषीकरण महान हिमयुग के वुर्म में हुआ जो सबसे अधिक नूतन हिमयुग है।

इस प्रकार नियन्डरथल मानव का जन्म महान हिमयुग अथवा प्लाइस्टोसीन के अन्तिम चरण वुर्म (उत्तरी प्लाइस्टोसीन) में हुआ। वुर्म हिमयुग में मध्यपुरापाषाण कालीन संस्कृति–माउस्टीरियन (Mousterian) का पल्लवन इसीकाल में हुआ। इस समय सम्पूर्ण भू–भाग शीतप्रधान था। अधिकांश नियन्डरथल अवशेष शीत प्रधान भू भाग से खोजे गये है जो 1 लाख 70 हजार पूर्व से लेकर के 40 हजार वर्ष पूर्व के मध्य कालीन है। कालान्तर में 1 लाख वर्ष पूर्व जीवाश्म होमोसैपियंस नियन्डरथलेंसिस को "क्लासिक नियन्डरथल" एवं दूसरे को "प्रोग्रेसिव (प्रगतिशील) नियन्डरथल" कहा गया।

खोज :

सन् 1856 में पहला नियन्डरथल मानव एल्वर्सफील्ड के एक शिक्षक जो॰ सी॰ फ्यूलराट (J.C.Fuhlrott) के द्वारा जर्मनी के नियन्डर घाटी में खोजा गया। यह नियन्डर घाटी का उत्खनन स्थल ड्यूसेल डार्फ (Dusseldorf) के निकट है। इस स्थल के उत्खनन से एक छोटी गुफा पायी गयी जिसकी चिकनी मिट्टी (Clay) से जीवाश्म कंकाल प्राप्त हुए। इसके निकट कोई भी उपकरण एवं अस्थियाँ प्राप्त नहीं की जा सकी। प्राप्त जीवाश्म में एक कपाल खोल एवं लम्बी अस्थियाँ थी। फ्यूलराट एवं स्काफहौसेन जो बोन के शरीर रचनाशास्त्री थे, दोनों इस जीवाश्म को आदिम एवं मानव का पूर्वज मानते थे लेकिन आर. विरचो (R. Vircho) ने इसका खण्डन किया और अन्ततः किंग (King) 1864 ने इस जीवाश्म का नाम 'होमोनियन्डरथलेंसिस' रखा। कालान्तर में इसे वैज्ञानिक दुनिया ने 'हिममानव' के रूप में समझा गया।

क्लासिक नियन्डरथल : (Classic Neanderthal)

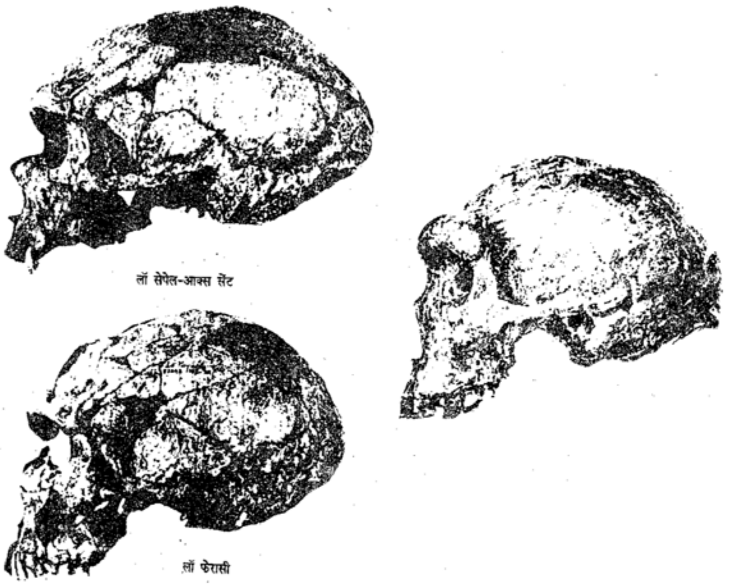
नियन्डरथल मानव जिसे आज वास्तव में 'क्लासिकल' या प्राचीन नियन्डरथल भी कहा जाता है ये वुर्म हिमयुग (Wurm I) में जन्में एवं पल्लवित हुए। इनके अवशेष कालान्तर में सम्पूर्ण यूरोप महाद्वीप के अन्य स्थलों में प्राप्त हुए।

इन्हें निम्न तालिका में दर्शाया गया है–

यूपोर महाद्वीप :

क्रम सं०	स्थल	नाम	प्राप्त अवशेष	वर्ष
1.	जर्मनी (नियन्डरघाटी, ड्यूसेलडार्फ)	नियन्डरथल	कपाल खोल, अस्थियाँ	1856
2.	बैल्जियम	स्पाई	दो कपाल, कंकालीय अवशेष	1886

क्रम सं०	स्थल	नाम	प्राप्त अवशेष	वर्ष
3	फ्रांस : (कोरेंज)	लाशैपेल ऑक्स सेंट्स	सम्पूर्ण प्रौढ़ कंकाल	1908
	डारडोग्न	ला मौस्टियर	सम्पूर्ण किशोर कंकाल	1908
	चैरेन्ट	ला क्विना	कई कपाल, (एक शिशु का भी)	1908–21
	डारगोग्न	लाफेरैसी	कपाल, कंकालीय अवशेष	1909–21
	---	अर्कीसर कर	जबड़े, के भग्नावशेष	1949–51
	---	रिगौर्डान	अधोहनु	1957
4.	ब्रिटेन	जर्सी	दांतों के भग्नावशेष	1910–11
5.	इटली	मॉन्टी सरकियो	कपालीय भग्नावशेष	1939
6.	कीनिया	कियिककोवा	कंकालीय भग्नावशेष	1924
7.	जिब्राल्टर (फार्वसक्वैरी)	जिब्राल्टर I	(एक सम्पूर्ण पाव कंकाल) महिला (?) कपाल	1844
8.	जिब्राल्टर (डविल्स टावर)	जिब्राल्टर II	शिशुकपाल के भग्नावशेष	1924



चित्र 11 : 108 परम्परागत नियन्डरथल कपाल

उक्त समस्त अवशेष गुफाओं से प्राप्त हुए है। इनसे सम्बन्धित जो संस्कृति पल्लवित हुई उसे फ्रांस की एक गुफा के नाम पर 'माउस्टीरियन' संस्कृति के नाम से जाना जाता है।

प्रगतिशील नियन्डरथल : (Progressive Neanderthal)

नियन्डरथल मानव जीवाश्मों में जिसे आज हम प्रगतिशील नियन्डरथल (Progressive Neanderthal) के नाम से भी जानते है (इसका नामकरण हुटन के द्वारा किया गया) वे पश्चिमी यूरोप के अतिरिक्त अन्य उत्तरी अफ्रीका एवं एशियायी स्थलों में भी प्राप्त हुए है।ये निम्न है :

क्रम	स्थल	नाम	प्राप्त अवशेष	वर्ष
1.	जर्मनी	इहरिन डॉर्फ	कपाल, कपालीय	1871
	(वीमैर)		एवं फीमर भग्नावशेष	1908
			अधोहनु	1914
			शिशु अधोहनु एवं कंकाल	1916
			महिला मस्तिष्क खोल	1925
		टौबक	दो दाँत	1887, 1892
2.	वुर्टेम्वर्ग	स्टीनहाइम	कपाल (अधोहनु बिना)	1933
3.	इग्लैण्ड	स्वांसकोम्ब	कपाल के भाग	1935–55
4.	युगोस्लाविया	क्रायिना	500 भग्नावशेषो से भी	1895–1905
	(क्रौशिया)		अधिक जो कम से कम	
			13 व्यक्तियों के हैं	
5.	चेकोस्लोवाकिया	गैनाब्से	मस्तिष्क खोल, रेडियस एवं	1926
			फीबुला भग्नावशेष	
6.	इटली	सैकॉपैस्टॉर	महिला कपाल	1929
	(रोम)		उच्चहनु पुरुषकपाल	1935
			के भग्नावशेष	
7.	उजवेकिस्तान	तेशिकताश	शिशुकब्र	1938
8.	फिलिस्तीन	तबुन (माउंटकार्मेली)	कपाल एवं प्रौढ़ कंकाल	1931–32
		स्खूल (माउंटकार्मेली)	1 प्रौढ़ एवं शिशु कंकाल	1931–32
		गैलिलो	कपालीय अवशेष	1925
		शुक्रवाह	एक प्रौढ़ तथा 6 शिशु कपाल	1933–35



चित्र 11 : 109 स्टीनहाइम कपाल की आस्ट्रेलियाई आदिवासियों से तुलना

उक्त इहरिनडॉर्फ, तौबक एवं गैनॉब्से जीवाश्म खुले स्थलों पर प्राप्त हुए, जबकि क्रापिना जीवाश्म गुफा अथवा चट्टान गुफा आश्रय स्थल से एवं सैकॉपैस्टार चिकने कंक्रडों (Grand) के जमाव से खोजे गये। ये सभी जीवाश्म अन्तिम अन्तर्हिमयुगीन भूपरतों से प्राप्त किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त कतिपय और भी जीवाश्म अन्य देशों से प्राप्त हुए है जिनकी भूगर्भीय आयु विवादस्पद है।

6.	स्पेन (जरोना)	बैनालैस	अधोहनु	1887
7.	मोरक्को	सीडी अब्दर्रहमान	अधोहनु के भग्नावशेष	1955
	" (रावट)	तेमैरा	अधोहनु के भग्नावशेष	1958
8.	साइरेनैका	हौआ फ्तीह	अधोहनु भग्नावशेष एवं नियन्डरथल चवर्णक (2)	1952–54

उक्त जीवाश्मों में समस्त अवशेष या तो गुफों से या खड़ी चट्टान (Cliff) के निकट जमाव से उत्खनित किए गये।स्टीनहाइम सम्भवतः मिण्डेल रिस अन्तर्हिम युग का है जो नदी के कंकड़ीले मिट्टी के जमाव से खोजा गया।

इस प्रकार "पुरातन नियन्डरथल" के अन्तर्गत प्रमुखतः तथा स्पाई (बेल्जियम), ला शैपेल –आक्स– सेंट्स, ला फिरैसी, ले मुस्तियर, ला क्विना (फ्रांस), नियन्डरथल (जर्मनी), जिब्राल्टर, मांट सीरको (इटली), शानीदार (ईराक) और मॉन्टमारिन (फ्रांस) जीवाश्म मानव हैं, जबकि "प्रगतिशील नियन्डरथल" समूह में इहरिंग्सडार्फ, स्टेनहाइम (जर्मनी), सैकोपेस्टोर (इटली), क्रापिना (युगोस्लाविया), स्वांसकोंब (इंग्लैण्ड), ऐशिकटस (उजबेकिस्तान), गैलिल, शुकवाह (फिलीस्तीन) तथा स्ट्बूल एवं तबुन की गुफाओं से प्राप्त माउण्ट कार्मेल जीवाश्म (फिलीस्तीन) समाविष्ट किये जाते हैं।(व्यूटनर जानुश 1973)

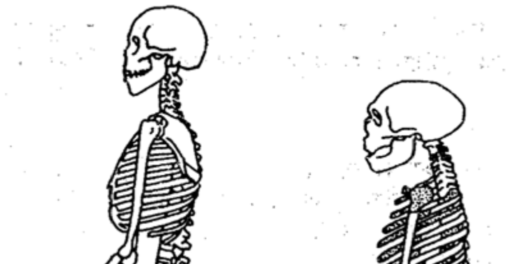
पुरातन नियन्डरथल लक्षण

पुरातन नियन्डरथल की ज्ञापनीय सामान्य विशिष्टताओं में से **उभारयुक्त अधिभ्रूकटक** क्षेत्र (जिस पर एक टांड Torus बन जाता है।) ऊर्ध्वललाट की अनुपस्थिति, लम्बा उदगत एवं संकीर्ण **मुखमण्डल** प्रमुख हैं। इनके आधार पर इन्हें होमोसैपियंस या आधुनिक मानव से पृथक भी किया जाता है। इसके अतिरिक्त उनका दवावयुक्त कपाल खोल, 1350–1723घन सेमी० (गीसला, 1957) कपालीय क्षमता, गोलाकार पश्चकपाल, विकसित नासिकास्थि, दीर्घ नासिकागुहा, दीर्घ एवं संकुचित चवर्णक, आधुनिक मानव से भिन्न पुराचवर्णक एवं रदनक, अनुपस्थित चिबुक, कुछ झुकाव युक्त फीमर एवं भुजा अस्थियाँ, टांग की अस्थियाँ अपेक्षाकृत छोटी तथा इनका लगभग 5 फिट से लेकर 5 फिट 4 इंच शारीरिक कद है। पुरातन नियन्डरथल जीवाश्मों के कपाल के प्रमुख लक्षण इस प्रकार है। वाइडेनरीच (1943) एवं गीसेलर (1957) के अवलोकनों पर आधारित है :

सदस्य	1	2	3	4	5
नियन्डरथल	19.9	14.7	73.9	–	1500 (e)
स्पाई – I	20.0	14.0	71.3	–	1562
ला क्विना	20.3	13.8	68.2–12.2 (e)	1350	
ला शैपेल आक्ससेंट्स	20.8	15.6	75.0	13.1	1620

संकेतः 1– (अधिकतम लम्बाई), 2– (अधिकतम चौड़ाई), 3– (कपालीय देशना), 4– (ब्रेम्मा वेसियन लम्बाई), 5– (कपालीय धारिता), e– अनुमान।

पुरातन नियन्डरथल (Conservative or Classic Neanderthal) समूह में जो भी जीवाश्मिक अवशेष प्राप्त हुए है उनमें एक वृद्ध पुरुष का कंकाल सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। वस्तुतः यह जीवाश्म इस समूह का प्रतिनिधि माना जाता है। यह जीवाश्म जिसका नाम "ला – शैपेल– आक्स सेंट्स" (फ्रांस) है, फ्रांस की एक गुफा में 1908 में खोजा गया। इसके साथ अन्य सामग्रियों में माउस्टीरियन संस्कृति काली चकमक पाषाण के उपकरण (Flint lools), द्वितीयक क्रिया से बनाये गये फलक (Retouched Blades) एवं स्क्रेपर (Serapers) हैं। इसके अतिरिक्त इसके साथ ऊनी गैडा, राइनडियर, जंगली घोड़े, जंगली भैंसे आदि के कंकालीय अवशेष भी प्राप्त किए गए है। ला–शैपेल–आक्स–सेंट्स की विशेषतायें निम्न हैं–



चित्र 11 : 110 मानव एवं ला-शैपेल ऑक्स सेंट नियन्डरथल के कंकाल एवं सम्भावित द्विपदीयता

कपाल :

मस्तिष्क कोष्ठ लम्बाई में अधिक लेकिन ऊँचाई में कम है। इनमें विराट भ्रूकटक निम्न एवं पीछे की ओर पाया जाता झुका हुआ ललाट, एवं उद्‌गत मुखमण्डल पाया जाता है। अधोहनु अपेक्षाकृत शक्तिशाली है। मस्टवायड प्रवर्ध आकार में लघु है। पश्चकपा टोरस (टांड) अधिक उभरा है। फोरामेन मैग्नम (महारन्ध्र) की स्थिति आधुनिक मानव सम है।

पुरातन नियन्डरक्षलों में 1350−1620 घन सेमी० के मध्य पायी गयी है स्त्रियों में यह 1300−1425 घन सेमी० आंकी गयी है। अन्त कपालीय संरचना के अध्ययन से कतिपय रहस्य और उद्‌घाटित होते है। मस्तिष्क का बाया खण्ड (Lobe) अपेक्षाकृत दीर्घ है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह दांये अंश का प्रयोग अधिक करता था। मस्तिष्क के कुण्डलीकरण प्रारूप साधारण है ये आधुनिक मानव सदृश नहीं है। इसके ललाट खण्ड (Frontal labe) सेरीब्रल सतह का लगभग 36 प्रतिशत भाग वर्तमान मनुष्यों में यह 43% एवं कपियों में 32% है। मस्तिष्क के सभी खण्ड पिथकैन्थ्रापस की अपेक्षा बड़े है। ललाट खण्ड का विवर्धन कम होते हुए भी बोलने की क्षमता का क्षेत्र (Area of speech) सुस्पष्ट है। पराइटल (पार्श्व) खण्ड विस्तृत है जो इसके सुविकसित संवेदनाओं एवं गतिशील हाथों का संकेत करते है। सुविकसित टेम्पारेल खण्ड में में श्रवण उभार स्पष्ट है। दृष्टि मानसिक क्षेत्र संवर्धित हुए है। इस प्रकार नियन्डरथल मानव का मस्तिष्क बड़ा, भारी एवं आदिम होते हुए भी स्पष्टतया मानव सदृश था।

दन्त विन्यास :

जबड़े आकार में भारी एवं बड़े है। चिबुक लगभग अनुपस्थित है जो नीचे की ढलवी है न कि ऊपर की ओर उन्नत। सिम्फाइसिस ढाल पीछे की ओर एवं अन्तःगामी प्रतीत होती है। सीमियन शेल्फ का अभाव है। सिम्मायड खांच संकरी एवं कोरोन्वायड प्रवर्ध गोठिल एवं निम्न है। दांतों का आकार साधारण से बड़ा है। कृतंक एवं रदनक आधुनिक मानव की चौड़ाई से दीर्घ है। जड़े प्रबल है। ग्लीन्वायड फोसा छिछले है क्योंकि सम्भवतः यह खाने को चबाने में निम्न जबड़े का उपयोग वर्तमान मानव के समान नहीं करता था। दन्तावकाश अनुपस्थित है।

धड :

शरीर के धड़ की अस्थियाँ नियन्डरथल मानव के छोटे एवं शक्तिशाली होने का संकेत करती है। मेरुदण्ड छोटा एवं भारी है। **सरवाइकल** कशेरुकाओं (ग्रीवा) के स्पाइन प्रवर्ध लम्बे एवं लगभग क्षैतिज है। इस स्थिति में यह चिम्पैंजी से कुछ समान है।

उपांग :

फीमर आकार में अपेक्षाकृत छोटी, भारी एवं धनुषाकार है। संयुक्त होने वाले शीर्ष (Head) बड़े आकार के है। काण्ड (Shaft) चिकने एवं वलयाकार हैं।लीनिया एखेरा सुस्पष्ट है जो इनकी ऊर्ध्व संस्थिति को इंगित करता है। टीबिया आकार में छोटी व बलिष्ठ है। इसका शीर्ष (Head) के ऊपरी सतह पर पीछे की ओर ढलवा है जो इस मानव में झुककर चलने (Bent Knee Walking) की स्थिति को इंगित करती है। (बूल 1912–1913)। लेकिन स्ट्राउस एवं केव (1967) ने बूल की इस धारणा को गलत करारा और विचार व्यक्त किया कि ला–शैपेल–अक्स–सेंट्स एक वृद्ध व्यक्ति का कंक्राल है, जो गठिया रोग से ग्रसित रहा होगा। इस रोग का प्रभाव कशेरुक अस्थियों एवं जबड़े पर देखा जा सकता है। सम्भवतः इससे घुटने भी प्रभावित हुए होंगे। कुछ वैज्ञानिकों ने इसके सूखे रोग से पीड़ित होने की सम्भावना व्यक्त की है।

प्रगतिशील नियन्डरथल

लक्षण :

प्रगतिशील नियन्डरथल के अवशेष अधिकांशतः पश्चिमी यूरोप के अतिरिक्त अन्य स्थालों से प्राप्त किये गये है। इनमें फिलिस्तीनी जीवाश्म (माउण्ड कार्मेल) अधिक महत्वपूर्ण है जो प्रगतिशील नियन्डरथल का प्रतिनिधि सदस्य के रूप में जाना गयाहै। यह पुरातन नियन्डरथल के विपरीत हल्के शरीर एवं आकृति वाले हैं। इनमें आधुनिक मानव के अधिकांश लक्षण विद्यमान हैं। कपाल पार्श्व में संकुचित होते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक ऊँचाई वाला है। चिबुक सामान्यता विकसित है। इनके प्रमुख जीवाश्म सदस्यों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है :

स्टीनहाइम (Steinheim) :

पश्चिमी जर्मनी के बुटेमवर्ग क्षेत्र में स्थित मारवान स्थल के कंक्रड़ीले खडड से सन् 1933 में स्टीनहाइम जीवाश्म प्राप्त हुआ, जो सम्भवतः मिन्डेल–रिस अन्तर्हिमयुग का है। इसके साथ कतिपय अन्य जीवों की अस्थियाँ भी प्राप्त हुई है परन्तु कोई उपकरण उपलब्ध नहीं हुए।

इस कपाल की लम्बाई 18.5 सेमी० तथा चौड़ाई अपेक्षाकृत कम (13.2 सेमी०) है। इसका कपालीय सूचकांक 70 हैं जो लम्बे सिर का संकेत करता है। इसकी कपालीय धारिता 1150–1175 घन सेमी० है। इसका ललाट पुरातन नियन्डरथल की भाँति निम्न नहीं है लेकिन भ्रूकटक टोरस विद्यमान है। कपाल गुम्बद ऊँचा है लेकिन पार्श्व में दबा है। उत्तल पश्च कपाल के बावजूद भी उसकी आकृति जूड़े (Bun) के समान नहीं है। नेत्रगुहा चौड़े हैं। नासिका जड़ आधुनिक मानव के सदृश है।गण्डास्थि (Zygomatic Bone) के नीचे गाल के गढ्ढे आधुनिक मानव सदृश है।जबडों में तृतीय चवर्णक परिरक्षित है तथा सभी चवर्णक आकार में छोटे है। वर्तमान मानव से इसकी उद्गतहनुता अधिक है।

इन लक्षणों के आधार पर ये पुरातन नियन्डरथल से भिन्न एवं हौमोसैपियंस सैपियंस की ओर अग्रसर प्रतीत होते है।इनके लिये कई विद्वानों ने होमोइरेक्टस एवं होमोइरैपियस की मध्यवर्ती स्थिति का प्रस्ताव किया। कुछ विद्वान इस जीवाश्म को यूरोप से बाहर जन्मे बताते है।

इहरेंग्सडार्फ(Ehringsdorph) :

इहरिंग्सडार्फमानव जीवाश्म जर्मनी के वीमर (Weimar) स्थल के खुली खदान से सन 1871 से 1916 तक प्राप्त होते रहे है। यह गर्म जलवायु का जीवाश्म अन्तिम अन्तर्हिमयुग (रिस–वुर्म) का प्रतीत होता है। इस जीवाश्म के साथ हाथी, गैंडा, वृषभ तथा घोड़े के अवशेष प्राप्त हुए है। अन्य सामग्रियों में माउस्टीरियन कालीन पाषाण उपकरण प्राप्त हुए है।

कपाल की लम्बाई 19.6 सेमी॰ एवं चौड़ाई 14.5 सेमी॰ है इसका कपाल सूचकांक 74 आंकलित किया गया है। इस से यह प्रतीत होता है कि ये मानव लम्बे सिर वाले थे। कपाल की अस्थियाँ पतली है। इसकी ऊँचाई अपेक्षाकृत अधिक है। कपाल गुम्बद पुरातन नियन्डरथल की अपेक्षा ऊँचा है। ललाट भी ऊँचा है तथा भ्रूकटक क्षेत्र उभरा एवं भारी है।इससे यह स्टाइन हाइम के समान प्रतीत होते है। इसके अतिरिक्त लक्षण पुरातन नियन्डरथल के सदृश है। कई विद्वान इसे मेधावी मानव के आदिम सदस्यों में से एक मानते हैं क्योंकि यह अधिकांश लक्षणों में आधुनिक मानव के सदृश है।

फिलिस्तीनी जीवाश्म (माउंटकारमेल) :

डोरोथी गेरॉड (Dorothy Garrod) एवं उनके अन्य साथियों ने 1931–32 में जेरुसलम के निकट माउन्ट कारमेल पर्वत की गुफाओं (स्खूल एवं ताबुन) से कई दबे हुए कंकालीय जीवाश्म खोजा। यही से कई पाषाण उकरण भी प्राप्त हुए जो लेवेल्वाइजियन–माउस्टीरिचना संस्कृति के है। यह जीवाश्म अन्तिम अन्तर्हिम युग सेलेकर के वुर्म हिमयुग कालीन है।

स्खूल गुफा से लगभग 10 व्यक्तियों के कंकालीय भग्नावशेष प्राप्त हुए है, जो पुरातन नियन्डरथलों से भिन्न है। दो व्यक्ति स्खूल IV एवं V 5 फिट 11 इंच से लेकर 6 फिट तक की शारीरिक ऊँचाई के है। कपाल लम्बे हैं (19.2–20.6 सेमी॰)। कपालीय क्षमता 1500 घन सेमी॰ से अधिक आँकी गयी है। ये भ्रूकटक क्षेत्र रखते है लेकिन अधोहनु में एक उभरी चिवुक विकसित है जो होमोसैपियंस सैपियस एवं नियन्डरपल के मिश्रित स्वरूप को इंगित करती है। इनका ललाट उन्नत है। मस्तिष्क गुम्बद ऊँचा है।

तबुन गुफा से एक 30 वर्षीय महिला का कंकाल प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त पुरुष अधोहनु भग्न कंकाल एवं दांतों के अवशेष प्राप्त हुए है। ताबुन महिला का कद स्खूल पुरुष के अपेक्षा कम है। यह लगभग 5 फिट की शारीरिक ऊँचाई की महिला है। इसका कपाल अपेक्षाकृत छोटा है। इसकी अधिकतम लम्बाई 18.3 सेमी॰ एवं ऊँचाई 11.5 सेमी॰ है। कपाल की धारिता लगभग 1270 घन सेमी॰ आंकलित की गयी है। उभरा भ्रूकटक, गोलाकार पश्चकपाल चाप वाले लक्षणों के कारण यह क्रापिना की महिला के सदृश प्रतीत होती है।

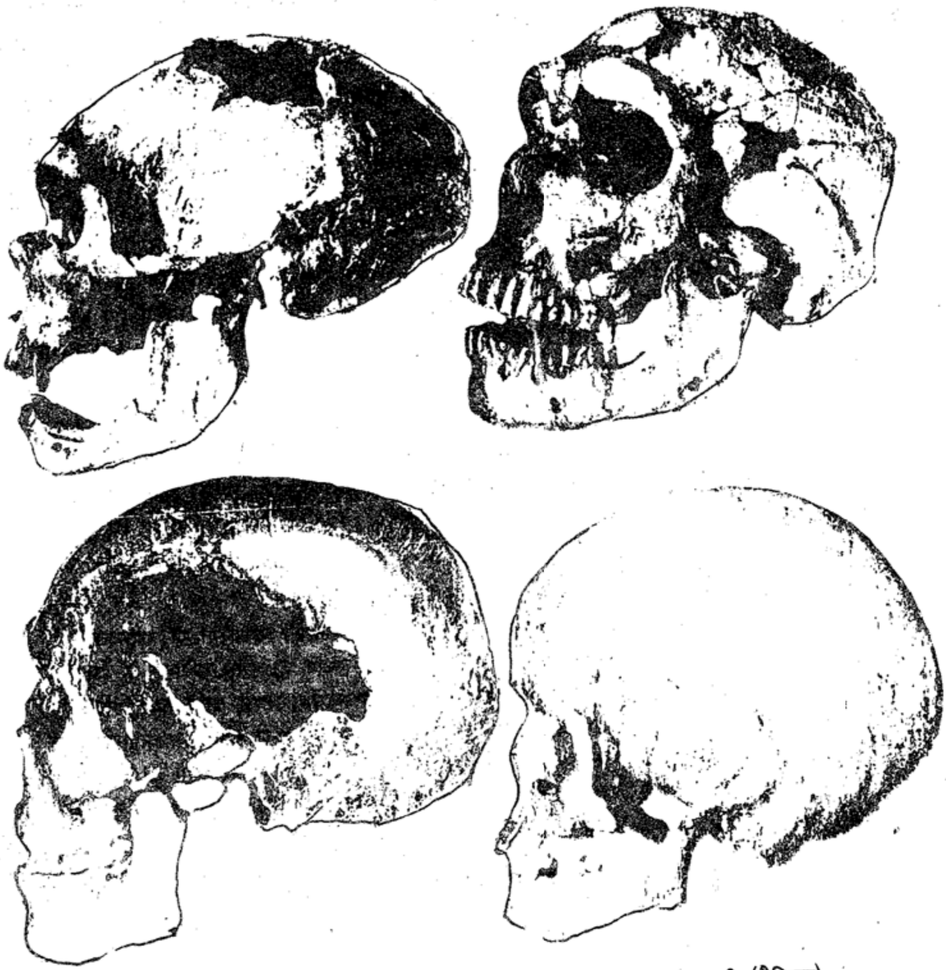
इस प्रकार प्रगतिशील नियन्डरथल पुरातन नियन्डरथलों की अपेक्षा विकसित मस्तिष्क वाले थे, जिनके दांतों का आकार मानव सदृश है (यद्यपि चवर्णक में आदिम लक्षण है)।इनमें अधोहनु के रैमस की चौड़ाई में विविधता, सुविकसित अधोहनु कोण, नासिका के नीचे मध्यम गहराई वाले जबड़े, विकसित चिबुक, चौड़ी नेत्रगुहा, उद्गतहनु के बजाय समहनु (Orthognathic) आनन मण्डल, ऊँचा कपाल गुम्बद, उभरा ललाट क्षेत्र आदि प्रमुख लक्षण है। प्रगतिशील नियन्डरथल के उग्रागों एंवं पश्चांगों का अनुमान भी माउंटकारमेल जीवाश्म के अवशेषों से किया गया है। इन जीवाश्म अवशेषों से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि ये आधुनिक मानव (Sapiens) की भांति ही थे।

सांस्कृतिक लक्षण

मध्य पुरापाषाण कालीन : मॉउस्टीरियन संस्कृति :

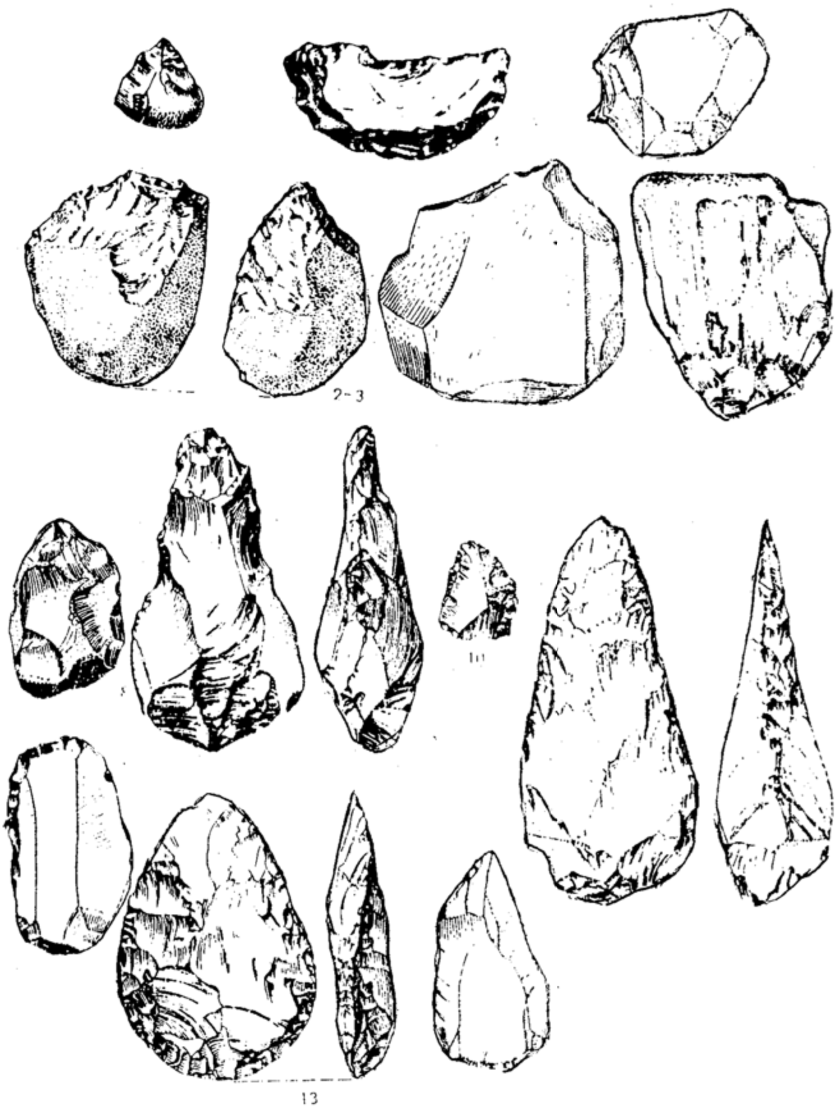
होमोसैपियंस नियन्डरथलेंसिस की मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति के 90 हजार वर्ष पूर्व 35 हजार वर्ष प्राचीन साक्ष्य प्राप्त हुए है। हस्त कुल्हाड़ियों का प्रयोग इस काल में प्रचलित था तथापि ये अल्प मात्रा में प्रयुक्त की जाती थी। अधिकांश उपकरण फ्लेक पर बनाये गये है। इनमें स्क्रेप, साइडस्क्रेप छेदक आदि प्रमुख हैं। प्रायः ये उकरण वटिकाश्म अथवा फ्लिट पर बनाये गये हैं। इनका प्रयोग सम्भवतः बड़े जन्तुओं के आखेट में किया जाता था।

लॉ-शैपेल लॉ-फेरासी



काम्ब सैपेल ग्रिमाल्डी (सैपियन)

चित्र 11 : 111 हिमकालीन फ्रांसीसी मानव (नियन्डरथल एवं सैपियन) के कपाल



चित्र 11 : 112 नियन्डरथल मानवों के पाषाण उपकरण पेबल, फलक, हस्तकुठार (1–14)

यद्यपि गुफा के मुहानों पर मानव आवास 20 लाख वर्ष पूर्व ही आरम्भ हुआ था लेकिन वुर्म हिम कीपरत जब स्कैन्डीनेवियन उच्च भागों से मैदानी भागों में फैलने लगी तो नियन्डरथल मानव ने व्यवस्थित रूप से गुफाओं में आवास करने लगा था। गुफायें गुफा परतों से चूल्हे की राख, कालिख आदि के अवशेष यह इंगित करते है कि नियन्डरथल ने आग निर्माण को सन्तुलित रूप से सीख लिया था। जलायी गयी अस्तियाँ यह इंगित करती है कि आहार को पकाना आरम्भ कर दिया गया था। फ्रक्वायस बोर्डस ने एक अस्थीय सुई (Needle) खोजा जो यह इंगित करता है कि पुरातन नियन्डरथल जन्तुओं के कोमल रोम का वस्त्र का उपयोग करता है।

दाह संस्कार :

बड़े मस्तिष्क वाले माउस्टीरियन मानव (नियन्डरथल) ने मृत मानव शरीर का अन्तिम संस्कार करना सर्वप्रथमआरम्भ किया। ये मृतकों को दफनाने वाले पहले ज्ञात व्यक्ति है। फ्रांस में ला मॉउस्टीरियन एवं ला–शैपेल ऑक्स सेंट्स ईराक के शनिडर एवं उजबेकिस्तान के तेशिक ताश में मृतकों को दफनाने के साक्ष्य प्राप्त हुए है। मृतकों के साथ पाषाण उपकरणों एवं आखेट किया गये जन्तुओं को दफनाने से यह स्पष्ट होता है कि ये लोग मृत्योपरान्त जीवन में विश्वास करते थे।

सामाजिक संगठन :

गठिया रोग से ग्रसित व्यक्ति 40 वर्ष से अधिक आयु तक जीवित रहा।ये यह प्रमाण सामाजिक संगठन की ओर इंगित करते है क्योंकि एक समाज ही अक्षम एवं असहाय व्यक्ति का पालन–पोषण कर सकता है। बड़े जानवरों का आखेट सामूहिक रूप से ही किया जा सकता है। प्राप्त साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि

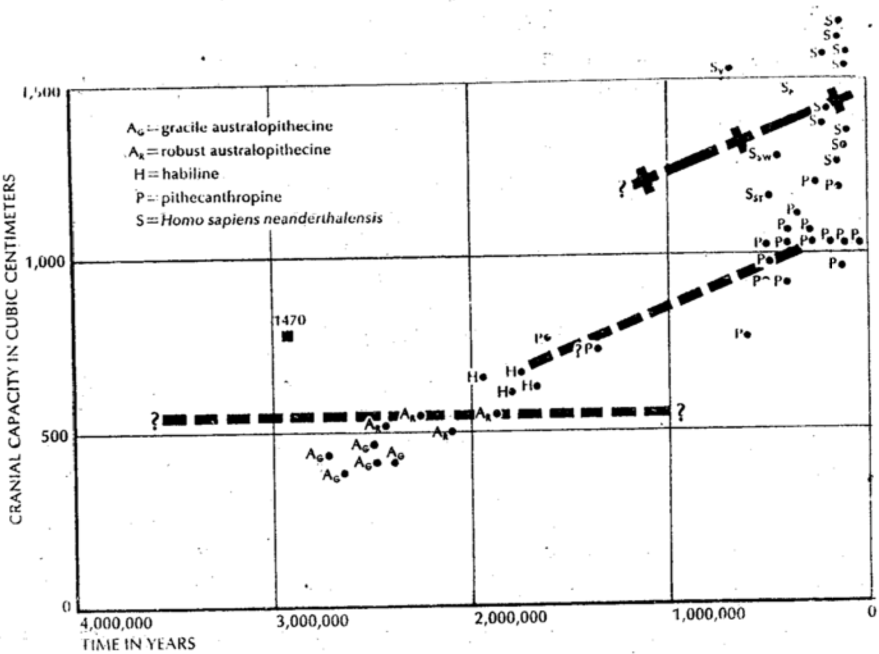


चित्र 11 : 113 नियन्डरथल मानवों का सम्भावित जीवन (डब्ल्यू वैन्डल की पुनर्रचना)

नियन्डरथल की अर्थव्यवस्था आखेट, खाद्य संग्रहण पर आधारित आज की वृंद व्यवस्था के समान है। अरेसवर्ग एवं साथियों नियन्डरथलों में बोलचाल की भाषा आधुनिक मानव के समान है। आर्थिक एवं सामाजिक कार्यों में स्त्रियाँ भी हाथ बंटाती थी।

उदविकासीय स्थिति :

जीवाश्म अभिलेख में 35 से 40 हजार वर्ष पूर्व से पुरातन नियन्डरथल विलुप्त हो जाते है। इस समस्या पर विद्वानों ने विचार किया है लेकिन मतभेद है। एक मत के अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि जब मेधावी मानव (Homo Sapiens Sapiens) ने इनके क्षेत्र में प्रवसन किया तो उन्होंने नियन्डरथल मानवों को धीरे–धीरे उनके स्थल से बाहर भगा दिया। कुछ जीवाश्म विशेषज्ञों का मत है कि नियन्डरथल ने ही आधुनिक मानव को जन्म दिया क्योंकि इसकी आधुनिक मानव तक उदविकासीय निरन्तरता प्रतीत होती है। कुछ विद्वानों का विचार है कि विशिष्ट उपकरणों का बाहुल्य शनैः–शनैः हुआ है जो नियन्डरथल काल की उन्नत प्रविधियों को परिरक्षित करता है।



चित्र 11 : 115 कपालीय धारिता पर आधारित होमोसैपियंस नियडरथैलेंसिस का उद्विकास (बर्डसेल 1976)

इस प्रकार नियन्डरथल मानव की जातिवृन्तीय स्थिति अत्यन्त विवादास्पद है एवं सबसे अधिक विवादास्पद है इनका वुर्म हिमयुग में विलोपन। इनके उदविकासीय स्थिति पर प्रभाव प्रायः दो मत हैं– (1) प्रगतिशील नियन्डरथल वस्तुतः पुरातन प्रकार के प्रतिनिधि है जो होमोसैपियंस में रूपान्तरित हुए (2) फिलीस्तीन मानव नियन्डरथल (पुरातन) एवं होमोस्पैनियस सैपियंस का मिश्रित रूप अथवा संकर समूह, प्रस्तावित किये जाते है जिस पर कई आपत्तियाँ प्रकट की गयी है।

एच० पी० ल्कायस 1958) ने नियन्डरथल से सम्बन्धित तीन अवधारणायें प्रस्तावित किया जिसे संसर (1984) ने अधिक महत्व दिया है। ये निम्न लिखित हैं–

(i) **मानव उदविकास की नियन्डरथल अवस्था की परिकल्पना :** नियन्डरथल मानव अपने मध्य प्लाइस्टोसीन, पूर्वजों से उदविकासीय होकर के अपनी अवस्था का विकास करते हुए अन्ततः आधुनिक मानव का उदविकास किया।

(ii) **पूर्व नियन्डरथल परिकल्पना–** इसके अनुसार नियन्डरथल मानव का जन्म पूर्व नियन्डरथल से हुआ जो तीव्र शीत का प्रतिरोध के लिए विशिष्टीकृत होता गया। और वह तीव्र प्राकृतिक वरण का शिकार हुआ।ऐसी स्थिति में पुरातन नियन्डरथल सीमित जीनी प्रवाह के फलस्वरूप मानव का विलग स्वरूप बन गया। इसके समर्थक (हॉवेल, सरगी, क्लार्क, हाबिलन आदि) यह विश्वास करते है कि नियन्डरथलों का पूर्वज वंश यूरोप महाद्वीप के बाहर दक्षिण अफ्रीका (सम्भवतः) के है।

(iii) **पूर्व सैपियन परिकल्पना–** इसके अनुसार यूरोप के अवशेष जैसे– स्टाइनहाइम, स्वांसकाम्ब आदि क्लासिक नियन्डरथल से पृथक थे। जिन्होंने अन्ततः यूरोपीयों को उत्पन्न किया तथा स्वयं हिमयुग के अन्त में लुप्त हो गये। (बूल, Boule)। अनेक प्रसिद्ध पुरामानव वैज्ञानिकों जैसे वेल्वायन, वीनर, लीके थोमा वूल के इस मत का समर्थन किया है।

इस प्रकार नियन्डरथल मानव की स्थिति विवादास्पद होते हुए भी मेधावी मानव (Homo Sapiens Sapiens) के निकटतम लक्षणों को प्रदर्शित करते हैं। इनमें से प्रगतिशील नियन्डरथल मानव उदविकासीय चरण की ओर अग्रसर हुए है, ऐसा अधिकांश पुरामानव वैज्ञानिकों का मत है। यह कहना कठिन है कि प्लाइस्टोसीन युगीन नियन्डरथल मानववंशी आधुनिक मानव में कब और कहाँ परिणत हुए।

होमोसैपियंस सैपियंस (मेधावी मानव)

होमो वंश के आरम्भ के पूर्व ही पाषाण संस्कृति की आधारशिला का न्यास हो चुका था जिसके कई प्रमाण आस्ट्रेलोपिथेसिन जीवाश्मों के साथ प्राप्त हुए है। यह संस्कृतियाँ उत्तरोत्तर प्रगति करती गयी और उपकरण के उपयोग के साथ–साथ आखेट, आवास, श्रमविभाजन, आग का प्रयोग, भाषा का विकास, मानव संस्कारों एवं रीति रिवाजों का अभ्युदय, कर्मकाण्डों एवं अलौकिक शक्ति में विश्वास का उदय आदि मानव गतिविधियाँ इनके आर्थिक व सामाजिक–सांस्कृतिक प्रगति को इंगित करते हैं। इस प्रकार प्राचीन मानव की पाषाण संस्कृति उत्तरोतर विकसित होती गयी और अपने निर्माता के वंशजों को अथवा अनुगामियों को प्रभावित करती गयी। इसका वातावरण के साथ सम्बन्ध अटूट एवं बेजोड़ रहा जिससे यह पर्यावरण की पूरक थी। इसके जैविक अनुकूलन से होमों वंश के एक मेधावी उपजाति– सैपियंस का उद्विकास प्लाइस्टोसीन के अन्तिम चरण–उत्तरप्लाइस्टोसीन युग में हुआ।

होमोसैपियंस सैपियंस के जीवाश्म यूरोप के अतिरिक्त पूरे प्राचीन विश्व से प्राप्त हुए है। कतिपय होमोसैपियस स्तर के महत्वपूर्ण जीवाश्म खोजे गये है तथापि वे द्वितीय अन्तर्हिमयुग के पश्चात् के कालों के अनुमानित किये गये है। अनुमान यह भी किया जाता है कि वे होमोसैपियंस की प्रारम्भिक अवस्था के मानव थे। इनमें से प्रमुख निम्न है–

रोडेशियन मानव :

अफ्रीका के ब्रोकेन हिल के रोडेशिया गुफा स्थल से 1921 में एक अधोहनु के विना कपाल एवं कुछ

कंकालीय अवशेष टी० स्वीगलार को प्राप्त हुए। यह गुफा लगभग 120 फिट लम्बी है। यही से आर्मस्ट्रांग एवं हर्डलिच्का को पुनः 1921−1925 के मध्य अन्य कंकालों के जीवाश्म प्राप्त हुए। इनमें जबड़े रहित कपाल, वायी टीविया, फीमर का भाग, एक सैक्रम, दो पेलविस के भग्नांश तथा ऊपरी जबड़े का भाग समावेश किये गये हैं। सम्भवतः यह अस्थियाँ दो व्यक्तियों की है ऐसा अनुमान किया जाता है।

ये जीवाश्म प्रारम्भिक प्लाइस्टोसीन काल के हैं, जो अनुमान अस्थियों में स्थित लेड व जिंक के परिमाण के विश्लेषण एवं जन्तु तथा पुरातात्विक अवशेषों के आधार पर किया गया है। रोडेशियन कपाल की अधिकतम लम्बाई 21.0 सेमी०, चौड़ाई 14.5 सेमी० वाइजेनरीच एवं सिंगर ने आंकी है। इसकी कपालीय देशना 69.4 है जो इनके लम्बे सिर का बोध कराती है। इनके कपाल की ऊँचाई 12.9 सेमी० है जो सिनैन्थ्रापस एवं पुरातन नियन्डरथल से भी ऊँची है। इनकी कपालीय औसत धारिता 1325 घन सेमी० आंकी गयी है। कीथ के अनुसार मस्तिष्क गुहा की लम्बाई 17.1 सेमी० है जो सम्पूर्ण कपाल का 81.4 प्रतिशत है। आधुनिक मानव के कपाल का यह अनुपात लगभग 92 प्रतिशत है।

कपाल के भ्रूकटक दीर्घ है। ललाट कपिसदृश निम्न तथा ढलवा है। पश्चकपाल का उभार अधिक है। पराइटल क्षेत्र का विस्तार मानव सदृश है। कीथ के अनुसार मस्तिष्क का यह विकास इसके द्विपद गामी व्यवहार एवं हाथों पैरों की गतिशीलता का संकेत करता है। इसके महारन्ध्र की स्थिति लगभग केन्द्रीय है जो कशेरुक दण्ड पर संतुलित है। मुखमण्डल दीर्घ एवं गण्डास्थि तथा मैक्सिला शक्तिशाली एवं सुविकसित है। यह कपाल एलव्योलर उदगतहनुता से युक्त है। तालु आधुनिक मानव सदृश गहरे, बड़े तथा चौड़े हैं।

दन्त रचना मानव सदृश है। इनके दांतों की मज्जागुहायें (Pulp cavities) दीर्घ नहीं है। सामान्यतया इनके दांत कीड़े लगने एवं सड़ने जैसे दंत रोगों का शिकार हुए प्रतीत होते हैं। इनका शारीरिक कद 5 फिट 10 इंच का आंकलित किया गया है। शरीर का भार का अनुमान लगभग 208 पाउन्ड किया जाता है। यह मानव ऊर्ध्व संस्थिति में द्विपादगामी था इससे इसके निम्नांग (Lower Limb) अपेक्षाकृत बड़ा, शक्तिशाली एवं भारी भरकम संधि क्षेत्रों वाला है। फीमर अस्थि मानव सदृश सीधी है न कि पुरातन नियन्डरथलों के समान कुछ धनुषाकार सैक्रम सीधी एवं संकीर्ण है।

इस प्रकार उक्त लक्षणों के से यह प्रतीत होता है कि यह जीवाश्म आधुनिक मानव की पूर्व अवस्था का है। इन्हीं लक्षणों के आधार पर 1921 में वुडवर्थ ने इसे "होमोरोडेयंसिस" नाम दिया। मारैन्ट मापों के तुलनात्मक अध्ययनों के आधार पर इसको होमोसैपियंस के सदृश मानते है। बूल के मतानुसार नियन्डरथल रोडेशिया एवं आधुनिक आस्ट्रेलिया के मानव एक की स्रोत से उत्पन्न हुए हैं। हूटन रोडेशिया मानव को नियन्डरथल मानव का समरूप मानते है।

सैल्दान्हा मानव :

अफ्रीका में केपटाउन के निकट सन् 1953 में कीथ को कपाल गुम्बद तथा बाद में अधोहनु के भग्नावशेष मिले यह रोडेशिया जीवाश्म के समान प्रतीत होता है। यह उत्तर प्लाइस्टोलीन युग के मानवो का जीवाश्म है। इस जीवाश्म के कपाल की लम्बाई 20.0 सेमी० तथा चौड़ाई 14.4 सेमी० है। इसके कपाल का सूचकांक 69 आकलित किया गया है जिससे यह दीर्घशिरश्क (लम्बा कपाल) प्रतीत होता है। इसकी कपालीय धारिता लगभग 1200 घन सेमी० अनुमानित की गयी है। कपाल की अस्तियाँ मोटी ऊँचाई में चपटी तथा ललाट टोरस उभरा है। कोइंगसवाल्ड के मतानुसार यह मानव रोडेशिया मानव का प्रत्यक्ष पूर्वज है। कैम्पवेल (1964) इसको होमोसैपियंस की रोडेशिया मानव के साथ ही एक उपजाति मानते है उन्होंने इस उपजाति का नाम होमोसैपियंस रोडेयंसिस प्रस्ताविक किया। इसी प्रकार का मत बूल एवं वैल्वाय ने भी प्रस्तुत किया है। ड्रेनान ने सैल्दान्हा मानव को एक पृथक स्पीसीज– "होमो सैल्दानैसिस" माना है।

नानडाँग मानव (सोलो मानव) :

एशिया महाद्वीप में जावा देश के केन्द्रीय भाग के नानडाँग (Ngondong) स्थान पर सन् 1931−32 में

ग्यारह टूटे हुए कपाल गुम्बद एवं दो टीविया प्राप्त हुई। यह स्थल ट्रिनिल के निकट सोलोनदी के तट पर स्थित है इस लिए इसको "सोलो मानव" के नाम से भी जाना जाता है। इसकी भूगर्भीय आयु अनिश्चित है तथापि उदविकासीय दृष्टिकोण से यह सम्भवतः उत्तर प्लाइस्टोसीन का होगा। आदिम लक्षणों में यह कपाल नियन्डरथल मानव से समानता प्रदर्शित करते हैं। कपाल की भित्ति मोटी है। भ्रूकटक क्षेत्र अधिक उभरा नहीं है। ललाट चपटा एवं ढलवा है।कपालों की लम्बाई 19.3 सेमी० से लेकर 21.9 सेमी० तक तथा चौड़ाई 14.0−14.4 सेमी० तक आंकी गयी है। ये कपाल लम्बे है इनके कपालों के सूचकांक 66.2 से लेकर 73.3 सेमी० है। ब्रेग्मा वेसियन लम्बाई 12.3−13.1 सेमी० अनुमानित की गयी है। कपालीय धारिता 1035 घन सेमी० एवं 1255 घन सेमी० के मध्य है। इनका भ्रूकटक क्षेत्र उभरी है। कपाल गुम्बद चपटा है। ललाट क्षेत्र दबा हुआ है। न्यूखल उभार आक्सिपिटल अस्थि के ऊपर है। फोरामेन मैग्नम (महारन्ध्र) की स्थिति हल्की पीछे की ओर है। सिर आगे की ओर झुका है। इसके अतिरिक्त कई लक्षणों में यह जावा एवं पेकिंग मानव के कपाल के सदृश है। अन्तः कपालीय ढाँचा सिनैथ्रापस के समान है। बाइडेनरीच ने इसे पिथकैन्थ्रापस का प्रत्यक्ष वंशज माना है, जो मत अत्यधिक विवादास्पद है।कोइंग्सवाल्ड (1961) ने इसे नियन्डरथल मानव का एक आद्य ऊष्णकटिबन्धीय रूप माना है। कैम्पवेल (1964) ने इसको होमोसैपियंस की एक उपजाति के रूप में मान्यता दी है। बेल्वाय (1957) नियन्डरथल मानव का पूर्वगामी स्वीकारते है तथा होमोइरेक्टस का अनुगामी।

स्वासंकाम्ब मानव :

ग्रेट ब्रिटेन में लन्दनं के निकट स्वासकाम्ब स्थल पर 1935−1953 के मध्य आक्सिपिटल अस्थि, बायीं एवं दायी पराइटल अस्थि मिली।इन कपालों का गहन अध्ययन ली−ग्रा−क्लार्क ने किया है। मोरैन्ट ने अस्थियों के परिणाम, महारन्ध्र की स्थिति, पराइटल अस्थि की स्थिति कपालीय वक्रों एवं ग्रीवा पेशियों के चिन्हों के आधार पर मानव के समान ठहराया है।इसकी कथालीय धारिता 1325 घन सेमी० आंकी गयी है। अतः कपालीय संरचना होमोसैपियंस के समान है।अस्थियाँ मोटी तथा स्क्वैमस भाग चौड़ा है। यह पश्चक्षेत्र में गोलाकार है जिससे यह स्टीन हाइम के समान प्रतीत होता है। बेल्वाय (1954) ने स्वांसकांव को मेधावी की पूर्वस्थिति (Presapiens) का बताया। क्लार्क(1955) इसको स्टाइनहाइम के साथ ही पूर्व माउस्टीरियन अवस्था का जीवाश्म मानव के रूप में स्वीकारा है।

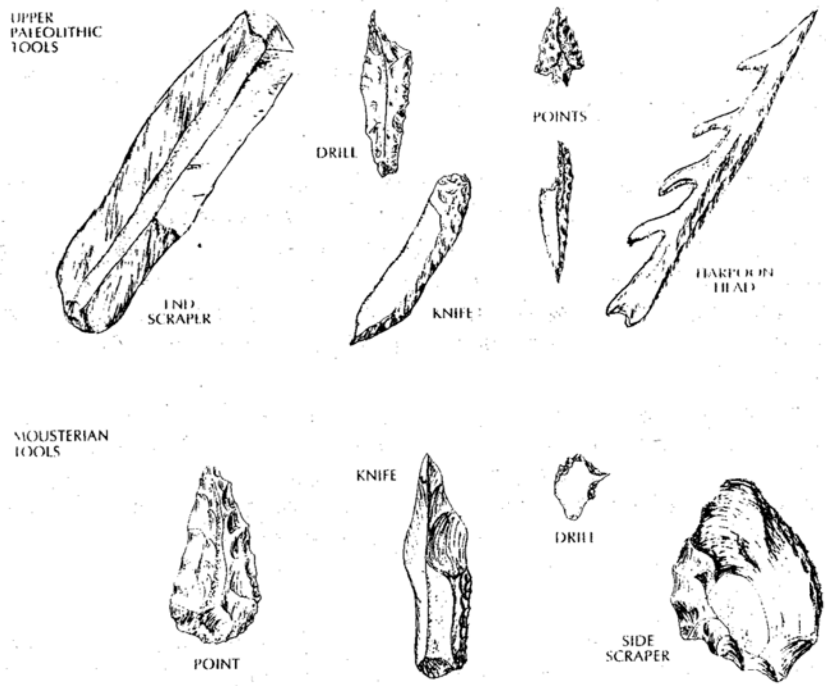
फॉन्टेशेवाद मानव :

यूरोपीय महाद्वीप में दक्षिणी फ्रांस के फॉन्टेशेवाद स्थल की एक गुफा से सन् 1947 में हैनरी मार्टिन ने एक भग्न फ्रंटल अस्थि एवं कुछ पराइटल अस्थि अवशेषों को प्राप्त किया। जीवाश्मिक एवं पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर इसे अन्तिम हिमयुग (वुर्म) का माना जाता है।

यह जीवाश्म अवशेष मेधावी मानव सदृश है। कपाल की अनुमानित चौड़ाई 15.4 सेमी है। पुनर्निमित कपाल का सूचकांक मध्य शिरस्क प्रकार के कपालों का बोध कराता है। इसकी आकलित क्षमता लगभग 1450 घन सेमी० है। इनका ललाट दबा हुआ एवं ढलवा है। इसका भ्रूकटक क्षेत्र पुरातन नियन्डरथल मानव की अपेक्षा अल्पविकसित है। वैल्वाबस ने इसे वास्तविक नियन्डरथल वर्ग के रूप में व्यक्तिगत मान्यता दी थी जो मत क्लार्क व हावेल के द्वारा खण्डन किया गया।इसकी उदविकासीय स्थिति को भविष्य ही निश्चित करेगा तथापि कोइंग्सवाल्ड ने इसे पूर्व सैपियन श्रेणी के प्रतिनिधि के रूप में माना है।

उत्तर प्लाइस्टोसीन युग के मेधावी मानव

उत्तर प्लाइस्टोसीन युग में जिस समय अन्तिम हिमयुग की शीत जलवायु थी तब मुख्यतः तीन संस्कृतिया− अरिगनेशियन, सल्यूट्रियन एवं मेग्डालीनियन संस्कृतियों का उदविकास हुआ। ऐसा माना जाता है कि जिन स्थानों पर नियन्डरथल मानव निवास करता था, कालान्तर में उन्हीं स्थलों पर उनका परवर्ती



चित्र 11 : 114 उत्तर-पाषाणकालीन **मानव द्वारा** प्रयुक्त विशिष्ट उपकरण

मानव उदविकसित हुआ जो नियन्डरथल मानव की अपेक्षा अधिक बौद्धिक एवं सफल था। इस प्रकार अति मेधावी मानवों के जीवाश्म अवशेष मुख्यतया यूरोप महाद्वीप में ही प्राप्त हुए है जो वर्तमान मानव के उदविकास की दिशा को सुनिश्चित करते है।इनमें से प्रमुख का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है।

(1) क्रोमैग्नन मानव (Cromagnon)

खोजः

सन् 1868 में लुई लारटेट ने फ्रांस के डारडोग्न जनपद में **लेस एजीज** गांव की एक गुफा से कुछ जीवाश्म अवशेषों की खोज की। यह स्थल बिजारे नदी के तट पर स्थित है। इस जीवाश्म का नाम लारटेट ने "क्रो–मैगनन" रखा जो गुफा के नाम से उदधृत किया गया। जीवाश्म सामग्री में एक वृद्ध व्यक्ति का कपाल एवं कतिपय दूरी पर अन्य व्यक्तियों के कंकालीय अवशेष प्राप्त किये गये।

शारीरिक लक्षण :

क्रोमैगनन जीवाश्मों का प्रतिनिधित्व मुख्यतया वृद्ध व्यक्ति के अवशेष करते हैं जिसके शारीरिक लक्षणों के आधार पर मानव का वर्णन यहाँ किया जा रहा हैं।

कपाल :

क्रोमैगनन का कपाल दीर्घ एवं भारी है। इसकी लम्बाई चौड़ाई के अनुपात में बहुत अधिक है जो क्रमशः 20.3 सेमी॰ एवं 15.0 सेमी॰ है। कपाल की ऊँचाई 13.2 सेमी॰ है। इसके आधार पर इसकी कपालीय देशना दीर्घशिरश्क आंकलित की गयी है। कपाल गुम्बद ऊँची है। इसकी कपालीय धारिता कीथ एवं वूल के द्वारा भिन्न–भिन्न आंकी गयी है जो क्रमशः 1660 घन सेमी॰ एवं 1590 घन सेमी॰ है। यह आधुनिक यूरोपीयों से अधिक है। इनका ललाट क्षेत्र चौड़ा एवं ऊँचाई साधारण है। भ्रूकटक क्षेत्र का विकास साधारण है। इसका पश्चभाग-आक्सिपुट पीछे की ओर उभार लिये है। कपाल की चौड़ाई पार्श्व अस्थियों (पराइटल) पर सर्वाधिक है।

आनन मण्डल अधिक चौड़ा, छोटा एवं सपाट है। इस प्रकार दीर्घ कपालीय क्षेत्र के साथ-साथ आनन क्षेत्र लघु एवं चौड़ा है जो कपालीय असंगति को प्रदर्शित करता है। नेत्र मुहाने दीर्घ एवं चतुर्भुजाकार है। इनकी चौड़ाई ऊँचाई से अधिक प्रतीत होती है। गण्डास्थि (Zygomatic) क्षेत्र पुष्ठ दीर्घ, एवं उभरा है। नासिका लम्बी है एवं संकरी है अर्थात् "लेप्टोराइन" सूचकांक की है। एलव्योलर क्षेत्र में उदगतता के लक्षण प्रतीत होते हैं। तालु छिछला एवं संकीर्ण है। अधोहनु पुष्ठ है लेकिन अधिक भारी नहीं है। ऊर्ध्व रैमस अधिक चौड़े नहीं है। चिवुक सुविकसित है। दन्तः रचना सामान्य है।

उपांग :

फीमर अस्थि का काण्ड (Shaft) चपटा (Platymeric) है एवं बाहर की ओर धनुषाकार है। इसमें लीनिया एस्पेरा सुविकसित है। टीबिया अस्थि पार्श्व में चपटी (Platycemic) है। दोनों अस्थियों में पेशीय चिन्हांकन स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। अग्रवाहु उच्च बाहु की अपेक्षा लम्बे हैं। टांगे जांघों की अपेक्षा लम्बी है। पुरामानवशास्त्रियों के अनुसार यह अनुपात नीग्रो प्रजाति के समकक्ष है।

लम्बी अस्थियाँ इनके फुर्तीले एवं गतिशील शारीरिक गठन को इंगित करती है। जिसके शरीर पुष्ठ मांसपेशियों से युक्त था। यह मानव लम्बे कद का था। अस्थियों के आधार पर इसकी शारीरिक ऊँचाई 5 फिट 61/4 इंच आंकलित किया गया है। बूल ने क्रोमैगनन को 5 फिट 11.6 इंच शारीरिक कद वाला अनुमानित किया है।

सांस्कृतिक लक्षण :

क्रोमैगनन जीवाश्म अवशेषों के साथ अन्य सामग्री जैसे– उपकरण, आग जलाने के चिन्ह एवं जन्तुओं की अस्थियाँ प्राप्त हुई है। उपकरणों में पाषाण उपकरण के साथ–साथ अस्थि निर्मित हार्पून भी प्राप्त किये गये हैं। उपकरणों में फलक–उपकरण (Blade Tool) की प्रधानता है। इस प्रकार के फलक अफ्रीका एवं

दक्षिणी पूर्वी एशिया में नहीं हैं। जीवाश्म सम्बद्ध सामग्रियाँ इंगित करती है कि क्रोमैगनन अरिग्नेशियन संस्कृति में विकसित हुए जो उच्च पुरापाषाण काल में पल्लवित हुए। क्रोमैगनन ने इस संस्कृति का विकास किया तथा गुफा चित्र, सींग अथवा अस्थि एवं पाषाण की मूर्तियाँ (मूर्तिकला) आदि नवीन कलाओं से संस्कृति में योगदान किया।

जन्तुओं के अवशेषों में गैडा, मैमथ, गुफावासी भालू आदि हिमयुगीन जलवायु का संकेत करते है। कालान्तर में ये जन्तु अपेक्षाकृत गर्म एवं शुष्क जलवायु के जानवरों के द्वारा स्थानान्तरित हुए।

ये गुफाओं के मुहानों पर निवास करते थे। आग जलाकर वे इन्हें गर्म रखते थे। बोर्डे (1968), क्लार्क (1967) एवं क्लाइन (1969) मानव समूहों को मैदानी भागों में झोपडेनुमा निवास बना करके निवास करने का मत प्रतिपादित करते है। सम्भवतः यह बड़े आखेटों के लिए पशुओं को प्रायः हांका लगाकर खडडों में गिराकर फंसा लेते थे। तत्पश्चात् अपने प्रहार उपकरणों से शिकार को मार देते थे। ·

इस प्रकार जीवाश्म साक्ष्य यह संकेत करते हैं कि क्रोमैगनन उच्च पुरापाषाण काल के उपरान्त विलुप्त नहीं हुए।वे नवपाषाण संस्कृति से गुजरते हुए आज भी जीवित है। डॉ० कॉलिगनॉन ने फ्रांस के डारगोग्न के निवासी लोगों के लक्षणों में क्रोमैगनन तत्व की उपस्थिति का मत प्रस्तुत किया है। डेनिकर ने इनके शारीरिक तत्वों को अटलांटो–मेडीटेरियन जनसमूहों में अवलोकित किया है।

ग्रिमाल्डी मानव(Grimaldi man)

फ्रांस के भूमध्य सागरीय तटवर्ती मोनैको क्षेत्र के ग्रिमाल्डी नामक गांव की चट्टानी गुफा "ग्राटे डेस इनफैन्ट्स"(Grotte des Enfants) से सन् 1901 में दो कंकालीय जीवाश्म खोजे गये। जो बाद में "ग्रिमाल्डी मानव" के नाम से जाने गये। प्रोफेसर वरनियों ने इन कंकालों को नीग्रों सदृश माना। यह उत्खनन स्थल लगभग इटली–फ्रांस सीमा पर स्थित है। इस स्थल से आग जलाने के चिन्ह, उपकरण एवं जन्तु अवशेष प्राप्त हुए है जिनके अध्ययन से पता चलता है कि वे उच्च पुरापाषाण कालीन संस्कृति के है जो संस्कृति प्लाइस्टोसीन के अन्तिम चरण में यूरोपीय देशों में पनपी थी।

लक्षण :

मानव जीवाश्म अवशेषों में एक वृद्ध महिला एवं एक किशोर बच्चे के कंकाल को प्राप्त किया गया जिन्हें साथ–साथ दफनाया गया था। इन जीवाश्मों की शारीरिक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

कपाल :

कपाल लम्बे संकीर्ण एवं ऊँचे है जो दीर्घशिरश्क है। महिला कपाल की देशना 68.5 एवं किशोर बालक की 69.2 है। इनके कपाल की औसत ऊँचाई 11.5 सेमी० है। महिला कपाल की धारिता लगभग 1265 घन सेमी० कीथ द्वारा आंकलित की गयी है। मस्ट्वायड प्रवर्ध लघु एवं पार्श्व अस्थियाँ चपटी है। मुखमण्डल आकार में बड़ा है लेकिन कपालीय अनुपात में लघु है। गण्डास्थि (Zygomatic Bone) अति संकीर्ण है। भ्रूकटक अल्पविकसित है। ललाट क्षेत्र पूर्णविकसित एवं हल्का आगे की ओर उभरा हुआ है जैसे आधुनिक नीग्रों प्रजाति में दृष्टिगोचर होता है। नेत्रगुहा चौड़ी है। नासिका चौड़ी (Platyrrhine) है। नासिका सेतु निम्न एवं नासिका मूल अधिक धसी है। दंत रचना आस्ट्रेल्वायड एवं नीग्रोसम है। एलव्योलर उद्गतहनुता नीग्रों सम प्रतीत होती है। तालु गहरा संकरा एवं लम्बा है। नीग्रों एवं आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के एलव्योलर किनारों के सदृश u– आकार का है। अधोहनु शक्तिशाली एवं इसकी रैमस चौड़ी तथा शेष समस्त भाग मोटा है। चिवुक स्पष्ट लेकिन अधिक उभरा नहीं है।

उपांग एवं धड़ :

निम्नांग उच्चांग के सदृश लम्बा है। अग्रवाहु एवं टांगे क्रमशः उच्च बाहु एवं जांघों की अपेक्षा दीर्घ है जो लक्षण नीग्रों सदृश है। वरनियों के अनुसार इलियक अस्थि की ऊर्ध्व स्थिति, इलियक क्रेस्ट की अर्धवृन्ताकृति, निम्न शियाटिक खांच के परिमाण में ह्रास वृद्ध महिला को यूरोपीयों से भिन्न एवं नीग्रों के

सदृश प्रमाणित करते है। उर्विका (Fernur) के काण्ड में स्पष्टतः हल्का झुकाव है। टीबिया का शीर्ष हल्का पीछे झुका है। एड़ी अस्थि का उभार नीग्रो सदृश लक्षण प्रतीत होता है।

इस प्रकार वृद्ध महिला के कंकाल की सम्पूर्ण ऊँचाई 5.3 फिट एवं 3 इंच अनुमानित किया गया है। किशोर बालक (15 से 19 वर्ष के मध्य) का कद महिला से कम लगभग 5 फिट 11/2 इंच अंकलित किया गया है।

प्रजातीय सम्बन्ध :

वरनियों ने अनेकों शारीरिक लक्षणों की तुलना वर्तमान मानव भौगोलिक प्रजातियों से की जिसमें उन्होंने ग्रीमाल्डी जीवाश्म को आधुनिक नीग्रो के लक्षणों के समकक्ष माना। सालैस एवं बूल ने ग्रीमाल्डी नीग्रो तत्वों को बुशमैन एवं हाटेनटाट दक्षिणी अफ्रीकी मानव समूह के सदृश माना हा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ग्रिमाल्डी एवं क्रोमैग्नन मानव अनेकों लक्षणों में विभेद रखने के बावजूद भी दोनों पृथक–पृथक जनसमूहों का प्रतिनिधित्व नहीं करते है तथा दोनों की मिश्रित रूप रचना उसकाल में नीग्रो तथा यूरोपीयों के मध्य अन्तरसंकरण की पुष्टि करते है। प्रोफेसर वैज्ञानियों ने इटली के जनसमूहों में ग्रिमाल्डी तत्व के वर्तमान अस्तित्व की सम्भावना व्यक्त की है।

सांस्कृतिक लक्षण :

ग्रिमाल्डी जीवाश्मं के साथ–साथ उपकरण, जन्तुओं की अस्थियाँ उच्च पुरापाषाण काल की प्राप्त हुई है। उपकरणों में घुरी, स्क्रेपर, ग्रेवर्स, आरी आदि इस काल की विकसिति संस्कृति को इंगित करते है तथा ग्रिमाल्डियों के उपकरण निर्माण की कुशलता का बोध करते है। पुरातात्विक साक्ष्य यह इंगित करते है कि इनकी अरिग्नेसियन सांस्कृति फ्रांस के दक्षिण–पश्चिम भूमध्य सागरीय क्षेत्रों के अतिरिक्त स्पेन के उत्तरी भागों में भी विस्तीर्ण थी। मृतक संस्कार, आग के प्रयोग के चिन्ह, गुफा चित्रों के प्रमाण, जानवरों का आखेट इनके आर्थिक एवं सामाजिक एवं धार्मिक जीवन को भी व्यक्त करते है। सम्भवतः ग्रिमाल्डी मानव क्रोमैगनन का समकालीन था, उनमें क्रोमैगनन मानव अरिग्नेशियन संस्कृति के अतिरिक्त सल्यूट्रियन संस्कृति का भी निर्माण किया। ग्रिमाल्डी मानव से सम्बन्धित पुरातात्विक साक्ष्यों की बहुल उपलब्धता न होने के कारण वर्किट (1963) ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि ग्रिमाल्डी मानव ने अरिग्नेशियन संस्कृति के महाद्वीप प्रसार में कोई हाथ नहीं बटाया। हो सकता है कि वह बाहर से आकर फ्रांस में प्रवाह किये हो।

चांसलेड मानव : (Chancelade Man)

फ्रांस में ही एक तीसरा प्रमुख होमो सैपिंयस सैपिंयस जीवाश्म डारडोन क्षेत्र के चांसलेड स्थल के निकट गुफा स्थलों से पुरामानव वैज्ञानिक फीक्स तथा हार्डे सन् 1888 में खोजा। कंकाल जीवाश्म खदान से बायीं करवट में प्राप्त हुआ।इसकी भुजायें वक्ष पर मुड़ी हुई थी तथा उसके घुटने भी वक्षस्थल की ओर मुड़ें हुए थे। उत्खनित साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि दफनाने के पहले इसके शरीर पर लाल मिट्टी (गेरु) का लेप लगाया गया होगा। इस प्रकार के मृतक संस्कार की परम्परा एस्कीमों में आज भी पायी जाती है।

लक्षण :

इस मानव का कद छोटा है जो लगभग 5 फिट से अधिक अनुमानित नहीं किया जाता है। इस जीवाश्म की दफनानें के समय अनुमानित आयु 55 से 65 वर्ष के मध्य प्रतीत होती है। इसके उपांगों एवं अन्य अंगों के अस्थियाँ शक्तिशाली है । उच्चांग तथा निम्नांगों की ऊपरी अस्थियाँ निचली अस्थियों से लम्बी है। फीमर लची हुई है। टीबिया पार्श्व में चपटी है। पाद कंकाल लम्बा है।इस प्रकार नियन्डरथल मानव के सदृश ग्रिमाल्डी मानव में भी प्रथम मेटाटार्सल द्वितीय से स्पष्टतः पृथक है। इनकी मोटी एवं भारी अस्थियाँ इनके पुष्ठ एवं शक्तिशाली मांसल शरीर की पुष्टि करती है।

कपाल :

कपाल लम्बा एवं संकीर्ण है। इसकी 19.4 सेमी॰ लम्बाई एवं 13.4 सेमी॰ चौड़ाई मापी गयी है। इसकी कपालीय देशना दीर्घशिरश्क प्रकार की है जिसका मान 70.9 है। कीथ ने 1530 घन सेमी॰ इसकी कपालीय क्षमता आंकलित किया है।कपाल का गुम्बद ऊँचा है। भ्रूकटक क्षेत्र का विकास साधारण है। ललाट क्षेत्र लगभग ऊर्ध्व रेखीय है। पार्श्व अस्थियों (Parietal Bone) के पार्श्व उभार अधिक है। मस्ट्वायड प्रवर्ध पूर्णतः विकसित है। इसका आनन मण्डल लम्बा तथा सामान्यता चौड़ा है। नेत्र गुहा चौड़ी है। गण्डास्थियाँ सुविकसित है फलस्वरूप आनन क्षेत्र चपटा प्रतीत होता है। नासिका लम्बी, ऊँची एवं पतली है। अधोहनु (Mandible) पुष्ठ एवं सकरा है तथापि रैमस चौड़े एवं चिबुक का उभार स्पष्ट है। भारी जबड़े एवं चौड़ी गण्डास्थि चाप इनके अधिक जटिल चवर्ण को इंगित करते है। तालु सकरे तथा एलव्योलर भाग बाहर से देखने पर अण्डाकार (Elliptical) है। इनके दाँत बड़े नहीं है।

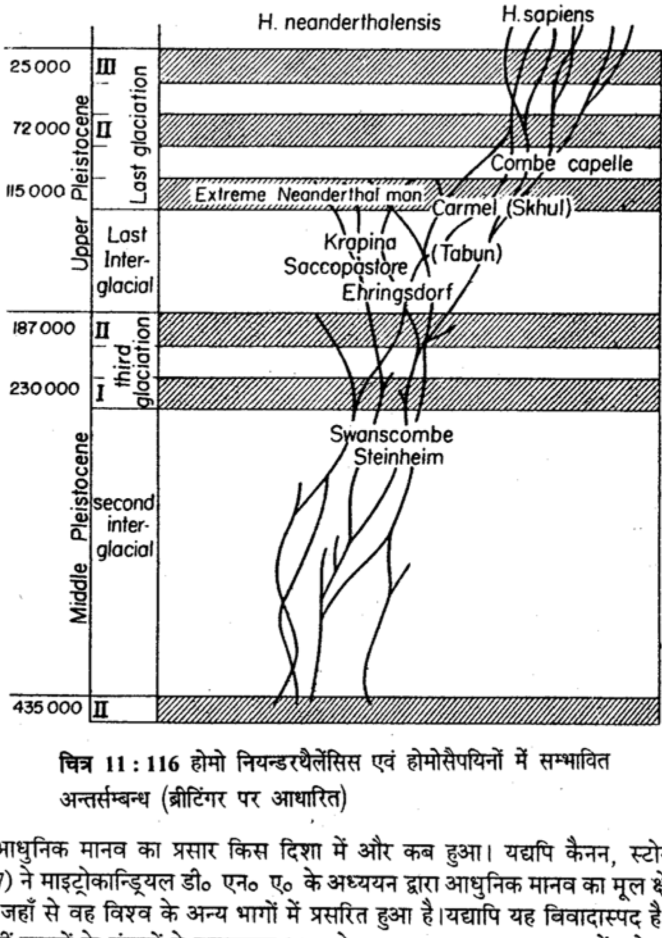
इस प्रकार दीर्घशिरश्क, छोटा कद, अपेक्षाकृत लम्बा, चपटा एवं चौड़ा आनन मण्डल, पतली नासिका, पुष्ठ जबड़े आदि लक्षणों के आधार पर कतिपय पुरामानव वैज्ञानिक इसके एस्कीमों के पूर्वज होने की सम्भावना व्यक्त करते है। उनका अनुमान है कि महान हिमयुग के अन्त में पूर्ववर्ती हिमपट्टियों के खिसकने के साथ–साथ चांसलेड मानव भी शनैः उत्तरी अमेरिका पहुंचे होंगे जो सम्भवतः आधुनिक एस्कीमों के पूर्वज है। हूटन चांसलेड के एस्कीमों के पूर्वज होने के मत का खण्डन करते है। यद्यपि यह धारणा सर्व स्वीकार्य नहीं है। यह एस्कीमों से यह शारीरिक ही नहीं सांस्कृतिक समानता भी दर्शाता है।कीथ इन्हें क्रौमेग्नन की भांति मानव मानते है जिनके कद अपेक्षाकृत छोटे हुआ करते थे।

सास्कृतिक लक्षण :

चांसलेड मानव जीवाश्म के शिलाश्रय पर लगभग 5–4 इंच के जमाव से मैग्डालीनियन संस्कृति के उपकरण एवं जन्तु अवशेष प्राप्त हुए है। यह संस्कृति उत्तर प्लाइस्टोसीन काल की सर्वाधिक विकसित प्रकार की थी जिसके प्रथम प्रमाण ला–माडेलीन (La–Madeline) नामक पुरास्थल से प्राप्त हुए है। गुफाओं में चित्रकला, तथा रेनडियर की सीगों पर अलंकरण करने की कला में इस संस्कृति के निर्माताओं ने अधिक प्रगति की है। प्रमुख पाषाण उपकरणों में नुकीले खुरचन यन्त्र (Scraper), ब्यूरिन, चिद्रक, खांचेयुक्त फलक, त्रिभुजाकार ब्लेड आदि प्राप्त किये गये है। साल्यूट्रियन संस्कृति जैसा ही कौशल इनके द्वारा बनाये गये सीगों तथा अस्थियों से बने उपकरणों पर परिलक्षित होता है। इस समय मत्स्य भाला (Harpoon) एवं तीरों को सीधा करने के लिए 'वैटन्स डि–कमाण्डमेंट' का भी उपयोग किया जाता था। इनका आर्थिक जीवन प्रकृतिजीवी या सम्भवतः कृषि तथा पशुपालन से परिचित नहीं हो सका था। ये जीविकोपार्जन खाद्य संग्रह आखेट, मत्स्य आखेट, कद मूलफल आदि से करते थे। इनके सामाजिक जीवन के उपलब्ध प्रमाण यह दर्शाते है कि एक स्थान समूहों तथा दूसरे स्थान समूहों के मध्य आदान–प्रदान की व्यवस्था प्रारम्भ हो चुकी थी। इनमें सहयोग की प्रवृत्ति पूर्ववर्तियों से अधिक विकसित थी। निर्मित कलाकृतियाँ इनके कलात्मक स्वभाव को दर्शाती है। इसकाल में मिट्टी, अस्थि तथा हाथीदांत की मूर्तियाँ अधिक मिलती है। जिनमें नारी मूर्तियाँ (Venus) महत्वपूर्ण है।इनका धार्मिक जीवन भी पूर्व मानव की अपेक्षा विकसित था। इस समय सम्भवतः मूर्ति पूजा आरम्भ हो चुकी थी।

इस प्रकार होमोसैपियंस सैपियंस के जीवाश्म मानव जो मुख्यतः यूरोप में खोजे गये है वे प्लाइस्टोसीन के अन्तिम चरण तक मानव संस्कृति की आदिम अवस्था का निर्माण करते हैं। पुरा पाषाण कालीन संस्कृति की यह व्यापकता उच्च प्रगैतिहासिक मानव मस्तिष्क की उपज हैं। पुरापाषाण काल के अन्तिम चरण में मानव अवशेष यूरोप के अतिरिक्त एशिया एवं अफ्रीका महाद्वीपों से भी खोजे गये है तथापि वे अत्यल्प है तथा उनकी भूगर्भिक आयु भी विवादास्पद है।

अतः संक्षेप में आधुनिक मानव का उदविकास महान हिम युग के अन्तिम चरण में (आज से लगभग 10 हजार वर्ष पूर्व) हो चुका था। 35 हजार वर्ष पूर्व से लेकर 10 हजार वर्ष पूर्व के मध्य मानव विश्व के लगभग सभी जगहों में फैल चुके थे लेकिन प्रसार संदर्भ में पर्याप्त जीवाश्म साक्ष्य अनुपलब्ध होने के कारण यह कहना



चित्र 11 : 116 होमो नियन्डरथैलेंसिस एवं होमोसैपियिनों में सम्भावित अन्तर्सम्बन्ध (ब्रीटिंगर पर आधारित)

कठिन है कि आधुनिक मानव का प्रसार किस दिशा में और कब हुआ। यद्यपि कैनन, स्टोनकिंग एवं विल्सन (1987) ने माइट्रोकान्ड्रियल डी० एन० ए० के अध्ययन द्वारा आधुनिक मानव का मूल क्षेत्र अफ्रीका को दर्शाया है, जहाँ से वह विश्व के अन्य भागों में प्रसरित हुआ है।यद्यापि यह विवादास्पद है लेकिन यह सत्य है कि इन्हीं मानवों के वंशजों ने पुरापाषाण काल के उपरान्त मध्य पाषाण काल में प्रवेश किया।जब उपकरणों का तकनीकी विकास होने के साथ–साथ पशुपालन का आरम्भ तथा खाद्य संग्रहण एवं उसके परिरक्षण के तरीकों का आविष्कार हुआ इसके बाद धीरे–धीरे उसने नव पाषाण काल में खाद्य उत्पादन करना सीखा। वास्तव में वह कृषि कला इसी काल में सींख चुका था। जो उन्तरोत्तर तकनीकी प्रगति करते–करते अपनी आधुनिक अवस्था तक पहुंच सका। साथ–साथ एक क्षेत्र के एक जनसमुदाय के निवासी पैलते गये एवं अन्य क्षेत्रों के निवासियों से पृथक होते गये, जो कालान्तर में उदविकासीय प्रक्रियाओं के फलस्वरूप भिन्न हो गये।

***

12

मानव उदविकासीय खोज के नये आयाम

मानव उदविकास की कहानी के सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद प्रायः तीन बिन्दुओं पर दृष्टिगोचर होते है। प्रथम, मानव की उत्पत्ति का जीव समूही स्रोत ? जिससे यह समझने की चेष्टा की जाती है कि किस जीव समूह या जीव को मानव या हामिनिड के उद्भव का स्रोत मानना चाहिए। द्वितीय, क्या मानव की उत्पत्ति कपि सदृश प्राणी से हुई है ? जिसे एक ओर यदि शरीर रचना विज्ञान के साक्ष्य प्रमाणित करते है तो दूसरी ओर हामिनिड (मानव) के उद्भव काल के विषय मे विद्वानों में काफी मतभेद है। तृतीय, क्या आधुनिक मानव का उदविकास 'होमो इरेक्टस' से हुआ है या स्वतन्त्र रूप से ये तीनों मौलिक प्रश्न मानव शरीर सरचना, काल एवं स्थान भूभाग का बोध कराते है और जब से चार्ल्स डार्विन, टी. एच. हक्सले आदि मानव की उत्पत्ति को कपियों से होने का मत प्रस्तुत किया है तभी से उनका पक्ष एवं विपक्ष प्रखर होने लगा है। इनके समकालीन मीवार्ट मानव के सामान्य लक्षण को प्राइमेटों सदृश मानते है।लेकिन विशिष्ट लक्षणों में वे मानव को कपियों आदि प्राइमेटों से अधिक भिन्न पाते हैं। तीसरे मत जिसके प्रतिपादक एम० बूल (1921) है उसके अनुसार उपांगों का उदविकास विशेष महत्व का है जिसके आनुपातिक सम्बन्धों में बन्दर कपि की अपेक्षा मानव के अधिक निकट है।अतः इस मत के अनुसार मानव की उत्पत्ति भी बंदर से हुई है। चौथा मत बुड जोन्स (1929) ने प्रतिपादित किया है कि मानव की उत्पत्ति का स्रोत बंदर एवं कपि नहीं हो सकते क्योंकि कोई शरीर रचनात्मक विशेषतायें इनमें नहीं पायी जाती जो मानव में हैं। मानव का उद्भव स्रोत टार्सियर जैसा प्राइमेट है जो अधिक क्रियाशील एवं फुर्तीला है। लेकिन इनके मत का दुर्भाग्य यह है कि न तो शरीर रचना सम्बन्धी प्रमाण व्यापक रूप से प्राप्त हुए और न ही जीवाश्म साक्ष्य मिले हैं।इसी प्रकार स्ट्रास (Staus 1949) मानव का उद्भव किसी पुरानी दुनिया के बंदर से ही मानते हैं और यह विश्वास प्रकट करते है कि जिस जाति वृत्तीय शाखा ने मानव को जन्म दिया वह सरकोपिथेक्वॉयडिया समूह्र से ड्रायोपिथेसिनी अवस्था आने के पूर्व ही पृथक हो गयी। एक और मत 1967 में ली ग्रॉस क्लार्क ने प्रस्तावित किया कि मानव तथा कपि की समानतायें समानान्तर विकास का परिणाम न हो करके अपितु जाति वृत्तीय सम्बन्धों के फल है। यह जीवाश्मिक अध्ययनों द्वारा भी प्रमाणित होता है। शीघ्र ही कुर्टेन (1972) ने यह मत व्यक्त किया कि बन्दर एवं कपि मानव पूर्वजों से पृथक होकर के पृथक-पृथक समूहों में विशिष्ट एवं विभक्त हो गये।

बीसवीं शताब्दी में प्राइमेटों की शरीर रचना का अध्ययन शुल्ट्ज ने 50 वर्षों तक किया। उनके अनुसार हक्सले का मत उचित है कि मानव तथा कपि की पूर्वजता का एक समान स्रोत हैं।

इस प्रकार मानव की उत्पत्ति कपि शाखा से हुई है। इस मत को व्यापक समर्थन मिला है लेकिन संदेह के बादल पुनः तब उमड़ते है जब कपियों के बाहुगमन (Brachiation) का प्रशन उभरता है। एक मत तो

मानव के पूर्वजों को कपि की तरह बाहुगमन में दक्ष मानते है तथा दूसरे मत के विद्वान मानव के पूर्वज को बाहुगमन में दक्ष नहीं मानते है और उन्हें 'नकल वाकिंग' करते हुए बताते है। यहाँ आर्थर कीथ (1925) प्रासंगिक प्रतीत होते है जिनके अनुसार मनुष्यों में द्विपदगामिता के उदविकास के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने शरीर (धड़) को ऊर्ध्व संस्थिति में रखे।यह कपियों के बाहुगमन की स्थिति में विकसित हुआ है। इस प्रकार उन्होंने यह प्रस्तावित किया कि मानव पूर्वज प्रारम्भ में बाहुगमन करते होंगे तथा अन्ततः थलीय परिस्थितियों के अनुकूलन के फलस्वरूप उसमें द्विपदगमनता विकसित हुई। बाशवर्न (1950,71) एवं नैपियर (1968) ने भी मानव के पूर्वजों में वाहुगमनता की विद्यमानता को सत्य ठहराया है। स्ट्रॉस (1949) ने मानव के कैटाराइन पूर्वजों ने भुजाओं के द्वारा पेडों पर झूलने की प्रवृत्ति को द्विपदगमनता हेतु आवश्यक मानते है और बाहुगमनता को गौड़ एवं आदिम। टटिल (1969) यहाँ पर द्विपदगमन के उदविकास में बाहुगमन व्यवहार की भूमिका को निरर्थक मानते है।

इस प्रकार मानव की उत्पत्ति किस जीव स्रोत से हुई है या उसका प्रत्यक्ष पूर्वज कौन है इस विषय पर अत्यधिक मतभेद है। यहाँ पर जीवाश्म साक्ष्यों की भूमिका महत्वपूर्ण हैं जिसके आधार पर हम मानव की उत्पत्ति के जीव स्रोत को समझ सकते हैं। लेकिन जीवाश्म अध्ययन के आधारभूत अवशेष एक तो अपभ्रंश छिटपुट एवं भग्नावस्था में प्राप्त हुए है जिनका अध्ययन सरल कार्य नहीं है।दूसरे उनके भूगार्भिक आयु का वास्तविक ज्ञान करना टेढ़ी खीर होती है। लेकिन अत्याधुनिक प्रगति के प्रकाश में मानव के व्युत्पत्ति स्रोत का पता लगाने में वैज्ञानिक सक्षम हो गये है। इसलिए वैज्ञानिक मतभेदों से बचने के लिए जीवाश्म अध्ययन भी बहुआयामी तकनीकों द्वारा किया जाने लगा है।

आधुनिक भूगर्भविज्ञान प्राथमिकतया स्तर विज्ञान (Stratigraphy) पर आधारित है, जिसमें भूस्तरों का अध्ययन करके भूस्तरों की सापेक्ष आयु का अनुमान किया जाता है। इसकी प्रगति 18 सदी में अंग्रेजी भूगर्भ वैज्ञानिक विलियम स्मिथ के अध्ययनों द्वारा हुई। इन्होंने पता लगाया कि जीवाश्म कई भूस्तरों को पार करके प्रायः अपने से असम्बद्ध भूस्तर से सम्बद्ध हो सकता है। ये जीवाश्मों के आधार पर विभिन्न प्रकार की भूपरतों की पहचान करने में सफल हुए तथा ब्रिटिश वेल्स एवं स्काटलैण्ड की भूपरतों का मानचित्र बनाने की सफल चेष्टा की। आधुनिक भूगर्भ विज्ञान के जनक चार्ल्स डार्विन के समकालीन 'प्रोफेसर चार्ल्स लायल' थे जिन्होंने स्मिथ के शोधों के आधार पर ही भूगर्भीय वर्गीकरण के प्रतिरूप का आविष्कार किया जो प्राकृतिकशास्त्रियों के लिए एक अचूक दवा प्रमाणित हुई। एवं इन्हीं आधुनिक शोधों के आधार पर भूगर्भ विज्ञान की ज्ञानशाखा उत्तरोत्तर प्रगति करती गयी और अन्ततः 1974 में सर्वसहमति से एक 'भूगर्भीय काल क्रम सारणी' विकसित हुई जिसका वर्णन द्वितीय अध्याय में किया गया है। इसमें भूगर्भ की विभिन्न जैव्रिक एवं अजैविक घटनाओं, महाकाल्पों, युगों एवं कालों के आयु का अनुमानित लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया। यह काल क्रम तालिका जैविक उत्पत्ति एवं उदविकासीय अध्ययनों का सार तत्व साबित हुआ है जो विभिन्न कालनिर्धारण विधियों की प्रगति के आधार पर सुविकसित हुआ है।

भू इतिहास का काल मापक प्रायः दो तकनीकों के आधार पर स्थापित हुआ है। ये हैः सापेक्ष तिथि निर्धारण तकनीक (Relative dating Techniques) एवं निरपेक्ष या सम्पूर्ण तिथि निर्धारण विधि (Absolute Dating Techniques)। सापेक्ष तिथि निर्धारण प्रायः स्तरीकरण तिथि निर्धारण एवं फ्लूरीन तिथि निर्धारण तकनीकों द्वारा किया जाता है। ये सापेक्ष तिथि मापक विधियाँ भूगर्भीय, जीवाश्मिकीय एवं जलवायु सम्बन्धी घटनाओं के क्रम अध्यारोहण (Super imposition) के अति साधारण

सिद्धान्तों के प्रयोग से निश्चित की गयी है। भूगर्भ शास्त्रियों ने कुछ समय पूर्व स्तरों एवं उनमें निहित घटनाओं के सापेक्ष कालक्रमों को निश्चित करने के लिए अध्यारोहण के सिद्धान्त का आविष्कार किया।

ERA	EPOCH	FOSSIL
CENOZOIC	PLEISTOCENE	HOMO
	PLIOCENE	AUSTRALOPITHECUS OREOPITHECUS RAMAPITHECUS
	MIOCENE	RAMAPITHECUS DRYOPITHECUS "PROCONSUL"
	OLIGOCENE	AEGYPTOPITHECUS
	EOCENE	AMPHIPITHECUS TETONIUS
	PALEOCENE	TARSIOIDS AND LEMUROIDS
MESOZOIC	CRETACEOUS	INSECTIVORES AND MARSUPIALS

(Scale: 1 inch = 28,000,000 years)

चित्र 12 : 117 भूगर्भीय काल मापक एवं जीवाष्म अभिलेख

बिना किसी व्यवधान के एक के बाद एक क्रम में अध्यारोपित अवसादी शैलों (Rocks) में अपेक्षाकृत प्राचीन स्तर (Bed) तलहटी में होते है तथा नवीन स्तर ऊपर होते है। जिन जीवाश्मों को स्तरों की सबसे अधिक गहराई में प्राप्त किया जाता है वे सर्वाधिक ऊपरी हिस्से में प्राप्त किये गये जीवाश्मों की अपेक्षा अधिक प्राचीन होते हैं। भूगर्भशास्त्री विश्व के विभिन्न भागों के स्तरों में अत्यन्त रोचक सहसम्बन्ध को बताने की चेष्टा करते है जो पूर्णतः विश्वसनीय नहीं है क्योंकि भूतल मे अनेक गतिविधियाँ एवं पुनर्व्यवस्थायें जिन्हें पटल विरुपण कहते है, होती रहती हैं। फ्लूरीन काल मापक विधि में जीवाष्म में फ्लूरीन की मात्रा का परीक्षण किया जाता है। अस्थियों में एक बार फ्लूरीन के बैठ जाने पर यह शीघ्र समाप्त नहीं होती। चूंकि जीवाष्मीकरण नये खनिज पदार्थ विशेषकर चूना या लोहे के आक्साइडों का अस्थियों के रन्ध्रों के साथ मिलने से तथा अस्थियों में हाइड्राक्सी अपाटाइट के प्रतिस्थापन से होता है। हाइड्राक्सी अपाटाइट कैल्शियम तथा कार्बोनेट पदार्थ जिनसे अस्थियों का प्रायः निर्माण होता है के परिवर्तन के मापन के लिये फ्लूरीन सापेक्ष कालमापन सबसे अधिक विश्वसनीय तकनीक है क्योंकि फ्लोराइड आयन (फ्लूरीन मापन) हाइड्राक्सिल विस्थापन कर देते है। ओक्ले ने इसी तकनीक के आधार पर निर्दिष्ट किया कि पिल्ट डाउन मानव (जिस खोज को

पिल्टडाउन धोखा या पिल्टडाउन हाक्स भी कहा जाता है) के विभिन्न अंगों में फ्लूरीन की मात्रा उसी स्तर से प्राप्त दूसरे स्तनधारी प्राणियों की अस्थियों की फ्लूरीन मात्रा से भिन्न है। स्वांस काम्ब मानव एवं गौली पर्वत कंकाल जैसे अनेकों जीवाश्म मानव है जिनकी भूगर्भीय आयु का निर्धारण इसी विधि द्वारा किया गया है।

अमीनों एसिड काल मापन विधि का आविष्कार बैदा (Bada) एवं उनके साथियें द्वारा किया गया है जो सन् 1974 में प्रकाश में आयी है। इसमें जीवाश्म अवशेषों में कार्बनिक तत्वों का प्रयोग किया जाता है क्योंकि समय के बढ़ते L– अमीनो एसिड का शनैः–शनैः स्थानान्तरण D– अमीनो एसिड में हो जाता है। इसमें D/L अमीनो एसिड के अनुपात के आधार पर कालमापन किया जाता है। जब अधिक अनुपातिक मान किसी जीवाश्म में पाया जाता है तो वह जीवाश्म अधिक प्राचीन होता है। ऐसपैर्टिक एसिड इसमें सर्वाधिक लाभदायक पाया जाता है जो कम से कम 5,000 वर्ष से 100,000 वर्ष का मापन कर सकता है। इसका प्रयोग दक्षिणी कैलीफोर्निया में 'देल मार' से प्राप्त कपाल की भूगार्भिक आयु निर्धारण में किया गया है।

भूगर्भ इतिहास की निरपेक्ष एवं पूर्ण काल मापन विधियाँ अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय एवं उपयोगी है। इनमें यूरेनियम काल माप पोटेशियम–आर्गन एवं कार्बन काल मापन (C14 Dating) तकनीक अधिक विश्वसनीय है। यूरेनियम कालमापन आधुनिक प्रगति का सूचक है इसके आधार पर प्रो० एच० एन० रसेल ने पृथ्वी की आयु 4.5 अरब वर्ष से लेकर 4.8 अरब वर्ष के मध्य आंकी है। यूरेनियम के कई 'आइसोटाप' (Isotopes) रूप होते है जिसके केन्द्रक में प्रोटान की संख्या निश्चित होती है लेकिन न्यूट्रान की संख्या परिवर्तनीय होती है। अतः तीन पहचाने गये आइसोटोप U235, U238 एवं U239 हैं। इनमें रेडियो सक्रिय पदार्थ (Isotopes of Uranium) अपना इलेक्ट्रान बहुत विलम्ब से खो देता है जिससे उनका आधा भार 4.56 अरब वर्ष में खो जाता है अथवा आधार भार यूरेनियम के आइसोटोप का रह जाता है।जैसे–जैसे रेडियोसक्रिय यूरेनियम विघटित होता है, वैसे वैसे उष्मा की उत्पत्ति के कारण यह कई अवस्थाओं में गुजरता हुआ अन्ततः सीसे में रूपान्तरित हो जाता है। यूरेनियम विघटित होने पर अल्फा कण (Alpha Particles) उत्पन्न करता है। फलस्वरूप जीवाश्म या चट्टान से उत्पन्न अल्फा कणों को गिनकर रूपान्तरण की गति का पता लगाया जा सकता है। यूरेनियम के रेडियो सक्रिय विघटन की दर इतनी मंथर गति है कि प्राचीन से प्राचीन घटनाओं चट्टान का पूर्ण कालमापन किया जा सकता है।U238 के रेडियो सक्रिय कणों की क्षति एवं विघटन की मंथर एवं अविरल दर के कारण 50 लाख वर्ष से अधिक प्राचीन चट्टान की आयु का पता लगाने में यह प्रयोग में की जाने लगी है। इसके आधार पर अन्य कालमापन की विधियों का पुनर्परीक्षण किया जा सकता है, जैसे ओल्डुवाईगार्ज के स्तर–I की आयु का पता जो पोटैशियम आर्गन (K–A) विधि से किया गया था उसका पुनर्निरीक्षण यूरेनियम कालमापन से किया गया।

पोटैशियम आर्गन काल मापन तकनीक की खोज 1937 में की गयी थी जिसके सरल उपयोग में डब्ल्यू० एच० पिनसन ने विशेष योगदान किया। यह भी पोटैशियम (K) के आइसोटोपों के गुणों पर आधारित है। मूल पोटैशियम, पोटैशियम के तीन आइसोटोपों K39, K40 एवं K41 का मिश्रण होता है। इनमें पोटैशियम K–40 (K40) विघटनशील है जो मूल पोटैशियम के 0.0118 प्रतिशत मात्रा में उपस्थित होता है। यह रेडियो सक्रिय है एवं जिसके कालान्तर में शनैः–शनैः इलेक्ट्रान नष्ट हो जाते हैं। उनके अपक्षय से आर्गन–40 (A40) गैस बनती है। पोटैशियम–40 की आधी आयु 1,300,000,000 वर्ष अर्थात् 1.3 अरब वर्ष में हो जाती है। इस प्रकार यह एक रेडियो सक्रिय काल मापक घड़ी प्रदान करता है, जिससे प्राचीन से लेकर कुछ लाखों वर्ष पुरानी चट्टानों एवं जीवाश्मों का मापन किया जा सकता है।

रेडियो सक्रिय काल मापकों (Time Clocks) में कार्बन-14 (C^{14}) अत्यधिक उपयोगी तकनीक है जिसका 1946 में अमेरिकी रसायनज्ञ विलियर्ड एफ० लिबी ने आविष्कार किया तथा उन्हें इस योगदान के लिए रसायन विज्ञान में नोबुल पुरस्कार प्रदान किया गया। यह तकनीक इस तथ्य पर आधारित है कि भूमण्डल पर रहने वाले सभी जीवित प्राणी अपने शरीर में कार्बन का पर्याप्त तत्व रखते है जो दो आइसोटोपो–

C^{12} एवं C^{14} के रूप में पाया जाता है। इसमें प्रथम आइसोटोप स्थित (अविघनकारी) एवं द्वितीय रेडियो सक्रिय एवं अस्थिर (विघटनकारी) होता है। इसकी (C14) की 5,720 वर्षों में आधी आयु हो जाती है आधा नष्ट हो जाता है। इससे 50,000 पुरानी जीवाश्म अवशेषों की आयु का पूर्ण मापन उपर्युक्त रूप से किया जा सकता है।

जीवाश्म काल मापन तकनीकों में अभी एक अत्याधुनिक खोज सन् 1960 में जी० सी० केनेडी एवं एल० नाफ के द्वारा की गयी है जिसका उन्होंने मृदुभाण्डों के कालानुक्रम का पता लगाने में उपयोग किया। इसे ताप संदीप्ति विधि (Thermoluminiscence) के नाम से जाना गया। यह विधि इस तथ्य पर आधारित है कि मृदुभाण्ड (Pots) अथवा उसके अनुरूप वस्तुएँ जैसे अलाव की मिट्टी, ईंट, काँच आदि वस्तुएँ जिन्हें 400° सेंटीग्रेट से 1200° सेंटीग्रेट के उच्च तापमान में पकाया गया था इनकी ताप संदीप्ति को मापकर कालमापन किया जा सकता है। किसी वस्तु के गर्म करने पर ताप के रूप में जो ऊर्जा निकलती है उसे ताप संदीप्ति कहते हैं। इसका प्रयोग अत्यधिक सीमित है तथा जीवाश्मों की भूगर्भिक आयु का ज्ञान बिल्कुल नहीं किया जा सकता है।

उक्त विधियों के अतिरिक्त जीव एवं वनस्पति (Flora and Fauna) का अध्ययन सापेक्ष काल मापन तकनीकों द्वारा किया जाता है जिससे मानव जीवाश्म की परिस्थितिकी का ज्ञान होता है। प्रागैतिहासिक काल में पशुओं एवं मानव का जीवन पेड़–पौधों तथा वनस्पतियों पर पूर्णरूप से निर्भर था। इस कारण इस विधि से काल मापन करने में वनस्पतियों का भी ज्ञान हो जाता है। जीवाश्मों की पूर्ण समझ हेतु वातावरण का अध्ययन भी आवश्यक होता है जिसके लिये स्तरीकरण, नदी वेदिकायें, हिमोढ़ एवं लोयेस निक्षेप, समुद्री स्तर, पराग परीक्षण (Pollen Analyses), वृक्ष वलय आदि साक्ष्यों का अध्ययन किया जाता है।

इस प्रकार भूगर्भीय काल मापन के अत्याधुनिक तकनीकों के आविष्कार से किसी भी प्राप्त जीवाश्म की वास्तविक भूगर्भीय आयु को ज्ञात किया जा सकता है। कालमापी मतभेदों से बचने हेतु निरपेक्ष काल मापन तकनीकों का आश्रय उत्तम है तथा इनका पुनः परीक्षण भी किया जा सकता है, जैसे– ओल्डुवाय गार्ज जीवाश्मों का काल मापन दो तकनीकों (यूरेनियम एवं पोटैशियम–आर्गन कालमापन) का प्रयोग किया गया। सम्भव हो तो निरपेक्ष एवं सापेक्ष दोनों प्रकार की कालमापन विधियों का प्रयोग मानव जीवाश्म के अध्ययनों में करना चाहिए। कालमापन की इस नवीन एवं विश्वसनीय तकनीकों के प्रयोग से जीवाश्मिकीय धोखों (Hoxes) से बचते हुए हम मानव उदविकास की वास्तविक चित्रांकन कर सकते हैं।

जीवाश्म प्रतिरूपों की वैयक्तिक आयु को मापना भी जीवाश्म वैज्ञानिकों के लिए कठिन कार्य है। कुशल शरीर रचना वैज्ञानिक जो जनसमूही विविधता परिक्षेत्र से परिचित है, वैयक्तिक कंकाल की वस्तविक आयु एवं लिंग का आकलन कर सकता है। अस्थि की आयु निर्धारण मुख्यतया अस्थि संवृद्धि में परिवर्तन एवं दांतों के अवतरण पर आधारित है। लेकिन जब तक जीवाश्म श्रंखलायें अधिक संख्या में न हो और कंकालपूर्ण न हो आयु निर्धारण कठिन होता है। अतः जीवाश्म की आयु को ज्ञात करने में पक्षपाती निर्णय लिये जा सकते हैं। इसलिए प्राप्त जीवाश्म प्रतिरूप (Specimen) की आयु एवं लिंग का सावधानी से निर्धारण बहुआयामी दृष्टिकोण से करने से त्रुटियों से बचा जा सकता है।

जीवाश्म प्रतिरूपों की वास्तविक लैंगिक पहचान आवश्यक होती है अन्यथा अनेकों भ्रामक परिणाम सामने आ सकते है। यद्यपि आज वर्तमान निश्चित जनसंख्या के आंकडों के आधार पर लैंगिक विभेदों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा चुका है लेकिन जो जीवाश्म खोजे गये हैं वे अत्यल्प है तथा उनके आधार पर लैंगिक विविधता की संपूर्ण समझ नहीं हो सकती है। अतः लैंगिक पहचान अधिकांशतः अनुमानों पर आधारित है जिसमें वस्तुनिष्ठता अत्यावश्यक है। इस क्षेत्र में वर्डसेल (1974) के मतानुसार एक शरीर रचनाशास्त्री अधिक समुचित निर्णय दे सकता है। त्रुटियों से बचने के लिए जीवाश्म प्रतिरूपों की तुलना वर्तमान मानव के कपाल प्रतिरूपों से भी की जा सकती है।

जीवाश्म अस्थियों के स्वरूप को समुचित ढंग से समझने हेतु स्वरूप (Form) एवं प्रक्रिया (Function) के मध्य सम्बन्धों का जान लेना भी आवश्यक क्योंकि है। इसका उदविकासीय महत्व है। शीघ्र ही प्रक्रियात्मक शरीर रचनावैज्ञानिकों ने कतिपय प्रयोगों के आधार पर पता लगाया है कि किसी भी अस्थि में कुछ अंश तक वंशगति का पुट रहता है तथा संवृद्धि अवस्थाओं में पर्यावरण से प्रभावित होता है।वर्डसेल (1957) ने अनेकों जीवाश्म अध्ययनों के तथ्यों का खुलासा किया है। इन्होंने स्वरूप एवं प्रक्रिया के मध्य सम्बन्धों को दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन प्रकार में विभक्त किया। इसका उदविकासीय महत्व है। इस संदर्भ में किसी एक व्यक्ति के जीवनकाल में घटित प्राकृतिक दबावों (Stresses) से उत्पन्न व्यावहारिक क्रिया भी महत्वपूर्ण है। जो अल्पकालीन स्वरूप एवं प्रक्रिया सम्बन्धों को दर्शाती है। अस्थीय संशोधन दीर्घकालीन स्वरूप एवं प्रक्रिया के सम्बन्धों को दर्शाते हैं जो उदविकासीय बलों की अन्तक्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न आनुवंशिक परिवर्तन होते हैं। किसी भी अस्थि के स्वरूप का मुख्यतः निर्धारण आनुवंशिकी प्ररूपों के द्वारा होती है।प्रकार्यात्मक दबाव अस्थियों पर अंशतः परिलक्षित अवश्य होते हैं, जैसे– प्रारम्भिक मानव का अपेक्षाकृत दीर्घ आनन मण्डल आनुवंशिक परिवर्तन के साथ–साथ उसकी खाद्य आदतों एवं कठोर चबाने की प्रक्रिया के फलस्वरूप है। प्रारम्भिक मानव की दीर्घ भ्रूकटक के समान आधुनिक मानव के नहीं है। प्रथमतः ये भ्रूकटक लैंगिक विविधता को परिलक्षित करते हैं क्योंकि पुरुषों के भ्रूकटक स्त्रियों की अपेक्षा दीर्घ होते हैं जो हॉरमोनीय विविधताओं के अस्थीय प्रभावों के फलस्वरूप है लेकिन दोनों आनुवंशिक संरचना में अत्यल्प विविधता है। दूसरे भ्रूकटक के ऊपर दन्तीय दबावों का प्रभाव पुनः इसकी आनुवंशिक संरचना पर प्रश्नचिन्ह लगाता है जो अपने बल को गण्डास्थि एवं नासिकास्थि के माध्यम से ललाटास्थि तक भेजता है। लेकिन स्थिति अस्पष्ट है क्योंकि कपि जो कठोरता से चबाने की क्रिया करता है उसके भ्रूकटक विशाल है लेकिन उनमें ओरांगुटान का ललाट क्षेत्र लम्बवत् (Steep) है।निम्न भ्रूकटक क्षेत्र प्रक्रियात्मक प्रभावों की संदेहप्रद स्थिति प्रदर्शित करते हैं।अतः अस्थीय विभेद जीन्स में हुए परिवर्तनों के कारण समझना उचित होगा जो उदविकासीय प्रक्रियाओं का परिणाम हैं। इस समझ के आधार पर ही पैरन्थ्रापस रोबस्टस एवं आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो सके और उन्हें एक जीनस में सम्मिलित किया जा सका।कपि जीवाश्मों को भी मात्र तीन वंशों– ड्रायोपिथेसीन, जाइगेंटोपिथेसीन एवं रामापिथेसीन में विभक्त किये गये।

इसी प्रकार संरचना एवं उद्भव की दृष्टि से जो अंग समान होते है उनके कार्यों में अन्तर होने से समजात संरचनायें (Homologous Structure) उत्पन्न होती है जैसे सील के फ्लीपर, चमगादड के पंख, घोड़े की अगली टांग, मानव के हाथ समान अस्थियों से बने होने के बावजूद भी आकृति में एक दूसरे पूर्णतया भिन्न है। इसके विपरीत, ऐसे अंग जिनके कार्यों में समानता होती है लेकिन मूल संरचना एवं उद्भव में अन्तर होता है तो समवृत्ति संरचनायें (Analogous Structures) उत्पन्न होती है, जैसे- तितली, पक्षी, चमगादड़ में पंख उड़ने का कार्य करते है ये समानता दर्शाते हैं लेकिन उद्भव भिन्न–भिन्न है। अतः इस प्रकार के तथ्य इस बात पर बल देते है कि मानव जनसंख्यायें अत्यधिक बहुप्ररूपी (Polymorphic) तथा बहुप्रकारीय (Polytypic) है अर्थात् एक ही अन्तर्विवाही जनसमूह में अनेकों स्वरूप (forms) विद्यमान है एवं समस्त अन्तर्विवाही समूहों के अन्तर्गत अनेकों प्रकार हैं। इसके आधार पर रामापिथेसीन वंश में बहुप्ररूपी जीवाश्म प्रतिरूपों को समझा गया है जो एशिय, अफ्रीका के अधिकांश भागों में फैले हुए थे।

मानव उदविकास को समझने के लिए यदि जीवाश्मों का क्रमानुसार विश्लेषण करें तो एक अद्भुत चित्र उभरता है जो उदविकासीय प्रवृत्ति को इंगित करती है।एक प्रारम्भिक मानव जीवाश्मों से आधुनिक मानव जीवाश्म की ओर आनन मण्डल का सापेक्ष अपघटन एवं कपाल मण्डल व मस्तिष्क क्षेत्र का सापेक्ष परिवर्धन पाया गया है।उदाहरणस्वरूप आस्ट्रेलोपिथेसीन की औसत कपालीय क्षमता 500 घन सेमी॰ है

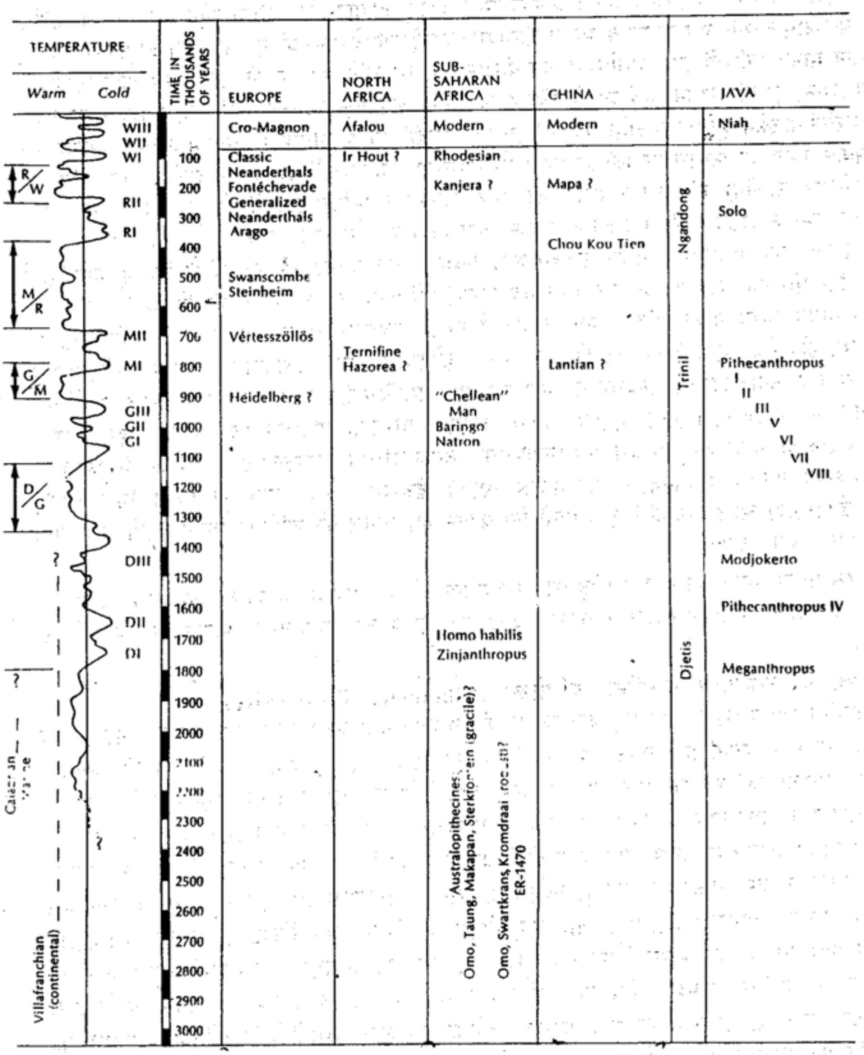
होमोइरेक्टस की लगभग 1000 घन सेमी० एवं होमो सेपियंस की लगभग 1500 घन सेमी० हो गयी है। यह उत्तरोत्तर वृद्धि एवं दूसरी ओर मुखमण्डल में अपघटन मानव जीवाश्मों के मध्य सम्बन्धों को उजागर करते हैं।

इसी प्रकार मानव शरीर रचना के अनेकों ऐसे लक्षण है जो मानव के उदविकासीय सम्बन्धों को प्रदर्शित करने में सक्षम है।यदि हम प्रारम्भिक मानव जीवाश्म (आस्ट्रेलोपिथेसीन) की तुलना कपि जीवाश्मों से करें, जो काल मानप विधियों द्वारा मायोसीन–प्लायोसीन युग के आंके गये हैं तो वह मानव कपि जीवाश्मों रामापिथेसीन, ड्रायोपिथेसीन, एवं जाइगेटोपिथेसीन वंश के अपेक्षाकृत अधिक समीप है, न कि पैलियोसीन एवं इयोसीन कालीन यूरोप एवं अमेरिका के 'प्लासीएडापिडी' एवं 'परमोमाइडी' आदिम प्राइमेट परिवार के। इसी प्रकार मिस्र के फायूम जमावों से प्राप्त पैरापिथेकस, प्रोप्लायोपिथेकस, एजिप्टोपिथेकस जीवाश्म (ओलिगोसीन कालीन) कपियों एवं प्राचीन दुनिया के वानरों के मिश्रित लक्षणों को प्रदर्शित करते है तथा कपि जीवाश्मों के अग्रज माने जाते है। जहाँ तक प्रारम्भिक मानव के जीवाश्मों के अग्रज का प्रश्न है तो वे टर्शरी युग के कपि जीवाश्मों में से कोई है। इन कपि जीवाश्मों के तीन वंशों– जाइगैंटोपिथेसीन, ड्रायोपिथेसीन एवं रामापिथेसीन का वर्णन गत अध्यायों (अध्याय 5 एवं 6) में किया जा चुका है। इनमें से रामापिथेसीन अब प्राथमिक मानव जीवाश्मों की कोटि में माना गया है। (ई० एल० साइमन्स, 1977)। डी० आर० पिल्बीम, जी० ई० मेयर, एम० डी० रोज, एम० एल० पिकफोर्ड, ए० के० वेहरेंसमेयर, एम० इब्राहीम शाह, ने मायोसीन युग के हामिन्वायडों के उदविकासीय सम्बन्धों पर बल देते हुए रामापिथेसीन के कतिपय कपि सदृश लक्षणों को गौड़ माना है (Nature, London, 270 : 689, 1977)। डी० सी० जोहांसन एवं टी० डी० ह्वाइट ने इसके मानवसम लक्षणों के आधार पर इसे आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेंसिस (लीतोलिल एवं हदार के जीवाश्म) का आदिम स्वरूप मानते है (Science, 203, 4378, 1979)। डेल्सन (1985), एन्ड्रूयूज एवं मार्टिन (1987), आक्सनाई (1987) आदि अनेकों विद्वान मायोसीन युगीन इस जीनस को हार्मिनिड मानते है जो सम्भवतः मानव का प्रत्यक्ष पूर्वज है।

इस प्रकार मानव का उत्पत्ति स्रोत कपि सदृश प्राणी है इस अवधारणा का समर्थन शरीर रचनात्मक तथ्यों के अतिरिक्त जीवाश्म साक्ष्य भी करते हैं और जीवाश्मिक तथ्य एक ठोक प्रमाण के रूप में माने जा सकते है।

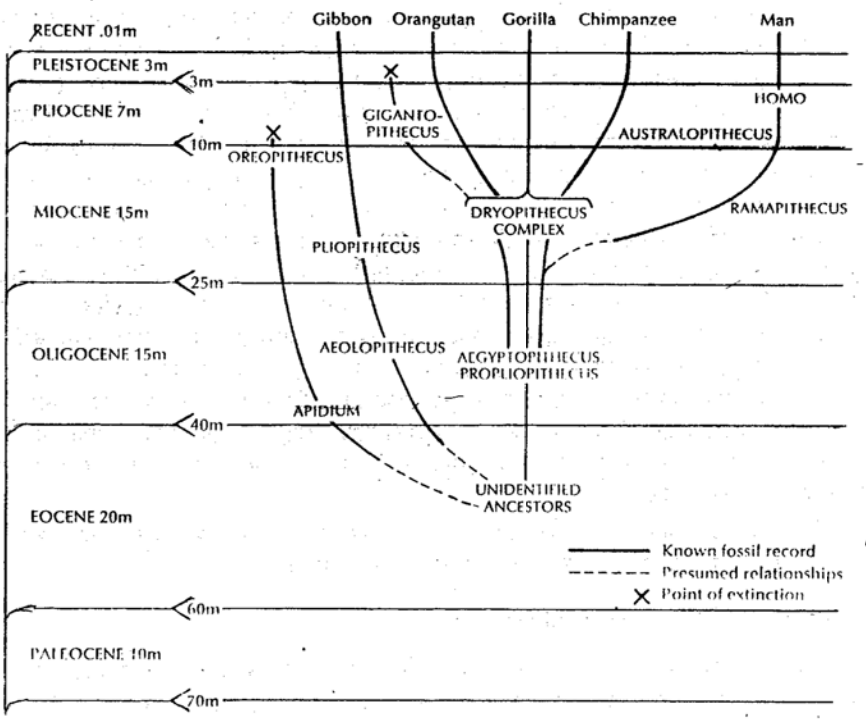
जैववासिक या व्यावहार वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Ethological Perspective) :

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मानववैज्ञानिक अध्ययन क्षेत्र का विस्तार हुआ जिससे प्राइमेटों के शरीर रचनात्मक अध्ययनों के अतिरिक्त पराकपालीय रचना (Post Cranial Anotomy) सम्बन्धी अध्ययनों की ओर मानववैज्ञानिकों का एक समूह आकृष्ट हुआ। प्राइमेटों के व्यवहार का अध्ययन करने वाले ये विद्वान उनके (प्राइमेटों के) प्राकृतिक भूभाग में ही अध्ययन करने पर अधिक बल दिया। इससे अचम्भित कर देने वाले तथ्य सामने आये और लगभग एक शताब्दी से चल रहा मानवोत्पत्ति स्रोत सम्बन्धी विवाद को समझने में बल मिला। (आर० एम० यर्कएवं ए० डब्ल्यू० यर्क1929, नेसेन 1931; बिघंम 1932; कारपेंटर 1934; जकरमैन 1932–33; ब्यूटनर–जानुश 1962, 1963–64, वाशबर्न 1963; नैपियर एवं बर्नीकाट 1963; डी वोर 1965)। **डी वोर** ने आधुनिक प्राइमेट अध्ययनों की एक संकलित पुस्तक का सम्पादन किया। इसमें बानरों, चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला कपियों के विभिन्न क्षेत्रीय शोधों को एक साथ प्रकाशित किया गया। जापान बानर केन्द्र से प्रकाशित होने वाली 'प्राइमेट्स' नामक शोध पत्रिका ने अनेकों मानवेतर प्राइमेटो के "प्राकृतिक व्यवहारों" का सम्पादन किया। वाशबर्न (1971) ने अति सूक्ष्मता से व्यावहारिक तथ्यों का विश्लेषण करके मानवोत्पत्ति का स्रोत आधुनिक कपियों को माना है जो प्रत्यक्ष रूप से मानव की पूर्वजों रेखा से सम्बद्ध है। लेविस (1973) भी मानव उदविकास को समझने में इन कपि व्यवहारों को महत्वपूर्ण माना है। इन विद्वानों ने व्यवहार सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर कपियों में से गोरिल्ला एवं चिम्पैंजी को मानव का समीपवर्ती स्वीकारा है, जिसका उल्लेख अध्याय 5 में भी किया जा चुका है।



चित्र 12 : 118 प्रातिनूतन काल में मानव जीवाष्म

वर्डसेल(1975) ने चिम्पैंजी के आधारभूत आंकडों के आधार पर मानव सदृश व्यवहारों का पुर्नविश्लेषण किया। शरीर रचना शास्त्री चिम्पैंजी की पेलविस एवं टांगों की अस्थियों को द्विपदगमन के अयोग्य ठहराते है तथापित चिम्पैंजी प्रायः खडा होता है एवं टहलता या दो पैरों से परिस्थितियों के अनुसार दौडता है, जब बडे घास के मैदानों में प्रायः द्विपदगमन करता है। जेन गुडाल (1967), 1968) ने चिम्पैंजियों को एक समय में अधिकतम 15 मिनट तक द्विपदगमन करते हुए अवलोकित किया है।ये प्रायः एक पेड से दूसरे पेड तक द्विपदगमन करता हुआ जाता है। जब यह अपने साथ कोई वस्तु लिये होता है तब प्रायः द्विपदगमन करता है। वह उत्तेजना अथवा भय के समय प्रायः दो पैरों से दौडता है। इस प्राणी के जीवन में द्विपदगमन महत्वपूर्ण भूमिका रखता है, तथापि ये चिम्पैंजी के परिगमन (Locomotion) का एक स्वीकार्य रूप नहीं है यह विशेष परिस्थितियों में चुना जाता है। अतः अब कोई भी कारण नहीं है जिससे हम यह न माने कि माथोसीन युग के ड्रायोपिथेसिन (जो चिम्पैंजी सदृश जीवाश्म है) द्विपदगमन करने में कुछ कम उपयुक्त होंगे।



चित्र 12 : 119 जीवित उच्चस्तनियों की 'उत्पत्ति अवधि' का सम्बन्ध

इसी प्रकार चिड़ियाघर में पकड़े गये चिम्पैंजी के मानव सदृश व्यवहारों जैसे– उपकरण निर्माण, उपकरण प्रयोग आदि की पुष्टि **ओक्ले** द्वारा की गयी है। चिम्पैंजियों को उनके प्राकृतिक भूभाग में ही उपकरणों का प्रयोग करते हुए **गुडाल** द्वारा अवलोकित किया गया है। चिम्पैंजी में घोंसला निर्माण करने की प्रवृत्ति को उपकरण निर्माण की कोटि में माना जाता है। **गुडाल** ने एक शिशु चिम्पैंजी में घोसला निर्माण की कला अपनी माता चिम्पैंजी से सीखने की प्रवृत्ति को सूक्ष्मता से प्रेक्षित किया है। उन्होंने चिम्पैंजियों में विभिन्न विधियों से उपकरण निर्माण की प्रवृत्ति देखी है। चिम्पैंजियों के व्यावहारिक लक्षणों का वर्णन इसके पूर्व भी किया जा चुका है। अतः संक्षेप में गुडाल ने जिन चिम्पैंजियों के जटिल व्यवहारिक तथ्यों को अपने शोधपत्रों में उत्कीर्णित किया है उसके आधार पर अनेकों मानववैज्ञानिक इसको प्राग–सांस्कृतिक जन्तु (Pre--cultural Animal) की अपेक्षा आदि–सांस्कृतिक जन्तु (Proto–cultural Animal) में वर्गीकृत करते हैं (वर्डसेल, 1975)।

किसी कपि द्वारा इस प्रकार के व्यवहारों को आत्मसात करना, अनेकों विद्वानों के अनुसार, एक प्रभावशाली शुरुआत है जिसकी तुलना मायोसीन युग के ड्रायोपिथेसीन (लगभग 2 करोड़ वर्ष पूर्व जीवन व्यतीत कर रहे थे) से करके मानव उदविकास को ठीक से समझा जा सकता है।

मायोसीन युग के रामापिथेसीन का कोई भी आधुनिक जीवित प्रतिमान (Model) नहीं है जिसके आधार पर हम रामापिथेसीन के व्यवहारों को पुनर्निमित कर सकें। **वर्डसेल** ने रामापिथेसीन के व्यवहार प्रतिरूप को समझने के लिए 'कोष्ठक तकनीक' (Brackating Technique) को प्रस्तावित किया है क्योंकि दन्तीय साक्ष्यों के आधार पर यह ड्रायोपिथेकस की अपेक्षा मानवसम अधिक है।अतः इस "हामिनिड जीवाश्म" का स्थान, इनके समकालीन ड्रायोपिथेसीन एवं आस्ट्रेलोपिथेसीन जीवाश्म के मध्य है। चूंकि रामापिथेसीन एवं ड्रायोपिथेसीन दोनों जीवाश्म प्राचीन विश्व (पूर्वी अफ्रीका, यूरोप, चीन एवं उत्तरी भारत) में समकालीन भूस्तरों से प्राप्त किये गये हैं। "गौस के नियम" के अनुसार "प्रकृति में दो जातिया समान खाद्य आवश्यकताओं के साथ दीर्घकाल तक समान भूभाग में सह अस्तित्व नहीं बना सकती।" अतः ये दोनों जीवाश्म जन्तु निश्चित रूप से भिन्न–भिन्न खाद्य आदतों को कालान्तर में आत्मसात किया होगा।इस प्रकार रामापिथेसीन कन्दमूल फल आदि की अपेक्षा मांस अधिक खाता होगा।वर्तमान चिम्पैंजी की अपेक्षा अधिक सतर्कता से आखेट करता होगा। निस्संदेह इसका आखेट अधिकांशतया भाग्य अथवा अवसर तत्व पर आधारित होगा क्योंकि उपकरण –प्रयोग के कोई भी अवशेष प्राप्त नहीं हो सके है। यद्यपि लुइस लीकी ने मानव उपकरण प्रयोग के कतिपय साक्ष्यों को सूचित किया है जो विशेषका पूर्वी अफ्रीका के "फोर्ट टेर्नान" स्थान से प्राप्त किये गये है। जहाँ "रामापिथेसीन जबड़ा" मायोसीन कालीन स्तरों से खोजा गया था, तथापि उपकरण प्रयोग के ठोस प्रमाण के रूप में पूर्वी रुडोल्फ से 26 लाख वर्ष पुरानी प्लाइस्टोसीन कालीन एक सुविकसित संस्कृति प्राप्त की गयी है। (वर्डसेल, 1975)

इस प्रकार आधुनिक व्यवहार वैज्ञानिक अध्ययनों ने मानव एवं कपि को एक ही पूर्वज रेखा से सम्बद्ध होने की पुष्टि की है जिससे मानव की उत्पत्ति के स्रोत अधिक स्पष्ट हुए है।

आनुवंशिक पारिप्रेक्ष्य (Genetical Persective):

बीसवीं शताब्दी के लगभग छठे दशक में मानव के उद्‌भव को और अधिक गहराई से समझने के लिए जैव रासायनिक एवं आनुवांशिक अध्ययनों का श्री गणेश हुआ। ये समस्त साक्ष्य इंगित करते है कि मानव अन्य अमानव प्राइमेटों की अपेक्षा कपियों से अत्यधिक सादृ्ष में रखता है। (सेठ एवं सेठ, 1985)

अत्याधुनिक शोध कार्यों के आधार पर क्रिटैशियस युग से लेकर वर्तमान समय के अन्तराल का प्राइमेट उदविकास एवं मानव के पूर्वज का उदविकास को एक वंशावली (Lineage) में अवलोकित किया जा सकता है जो विभिन्न जीन विकल्पों (Alleles) के साथ–साथ एक विराट जीन समष्टि (Gene pool)

रखता है। इस पर अनेक उदविकासीय वल जैसे– प्राकृतिक वरण आदि कार्यरत होते है जिसके फलस्वरूप एक जटिल आन्तरिक संगठन के साथ जातियाँ उत्पन्न होती है।यह वंशावली मानव की ओर उदविकसित होती हुई अनुकूलन के फलस्वरूप जातियाँ और अधिक भिन्न होती गयी। इस प्रकार के जीनी वितरण के एक 'जनांकिकी ज्ञान' (Demographic Knowledge) से अतीत एवं भविष्य के स्वरूप के 'प्रतिमान' (Model) विकसित हो गये है। आकारिकी एवं भौगोलिक विभिन्नताएँ विभिन्न विशाल भूआवासों में चरम सीमा में है जो शुष्क से ऊष्ण कटिबन्धीय प्राइमेटों के विभिन्न स्वरूपों में परिलक्षित होती है। प्रोटीन सम्बन्धी एण्टीजीनिक विशिष्टताओं के जातीय विचलन (Divergencies) यह स्पष्ट करते है कि टार्सियर अन्य प्रासीमियनों की अपेक्षा "एन्थ्रोपायडिया" के निकटस्थ है (गुडमैन, मूरे एवं बर्नेवस, 1974)। इसी प्रकार के परिणाम अन्य अध्ययनों से भी प्राप्त हुए हैं। (हिल, 1954)। लकेट (1974) ने अपरा (Placenta) एवं गर्भकाल (Gestation) जैसे लक्षणों के आधार पर समान परिणाम को प्राप्त किया है।

रुधिर वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Serological Perspective) :

मानव के समान ही ABO रुधिर वर्ग प्राइमेटों में भी दृष्टिगत किये गये है जो अपने वितरण में भौगोलिक विभेदों को दर्शाते हैं। ये रुधिर वर्ग अथवा इनके समवर्ती रूप मानव के अतिरिक्त कपियों में ही नहीं पाये जाते अपितु सरकोपिथेक्वायडिया (पुरानी दुनिथा के बानर), सिवाइडिया (नई दुनिया केबानर), असंख्यों स्तनधारी जातियों में, पक्षियों में, जीवाणुओं एवं पौधों में भी अपने प्राकृतिक एण्टीवाडीज एवं अन्य पदार्थ (लेक्टिन आदि) के साथ पाये जाते है। इनके साथ प्रायः तीन विलक्षणतायें एण्टी– 'A', एण्टी– 'B', एण्टी– 'H' दृष्टिगोचरण हुई है। उच्च कपियों में रुधिर वर्ग A एवं O चिम्पैंजी में देखा गया है।गिब्बन एवं ओरांगुटान में भी चिम्पैंजी एवं मानव के समान ही "आइसो एग्लूटिनेशन" (Iso agglutination) अर्थात् "सम समूहीकरण प्रतिक्रिया"पायी गयी है।दोनों मात्र A, B एवं AB रुधिर वर्ग प्रकट करते है। यह रोचक तथ्य है कि गिब्धन का B रुधिर वर्ग 'एण्टी– H (लेक्टिन)' से समूहीकरण प्रतिक्रिया (Agglutination) उसी अनुपात में करता है जिसमें यह 'एण्टीबाडी' मानव के O रुधिर वर्ग से मेल खाता है। इसी प्रकार गिब्बन, गोरिल्ला, चिम्पैंजी, ओरांगुटान स्रावक लक्षण (Secretor Status) का परीक्षण किया गया है। सम्पूर्ण परीक्षण में माल एक ओरांगुटान स्रावक (Secretor) नहीं पाया गया शेष समस्त कपि स्रावक लक्षण की विधमानता को प्रदर्शित करते हैं। एग्लूटिनेशन परीक्षण करने पर गोरिल्ला की लाल रक्त कणिकायें स्पष्ट प्रतिक्रिया नहीं करती है जिससे वह कपि एवं मानव की अपेक्षा बानरों के अधिक समान प्रतीत होता है। (वीनर, मूर– जैन्कॉस्की एवं गार्डन, 1963; 1966; मूर–जैन्कॉस्की एवं वीमर 1972)।

इसी प्रकार मानव के Rh एवं MNs रुधिर वर्ग के 'एण्टीजन' चिम्पैंजी के R C E F एवं V A B D रुधिर वर्ग के एण्टीजनों के 'एण्टीजनों' में समानता पायी गयी है (सोका एवं मूर–जेन्कॉस्की 1966; 1972)। इन वैज्ञानिकों ने पुनः 1978 में यह सिद्ध किया कि मानव का Rh – Hr रुधिर वर्ग प्रणाली एक विशिष्ट 'सीमियन' प्रकार का रुधिर वर्ग है जिसके आधार पर मानव सहित उच्च प्राइमेटों के मध्य वर्गीकरणात्मक सम्बन्धों को प्रदर्शित किया जा सकता है।

जैव रासायनिक परिप्रेक्ष्य (Biochemical Perspective) :

गत तीन दशकों में जैव रासायनिक लक्षण जैसे सीरम प्रोटीन (Serum Protein) लाल कोशिका इन्जाइम (Red Cell Engymes) सम्बन्धी अध्ययन प्राइमेटों पर किये जाने लगे हैं। हार्डी , वर्नीकॉट एवं आल्पर (1975) ने लंगूर बानरों के प्रोटीन बहुस्वरूपों (Protein Polymorphism) का अध्ययन किया है जो लंगूरों में पर्याप्त विषमता (Heterogeneity) को सूचित करते है। स्वदेश सेठ, पी० के० सेठ एवं वी० पी०

दीक्षित (1983) ने रहीसस बानर, वैबून एवं लंगूरों का लाल रक्त कोशिकीय इन्जाइमों का अध्ययन करके इनके एक स्वरूपों (Monomorphes) एवं बहुस्वरूपों (Polymorphes) का पता लगाया है। इनके अनुसार मात्र प्रेसबायटिस इण्टेलस (Presbytes Entellus) जाति के वानर C3, Gc ग्लायसिन प्रचुर –B ग्लायकोप्रोटीन a एण्टीट्रिप्सिन, P.G.M., 6–PGD, AK, सुपर आक्साइड डी सम्यूटेज, मैलेट डीहाइड्रोजिनेज एवं PHI जैव रासायनिक लक्षण के लिए बहुस्वरूपों को प्रकट करते है तथापि यह जाति Tf, Mb, PGM1, G–6–PD, एल्व्यूमिन आदि लक्षणों हेतु एक स्वरूपी है। इसके अतिरिक्त समस्त वैबून, लंगूर एवं रहीसस वानर अल्पमात्र ही विषमता प्रकट करते हैं।

अमानव प्राइमेटों एवं मनुष्य केसीरम – प्रोटीन केमिश्रण से उत्पन्न प्रतिक्रिया अभूतपूर्व साक्ष्य प्रस्तुत करती है (किटचिन एवं वियर्न, 1965)। इसके अनुसार Gc प्रोटीन प्राइमेट उदविकास की लम्बी अवधि में पर्याप्त रूप से रूपान्तरित हुआ जो अन्ततः मानव में एक जटिल बहुस्वरूपी विन्यास में विकसित हुआ।

अफ्रीका के कपियों का हीमोग्लोबिन अन्य स्थान के कपियों (एशिया) की अपेक्षा मनुष्य के हीमोग्लोबिन के अधिक समीपवर्ती पाया गया है। (गैरवर एवं तलमैग, 1975)। इसी प्रकार के परिणाम पहले ही सन् 1967 में सैरिच एवं विल्सन ने ट्रांसफेरिन, थाइरोग्लोव्यूलिन, सीरम एलब्यूलिन, लेंस प्रोटीन एवं डम्यूनोग्लोब्यूलिन आदि जैव रासायनिक लक्षणों केआधार पर अपने अभूतपूर्व शोध कार्य किया ।सैरिच ने अत्याधुनिक आणविक् उदविकास की अवधारणा प्राइमेटों के एल्व्यूमिन उदविकास के आधार पर प्रस्तुत की है जिसका उल्लेख इसके पूर्व अध्याय 5 में कर चुके हैं।

अतः संक्षेप में, सैरिच (1971) ने इन प्रतिरक्षा वैज्ञानिक साक्ष्यों के आधार पर मानव, चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला को 50 लाख वर्ष पूर्व एक पूर्वज रेखा से पृथक होने का मत प्रतिपादित किया है।चिम्पैंजी मानव के अधिक समीपवर्ती है।इसी प्रकार के परिणाम उक्त वर्णित अध्ययनों में भी प्रदर्शित हुए है।

चिम्पैंजी हीमोग्लोबिन की अमीनो एसिड के अनुक्रम (Sequences) का अध्ययन व्यॉयर एवं उनके साथियों (1971) ने किया है जिन्होंने इन अनुक्रमों को मानव सम देखा है।गोरिल्ला हीमोग्लोबिन के अनुक्रम अपेक्षाकृत भिन्न है क्योंकि इनमें अमीनों एसिड के दो विस्थापन (Replacements) होते हैं, जैसे a23 Glu – Asp, एवं b104 Asp – lys निम्न कपियों में हीमोग्लोबिन–A की b श्रंखला में मानव की b– श्रंखला की अपेक्षा तीन विकल्प पहचाने गये हैं। (80 Asu – Asp, 87 Thr – 545, 125 Pro – Glu)।

इराइथ्रोसाइट इन्जाइम कार्बोनिक एनहाइड्रेज I के 133 सजातीय अवशेषों (Residues) में मानव एवं चिम्पैंजी मात्र एक स्थल पर भिन्नता प्रदर्शित करते हैं।ओरांगुटान चिम्पैंजी से तीन स्थलों में एवं मानव से 4 स्थलों में भिन्नता प्रकट करते है। ये हामिन्वायड पुरानी दुनिया के बानरों (Cereopithecoids) से 4–6 स्थलों में भिन्न पाये गये है। इस प्रकार यह स्पष्टतया इंगित करता है कि चिम्पैंजी एवं मानव दोनों अधिक निकटवर्ती हैं।

वर्तमान प्राइमेटों के गुणसूत्री लक्षणों का अध्ययन अनेक विद्वानों ने किया है, जिसमें सेठ, बोएर, सक्सेना एवं सेठ (1976) ने अन्वेषित किया है कि चिम्पैंजी का सैटलाइट A – DNA अनेक भौतिक तत्वों में मानव के सैटलाइट III – DNA के सदृश है। इसी प्रकार के परिणाम पियर्सन, गेराएट्स एवं लिन्डेन (1973) को भी गुणसूत्री अध्ययनों से प्राप्त हुए थे। इससे यह पुनः स्पष्ट होता है कि अन्य प्राइमेटों की अपेक्षा मानव एवं चिम्पैंजी के क्रोमैटिन अत्यधिक समवर्ती हैं।

इस प्रकार जैव रासायनिक एवं रुधिर वैज्ञानिक अध्ययनों से मानवोत्पत्ति स्रोत को हम अनेक आयामों से सरलतापूर्वक समझ सकते है। आज इन अध्ययनों से हम यह समझने में सक्षम हो गये है कि नवीन

परिस्थितकी के अनुकूलन मानव जनसमूह ही नहीं गैर–मानव प्राइमेट समूह भी अनुकूलनशील है जिससे उनमें भिन्न दिशाओं में परिवर्तन घटित होते हैं। उदविकास एवं आनुवंशिक विशिष्टताओं को व्यापक दृष्टिकोण से देख करके हम प्राइमेट उदविकास एवं मानवोत्पत्ति के जीव स्रोत का बोध सरलतापूर्वक कर सकते हैं। आज हमें ज्ञात है कि तीन प्रमुख रुधिर समूहों– ABO, MN एवं Rh के तत्व मानवसम कपियों (गोरिल्ला, चिम्पैंजी, ओरांग, गिब्बन) में भी होते है। जिसमें चिम्पैंजी में विशेष करके लगभग मानव सदृश ही MN एवं Rh रुधिर वर्ग बहुस्वरूपी होते हैं। लाल रक्त कोशिकीय विशिष्टता पुनः चिम्पैंजी को अन्य प्राइमेटों एवं कपियों की अपेक्षा मानव के निकट लाती है।प्रतिरक्षा वैज्ञानिक अध्ययनों के परिणाम जो मानव प्रोटीनों, रुधिर एवं सैटलाइट DNA पर आधारित है अफ्रीकी कपियों (चिम्पैंजी, गोरिल्ला) से अधिक सामीप्य प्रदर्शित करते हुए जीवाश्म वैज्ञानिक अनुमानों की अपेक्षा कुछ नवीन काल की वंश–विच्छेद को इंगित करते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आणविक उदविकास की दर आकारिकीय अथवा वाह्यशारीरिक उदविकास की दर से कुछ स्वतन्त्र है। बहुआयामी दृष्टिकोण को यदि आत्मसात करें तो हम इन प्रतिरक्षा वैज्ञानिक, DNA संकरण एवं इलेक्ट्रोफोरिटिक तकनीकों का भूगर्भीय एवं जीवाश्म वैज्ञानिक तथ्यों के साथ प्रयोग करके प्राइमेटों में आनुवंशिक सामीप्य को प्रकाशित कर सकते है। इससे यह स्पष्ट होता है कि नयी दुनिया के बन्दर पुरानी दुनिया के बन्दरों, विशिष्ट उच्च प्राइमेटों के साथ एक लम्बे अर्से तक एक समान पूर्वजता को ग्रहण किये थे जिनका कालान्तर में आधुनिक 'प्रासीमियनों' से पृथककरण हुआ। इस परिणामों से यह भी स्पष्ट होता है कि ये दोनों पृथक दुनिया के समूह की आकारिक समानता जो इन्हें वानर की श्रेणी में वर्गीकृत करती है समानान्तरणवाद (Parallelisms) अथवा 'अन्तरणवाद' (Convergences) के फलस्वरूप आयी है अपितु एक समान पूर्वजता के फलस्वरूप आयी है। जिनके पूर्वज पहले से ही ऐसे लक्षणों के स्वामी थे। (सैरिच 1968, 1971; क्रानिन एवं सैरिच 1975, सेठ एवं सेठ 1985)

इसके अतिरिक्त फाइब्रिनोपेप्टाइड अमीनों एसिड अनुक्रमों के आंकडे यह इंगित करते है कि अफ्रीकी कपि अपेक्षाकृत मानव के अधिक समीप हैं। अनेकों प्रतिरक्षा वैज्ञानिक, रुधिर वैज्ञानिक एवं जैव रासायनिक तथ्य इसकों बार–बार सत्य सिद्ध करते है। हीमाग्लोबिन पर आधारित अनुसंधान मानव, चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला को 50 लाख वर्ष पूर्व एक पूर्वज स्रोत से पृथक होने का सुझाव देते है। इस प्रकार का रुधिर वैज्ञानिक एवं आणविक तथ्यों पर आधारित मानव एवं अफ्रीकी कपियों के मध्य निकट का सम्बन्ध उनके वर्गीकिरणात्मक स्तरों में परवर्तित नहीं हो सका है क्योंकि मानव को 'हामिनिडी' परिवार का एकमात्र जीवित सदस्य माना जाता है। गुडमैन (1967) इन परिणामों के आधार पर चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला को भी 'हामिनिडी' परिवार के अन्तर्गत सम्मिलित होने के योग्य मानते हैं।

इस प्रकार मानव की उत्पत्ति के सन्दर्भ में शरीर रचनात्मक भूगर्भिक, जीवाश्मिक एवं व्यवहार वैज्ञानिक अनुसंधानों के समान ही अत्याधुनिक रासायनिक अनुसंधान यह पुनः प्रमाणित करते है कि प्रारम्भिक मानव के पूर्वज कपियों (विशेषकर चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला) से प्रत्यक्षतया सम्बन्धित थे।

आकारिकीय परिप्रेक्ष्य (Morphological Perspective) :

आकारिकीय साक्ष्य यह इंगित करते है कि गिब्बन के पूर्वज प्राइमेट से प्रारम्भिक काल में विभेदित होकर के मानव वंश वृक्ष से उच्च कपियों की अपेक्षा पूर्व ही पृथक हो गये। इनके विभेदन के काल का अनुमान 2 से 3 करोड़ वर्ष पूर्व किया गया है। प्रतिरक्षा वैज्ञानिक अध्ययनों ने अल्व्यूमिन विभेदन को समुचित माना है (सैरिच 1968)।इस जाति के पूर्व पृथक्करण को हीमोग्लोबिन पर आधारित शोध भी इंगित करते हैं (ग्रेवर एवं तलमैग, 1975)। इसके साथ ही 'हामिन्वायडिया' के 23 प्रोटीनों का **इलेक्ट्रोफोरेटिक** तकनीक से अध्ययन किया गया जो मानव, उच्चकपियों एवं निम्न कपियों के मध्य समान आनुवंशिकी विभेदों को प्रदर्शित करते हुए इन सभी की एक पूर्वजता को इंगित करते है। (किंग एवं विल्सन 1975, अयैला 1975, ब्रूस एवं अयैला 1979)।

इसी प्रकार सामान्य सेंट्रोमेरिक DNA अनुक्रम की उच्च प्राइमेटों एवं मानव में विद्यमानता यह संकेत करती है कि एक उदविकासीय क्रियाविधि का अस्तित्व अवश्य था जिसने उदविकास की अवधि में इन समूहों को तुलनात्मक रूप से सफल होने में सक्षम बनाया है। यदि प्राइमेटों को अन्य जातियों जैसे– रोडेंशिया से तुलना करें तो यह पाते हैं कि ये संरचनात्मक विषम क्रोमैटिन (Constitutive Heterohromatin) के अन्तर्गत कुछ निश्चित DNA परिवारों का सरक्षण हुआ। उदाहरण के लिए, DNA संकरणात्मक अध्ययन यह बताते है कि चिम्पैंजी एवं मानव का उदविकासीय विभेदन वास्तविक "सैटलाइट III अनुक्रम" की उत्पत्ति के पश्चात् हुआ।

जहाँ तक जीवाश्म साक्ष्यों का सम्बन्ध है वे आदि मानव, आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेंसिस (इथियोपिया की प्लायोसीन भूस्तरों से प्राप्त किया गया है) एवं करोड़ 40 लाख वर्ष पुराने मायोसीन युग के रामापिथेसीन (कीनियापिथेकस) को आस्ट्रेलोपिथेकस की पूर्वज रेखा के रूप में प्रदर्शित किये गये है (जोहांसन एवं ह्वाइट 1979)। इसके अतिरिक्त एक और हामिन्वायड अवशेष ड्रायोपिथेकस कपि जो कीनिया (अफ्रीका) से प्राप्त हुआ है एवं 1 करोड़ 80 लाख वर्ष प्राचीन है, गोरिल्ला का पूर्वज समझा जाता है। यह जीवाश्म कपि रामापिथेकस एवं मानव वंश रेखा से पृथक हुआ माना जाता है। आणविक उदविकास की जो अवधारणा प्रस्तुत की गयी है वह जीवाश्मिक दृष्टिकोण एवं प्रोटीन तथ्यों को अफ्रीकी कपि एवं प्रारम्भिक मानव के सम्बन्धों के सन्दर्भ में एक स्थान पर समाविष्ट करने की चेष्टा करती है। DNA सम्बन्धी आंकड़े भी इन सम्बन्धों को दर्शाते हैं (सैरिच 1971, गुडमैन, बर्नेबस, मसूदा एवं भूरे 1971, प्रॉसेर, माऐर, बॉब्रो एवं जोंस 1985)। DNA के तथ्य पुनः इस पर बल देते हैं कि प्राइमेटों में परिवर्धनशील जीवनकाल उदविकास को दर्शाने के लिए एक महत्वपूर्ण लक्षण हो सकता है जो 6 करोड़ 50 लाख वर्ष से उदविकसित हो रहे मानव वंश की प्रदर्शित करने की क्षमता रखता है।अधोहनु एवं दांतों के जीवाश्मिक अवशेष जो इथयोपिया में ओमो नदी घाटी से प्राप्त हुए है वे 'होमो', तथा 'आस्ट्रेलोपिथेकस' के प्रत्यक्ष पूर्वज प्रस्तावित किये गये है तथा इनकी भूगर्भिक आयु लगभग 40 लाख वर्ष प्राचीन आकलित की गयी है। (हावेल, 1969)। इस खोज का काल मापन आणविक उदविकास के द्वारा उदघोषित मानवोत्पत्ति के काल से मेल खाता है।

समकालीन ग्लोबिन एवं उनके पूर्वज अनुक्रमों के मध्य जो उत्परिवर्तन दूरियों (Mutation Distances) से सम्बन्धित अध्ययन किये गये है वे दर्शाते है कि हीमोग्लोबिन का उदविकास उच्च प्राइमेटों में, प्रासीमियन एवं स्तनधारियों की अपेक्षा, मन्थर गति से हुआ है। (बर्नाबस, गुडमैन एवं मूरे 1971; हैंके, प्रैगर एवं विल्सन 1973)। अत्याधुनिक अध्ययन यह भी प्रदर्शित करते है कि हीमोग्लोबिन, सीरम अल्ब्यूमिन एवं ट्रांसफेरिन का उदविकास कशेरुक प्राणियों की अपेक्षा पक्षियों में अति मंथर गति से हुआ है। इस प्रकार ये अध्ययन भी आणविक उदविकास की अवधारणा का समर्थन करते हैं।

इस प्रकार, संक्षेप में तुलनात्मक प्रतिरक्षा–प्रसार जीनी, गुणसूत्री एवं प्रतिरक्षा वैज्ञानिक के प्राइमेट अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि 'मानव' चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला की पूर्वज रेखा से गिब्बन एवं ओरांगुटान क्रमशः प्रारम्भ (प्लायोसीन काल) में पृथक हो गये। प्राइमेट **फाइब्रिनोपेप्टाइड** के वंशानुक्रम में जहाँ हामिन्वायड (चिम्पैंजी एवं मानव) एवं सरकोपिथेक्वायड भिन्न–भिन्न शाखाओं में अग्रसरित होते हैं। वहाँ गिब्बन सरकोपियेक्वायड के आधार ब्रिन्दु से ही प्रथक होकर भिन्न वंश की तरह अग्रसर होता है। मानव एवं चिम्पैंजी की वंशरेखा का कोई भी पृथक्करण नहीं होता क्योंकि दोनों के फाइब्रिनोपेप्टाइड एक समान है। इस प्रकार का सम्बन्ध 'हामिन्वायडिया' वंश के उस वर्गीकरण व्यवस्था का समर्थन करता है जिसमें 'हामिनिडी' परिवार के अन्तर्गत मानव के साथ–साथ चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला को भी सम्मिलित किया जाता हो। यह चार्ल्स डार्विन के उस दृष्टिकोण का समर्थन करता है जब वह मानव को चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला के समान एक ही पूर्वज स्रोत से उत्पन्न मानते है। दूसरी ओर मानव DNA आंकड़े ऐशियायी कपियों के अधिक समकक्ष पाये गये हैं, जो यह सुझाव देते है कि मानव कपियों से पृथक होने के पश्चात् अफ्रीका की अपेक्षा इनका प्रसार एशिया में त्वरित गति से हुआ (टोडैरो एवं बेनवेनिस्टे 1977)।

प्रोटीन एवं जैव रासायनिक तथ्यों के आधार पर गिब्बन पुरानी दुनिया के बंदरों की अपेक्षा मानव के अधिक करीब है। इसकी अन्य कई शरीर रचनात्मक, जीवाश्मिक, व्यावहारिक तथ्य भी पुष्टि करते है।

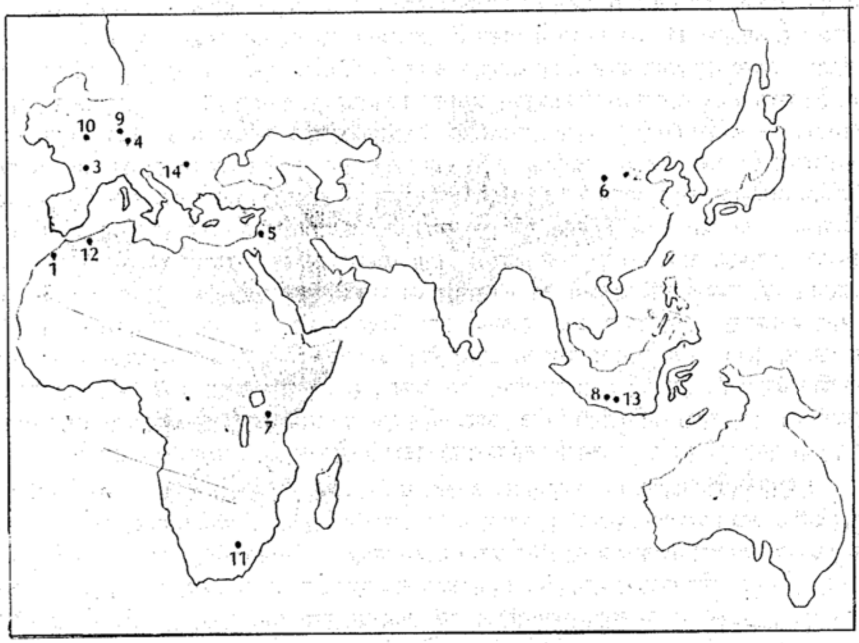
जब आणविक कालमापन की तुलना में जीवाश्म वैज्ञानिक साक्ष्य मानवोत्पत्ति को अधिक प्राचीन होने का मत प्रदर्शित करते है तो यह मत आणविक व्यवस्थाओं से भिन्न प्रतीत होता है। लेकिन द्विपदगमन के पूर्ण साक्ष्य न प्राप्त होने से सैरिच यह आंकलन करते है कि 10 से 30 लाख वर्ष के अन्तराल में एक पूर्वज स्वरूप से अफ्रीकी कपि की तुलना में मानव में द्विपदगमन व्यवहार पूर्ण विकसित हो गया होगा। कठोर जीवाश्म साक्ष्य यह इंगित करते है कि 50 लाख वर्ष पूर्व मानव एवं उच्च कपि एक ही पूर्वज रेखा से पृथक हुए है। इससे मानव उदविकास की आणविक अवधारणा का समर्थन जीवाश्म साक्ष्यों के द्वारा होता है। वैशवर्न (1971) एवं लेविस (1973) पराकपालीय तथ्यों– व्यवहार आदि के आधार पर आणविक कालमापन को वैध मानते है। कुछ जीवाश्म वैज्ञानिक, शरीर रचना वैज्ञानिक एवं जैव रसायनविद कपि तथा मानव का विभेदन मायोसीन युग में मानते है। इस संदर्भ में जोहांसन एवं ह्वाइट (1979) ने एक महत्वपूर्ण मत प्रस्तुत किया है। इसके आधार पर 50 लाख एवं 150 लाख वर्ष पूर्व के मध्य अन्तराल की घटनाओं को अधिक सरलता से समझा जा सकता है। इनके अनुसार 'रामापिथेकस' जीवाश्म के सम्पूर्ण अवशेष प्राप्त न होने के कारण इसकी सम्पूर्ण विशिष्टताओं को नहीं समझा जा सकता। फिर भी रामापिथेकस के मानवसम लक्षण उसके समकालीन हामिन्वायड वंशों (ड्रायोपिथेकस, सिवापिथेकस एवं जाइगैंटोपिथेकस) के लक्षणों की अपेक्षा विकसित है तथा साथ ही साथ यह आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेंसिस के आदिम स्वरूप (लक्षण) को भी प्रदर्शित करता है। इस प्रकार के लाक्षणिक मेल मिलाप से यह इंगित होता है कि कपि एवं मानव का विलम्बित (50 लाख वर्ष पुरानी) विभेदन अवश्यमेव एक सम्भावना रखता है। अन्तिम समाधान 50 लाख एवं 150 लाख वर्ष पूर्व के मध्यकालीन हामिन्वायड अवशेषों की खोज से ही सम्भव हो सकता है।

इसी प्रकार आणविक कालमापक अथवा घड़ी (Molecular Clock) जो अल ब्यूमिन एवं ट्रांसफेरिन जैव रासायनिक साक्ष्यों पर आधारित है वह एन्थ्रोपॉयडिया एवं प्रासीमियन को अपने पूर्वज रेखा से 7 करोड़ वर्ष पूर्व पृथक होने को इंगित करती है।इस प्रकार का विभेदन पुनः 3 करोड़ 50 लाख वर्ष पूर्व हुआ, जब एक पूर्वज रेखा से प्राचीन एवं नवीन विश्व के बानर विलग हो गये। लगभग 2 करोड़ वर्ष पश्चात् एक पूर्वज रेखा से सरकोपिथेक्वॉयडिया एवं हामिन्वाइडिया पुनः पृथक हो गये।आकारिकी एवं जीवाश्मिक साक्ष्यों के आधार पर भी जो परिणाम प्राप्त किये गये है, वे भी आणविक कालमापन के संकतों के समान हैं। (हर्सकोविट्ज, 1970, हाफस्टेटर 1970, 1972, केन्ना 1969)।

मतभेदों का तृतीय बिन्दु मेधावी मानव (होमोसैपियंस) के उदविकास से सम्बनधित है। कुछ विद्वान होमोइरेक्टस को मेधावी मानव का पूर्वज मानते है जब कि कुछ अन्य पुरामानव वैज्ञानिक एवं जीवाश्मशास्त्री होमोइरेक्टस का उदविकास स्वतन्त्र रूप से मानते है। ऐसी अवस्था में नियन्डरथल मानव का स्थान भी विवादस्पद हो जाता है। जैसा कि गत अध्याय में मानव उदविकास को तीन चरणों के माध्यम से समझाया जा सका था क्योंकि नियन्डरथल मानव को अब सर्वसम्मति से होमोसैपियंस स्तर का माना जाने लगा है। वास्तव में विवादों से बचने का मार्ग जी० जी० सिम्पसन (1963) ने प्रशस्त किया। उन्होंने मानव उदविकासीय साक्ष्यों के अध्ययन के उद्देश्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। उनके शब्दों में–

"Classification is not intended to be an adequate expression of phylogeny but only to be consistent with conclusions as to evolutionary affinities."

अर्थात् "वर्गीकरण का अभिप्राय जैव उदविकास के इतिहास की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है लेकिन यह केवल उदविकासीय सम्बन्धों के परिणामों का समरूप है।" अतः हमें मतभेदों में अत्यधिक उलझना नहीं चाहिए, क्योंकि मानव उदविकासीय अध्ययनों का अन्तिम लक्ष्य हामिनिडों के मध्य उदविकासीय सम्बन्धों एवं अनुकूलन प्रतिरूपों को समझना है। मतभेदों को कम करने के लिए कई अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय गोष्ठियाँ



चित्र 12 : 120 एक लाख वर्ष पुराने जीवाश्मों के उत्खनन स्थल

1. कैसाब्लैंका (Casablanca)
2. चु-कोन्ती (Chou-kao-tien)
3. फांटेशिवाड (Fontechevade)
4. हाइडलवर्ग (Heidelberg)
5. इज़राइल (Issrel)
6. लैंटियन (Lantian)
7. ओल्डवाई गार्ज (Oldvai Gorge)
8. सैजीनरन (Sangiran)
9. स्टीहाइम (Steinheim)
10. स्वैंज काम्ब (Swanscombe)
11. स्वैर्टक्रांस (Swartkrans)
12. टर्नीफाइन (Ternifine)
13. ट्रिनिल (Trinil)
14. बर्टेसजॉलास (Verteszolos)

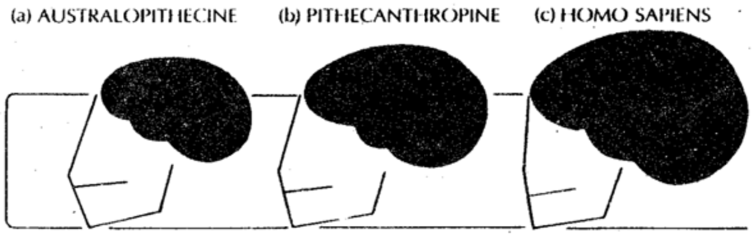
आयोजित की जाती रही हैं। उदविकासीय सम्बन्धों के आशय के महत्व को समझते हुए 1980 में रॉयल सोसाइटी एवं ब्रिटिश अकादमी के तत्वाधान में तृतीय संयुक्त बैठक आयोजित की गयी। जिसमें मानव उदविकास एवं उत्पत्ति विषय पर अनेकों विद्वानों ने विचार विमर्श किया। इसमें **मानवीकरण प्रक्रिया** (Hominisation Process) के क्षेत्र में हुई प्रगति के चिन्तन पर बल दिया गया जिससे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य ने अपना वर्तमान स्वरूप एवं स्तर कैसे प्राप्त किया है। इसमें मानवीकरण प्रक्रिया में आयी सम्भावित कठिनाइयों के ऊपर विशेष बल दिया गया।

मानवीकरण प्रक्रिया में तीन घटक अति महत्वपूर्ण रहे है : द्विपदगमन, उपकरण निर्माण एवं भाषा। उपकरण निर्माण एवं भाषा आस्ट्रेलोपिथेसीन के विशेषकर दो अंगों हाथ की परिग्राही क्षमता (विशेषकर अंगूठा) एवं मस्तिष्क के परिवर्धन के प्रतिफल है। मस्तिष्कीय रचना उत्तोत्तर जटिल एवं परिवर्धित हुई है। लेकिन मस्तिष्कीय रचना के उत्तरोत्तर वृद्धि करने से क्या उपकरण निर्माण की क्षमता एवं भाषा का उदविकास हुआ। इस सन्दर्भ में दो मत प्रचलित है है। कई जैविक मानव वैज्ञानिक मस्तिष्कीय आकार वृद्धि को उपकरण निर्माण एवं भाषा के विकास का आधार मानते है जब कि कई विद्वान इसके विपरीत अपने मत प्रस्तुत करते हैं। व्यूटनर जानुश के अनुसार कपालीय रचना का विस्तार इसकी धारिता से मापा जाता है... "जबकि इसके बात का कोई भी प्रमाण नहीं है कि इस तरह की 'उच्चतर' क्रियाओं जैसे उपकरण निर्माण अथवा संस्कृति के लिए कपालिक आयतन आवश्यक रूप से अधिक होना चाहिए।" लेकिन यह निसंदेह सत्य है कि मानवीकरण दिशा में कपालीय धारिता उत्तरोत्तर बढ़ी है :

जीवाश्म	अधिकतम–न्यूनतम (जीवनकाल) हजार वर्षों में	कपाल ऊँचाई	मस्तिष्क आकार का परिक्षेत्र (घन सेमी०)
होमो सैपियस सैपियंस	50–0	91.0	900–2,100
होमो सैपियंस नियन्डरथलेंसिस	150–40	77.7	1200–1500
होमो इरेक्टस	100–500	69.4	700–1200
आस्ट्रेलोपिथेसीन	2,000–600	–	300–600

हामिनिड प्रक्रिया में जो अन्य आकारिकी परिवर्तन हुए है जैसे भ्रूकटक, नेत्रगुहा, नासिकास्थि, अलव्योलर प्रवर्ध, उपरीजबड़ा, दन्तचाप, दन्तरचना, अधोहनु, श्रोणिमेखला उपांग अस्थियाँ सम्बन्धी आकारीय परिवर्तन इनका वर्णन विगत अध्याय में किया जा चुका है।इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन भ्रूकटक तथा आनन मण्डल का उत्तरोत्तर अपघटन है। होमोसैपियंस के उदविकास के दौरान जबड़े की रेखा उत्तरोत्तर पीछे की ओर खिसक गयी है तथा सिम्फीसियल के झुकाव का कोण उत्तरोत्तर परिवर्धित होता चला गया है। (कोइंग्सवाल्ड, 1962)

इस प्रकार मानवीकरण की जटिल प्रक्रिया में दो प्रकार के लक्षणों का उदविकास होता है **एक** तो वे लक्षण जो पूर्णतया आकारिकीय है, शारीरिक है तथा **दूसरे** वे लक्षण है जो परा कपालीय है व्यावहारिक अथवा सांस्कृतिक है। इस प्रक्रिया को सरलता पूर्वक तभी समझा जा सकता है जब हम 'होमो' वंश की सरल परिभाषा दे सकें। होमो वंश का उदविकास अथवा मानवीकरण प्रक्रिया को रामापिथेसीन से लेकर होमोसैपियंस सैपियंस तक के आकारिक एवं सांस्कृतिक लक्षणों के परिवर्तनों या विशिष्टताओं के आधार पर समझा जा सकता है। व्यूटनर जानुश इस काल के मध्य आये कपाल धारिता के परिवर्धन को 'होमो वंश' की विशेषता



चित्र 12 : 121 विभिन्न उद्विकासीय स्तरों पर मानव के सापेक्ष मस्तिष्क का आकार

में सम्मिलित नहीं करते जब कि लि ग्रॉ क्लार्क इस लक्षण को प्रमुख मानते हैं। कई विशेषज्ञों ने होमो वंश में दो उदविकासीय प्रवृत्तियों के ऊपर बल दिया है : मस्तिष्क का विकास एवं मुखमण्डल एवं रदनक दांत के आकार में कमी। वैसे इस वंश की पहचान पर सभी विद्वान एकमत नहीं है। व्यूटनर–जॉनुश (1969) 'होमो वंश' को विशेषताओं के आधार पर कुछ इस प्रकार की मान्यता दी है जो ली ग्रास क्लार्क के द्वारा दी गयी विशेषताओं पर आधारित है।

"श्रोणिमेखला तथा टांगों की संरचनाएँ सामान्य ऊर्ध्व–संस्थिति एवं द्विपाद प्रचलन के लिए अनुकूलित है।अग्रपाद पश्चपादों की अपेक्षा छोटे है। हाथ में एक सुविकसित अंगुष्ठ है जो पूर्णरूपेण अभिमुखचारी है। हाथ, शक्ति एवं सूक्ष्मतम पकड़ के योग्य है। उपकरण निर्माण क्षमता पर्याप्त रूप से इतनी विकसित है कि उपकरणों की निर्माण योजना, एक व्यक्ति से दूसरे में, तथा एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी में संकेतात्मकता के रूप में प्रसारित की जा सकती है।"

उक्त परिभाषा के आधार पर आस्ट्रेलोपिथेकस को होमो वंश के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है जिसे इसके पूर्व ली ग्रास क्लार्क(1964) ने सूचीबद्ध गुणों के आधार पर आस्ट्रेलोपिथेकस को होमो वंश की एक ज़ाति के रूप में प्रस्तावित किया था।

वास्तव में मानवीकरण प्लाइस्टोसीन युग में हुआ है।यह गत 40 लाख वर्षों में बहुत तेजी से हुआ है। घटित यह दैहिक (Somatic) एवं दैहिकेतर (Extra Somatic) वंशागति से उत्तरोत्तर अग्रसर हुआ। गत 20 लाख वर्षों के पश्चात् दैहिकेतर विकास की गति तीव्रतम देखी गयी है। दैहिकेतर विकास अथवा सांस्कृतिक उदविकास मानवीकरण प्रक्रिया का अपरिहार्य तत्व है। सांस्कृतिक विभाजन के अनुसार आदि पुरापाषाण काल मध्य प्लाइस्टोसीन युग में आता है। मध्य पुरापाषाण काल उत्तर (अन्तिम) प्लाइस्टोसीन काल का लगभग तीन चौथाई भाग तक है तथा शेष एक चौथाई भाग में उत्तर पुरापाषाण कालीन संस्कृति का विकास हुआ है।

दैहिकेतर लक्षणों के प्रमाण आस्ट्रोलोपिथेसीन युगीन भूस्तरों से प्राप्त होने लगे है। चूंकि उपकरण निर्माण सांस्कृतिक ढंग से निश्चित किये गये व्यवहार का परिणाम है। अतः आदि प्लाइस्टोसीन काल के हामिनिडों से सम्बद्ध पुरातात्विक समूह में उपकरणों का विद्यमान होना इसका प्रमाण है। सांकेतिक संचार, शिक्षा और सांस्कृतिक परम्परा उन प्राणियों के द्वारा अर्जित की जा चुकी थी जिनकी जीवाश्म अस्थियाँ प्राप्त की गयी है। पाषाण उपकरणों की विद्यमानता आज एक सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है तथा अस्थि के ऊपर बने उपकरणों की यदि स्पष्ट व्याख्या की जाय तो यह एक महत्वपूर्ण भूगर्भीय प्रमाण है। (व्यूटनर जानुश 1969)

यंग (1971) ने उपकरण प्रकार के आधार पर आस्ट्रेलोपिथेकस की संस्कृति निम्न पुरापाषाण कालीन माना है जिस समय का हामिनिड चापर्स, स्क्रेपर्स आदि पाषाण उपकरणों के प्रयोग से आखेट करके जीवनयापन

करता होगा। ओल्डुवाय गार्ज से प्राप्त उपकरणों से यह ज्ञात होता है कि चापर उपकरणों का परिष्कार शनैः–शनैः हुआ उसके दोनों किनारों के फलकीकरण (Flaking) सम्पूर्ण उपकरण की सतह पर भी किये जाने से हस्त कुल्हाड़ियों (Handaxes) का जन्म हुआ। तदोपरान्त फलकीकरण की प्रविधियाँ भी विकसित होने लगी और हस्तकुल्हाडी की संस्कृति समृद्ध होती गयी।

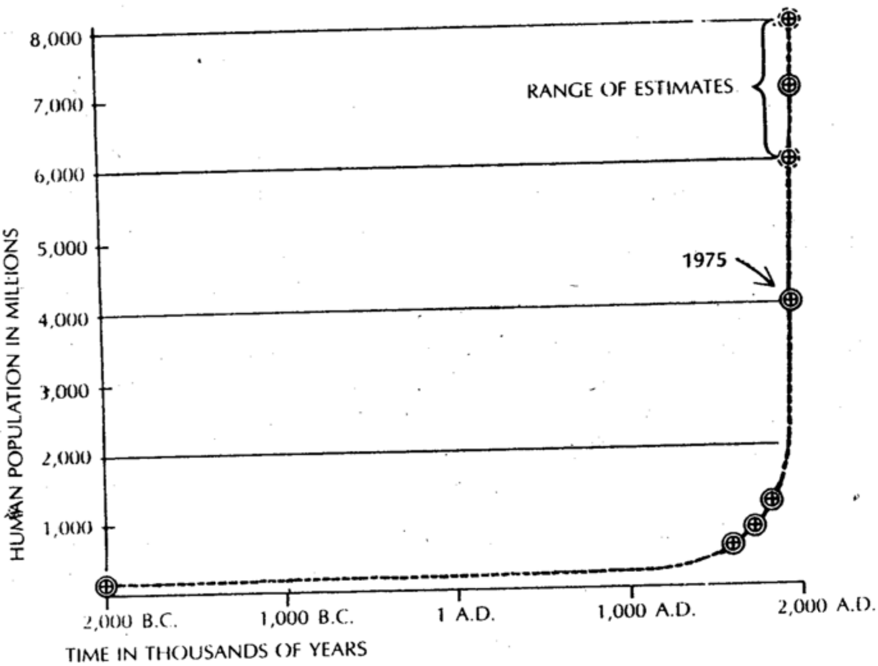
होमोइरेक्टस वंश की संस्कृति इनके अग्रगामियों से अति विकसित थी। कुछ विद्वान इस वंश को 'होमो सैपियंस' के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं (लि ग्रॉस क्लार्क1964, ब्यूटनर–जानुश 1969)। ये पुरानी दुनिया के अधिकांश भागों में फैले थे।इनकी संस्कृति निम्न पुरापाषाणकालीन है। इस काल के उपकरण चीन के 'होमो पेकीनेंसिस' जीवाश्म के साथ क्लैक्टोनियन प्रकार के पाषाण उपकरण जैसे– अपरिष्कृत चापर, प्वांइट एवं स्क्रेपर आदि प्राप्त हुए हैं। कैसा ब्लैंका से प्राप्त अवशेष जो होमोइरेक्टस में सम्मिलित किया जाता है, उससे सम्बद्ध द्वितलीय हस्तकुल्हाड़ी प्राप्त हुई है जो यूरोप की समकालीन संस्कृति एश्यूलिसान के समकक्ष है यूरोपी की प्रारम्भिक सांस्कृतिक अश्यूलियन (शैलियन) से सम्बन्धित उपकरण यह इंगित करते है कि 'कु-द पुवां' (Coup–de–poing) सांस्कृतिक का विकास तीव्र गति से हुआ जिससे अनेकों फलकीकरण प्रविधियाँ कालान्तर में विकसित हुई। इस प्रकार होमोइरेक्टस अपने उपकरणों, बुद्धिमानी एवं सामाजिक संगठनों के आधार पर बड़े–बड़े जन्तुओं जैसे– हाथी, गैंडा, भैंस, सुवर, घोड़े, हिरन, बैबून एवं बन्दरों का आखेट करने में पूर्ण सक्षम था। हंगरी एवं चीन से अनेकों अग्नि की भट्टियों एवं जली हुई अस्थियों के साक्ष्य यह बताते हैं कि वह आग का प्रयोग करता था इसने भोजन पकाना आरम्भ कर दिया था तथा गुफा के मुहानों को आवास स्थल बना चुका था। अतः इस प्रकार के जटिल सांस्कृतिक मानव प्रक्रियायें यह स्पष्ट करती है कि होमोइरेक्टस अपनी संचार प्रणाली का विकास तीव्र गति से कर रहा था तथा अमूर्त संवेदनाओं को क्रियान्वित करने की क्षमता रखता था जो मानवीकरण की दिशा में एक मील का पत्थर साबित हुआ है।

इसको कई विद्वान वर्तमान मानव का प्रत्यक्ष पूर्वज मानते हैं जिसकी चर्चा गत अध्याय में की जा चुकी है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि होमो इरेक्टस का प्रसार विश्व के अधिकांश भाग में हुआ, जिससे विभिन्न वातावरण के अनुकूलन से इस जाति में कतिपय आकारिक विशेषतायें उदविकसित हुई। कुछ विद्वान ऐसा विश्वास करते है कि अफ्रीकी होमोइरेक्टस के किसी प्रकार से ही होमोसैपियंस नियन्डरथलेंसिस का विकास हुआ। नियन्डरथल मानव का एक समूह (पुरातन नियन्डरथल) यूरोप की अत्यधिक शीतकालीन जलवायु के अनुकूलन से अन्य नियन्डरथलों से पृथक हो गये जिनका कालान्तर में सम्भवतः मेधावी मानव में ही विलीनीकरण हो गया।इसका दूसरा समूह (प्रगतिशील नियन्डरथल) मेधावी मानव में उदविकसित हुए हैं। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि मेधावी मानवों (होमोसैपियंस सैपियंस) के जीवाश्म चूंकि यूरोप के अतिरिक्त पुरानी दुनिया के अन्य महाद्वीपों से भी प्राप्त हुए है, जो यह संकेत करते है कि मेधावी मानव का उदविकास यूरोप के अतिरिक्त अन्य भागों में भी हुआ है। सांस्कृतिक साक्ष्य यह स्पष्ट करते है कि इन होमो नियन्डरथल समूहों एवं प्राक–होमोसैपियंस में आदान–प्रदान की प्रणाली विकसित थी इनमें अपनी भाषा, सामाजिक रीति रिवाज तथा विचार करने की शक्ति विद्यमान थी जो इनके आधुनिक मानव कोटि के सुविकसित मस्तिष्क से इंगित होता है। नियन्डरथल मानव के दफनाये जाने का साक्ष्य 50 हजार वर्ष पूर्व के मानव संस्कारों को इंगित करते है।

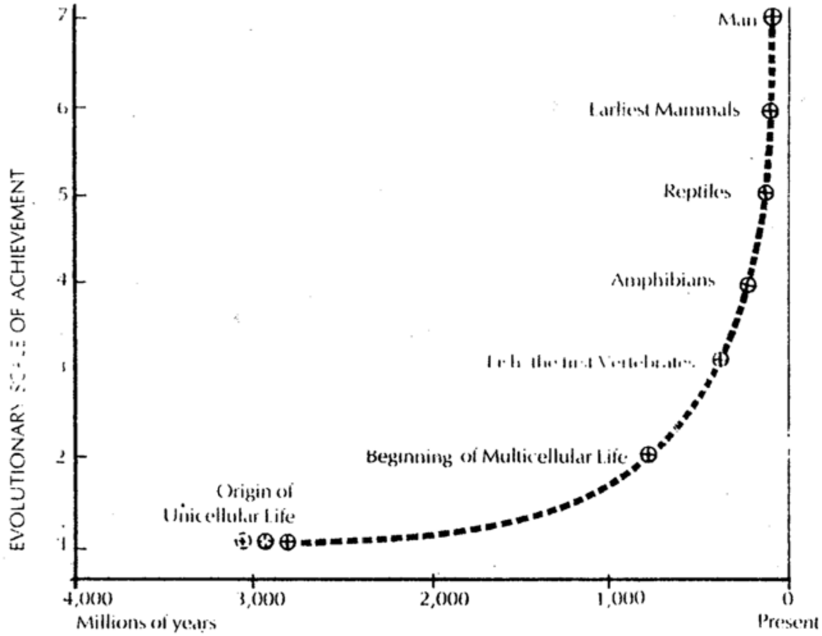
इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान स्टाइनहाइम आदि प्राक नियन्डरथलों को, जिसे कुछ विद्वान प्राक––सैपियंस भी कहते है, ही नियन्डरथलों एवं मेधावी मानव का जन्मदाता मानते है। कई विद्वान मेधावी मानव के प्रत्यक्ष पूर्वज माउन्टकार्मेल को मानते है।वाइनर (1958) जीवाश्म अवशेषों की विवेचना में वर्गीकरण के नियमों के पालन करने पर बल दिया है। उनके अनुसार होमो के सदस्यों में एक ही समय में तीन दिशाओं में प्रवृत्तिया विकसित हुई, एक समूह नियन्डरथल की दिशा में, दूसरा होमो सैपियंस की ओर तथा तीसरा अन्तरमध्यीय विशेषताओं की दिशा में अग्रसरित हुआ। ये विभिन्न दिशा की ओर जाने वाले

जीवाश्म मानव ही कालान्तर में मेधावी मानव में सुविकसित होकर के सम्पूर्ण पुरानी दुनिया में फैल गये। वाइनर के इस मत को "वर्णानुक्रम सिद्धान्त" (Spectrum Theory) के नाम से पुकारा जाता है।

इस प्रकार वाइनर के इस मौलिक मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही समय में विभिन्न भागों में छोटे–बड़े समूह अपनी थोड़ी बहुत स्थानीय विशेषताओं सहित जीवित रहें, लेकिन उनका उदविकास एक दूसरे से पृथक नहीं हुआ क्योंकि सांस्कृतिक साक्ष्य (मध्य तथा उत्तरी पुरापाषाण कालीन) इन समूहों के मध्य आदान प्रदान की विकसित प्रणाली को इंगित करते है। यह आदान–प्रदान मात्र यूरोपीय भूभाग में ही नहीं बल्कि पश्चिमी एवं मध्य एशियायी समूहों के अन्तर्गत भी था। क्योंकि प्राप्त सांस्कृतिक उपकरण यह स्पष्ट करते हैं। यह समानता जीनी आदान प्रदान का भी संकेत करते हैं। लेकिन सम्भवतः पश्चिमी यूरोपीय समूह शीत की भीषणता के कारण कुछ समय तक अवश्य पृथक रहे होंगे तथा इन्हें जीनी व सांस्कृतिक विनिमय का अवसर न प्राप्त हुआ होगा, तथापि उनके सांस्कृतिक उपकरणों से यह विदित होता है कि वे भी उस काल की होमोसैपियंस की मूल धारा (Main Stream) से विलग न थे। यूरोप के पूर्वी भाग में अधिक उपयुक्त वातावरण था। फलस्वरूप इनका सांस्कृतिक विकास एवं प्रसार तीव्रतम गति से हुआ। इससे पश्चिमी समूहों का पूर्वी समूहों से सम्पर्क पुनः स्थापित हुआ। कालान्तर में पश्चिमी समूह पूर्वी समूह में ही विलीन हो गया क्योंकि वे अपने प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में न्यूनतम संख्या में थे।



चित्र 12 : 122 गत 4,000 वर्षों में हुई मानव संख्या में वृद्धि (अनुमानित)



चित्र 12 : 123 उद्विकास की गति

इस प्रकार यहाँ पर अब यह स्पष्ट है कि उदविकास एक निश्चित गति से नहीं होता है।कोई एक सुनिश्चित धारा नहीं है और न ही कोई निश्चित दिशा। अपितु यह विभिन्न गतियों से अग्रसर होता है। इसमें विभिन्न धारायें मिलती और निकलती है जो अन्ततः मुख्य धारा में विलीन होती है। सम्भवतः इसी कारण लगभग आधी शताब्दी पूर्व सिम्पसन (1950) ने उदविकास प्रक्रिया को न तो पूर्णतया सुव्यवस्थित माना है और न ही पूर्णतया अव्यवस्थित; वरन इसे जीवन का वह इतिहास माना है जो निर्देशित, यादृच्छिक (Random) क्रमबद्ध एवं अक्रमबद्ध का एक विषम समिश्रण है। अतः यह निस्संदेह सत्य है कि मेधावी मानव का उदविकास पूर्णतया अवसरवादी है जिसे दैहिक एवं देहिकेतर उदविकासीय प्रवित्तियों के आधार पर सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है।

***

भाग – 3

13

मानव आनुवंशिकी : परिभाषा एवं विषयवस्तु

विभेदों के स्रोत

जीवोत्पत्ति से लेकर आज तक उद्विकासीय इतिहास में विभेदों का स्थान अपरिहार्य है। ये उद्विकास के वास्तविक अस्तित्व का बोध कराते हैं। ये प्रायः दो प्रकार के होते हैं– सूक्ष्म एवं स्थूल। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में उत्पन्न होने वाले विभेदों को सूक्ष्म विभेद कहते हैं।इनके अध्ययन की इकाई जीन अथवा विकल्पी होती है जबकि स्थूल विभेद, वास्तव में सूक्ष्म विभेदों का ही संकुल है। ये उद्विकास की दिशा को सुनिश्चित करते हैं। इन विभेदों के स्रोत उद्विकासीय बल हैं, जिनका उल्लेख अध्याय–दो में किया जा चुका है। यहाँ पर स्मरणीय बात यह है कि ये विभेद (सूक्ष्म एवं स्थूल) जो उद्विकासीय बलों की अन्तक्रियाओं के परिणाम है उनकी क्रियाविधि आनुवांशिक होती है। इनके अध्ययन का मौलिक स्तर 'जीन' होता है। ये जीन ही संशोधित सूचनायें एक पीढी से दूसरी पीढी में हस्तान्तरित करते है जिनके माध्यम से विभेद उत्पन्न होते हैं। .

विभेदों की जानकारी के प्रमुख स्रोत जीन एवं गुणसूत्र होते है। युग्मक जनन (Gamete formation) के समय कई घटनायें ऐसी सम्पन्न होती है। जैसे– अवियोजन (Crossing over), पुनसंयोजन (recombination) आदि। जिनके फलस्वरूप माता–पिता के एकरूप या समान (Identical) युग्म कतिपय जीनी परिवर्तन ले आते है। जब दो भिन्न माता–पिता के युग्म परस्पर संयोजित अथवा निषेचित होते है तो उनके गुणसूत्रों (Chromosomes) के संयोजन की शैली पूर्णतया यादृच्छिक (Random) होती है जिससे उत्पन्न सन्ततियाँ बिल्कुल मां अथवा पिता के समान नहीं होती यद्यपि वे माता–पिता की जीनी सम्पदा (endowment) को संजोये होती हैं।

यह जीनी संरचना उत्परिवर्तन का भी शिकार होती है जो अविरल गति से घटित होने वाली एक प्रक्रिया है। ये उत्परिवर्तन जीनी एवं गुणसूत्री होते हैं जो स्वतः एवं प्रेरक अभिकर्ताओं के प्रभावों से उत्पन्न होते हैं। इन उत्परिवर्तनों में लगभग 99 प्रतिशत स्वतःजात होते हैं। (रिचर्डसन एवं स्टबस, 1976)। अधिकांश स्वतःजात उत्परिवर्तन प्रत्येक पीढी में पुनरावर्ती होते हैं जो जीन कुण्ड (Gene pool) में या तो स्वीकार किये जाते हैं या अस्वीकार कर दिये जाते है। जीन कुण्ड में स्वीकार या अस्वीकार करने की यह प्रकृति सम्भवतः इस बात पर आधारित होती है कि क्या यह उत्परिवर्तन किसी दिये गये समय पर लाभकारी सिद्ध होगा अथवा नहीं ? उत्परिवर्तन के इस प्रकार के आग्रही अवतरण से विशेष जीव समूह अपने जीन कुण्ड की विविधता में सहसा अभिवृद्धि होती है, जिसके माध्यम से विकसित पर्यावरण के अनुकूलन हेतु कोई जीव समूह एक नवीन स्वैच्छिक आनुवंशिक योग्यता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार एक विशेष जीव समूह नवीन पर्यावरण का अनुकूलन सरलतापूर्वक करने में सक्षम हो जाता है तथा उत्परिवर्तन एक विशेष जीवसमूह के उदविकास में लाभकारी सिद्ध होता है।

जब अर्धसूत्री कोशिका विभाजन के दौरान जीनों अथवा समस्त क्रोमोसोमों (गुणसूत्रों) का मिश्रण अनेकों प्रकार के जीन प्ररूपों (Genotypes) में होता है तब पुनसंयोजन की उत्परिवर्तन से प्रतिद्वन्दता होती है।इससे ये दोनों विभेद संसाधन के रूप में साथ–साथ हुआ करते हैं। जहाँ उत्परिवर्तन जीनों के अस्तित्व में परिवर्तन उत्पन्न करता है वहीं - वहीं पर पुनर्संयोजन जीनों के अस्तित्व का पुनर्गठन करता है।

इसके अतिरिक्त पुनर्संयोजन प्राकृतिक चुनावी अभिकर्ता (Natural Selective Agent) एवं संकरण के रूप में विभेद उत्पन्न कर सकता है। इससे संकरण विभेदन की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि वह मानव की विभिन्न संस्कृतियों में भी प्रासांगिक है। एक प्रसिद्ध उदविकासविद् स्टेविन्स ने इसे भिन्न–भिन्न अनुकूलनशील जीन समूहों को रखने वाली जन संख्याओं के मध्य अन्तर–वरण की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है। क्रम विकासीय तथ्य यह स्पष्ट करते हैं कि इस क्रियाविधि के परिणामस्वरूप आनुवंशिक अस्तित्व की अनुकूलन क्षमता में नवीन (पुनः) वृद्धि होती है जिससे संकर वर्ण (Hybrid) अपने उत्तरजीवी अस्तित्व की क्षमता विकसित करने में सक्षम होता है। (रिचर्डस एवं स्टबस, 1976)।

जब ऐसे जीन जो किसी जनसमूह एवं पर्यावरण के मध्य अनुकूली क्षमता के उच्चतम स्तर को प्रदर्शित करते है तो उनमें से प्रकृति के सर्वाधिक अनुकूल जीन प्ररूप बार–बार उत्पन्न होते है। इस क्रियाविधि के सतत रहने से कालान्तर में सूक्ष्म विभेदों के समूह उत्पन्न होते है, जो अन्ततः बृहद या स्थूल विभेदों का कारण बनते हैं। इसीप्रकार जीनी अपसरण (Genetic irift) एवं अन्तःप्रजनन (Inbreeding) की क्रिया भी सूक्ष्म विभेदों को प्रोत्साहित करती है।

आनुवंशिक एवं आकारीय विभेद

सूक्ष्म विभेद जो वृहद विभेदों की मौलिक इकाई माने जाते हैं, दो प्रकार के है।एक तो वे विभेद हैं जिनकी जीन बारम्बारता (Gene frequencies) ज्ञात की जा सकती है तथा उनके लिए एक जीन उत्तरदायी होता है, उन्हें आनुवंशिक विभेद कहते हैं। इसके विपरीत दूसरे वे विभेद हैं, जिनकी जीन बारम्बारता ज्ञात नहीं की जा सकती है एवं उनके उत्तरदायी अनेक जीन होते है, इन्हें आकारिक विभेद (Morphological variation) कहते हैं।

इस प्रकार विभेदन जिन प्रक्रियाओं या क्रियाविधियों से उत्पन्न होता है वे मूलतः आनुवंशिक होती है। ये आनुवंशिक क्रियाविधियाँ ही उदविकास का मुख्य स्रोत है आनुवशिक क्रियाविधियों के अध्ययन के विज्ञान को मानव आनुवंशिकी या जैनेटिक्स (Genetics) के नाम से पुकारा जाता है। आनुवंशिकी की क्रियाविधियों को समझने के लिए आनुवंशिकी के बहुआयामी पहलुओं को समझना आवश्यक होगा। इसके आयाम तभी सरलता से समझे जा सकता है जब इसका सारगर्भित अर्थ समझ ले। अतः आनुवंशिकता की क्रियाविधि का वर्णन करने के पहले हम अब आनुवंशिकी का सरल अर्थ एवं विषय–क्षेत्र समझने का प्रयास करेंगे।

मानव आनुवंशिकी : अवधारणा

मानव आनुवंशिकी के अर्थ एवं विषय–क्षेत्र का वर्णन करने के पहले आनुवंशिकी को समझ लेना आवश्यक है। आनुवंशिकी जो आंग्ल भाषा में 'जेनेटिक्स' के नाम से जाना जाता है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग बेटसन (1906) ने किया था। यह शब्द वास्तव में ग्रीक भाषा के 'जीन' (gen) से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'to become' या बनना तथा 'to grow into' अर्थात् 'विकसित होना' या 'अवतरित होना'। अतः आनुवंशिकी 'पूर्वस्थिति के समान विकसित' पदार्थ या जीव के ज्ञान से सम्बन्धित विज्ञान है।इसमें मात्र वंशागत कारकों का ही अध्ययन नहीं होता है वरन् उन विधियों का भी अध्ययन होता है जिसका अनुसरण करते हुए कोई लक्षण एक पीढी से दूसरी पीढी में हस्तान्तरित होता है तता इसमें उन वंशागत ईकाइयों का भी अध्ययन होता है जो किसी लक्षण को पीढी दर पीढी हस्तान्तरित करने हेतु नियन्त्रित करती है।

कर्टस्टर्न ने इसे अन्य शब्दों में परिभाषित किया है। इनके अनुसार वंशानुक्रमण के विज्ञान को आनुवंशिकी कहते हैं। चूंकि इसकी उत्पत्ति ग्रीक भाषा के मूल शब्द 'जिन' से हुई है जिसका अर्थ है "किसी

में विकसित होना जिससे यह प्रदर्शित होता है कि आनुवंशिकी न केवल वंशागत कारकों के पारगमन का अध्ययन करता है वरन् उन विधियों का भी अध्ययन करता है जिनमें वे अपने को किसी व्यक्ति के विकास तथा जीवनकाल में प्रकट करते हैं।"

"The science of inheritance is called genetics, a term derived from the greek root 'gen', which means to become or to grow into something. It signifies that genetics deals out only with the transmission of hereditary factors but also with the ways in which they express themselves during the development and life of the individuals."

उक्त परिभाषा में 'वंशागत कारकों के पारगमन' एवं इनकी 'विधियों' पर बल दिया गया। डाब्जाँस्की (Dobzhansky) ने आनुवंशिकी को उस परिभाषा से थोडा हटकर परिभाषित किया है वे परिभाषित करते हुए कहते हैं कि, "इसका कार्य उस क्रियाविधि को वर्णन करना है जो सन्ततियों को अपने जनको के समान बनाता है, जो एक ही और भिन्न स्पीसीज के व्यक्तियों को कुछ सन्दर्भों में एक–दूसरे के समानता तथा असमानता प्रदर्शित करता है और कुछ जीवों में उदविकासीय प्रक्रिया के दौरान समयानुसार परिवर्तन का कारण होता है।"

इस परिभाषा में डाब्जॉस्की ने आनुवंशिक क्रियाविधि पर बल दिया है जिसके माध्यम से सन्तति जनक के समान एवं अन्य व्यक्तियों से भिन्न रूप में विकसित होता है तथा यह क्रियाविधि कालान्तरण में उदविकासीय प्रक्रियाओं के प्रभाव से परिवर्तनों का कारण बनती है। इसी प्रकार जो० बी० हाल्डेन (J.B. Haldane) ने निम्नलिखित परिभाषा दी है–

"आनुवंशिकी जीवविज्ञान की वह शाखा है जो समान जीवों में निहित भिन्नताओं से सम्बन्धित है।"

"Genetics is that branch of Biology which is concerned with innate differnces between similar organisms."

ह्वाइटिंगहिल (Whitting Hill) ने आनुवंशिकी की परिभाषा इस प्रकार दी है। इनके अनुसार– "आनुवंशिकी विज्ञान व्यक्तियों के मध्य दृश्यमान भिन्नताओं का अध्ययन करता है और उनमें पाये गये जीनी या गुणसूत्रीय भिन्नताओं को सम्बन्धित करने की चेष्टा करता है।"

"The Science of genetics studies the phenotypic (Visible) differences between individuals and attempts to relate them to underlying genic or chromosomal differences."

इस प्रकार उक्त समस्त परिभाषाओं में यह स्पष्ट होता है कि आनुवंशिकी विज्ञान की वह शाखा है जिसमें (i) वंशागत तत्वों का अध्ययन होता है, (ii) वंशागत क्रिया विधियों का अध्ययन होता है, (iii) ईकाइयों का अध्ययन होता है जो एक पीढी से दूसरी पीढी में पारगमित होने वाले तत्वों का नियन्त्रण करती है, (iv) नातेदारों के मध्य वंशानुक्रमित भिन्नताओं का उद्विकासीय संदर्भ में अध्ययन होता है, (v) व्यक्तियों में फीनोटिपिक अर्थात् दृश्यमान भिन्नताओं का अध्ययन होता है जो जीनी एवं गुणसूत्रीय भिन्नताओं से अन्तर्सम्बन्धित होते हैं। संक्षेप में "आनुवंशिकी वंशागत क्रियाविधियों एवं उसके सम्बन्धित विषयों का अध्ययन है।"

मानव आनुवंशिकी की सीमायें

आनुवंशिक अध्ययन फल मक्खियों अथवा पौधों के ऊपर करना सरल है। प्रयोगशाला में उन सारी स्थितियों का सृजन किया जा सकता है जिनमें ये जीव भोजन, प्रकाश, ताप एवं अन्य प्राकृतिक परिस्थितियों को प्राप्त करने का बराबर–बराबर अवसर प्राप्त कर सकते है अथवा सभी को बराबर–बराबर मापित दबाव में रखा जा सकता है। एक प्रयोगशाला में एक प्रयोगकर्ता परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार

अपने प्रयोग पर नियन्त्रण रख सकता है। वह अपनी पूर्व योजना अथवा शोध योजना के अनुसार पौधों को 'स्व' अथवा 'पर' परागण करवा सकता है। वह अपनी शोध योजना के अनुसार नर एवं मादा में आनुपातिक पर परागण करा सकता है। उसकी शोध तकनीक त्रुटिपूर्ण अपने प्रयोग की पुनरावृत्ति एवं पुनःपरीक्षण कई बार कर सकता है। अन्य विद्वान भी उसके प्रयोगों की परीक्षण कर सकते हैं क्योंकि आनुवंशिकी में अन्य प्राकृतिक विज्ञानों के समान स्वतन्त्र परीक्षण किसी नियन्त्रणात्मक प्रयोग का एक महत्वपूर्ण पहलू है। इस प्रकार जब किसी पूर्व प्रयोग के परिणामों के समान तादात्म्य परिस्थिति में किये गये पुनः प्रयोगों के परिणामों की पुनरावृत्ति हो तो उस आगत 'परिणामों' की विश्वसनीयता में वृद्धि होती है।

इस प्रकार प्रयोगशाला में होने वाले प्रयोग मानव जनसमूहों में नहीं किये जा सकते है। जब मानव को एक आनुवंशिक अध्ययन की वस्तु के रूप में रखने की कोशिश करते है तो अनेक आपत्तियों एवं कठिनाइयों का सामना करना पडता है। क्योंकि सिद्धान्तरूप से आनुवंशिक प्रयोगकर्ता उन्हीं मानकीकृत जीव समूहों पर प्रयोग करते है जो आनुवंशिक रूप से पूर्णतः अथवा अंशतः समरूप होते है। उसे प्रजनन के द्वारा समान पर्यावरणिक परिस्थितियों में अनेकों सन्तति पीढियों की आवश्यकता होती है। मानव का आनुवंशिक अध्ययन करने में प्रमुखता निम्नलिखित कठिनाइयाँ होती है–

1. मानव जनसमूहों की आनुवंशिक विविधता अत्यधिक होती है जो प्रयोगकर्ता के नियन्त्रण से बाहर है।

2. मानव का जैविक वातावरण अत्यधिक विविधतायुक्त है क्योंकि वह विश्वव्यापी वातावरण का सरलता से अनुकूलन कंर सकता है। उसकी संस्कृति एवं समाज अत्यधिक विविधता प्रदर्शित करती है। स्थान–स्थान में इसका स्वरूप रूपान्तरित अथवा पृथक् होता है जो किसी व्यक्ति के पर्यावरण का निर्माण करता है।

3. आनुवंशिकीविद के शोध का प्राथमिक उपकरण विभिन्न जीनी प्रारूपों का नियन्त्रणात्मक एवं प्रयोगात्मक प्रजनन करवाना होता है। मानव में किसी माता–पिता का जनन एक प्रायोगिक योजना के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकता।सामान्यतः आनुवंशिक अध्ययन अनेक श्रृंखलाबद्ध एवं क्रमिक पीढियों के ज्ञान पर आधारित होते हैं। फलस्वरूप आनुवंशिक अध्ययनों का समुचित प्रयोज्य (Subject) वही जीवरूप है जिनमें सन्ततियाँ जनक पीढी को सरलता एवं शीघ्रता से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए पौधे एवं लघुकाय स्तनधारी चूहे इस उद्देश्य को सरलता से पूर्ति करते हैं।

4. मक्खियाँ, फल मक्खियाँ, माल्ड एवं एक कोशिकीय जीवों का वैयक्तिक जीवनकाल छोटा होता है अतः इनका आनुवंशिक अध्ययन भी सरल है। इसके अतिरिक्त फलों अथवा जंगली वृक्षों अथवा घोडों अथवा पशुओं के आनुवंशिक अध्ययन में अधिक धैर्य की आवश्यकता पडती है। मनुष्यों में तो जीवनकाल प्रयोगशाला के जीवों की अपेक्षा अत्यधिक लम्बा होता है। इनमें प्रायः प्रयोगकर्ता एवं प्रयोज्य की आयु समान होती है अतः आगामी पीढ़ियों का क्रमिक ज्ञान सीमित होता है तथा एक ही समय में कई श्रृंखलाबद्ध पीढ़ियों के आंकड़े उपलब्ध नहीं हो सकते।

5. मनुष्य को एक प्रयोगकर्ता किसी निश्चित प्रयोगशाला की सीमा रेखा में अधिक समय तक नहीं रख सकता और न ही अपने शोध योजना की आवश्यकता के अनुरूप उससे प्रजनन करवा सकता है क्योंकि ये दोनों ही व्यावहारिक एवं सामाजिक गतिविधियाँ है।प्रत्येक समाज में जीवन साथी के चुनाव के पृथक–पृथक मान्य तरीके हैं जिनके अनुसार ही उस समाज के सदस्य सन्तोनोत्पत्ति कर सकते है। कौन मनुष्य कब एवं किस स्त्री का लैंगिक वरण करेगा यह पूर्व निश्चित नहीं है।अतः ऐसी स्थिति में प्रयोगकर्ता आनुवंशिक प्रयोगों हेतु यह प्रयास करता है कि उसकी शोध परियोजना इन प्रयोगों के अनुसार ही पूर्व निश्चित हो।

6. अन्ततः अनेको कारक वंशागत लक्षणों के हस्तान्तरण की विधियों को प्रभावित करते है। आज

हम जानते है कि इन लक्षणों के हस्तान्तरण सांख्यकीय नियमों का पालन करते हैं। इसके लिए विशाल संख्या में सन्ततियों की उपलब्धता उपयुक्त होती है। मनुष्यों में यह संख्या प्रायः छोटी होती है। बडी संख्या वाले परिवार भी प्रायः सांख्यकीय गणना में आकार में छोटे प्रतीत होते है।

इस प्रकार मानव जनसंख्याओं के अध्ययन में उक्त बाधाओं एवं कठिनाइयों को समझते हुए मानव आनुवंशिकीविद सावधानीपूर्वक उन्हीं समुदायों व परिवारों का चुनाव करता है जो एक समान पर्यावरण में पलपोष रहे हो तथा आनुवंशिक समानता को प्रदर्शित करते हो अर्थात् समजातीय समूह हो। इससे अनुसंधानकर्ता पर्यावरणिक एवं आनुवंशिक विविधताओं को नियन्त्रण करने की कोशिश करता है। यद्यपि वह मनुष्यों में अपनी शोधयोजना के अनुरूप लैंगिक वरण को व्यवस्थित नहीं कर सकता तथापि वह उन्हीं जनकों के सन्तति आंकडे संग्रहित कर सकता है जो उसकी शोधयोजना के उपयुक्त हो। तीसरे मनुष्य का जीवनकाल प्रयोगशाला के जीवों की अपेक्षा लम्बा होता है तथापि अध्ययनकर्ता विशिष्ट प्रविधियों का प्रयोग करके एक अथवा दो पीढियों की सूचनाएँ एकत्रित कर सकता है जिससे अपेक्षाकृत लम्बा श्रृंखलाबद्ध ज्ञान प्राप्त हो सकता है। चौथे, यद्यपि मानव परिवार संख्यात्मक दृष्टि से छोटे होते है लेकिन कई रक्त सम्बन्धी परिवारों के आंकडों को समायोजित करके सांख्यकीय विश्लेषण के लिए पर्याप्त सामग्री एकत्रित की जा सकती है। चूंकि मानव जनसमूह संख्या में विशाल होते है, इससे लाखों परिवारों के जननात्मक आंकड़े एक आनुवंशिकीविद के लिए पर्याप्त हो सकते है। वह इनमें से सर्वाधिक उपयुक्त आंकड़ों का आवश्यकतानुसार चुनाव कर सकता है।

इस प्रकार मानव को समझने के लिए आनुवंशिकी विशिष्ट रूप से प्रासंगिक है। इसकी उत्पत्ति उन्नसवीं शताब्दी से पूर्व हुई थीं। परन्तु इस विज्ञान का विकास उन्नसवीं शताब्दी के आरम्भिक काल में हुआ। मानव आनुवंशिकी के क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण शोध किए गये है उन वैज्ञानिकों में से डलबर्ग (Dahlberg), गाल्टन (Galton), पेनरोज (Penrose), फिशर (Fisher), हाल्डेन (Haldane), ली (Li), डाब्जॉस्की (Dobzhansky), स्टर्न (Stern)_ आदि प्रमुख है। लेकिन प्रमुखतया मानव आनुवंशिकीय अध्ययन पशुओं एवं वनस्पतियों पर किये गये अध्ययनों से उद्घृत सामान्य आनुवंशिक सिद्धान्तों पर आधारित है। आनुवंशिकी के सामान्य सिद्धान्त मानव संदर्भ में आज भी उतने ही प्रासंगिक है जितने कि वे सरल रचनावाले एककोशिकीय एवं बहुकोशिकीय जीवों के संदर्भ में परिवेक्षित होते है।इन सामान्य आनुवंशिक नियमों को मानवेतर जीवों के सन्दर्भ में सरलतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है लेकिन मानव के संदर्भ में अनेक विघ्न उत्पन्न होते है। अतः पशु–पक्षियों एवं वनस्पतियों के ऊपर किये अध्ययनों से विकसित वंशानुक्रमण सिद्धान्त प्रायः मानव जनसमूह के संदर्भ में सहायक होते हैं।

मानव में वंशागति का ज्ञान हमें मेंडल के मटर के पौधे पर किये गये प्रयोगों के पश्चात् ही हो सका। जब निल्सन–इहले (Nilson–Ehle) तथा ईस्ट (East) ने कार्न बीज पर प्रयोग किया उसके पश्चात् ही शरीर का आकार, स्वरूप, मानव की बुद्धिमतता अंक आदि मानव के गणनात्मक लक्षणों का ज्ञान हो सका। मानव में वर्णान्धता के वंशानुक्रमण की जटिलता तभी जानी जा सकी जब पक्षियों, मथ तथा मक्खियों में लिंग सहलग्न (Sex linked) लक्षंणों के पारगमन की प्रतिरूप का अनुसंधान किया गया। अत इससे सिद्ध होता है कि मानवेतर सजीवों पर किये गये प्रयोगों का महत्व मानव आनुवंशिकी में है।

मानव आनुवंशिकी उन आधारभूत सिद्धान्तों एवं उनकी उपयोगिता से सम्बन्धित है जो मानव जाति में निरन्तर एवं सार्वभौमिक है तथा वे परिवारों, वंशावलियों एवं जनसंख्या अध्ययनों से उदधृरित किये गये हैं। इसका सम्बन्ध उन नियमों तथा विधियों से भी है जो वंशानुगत लक्षणों के परिगमन को प्रगट करते हैं, तथा आनुवंशिकता के स्वभाव को प्रगट करते है। इसका सम्बन्ध मानव 'जीन' की प्रक्रिया एवं उसकी अभिव्यक्ति तथा उसको प्रभावित करने वाले पर्यावरण से भी है। यह लिंग भेद, आनुवंशिक स्वरूप एवं वंशानुगत नवीन विभेदों से भी सम्बन्धित है। अतः यह वंशानुक्रम विज्ञान मानव की उन वैयक्तिक, जन्मजात,

शारीरिक अथवा मानसिक तथा सामान्य अथवा असामान्य लक्षणों के वंशागति से है जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों से, मानव स्पीशीज को मानवेत्तर स्पीशीज से पृथक् करता है। स्वभावतः यह वंशानुगत समानताओं एवं असमानताओं से तथा इनकी पीढी दर पीढी हस्तान्तरिता से सम्बन्धित है। संक्षेप में यह एक मौलिक एवं व्यावहारिक विज्ञान की वह शाखा है जो मानव में, वंशानुक्रमण एवं उससे सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करता है। इसको इनसाइक्लोपीडिया विटानिका (Encyclopeadia Britanica) में निम्नांकित शब्दों में परिभाषित किया गया है–

"Human Genetics is especially concerned with the interplay of heredily and environmental factors in determining the physical characters of man, with the effects of heredity on disease, abnormalties and special abilities, and with the biological differentiation of interbreeding group of man, such as races or subgroups seperated by geographic or cultural factors such as language religion or tradition."

अर्थात् "मानव आनुवंशिकी विशेषतया, वंशागति एवं वातावरण की अन्तक्रिया से है जिसके द्वारा मनुष्य के शारीरिक लक्षणों को निर्धारित किया जाता है, रोग, विकृतियों तथा विशेष क्षमताओं पर वंशागति के प्रभाव से तथा मनुष्य के संकर प्रजाति या उपसमूह जो भौगोलिक अथवा सांस्कृतिक तत्वों या भाषा, धर्म परम्परा द्वारा एक–दूसरे से पृथक् हो, में जैविक विविधता से सम्न्नन्धित है।"

विषयक्षेत्र

मानव आनुवंशिकी में विभिन्न प्रकार के लक्षणों से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन विभिन्न विधियों के द्वारा किया जाता है। असामान्य लक्षण की वंशागति का अध्ययन परिवार, वंश एवं रक्त सम्बन्धियों की वंशावली के माध्यम से किया जाता है। तत्पश्चात् आनुवंशिक परामर्शदाता प्रभावित स्थितियों के आधार पर प्रभावित व्यक्ति या चिकित्सक को उपयोगी परामर्श दे सकता है। मानव जनसंख्या में आनुवंशिकी के इस अमूल्य उपयोगिता के फलस्वरूप विभिन्न व्याधियों का निदान किया जाता है। चिकित्सा क्षेत्र में इसकी उपयोगिता के फलस्वरूप **"चिकित्सा आनुवंशिकी"** (Medical Genetics) विकसित हुई। इसके अन्तर्गत किसी भी प्रभावित स्थिति का आनुवंशिक कारकों से सम्बन्ध निर्धारित किया जाता है। दृष्टान्तस्वरूप कई लक्षणों से युक्त आनुवंशिकता की क्रियाविधि जटिल होती है। वह अनेक कारकों से नियन्त्रित होने के साथ–साथ मानव में अनेक प्रकार के रक्त समूह है। इन विभिन्न रुधिर वर्ग प्रणालियों से कई प्रकार की व्याधियाँ सम्बन्धित है जिनका ज्ञान चिकित्सकों को रोग निदान के लिए आवश्यक है। जैसे– 'A' रुधिर वर्ग सदस्यों के आमाशय (Stomuch) में कैंसर एवं मधुमेह जैसी व्याधियों की सम्भावना रहती है। इस प्रकार आनुवंशिक रोगों हेतु कई सरल उपाय आनुवंशिक परामर्शदाता बता सकता है लेकिन इनका निदान पूर्णरुपेण नहीं किया जा सकता क्योंकि गुणसूत्रों में विद्यमान अनेक जीन्सों के कारण विभिन्न प्रकार की स्थितियों की उत्पत्ति होती है। अतः उनका निदान भी कठिन समस्या है। एक जीन की विकृति से उत्पन्न परिस्थितियों के निदान में अनेक जीन्स से उत्पन्न विकृति की अपेक्षा सरल होती है। भविष्य में आनुवंशिकी का ज्ञन और भी अधिक व्यापक होने से यह कहा जा सकता है कि आयुर्विज्ञान में 'आनुवंशिक अभियान्त्रिकी' (Genetic Engineering), 'जीन चिकित्सा' (Gene Therapy), 'डी० एन० ए० फिंगर प्रिंटिग' (D.N.A. Finger Printing) एवं 'डी० एन० ए० प्रोफाइल' (D.N.A. Profile) जैसी प्रविधियाँ और अधिक विकसित हुई हैं।

मानव आनुवंशिकी में गुणसूत्र, जीन एवं न्यूक्लिक अम्लों की रासायनिकी एवं उससे सम्बन्धित विभिन्न प्रक्रमों की रासायनिकी का जीव रसायन (Biochemistry) की सहायता से अध्ययन किया जाता है। इसके बढते प्रभाव से तत्वों के जीव रासायनिक अध्ययन आरम्भ हो गया जिससे **'जीव रसायनिक आनुवंशिकी'** (BioChemical Genetics) का विकास हुआ।

आनुवंशिकी इकाई 'जीन' डी०एन०ए० के बने होते हैं। गुणसूत्र D.N.A. से विनिर्मित होते है जो कोशिका के केन्द्रक में पाये जाते हैं।अतः क्रमिक पीढ़ियों के मध्य जनन कोशिकाओं के केन्द्रक एक अविच्छिन्न सेतु का कार्य करते है। केन्द्रक की संरचना एवं उसके घटक तथा न्यूक्लिक अम्लों की रचना एवं गुणों के ज्ञान के बिना आनुवंशिकी का ज्ञान अधूरा है। इसके समस्त पहलुओं को समझने हेतु कोशिका के विभिनन अंगों एवं उपांगों का अध्ययन किया जाता है। आनुवंशिकी के इस महत्वपूर्ण शाखा को **'कोशिकानुवंशिकी'** (Cytogenetics) के न ाम से जाना जाता है।

रुधिरवर्ग, Rh कारक, लिंग विभेदन एवं लिंग निर्धारण आदि शरीर क्रियात्मक लक्षणों का आनुवंशिकी के क्षेत्र में विशेष महत्व है। व्यक्ति का शारीरिक विकास एवं संवृद्धि के क्षेत्र में शरीर क्रिया विज्ञान एवं आनुवंशिकी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। इनके अतिरिक्त अनेकों जैविक क्रियाओं का आनुवंशिकी से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। मानव आनुवंशिकी में इन समस्याओं का अध्ययन **'शरीर क्रिया आनुवंशिकी'** (Physiological Genetics) के अन्तर्गत किया जाता है।

आनुवंशिकी के अन्तर्गत भ्रूण का अध्ययन किया जाता है। क्योंकि एक कोशिकीय युग्मन से विभिन्न अंगों एवं रचनाओं के एक निश्चित क्रम में विबेदन के फलस्वरूप एक जटिल रचनावाले जीव का परिवर्धन युग्मनज में स्थित जीनोटाइप के कारण ही सम्भव होता है। जीन्स ही भ्रूण के जीवन एवं विकास की गति का नियन्त्रण करते है। आनुवंशिकी के इस अध्ययन क्षेत्र को **"वैकासिक आनुवंशिकी"** (Developmental Genetics) से सम्बन्धित करते है।

अनेकों व्यावहारिक लक्षण जैसे– जडबुद्धिता, दूरदर्शिता, हस्तकौशल आदि एक पीढी से दूसरी पीढी में वंशागतच होते है। इनका अध्ययन मानव आनुवंशिकी के अन्तर्गत किया जाता है। जिससे यह ज्ञात हुआ है कि मानव के व्यवहार का नियन्त्रण जीनों द्वारा होता है। आनुवंशिकी में इस प्रकार के अध्ययन फलस्वरूप 'व्यवहार आनुवंशिकी' (Behavioral Genetics) का आविर्भाव हुआ है।

आनुवंशिकी ने प्रकृति में होने वाले क्रमिक विकास की क्रियाओं पर व्यापक प्रकाश डाला है। आनुवंशिकी के ज्ञान के बिना उदविकासीय प्रक्रियाओं को समझना सम्भव नहीं है। मानव उदविकास के अध्ययन के लिए आनुवंशिकी एक उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है क्योंकि उदविकास का आधार है जैविक विभिन्नतायें ।इन विभिन्नताओं का नियन्त्रण जीन के द्वारा होता है। आनुवंशिकता के विभिन्न सिद्धान्त मानव एवं अन्य जीवों पर समान रूप से प्रयुक्त होते है। वंशागति से सम्बन्धित समस्त विषयों का अध्ययन एक जनसमूह स्तर पर किया जाता है जिसे **"जनानुवंशिकी"** (Population Genetics) से सम्बोधित किया जाता है। इसका उद्देश्य जनसमूह के आनुवंशिक संगठन (Composition) को ज्ञात करना होता है तथा इस संगठन को निर्धारित करने वाले समस्त नियम एवं सिद्धान्त इसकी विषय–वस्तु है। इसके अन्तर्गत उन प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया जाता है जिससे उदविकास घटित होता है। इसमें विश्लेषणमात्रात्मक व्याख्या के लिए गणित, सांख्यकीय एवं पारिस्थितिकी के आधारभूत सिद्धान्तों का उपयोग अनिवार्य है।

पारिस्थितकी (Ecology) से सम्बन्धित सिद्धान्तों के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि पर्यावरण का प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानव समूह पर पडता है। जिसके परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति या जनसमूह की जीनी आवृत्तियाँ संशोधित होती है। जीनों में आवृत्तिगत संशोधन का प्रभाव किस सीमा तक किसी भी जीनोटाइप में विविधता उत्पन्न कर सकता है जो कि परिवर्तित पर्यावरणिक परिस्थितियों के अनुकूल रहती है, यह पारिस्थितिकी एवं आनुवंशिकी के मध्य का प्रमुख बिन्दु है। वरण (Selection) पारिस्थितियों में प्रमुख रूप से सहायक होता है। अतः आनुवंशिकता प्रत्यक्ष रूप से पारिस्थितिकी अथवा पर्यावरण से सम्बन्धित है। **"पारिस्थितिकी आनुवंशिकी"** (Ecological Genetics) का यही अध्ययन विषय है।

मानव जाति की उन्नति एवं प्रगति के लिए आनुवंशिकी के विशेषज्ञ प्रयत्नशील है।यद्यपि जन्तुओं एवं पौधों पर किये गये प्रयोगों को मनुष्य पर सम्पूर्ण रूप से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता किन्तु इन प्रयोगों से उपलब्ध ज्ञान की सहायता से मानव जाति की उन्नति अवश्य ही की जा सकती है। आनुवंशिकी की सहायता से मानव जाति की नस्ल सुधारने से सम्बन्धित शाखा को **"सुजनन–विज्ञान"** (Eugenics) कहते हैं।

***

14

वंशागत के मौलिक सिद्धान्त

आधुनिक आनुवंशिकी की आधारशिला आस्ट्रिया देश के एक पादरी ग्रेगर जॉन मेंडेल (Gregor John Mendel, 1822–1884) ने रखी। इसी कारण उन्हें 'आनुवंशिकी का जनक' कहा जाता है। इसके पूर्व अनेकों जीवशास्त्रियों ने जीवों में वंशागति की क्रियाविधि को समझने की चेष्टा की। जर्मन वनस्पतिशास्त्री जोसेफ कोलरुटर (Joseph Kolreuter, 1766) तथा अंग्रेजी वनस्पतिवैज्ञानिक जॉन गोस (John Goss, 1822) ने पौधों में संकरण के अनेक प्रयोग किये। इन वैज्ञानिकों ने संकर पौधे को दो जनकों के मध्यवर्ती रूप को प्रतिनिधित्व करने वाला बताया। इसके अतिरिक्त गार्टनर (1772–1850), डार्विन (1809–1882) तथा नाडिन (1815–1899) ने भी इस दिशा में शोधकार्य किया, लेकिन उन्हें पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हो सकी।

मेंडलवाद (Mendelism)

मेंडेल ने जीवों में वंशागति की क्रियाविधि को समझने हेतु 'मटर' के पौधे का चुनाव किया, जिस पर अध्ययन 1857 में चर्च प्रांगण्ड की फुलवाड़ी में आरम्भ किया। आठ वर्ष की कठिन तपस्या के पश्चात् 1865 ई० में ब्रून की प्रकृति वैज्ञानिक सोसाइटी की बैठक में मेंडेल ने अपने शोधकार्य को प्रस्तुत किया। इनका शोध कार्य इस सोसाइटी की वार्षिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ जो सम्पूर्ण योरोपीय पुस्तकालयों में वितरित हुआ। उस समय वैज्ञानिकों का ध्यान इनके महत्वपूर्ण शोधकार्य की ओर आकृष्ट न हो सका और सन् 1884 में मेंडेल का देहावसान हो गया।

मेंडेल की मृत्यु के 18 वर्षों के पश्चात् 1902 में हालैण्ड के **डी ब्रीज** (DeVries), आस्ट्रिया के वॉन **शरमाक** (Van Teschermak) एवं जर्मनी के **कोरेंस** (Correns) ने पृथक्–पृथक् शोधकार्य किया तथा स्वतन्त्र अध्ययनों के आधार पर तीनों वैज्ञानिक एक ही निष्कर्ष पर पहुंचे। ये वही शोध निष्कर्ष थे जिन्हें मेंडेल ने 39 वर्ष पूर्व प्रतिपादित किया था। इसके पश्चात् मेंडेल के वंशागति के नियमों की पुष्टि हुई तथा इनके सिद्धान्तों को महत्व प्रदान किया गया। मेंडेल के ये मौलिक सिद्धान्त ही 'मेंडेलवाद' (Mendelism) नाम से सम्बोधित किए जाते हैं।

मेंडेल की सफलता का रहस्य उनकी दूरदर्शिता एवं विषय की मौलिक समझ थी। उन्होंने पूर्व वैज्ञानिकों की असफलता के कारणों का वास्तविक विश्लेषण कर लिया था। इसके अतिरिक्त गणित इनका प्रिय विषय था। अतः इसके मौलिक सिद्धान्तों की समझ मेंडेल को थी। यही कारण था कि उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों जैसी त्रुटियों की पुनरावृत्ति नहीं होने दिया। इनकी सफलता के निम्नांकित कारण थे–

1. मेंडेल ने आद्योपान्त प्रयोग योजनाबद्ध रूप से पूरा किया। उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों की असफलता का गहनतापूर्वक अध्ययन किया था तदोपरान्त अपनी शोध योजना सावधानीपूर्वक बनाई। अपने प्रयोगों के समुचित अभिलेख सावधानीपूर्वक गणितीय विधियों से तैयार किया।

2. मेंडेल ने मटर के पौधे का चयन गहन सोच–विचार के पश्चात् किया क्योंकि ये सरलतापूर्वक उगाये जा सकते है। यह एक वार्षिक पौधा है। इसका जीवन चक्र अल्पकालीन है। इसकी अनेकों पीढ़ियों का अध्ययन करना सरल है। यह एक द्विलिंगी पौधा है। इसका स्वपरागण सम्भव है। इसके अनेकों विपर्यासी लक्षण विद्यमान होते हैं जिन्हें सरलतापूर्वक पृथक्–पृथक् समूहों में विभक्त किया जा सकता है।

3. मेंडेल ने कुल सात लक्षणों का चुनाव किया। ये सभी विपर्यासी लक्षणों वाले थे अर्थात् प्रत्येक विशेषक के प्रायः दो विरोधाभासी रूप थे। उदाहरण के लिए तने की लम्बाई का 'लम्बा' एवं 'बौना' होना। सौभाग्य से चुना गया प्रत्येक लक्षण एक ही जीन द्वारा नियन्त्रित था तथा वे जीन पृथक्–पृथक् गुणसूत्रों पर स्थित थे। ये सभी लक्षण प्रभावी एवं अप्रभावी विपर्यासी लक्षणों को प्रदर्शित करते थे। इन विशेषकों को निम्नलिखित तालिका में प्रदर्शित किया गया है–

लक्षण (Character)	विपर्यासी लक्षण	
	प्रभावी	अप्रभावी
तने की लम्बाई	लम्बा (Tall)	बौना (Dawrf)
पुष्प विन्यास	अक्षीय (Axial)	अन्तस्थ (Terminal)
फली का रूप	फूला हुआ (Inflated)	संकुचित (Constricted)
फली का रंग	हरा (Green)	पीला (Yellow)
पुष्प रंग	भूरा (Grey)	सफेद (White)
बीजपत्र का रंग	पीला (Yellow)	हरा (Green)
बीज का आकार	गोल (Round)	झुर्रीदार(Wrinkled)

4. मेंडेल की संकरण तकनीक (Crossing Technique) अत्यन्त सूझबूझ की द्योतक है। उन्होंने एक समय में एक ही लक्षण का अध्ययन किया। तत्पश्चात् एक साथ दो लक्षणों का अध्ययन किया। एक लक्षण में भिन्नता पाये जाने वाले पौधों के सकंरण को एक संकर संकरण (Monohybrid Cross), दो लक्षणों में भिन्न पौधों के संकरण को द्विसंकर संकरण (Dihybrid Cross) तथा तीन लक्षणों में भिन्न पौधों के संकरण को त्रिसंकर संकरण (Trihybrid Cross) अथवा बहुसंकर संकरण (Polyhybrid Cross) नामों से सम्बोधित किया। स्वपरागण द्वारा निषेचन की सम्भावना को समाप्त करने के लिए उन्होंने बीज धारण करने वाले पौधों के पुष्पों से वर्तिकाग्र के परिपक्व होने से पूर्व ही परागकोशों को हटा लिया था। इसके विपरीत लक्षण वाले पौधों के पुष्पों के परिपक्व परागकोशों के पराग लेकर उसमें बीज धारण करने वाले पौधों के पुष्पों के वर्तिकाग्र पर रख दिया। जिससे पर–परागण (Cross Polienation) सम्भव हो सका।

मेंडलीय शब्दावली

1. **जीन** (Gene)– मेंडेल के अनुसार जीवो का प्रत्येक लक्षण उसकी दैहिक कोशिकाओं के कोशिकाद्रव्य में स्थित एक जोड़ी कारकों (Factors) अथवा निर्धारकों (Determinants) द्वारा निर्धारित होता है। मेंडलीय कारक या निर्धारक को जोहांसन ने 1906 में 'जीन' शब्द से सम्बोधित किया जिसे कालान्तर में व्यापक रूप से स्वीकार किया गया।

जैविक मानवविज्ञान

(Biological Anthropology)

(स्नातक, परास्नातक तथा सिविल सेवा परीक्षाओं के
पुनरीक्षित पाठ्यक्रम पर आधारित)

लेखक

डॉ० उदय प्रताप सिंह

पी एच० डी०

प्रकाशन केन्द्र

डालीगंज रेलवे क्रॉसिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ - 226 020

(☎: 323035, 325538)

Published by
Prakashan Kendra,
Daliganj Railway Crossing, Sitapur Road,
Lucknow - 226 020
(☎ : 323035, 367314)

1997
(First Edition, 1999)

Price : Rupees One Hundred Twenty Five & Paise Fifty **(Rs. 125.50)** only

Printed by
Vivek Printers
Daliganj Railway Crossing
Sitapur Road, Lucknow - 226 020
(☎ : 323035, 367314)

समर्पण

प्रतिष्ठित मानवशास्त्री

श्री उमाशंकर मिश्र, लखनऊ

दिनांक 1 अगस्त, 1998 को पंचतत्व में विलीन हुए।

प्रस्तुत ग्रंथ इसी दिवंगत आत्मा की स्मृति में अर्पित है।

प्राक्कथन

उत्तर भारत में अध्ययन अध्यापन के क्षेत्र में हिन्दी भाषा माध्यम के निरन्तर बढ़ते हुए महत्व को देखते हुए मानवविज्ञान विषय में हिन्दी भाषा में प्रामाणिक पुस्तकों का अभाव छात्रों के लिए अभी भी एक समस्या है। इस समस्या के कारण विषय के विकास में भी बाधा हो रही है। यद्यपि शिक्षा आयोग की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 1968 में शिक्षा सम्बन्धी अपनी राष्ट्र नीति घोषित की और 18 जनवरी 1968 को संसद के दोनों सदनों द्वारा इस सम्बन्ध में एक संकल्प भी पारित किया गया। इस संकल्प के अनुपालन में भारत सरकार ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालय स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य में एक ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की गई। उत्तर प्रदेश में भी विश्वविद्यालय स्तर की प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन हेतु हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी 1970 को की गई, अन्ततोगत्वा इसका विलय हिन्दी संस्थान में हो गया।

प्रामाणिक ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी और हिन्दी संस्थान ने विश्वविद्यालय स्तरीय कई विदेशी भाषाओं की पाठ्य-पुस्तकों को हिन्दी में अनूदित कराया और अनेक विषयों में मौलिक पुस्तकों की रचना भी कराई। इन सभी ग्रन्थों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग अधिकाधिक किया गया। इन सभी प्रयत्नों के बावजूद विद्यार्थियों को उपयुक्त पठन सामग्री सुलभ न हो पाई, न ही उनकी समस्याओं का समाधान सम्भव हुआ।

अध्यापन कार्य से जुड़े रहकर हम अध्यापकों ने भी छात्रों की इस कठिनाई का अनुभव किया। इसी के फलस्वरूप अखिल भारतीय स्तर की कुछ प्रामाणित पुस्तकों का प्रकाशन भी अन्य प्रकाशकों के द्वारा किया गया। प्रस्तुत पुस्तक शारीरिक मानवविज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों द्वारा अनुभव की जाने वाली कठिनाई को किसी सीमा तक दूर करेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

यह पुस्तक मानव विज्ञान पर आधारित शारीरिक मानवविज्ञान एवं मानव आनुवंशिकी से सम्बन्धित अधिकांश विषयों पर प्रकाश डालती है। मानव का जीव जगत से सम्बन्ध अन्य प्राइमेटों से उसकी समानता, विभिन्नता समझने की प्रविधियाँ आदि के विवेचन द्वारा प्राणी के महत्व का निरुपण स्वयं ही बड़ा सार्थक है। आदि मानव से वर्तमान मानव तक का विभेद समझने में लेखक ने विशेष बल दिया है। निश्चय ही **डॉ० उदय प्रताप सिंह** के इस कार्य नें मानवविज्ञान के क्षेत्र में प्रामाणिक ग्रन्थों की उपलब्धता की कमी को पूर्ण किया है।

आशा है इस उपयोगी प्रकाशन से स्नातक तथा स्नातकोत्तर श्रेणी के विद्यार्थी और जिज्ञासु लाभान्वित होंगे।

प्रो० बी० आर० के० शुक्ल
विभागाध्यक्ष
मानवविज्ञान विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ - 226 007

आमुख

अपने शिक्षण काल (1988-98) के मध्य मैंने यह प्रायः अनुभव किया है कि मानव विज्ञान विषय पर हिन्दी भाषा में लिखित पुस्तकें या तो क्लिष्ट एवं दुरूह है या वे अव्यवस्थित भ्रामक तथा निम्न स्तर की हैं । शिक्षा जगत के इस अभाव ने मुझे प्रायः उद्वेलित किया है। उस समय जब मेरे गुरुजनों ने भी वर्षों से जूझ रहें हिन्दी भाषी छात्रों की समस्याओं से अवगत कराया तो मैं इससे इतना आन्दोलित हुआ हूँ जिसके फलस्वरूप ही आज यह यह प्रयास अपने आकार को ले सका है।

मैंने प्रायः पाया है कि मानवविज्ञान विषय में रुचि लेने वाले छात्रों के दो वर्ग है। **एक** तो वे हैं जो औपचारिक शिक्षा की उपाधियां प्राप्त करना चाहते है और किसी विश्वविद्यालय या महाविद्यालयों से सम्बद्ध है। **दूसरे** वे हैं जो प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय स्तर की लोक सेवा प्रतियोगिता परीक्षाओं से सम्बन्ध रखते है। इन दोनों कोटि के छात्रों में द्वितीय कोटि के छात्रों की समस्या अधिक जटिल हैं क्योंकि वे अपने परीक्षाओं की तैयारी हेतु किसी सुयोग्य शिक्षक अथवा मानवविज्ञानवेत्ता का मार्गदर्शन विरले ही प्राप्त कर पाते है। अतः उनका यदि ठोस अवलम्बन है तो वह है 'स्तरीय पुस्तक'। यदि वे स्तरीय पुस्तकों की तलाश नहीं कर पाते, तो दिग्भ्रमित हो करके भटकाव की स्थिति से अन्त तक जूझते रहते है। वर्तमान पुस्तक इसी दिशा में एक प्रयास मात्र है जो मानव के शारीरिक एवं जैविक पक्ष को आलोकित करने की चेष्टा करती है।

मानव का जैविक पक्ष अधिक जटिल है। इसको समझने हेतु बहुआयामी दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। इस पक्ष के अन्तर्पक्षों को भली-भाँति समझने के लिए प्रस्तुत पुस्तक में पृथक्-पृथक् अध्याय बनाये गये है। इन अध्यायों में विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं लोक सेवा परीक्षाओं के परिवर्तित पाठ्यक्रमों को समावेश करने का सुगम प्रयास किया गया है।

पुस्तक में प्रत्येक अध्याय के अनावश्यक पहलुओं को महत्व नहीं दिया गया है। इसमें निर्विवाद तथ्यों के आधार पर ही कथनों की रचना की गयी है। जो तथ्य विवादास्पद है उनका उल्लेख प्रायः नहीं किया गया है। सम्पूर्ण पुस्तक को **चार भागों** में विभाजित किया गया है। **पहले** भाग में विषय का परिचय, **द्वितीय** में मानवोंत्पत्ति, **तृतीय** में मानव आनुवंशिकी तथा **भाग - 4** में मानव की वर्तमान प्रजातियाँ वर्णित की गयी है। पहले भाग के प्रथम तथा दूसरे अध्यायों में विषय की उत्पत्ति एवं विकास का सिंहावलोकन करते हुए इसकी प्रमुख शाखाओं में को उजागर किया गया है। शारीरिक मानव विज्ञान की परिवर्तित विषय-वस्तु के संदर्भ में इसकी यथोचित परिभाषा की खोज तथा इसके अन्य जैविक एवं औषधि विज्ञानों से सम्बन्धों की समीक्षा की गयी है।

तृतीय अध्याय जो दूसरे भाग के अन्तर्गत रखा गया है, जीवन के मर्मो को संक्षिप्त उल्लेख करता हुआ जीवोत्पत्ति का वर्णन करता है। जीवोत्पत्ति से सम्बन्धित

विशिष्टि परिकल्पनाओं की संक्षिप्त चर्चा इसी अध्याय में की गयी है। इस अध्याय में जैव उद्‌विकास के प्रमुख साक्ष्यों का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। जैव उद्‌विकास की मौलिक विचारधाराओं को चतुर्थ अध्याय में सम्मिलित किया गया है। इसमें उद्‌विकास की समस्त प्रचलित मान्यतायें समाविष्ट की गयी है। प्रायः शारीरिक मानवविज्ञान से सम्बधित पाठ्‌य पुस्तकों में उद्‌विकास की आणविक विचारधारा को महत्व नहीं दिया जाता है। जिस विचाराधारा का वर्णन इस अध्याय में विशेषकर किया गया है ताकि छात्रों को नवीन विषयों की सूचना प्राप्त हो सके। उद्‌विकास की अन्य प्रक्रियाओं, जो नवीन जातियाँ, उपजातियाँ अथवा जनसंख्या बनाने में प्रमुख भूमिका रखती है, इनका उल्लेख भी इसी अध्याय में किया गया है।

प्रकृति में मानव का स्थान क्या है ? इसे पंचम अध्याय में विश्लेषित किया गया है। मानव के प्राइमेट स्वभाव की विशद चर्चा हेतु पृथक् अध्याय का निर्माण करना पड़ा, क्योंकि ये प्राणी मानव उद्‌विकास के साक्ष्यों का रहस्योद्‌घाटन करते हैं। इनके वर्गीकरण हेतु प्रचलित आंग्लभाषीय शब्दों को हिन्दी भाषा में आत्मसात करने का प्रयास किया गया है क्योंकि प्रायः एक शब्द हेतु अनेकों हिन्दी शब्दों का प्रचलन विषय को बोधगम्य बनाने में अक्षम होता है। इसी अध्याय में प्राइमेंटों के चर्चित जीवाश्मों का उल्लेख भी किया गया है। प्राइमेंटों के आणविक उद्‌विकास से सम्बन्धित सैरिच (1972) के विचार का उल्लेख जीवाश्मीय साक्ष्यों के संदर्भ में विशेष रूप से किया गया है।

'हामिन्वायड' मनुष्य है या कपि (Ape) या दोनों, यह जिज्ञासा प्रायः शारीरिक मानवविज्ञान के विद्यार्थी की होती है। इसलिए इसे पृथक् अध्याय - 7 में सम्मलित किया। इसमें मानव एवं कपियों दोनों की उद्‌विकासीय विशिष्टताओं का उल्लेख पृथक्-पृथक् किया गया। मानव एवं कपियों की तुलनात्मक शरीर रचना को अध्याय - 8 में रखा गया, जहाँ पर कपिपय शरीरक्रियात्मक लक्षणों की संक्षिप्त विवेचना भी की गयी है।

मानव की उत्पत्ति एवं उद्‌विकास से सम्बन्धित जीवाश्म साक्ष्यों का विवेचन क्रमशः तीन अध्यायों - 9, 10 एवं 11 में किया गया है। इन अध्यायों की योजना मानव उद्‌विकास के आधारभूत तीन चरणों के अनुसार सुनिश्चित की गयी अध्याय - 9 में रामापिथेसीन से लेकर आस्ट्रेलोपिथेसीन जीवाश्मों का वर्णन उद्‌विकासीय परिप्रेक्ष्य में किया गया। दसवें अध्याय में 'होमों' के आगमन पर विचार किया गया है। इसमें 'इरेक्टस' के समस्त प्रकाशित रूपों का वर्णन किया गया है। ग्यारहवें अध्याय में होमो सैपियंस - नियन्डरथल मानव एवं मेधावी मानव (Homo Sapiens Sapiens) की विवेचना किया गया है। उत्तर प्लाइस्टोसीन युगीन मेधावी मानवों का उल्लेख इसी अध्याय में किया गया है।

मानव उद्‌विकास के परम्परागत जीवाश्म साक्ष्यों के आकारिक लक्षणों के आधार पर ही व्याख्या करना तर्क संगत नहीं है क्योंकि आधुनिक खोजों से नवीन तथ्य प्रकाश में आये है जिससे मानव वैज्ञानिक दृष्टिकोण में परिपक्वता आयी है। इसके फलस्वरूप विश्वविद्यालयों एवं प्रतियोगी परीक्षाओं के पाठ्‌यक्रमों में भी परिवर्तन आया है। परिवर्तन की इस लहर को ध्यान में रखते हुए मानव उद्‌विकास वे नवीन तथ्यों का उल्लेख अध्याय - 12 में किया गया है।

शारीरिक मानवविज्ञान में मानव आनुवंशिकी वर्तमान शताब्दी के उत्तरार्ध से ही प्रमुख विषय रही है। इसकी प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुइ इसकी अवधारणा अध्याय - 13 में स्पष्ट की गयी है। मानव के आनुवंशिक अध्ययन की सीमाओं तथा बाधाओं का उल्लेख भी इसी अध्याय में किया गया है। वंशागति के सिद्धान्तों को पृथक् अध्याय में समावेशित किया गया है। वंशानुक्रमण की क्रियाविधियों (Mechanism) की विवेचना भी इसी अध्याय में की गयी है। वंशागति के भौतिक आधार-कोशिका, गुणसूत्र, जीन एवं डी० एन० ए० का वर्णन अध्याय - 15, 16, 17 में किया गया है। इसी अध्याय में गुण सूत्र विकृतियाँ, विपथन, जीन सहलग्नता जैसे विषयों का वर्णन किया गया है। आनुवंशिक अध्ययन की प्रविधि का विस्तृत उल्लेख अध्याय - 18 में किया गया है। जनआनुवंशिकी की अवधारणाओं को अध्याय- 19 में प्रस्तुत किया गया है जब कि मानव आनुवंशिकी के उपयोगी क्षेत्रों का उल्लेख अध्याय - 20 में हुआ है।

मानवजाति समूहों (Ethnic groups) तथा विभिन्न प्रजातियों का उल्लेख भाग - 4 के अध्याय - 21, 22, 23 तथा 24 में किया गया है। इसमें मानव जाति समूह की अवधारणा, निर्माण, वर्गीकरण आदि विषय लिये गये है। भारत की प्रजातियों की चर्चा अध्याय - 24 में की गयी है।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति के समस्त अध्याय शारीरिक मानवविज्ञान के परम्परागत एवं नवीन दोनों विषय. क्षेत्रों को समावेश करने का भरसक प्रयत्न तो करते हैं फिर भी पृष्ठ-सीमा से बंधे होने के कारण अनेकों रोचक तथ्यों एवं विषय-क्षेत्रों से परांगमुख होना पड़ा है। आशा है पाठक मेरी इस विवशता को समझेंगे। मुझे विश्वास है कि मानवविज्ञान के **स्नातक, स्नातकोत्तर कक्षाओं** एवं **प्रतियोगी परीक्षाओं** में भाग लेने वाले विद्यार्थी इस कृति के विषय-वस्तु से निश्चय ही लाभान्वित होंगे।

प्रस्तुत पाठ्य पुस्तक के लेखन के समय मुझे अनेकों विद्वानों का सानिध्य एवं सहयोग प्राप्त हुआ, जिनके हम चिरकाल तक ऋणी रहेंगे। यहाँ उनके प्रति आभार व्यक्त करना हमारा परम एवं पुनीत कर्तव्य है। इस क्रम में सर्वप्रथम हम अपने श्रद्धेय गुरुवर, **प्रो० बी० आर० के० शुक्ला,** अध्यक्ष, मानवविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ को कोटिशः आभार व्यक्त करते हैं जिन्होंने मुझे समय-समय पर प्रेरित ही नहीं किया, बल्कि पाण्डुलिपि निर्माण में मेरा मार्ग निर्देशन भी किया, जिसके बिना प्रस्तुत कार्य सम्भवतः पूर्ण न हो पाता। हम इनके इस उत्साही एवं उदार सहयोग के लिए सदैव ऋणी रहेंगे। **प्रो० बनवीर सिंह** जो पूर्व में मेरे शिक्षक भी रहें हैं, उन्होंने मुझे बार-बार लेखन के लिए प्रेरित किया। इनके प्रति हम हृदय से आभारी रहेंगे।

इस पुस्तक का लेखन कार्य जब मैंने आरम्भ भी नहीं किया था उसके पूर्व सन् 1991 में मेरे प्रेरणा स्रोत एवं ख्यातिलब्ध गुरुवर **प्रोफेसर गोपाल शरण** ने प्रस्तुत कार्य करने को प्रोत्साहित किया था। उनकी यह प्रेरणा एवं सानिध्य यदि मुझे प्राप्त न होती तो सम्भवतः आज भी यह पुस्तक साकार न हो सकी होती। उनकी इस सहृदयता के लिए मैं उनके प्रति आजीवन कृतज्ञ रहूँगा।

इस पुस्तक के लेखन से लेकर प्रकाशन तक मैं बहुसंख्यक मानववैज्ञानिकों, शिक्षाविदों के सम्पर्क में आया हूँ। इस श्रंखला में **प्रो० ए० आर० एन० श्रीवास्तव,**

डॉ० सरोज, प्रो० चित्र लेखा वर्मा, डा० सुधा रस्तोगी, डा० नदीम हसनैन तथा श्रीमती नीरजा सिंह प्रमुख हैं। इन सभी के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मुझे समय-समय पर प्रेरणा दी है।

पाण्डुलिपि की तैयारी में मेरी पत्नी-**अनीता** ने मेरा प्रत्येक मोड़ पर साथ दिया और मुझे कभी भी विचलित नहीं होने दिया। इसके लिए आभार प्रदर्शन करके मैं उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व से मुक्त न होना चाहूँगा।

मेरी पुत्री प्रियमवदा जो लेखन के दौरान मेरे स्नेहाशीष से प्रायः वंचित रही है उसका मैं आभारी हूँ। **श्री पद्मधर मालवीय** तथा उनके **पुत्र श्री विवेक मालवीय,** प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को सहर्ष प्रकाशित किया। मैं **श्री ज़फ़र हुसैन** के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने सम्पूर्ण पुस्तक का टंकण व टंकण सुधार सुरुचिपूर्ण किया। अन्ततः मैं उन समस्त विद्यार्थियों का आभारी हूँ जिन्होंने इस प्रयास हेतु प्रेरणा दी। वस्तुतः इस पुस्तक का मूल श्रेय इन्हीं को जाता है।

विजयादशमी, 1997

उदय प्रताप सिंह

लखनऊ

अनुक्रमणिका

भाग - 3

भाग - 4

भाग —1

1

जैव–शारीरिक मानवविज्ञान : अर्थ

विषय प्रवेश

मानवविज्ञान क्या है ? इस प्रश्न ने विज्ञान के विशेषज्ञों को विगत शताब्दियों से व्यस्त रखा है। यदि इस वृहद विज्ञान को सरलतम शब्दों में समझने की चेष्टा की जाये तो इसे 'मानव का व्यवस्थित ज्ञान' कहा जा सकता है जो मानव–मर्म को समझने एवं समझाने का सम्पूर्ण प्रयास करता है। कतिपय मौलिक प्रश्नों जैसे– मानव क्या है ये कौन है, ये मानव क्यों है, आदि का सम्बोध कराने वाला– मानवविज्ञान– ग्रीक (यूनान) के दो शब्दों 'Anthropos' (जिसका अर्थ होता है मानव या मनुष्य,) एवं 'logos' ('अर्थात् विज्ञान') के संयोजन से उत्पन्न हुआ है।

इस विज्ञान के शाब्दिक प्रयोग की कथा अत्यधिक रोचक है। अरस्तू (384–322 B.C.) ने 'मानव वैज्ञानिक' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग उस मनुष्य के लिये किया था जो सबसे अधिक वाचाल था और अपने बारे में खूब डींगे मारता था। लेकिन 'मानव विज्ञान' शब्द के सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय मैग्नस हण्ट को जाना चाहिये जिन्होंने 1501 A.D में इसे 'शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान' का पर्यायवाची माना। इस शब्द का आंग्लभाषीय प्रयोग 1655 A.D. में "Anthropolgie Abstracted' पुस्तक में किया गया जब मानव विज्ञान को 'मानव आत्मा एवं शरीर रचना का इतिहास माना जाता था। इसके पश्चात् अठारवीं शताब्दी में काण्ट जैसे दार्शनिकों को 'मानव वैज्ञानिक' एवं मानवविज्ञान को दर्शनशास्त्र की एक शाखा माना जाने लगा। काण्ट (1784) ने अपनी पुस्तक 'Anthropology' में मानव की पाशविक उत्पत्ति की दलीलें पेश किया। लेकिन इनके समकालीन विद्वान जार्ज वफन (1707–1784) ने मानव विज्ञान को प्रकृति विज्ञान के रूप में मान्यता दिलाने की चेष्टा की। इसका उद्देश्य एवं अध्ययन–विषय निर्धारित किया।उनके अनुसार मानवविज्ञान का अध्ययन विषय मानव समूहों जैसे– प्रजातियों की उत्पत्ति, विवरण, संकरण, मानव एवं पशुओं की शारीरिक विशिष्टताओं की तुलनात्मक विवेचना, एवं मानव का जीवगत में अभीष्ट स्थान की खोज था। इसी काल में इस विज्ञान को व्यापक मान्यता मिली एवं इसे 'ब्रिटिश इनसाइक्लोपीडिया' में समाविष्ट कर लिया गया, यद्यपि तब तक मानव विज्ञान की यथेष्ट परिभाषा स्पष्ट नहीं हो सकी थी।

अठारहवीं शदी के उत्तरार्ध में इस नवोदित विषय ने नवीन मोड़ लिया। जर्मनी के जे. एफ. ब्लुमेन बाख (1753–1840) ने मानवविज्ञान को शारीरिक मानवविज्ञान के रूप में स्वीकारा, जिसका प्रमुख क्षेत्र मानव जातियों में विद्यमान जैविक विभेद था। इन्होंने कपालीय लक्षणों के आधार पर अनेक मानव समूहों का सर्वप्रथम तुलनात्मक अध्ययन किया। इन्हें शारीरिक मानवविज्ञान का अग्रगणी अनुसंधानकर्त्ता माना जाता है। कैम्फर (1722–1789), लुइस जे. डावेन्टन (1716–1800), पॉल ब्रोका (1716–1800), एन्डर रेटजियस (1842) आदि प्रमुख विद्वानों ने उत्कृष्ट एवं उल्लेखनीय कार्य किये जिससे मानव विज्ञान की आधारशिला को स्थिरता प्राप्त हुई। मानव की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों ने मानव–विभिन्नताओं के अध्ययन को प्रोत्साहित किया। चार्ल्स डार्विन (1859) के 'प्राकृतिक वरणवाद' सिद्धान्त की लोकप्रियता से मानव के अध्ययन को और अधिक उत्साहित किया। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक 'मानव शरीर की रचना का तुलनात्मक अध्ययन' इस विषय का केन्द्र बिन्दु रहा।

मानवविज्ञान की शाखाये

उन्नीसवीं शदी में 'सोसाइटी डी एन्थ्रोपॉलोजी डी पेरिस' संस्था की स्थापना की गयी और तत्काल ही (1843) में 'इथनोलोजिकल सोसाइटी' एवं 'एन्थ्रोपॉलोजिकल सोसाइटी' की आधारशिला रखी गयी। बाद में अन्तिम दोनों संस्थायें, जो लन्दन में स्थित थी , एक में संयोजित करके 'रायल एन्थ्रोपॉलाजिकल इन्स्टीट्यूट'

बनाया गया और नियमित रूप से **जी.डी. मार्टिलेट** ने मानवविज्ञान की अग्रगणी शोधपत्रिका (Journal) के प्रकाशन का शुभारम्भ किया। इससे मानववैज्ञानिक अध्ययनों का नियमित प्रकाशन सम्भव हो सका। उस समय जब इस विषय की विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययन एवं अध्यापन की स्वीकृति मिली तो यह विषय स्वतन्त्र रूप से अग्रसरित हुआ। सर्वप्रथम इंग्लैण्ड एवं अमेरिका के विश्वविद्यालयों में क्रमशः **एडवर्ड वी. टाइलर** एवं **फ्रांज बोआस** ने इस विषय की औपचारिक शिक्षा का शुभारम्भ 19वीं शदी के अन्तिम चतुर्थांश (क्रमशः 1884 एवं 1888) में किया। इसी काम में **टोपीनार्ड** (1876) ने मानवविज्ञान को प्राकृतिक इतिहास का एक अंग मानते हुये इसे मनुष्य तथा मानव प्रजातियों का अध्ययन कहा । अब मानव विज्ञान का मुख्य उद्देश्य मानव की उत्पत्ति एवं उसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को समझना हो चुका था। शताब्दी के अन्त तक मानव का प्रागैतिहासिक सांस्कृतिक विवरण, उसकी भाषा की उत्पत्ति, सांस्कृतिक व्यवहारों का उद्विकास आदि विषय का प्रमुख अंग बन गये। इसप्रकार मानवविज्ञान के अध्ययन जो मानव के मात्र शारीरिक संरचना से प्रारम्भ हुये, शनैः-शनैः मानव का प्रागैतिहासिक पुरातत्व, सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य एवं भाषा की उत्पत्ति एवं विकास आदि पहलुओं के सान्निध्य में आते चले गये और यह विषय मनुष्य का सर्वांगीण अध्ययन करने की चेष्टा करने लगा। इसी कारण एम. हारिस (M. Harris) ने कहा है कि एक औपचारिक विषय एवं विज्ञान के रूप में मानवविज्ञान की उत्पत्ति एक धीमी एवं जटिल प्रक्रिया है। शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों के सहसम्बन्धों एवं विभिन्न विभिन्न भौगोलिक एवं सामाजिक पर्यावरणों से मनुष्य के अनुकूलन की कठिनाई ने मानवविज्ञान को एक जटिल विषय बना दिया तथापि तुलनात्मक अध्ययन विधि द्वारा मानव का सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य सकेन्द्रित रहा।

इस प्रकार अनेकों अध्ययन क्षेत्र इस विज्ञान में एकाकार हुए हैं। मानवविज्ञान के इस प्रकार के स्वरूप को केली एवं क्लाइड क्लुखान ने 'विभिन्नता में एकता' की भावना को परिलक्षित करने को बताया है। इनके अनुसार "मानव विज्ञान मानव इतिहास के प्रारम्भ से आज तक अखिल विश्व के लोगों के जैविक एवं व्यावहारिक समानताओं एवं असमानताओं का अध्ययन करता है।" इस स्वतन्त्र वृहद विज्ञान में मुख्यतः चार प्रमु क्षेत्र होते हैं: (i) पुरातत्व मानवविज्ञान, (ii) शारीरिक मानवविज्ञान, (iii) सांस्कृतिक मानवविज्ञान तथा, (iv) भाषाई मानव विज्ञान जब यह विज्ञान उत्खनन द्वारा अतीत की सभ्यताओं के अवशेष का विश्लेषण करता है तो इस शाखा को (**पुरातत्व मानवविज्ञान**), कहते हैं। इसकी दूसरी शाखा मानव ज़ाति (Species) के उद्विकास एवं उसके वर्तमान जैविक लक्षणों का वर्णन करता है (**शारीरिक मानवविज्ञान**), इसकी तीसरी शाखा पृथ्वी पर पाये जाने वाली परम्पराओं एवं तकनीकी प्रविधियों के विकास एवं प्रसार की खोज करता है, और प्रमाणित करता है कि ये आकृतियां, कला-कौशल, विश्वास और उपकरण, व्यक्तियों के मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे करते हैं और समाज को एक सूत्र में कैसे पिरोते हैं (**सांस्कृतिक मानवविज्ञान**) चौथी शाखा अर्थात् **भाषाई मानवविज्ञान** मानव के शब्द- उद्वोधो की विलक्षणता को परिभाषित करता है एवं मानव की विभिन्न भाषाओं अथवा बोलियों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करती है।

इस प्रकार सम्पूर्ण जैव-जगत में 'मानव' को प्रभावित करने एवं मनुष्य से प्रभावित होने वाले जो भी पक्ष हैं सभी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मानवविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में समाहित हैं। इतने व्यापक विषय क्षेत्र वाले किसी विज्ञान को परिभाषित करना दुष्कर कार्य है। फिर भी मानव वैज्ञानिकों ने इसे परिभाषित करने का प्रयास आरम्भ से ही किया है। अमेरिकी मानव वैज्ञानिक **एम. जे. हर्सकोविट्स** ने इसे 'मनुष्य एवं उसके कार्य कलापों का अध्ययन' (Man and his works) के रूप में परिभाषित किया है। इससे इस विषय के दो महत्वपूर्ण पक्षों को उभारा है। 'मनुष्य' के अध्ययन से उनका तात्पर्य एक प्राणी के रूप में मानव की समस्त विलक्षणताओं के अध्ययन से है जो जैविकीय उद्विकास के क्रम में मानव में विकसित हो सकी है। यह पूर्णतः जैविकीय अध्ययन ही कहा जा सकता है। परिभाषा के दूसरे अंश अर्थात 'मनुष्य के कार्य कलापों का अध्ययन' का अभिप्राय समस्त गतिविधियों एवं व्यवहारों के परिणामी समग्रता का क्षेत्र से है जिसमें मनुष्य

के सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवहारों तथा उपलब्धियों को समाहित किया जाता है। इस परिभाषा की व्यापकता को मजूमदार एवं मदन ने निम्नलिखित रेखाचित्र से दर्शाने की चेष्टा की :

मनुष्य एवं उसके कार्यकलापों का विज्ञान

- **मनुष्य का अध्ययन**
  शारीरिक मानवविज्ञान
  1. मानव उद्विकास का अध्ययन
  2. मानव विभेदों का अध्ययन
  3. मानव जैविकी का अध्ययन
  4. सामान्य एवं आनुवंशिक लक्षणों की वंशागति का अध्ययन (मानव आंनुवंशिकी)
- **मनुष्य के कार्यकलापों** का अध्ययन
  - (अ) प्रागैतिहासिक पुरातत्व
    1. प्रागैतिहासिक काल की भौतिक संस्कृति के आधार पर समाज का उद्विकास की
  - (ब) सांस्कृतिक मानवविज्ञान वर्तमान आदिम जातियों के समपूर्ण जीवन का अध्ययन
    - भाषा विज्ञान एवं प्रतीक विज्ञान
      भाषा एवं कला के द्वारा संचार का तुलनात्मक अध्ययन
    - विचार एवं कला
      1. आदिम तर्क शास्त्र
      2. धर्म, जादू, मिथक एवं विज्ञान
      3. ज्ञान
      4. कलाः मौखिक साहित्य संगीत, नृत्य, प्लास्टिक एवं रेखीय कला
    - आर्थिक-मानवविज्ञान
      1. भौतिक संस्कृति का अध्ययन वितरण
      2. उत्पादन, वितरण उपभोगताओं का जीवन के की वस्तुओं का अध्ययन
    - सामाजिक मानवविज्ञान
      विभिन्न प्रकार के सामाजिक विकास का अध्ययन
- **विश्व के मानव** के प्रजातीय एवं सांस्कृतिक वितरण का अध्ययन
  इथनोलोजी
  1. संस्कृति एवं प्रजाति का तुलनात्मक अध्ययन
  2. अतीत के प्रजातीय तत्वों का अनुसरण एवं संस्कृति प्रभावों का प्रसार
  3. संस्कृति एवं प्रजाति का वर्तमान वितरण

मानवविज्ञान की व्यापकता को प्रदर्शित करने हेतु एक अन्य अमेरिकी मानव वैज्ञानिक **क्लाइड क्लुखान** (Clyde Cluckhhn) ने इस विज्ञान को 'The mirror of man' अर्थात 'मनुष्य का दर्पण' कहकर

सम्बोधित किया। अतः मानवविज्ञान मानव एवं उसके कार्यों का विस्तृत एवं तुलनात्मक अध्ययन हैं जिसमें चार विशिष्ट प्रभाग रहे हैं : शारीरिक (जैविक), पुरातात्विक, सामाजिक-सांस्कृतिक एवं भाषाई।

शारीरिक/जैविक मानवविज्ञान

शारीरिक मानवविज्ञान का एक संगठित एवं व्यवस्थित विषय के रूप में विकास 19वीं शताब्दी के द्वितीयांश में आरम्भ हुआ। लेकिन विचारक एवं दार्शनिक मानव उत्पत्ति एवं शारीरिक लक्षणों में विभेदों की व्याख्या इसके पूर्व अपनी विधियों से करते थें।

मानव उत्पत्ति एवं उदि्वकास का विचार सर्वप्रथम प्राचीन ग्रीक (यूनान) एवं रोमन विचारकों के मस्तिष्क में आया क्योंकि हीरोडाट्स (484-425 B.C.) के लेखों, कहानियों आदि में ग्रीस, मिश्र, एशिया, लीबिया आदि के निवासियों के कपालों का वर्णन मिलता है। इन्होंने मिश्रवासियों की कपाल-भित्ति को पर्सिया वासियों की अपेक्षा मोटी दर्शाया है। इनके अनुसार यह विभेद पर्यावर्णिक कारकों के द्वारा परिलक्षित हुए हैं। हिप्पोक्रेट्स (460-377 B.C) ने भी पर्यावरण के प्रभाव को अपनी कृतियों में स्वीकारा है।इनके अनुसार पर्वतीय क्षेत्र वासियों के शारीरिक लक्षण मैदानी क्षेत्र वासियों की तुलना में भिन्न होते हैं। उनके ल`खों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे आनुवंशिक लक्षणों की वंशागति के समर्थक थे।

अरस्तू (384-322 B.C) की कृतियां हमें वंशागति, संवृद्धि, शरीर-केशों का वितरण, शिशुओं का शारीरिक गठन, मानव मस्तिष्क, कपाल, मानव का द्विपदगामी स्वभाव आदि विषयों से सम्बन्धित रोचक मानवशास्त्रीय सूचनायें प्रदान करती है। इन्होंने मानव एवं पशुओं के तुलनात्मक लक्षणों का प्रेक्षण किया। इनके अनुसार मानव अपने समस्त अंगों में परिपूर्णपशु है। अपने विलक्षणता के आधार पर यह (मन ुष्य) पशुओं के मध्य विशिष्ट स्थान रखता है। जैसा कि इसके पूर्व बताया जा चुका है कि अरस्तू ही अग्रगणी विद्वान थे, जिन्होंने मानवविज्ञान शब्द का प्रयोग किया।

गैलन (131-200 A.D.) ने मांसपेशियों, स्नायुओं (Nerves), भ्रूण का विकास आदि के अध्ययन हेतु विभिन्न प्रकार के पशुओं (कपि को भी) की शल्य क्रिया (Dissection) किया। उस समय मानव शरीर की शल्यक्रिया वर्जित थी तथापि गैलन ने मानव-अस्थि-पिंजर के अध्ययन का अवसर प्राप्त किया। इन्होंने कपियों (Apes) को मनुष्य के सन्निकट देखा। इन्हें कपि एवं मनुष्यों की अस्थियां, धमनियां, मांसपेशियाँ आदि समान प्रतीत हुई।

इसके पश्चात् यूरोप में घटित होने वाली घटनाओं एवं सामाजिक परिवेश के कारण प्रकृतिशास्त्रियों को प्रोत्साहन नहीं मिल सका, प्रकृति विज्ञान अपनी पहचान खोने लगी। अब मनुष्य इतिहासज्ञों, दर्शनशास्त्रियों, चिकित्सकों आदि का विषय बनने लगा। इस काल के अधिकांश विद्वान प्रकृति का प्रत्यक्ष अवलोकन करते थे लेकिन चिन्तन एवं कल्पनाशीलता प्रायः दार्शनिक पुट लिये हुए होती थी।

लगभग एक हजार वर्षों से अधिक अन्तराल के पश्चात् एडियस वैसलियस (1514-1564 A.D.) पूर्व शारीरिक संरचना पर हुए अध्ययनों को गतिमय किया। यह सोलहवीं शताब्दी के प्रख्यात शरीर रचना विज्ञान वेत्ता विदित हुये। इनका शरीर रचनात्मक लक्षणों का अवलोकन एवं मानव शरीर संरचना का विवरण मानव विज्ञान के विकास एवं संवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान किया। इन्होंने ग्रीक एवं टर्की वासियों के कपाल को गोलाकार अन्वेषित किया और जर्मनवासियों के कपाल सपाट आक्सिपुट (Occiput) युक्त गोल होने का दावा किया। इस प्रकार कपालीय अध्येताओं में इनकों अग्रगणी माना जा सकता है। सोलहवीं शताब्दी के ही एक और विद्वान वाल्चर की यूटर (1534-1600) ने भी भ्रुण एवं शिशुओं पर विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया। बेलन (1514-1564 A.D.) ने विभिन्न वर्गों के प्राणियों के अंगों की समानता को प्रदर्शित किया। अम्ब्रॉइज पेरी (1510) ने मनुष्य एवं अन्य स्तनधारियों, पक्षियों आदि की अस्थियों का तुलनात्मक अध्ययन किया।

इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में हुये शरीर विज्ञानों से सम्बन्धित अध्ययनों के फलस्वरूप सत्रहवीं

शताब्दी के बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों, रचनाकारों में उत्साह की लहर दौड़ पड़ी। इसके फलस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोप में **तीन** प्रमुख **शोध संस्थाओं**– The Royal Society of Londan, Academic des Sciences Peris, Leopold– caroline Inperial Academy (Germany) ने जन्म लिया। इस काल में अनेकों शरीर रचना–शास्त्री, शरीर–क्रिया वैज्ञानिक, मानव–शरीर विशेषज्ञ, एवं अध्येता उदित हुये, जिनमें **टायसन** (1650–1708), **गैरेंगियट** (1688–1708) एवं **जॉन रे** (1628–1705) सर्वाधिक ख्यातिलब्ध हैं। टायसन द्वारा रचित 'कम्परेटिव एनाटमी ऑफ मैन एण्ड एप्स (Comparative Anatomy of Man and Apes) एवं गैरेंगियट की 'कम्परेटिव स्टडी ऑफ मस्कुलर सिस्टमस ऑफ डॉग एण्ड मैन (Comparative Study of Mascular systems of Dog and Man) ने तुलनात्मक अध्ययनों की श्रृंखला को अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली बनाया। जॉन रे ने जाति वर्ग (Species) के वास्तविक अर्थ का बोध कराया।

अठारहवीं शताब्दी के तीन महान वैज्ञानिक कार्ल लाइनियस (1707–1778), काउण्ट डी बफन (1707–1788) एवं जे. एफ. ब्लूमेनेवाख (1753–1840) ने शारीरिक मानवविज्ञान में अभूतपूर्व योगदान किया जो आज भी अविस्मरणीय है।

लाइनियस स्वीडन के उप्सला विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान के प्राचार्य (Professor) थे। इन्होंने सर्वप्रथम 1735 में अपना प्रतिष्ठित ग्रंथ 'दि सिस्टमा नैचुरी' (The capystema Naturae) प्रकाशित किया। इसमें इन्होंने सुव्यवस्थित वर्गीकरण पर विशेष बल दिया। इन्होंने वनस्पतियों एवं जन्तुओं का सुव्यवस्थाकरण' (Systematization) एवं वर्गीकरण (Classification) का शुभारम्भ किया इन्होंने "द्विकर्मी नामकरण पद्धति' (Binary Nomenclature) प्रस्तावित किया।इसके द्वारा प्रत्येक पौधे एवं जन्तु को एक 'जीनस' (Genus) एवं दूसरा जातिवर्ग (Species) का नाम प्रदान किया गया। इन्होंने मानव को 'होमो सैपियंस' (Homosapiens) नाम दिया जिसमें 'होमो' जीनस है एवं 'सैपियंस' स्पीसीज (Species) नाम है। इनके अनुसार जीनस की समस्त स्पीशीज मूलतः एक ही स्पीशीज के विविध रूप हैं जो वस्तुतः संकरण का परिणाम है।

यदि **बफन** को मानवविज्ञान का संस्थापक (Founder) कहा जाय तो यह अतिशयोक्ति नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह अब तक प्रथम विद्वान थे जिन्होंने मानवविज्ञान के प्रभागों को आरेखित किया। इनके अनुसार मानववैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में मनुष्य का अध्ययन निम्नरूपों में करना चाहियेः

1. अनन्तकाल से मनुष्य का निरन्तर प्रकृति ऐतिहासिक अध्ययन सामान्यतः होना चाहिये– सामान्य मानव विज्ञान।

2. मनुष्य का समूहों में अध्ययन करना चाहिये जिसमें मानव प्रजातियों का विवरण, उनकी उत्पतति, एवं संकरण आदि विषयों का समावेश है (विशिष्ट मानवविज्ञान)

3. मानव की शारीरिक विलक्षणताओं की अन्य पशुओं से तुलना करनी चाहिये, एवं

4. जन्तु–जगत में मानव के वास्तविक स्थान का निर्धारण (प्राणिशास्त्रीय मानवविज्ञान)

इस प्रकार बफन ने पहली बार एक स्पीशीज के रूप में मनुष्य का अध्ययन किया। उनकी अध्ययन–विधि अन्य वैज्ञानिकों के द्वारा अधिकाधिक मान्य हुई। इनका कृतित्व संकेत करता है कि उद्विकास (Evolution) का विचार इन्हें सहसा आया था लेकिन प्रारम्भिक अवस्था में ही अपनी उद्विकासीय अवधारणा का खण्डन कर दिया ऐसा इसलिये क्योंकि वह गिरजाघरों की मान्यताओं का अवमूल्यन नहीं करना चाहते थे जो उद्विकासी विचारधारा के विपरीत थी।

ब्लूमेनवाख शारीरिक मानवविज्ञान के जनक समझे जाते हैं क्योंकि इस काल में शनैः–शनैः मानवविज्ञान का अभिप्राय मानव शरीर एवं आत्मा के विवरण से लिया जाने लगा था। उन्होंने मानवविज्ञान का प्रयोग तत्कालीन शारीरिक मानवविज्ञान के सन्दर्भ में किया। जैसा कि पूर्व वर्णन किया जा चुका है कि

उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि वर्तमान विविध मानव प्रकार- 'जीनस-होमो' की विभिन्न स्पीशीज हैं अथवा उसकी उपजातियाँ । इन्होंने अपने अध्ययनों में उद्विकासीय मानकों की एकता पर विशेष महत्व दिया और प्रमाणित किया कि त्वचावर्ण, कद, शारीरिक गठन एवं अनुपात आदि का महत्व सुनिश्चित नहीं होता । यह सभी परिशुद्ध नहीं होते बल्कि एक दूसरे में विलीन हो सकते हैं। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि 'जीनस होमो' की सभी उपजातियां एक ही स्पीशीज के प्रभेद हैं। इन्हें विभिन्न मानव जनसंख्या समूहों में शारीरिक लक्षणों में विभेद परिलक्षित हुए। उन्होंने मानवजातियों का व्यवस्थित वर्गीकरण कपाल संरचना के आधार पर किया। वैसे तो प्रजातीय प्रकारों का निर्धारण फ्रेन्क्वाय बर्नियर ने 1684 में किया ब्रेडली ने, तीन प्रजातियों- श्वेत, नीग्रो, एवं मध्यवर्ती की मान्यता दी, लेकिन ब्लूमेनवाख ने अपने अध्ययनों के आधार पर पांच प्रजातीय प्रकारों को खोजा जिनकों काकेशियन (Caucasian) मंगोलियन (Mangolian) इथियोपियन (Ethiopian) अमेरिकन (American) एवं मलायन (Malayan) नाम से सम्बोधित किया। 19वीं शताब्दी में डुमेरिल (1806) ने इनके वर्गीकरण का संशोधन करके 6 प्रजातियों की उपस्थित दर्शाई।

इसके पश्चात् 1848 में सम्पूर्ण मानवजाति को ग्यारह प्रजातियों में विभक्त किया। थामस एच. हक्सले (1870) ने केवल पाँच प्रजातियों को पांच प्रजातियों की विद्यमान्यता को पुनः प्रस्तावित किया। इनके अनुसार इन प्रजातियों को 14 उपजातियों में विभक्त किया जा सकता है।

यद्यपि ब्लूमेनबाख को कपाल-विज्ञान का वास्तविक पिता माना जाता है तथापि मानवशास्त्रीय कपाल विज्ञान पर सर्वप्रथम वेसालियस ने वैज्ञानिक आंकड़े लिये जब यह ग्रीक, टर्की एवं जर्मन वासियों के कपालीय रचना की तुलना कर रहे थे। कपालिमिति से सम्बिन्धित मापें स्पीगेल (Spieghel 1578-1625 A.D.)- फ़ेशियल, ट्रान्सवर्ज, वर्टिकल, एवं आब्लीक आननीय, क्षैतिज, लम्बवत् तिरछा) लिया हौ इन चारो मापों के सह सम्बन्धों के आधार पर उन्होंने विभिन्न कपालों का वर्गीकरण किया

कपालममिति से सम्बन्धित अध्येताओं में पीटर कैम्पर (1722-1789) का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने कपाल के 'नार्मालैटरैलिस' (Norma lateralis) के अध्ययन में प्रक्षेपण-विधि को प्रयुक्त किया। इसी प्रकार ब्लूमेनवाख ने 'नार्मावर्टिकैलिस, रिचर्ड ओवेन (Richard Oven) ने 'नार्मावेसैलिस', लारीलार्ड (1837) ने नार्मा आक्सीपिटैलिस, (Norma Occipitalis) का प्रयोग अपने अध्ययनों में किया। हावेन (1837) ने लगभग 11 कपालीय मापों को प्रस्तावित किया। इसके पश्चात् एस. जी. मार्टन की रचनाओं- 'Crania American' (1839) एवं 'Crania Egyptica' (1844) ने शारीरिक मानववैज्ञानिकों को अधिक प्रोत्साहित किया। जे. एटकिन मीग (1861) ने मानव कपाल अध्ययन हेतु कतिपय विशिष्ट मापों की संस्तुति की। रेटेजियस, एन्डर्स (1842) ने मानव मितीय अध्ययनों में कपालीय देशानाओं (Indices) को प्रस्तावित किया। इसी काल में कार्ल इ. वान बायर (Carl E.von Bear) कार्ल इ. एन बायर ने लम्बाई एवं चौड़ाई के सहसम्बन्धों पर बल दिया। 19वीं शताब्दी में इस अध्ययन-श्रंखला में एकर (1865), पॉल ब्रोका (1824-1880), हेकल मूलर (1879), टोपीनार्ड- (1885), एवं क्वाट्री फेजेस (1810-1892), विरचो (1821-1902) ने उल्लेखनीय योगदान किया। इनमें से फ्रांसीसी मानववैज्ञानिक पाल ब्रोका ने अपनी सतत प्रयत्नों द्वारा इस विषय को और भी ऊंचा उठाया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थाश में एक उदीयमान फ्रांसीसी मानववैज्ञानिक एम.एल. फ्रांजे बर्टिलान ने शरीर की अनेक मापों का अध्ययन इस दृष्टिकोण से किया कि प्रत्येक माप की उपयोगिता क्या है ? अपने इस अध्ययन से उन्होंने मनुष्य की 'वैयक्तिक पहचान' (Personal Identification) का प्रयास किया। इससे वहाँ के न्यायालयों ने अपराधियों की पहचान में इस विधि का प्रयोग किया। यह प्रणाली 11 मापों पर आधारित थी जो 'बटिलानेज' के नाम से जानी जाती थी। शताब्दी के अन्तिम दशक में शारीरिक मानव वैज्ञानिक अध्ययनों में मानवीक्षिकी, मानवमितीय अध्ययन प्रणाली के साथ-साथ जनसंख्या वर्गीकरण में अंगुलि त्वचा प्रारूप (Finger Prints) के महत्व को फ्रांसिस गाल्टन (1892) ने प्रदर्शित

किया। दूसरी ओर 18वीं शताब्दी में ही जैविक उद्विकास की तत्कालीन विचारधारा ने शारीरिक मानव विज्ञान के विषय क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान किया।

मानव उत्पत्ति सम्बन्धी विचारधारायें जो 19वीं शदी में पनप रही थे उन्हें जीवाष्म विज्ञान वेत्ता आर. एस. लल ने चार समूहों में विभक्त किया। ये हैं- (i) **वर्तमान दशाओं की शाश्वतता** (Etermty of Present condition) (ii) **विशेष सृजन अथवा सृष्टिवाद** (Special Creation or Creationism) (iii) प्रलयवाद (Catastrophism), एवं (iv) **जैव उद्विकास** (Organic evolution)।

प्रथम मत के अनुसार जीव जन्तु अपने ही वर्तमान स्वरूप में रहे हैं ये अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत रूप के आदिकाल से चंले आ रहे है इनमें भविष्य में भी कोई परिवर्त नहीं होगा। जे.एच. हटन इस मत के प्रर्वतक थे।

द्वितीय मत के अनुसार जीवन के असंख्यों रूप ईश्वर ने सृजित किये हैं। इसाई- एवं यहूदी गिरजा घरों में इस मत को कट्टरता से पालन करवाया। स्पेन के फादर सुराज (1548-1617) इस मत के कट्टर अनुयायी थे। सेंट अंगस्टीन (354-430 A.D.) ने अपना मत व्यक्त किया कि ईश्वर (God) ने 'आदम' एवं 'ईव' को 6000 वर्ष पूर्व सृजित किया। जिनसे ये समस्त मानव जाति उत्पन्न हुई है। इस मत के अनुसार संसार मात्र छ दिनों में रचा गया है। पहले दिन पृथ्वी बनाई गयी। तीसरे दिन जीव-जन्तु एवं वनस्पतियां सृजित की गयी। पांचवें एवं छठे दिन तक समस्त सृष्टियां सृजित कर दी गयीं। अठारहवीं शताब्दी तक यह विचारधारा को शायद ही चुनौती मिली हो।

अठारहवीं शताब्दी में यूरोप के विभिन्न भागों से अनेकों विलुप्त जन्तुओं के अवशेष खोजे गये थे। कतिपय खोजों में मानव अवशेष भी साथ-साथ प्राप्त हुए, जैसे- लन्दन में 1715 A.D. में एक हाथी जैसी रचना के साथ फिलंट पाषाण उपकरण प्राप्त हुआ। 1771 ई. में पुनः जर्मनी में एक भालू के अवशेष के साथ मानव अवशेष भी प्राप्त हुआ। भूगर्भ वैज्ञानिक भी भूगर्भीय स्तरों से नवीन सूचनायें प्राप्त करने लगे थे। इस प्रकार जीवाश्मविज्ञान एवं भूगर्भविज्ञान ने त्वरित प्रगति किया।

19वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्ष में "प्रलयवाद सिद्धान्त" को आगे बढ़ाया गया जिसके प्रणेता डि जार्ज्स कूवियर (1769-1832) थे। इसके अनुसार पृथ्वी पर समय-समय अतिवृष्टि, ज्वालामुखी विस्फोट आदि प्राकृतिक विपत्तियां घटित हुई हैं। परिणामस्वरूप इन दुर्घटनाओं से कुछ जीव ही नष्ट हो जाते हैं। प्रलय के बाद नवीन सृष्टि सृजित होती है। नये-नये जन्तुओं का सृजन इसी प्रकार हुआ है। मनुष्य भूगर्भीय क्रान्ति के अन्तिम वर्ष में लगभग 6,000 वर्ष पहले सृजित किया गया। इस प्रकार प्रलयवाद सिद्धान्त भूगर्भ विज्ञान एवं जीवाश्मविज्ञान का मध्यमार्गी है।

उद्विकास के विचार प्राचीन ग्रीक एवं रोम की रचनाओं में भी पाये गये है। मिलेट्स के थेल्स, (636-546 B.C) एक ग्रीक विद्वान ने जीवन की उत्पत्ति समुद्र के नीले जल में बताया। इन्होंने जल को जीवन माना जहाँ से जीव उत्पन्न हुआ है।उन्होंने मनुष्य का मछली से उद्विकास बताया है। इम्पीडाक्लस (490-430 B.C.) ने हिप्पोपोटैमस के जीवाश्म-अवशेषों को विशालकाय प्राणियों के अवशेष माना जिससे समस्त पशुओं की उत्पत्ति बताया है। अरस्तू (344-322 B.C.) ने वनस्पतियों से जन्तुओं के क्रमिक विकास की विचारधारा प्रस्तुत की जिससे मनुष्यों का विकास हुआ। उन्होंने अपना मत व्यक्त किया कि प्रत्येक जीव जन्मजात शक्तियों का स्वामी होता है, जो स्वयमेव पर्यावरण का अनुकूलन करती है, परिणामस्वरूप एक जीव प्रगति कर सकने में सक्षम होता है। लुक्रेशस (99-55 B.C.) ने जैव एवं सांस्कृतिक दोनों प्रकार के मानव उद्विकास की प्रणाली को अग्रसारित किया। इस प्रकार ईसाई धर्म के आरम्भ के पूर्व ही उद्विकास वादी विचारधारायें जन्म ले रही थीं।

मध्यकाल में आरम्भ से ही विचारकों ने उद्विकास विषय पर कई बार प्रकाश डालने की कोशिश

किया। एडवर्ड टाइसन ने पिग्मी की उत्पत्ति कपियों से बताया। कार्ल लाइनियस ने समानता के आधार पर मनुष्य एवं कपियों को एक ही जीनस में वर्गीकृत किया। बफन भी रावर्ट हुक (1635–1703) के विचारों को स्वीकारा जिनके अनुसार पृथ्वी का अतीत उसके गर्भ में छिपा है जिसे जीवाष्म अवशेषों के द्वारा खोजा जा सकता है। लीवनिज (1646–1716 A.D.) ने मनुष्यों एवं पशुओं को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास किया। इस प्रकार इन दोनों कालों के विद्वानों के कार्यकलापों में जीव उदि्वकास की सुझाया गया है।

इस सन्दर्भ में अनेकों अन्य विद्वानों के कृतित्व को भी भुलाया नहीं जा सकता, जैसे मॉन वॉडो (1714–1790 A.D.), चार्ल्स वोनेट (1720–1793), गोथे (1749–1832), काण्ट (1724–1804), चार्ल्स लायेल (1797–1875), कार्ल वॉन बायर (1729–1876), इरेस्मस डार्विन (1731–1802) आदि।

मॉनवॉडो की कृतियों में स्पीशीज की उत्पत्ति एवं मानव उदि्वकास का सुझाव दिया गया है। बोनेट ने पदार्थ से लेकर मनुष्य तक निरन्तर रहने वाला एक मापक का निर्माण किया। गोथे का कृतित्व उदि्वकास का पुट लिये हुये हैं, उन्हें चार्ल्स डार्विन का पूर्ववर्ती (Predecessor) माना जाता है। काण्ट ने सुझाव दिया कि सम्भवतः मनुष्यों को वानरों के वंशज हैं। इरैस्मस डार्विन वंशागति, प्राकृतिक वरण एवं उदि्वकास की धारणा का उल्लेख अपनी एक पुस्तक में किया है।

फ्रांस के प्रकृति वैज्ञानिक लेमार्क(1744–1829) ने सर्वप्रथम उदि्वकास के सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जिनका विचार था कि नवीन स्पीशीज की उत्पत्ति उपर्जित लक्षणों की वंशागति से हुई है। 19वीं शताब्दी में इनकी तीव्र आलोचना हुई। उन्हीं दिनों 1850 के दशक में ड्रायोपिथेकस एवं नियन्डरथल मानव के प्रमाणित जीवाष्म मिले जिससे वैज्ञानिकों की रुचि जीवाश्मों की ओर अग्रसर हुई।

1859 में चार्ल्स डार्विन ने अपना सिद्धान्त **'प्राकृतिक वरणवाद'** प्रस्तुत किया तो डार्विन का सिद्धान्त सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ। 1971 में अपनी पुस्तक 'डीसेंट ऑफ मैन' में मानव उदि्वकास की रूपरेखा प्रस्तुत किया। लेकिन डार्विन वंशागत होने वाले कारकों– जीन्स के रहस्य रहस्य को नहीं जानते थे, जिस विचारधारा का प्रतिपादन ग्रेगर जॉन मेंडेल ने किया। यद्यपि इन्होंने 1865 में अपने प्रयोगों को अभिव्यक्त किया, जिनकी वैज्ञानिक जगत में लगभग 1900 ई. में मान्यता मिली।

डार्विन सिद्धांत के आलोचक एवं प्रशंसक दोनों थे। प्रशंसकों में – टी. एच. हक्सले, लायेल, वैलेस, वाइजमैन, हैकेल, आदि ने डार्विनवाद को अपने–2 ढंग से व्यक्त किया। बीसवीं शदी क आरम्भ में डार्विन सिद्धान्त में संशोधन किया गया और इसे 'नव–डार्विनवाद' के नाम से जाना गया। चूंकि डार्विन ने विचार व्यक्त किया था कि मनुष्यों की उत्पत्ति वानरों से हुई इसलिये आधुनिक बंदर कपियों पर भी शोधकार्य किये गये।

इस प्रकार 19वीं शताब्दी एवं बीसवीं शताब्दी के मध्यतक शारीरिक मानवविज्ञान के विषयक्षेत्र में अस्थि तंत्र, मानवमिती जीवाश्म, त्वचा प्रारूप अध्ययन आदि प्रमुख थे। दूसरा स्थान प्रजातीय अध्ययनों का था।

रुधिर वर्गों की सन् 1900 में लैंडस्टाइनर ने खोज की। इसका लाभ उठाते हुये मोरैन्ट ने सर्वप्रथम जनसंख्या आनुवंशिकी प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् उदि्वकास का संश्लेषणात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया। उधर मेंडेलवाद पर शोधकार्य निर्वाधरूप से अग्रसर रहे, फलस्वरूप आनुवंशिकी शारीरिक मानवविज्ञान के विषय क्षेत्रों में एक अभिन्न अंग बन गयी। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक (1945, तक) डकवर्थ, एफ. वाइडेनरीज, एच. एस. ऑशवर्न जी.जी. मैकर्डी, आथ्रर कीथ, वी. एव. क्रौस, एल. एस.बी.लीकी, सी.एस.कून, ई.ए.हूटन, एस.एल.वाशंवर्न विलियम हावेल आदि शारीरिक

मानववैज्ञानिकों का योगदान उत्कृष्ट एवं उल्लेखनीय है। इन शारीरिक मानववैज्ञानिकों के सराहनीय कार्यों से शारीरिक मानवविज्ञान की विषयवस्तु में आमूल परिवर्तन हुये जो 1940 के दशक में परिलक्षित हुये थे वे आज के शारीरिक मानवविज्ञान के अंग बन गये। नर वानरगण के अध्ययन का स्थान नराभों (Hominoids), विशेषकर कपियों ने ले लिया। इस प्रकार इस विज्ञान के व्यावहारिक एवं प्रकार्यात्मक क्षेत्र का विस्तार हुआ। शारीरिक लक्षणों के अध्ययन के स्थान पर आनुवंशिकी लक्षणों को प्रमुखता दी जाने लगी। सर्वेक्षण की परम्परा कम हुई और सैद्धान्तीकरण को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार शारीरिक मानवविज्ञान विषय सामग्री परिवर्तित हुई। इन परिवर्तनों को पहचानते हुये अमेरिकी शारीरिक मानववैज्ञानिक **एस.एल. वाशवर्न** (1951) ने परिवर्तित हुये विषय सामग्री वाले शारीरिक मानवविज्ञान को **'New Physical Anthropology'** अर्थात **'नवीन शारीरिक मानवविज्ञान'** का नाम दिया। डी.एफ. राबर्टस (1991) ने विज्ञान की प्रवृत्ति के आधार पर इसे दो अवस्थाओं मे विभक्त करने का प्रयास किया और परिवर्तित अवस्था को **'दि रीसेंट फेज'** (आधुनिक अवस्था) कहना उचित समझा।

इस प्रकार शारीरिक मानवविज्ञान के उक्त मंथर विकास को उपरोक्त वर्णित ऐतिहासिक अध्ययनों के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है और यह समझा जा सकता है कि शारीरिक मानवविज्ञान का वर्तमान तना (Stem) विभिन्न अन्य विषयों से सामान्जस्य स्थापित करते हुये अनेकों ज ड़ों Roots) के मिलन से विनिर्मित है (राबर्टस 1991)।शारीरिक मानवविज्ञान ने अपने जन्म के पश्चात् अनेकों उतारच ढाव का अनुभव किया है जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। चूंकि शारीरिक मानवविज्ञान सम्बन्धी वर्णनात्मक अध्ययन ब्लूमेनबाख (17795) के पूर्व भी सम्पन्न होते रहे हैं जो अधिकांशतः15वीं एवं 16वीं शताब्दी के खोजकर्ताओं की यात्राओं से सम्बन्ध है। यही नहीं ईसा पूर्व प्राचीन दार्शनिक विचारक– अल्मियोन (Alemeone) इम्पीडाकल्स (Empedocles), हिप्पोक्रेट्स (Hippocrates), अरस्तू (Arisotle), हीरोफिलॅस (Herophiloz), गैलन (Galen) आदि के मानव शरीर एवं जीवन सम्बन्धी मत भी शारीरिक मानवविज्ञान की विषयवस्तु से परे नहीं हैं वे भी उस काल में पुनर्जागरण के पूर्व अपनी मान्यता रखते थे। (राबर्टस 1991)

अतः इस विज्ञान के अध्ययन की प्रवृत्ति 1950 के पूर्व भी एक समान नही रही है। इसकी विषय वस्तु, अध्ययन रुचि, एवं परिवर्तनशील प्रवृत्तियों के आधार पर शारीरिक मानवविज्ञान के विकास के इतिहास को पांच अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता हैः

(a) **प्रथम अवस्था या गर्भावस्था (भ्रूणावस्था)**: 1795 में जब ब्लूमेनवाख ने शारीरिक मानवविज्ञान का प्रयोग मानवविज्ञान के सन्दर्भ में किया, उसके पूर्व का सम्पूर्ण इतिहास जब से अरस्तू ने मानवविज्ञान शब्द का प्रयोग किया है।

(ii) **द्वितीय अवस्था या शैशवावस्था**: 1795 के पश्चात् से लेकर 1859 ई. के मध्य तक विकास के इतिहास को द्वितीय अवस्था या शैशवावस्था माना जा सकता है क्योंकि इस काल में मानव प्रजातीय अध्ययन किये गये इसके साथ–साथ मानव उत्पत्ति सम्बन्धी विचारधारायें गतिशील हुई थीं जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

(iii) **तृतीय अवस्था या किशोरावस्था**: 1859 ई. से 1927 ई. के मध्य का कृतित्व शारीरिक मानवविज्ञान के विकास की तृतीय अवस्था या किशोरावस्था कहा जा सकता है। यह अवस्था अत्यधिक महत्वपूर्ण अवस्था है जिसमें जीव एवं मानव उत्पत्ति की अकाट्य संकल्पना स्थापित हुई। वैज्ञानिकों की रुचि मानव के जीवित एवं अजीवित (दोनों) प्रकार के पूर्वजों की खोज करने को हुई। विभेदों जो उद्विकास के नियामक है उनको गहनता पूर्वक समझने का प्रयास किया गया।

(iv) **चतुर्थ अवस्था या प्रौढ़ावस्थाः** 1927 ई.–1950 ई. के मध्य का काल जब शारीरिक मानवविज्ञान ने जनसंख्या आनुवंशिकी' को अपना महत्वपूर्ण अंग मानकर मानव विभेदों को अध्ययन करने की चेष्टा की एवं 1930 के दशक में कई उदि्वकासवादी सिद्धान्त संश्लेषित होकरके 'मानव उदि्वकास' मूल–मर्म को समझने का बीड़ा उठाया।

(v) **पंचम अवस्था या परिपक्वास्थाः** 1950 ई. से लेकर आज तक हो रहे अध्ययन जिन्हें विकास की पांचवीं अवस्था या परिपक्वास्था में समाविष्ट किया जा सकता है। इस अवस्था को एस.एल. वाशवर्न की 'New Physical Anthropolgy' एवं डी. एफ. राबर्टस का 'The recent phase' का पर्यायवाची माना जा सकता है इसमें मानव अनुकूलन, सामाजिक जैविकी, आणविक मानव आनुवंशिकी आदि व्यावहारिक एवं प्रकार्यत्मक क्षेत्रों का विस्तार हुआ है।

भारत में शारीरिक मानवविज्ञान

भारत में मानववैज्ञानिक अनुसंधानों का श्रीगणेश विलियम जोंस के द्वारा बंगाल में 'एशियाटिक सोसाइटी' की 1714 ई. में स्थापना से हुआ, ऐसा एल.पी.विद्यार्थी (1772–1780) का मत है। लेकिन यह मत सर्वमान्य नही है। प्रोफेसर शरण (1973) के मतानुसार कि यह सत्य है कि एशियाटिक सोसाइटी ने अध्ययन सामग्रियों को प्रकाशित करने का उत्तरदायित्व लिया था लेकिन भारतीय मानव विज्ञान की उत्पत्ति ब्रिटिश उपनिवेशी प्रशासन में 19वीं शदी के मध्य में हुई। यह इसलिये क्योंकि ब्रिटिश प्रशासक बेहतर प्रशासन हेतु शासित जनता सें पूर्ण परिचित होना चाहते थे। इनके अनुसार यद्यपि अवी दुवॉय लिखत "हिन्दू मैनर्स, कस्टम एण्ड सेरीमनीस" सर्वप्रथम 1861 में प्रकाशित हुई और जे. काम्पबेल एवं आर. जी. लाथम का "इथनोग्रॉफी ऑफ इण्डिया' क्रमशः एक ही नाम से 1856 एवं 1859 में प्रकाशित हुए लेकिन ख्यातिलब्ध मानववैज्ञानिक अध्ययन– ब्लंट, क्रुक, डाल्टन आदि ब्रिटिश प्रशासकों के द्वारा किये गये। भारतीय मानवविज्ञान जगत में एस. सी. राय' अग्रमणी विद्वान थे जिन्हें "फादर ऑफ इथनोलोजी" भी कहा जाता है।

शारीरिक मानवविज्ञान की उत्पत्ति 19वीं शताब्दी के उत्तरार्थ में हुई जब ब्रिटिश प्रशासकों ने भारतीयों के शारीरिक लक्षणों का वर्णन आरम्भ किया। यह शुभारम्भ सामान्य मानवमितीय मापों से हुआ। जे. शार्ट ने सर्वप्रथम तमिलनाडु की नीलगिरि क्षेत्र की तीन जनजातियों पर मानवमितीय अध्ययन किया जो कालान्तर में कर्नल अंचरलोनी के साथ 1868 में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् रे तले ने 1891 में अनेकों प्रदेश वासियों पर वा हैडन (1919) एवं इकरस्टर (1934) ने विवरणात्मक मानवभितीय अध्ययन किया। भारतीय मूल के शारीरिक मानवविज्ञानियों में बी.एस. गुहा का नाम अग्रांकित है जिन्होंने 1931 में भारत का प्रजातीय सर्वेक्षण किया जो 1931 की भारतीय जनगणना का एक भाग है। 1930–40 में मजूमदार, महाला नवीस, एवं सी.एस.राव के प्रयासों से मानवमितीय अध्ययनों एवं इससे सम्बन्धित क्षेत्र और सांख्यकीय तकनीकों का विकास सम्भव हो सका। साथ ही साथ मैकफरलेन द्वारा रुधिर वर्ग का सर्वेक्षण, मित्रा एवं सरकार द्वारा सम्पन्न भारतीय प्रजातियों का आनुवंशिक सर्वेक्षण प्रकाश में आये। मानव जीवाश्म विज्ञान अध्ययन भी प्रारम्भी हुये। शारीरिक मानव विज्ञान का त्वरित विकास 1960 के पश्चात् हुआ जब बड़े पैमाने पर अध्ययन हुए तो पहले की अपेक्षा वे अधिक संगठित, विशिष्टीकृत एवं समस्याओं पर आधारित थे। रुधिर वर्गों की आनुवंशिकता के ज्ञान से, विभिन्न समुदायों का अध्ययन तीव्रगामी हो गया। अन्य आनुवंशिक लक्षणों जैसे स्वादकता, वर्णांधता, मध्य–अंगुलि बाल, हापरट्राइकोसिस आदि के द्वारा सामुदायिक विभेद, मानव–सामूहिक विभेद, उनकी उत्पति एवं संकरता, एवं उदविकासीय प्रक्रियाओं का अध्ययन आरम्भ हुआ। इसके पश्चात रुधिर सिकिल कोशिका, मानव हीमोग्लोबिन, हैप्टोग्लोबिन, रुधिर–प्रोटीन एवं इन्जाइमों जैसे जैव रासायनिक लक्षणों पर आधारित अध्ययन आरम्भ हुए। इसी समय अंगुलि एवं हथेली त्वचा प्रारूपों विज्ञान सम्बन्धी अध्ययनों ने भारतीय शारीरिक मानव वैज्ञानिक अध्ययनों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। कालान्तर में जनसंख्यात्मक लक्षणों– आयु, लिंग संरचना, वैवाहिक संरचना, जन्म एवं मृत्यु दर रचना, बीमारी–संरचना आदि, के द्वारा अध्ययन सम्पन्न किये गये।

इस प्रकार भारत में मानवमितीय सर्वेक्षणों का स्थान विवरणात्मक, विशिष्ट एवं समस्याधारित अध्ययनों ने ले लिया, जो मेंडिलीय जनसंख्या में विद्यमान निरन्तर विभेदों, अन्तर समूहों की विभिन्नतायें एवं समानतायें, प्रजातीय अन्तर्प्रजनन, जैविक अनुकूलन, सूक्ष्म-उद्‌विकास आदि का वास्तविक बोध कराते थे। साथ ही साथ जनसंख्या आनुवंशिकी (Population Genetics) चिकित्सा-मानवविज्ञान, (Medical Anthropology), प्रायमेट विज्ञान (Primatology), खेल मानवविज्ञान (Sports Anthropology), जीवाश्म मानवविज्ञान (Palaeoanthropology), अपराध मानवविज्ञान (Forensic Anthropology), जनसंख्या मानवविज्ञान (Demographic Anthropology), जैव रासायनिक मानवविज्ञान (Biochemical Anthropology) सम्बन्धी अध्ययनों का सूत्रपात हुआ।

इनमें अधिकांशतः वाह्य-शारीरिक (Morphological) एवं आनुवंशिक (Genetic) अध्ययन हैं जो आदिवासियों, जनजातियों, सवर्ण एवं दलित जातियों, धर्म एवं भाषाई समूहों पर सम्पन्न किये गये। लगभग समस्त शोधकार्यों ने भारत की जनसंख्या में अप्रतिम विभेद एवं विषमरसता (Heterogeneity) को उद्‌घाटित किया।अधिकांश कार्य प्राचीन शारीरिक मानव वैज्ञानिक सिद्धान्त एवं व्यवस्था विज्ञान की रूपरेखा के अन्तर्गत पूर्ण किये गये।

सन् 1960-1990 के मध्य मानव वैज्ञानिकों के अध्ययन जो सर्वाधिक चर्चित हुए हैं और इस विज्ञान के क्षेत्र में अविस्मरणीय योगदान किया है वे निम्न मानववैज्ञानिकों केहैं: एल.डी. संघवी, बी. आर. खानोलकर, एव. सिरसत, इरावती कर्वे, तिवारी, आई.पी. सिंह, एस.आर. के. चौधरी, ए.जे.बक्सी, बी.एम. दास, आर.एम. सरकार. एस.एस. सरकार, आर. पी. श्रीवास्तव, के.सी. मल्होत्रा, वी.एन. मुखर्जी, डी.पी. मुखर्जी, पी.एन. भक्षचार्य, एस. के. दास. आर. एस. नेगी. एच. एम. भाटिया, ए. आर. बनर्जी, सी. एस. सिगरौल, आर.डी. सिंह, एल.एस.सिद्धु, जे. सी. शर्मा, आई. जे. एस. वंसल, डी. अमिताभ वसु, बी. बालकृष्णन, पी.पी. मजूमदार, उर्मिला पिंगले, एस.एस. पपिहा, बी, भानु, आदि, बी. भल्ला, पी.के. सेठ, बी.आर. के. शुक्ला, एम. के भसीन, तूलिका सेन; पी. दासगुप्ता, बी. रामीरेडडी आदि।

प्राचीन एवं नवीन शारीरिक मानवविज्ञान

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चार्ल्स डार्विन द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक वरण सिद्धान्त से अन्य प्रकृति विज्ञानों की तरह ही शारीरिक मानवविज्ञान के विषय वस्तुओं में परिवर्तन आया। जिससे मानव उद्‌विकास की प्रक्रियायें इस विज्ञान की अकाट्य आवश्यकता बन गयी। इसलिये इस विज्ञान की पूर्व रूपरेखा को विस्तार इंग्लैण्ड में टी. एच. हक्सले, फ्रांस में पॉलब्रोका एवं टोपीनार्ड एवं इटली में जी. सरजियो के अथक प्रयोगात्मक व विवरणात्मक कार्यों से मिला। फलस्वरूप तुलनात्मक उच्चस्तनीविज्ञान (Comparative Primatology), जीवाष्म मानवविज्ञान (Palaeoanthropology) और वाह्यशारीरिक वर्गीकरणशास्त्र (Morphological taxonomy)इसकी उपशाखायें बन गयी। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में डकवर्थ (1904) ने शारीरिक मानवविज्ञान को अन्य जैविक विज्ञानों के समकक्ष ही एक स्वतन्त्र विज्ञान स्वीकारा। जो इस समय तक यह विषय पूर्ण-परिभाषित, प्रक्रियाओं एवं विस्तृत अध्ययन सामग्री युक्त हो चुका था। इसके उद्देश्य निम्नलिखत थेः

(i) मानव के जन्तु-जगत में लिये हुये स्थान का अध्ययन करना,

(ii) मानव-पूर्वजों के जैविक लक्षणों को एवं उनके रूप में विकसित होने का वाह्य शारीरिक तुलनात्मक रचना विज्ञान की विधियों द्वारा, एवं भ्रूण विज्ञान की विधियों द्वारा पता लगाना, एवं

(iii) वाह्य एवं आन्तरिक शारीरिक गठन में विद्यमान विभेदों का अध्ययन करना।

इस विस्तृत शारीरिक मानववैज्ञानिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त 19वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में कपाल विज्ञान से सम्बन्धित विशेषीकरण प्राप्त किया गया। पॉल ब्रोका ने कपालमिती को अपने महान कार्यों से स्थापित किया जिससे सामान्य मानवमिती और अधिक विकसित हुई। इस अध्ययनों की उपयोगिता क्षेत्रकार्यों के द्वारा प्रजातीय वर्गीकरण एवं पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने में थी।

इस प्रकार मितिक आंकड़ों की एक विशाल राशि संग्रहीत हो गयी। 1920 दशक तक असंख्यों व्यक्तियों पर मापें ली गयीं (रावर्टस, 1990)। इन आंकड़ों ने सांख्यकी की तत्काल उपयोगिता सिद्ध कर दिया था। जिससे इन आंकड़ो के आधार पर सांख्यकी के अनेकों स्कूल (केन्द्र) विकसित हुये। विसूती (1940) ने डेनीकर (1900) द्वारा प्रतिपादित सांख्यकीय उपयोगों में और प्रगति की। महलानवीस ने मत व्यक्त किया कि लगभग 55% से 70% तक की इन अध्ययन सामग्रियों की उपयोगिता एक मानक एवं पूर्ण परिभाषित तकनीकों की सहमति के अभाव में व्यर्थ चली जाती है। उन्होंने सांख्यकीय प्रणाली के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया। अब तक गिने-चुने उदाहरणात्मक अध्ययन किये गये जिनमें विशिष्ट जैविक प्राककल्पना का परीक्षण करने हेतु इन सूक्ष्म सांख्यकीय तकनीकों का उपयोग किया गया जैसे मोरेन्ट (1927) का प्राचीन नियन्डरथल मानव स्पेशीमेन के ऊपर किया गया कार्य, भ्रून्साल (1906-1909) का अफ्रीका की वुशमैन एवं हाटेन्टाट एवं अफ्रीकी वांटे समानता का पता लगाना, बोआस (1912) का अध्ययन आदि। अन्यथा सांख्यकीय अभ्यासों से दूर रहते मिति के आँकड़े पुनः विषय-साहित्य में दबे पड़े रहते और जैविकीय उपयोगिता के अभाव में डार्विन पूर्व वर्गीकरणात्मक अवधारणा में सम्मिलित हो जाते।

अतः संक्षेप में 19वीं एवं 20वीं शताब्दी के मध्य तक शारीरिक मानवविज्ञान के अध्ययन विषय क्षेत्रों में अस्थि तन्त्र, तथा मानवमिति की प्रमुख भूमिका थी। दूसरा स्थान प्रजातीय अध्ययनों का था। अनेक शोधकर्ताओं ने न केवल प्रजाति समूहों का अध्ययन किया बल्कि सम्पूर्ण मानवजाति के वर्गीकरण की चेष्टा की तथा इस विषय के सिद्धान्त एवं परिभाषायें प्रतिपादित की। लेकिन 1900 ई. में लैण्ड स्टाइनर ने रुधिर वर्गों की खोज की इसी तथ्य पर आधारित मोरैन्ट ने 1927 में जनसंख्या आनुवंशिकी का अध्ययन प्रस्तुत किया। उधर उद्विकास का संश्लेषणात्मक सिद्धान्त भी प्रकाश में आया। मेंडलवाद का वास्तविक मूल्यांकन हुआ तथा आनुवंशिकी शारीरिक मानवविज्ञान का अभिन्न अंग बन गयी। सांख्यकीय प्रणालियों के उपयोग की अति आवश्यकता अनुभव हुई। इसलिये इस विज्ञान की परिवर्तित प्रवृत्तियों के फलस्वरूप सन् 1951 में अमेरिका के सुप्रसिद्ध शरीर मनोवैज्ञानिक एस.एल. वाशवर्न ने बीसवीं शदी के उत्तरार्ध के शारीरिक मानवविज्ञान को 'नवीन शारीरिक मानवविज्ञान' के नाम से अभिहित किया तथा इसके पूर्ववर्ती विषय वस्तु युक्त विज्ञान को 'पुरातन शरीरिक मानवविज्ञान' कहा। इन्होंने पुरातन एवं नवीन शरीरिक मानवविज्ञान में विभेद स्थापित करने का प्रयास किया है। इन्होंने इस संदर्भ में अधोहनु (Mandible) का उदाहरण दिया, जो पुरातन साहित्य में मापीय अवलोकनों के आधार पर तुलनात्मक इकाई के रूप में प्रयुक्त हुआ है। लेकिन आज यह ज्ञात हो चुका है कि अधोहनु एक अस्थि-समष्टि है और इसकेविभिन्न अंग मुख मण्डल (Facial region) के सापेक्ष में स्वतन्त्र रूप से विकसित होते हैं, क्योंकि- (i) कोरोन्वायड प्रवर्ध (Coronoid Process) टेम्पोरल पेशियों के सापेक्ष में परिवर्तित होते हैं, (ii) निम्न जबड़े के कोण में केन्द्रीय एवं आन्तरिक टेरीग्वाइड पेशियों के सापेक्ष में परिवर्तित होते हैं, (iii) दांतों के अनुसार दंतवाहक क्षेत्र परिवर्तित होता है, तथा (iv) जबड़े का कोर (Core) अन्तःस्रावों द्वारा प्रभावित होता है। अतः यह स्पष्ट होता है कि अस्थीय एवं दैहिक लक्षण अनुकूलनीय समष्टि हैं जिनकी अनेकों व्याख्यात्मक कठिनाइयां हैं जिनका मात्र मापों के आधार पर समाधान नहीं किया जा सकता। इनके अनुसार किसी भी विशिष्ट लक्षण के लिये उत्तरादायी क्रियाविधि एवं प्रक्रियाओं को समझना आवश्यक है। मात्र उस लक्षण की विद्यमानता एवं विलुप्तता पर्याप्त नहीं होती। इस हेतु उपयुक्त परिमाणात्मक एवं गुणात्मक प्रविधियों का विकास नितान्त आवश्यक है। (कार्न एवं स्मिथ, 1952)

पुरातन एवं नवीन शारीरिक मानवविज्ञान की अभिरुचियों के क्षेत्र एवं उद्देश्यों में समानता पायी गयी है। मानव की उत्पत्ति एवं उद्विकास कैसे हुआ है, इसकी व्याख्या करना दोनों का मूल उद्देश्य रहा है। पहले वर्गीकरण पर बल दिया गया है लेकिन उसकी व्याख्या का प्रयास नहीं किया गया जबकि बीसवीं शदी के उत्तरार्ध में व्याख्या एवं विश्लेषण को प्रोत्साहन मिला। इसे स्पष्ट करते हुये कोमाज (1960) ने (i) भ्रूकटक

(Eye Brow ridge) क्षेत्र की आकार प्रकार की विविधता, एवं (ii) नासिका पर ली गयी परम्परागत मापों का उदाहरण प्रस्तुत किया। इनके अनुसार यह भी अनुभव किया गया कि मात्र वाह्य विविधतायें अपने प्रकार्य एवं चिन्तन हेतु पर्याप्त नहीं है। इसलिये ज्ञात यह करना चाहिये कि प्रेक्षित विभेदों का अभिप्राय क्या है तथा वे अन्य लक्षणों से किस प्रकार सम्बन्धित हैं आदि। भ्रूकटक क्षेत्र कपाल एवं मुखाकृति के आकारानुरूप होता है।

नवीन शारीरिक मानवविज्ञान में यह समझने का प्रयास किया गया है कि भ्रूकटक क्षेत्र में कितना विभेद मुखमण्डलीय एवं कितनी कपालीय विभिन्नताओं के फलस्वरूप होता है। उसका सामान्य आकार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का परिणाम हो सकता है। पुरातन शारीरिक मानवविज्ञान में ये आवश्यक व्याख्यायें अस्पष्ट थीं।

दूसरे नासिका के विभिन्न मापों का प्रयोग पुरातन साहित्य में स्वतन्त्र रूप से किया जाता है जिसकी तुलना अन्य जनसंख्या की नासिका मापों से किया जाता है। परन्तु क्या नासिका एक स्वतन्त्र इकाई है ? हमें इसके विस्तृत विवरण को अनदेखा नहीं करना चाहिये। उदाहरणस्वरूप चवर्ण-क्रिया के प्रतिवलो का मुख मण्डल पर प्रभाव पड़ता है। नासिका मुखमण्डल का एक अंग है अतः इसकी आकारकीय विविधता को मुख प्रदेश के प्रकार्यों एवं अन्तसम्बन्धों के संदर्भ में समझना चाहिये। कोमाज़ के अनुसार सम्भवतः नासिका आकृति व प्रकृति दांतों एवं चवर्ण के प्रतिवलों सहित अनेकों भिन्न-भिन्न कारकों का परिणाम है। पुरातन शरीरिक मानवविज्ञान में इस प्रकार की व्याख्या एवं विश्लेषण नहीं किया गया है।

प्राचीन एवं नवीन शरीरिक मानवविज्ञान में प्रमुख भेद इनकी अध्ययन प्रविक्तियों में निहित था क्योंकि पूर्ववर्ती प्रविक्तियाँ सर्वेक्षणात्मक थी लेकिन परवर्ती प्रविक्तियां सैद्धान्तिक, प्रक्रियात्मक एवं विवरणात्मक थी। डी.एफ रावर्टस (1991) ने प्राचीन एवं नवीन शारीरिक मानवविज्ञान की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयत्न् किया है। इनके अनुसार नवीन शरीरिक मानवविज्ञान में मानव जनसंख्याओं में मंडल के नियमों की उपयौगिता अकाट्य रही जिससे मानव को स्पीशीज स्तर के नीचे भी समझा जा सका। इन नियमों ने उद्विकास के गतिशील स्वरूप को पहचानने में सहायता की। हार्डी एवं वीनवर्ग ने जनसंख्या आनुवंशिकी का एक महत्वपूर्ण नियम प्रतिपादित किया। जिससे यह समझा जा सका कि किसी भी जनसंख्या की जीनी संहति की बारम्बारता (gene frequencies) पुनः पीढ़ी दर पीढ़ी स्थैतिज रहेंगी यदि उद्विकासीय प्रक्रियायें क्रियाशील न हों। इससे मानव जनसंख्याओं में उद्विकासीय सम्बन्धों एवं उनकी स्थित का वास्तविक ज्ञान किया जा सकता है यदि आनुवंशिकी लक्षणों का प्रयोग किया जाय और सम्भव पर्यावरणीय प्रभावों के संक्रमण से बचा जा सकता है। इससे मानव जनसंख्याओं की आनुवंशिक अध्ययनों की होड़ लग गयी और फलस्वरूप नवीन विभेदों की खोज हुई। आनुवंशिक व्यक्तित्व की अनुभूति इन खोजों का परिणाम हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् आनुवंशिकी के इस प्रगति के फलस्वरूप एवं पारिस्थितकी (Ecology), क्रियाविज्ञान (Physiology), पोषणविज्ञान (Nutrition) विकासशास्त्र (Development science), इपीडीमायालोजी (Epidemiology), एवं जनसंख्याविज्ञान (Demography) के प्रभावों से मानवविज्ञान में पूर्णतः नवीन अवधारणा ने रूप ले लिया। इस अवधि की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि थी- "एक जनसंख्या को उद्विकास की इकाई मानना"।

मानव जनसंख्या में अन्य जीवों की तरह, अन्तसंहित एवं स्व-निहित विभेदों को परिलक्षित करती हैं। जनंसख्या को गुणात्मक एवं मात्रात्मक विभेदकों, दोनों के द्वारा परिभाषित किया जा सकता है (पहले जीनी बारम्बारता केद्वारा एवं दूसरे मापों के औसत एवं वितरण के द्वारा)। इसके अनुसार एक जनसंख्या की एक वंशागति होती है, उसका अपना जीनी समग्र (gene pool) होता है, यह व्यक्तियों के सम्बन्ध में सदैव

स्थाई रहता है ताकि व्यक्ति इसकी सीमारेखा में ही जन्म ले और इसमें मृत्यु भी प्राप्त करे और सभी अपनी जन्म पर्यन्त इसके जीनी प्रारूपों का प्रतिनिधित्व भी कर सके। यह अन्य जनसंख्याओं से भी अन्तक्रिया करती है चाहे वह मानव समूह हो या अन्य प्राणिसमूह। यह ब्रम्हाण्ड (Space) एवं काल में अपना एक निश्चित स्थान रखती है। यह आवश्यकतानुरूप ऊर्जा, संवृद्धि (growth), संरचना पुनर्निर्माण (Body repair), संतति– उत्पादन (Reproduction), विरोधी तत्वों एवं बैरियों से सुरक्षा अपने परिवेश (Physical environment) से ग्रहण करती है जिससे ये उस (Population) को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। यदि जनसंख्या मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल होती है तो वह पुनर्जीवित रहती है और प्रसार कर लेती है, अन्यथा वह शनैः–शनैः कम होने लगती है और विलुत हो जाती है। इस प्रकार का एक अभूतपूर्व सन्तुलन सदैव बनां रहता है। इसमें एक ओर जनसंख्या है, इसका आकार (अपने सम्पूर्ण आवश्यकताओं को समझते हुये)। इसका जनसंख्यात्मक संरचना है। श्रम–क्षमता, उत्पादों का विभाजन, उसकी सन्तति उत्पादिकता को प्रभावित करते हुये), उसका शारीरिक लक्षण है (पर्यावरण से संघर्ष करते हुये उद्‌विकासीय प्राप्ति), उसकी व्याधि संरचना है (पर्यावरण के जीवाणु एवं विषाणु तथा आनुवंशिक लक्षणों से प्रभावित होते हुये), इसकी विकासुकारी क्षमता है, (जीन्स के निर्देशों का संशोधन करते हुये) इसके जीनी समग्र (gene pool) में जीनों की वारम्बारता है, तो दूसरी ओर उसके अपना पर्यावरण है, संसाधन है और चुनौतियाँ हैं जो उसे वहाँ स्वतः प्राप्त होती है।

जीवन रक्षा के लिये अथवा सफलता के लिये यह सन्तुलन अवश्य स्थापित होना चाहिये। एक दूसरे को प्रभावित अवश्य करता है, कोई भी दूसरे को नष्ट नहीं करता। इस प्रकार मानव समाज अपने समस्त आर्थिक संसाधनों और जीवन चर्या के साथ इस प्राकृतिक परिस्थितक व्यवस्था (Natural ecosystem) के संकुलन (Complex) में पिरोया हुआ परिलक्षित हो सकता है। यह अध्ययन प्रवृत्ति 19वीं शदी के अध्ययन प्रवित्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पूर्णता से मानव का प्रकृति में स्थान का पता लगा सकती है। (रावर्टस, 1990)।

इस प्रकार नवीन शारीरिक मान विज्ञान औसतों के स्थान पर विभेद, स्वरूपों (Form) के स्थान पर प्रकार्य (Function), असमाम्वित (Preordinated) लक्षणों के स्थान पर लोचकता (Plasticity) एवं अनुकूलन, स्थैतिज स्वभाव के स्थान पर गतिज एवं बहुआयामी स्वभाव (Dynamic Homoestaliz) अवधारणाओं प्रकाश में आई। डार्विन की परिकल्पनाओं के पुनः विकास एवं उद्‌विकास प्रक्रियाओं के परीक्षण हेतु एक चबूतरा (Stage) नवीन शारीरिक मानवविज्ञान में स्थापित किया गया।

वर्गीकरण के उद्देश्य से संग्रहीत विवरणात्मक मापों के स्थान पर इन अवधारणाओं से शोधकर्ता ने प्रक्रियाओं (Process) की ओर रुचि ले लिया कि एक समुदाय कैसे क्रिया (Function) करता है, कैसे दीर्घकालीन पर्यावरण की मांगों के अनुकूल ढल जाता है, कैसे अल्पकालीन विपदाओं के विरुद्ध संघर्ष करता है, विभिन्न प्रकार के अन्य विभेदकों की सहमति (Consideration) को कैसे चाहता है। इस प्रकार पर्यावणिक शरीर क्रिया विज्ञान (Environmental physiology), एवं कार्य–शरीर क्रिया विज्ञान (work physiology) ने शारीरिक मानवविज्ञान में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। पोषण सम्बन्धी अध्ययनों की क्षेत्रकार्य तकनीक एवं इसकी अवधारणा परिवर्तित हुई और अन्य जीवों के तुलना से यह स्पष्ट होने लगा कि मानव ने अपनी आवश्यकता (Requirement) की पूर्ति हेतु पर्याप्त खाद्य प्रतिरूप का प्रतिरूप का विस्तृत रूप उद्‌विकसित किया है। पोषण एवं क्रिया वैज्ञानिक अध्ययनों को प्रोत्साहन मिला। वातावरण में विद्यमान प्राकृतिक अभिकारकों से व्यावहारिक प्रतिरूपों में भेदों को भी अध्ययन विषय बनाया गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण मानव जैविकी की Ergonomic उपयोगिता की अनुभूति की गयी जिससे आधुनिक उपकरणों का निर्माण मानव क्षमता की सीमा के अन्तर्गत कया गया और उनकी अधिकाधिक प्रयोग की सीमारेखा सुनिश्चित की जानी चाहिये। मूलभूत सिद्धान्त की व्यापकता के जाने लगी। इस प्रकार

मूलभूत सिद्धान्त की व्यापकता के उद्देश्य से प्रकार्यात्मक शरीर रचना विज्ञान, (anatomy), शरीर क्रिया विधि (Body mechanics), शरीर क्रिया विज्ञान, मानवमिति, मनोविज्ञान की उपयोगितायें सिद्ध हुइ एवं इर्गोनामिक्स (Ergonomics) ने जन्म लिया।

समान रूप से खेलों की ओर बढ़ती जनरुचि के कारण शारीरिक मानवविज्ञानी भी प्रेरित हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगी स्तर को विनिर्मित करने के उद्देश्य से अनेकों अध्ययन किये जाने लगे। उच्च स्तनियों के ऊपर अध्ययनों का विस्तार हुआ और उच्चस्तनियों समाज के व्यावहारिक पहलू को अध्ययन का मुख्य आकर्षण बनाया गया जिससे प्राइमेट विज्ञान (Primatology) ने जन्म ले लिया। जीवाष्मों का अध्ययन उसके अनुमानित पर्यावरण एवं संस्कृति के संदर्भ में किया जाने लगा। इससे मानव उद्विकास की वास्तविकता को समझने हेतु पारिस्थिकीय (Ecological) एवं व्यावहारिक अवधारणा की उपयोगिता अधिक स्पष्ट हुई। इससे अस्थि-तन्त्रीय अध्ययनों के वर्णन एवं विश्लेषण में भी इसके उपयोग सामने आये। प्रक्रियाओं की ओर अभियान छेड़ा गया एक ओर पूरा-व्याधि शास्त्र (Palaeopathology) पर एकाग्रचन किया गया तो दूसरी ओर विभिन्न लक्षणों के जीवविज्ञान, भ्रूणविज्ञान, विकास एवं संवृद्धि पर बल दिया गया। पुराजनाकिकी palaeodemography को भी प्रोत्साहन मिला जिससे उन मृत लोगों की जीवनचर्या को समझा जा सके। दूसरा प्रमुख क्षेत्र सामाजिक व जैविक अध्ययनों का रहा जिससे समाज-जैविकी (Socio-biology) का जन्म हुआ। जनसंख्या विज्ञान (Demography) के विभेदकों- वैवाहिक प्रतिरूप, जन्म एवं मृत्यु प्रतिरूप, सामाजिक-आर्थिक लक्षणों आदि के अध्ययनों को बल मिला। बाल विकास एवं सवृद्धि का अध्ययन अनुदैर्ध्य (Crossectional) एवं दीर्घकालीन (Longitudinal) दोनों विधियों से किया जाने लगा जो चिकित्सा उपयोग रखते थे।

इस अवधि में सबसे अधिक आनुवंशिक अध्ययनों का विकास हुआ। रुधिर वर्गों, सीरम एवं प्रोटीन, इन्जाइम, प्रतिरोधी आनुवंशिक अध्ययनों एवं आनुवंशिक सर्वेक्षणों के फलस्वरूप अनेकों बहुएलीलों (Multiple Alleles) एवं जीन्स के वहुप्ररूपों (Polymorphism) की खोज हुई। इससे भी मानवजातियों की जीन वारम्बरताओं का मानचित्रीकरण किया जा सका और प्रत्येक जनसंख्याओं (मानवसमूहों) के पारस्परिक जीनी सम्बन्धों का पता लगाया जा सका। इससे मानवसमूहों के अतीत कालीन प्रवजनों (Migrations) का अध्ययन करने में सहायता मिली। कुछ अध्ययनों में सांस्कृतिक तत्वों के प्रसार (deffusion of cultural elements) के समकक्षीय परिणाम प्रकट हुये। इन अध्ययनों ने आनुवंशिक अपसरण एवं संकरता से सम्बन्धित आंकड़ों की संवृद्धि किया। आनुवंशिकी रचना (Genetic Constitution) की अवधारणा से हटकर 'आनुवंशिकी संरचना' (Genetic Structure) जैसी नवीन अवधारणा प्रकाश में आई किसी जनंसख्या जीनी बारम्बारताओं से ही सम्बन्धित नहीं थी अपितु इसका सम्बन्ध जनसंख्या की सीमान्तर्गत जीनी वितरण के तरीके एवं जीनी सम्बनधों के मानदण्डों से हो गया। इससे जनसंख्या वितरण, घनत्व, इच्छित जीवनसाथी का चुनाव, दूरी के साथ नातेदारी में ह्रास के लक्षण- आदि अवधारणायें विकसित हो गयी। ये सभी जनसंख्यां उद्विकास एवं जनसंख्या विभेदों को प्रभावित करती है और स्वयं सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पर्यावरणीय कारकों से प्रभावित होती है। इस प्रकार जनसंख्या आनुवंशिकी एवं पारिस्थिकी की अवधारणाओं का मध्यमार्गी समानान्तर दृष्टिकोण विकसित हुआ।

नवीन शारीरिक मानविज्ञान की अध्ययन रुचियों में सम्मिलित आणविक स्तर पर होने वाले अध्ययन यद्यपि आनुवंशिकी की सर्वाधिक नवीन अवस्था है फिर भी जनसंख्या पारिस्थिकी एवं अनुकूलन से सम्बद्ध समस्याओं में इसका योगदान आज भी अस्पष्ट है (Robert, 1990)। मानव गुणसूत्रों में पाया जाने वाला DNA की एक रासायनिक पदार्थ के रूप में पहचान होने के पश्चात इसे माता पिता से उनकी सन्ततियों में ले जाने वाले आनुवंशिक सुचनाओं का वाहक माना गया और जीन्स को DNA विखण्डों के रूप में देखा गया। DNA की आणविक संरचना जीन्स विशिष्टता (gene specificity), जीन्स पुनर्रचना (gene replication) एवं जीन उतपरिवर्तन (gene mutation) सम्बन्धी अवधारणाओं की व्याख्या करने में सक्षम

हैं। 'जेनेटिक कोड' की अवधारणा शीर्घ ही टूट गयी। एक कोशिका में DNA का प्रकार्य आनुवंशिक संरचना का कथन (dictate) एवं प्रोटीन व उत्प्रेरकों (Enzyme) के संशलेषण को संचालित करना है। यह कार्य DNA नहीं करते और अधिक मात्रा में DNA इन प्रकार्यों से सम्बद्ध नहीं होते। रिस्ट्रिक्शन इण्डोन्यूक्लीज तकनीक (Restriction Endonucleases) की खोज से DNA को कई खण्डों (Fragments) में काटा जा सका जिससे इस शदी के सत्तर के दशक में अजूबी Recombinant DNA तकनीक विकसित हुई और एक नवीन 'बहुरूपी' प्रकाश में आये जो हैं– 'Restriction Fragment length Polymorphisms' Fragment इसकी बारम्बारता एक जनसंख्या से दूसरी जनसंख्या तक परिवर्तित होती रहती है। ज्ञात अणु की DNA कोडिंग की तारतम्यता प्रदर्शित करती है कि एक ही जीनी संहति में आये हुये विभेदों का कारण उत्परिवर्तनों की विविधता है। इस प्रकार जीनी संहति (Genotype) विभेदकों के उत्तरदायी DNA के विखण्ड आकार एवं उत्परिवर्तनों की तुलना मानव जनसंख्यायी पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन हेतु शक्तिशाली उपकरण हैं।

DNA तारतम्य (Sequence) को परिवर्तन दर के संकलपना के आधार पर किसी जनसंख्या के विलगाव की तिथि का अनुमान लगाया जा सकता है उस प्रकार से जैसे प्रोटीन प्रोटीन संरचना के आधार पर स्पीशीज, जेनेरा एवं परिवारों की विलगाव तिथि का अनुमान किया जा सका है।

DNA की उपयोगिता की ऊर्जा विशाल है। ऐसा विचार किया गया है कि मानव जीनोम (Human genome) में लगभग 4 अरब (4मिलियन) क्षारीय जोड़े (Base Pairs) हैं। इसे लगभग एक लाख जीन्स बनाते हैं जो लघु आकार से लेकर विशाल आकार के होते हैं उदाहरणस्वरूप–लघुआकार के जीन 429 क्षारीय जोड़े मानव हीमोग्लोबिन की श्रृंखला हेतु रखते हैं एवं बड़े आकार वाले मांसपेशीय डिस्ट्राफी (Dystrophy) लगभग 2 लाख क्षार–जोड़े (Base Pairs) वाले होते हैं माइटोकाड्रियाई DNA 16.5 किलोवेस (Kilibases) वाले अधिक लघु आकार के कण होते हैं। इसलिये 'मानव जीनोम' की सम्पूर्ण DNA तारतम्य स्थापित करना एक बहुत बड़ा कार्य है। अन्तर्वैयक्तिक एवं अन्तर–जनसांख्यिक विभेद्य के संदर्भ में इनका अध्ययन और भी महान कार्य है।

अतः उक्त नवीन रुचियों ने शारीरिक मानवविज्ञान के प्राचीन अनुसंधान उपकरणों को आज के परिप्रेक्ष्य में अतर्कसंगत बना दिया है। लेकिन अध्ययन की इन परिवर्तित प्रवित्तियों के अवतरित होने के बावजूद भी शारीरिक मानवविज्ञान का मूलभूत उद्देश्य अपरिवर्तित रहा प्राचीन मानवविज्ञान में वाह्य शारीरिक अस्थितन्त्रीय लक्षणों की बहुलता है, सर्वेक्षणात्मक एवं वर्गीकरणात्मक दृष्टिकोण की सर्वमान्यता है तो नवीन शारीरिक मानवविज्ञान में मानव के जैविकीय घटकों को महतव दिया गया, सामाजिक–सांस्कृतिक, एवं पारिस्थितकीय कारकों के उद्विकासीय महत्व को समझने का प्रयास किया गया। सर्वेक्षण के स्थान सैद्धान्तीकरण, तथ्य संकलन एवं विवरण के स्थान पर तथ्य संकलन, विश्लेषण, समष्टि वोधक, कारकों एवं प्रक्रियाओं को प्रोत्साहन दिया गया। जिससे इस विज्ञान का विषयक्षेत्र के साथ ही साथ दष्टिकोण भी व्यापक एवं बहुआयामी हो गया।

शारीरिक मानवविज्ञान की परिभाषा

पूर्व वर्णित शारीरिक मानवविज्ञान के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं विकास से यह सहजता से स्पष्ट होता है कि मानव वैज्ञानिक अध्ययनों का शुभारम्भ शारीरिक मानवविज्ञान विषयों से हुआ और मौलिक रुचि प्रारम्भ से ही मानव के शारीरिक पक्ष का अध्ययन रही है। इस की विषय वस्तु मानव शरीर गठन (Physique), मानव प्रजातियां, और इसका अन्य जन्तुओं अध्ययन था। लेकिन अपने लगभग 100 वर्षों के इतिहास के बावजूद भी 19वीं शदी के अन्त तक इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकी। बीसवीं शदी के आरम्भ में डब्ल्यू. एल. एच. डकवर्थ (1904) ने इस विज्ञान को अन्य जैविक विज्ञानों के समान ही इसे एक स्वतन्त्र विज्ञान कहा, जिनके अनुसार शारीरिक मानवविज्ञान मूलतः मानव का प्राणिजगत में स्थान, मानव पूर्वज के लक्षणों का तुलनात्मक रचना विज्ञान (Anotamy) एवं भ्रूणवैज्ञानिक विभेदकों (मापकों) के द्वारा खोज करना तथा आन्तरिक एवं बाह्य शारीरिक लक्षणों का अध्ययन करना था।

इंग्लैण्ड के अतिरिक्त अन्य योरोपीय देशों में जब मानविज्ञान की चर्चा होती थी तो सम्पूर्ण विषय शारीरिक मानवविज्ञान ही समझा जाता था। हैडन (1935) ने "।" Anthropology" में मानवविज्ञान की दी गयी परिभाषा को उद्धृत किया है जो टोपीनार्ड ने 1876 में दी थी, वह इस प्रकार है :

"मानवविज्ञान प्राकृतिक इतिहास की वह शाखा है जो मनुष्य एवं मानव प्रजातियों का वर्णन करता है।" (Anthropology is a branch of natural History and deals with man and the races of mankind.")

ब्युटनर-जानुश के मतानुसार शारीरिक मानवविज्ञान मानव उद्विकास एवं मनुष्य तथा उसके निकट वर्ती जीवित प्राणी नरवानरों के मध्य के सम्बन्धों का अध्ययन करता है। इसको दो भागों में विभाजित कर सकते हैं- जीवाश्मिकी एवं जैविकी जिनमें क्रमशः जीवाष्मों एवं जीवित प्राणियों का अध्ययन होता है।......."

ई. ए. हूटन (1930) के अनुसार 'शारीरिक मानवविज्ञान प्राणि जगत में मानव का स्थान, उच्च स्तर के प्राइमेट्स की विशेषताओं, उनका वर्गीकरण, होमोसैपियंस के विकास में लुप्त मानवंशी के जीवाश्म अवशेषों समकालीन मानव समूहों की नस्ल विशेषता एवं मानव की कपालीय विशेषताओं को मानवमिति मापन विधि द्वारा, अध्ययन करता है।

लेकिन उपरोक्त मत शारीरिक मानवविज्ञान के सम्पूर्ण पक्षों का समावेश करने में अक्षम है। इन का दृष्टिकोण सर्वांगीण नही है क्योंकि ये सभी मानव प्रजातियाँ एवं उद्विकास से सम्बन्धित है जो शारीरिक मानवविज्ञान के अध्ययन की परम्परा रही है। बीसवीं शदी के उत्तर्रार्ध के परिवर्तनशील दृष्टिकोण इनमें प्रदर्शित नहीं होते। फ्रेडरिक एस.हल्स (Frederic S. Hulse 1963) ने शारीरिक मानवविज्ञान को परिभाषित करते हुये कहा है कि शारीरिक मानवविज्ञान मानव के जैविक अतीत एवं उसके वर्तमान पक्ष की व्याख्या करने का प्रयास करता है।" "(Physical Anthropology attempts to explain the biological background and biological aspects of mankind)"

इसी प्रकार जी. डब्ल्यू. लास्कर एवं आर. एन. टाइजर ने भी शारीरिक मानवविज्ञान को परिभाषित करने का प्रयास किया है जिनके अनुसार "शारीरिक मानवविज्ञान मानव उद्विकास एवं जैविक विविधताओं का अध्ययन है।" (Physical Anthropology is the study of human evolution and biological variation of man.")। अतः इससे शारीरिक मानवविज्ञान के दो वृहद् क्षेत्र उजागर हो जाते हैं जो आज भी मानवविज्ञान विषय के इस शाखा के केन्द्र-बिन्दु हैं। अध्ययन-दृष्टिकोण अवश्य परिवर्तित हुआ हो, इसके बावजूद भी उपरोक्त परिभाषायें सार्वभौमिक सिद्ध हुई हैं।

टी. एच. हक्सले (1942) के अनुसार "प्रकृति में मानव का स्थान' को समझने के लिये शारीरिक मानवविज्ञान मूलतः मानव उद्विकास की व्याख्या करता है, शारीरिक विवरणों (Phenotypic discription) एवं मानव प्रजातियों के वंशवृक्षीय वर्गीकरण पर, जीवाष्मिक अवशेषों के भ्रूण विज्ञान, तुलनात्मक उच्चस्तनीय रचनाविज्ञान जीवित मानव की मानवमिति आदि प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष साक्ष्यों की सहायता से, कल देता है। इस प्रयास से उद्विकास की प्रक्रियाओं का व्यवस्थित विश्लेषण करने का मार्ग प्रशस्त हुआ और उद्विकास का "नवीन संश्लेषणात्मक सिद्धान्त" आविर्भूत हो सका जो आनुवंशिकी जीवाश्म विज्ञान एवं व्यवस्थाविज्ञान (Systematics) के संयोजन से बनी है। 'नवीन संश्लेषणात्मक सिद्धान्त' ने शारीरिक मानवविज्ञानको अनुकूलन व्यवहार एवं जीवाष्म अभिलेख के मध्य पेचीदे अन्तक्रियाओं प्रतिरूप को समझने को प्रेरित किया। अध्ययन के इस दृष्टिकोण ने पुरातत्व विज्ञान, मानवविज्ञान (Ethnology) एवं भाषाविज्ञान (Linguistics) आदि के मध्य अन्तस्थ कार्यकारी सम्बन्धों को सृजन किया है।

ओटो वॉन मेरिंग एवं ल्योनार्ड कासदान (1969) के अनुसार शारीरिक मानवविज्ञान का "समकालीन

जैविक मानवविज्ञान के रूप में उद्विकास तब हुआ जब इस विज्ञान की विषय वस्तुओं में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ विश्व की मानव जातियों का वाह्य शारीरिक लक्षणों के आधार पर काकेसायड, मंगोलॉयड, एवं नीग्रॉयड प्रजातियों में विभक्त करने में रुचि कम ली जाने लगी। प्राचीन धारणायें जो वर्गीकरण सिद्धान्तों पर आधारित थी उनकी पूर्णतः अवहेलना होने लगी लेकिन कुछ अवधारणाये जैसे आर्थोजिनेसिस (Orthogenesis) यदाकदा पनप रही थी।

शारीरिक मानवविज्ञान के अध्ययन के उद्देश्यों एवं विषय वस्तु को ध्यान में रखते हुए मेरिंग एवं कासदान (1979) ने नवीन शारीरिक मानववैज्ञानिकों के कार्यों को विषय की रूपरेखा माना और इसकी रुचि को निमनांकित शब्दों में चित्रित करना चाहाः

"Biological Anthropologists are now trying to clarify the role of biochemical, genetic, and cultural factors in the development and continuinity of population, rather than social characteristics."

अर्थात् जैविक मानवविज्ञान वर्तमान "जनसंख्या' के विकास एवं निरंतरता में जैवरासायनिक आनुवंशिकी एवं सांस्कृतिक कारकों की भूमिका को स्पष्ट करने में संलग्न है। आजकल यह विज्ञान विभिन्न जनसंख्या भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, वे किस प्रकार इन चुनौतियों को स्वीकारती है इसका जैव-सामाजिक-अनुकूलन का स्वरूप (Pattern) कैसा है, आदि सैद्धान्तिक पहलुओं पर बल अधिक दिया जाता है।

एस. एल. वाशवर्न (1963) के अनुसार "जैविक मानवविज्ञान का मुख्य उद्देश्य मानव उत्पत्ति का अध्ययन करना है और उत्पत्ति की समस्या की वास्तविक समझ का केन्द्र व्यवहार के उद्विकास का अध्ययन है।" इन्होंन जैविक मानवविज्ञान को चार क्षेत्रों में विभक्त करना चाहा : (i) उद्विकास- उच्चस्तनीयों का वृहद् उद्विकास, जीवाश्म विज्ञान, शरीर रचना विज्ञान एवं प्राणिशास्त्र (ii) उच्चस्तनी व्यवहार (iii) जीवाश्म मानव- भूगर्भ विज्ञान एवं पुरातत्व विज्ञान, एवं (iv) प्रजाति एवं जैव-सामाजिक अनुकूलन- आनुवंशिकी, जनसंख्या गतिज, परिस्थितकी, जैवमिति, एवं जैवरासायनिकी।

उपर्युक्त चारों जैविक मानवविज्ञान के क्षेत्रों में कोई भी मानवविज्ञानविद् निष्णात नहीं हो सकता लेकिन इतना अवश्य है कि शारीरिक मानवविज्ञान 'मानव अनुकूलन और व्यवहार' के अधिकाधिक निकटस्थ हैं साथ ही साथ वह अपनी परम्परागत सीमारेखाओं में बंधा नहीं है, उदाहरण के लिये मानव के वैयक्तिक अनुकूलन के अध्ययन के लिये लिये जाने वाले जैवमितिक मापों के साथ साथ मानव वैज्ञानिको की रुचि शारीरिक गठन (आकारिकी), वृद्धि एवं विकास, व्यवहार, पर्यावरण, मानव जीवाष्म एवं अनेकों रोगों से मानव के सम्बन्ध आदि की ओर भी हो गयी। इस प्रकार शारीरिक मानवविज्ञान से सम्बन्धित उपांग संवृद्धि विकास एवं दांतों की रुधिर विज्ञान भी है।

शारीरिक मानवविज्ञान के परिवर्तित अध्ययनरुचि, प्रवृत्तियां, एवं संवर्धित क्षेत्रों के फलस्वरूप इसे "जैविक मानवविज्ञान" भी कहा जाने लगा। यह अन्य शाखाओं की अपेक्षा स्वास्थ्य विज्ञानों एवं जैविक शास्त्रों के समीप अधिक प्रतीत होने लगी। इसकी शोध प्रवृत्तियां भी सम्भावनाओं एवं प्रकल्पनाओं पर आधारित हुआ करती है जिनके आधार पर परिणामों का समान्यीकरण भी सरलता पूर्वक किया जा सकता है। इसके इस प्रवृत्ति से इसकी मानवीय उपयोगिता अन्य व्यवहार विज्ञानों की तरह अधिक बढ़ी। इससे इसकी तकनीक और प्रविधियां में अनोखा परिष्कार ही नहीं हुआ बल्कि कतिपय नवीन शोध उपकरण भी परम्परागत अस्थिभितीय उपकरणों के स्थान पर लाये गये- जैसे- कलरीमीटर (Colorimeter), स्पेक्ट्रोमीटर (Spectrometer), रेडियोग्राफ (Radiograph) आदि। एस. एल. वाशवर्न (1968) के अनुसार निर्माण की प्रक्रिया में में शारीरिक मानव का केन्द्र बिन्दु 'व्यवहार के उद्विकास' को अध्ययन करना हो गया।

चूंकि इस विषय की तकनीकें बदली, प्रविधियों ने नवीन और परिमार्जित रूप ले लिया इस प्रक्रिया ने जितना इसे सम्बद्ध किया, उससे कहीं अधिक इसका सम्बन्ध मानविकी दृष्टिकोण (Humanistic outlook) से हो गया है (Levi-Strauss, 1966)।

एस. एल. वाशवर्न (1966) ने शारीरिक मानवविज्ञान के परिवर्तित रूप को 'नवीन शारीरिक मानवविज्ञान' कहा। कुछ वैज्ञानिकों इसे 'जैविक मानव विज्ञान' कहा इस विवाद से परे होकर यदि शारीरिक मानवविज्ञान की वास्तविकता व वर्तमान सर्वमान्य परिभाषा की जाये तो "इसें उस विज्ञान के रूप में माना जा सकता है जो मानव की उत्पत्ति, उद्विकास, उसका प्रकृति में स्थान, उसकी अनुकूलन प्रतिकृति, संस्कृति, जैविकीय एवं पर्यावरणीय परस्पर अन्तसम्बन्धों के अध्ययनों का संकुल है।

सन् 1966 में चर्चित पुस्तक शारीरिक मानवविज्ञान ('Physical Anthropology') प्रकाशित हुई जिसमें प्रकृति में मानव का स्थान, प्रधान क वर्ग के अध्ययन का महत्व, वैबून एवं आदिमानव का सामाजिक व्यवहार, आनुवंशिकता की अवधारणा, जीवाष्म मानव के अध्ययन का कारण, पारिस्थितकी एवं पूर्वमानव, आनुवंशिकी एवं पूर्व नस्लें, मानव-उत्पत्ति एवं तिथि निर्धारण, एवं मानव का आनुवंशिक भविष्य आदि विषयों पर विचार प्रस्तुत किये गये। इसका सम्पादन शारीरिक मानवविज्ञान वेत्ताओं में अग्रगणी एस.एस. वाशवर्न ने किया। इस सम्पूर्ण ग्रंथ में 'मानव अनुकूलन' विषय पर बल अधिक दिया गया जिसे 'संस्कृति, जैविकी एवं वातावरण' के अन्तर्सम्बन्धों का गुलदस्ता माना जा सकता है।

इस प्रकार अपने बदले हुये स्वरूप के बावजूद भी विकास एवं संरचना में शारीरिक मानवविज्ञान के दो वृहद् क्षेत्र-मानव उद्विकास एवं शारीरिक विविधता रहे। विभेदों के कारकों एवं उसकी सम्भावित आगामी दिशा पर बल अवश्य दिया गया इसमें आनुवंशिक भिन्नता एवं पर्यावरणीय कायान्तरण प्रमुख स्रोत हैं जो परिवूर्तन एवं उद्विकास के स्रोत भी हैं और दिशा नियन्त्रक भी। इसमें समाज एवं संस्कृति के कारकों की भी भूमिका मौलिक है। फलस्वरूप शारीरिक मानवविज्ञान समाज-संस्कृति एवं पर्यावरणीय कारकों के पारस्परिक प्रभावों सम्बन्धित विज्ञान है। इस परिप्रेक्ष्य में एश्ले मांटेगू (1960) ने इस विज्ञान की परिभाषा निम्न शब्दो में दी है :

"Physical Anthropology is a comparative science of man as a physical organism in relation to the total environment, social or cultural as well as physical."

(अर्थात् शारीरिक मानवविज्ञान एक तुलनात्मक विज्ञान है जो मानव के जीवरूप एवं उसके सम्पूर्ण सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौतिक पर्यावरण से सम्बन्धित है।")

उपर्युक्त परिभाषा जो इस शताब्दी के अन्तिम अर्धांश में दी गयी है, यह वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पूर्ण मानी जा सकती है क्योंकि इसमें मनुष्य को पर्यावरण, संस्कृति-समाज एवं जैविकी/शारीरिक (Physical) के केन्द्र में रखकर ही इसे कहा गया है। मनुष्य को शारीरिक जीव (Organism) माना गया है क्योंकि कोई भी जीव अशरीरी नहीं है, वह शरीरी पहले है जिससे वह अपने पर्यावरण से, समाज से, संस्कृति से और अन्य शरीरधारियों से प्रतिक्रिया करता है फलस्वरूप वह उत्तरोत्तर प्रगति करता है जिसका सम्पूर्ण लेखा जोखा एक तुलनात्मक शास्त्र है, जिसे शारीरिक मानवविज्ञान कहा गया है।

इस प्रकार अभी तक कुछ अति विशिष्ट परिभाषाओं की चर्चा की गयी जिनमें कई बातें सामान्य पायी गयी जैसे- मानव की उत्पत्ति एवं उद्विकास। कुछ विद्वानों ने उत्पत्ति के अध्ययन पर अधिक बल दिया। किसी ने वर्तमान मानव समूहों में विद्यमान शारीरिक विभेदों पर अधिक बल दिया, किसी ने तकनीक एवं अध्ययन विधियों पर अधिक बल दिया। लेकिन टोपीनार्ड से लेकर डकवर्थ (1910) तक शारीरिक मानवविज्ञान का निर्माण-काल था, वास्तव में हक्सले (1911) , हूटन (1942) हल्स (1963), लास्कर एवं टाइज़र (1974), एस्ले मांटेगू (63) एवं एस.एल. वाशवर्न (1968) के द्वारा दी गयी परिभाषाओं में निम्न बिन्दु प्रमुख रूप से उजागर होते हैः

(a) मानव और उसकी शारीरिक विशेषता,

(b) मानव की उत्पत्ति एवं उद्विकास,

(c) मानव की प्रकृति में स्थान,

(d) मानव को प्रभावित करने वाले आनुवंशिक, पर्यावर्णिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारक,

(e) समाज-जैविकी एवं पारिस्थिकी,

(f) उद्विकासीय प्रक्रियायें एवं अनुकूलन,

(g) मानव का आनुवंशिक भविष्य।

डी. एफ. रावर्ट्स (1992) ने जैविक मानवविज्ञान की नवीनतम प्रवृत्तियों पर विस्तार से प्रकाश डाला जिसमें इसकी प्रकियात्मक ऊर्जा एवं उपयोगिता पर अधिक बल दिया। उनके अनुसार "The trend of development of physical Anthropology, from its roots in classical time in the works of Alcmeone, Empedocles, Hippocrates, Aristotle and others, through the efforts to apply the principles of natural history to the study of man in the form of palaeontology in the 18th and anthropometry in 19th century with a bias of racial typology, into Biological Anthropology with an emphasis on processes and application, have been traced."

अर्थात् इन्होंने जैविक मानवविज्ञान का अन्य अनेकों विषय की तरह सामान्य एवं अनेकों मौलिक जड़ों (मौलिक विज्ञान) का संगम स्थल से बना हुआ बताया लेकिन इस पर अधिक बल दिया कि यह एक स्वतनत्र विज्ञान के रूप में 1900 ई. तक बन चुकी थी। इसके बाद प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात इसका दृष्टिकोण एकदम परिवर्तित हो गया। शारीरिक मानवविज्ञान अपने अनुभवों का चक्र पूरा कर चुका है। प्राचीन काल में अनुसंधानकर्ता ने अंग प्रत्यंग (मानवशरीर) की मापें लेकर वर्गीकरण परविश्वास करता था। मानव की उत्पत्ति एवं उद्विकास को समझना उसका प्रमुख कार्य था।

ठीक उसी प्रकार आज भी अनुसंधानकर्ता के सामने डी. एन. ए. के असंख्यों खण्डों (DNASections) गुणसूत्रों एवं माईटोकाण्ड्रिया में अध्ययन करना दुष्कर कार्य बना हुआ है उसके लिये नई-नई तकनीकें अन्वेषित की जा रही हैं। इसने शारीरिक मानवविज्ञान के अर्थ को नवीन मोड़ दिया है उसके समक्ष मानव जीनोम का अध्ययन करना महान कार्य है। इसकी उपयोगिता भी अति अधिक है।

आज सम्पूर्ण विश्व की विराट् समस्या है बढ़ती हुई जनसंख्या, स्त्री बांझपन Famine), पर्यावरण-विनाश। ये समस्यायें निस्संदेह रूप से डी.एन.ए. मानचित्रीकरण से एवं उसकी उपयोगिता से सुलझाई जा सकती हैं। मानव का अतीत, वर्तमान एवं स्वर्णिम भविष्य भी सवांरा जा सकता है। इन्ही के शब्दों में:

"In the course of that revolution however it has traversed territories that have given new meaning to Biological Anthropology. The concepts that have emerged appear very relevant to the great biological problems of the world today— overpopulation, famine, environmental destruction. If to these problems the massive efforts of mapping man's DNA and application of its results seem at present somewhat peripheral, the understanding between the word's people, will undoubtedly benefit."

(Roberts, 19991, Jr. Ind. Anth. Society. 26 : 1 & 2. p.7)

***

2

विषय-क्षेत्र एवं अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

विषय क्षेत्र

शारीरिक एवं जैविक मानव विज्ञान का विषय क्षेत्र 1950 के पश्चात् व्यापक हुआ है जिसका उल्लेख इसके पूर्व किया जा चुका है। एस० एल० वाशबर्न के अनुसार मानव-विज्ञान की इस शाखा में प्रमुख चार केन्द्रीय विषय हैं जिन्हें निम्न सारणी से दर्शाया गया है :

Physical/Biological Anthropology

शारीरिक एवं जैविक मानव-विज्ञान

उद्विकास (उच्च स्तनीयों के वृहद् उद्वविकास, जीवाश्म मानव-विज्ञान प्राणि शास्त्र)	उच्चस्तनी व्यवहार (मनोविज्ञान, पारिस्थिकी, प्राकृतिक आवास में प्राणी व्यवहार)	जीवाश्म मानव (भूगर्भ विज्ञान, पुरातत्व विज्ञान)	प्रजाति एवं सामाजिक जैव अनुकूलन (आनुवंशिकी, जनसंख्या गतिज पारिस्थितकी जैवमिति एवं जैव रासायनिकी

शारीरिक एवं जैविक मानव विज्ञान में मूलतः दो प्रकार के प्रश्नों का समूह बनता है। इन संकुलों में प्रथम प्रकार की जिज्ञासायें मानव की उत्पत्ति से सम्बन्धित है जैसे- मानव का अतीत क्या था ? मानव के पूर्वज कौन थे ? यह इस रूप में कैसे बना ? क्या यह इसी रूप में अवतरित हुआ यदि नहीं तो इसके पहले वह क्या था, किन-किन परिस्थितियों में रहा ? ये कब से मनुष्य या मानव कहलाया ? यदि यह जीवित प्राणी है तो प्राणी व जीव क्या है ? जीव पृथ्वी पर कब अस्तित्व में आया। यदि यह विचारशील, विवेकशील प्राणी है तो विवेक और विचार अस्तित्व में कैसे आये ? इस प्रकार कुल मिलाकर इसकी उत्पत्ति एवं उद्विकास से सम्बन्धित असंख्यों प्रश्नों का गुलदस्ता बन जाता है। इसके निदान के लिए मानव वैज्ञानिक दो दिशाओं में अध्ययन करता है एक तो अतीत की परतों को खनन करके उनसे प्राप्त जीवाष्म तथ्यों के आधार पर पूर्व-मानव की खोज करता है जिससे पुराजीवाश्म विज्ञान (Palaeoanthropology or Palaeontology) विकसित हुई। इनमें जिन विधियों का आश्रय लिया गया वे शरीर रचना विज्ञान, अस्थि विज्ञान, भ्रूण विज्ञान, वर्गीकरण विज्ञान, प्राणि विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, पुरातत्व विज्ञान की प्रविधियों के समकक्ष है।

प्राइमेट विज्ञान (Primatology)- विचारों के इसी गुलदस्ते से सम्बन्धित एक ऐसा भी प्रश्नमंच है जिसमें यह जानने की इच्छा व्यक्त की जाती है कि वर्तमान में मानव का निकटस्थ प्राणी कौन है ? जो अतीत के चलचित्रों को प्रमाणित करने में सहायक सिद्ध हो। इसलिए मानव के निकटवर्ती सम्बन्धी की जीवजगत में तलाश हुई तो उच्चस्तनी प्रकाश में आये। इसलिए शारीरिक मानव विज्ञान में उच्चस्तनी सदस्यों (Primate) का स्थान अकाट्य है। उच्चस्तनियों के उद्विकास का अध्ययन करके मानव-उद्विकास को समझाने में सहायता मिल सकती है। इसलिए उच्चस्तनीविज्ञान (Primatology) का जन्म हुआ। मानव व्यवहार (Human Behaviour) का उद्विकास को समझने हेतु समाजजैविकी को समझना आवश्यक है जिसे समझने के पश्चात् ही उच्चस्तनी व्यवहार (Primate Behaviour) अथवा प्राणि-व्यवहार (Animal Behaviour) को समझना सरल होगा। फलस्वरूप समाज जैविकी (Socio-biology) एवं व्यवहार विज्ञान (Ethology) का जन्म हुआ।

इस प्रकार के अध्ययन कतिपय साहसी जैविक मानववैज्ञानिकों ने किये, जो अफ्रीका, मलाया एवं वोर्नियों के सघन वनों में रहकर विभिन्न प्रकार के कपियों (Apes), एवं वानरों (Monkeys) की स्वच्छद व वनवासी जीवन शैली से सम्बन्धित है। रोचक बात यह है कि इन अध्ययनों के परिणामों का मानव सन्दर्भ में प्रस्तुत करने का अनूठा प्रयास किया गया है। इस प्रकार के मानवसम प्राणियों की दिनचर्याओं एवं व्यवहार संकेतों के अध्ययन ने इनकी सामाजिक पृष्ठभूमि का बोध कराया जो वर्तमान मानव समाज का आदिम स्वरूप है। अतः उच्चस्तनी व्यवहारों के अध्ययन से शारीरिक एवं जैविक मानव-विज्ञान का क्षेत्र और भी समृद्ध एवं व्यापक हुआ है जिसमें अनुसंधान की पर्याप्त सम्भावनायें हैं।

प्रजाति विज्ञान (Raciology)- प्रश्नों का द्वितीय झुरमुट मानव की वर्तमान प्रजातियों से सम्बन्धित है कि मानव की जैविक विशेषता क्या है। मानवजातियाँ भिन्न-भिन्न क्यों है ? यह विविधता इतनी व्यापक क्यों है ? प्रत्येक मनुष्य दूसरे से भिन्न दिखाई पड़ता है अपने शारीरिक गठन में और जैविक रचना में दूसरे व्यक्ति के पूर्णतः समकक्ष नहीं दिखाई पड़ता (जुड़वे बच्चों को छोड़कर) । ये भिन्नतायें समूह स्तर पर, जनसंख्या स्तर पर और अधिक हो जाती है । वृहद जनसंख्या स्तर पर प्राकृतिक जनसंख्या स्तर पर, राष्ट्रीय जनसंख्या स्तर पर, भौगोलिक जनसंख्या स्तर वृहद रूप ले लेती है । ऐसा क्यों हैं ? दूसरी ओर पीढ़ी दर पीढ़ी ये विविधतायें भी बढ़ती हैं। अर्थात् विविधतायें क्षैतिज स्तर पर भी बढ़ती है और ऊर्ध्वरेखीय भी देखी जाती है। क्षैतिजक (Transverse) विविधता की वृद्धि करने वाले समाज-संस्कृति एवं पर्यावरण प्रमुख कारक हैं। दूसरी ओर ऊर्ध्वगामी (Longitudinal) विविधतायें आनुवंशिक है जिनके प्रमुख श्रोत उत्परिवर्तन (Mutation), अवियोजन (Gene-recombination), क्रांसिंग ओवर आदि हैं। कुल मिलकार उदि्वकाससीय प्रक्रियायें- प्राकृतिक वरण, अपसरण (Genetic-drift), प्रवसन (Migration), जीन प्रवाह (Gene flow), प्रजत्रिक प्रथक्करण (Isolation), उत्परिवर्तन (Mutation), आदि इन परिवर्तनों की अभिकर्ता हैं।

शरीर विज्ञान एवं मानवमिति (Somatology & Anthropometry)- समस्त शारीरिक विभेद प्रमुखतः दो प्रकार के हैं, दैहिक (Somatic or morphological) एवं आनुवांशिक (Genetic)। चूंकि इन शारीरिक लक्षणों के आधार पर मानव नस्लों का अध्ययन होता रहा। केवल वाह्य शारीरिक मापों एवं मानवीक्षी (Somatoscopy) के आधार पर सम्पूर्ण विश्व के मानव समुदाय को कुछ प्रमुख प्रजातियों में विभक्त कर दिया गया, जिससे प्रजाति विज्ञान (Raciology), देह विज्ञान (Somatology) आदि विज्ञानों का जन्म हुआ। 19वीं शदीं का प्रमुख शोध उपकरण कपालामिति (Craniometry) विकसित हुई जो कालान्तर में मानवमित्ति (Anthropometry) के अंग के रूप में से जानी गयी। अध्ययन को इकाई प्रजाति (Race) के स्थान पर जनसंख्या हो गयी। इससे जनसंख्या (Population) के सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक व पर्यावर्णिक लक्षणों का अध्ययन आरम्भ हुआ, इससे जनसंख्या विज्ञान (Biodemography or genetic demography) विकसित हुई।

मानव आनुवंशिकी (Human Genetice)- विभेदों के अध्ययन की श्रृंखला मे मानव आनुवंशिकी शारीरिक/जैविक मानव-विज्ञान का प्रमुख क्षेत्र बन गयी। जैविक विभेदों को आनुवांशिक आवृत्तियों की भाषा में समझा जाने लगा। हार्डी-विनबर्ग सिद्धान्त (Hardy-Weinberg Law) के प्रतिपादन से जनसंख्या आनुवंशिकी (Population Genetics) का जन्म हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् आनुवंशिकी में पुनः प्रगति हुई और यह पारिस्थितिकी (Ecology), शरीर क्रिया विज्ञान (Physiology), पोषण विज्ञान (Nutrition), एवं जनसंख्या विज्ञान (Demography) आदि विषयों के सम्पर्क में आई जिससे मानव अनुकूलन इसके प्रमुख क्षेत्र के रूप में विकसित हुआ।

रुधिरवर्ग ABO, Rh आदि आनुवंशिक विभेदों के केन्द्र में माने गये, जिनके आधार पर सम्पूर्ण विश्व की मानव जातियाँ वर्गीकृत की गयी। इससे व्याधि विज्ञान (Pathologosy) एवं सीरम विज्ञान (Serology) के सम्पर्क में इस विज्ञान को जाना पड़ा। 'सीरम विज्ञान' तो इसका अभिन्न अंग बन गया। इसके पश्चात् रुधिर में स्थित प्रोटीन, एन्जाइमस (उत्प्रेरक), प्रतिरोधात्मक आनुवंशिक विभेद जैसे जैव-रासायनिक लक्षणों के आधार पर जनसंख्या अध्ययन आरम्भ हुआ और जैव रासायनिक आनुवंशिकी (Biochemical Genetics) का विकास हुआ।

आनुवंशिक अध्ययनों को महत्वपूर्ण स्थान मिलने के कारण जनसंख्या आनुवंशिकी (Population Genetics) और समृद्ध हो गयी। सम्पूर्ण विश्व की जनसंख्याओं का आनुवंशिक मानचित्र का निर्माण करके जनसंख्याओं के पारस्परिक सम्बन्धों को जानने का प्रयास किया गया। आनुवंशिकी एवं पर्यावरण में अन्तक्रियाओं को समझने की चेष्टा की गयी और जीव-प्रवसन (Gene-migration) को सांस्कृतिक तत्वों के प्रसार के समकक्ष रखने की चेष्टा की जाने लगी। जीनी रचना (Genetic constitution) अवधारणा के स्थान पर जीनी संरचना (Genetic structure) अवधारणा ने ले लिया। इस प्रकार अनेकों आनुवंशिक अवधारणाओं ने जनसंख्या आनुवंशिकी की व्यापकता को सिद्ध किया।

मानव आनुवंशिकी में सर्वाधिक नवीन अनुसंधान आणविक (Molecular) स्तर पर होने वाले अध्ययन हैं जिसमें डी० एन० ए० जो आनुवंशिक अणु है उसके आधार पर मानव जनसंख्याओं को और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को विधिवत् समझा जा सकता है। डी० एन० ए० (कोशिकाओं एवं माइटोंकाड्रिया) के क्षार-खण्डों (Base pairs) के आकार एवं प्रकार के अध्ययन से वर्तमान एक मानव जनसंख्या के दूसरे से भिन्न होने की तिथि का अनुमान लगाया जा सकता है इसी प्रकार मानव स्पीसीज, जेनरा, परिवार आदि के अलग होने का अनुमान वैसे ही किया जा सकता है जैसे प्रोटीन की रचना के आधार पर अनुमान तिथियाँ प्रकाश में आयी थी। अतः वर्तमान समय में शारीरिक एवं जैविक मानवविज्ञान में डी० एन० ए० तकनीक मुख्य आकर्षण का केन्द्र हैं जिसकी उपयोगिता अति व्यापक है।

त्वचीय रेखा विज्ञान (Dermatoglyhhics)- त्वचीय रेखा प्रतिरूप विज्ञान का भी मानव समूहों के अध्ययन में प्रमुख स्थान है। यह बीसवीं शदी के आरम्भ से लेकर आज तक मानव विभेद को में अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए हैं। कालान्तर में इसकी तीन उपशाखायें विकसित हुई-अगुंलि त्वचीय रेखा प्रारूप विज्ञान (Finger Dermatoghphics), हथेली त्वचीय रेखा प्रारूप विज्ञान (Palmar Dermatoglyphies) एवं तलवा त्वचीय रेखा प्रारूप विज्ञान (Planter or Sole Dermotoglyphics)। इनमें अनेकों लक्षणों की बारम्बारता का विभिन्न समुदायों में पता लगाया गया तथा जनसंख्यीय अन्तर्सम्बन्धों का अनुमान लगाया गया। इसके अतिरिक्त इसकी उपयोगिता अपराध विज्ञान (Forensic Science), चिकित्सा शास्त्रों (Medical or clinical Sciences) में भी आँकी गयी।

उक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त शारीरिक एवं जैविक मानव विज्ञानके अन्य उपयोगी क्षेत्र भी प्रकाश में आये है जैसे दंत-मानव विज्ञान (Dental-Anthroplogy), बायोटाइपोलाजी (Biotypology), शारीरिक विकास एवं समृद्धि (Physocal growth and development), बाल-विकास (Child Development), व्यावसायिक मानवमिति (Occupational Anth ropometry), वैयक्तिक क्षमता विज्ञान (Ergonomics : प्रकार्यात्मक रचना विज्ञान, शरीर-क्रियाविधि, क्रियाविज्ञान, मानवमिति एवं मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के सम्मेलन से आविभूर्त विज्ञान है), चिकित्सामानवविज्ञान (Medical Anthropology), अपराध मानवविज्ञान (Forensic Anthropology), सामुदायिक स्वास्थ्य एवं पर्यावरण बचाव, आनुवंशिक परामर्श (Genetic counselling), पितृत्व निर्धारण (Paternity determination), चिकित्सा विधिक उपयोगितायें (Medico-Legal Applications), जीनी इंजीनियरिंग (Genetic engeneering), जीनी चिकित्सा (gene theraphy), खेल-कूद मानव-

विज्ञान (Sports Anthropology) आदि। इन नवीन क्षेत्रों के विकास से मानव-विज्ञान अन्य शास्त्रों की तुलना में बहुआयामी एवं अत्यन्त उपयोगी विज्ञान के रूप में उभरा है।

जैव-शारीरिक मानवविज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

(The relation of Bio-Physical Anthropology with other Science)

किसी भी विज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध स्थापित करने के पूर्व हम सभी मानवविज्ञान के पिपासुओं को आत्मबोध करना अनिवार्य है। हम अपनी तुलना अन्य से विधिवत तभी कर सकते है जब स्वयं आत्मज्ञान हो। इसके पूर्व तक का वर्णन इस विज्ञान के विकास, स्वरूप, क्षेत्र एवं संरचना से सम्बन्धित रहा है। यहाँ अन्य विज्ञानों के साथ इसका यथोचित सम्बन्ध क्या हो सकता इसका वर्णन किया जायेगा। लेकिन इसके पूर्व मानवविज्ञान की अध्ययन शैली एवं उसकी विलक्षणता की चर्चा कर लेना भी आवश्यक होगा।

मानवविज्ञान अन्य विज्ञानों की अपेक्षा विशिष्ट एवं पृथक है। इसके अनुसंधानों की प्रवृत्तियाँ निम्न हैं-

1. यह सम्पूर्णता एवं **समग्रता** का दृष्टिकोण (Holistic approach) आत्मसात किये है। सरल शब्दों में समस्त सन्दर्भों के अन्तर्गत मानव का अध्ययन करना इसका मूल विषय हैं। उदाहरण के लिए- यदि 'मानव उद्विक्कास की प्रक्रिया' का किसी जनसंख्या में अध्ययन करना है तो विहंगम दृष्टिकोण रखना आवश्यक है और इस जनसंख्या का सम्पूर्ण नृवृत्तान्त (Ethnographic accounts), पूर्व साहित्य, जनसांख्यिक आंकड़े, वैवाहिक संरचना, भौगोलिक स्थित, पर्यावर्णिक विशेषता, मिट्टी, जलवायु, जीव जन्तु एवं वनस्पति, ऐतिहासिक प्रमुख घटनायें आदि के सन्दर्भ में सम्पूर्ण उद्विकासीय प्रक्रियाओं की व्याख्या करना होता है। ऐसा इस कारण से किया जाता है क्योंकि मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज एवं जनसंख्या के चारों ओर का चित्र जानना आवश्यक है क्योंकि मनुष्य का आवरण समाज है, परिवेश है, परिस्थितिकी है। ये सभी परस्पर सम्बद्ध है। बिना इसे समझे उस जनसंख्या में रहने वाले लोगों पर क्रियाशील उद्विकासीय प्रक्रियाओं अथवा वलों का अध्ययन नहीं हो सकता।

2. जैविक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण मानवविज्ञान की विशेषता है। इसमें मानव जैविकी एवं मानव संस्कृति दोनों पर समान जोर दिया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि मानव की जैविक विशेषता का अध्ययन तभी किया जा सकता है जब उसे सामाजिक सांस्कृतिक प्राणी स्वीकारा जाये।

3. इसके शोधकार्यों में तथ्यों की प्राप्ति **क्षेत्रकार्य** (Field work) से की जाती है। अर्थात् अध्ययन हेतु शोध-सामग्री या तो मानव समूहों अथवा जनसंख्या के अवास-स्थल से, या जीवित उच्चस्तनियों के प्राकृतिक आवास से, या उत्खनन से प्राप्त जीवाश्मों के स्थान से एकत्रित की जाती है। तदोपरान्त अनिवार्य प्रयोग चल क्षेत्र प्रयोगशालाओं (Mobile field laboratory) में शेष समस्त प्रयोग सम्पन्न किये जाते हैं। जैववासिकी (Ethological), चिकित्सा-मानववैज्ञानिक (Medical Anthropological), आनुवंशिक जनसंख्याविज्ञान (Genetic demographic) आदि अध्ययन क्षेत्र (Study field) विनिर्मित प्रश्नावली अनुसूचियों में सम्मिलित किये जाते हैं तदोपरान्त उनका विश्लेषण किया जाता है।

4. शारीरिक एवं जैविक मानव-विज्ञान का दृष्टिकोण **तुलनात्मक** (Comparative) है। यह तुलना सर्वप्रथम समूह के अन्तर्गत सूक्ष्म समूह (Microgroups or wealgroups) में की जाती है, फिर अन्तर समूहों (Intergroup), अन्तर-जनसंख्या (Inter population), अन्तर-पीढ़ी (Inter-generation) आदि स्तरों पर की जाती है।उस विशिष्ट समूह के अन्य से अन्तर जैविक सम्बन्ध ज्ञात किये जाते है या उद्विकासीय प्रक्रियाओं का क्रिया-दर का शोध किया जाता है।

5. परिवर्तन की भाँति विविधता प्रकृति का नियम है। दोनों ही शाश्वत् है और सत्य भी। ये उद्विकास के कारक हैं एवं संकेतक भी। यदि पारस्परिक सामान्य विविधता वैयक्तिक स्तर पर सूक्ष्म रूप से परिलक्षित होती है तो इसका समग्र स्वरूप जनसंख्या स्तर पर, प्रजाति (Species) परिवार (Family) जेनरा (Genera) आदि स्तरों पर देखा जाता है। फलस्वरूप **जनसंख्या** (Population) या **मानव-समूह** (Human groups) को इस विज्ञान की अध्ययन इकाई माना जाता है।

6. **मानव** (Anthropos) इसका अध्ययन बिन्दु है जिसके समझने हेतु इससे भिन्न प्राणियों का भी अध्ययन किया जाता है।

अतः उपरोक्त विलक्षणताओं, इस विषय का उद्देश्य, विषयवस्तु आदि के आधार पर इसका अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध ज्ञात करना सरल एवं सहज है। जब हम अन्य विज्ञानों का उल्लेख करते है तो यहाँ वही विज्ञान स्मरणीय हैं जिनकी विषयवस्तु या उनके उद्देश्यों से हमारा मेल खाता हो। अतः हम यहाँ पर समस्त प्रकृति-विज्ञानों (Natural Sciences), व्यवहार विज्ञानों (Behavioural Sciences), समाज-विज्ञानों (Social Sciences) के उल्लेख से मुक्त है। हमारे विषय की विषय-वस्तु के समान कतिपय जैविक विज्ञानों (Biological Sciences) एवं चिकित्सा-विज्ञानों (Medical Sciences) के विषय ही हैं। जिसका क्रमशः उल्लेक हम यहाँ पर करेंगे।

जैविक विज्ञानों से सम्बन्ध
(Relation with Biological Sciences)

जीव विज्ञान (Life science) दो प्रमुख विषयों का संयुक्त रूप है : वनस्पतिशास्त्र (Botany) एवं प्राणि विज्ञान (Zoology)। वर्तमान समय में इसकी अन्य शाखायें भी स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में पहचानी जाने लगी है जैसे- आनुवंशिकी (Genetics) सूक्ष्म जैविकी (Microbiology)। रसायन विज्ञान के सम्पर्क में आने से एक नवीन स्वतन्त्र विज्ञान ने जन्म लिया, जिसको जैव-रासायनिकी (Biochemistry) के नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार वर्तमान में मानव जैविकी (Human Biology) एवं मानव आनुवंशिकी (Human Genetics) विषय भी स्वतन्त्र अस्तित्व रखने लगे है। इन समस्त जीव विज्ञानों (Life Sciences) में मानव जैविकी एवं मानव आनुवंशिकी तो शारीरिक-जैविक मानवविज्ञान के ही विषय क्षेत्र है अथवा इसकी उपशाखायें है।

वनस्पति विज्ञान में सूक्ष्म जीवों (जीवाणु, विषाणु आदि), सूक्ष्म जीवों से उत्पन्न होने वाले विभिन्न रोगों, शैवाल (Algae), कवक (Fungi), लकड़ी (Wood), पौधे (Plants), वनस्पति (Vegetation), कोशिका (Cell), जीन्स (Genes), उद्विकास, जैव रसायन, पारिस्थिकी (Ecology), मानव उपोयगी पौधे, वनस्पतियों आदि का अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन एवं विलुप्त वनस्पतियों का अध्ययन भी पुरावनस्पति शास्त्र (Palaeo-Botony) के अन्तर्गत किया जाता है। वनस्पतिविज्ञान वेत्ता का मूल उद्देश्य वनस्पतियों की उत्पत्ति, विकास संरचना का अध्ययन करना है। वह यह भी अध्ययन करता है कि जन्तु जगत तथा सूक्ष्म जीवों से ये वनस्पतिया कैसे प्रभावित होती है। इन्हें विलुप्त होने से कैसे बचाया जाये। वनस्पतियों के विलुप्त होने के कौन-से कारक है आदि। दूसरी ओर शारीरिक-जैविक मानव विज्ञान वेत्ता वनस्पतियों का अध्ययन प्रत्यक्ष रूप से नहीं करता। वह वनस्पतियों सम्बन्धी ज्ञान की उपयोगिता से सम्बन्ध अवश्य रखता है, जैसे- वह कौन से पौधे है जो मानव जनसंख्या से सीधे सम्बद्ध है। मानव उपोयगी पौधों का लेखा जोखा वह अवश्य तैयार करना चाहता है। साथ ही साथ वानस्पतिक प्रभावों का अध्ययन वह अप्रत्यक्ष रूप से करना चाहता है। इसकी सहायता से भू-गर्भ में छिपे हुए मानव जीवाश्मों की तिथि निर्धारण करता है। कुछ विषय क्षेत्र जैसे- कोशिका (Cell), जीन्स (Genes), जैव रसायन, पारिस्थितकी,

उदि्वकास आदि एक दूसरे के समकक्ष है। इसके बावजूद भी दोनों विषयों के उद्देश्य, विषय-वस्तु, अध्ययन दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न है क्योंकि शारीरिक-जैविक मानववेत्ता का अध्ययनबिन्दु मानव है न कि वनस्पति।

जन्तु विज्ञान में कोशिका (Cell), जैव रसायन, जन्तु जगत, (सूक्ष्म एवं वृहद् दोनों), तुलनात्मक रचना विज्ञान, भ्रूणविज्ञान, क्रिया विज्ञान, उदि्वकास, जीवन उत्पत्ति, पारिस्थितकी, आनुवंशिकी आदि का अध्ययन किया जाता है जिसका मूल उद्देश्य जन्तुओं का वैज्ञानिक पद्धति द्वारा अध्ययन करना है जिससे जन्तु जगत की उत्पत्ति, उदि्वकास एवं विभिन्न जन्तुओं की जैविक संरचना का बोध होता है। जन्तु वैज्ञानिक जन्तुओं का वर्गीकरण द्विनामी पद्धति (Binomial method) से करता है। पहला शब्द वंश को दूसरा जाति को निरूपित करता है। पहला अक्षर वंश के नाम का सदैव बड़े से तथा दूसरा जाति के नाम का अक्षर सदैव छोटे से लिखा जाता है इस पद्धति को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त है जैसे- प्रोटोजोवा (Protozoa) 'प्रथम जन्तु' (Protos - प्रथम, Zoon - जन्तु) शेर- फिलिस लियो (Flis Leo) आदि। जन्तुवैज्ञानिक का दृष्टिकोण भी तुलनात्मक होता है लेकिन बह जब किसी जन्तु का अध्ययन कर रहा होता है तो उसके किसी एक सदस्य का चुनाव कर लेता है और उसकी तुलना अन्य वंश एवं जाति (Species) को करने की चेष्टा करता है। वह मानव को विशेष महत्व नहीं देता उसके समस्त जन्तुजगत के सदस्य समान हैं। दूसरी ओर शारीरिक-जैविक मानवविज्ञान जन्तुविज्ञान की भाँति सम्पूर्ण जन्तु जगत का प्रत्यक्ष अध्ययन करने की चेष्टा तो नहीं करता लेकिन अपरोक्ष रूप से इसे अवलोक्ति करना चाहता है। वह सूक्ष्म एवं वृहद दोनों विधियों से सिंहावलोकन करता है। सम्पूर्ण जन्तु-जगत में मानव के स्थान को सुनिश्चित करने का प्रयास करता है। उच्चस्तनियों, मानवसम-वानरों, कपियों का प्रत्यक्ष अध्ययन भी करता है।व्यवहार के उदि्वकास को उजागर करने की चेष्टा करता है और मानव उदि्वकासीय प्रवित्तियों को समझने का प्रयास करता है। दोनों विषयों के कई अध्ययन क्षेत्र समान भी है जैसे- जैव उदि्वकास, प्राणिकोशिका, आनुवंशिकी आदि। इन समानताओं के बावजूद दोनों विषयों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। शारीरिक जैविक मानववैज्ञानिक 'मानव' को केन्द्र में रखकर ही आनुवंशिकी, जैविकी, पर्यावरण, समाज-संस्कृति के अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन करता है। वह किसी एक जन्तु या एक मनुष्य का न तो अध्ययन करता है और नहीं उसकी अन्य जन्तुओं से तुलना करता है। वह 'मनुष्य' को एक सामाजिक प्राणी समझकर अध्ययन करता है। वह संस्कृति के बगैर मनुष्य के स्वरूप को नहीं मानता। उसका अध्ययन दृष्टिकोण समग्रता द्योतक (Holistic) है। उसकी अध्ययन की इकाई एक जन्तु या व्यक्ति न होकर के 'जनसंख्या' या 'समूह' (Group) है। वह अन्य वंश (Genera) या जाति (Spicies) से मनुष्य की तुलना करता भी है तो उसके सम्पूर्ण 'समूह' के सन्दर्भ में। वह मानव उदि्वकास मानव जविकी अथवा आनुवंशिकी का अध्ययंन उसके लिये अपर्याप्त है।

इस प्रकार जन्तुविज्ञान एवं शारीरिक जैविक मानव-विज्ञान की विषयवस्तु में पर्याप्त समानता होने से दोनों विषय अति निकट प्रतीत होते हैं। दोनों विषयों का अध्ययन दृष्टिकोण भी तुलनात्मक है तथापि उद्देश्य, मौलिक-क्षेत्र, मौलिक दृष्टिकोण दोनों विषयों को भिन्नता प्रदान करता है।

जैव-रासायनिकी (Biochemestry) में समस्त जैव रसायनों जैसे- आक्सीजन, कार्बन, वसा, लिपिड, कार्बोहाइड्रेड्स खनिज तत्वों और इनसे बने हुए प्रोटीन उत्प्रेरक न्यूक्लिक एसिड, डी० एन० ए०, आर० एन० ए० का आणविक अध्ययन किया जाता है। लेकिन अध्ययन की इकाई सूक्ष्म जीव, जन्तु होती हैं। दूसरी ओर शारीरिक-जैविक मानववेत्ता जैव रासायनिक तत्वों के आधार पर मानव जनसंख्या का अध्ययन करने की चेष्टा करता है।

इसी प्रकार वर्तमान **मानव जैविकी** (Human Biology) की विषयवस्तु शारीरिक जैविक मानव-विज्ञान की विषयवस्तु के लगभग मानव उदि्वकास, मानव अनुकूलन, मानव जीवाष्म, शारीरिक

विभेद पारिस्थितकी आदि को अधिक बल दिया जाता है। मानव जैविकी में तुलनात्मक अध्ययन की इतनी अधिक मान्यता नहीं है जब कि इसके समकक्ष शारीरिक-जैविकमानवविज्ञान इसके बिना जीवित नहीं माना जा सकता यह उसकी विलक्षणता है। मानव जैविकी में मनुष्य के वर्तमान जैविक (शारीरिक एवं आनुवंशिकी) संरचना, शारीरिक विकास एवं सवृद्धि, आहार एवं पोषण आदि बिन्दुओं पर अधिक बल दिया जाता है जबकि शारीरिक मानवविज्ञान में इन विषयों के अतिरिक्त मानव उद्‌विकास, अनुकूलन, मानव जीवाश्म, शारीरिक विभेद, परिस्थितिकी आदि को अधिक बल दिया जाता है। मानव जैविकी में तुलनात्मक अध्ययन की मान्यता नहीं है, जब कि दूसरी ओर शारीरिक मानव विज्ञान में यह दृष्टिकोण एक विलक्षणता है।मानव जैविकी में व्यक्ति (Individual) अध्ययन की इकाई है जबकि दूसरी ओर शारीरिक-जैविक मानवविज्ञान में जनसंख्या (Population) अध्ययन की इकाई है। मानव जैविकीविद (Human Bilologist) की शोध-प्रवृत्तियाँ शारीरिक मानववेत्ता से भिन्न हैं, लेकिन उद्देश्य एवं विषय-वस्तु दोनों विशेषताओं में पर्याप्त निकटता ले आते हैं। यदि वृहद् दृष्टिकोण से दोनों विषयों की तुलना की जाये तो मानव जैविकी मानव का अध्ययन न तो 'जनसंख्या' स्तर पर करता है, न ही इनकी तुलना करके वर्तमान मानव समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों का बोध करने की चेष्टा करता है, और न ही अतीत के प्रथम मानव की खोज करने में विश्वास करता है।

चिकित्सा-विज्ञानों से सम्बन्ध

(Relation with Medical Sciences)

आयुर्विज्ञान (Medical Science) के अन्तर्गत मानव शरीररचनाविज्ञान (Human Physiology), जैव-रासायनिकी (Bio-chemestry), रोग-विज्ञान (Pathalogy), सूक्ष्म-जैविकी (Microbiology), फार्माकोलॉजी (Pharmcololgy), अपराध चिकित्सा (Forensic Medicine), संगठनात्मक चिकित्सा (Constitutional Medicine), शल्यचिकित्सा विज्ञान (General Surgery), बचाव एवं सामाजिक चिकित्सा (preventive & Social Medicine), दंत विज्ञान (Dentistry or Oral Medicine) आदि विषय हैं। इनमें कुछ विषय तो शारीरिक- जैविक मानवविज्ञान के सानिध्य में प्रत्यक्ष रूप से हैं जैसे- मानव शरीर रचना विज्ञान, मानवशरीर क्रिया, जैव रासायनिकी, अपराध चिकित्सा, बचाव एवं सामाजिक चिकित्सा, मनोचिकित्सा एवं संगठनात्मक चिकित्सा आदि। स्वास्थ्य विज्ञानों (Health Sciences) से मानव विज्ञान के सम्बन्धों पर मेरिंग एवं कासदान (Mering & Kasdan, 1970) ने विस्तृत उल्लेख किया है।

मेधावी मानव (Homo Sapiens) की जैविक संरचना के अन्तर्गत अस्थियों, रुधिर, कोशिका, गुणसूत्र, अंगुलि हथेली, पदांगुष्ठ एवं तलवों की छापें आदि जैविक तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। उपरोक्त जैविक एवं शारीरिक विलक्षणताओं से सम्बन्धित तथ्यों का चिकित्सा एवं स्वास्थ्य विज्ञानों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। उदाहरण स्वरूप-रुधिर देय प्रक्रिया, अंगुलि छापों का अपराध विज्ञान में महत्व आदि। रुधिर समूहों एवं अन्य जैव रासायनिक तथ्यों का अध्ययन मानव-विज्ञान की भाँति आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में भी उपयोगी है।

मानव शरीररचना विज्ञान (Human Anatomy) के अन्तर्गत मनुष्य के शरीर का संरचनात्मक अस्थि तन्त्र, रुधिर परिसंचरण, अस्थि-संधि तन्त्र, विभित्र शारीरिक अंगों, उपांगों की रचना, केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र तथा अन्य सूक्ष्म तन्त्रों का अध्ययन किया जाता है। मानव-विज्ञान में भी इन विषय क्षेत्रों का अध्ययन किया जाता है लेकिन मानव-विज्ञानवेत्ता किसी अध्ययन को एक व्यक्ति तक सीमित नहीं रखता। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है। वह मानक व्यक्ति को अध्ययन की इकाई न मानकर एक समूह अथवा जनसंख्या को अध्ययन की इकाई स्वीकारता है लेकिन शरीर-रचना अंगों के आकार, उस की आकृति, भार,

शरीर में उसकी स्थिति, अन्य अंगों से उसका सम्बन्ध तथा उसकी विस्तृत बनावट का वर्णन किया जाता है, जिन तथ्यों के आधार पर मानवविज्ञान में उच्चस्तनियों, कपियों मेधावी मानव आदि की उद्विकासीय प्रवृत्तियों का शोध किया जाता है। उद्विकासीय अध्ययनों में तुलनात्मक शरीर रचना को आधार मानकर उद्विकासीय सम्बन्धों का अनुमान लगाया जाता है। समधार्मित्त (Homologous) समवृत्ति (Analdgous) अंगों के आधार पर उद्विकास का अनुमान लगाया जाता है जैसे– मानव का हाथ, चमगादड़ (Bat) के पैर, बिल्ली के अगले पंजे ये सभी अपने प्रकार्य में पंचांगुलि (Pentadactyle) संरचनायें है। इसके अतिरिक्त अवशेषी अंग भी उद्विकास के प्रमाण हैं। अतः शरीररचनाविज्ञान का शारीरिकमानवविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

शरीरक्रियाविज्ञान (Human Physiology) के अन्तर्गत शरीर के विभिन्न अवयवों की कार्यप्रणाली का अध्ययन किया जाता है। इस विज्ञान में मनुष्य के शरीर के भिन्न–भिन्न कार्यों और उन कार्यों के कारणों के साथ–साथ सम्बन्धित चिकित्सा शास्त्र के नियमों का ज्ञान होता है। नवीन शारीरिक मानव–विज्ञान अथवा शारीरिक–जैविक मानवविज्ञान में शरीर क्रियात्मक तथ्यों का अध्ययन होता है। शरीर क्षमता विज्ञान (Ergonomics) जो शारीरिक–जैविक मानव विज्ञान की नवीन अवधारणा है शरीर क्रियाविज्ञान के सिद्धान्तों का महत्वपूर्ण अंश है। शरीर मानववेत्ता पर्यावरणीय क्रिया विज्ञान (Ennronomintal Physiology) कार्य क्रिया–विज्ञान (Work Physiology), सम्बन्धी एवं अध्ययनों शरीर–क्रियात्मक सर्वेक्षण (Physiological surveys) के आधार पर मानव अनुकूलन (Human Adaptation) का अनुमान लगाता है। इसी प्रकार जन्तुओं के शारीरिक व्यवहारों का अध्ययन उद्विकासीय रूपान्तरण के पक्ष में अनेक साक्ष्य प्रस्तुत करता है जैसे– शिशु के हाथ की पकड़ हमें उसके वृक्षीय प ूर्वजों की सम्भावना की ओर इंगित करती है, प्रत्येक बच्चा विकास के दौरान चतुष्पदीय स्थिति से गुजरता है आदि। अतः दोनों विषयों की विषयवस्तुओं में समानता परिलक्षित होती है लेकिन अध्ययन दृष्टिकोण, उद्देश्य दोनों विषयों के भिन्न–भिन्न है।

रोगलक्षणविज्ञान (Pathalogy) के अन्तर्गत यह ज्ञात किया जाता है कि भिन्न–भिन्न रोगों में भिन्न–भिन्न अवयवों की असली बनावट एवं कार्यों में क्या अन्तर आता है। यह ज्ञान रोग को भली–भाँति समझने एवं चिकित्सा करने में सहायक होता है। इस प्रकार रोग के परिणामस्वरूप शरीर में होने वाले सूक्ष्मदर्शी और आँख से दिखाई देने वाले स्थूल परिवर्तन का अध्ययन रोग लक्षणविज्ञान में होता है जो मानवविज्ञान से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है क्योंकि रोग का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति, जनसंख्या, समूह आदि से होता है, जिसका अप्रत्यक्ष प्रभाव जनसंख्या की क्षमता एवं विकास पर पड़ता है। यह उद्विकास से भी सीधा सम्बन्धित है। जनसंख्या विज्ञानी अध्ययनों में रोग संरचना (Morbidity) का अध्ययन होता है। रोगलक्षणविज्ञान के अध्ययनों मानव समाज, संस्कृति, जनसंख्या की भविष्य की सम्भावनाओं एवं अनुकूलन का अनुमान लगाया जा सकता है। उद्विकासीय प्रवृत्तियों का भी अनुमान लगाया जा सकता है क्योंकि जो जन्तु निकट का सम्बन्ध रखते हैं उनमें एक ही प्रकार के रोग प्रायः देखे जाते हैं। अतः ये दोनों विषय भी पूर्व की भाँति घनिष्ठता रखते हैं लेकिन साथ–साथ विविधता भी रखते हैं जब इनकी प्राथमिकतायें, उद्देश्य, प्रवृत्तियाँ एवं दृष्टिकोण का प्रेक्षण किया जाता है।

सूक्ष्मजैविकी (Microbiology) एवं फार्माकोलॉजी (Pharmacology) का शारीरिक–जैविक मानव–विज्ञान से सीधा सम्बन्ध नहीं है। विषयवस्तु, उद्देश्य, दृष्टिकोण आदि के आधार पर मानव–विज्ञान पूर्व दोनों स्वास्थ्य विषयों से भिन्न है। लेकिन अपरोक्ष रूप से सूक्ष्म जैविकीस एवं फार्माकोलॉजी के ज्ञान का उपयोग मानवविज्ञानवेत्ता करता है जब वह मानव पारिस्थितिकी, पर्यावरण, चिकित्सा मानव विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन करता है, तो कई नवीन तथ्य प्रकाश में आते है जैसे– ड्रग (दवा) का मानव पर कब और कैसा प्रभाव होता है। इसके प्रकार का व्यक्ति से व्यक्ति में अन्तर पाया जाता है। जूं (Pediculous) उच्चस्तरीय शरीर का परजीवी है जो मानव एवं चिम्पैजी में पाया जाता है ये साक्ष्य शारीरिक मानव–विज्ञान के उपयोग के हैं।

स्वास्थ्य विज्ञानों में **गठनात्मक चिकित्सा (Constitutional Medicine)** की अहम् भूमिका है जो शारीरिक मानवविज्ञान से उत्पन्न हुई है। मेरिंग एवं कासदान (1970) के सामान्य विभेद संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक महत्व रखते है जिससे सामान्य मानक निर्धारित किये जा सकते है। शरीर गठन का विभिन्न रोगों से स्पष्ट सम्बन्ध होता है जिसे अनेकों अनुसंधानों से प्रमाणित किया गया है, जैसे– लम्बे एवं दुबले व्यक्ति से तपैदिक रोग (Tubercnlosis) सम्बद्ध है (Berry & Nash 1955, Palmer, Oablon & Edwards 1957); डायबिटीज (सर्करा की बीमारी) का सम्बन्ध लम्बे शरीर वाले व्यक्ति से है (White 1959, Nilsson 1962); कैंसर का रोग का सम्बन्ध थुलथुल शरीर वाले (Obese) अर्थात् मोटापा से पाया गया है (Corscaden & Gusberg 1947, Yarnet 1958, Damon 1960) आदि। इस प्रकार मानववैज्ञानिक विधियों– प्राचीन •मानवमिति, अनुपातिक सम्बन्ध (Desproporuons), कारक विश्लेषण, शरीर बनावट, शारीरिक स्वरूप की दर निकालने की तकनीक से शरीर गठन (Body physique) का सम्बन्ध सामान्य एवं असामान्य बीमारियों, व्यवहार से स्थापित कर सकते हैं जिसका उपयोग स्वास्थ्य सेवाओं में प्रत्यक्ष रूप से है। (Damon, 1970)

अपराधविज्ञान (Forensic Science) का मूल उद्देश्य एक सम्पूर्ण व्यक्ति एवं एक सम्पूर्ण जीवन प्रारूप का पुनर्निर्माण करना है। इसमें वैयक्तिक पहचान का विशेष महत्व है। एक सम्पूर्ण व्यक्ति एवं एक सम्पूर्ण जीवन–प्रारूप का पुनर्निर्माण त्वचा, त्वचा रंग, केश, ऑखें, मांसपेशियाँ, रोम–कूपों एवं अंगों के द्वारा किया जा सकता है।लिंग, प्रजाति, आयु, दैनिक जीवन स्थिति एवं स्वास्थ्य स्तर का यथोचित तथ्य नष्ट हो जाते है और मृत व्यक्ति के शरीर का अस्थि ढाँचा ही साक्ष्य रूप में बचता है। उस समय अस्थि विज्ञान (Osteology) के आधार पर ही 'एक सम्पूर्ण व्यक्ति' एवं 'एक सम्पूर्ण जीवन प्रारूप' का पुनर्निर्माण किया जाता है। इसमें व्यक्ति के मृत्यु से लेकर उस परीक्षण पल के मध्य की अवधि का उचित अनुमान करना प्रथम कदम होता है; फिर कंकालीय सामग्री का परीक्षण किया जाता है; अन्त में रेडियोग्रैफिक तकनीक द्वारा अस्थि कंकाल की फिल्म तैयार कर ली जाती है (क्रागमैन 1965, 1970)। अमेरिकन मानववैज्ञानिक संघ के प्रकाशन (मैंडेलवाम, लास्कर, एलर्वट 1963) के पश्चात् शारीरिक–जैविक मनवविज्ञान का विस्तार हुआ और अपराध चिकित्सीय अध्ययनों को भी इसमें समाविष्ट किया गया। यद्यपि शारीरिक मानव वेतन मानव समूह का अध्ययन करने में रुचि रखता है लेकिन विगत दशकों में उसका रुझान 'व्यक्ति' की ओर भी हुआ है फलस्वरूप गठनात्मक चिकित्सा (Constitutional Medicine) एवं अपराध विज्ञान इसके अविभाज्य अंग बन गये हैं। (लास्कर, 1970)

दन्तचिकित्सकों (Dentists) ने अर्से से अपनी रुचि मानव विज्ञान में लिया है फलस्वरूप दंत विशेषज्ञ (Odontologist) एवं मानववैज्ञानिक कई सस्थानों में पारस्परिक नजदीकी सहयोगी हैं। दंत विज्ञान शारीरिक एवं सास्कृतिक मानव विज्ञान को चुनौती भरा शोध क्षेत्र प्रदान करता है। कई अन्तर्विषयक शोध परियोजनायें दोनों विषयों के विशेषज्ञों ने सम्पन्न की हैं (मूरीस 1970)। चूंकि दांत सर्वाधिक चिरायु तथ्य है (कंकाल की समस्त अस्थियों की तुलना में) अतः जीवाश्म विज्ञान का प्रमुख साक्ष्य दांत ही है। यह आयु निर्धारण, शारीरिक समृद्धि एवं विकास, जनसंख्या विभेद, अनुकूलन आदि विषय क्षेत्रों का मुख्य जैविक लक्षण है। अतः दन्त विज्ञान एवं शारीरिक मानव–विज्ञान एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध रखते है। दोनों विषयों में मतभेद अंशमात्र है जो विषयों के उद्देश्य से सम्बन्धित है। (Kraus 1970, Hunt 1970)

सामाजिक एवं चिकित्सा विज्ञानों में अन्तर्सम्बन्ध एवं अन्तर्क्रियायें कॉडिल (1973) के 'चिकित्सा में मानव–विज्ञान' की समीक्षा के पश्चात् आरम्भ हुई। समाज चिकित्सा एवं जन स्वास्थ्य के क्षेत्र में मानव–विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से अधिक महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि दोनों विषयों में एक दूसरे को समझने का आधार अधिक शक्तिशाली है वह है– 'वैज्ञानिक–मानविकी समझ' (Scientific –

Humanistic Understanding)। इससे दोनों ही मानव के जैव–सांस्कृतिक स्वभाव को, उसके कार्य को, जैव सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को, व्यवहारों को विधिवत् अध्ययन करके मानव सेवा में अपने आप को मानव सेवा में संलग्न कर सकते हैं (Dubos 1975, Dobzhoshski 1967, Hothstrasser & Tapp 1970) सामुदायिक चिकित्सा का मौलिक सिद्धान्त दो है जिसके आधार पर वह वैयक्तिक एवं समाज चिकित्सा के साथ एकीकृत होते हुए मानव समुदाय की सार्वजनिक ज्ञान बन जाती है वे हैं– (1) मानव और उसके पर्यावरण में स्वास्थ्य एवं रोग न हो तो भिन्न स्वरूप है न ही भिन्न प्रक्रिया। वे अन्तर्सम्बन्धित है, मानव जीवन एवं जैव–सांस्कृतिक वास्तविकताओं के अन्तर्गत एक गतिज प्रक्रिया है (Virchow 1953)। (2) मानव समुदाय एक मौलिक जैव सांस्कृतिक इकाई, व्यक्तियों के अन्तर्सम्बन्धित जीवन का संगठित सिद्धान्त एवं मानव समूह है (Arensberg, 1961)। अतः समाज एवं समुदायिक स्वास्थ्य से मानव विज्ञान का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, दोनों के दृष्टिकोण भी समान है। विषयवस्तु में भी समानता है। भविष्य में सम्भावनायें अधिक है कि दोनों विषय और घनिष्ठ होंगे (Barnett Polgar, Rubel, Wellin, 1970)

***

भाग —2

3

जीवन का उद्भव एवं उद्विकास

जीवन क्या है ? इस प्रश्न ने दार्शनिकों, बुद्धिजीवियों, विचारकों साहित्यकारों एवं वैज्ञानिकों को शताब्दियों से झकझोरा है। किसी ने जल को जीवन माना है, किसी ने क्षिति (पृथ्वी) को जीवनगृह कहा है, किसी ने आक्सीजन को प्राण (जीवन) माना है जो निर्जीव से अलग करता है तो किसी पंचभूतों अर्थात पांच तत्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश एवं वायु) की संयुक्त अवस्था को जीवन स्वीकारा है।इन्होंने कार्य एवं क्रिया करने वाले कर्ता की अवस्था को जीवन कहते हुये इसके रासायनिक तत्वों को प्रमुखता दी है। जीवन को परिभाषित करने की इसी श्रृंखला में जीवशास्त्रियों में उत्तेजना (Irritability) को जीवन का प्रमुख रूप स्वीकारा है।

एफ.एस. हल्स (F.S.Hulse 1971) जीवन को एक प्रक्रिया मानते हैं जिसका प्रमुख तत्व क्रिया (Action) है। शरीर क्रिया वैज्ञानिक स्वांगीकरण (Assimilation), वृद्धि तथा क्षतिपूर्ति (Growth and repair), प्रजनन (Reproduction) उत्सर्जन (Excretion), उत्तेजित्व (Irritability) एवं गति (Movement) आदि छः गुणों को जीवन का आवश्यक तत्व मानते हैं। कैलिफोर्निया के समुद्री विज्ञान संस्थान के एगिल्स ने जीवन के उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में रासायनिक तत्वों को जीवन का आधार माना है जिनके प्रोटीन पिंडों के अस्तित्व रूप को कहते हैं। 20वीं सदी के पूर्वाद्ध में रूसी वैज्ञानिक पृथ्वी पर अनुकूल वातावरण पर जोर दिया जहाँ से जीवन का आरम्भ माना। इस प्रकार जीवन के उद्भव बिन्दु और उसके पथ की दिशा सुनश्चित करने हेतु हमें पृथ्वी पर ही नहीं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर एक दृष्टि डालना चाहिये।

ब्रह्माण्ड के विस्तार के बारे में यदि विचार करें तो सर चकराने लगता है क्योंकि वह असीम है, अनन्त एवं कल्पनातीत है। इसमें अरबों मंदाकनियाँ (Galaxies) हैं। चन्द्रमा, पृथ्वी, सूर्य, तारों सहित आकाश गंगा के सारे तन्त्र को मंदाकिनी कहते हैं। अंधेरी रात में जब बादल न हों तो क्षितिज एक छोर से दूसरे छोर तक एक धुंधली अस्पष्ट श्वेत पक्षी जैसा फैला रूप आकाश गंगा है जो एक बहुत बड़ी त्रिज्या की ऐसी वृत्ताकार चकत्ती की तरह है यह बीच में दोनों ओर उभरी हुई है। इसका व्यास लगभग एक प्रकाश वर्ष है। यह खगोलीय दूरियां नापने की इकाई है जो 9.5 x 10* 12 अर्थात 95 खरब किमी के बराबर है। सूर्य पृथ्वी से 15 करोड़ किमी. दूर है। इस प्रकार प्रकाश को भी सूर्य से धरती पर आते–आते आठ मिनट लग जाते हैं। क्योंकि प्रकाश की चाल सबसे अधिक है। इसकी किरण वह 3 लाख किमी. दूरी प्रति सेकेंड तय करती है। जिस मंदाकिनी में हम रहते हैं उसके केन्द्र से एक तरफ लगभग 27,000 प्रकाशवर्ष दूर अपना सूर्य स्थित है। सूर्य के समान प्रकाशमान लगभग एक खरब तारे हमारे आकाशगंगा में है। नंगी आंखों से हमें अपनी मंदाकिनी में कुल सात हजार तारे दिखते हैं लेकिन दुरबीन से लगभग 20 लाख तारे देखे जा सकते हैं। ये तारे कोई पृथ्वी के समान है कोई सूर्य के समान और कोई–कोई इतने विराट कि उसमें सूर्य, बुध, शुक्र एवं पृथ्वी समा जाये। सूर्य इन तारों में एक साधारण तारा है। 1922 में भारतीय खगोल–भौतिकी वैज्ञानिक मेघनाद शाहा ने सिद्ध किया था कि सभी तारों की रासायनिक बनावट एक सी है। नभ मण्डल में असंख्य तारों में से सप्तर्षि (पुलह, केतु, पुल्लरुत्य, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, वशिष्ठ) को सरलापूर्वक पहचाना जा सकता है। इनके दोनों ऊपरी तारों की सीध में तथा उनके बीच की दूरी लगभग सात गुनी दूरी पर स्थित तारा ध्रुव तारा (Pole Star) कहलाता है।

तारों की पृष्ठभूमि में सूर्य चन्द्रमा और ग्रह नभमण्डल के जिस सकरे मेखलाकार भाग में चलते हैं उसे क्रान्ति वृत्त (Ecliptic) कहते हैं ये 13 भागों में बांटी जाती है जिसके एक भाग को राशि कहते हैं। क्रान्तिवृत्त

को यदि 27 भागों में बांटे तो इनके पास चमकीले तारा समूहों का पहचाना जा सकता है जिसे नक्षत्र क नाम से जाना जाता है, जैसे– अश्विनी नक्षत्र में तीन कृत्तिकों में छहः तारे हैं आदि। एक तारे के चारों ओर घूमने वाले समस्त अप्रकाशित आकाशीय पिण्ड (ग्रह–Planet), ग्रहिकायें (Asterids) आदि होते हैं जिन्हें सौर मण्डल (Solar System) कहा जाता है।

ग्रहों की परिक्रमा करने वाले आकाशीय पिण्ड उपग्रह (जैसे चन्द्रमा) है। चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है। इसके अतिरिक्त मंगल एवं वृहस्पति के बीच हजारों छोटे–बड़े बेडौल आकार के आकाशीय पिण्ड हैं जो सूर्य की परिक्रमा करते हैं ग्रहिकायें (Asteroids) कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त धूमकेतु या पुच्छलतारे (Comets) एवं उल्कायें (Meteors) हजारों की संख्या में विद्यमान हैं। इस प्रकार सौर परिवार के सभी सदस्य सूर्य के आकर्षण से बंधे उसके चारों ओर एक ही दिशा में घूमते रहते हैं। सूर्य के सन्निकट बुध (Murcury) और सबसे दूर यम (Pluto) है। पृथ्वी–बुध एवं शुक्र के बाद स्थित है। इन ग्रहों का आकार भी भिन्न–भिन्न है बुध सबसे छोटा (इससे 18 गुना पृथ्वी बड़ी है) और बृहस्पति सबसे बड़ा (इससे 1400 गुना पृथ्वी छोटी है)।

सूर्य का व्यास 7 लाख किमी. है। दहकता अग्निपिण्ड का तापमान वाह्य सतह पर लगभग 6000^{0} c तथा केन्द्र पर 1 करोड़ डिग्री सेल्सियस होता है। पृथ्वी का व्यास विषुवत वृत्त पर लगभग 12,756 किमी. और ध्रुवों के बीच यह लगभग इससे 43 किमी. कम है। सम्पूर्ण ब्रम्हाण्ड में हमारे सौर मण्डल में ही जीवन है तथा अन्य असंख्यों मंदाकिनयां जीवन रहित हैं।प्रश्न पुनः उठ खड़ा होता है कि वह जीवन जो ब्रह्माण्ड में केवल पृथ्वी ग्रह पर है इसकी उत्पत्ति कब, कहां और कैसे और किन परिस्थितियों में हुई ? इस संदर्भ मे वैज्ञानिकों ने समय–समय पर भिन्न–2 परिकल्पनायें प्रस्तुत की हैं। अधिकांशतः ये अवधारणायें काल्पनिक अथवा पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं। इनसे किसी अलौकिक शक्ति का बोध होता है जो जीवोत्पत्ति का उत्तरदायी है। साथ ही साथ अनेकों धार्मिक कथायें जीवोत्पत्ति की व्याख्या करते हैं जो ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करते हैं। सृष्टिवाद के प्रभाव की व्यापकता से वैज्ञानिक अवधारणाओं को हतोत्साहन के एक लम्बे दौर से गुजरना पड़ा। विशिष्ट सृष्टि के द्वारा स्थायी जाति की उत्पत्ति यहूदी–ईसाई धर्मों की लोक–कथाओं में मानी गयी। जेनसिस (Genesis) नामक ग्रंथ में इसका वर्णन किया गया है। इस प्रकार पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–2 मत प्रतिपादित किये हैं। इनमें से अनेकों ने कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यहाँ पर हम प्रमुख परिकल्पनाओं का उल्लेख करेंगे।

जीवोत्पत्ति के सिद्धान्त
(Principles of origin of life)

विशिष्ट सृष्टिवाद (Special Creationism)– इस परिकल्पना के अनुसार जीवन का उद्‌भव किसी अलौकिक शक्ति के द्वारा हुई है। यह पूर्णतः धार्मिक अवधारणा है जो 18वीं शताब्दी के पूर्व तक सामान्य प्रचलन में थी। ईसाई पंथ के अनुसार सम्पूर्ण व्रह्माण्ड का निर्माण छः दिनों में हुआ है। पहले दिन पृथ्वी एवं स्वर्ग का निर्माण हुआ, दूसरे दिन आकाश का, तीसरे दिन जमीन एवं पेड़–पौधों का, चौथे दिन सूर्य, चन्द्रमा व अन्य ग्रहों का, पांचवे दिन मछलियों एवं पक्षियों का, और अन्तिम अर्थात छठे दिन पुरुष का निर्माण हुआ। पहले पुरुष विनिर्मित हुआ तदोपरान्त उसकी 12वीं पसली सें स्त्री उत्पन्न हुई। इसी प्रकार हिन्दू धर्मानुसार ब्रह्मा ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सृजित किया है। इन अवधारणाओं के समर्थक प्रायः धर्मावलम्बी रहे हैं लेकिन इन मतों को प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

स्वतःजननवाद (Spontaneous generationism)– यह प्राचीन परिकल्पना है जो 17वीं शताब्दी के पूर्व तक प्रचलित थी। इसके मतानुसार जीव अण्डों अथवा बीजों से उत्पन्न न होकर स्वतः निर्जीव पदार्थों से बनते हैं। प्राचीन मिश्रवासियें का विश्वास था कि सूर्य की गर्मी से नील नदी की कीचड़ में

मछलियां, मेंढक, सांप आदि जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। ईसा पूर्व ग्रीक दार्शनिक अरस्तू भी इस परिकल्पना के समर्थक थे। वे जानते थे कि अनेक प्रकार की मछलियां अण्डे देती हैं और अण्डों से उसी प्रकार की मछलियां उत्पन्न होती हैं परन्तु साथ ही साथ यह भी विश्वास करते थे कि तालाब की तली में पाया जाने वाला कीचड़ से कुछ मछलियां, सड़े हुये मांस से एवं कूड़ा–करकट से कीड़े मकोड़े तथा पसीने से चीलर उत्पन्न हो जाते हैं। अरस्तू के 2000 वर्ष पश्चात् वैज्ञानिक बेपटिस्ट वान हेलमॉन्ट (Baptist Von Helmont) ने भी इस मत से मिलते जुलते मत का प्रतिपादन करके इसका समर्थ सन 1625 में किया। इन्होंने अन्धेरे स्थान पर गेंहू में पसीने से भीगी कमीज़ रख देने से 21 दिन में चूहे उत्पन्न होने के अवलोकन का दावा किया लेकिन वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव के कारण इस परिकल्पना पर लोग विश्वास करते रहे।

जीवजननबाद (Theory of Biogenesis)– 17वीं एवं 18वीं शताब्दी के अनेक वैज्ञानिक जिनमें फ्रैनसेस्कोरेडी (1668), लैजैरो स्पेन्जनी (1965), तथा लुई पाश्चर (1861) के नाम उल्लेखनीय हैं जो स्वतः जननवाद सिद्धान्त से सहमत नहीं हुये। उन्होंने प्रयोगों के आधार पर इस परिकल्पना को दोषपूर्ण बताया। साथ ही साथ जीवोत्पत्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया। इस मत के अनुसार जीव की उत्पत्ति जीव से हुई है।

रेडी (1868) ने तीन जार लेकर प्रत्येक में मांस का टुकड़ा रखा। प्रथम जार का मुख खुला रखा, द्वितीय जार का मुख जालीदार कपड़े से और तृतीय जार का मुख बायुरोधक पार्चमेंट पेपर से बांध दिया। कुछ दिनों पश्चात देखा कि प्रथम जार में रखे मांस में मक्खियों ने अण्डे दिये और डिम्बक उत्पन्न हुए, **द्वितीय** में मक्खियों ने जार मुख पर बंधे जालीदार कपड़े पर डिम्बक दिये, तृतीय जार में मक्खियां आकर्षित नहीं हो सकीं और डिम्ब का अभाव रहा। इससे इन्होंने सिद्ध किया कि डिम्बक मांस से नहीं बल्कि मक्खियों द्वारा दिये गये अण्डों से उत्पन्न हुये।

लुई पाश्चर (1861) ने एक फ्लास्क में यीस्ट एवं शर्करा का विलयन दो मिनट तक उबाला। तदोपरान्त फ्लास्क की गर्दन गर्म करके S आकार की नली वाले फ्लास्क में रख दिया। नली का मुख खुला रखा। पुनः फ्लास्क को गर्म करने से वाष्प निकली। इससे फ्लास्क के सूक्ष्म जीव नष्ट हो गये। पुनः उसे ठण्डा करके कई दिनों तक रखा लेकिन पुनः फ्लास्क में जीव उत्पन्न नहीं हुये यद्यपि S आकार की नली को खुला रखा जिससे होकर वायु अन्दर प्रवेश कर सकती थी लेकिन वायुमण्डल में स्थित सूक्ष्म जीवों के बीजाणु तली के मोड़ों में फंस कर रह गये। इस प्रकार लुई पाश्चर ने स्वतः जननवाद सिद्धान्त का जोरदार खण्डन किया तथा जीव जननवाद का समर्थन किया।

ब्रह्माण्डवाद सिद्धान्त (Cosmozoic Theory)– लीविग (Liebig), केलविन (Kelvin) तथा अरहीनियस (Arrhenius) आदि वैज्ञानिकों ने बीसवीं शदी के पूर्वाध में विचार व्यक्त किया कि पृथ्वी पर जीवन का उद्‌भव किसी दूसरे ग्रह से आगत बीजों तथा बीजाणुओं (Spores) से हुआ है। जिसका समर्थन होइल (Hoyle, 1950) बाण्डी (Bondi 1952) आदि विद्वानों ने किया। परन्तु अधिकांश विद्वान इसका खण्डन करते हैं क्योंकि कोई भी जीव अन्तरिक्ष की अत्यधिक ठण्ड एवं शुष्कता एवं घातक शुष्कता एवं घातक विकिरण आदि का सहन नहीं कर सकता। उल्कायें भी पृथ्वी के वायु मण्डल में उत्पन्न घर्षण द्वारा उत्पन्न ऊष्मा से जल जाते हैं अतः जीव कैसे बचकर पृथ्वी पर आ गया होगा। यह सम्भव नहीं है।

वर्तमान स्थिति की अपरिवर्तनीयता का सिद्धान्त (Theory of Ertennity of Present Condition)– कुछ दार्शनिकों का मत है कि जीवन का उद्‌भव हुआ ही नहीं, यह सदैव शाश्वत रहा है ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाश, ऊर्जा एवं पदार्थ। जीव जन्तु अपने वर्तमान रूप में ही रहे हैं। भविष्य में भी अपरिवर्तनीय रहेंगे। सम्पूर्ण जगत, ब्रह्माण्ड अपरिवर्तनीय है जो आज दृष्टिगोचर होता है। वह सदैव इसी स्थिति में रहा है और रहेगा। इस अवधारणा के प्रवर्तक जे. एच. हटन (J.H. Hutton) थे। यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं रहा क्योंकि भ्रामक माना गया है।

प्रलयवाद (Catastrophism)– पेरिस विश्वविद्यालय के शरीर–रचना शास्त्री जार्ज क्यूवियर

(George Cuvier 1769–1832) ने माण्टे मात्रे की पहाडी उत्खननों में अस्थियों खोजीं। अस्थिपंजर के पुनर्निमाण के अध्ययन द्वारा इनको यह स्पष्ट हो गया कि वह ऐसे विलुप्त जन्तुओं का अध्ययन कर रहा थे जिसका कोई जीवित प्रतिनिधि नही था। अपने अनुसंधानों के आधार पर जीवों के विलुप्त होने का कारण प्रलय या आपदा बताया, जिसकी पुनरावृत्ति कई बार हुई होगी। इस प्रकार उन्होंने विश्व के सामने एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसे प्रलय वाद का सिद्धान्त के नाम से जाना गया।

क्यूवियर ने पृथ्वी पर जीवन के विकास को प्रमाणित किया। उनके अनुसार सृष्टि कई बार क्रमबद्ध रूप में हुई है। प्रत्येक सृष्टि किसी न किसी अनूठे विध्वंसक भयंकर आपदा क कारण हुई है जिसमें लगभग सभी जीव नष्ट हो गये।

नवीन सृष्टि में आविर्भूत समस्त जन्तु सदैव अपना जटिल शारीरिक संगठन जटिल प्राप्त करते–2 प्रगति करते गये। प्रत्येक अनोखी घटना के पश्चात् जब भी पृथ्वी शान्त होती थी तभी नवीन जीव जन्तु उत्पन्न हुये। क्यूवियर के अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति अन्तिम भूगर्भीय क्रान्ति के उपरान्त हुई।

यह अवधारणा सत्य प्रतीत नहीं होती क्योंकि जीवन की प्रारम्भिक अवस्था स्पष्ट करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु अनुवर्ती कायान्तरणों (modifications) को भी समझना होगा जिसकी व्याख्या इस अवधारणा से नहीं हो पाती है।

7. आधुनिक अवधारणा

(Modern Theory)

ओपेरिन का सिद्धान्त (Oparin theory)– रूसी जीव–रसायन वैज्ञानिक ए.आई. ओपेरिन (A.I. Oparin, 1936) ने जीवन की उत्पत्ति पर सर्वप्रथम एक विस्तृत परिकल्पना प्रस्तुत किया जो उनकी पुस्तक 'Origin of Life' में प्रकाशित हुई जिसका समर्थन हाल्डेन (Haldane) एवं हापकिंस (Hopkins) सरीखे विद्वानों ने किया। आज ये लगभग सर्वमान्य हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में पृथ्वी घूमते हुये गैसीय पिण्ड के रूप में थी। जैसे–जैसे इस पिण्ड का ताप कम होता गया, घर्षण एवं गुरुत्वाकर्षण के कारण भारी तत्वों– लोहा, निकिल आदि के परमाणु आन्तरिक भाग अथवा उसके केन्द्र में सग्रहीहत हो गये जो आज भी गर्म लावा के रूप में उपस्थित हैं। इनमें कुछ हल्के तत्वों के परमाणु जैसे– एल्यूमिनियम, सिलिकन, फास्फोरस, सल्फर आदि मध्य में एकत्रित हो गये और सर्वाधिक हल्के तत्व जैसे– हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन आदि के परमाणुओं ने सबसे बाहरी सतह पर एकत्रित होकर वायुमण्डल का निर्माण किया। यही तत्व जीवन की उत्पत्ति के लिये बाद में सबसे महत्वपूर्ण स्वीकारे गये।

वर्तमान काल में पृथ्वी का वायुमण्डल उपचायकः नाइट्रोजन (N_2 : 78%), आक्सीजन (O_2 : 21%) तथा कार्बन डाई आक्साइड (Co_2 : 0.03%) है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य गैसें अत्यधिक सूक्ष्म मात्रा में हैं। वायुमण्डलीय समस्त गैसों में आक्सीजन सबसे अधिक क्रियाशील तथा महत्वपूर्ण है। लेकिन आदि काल में पृथ्वी का वायुमण्डल अपचायक था, जिसमें हाइड्रोजन की बहुलता थी जो उस समय सबसे अधिक क्रियाशील थी (उपचायक = वे पदार्थ जो किसी यौगिक में आक्सीजन की वृद्धि करे और हाइड्रोजन की कमी करे, अपचायक = वे पदार्थ जो आक्सीजन की कमी करे और हाइड्रोजन की वृद्धि)। यह हाइड्रोजन ताप पर आक्सीजन, नाइट्रोजन तथा कार्बन से संयोग करके जल (H_2^O) अमोनिया (NH_3) तथा मिथेन (CH_4) जैसे सरल यौगिकों के अणुओं का संश्लेषण किया। पृथ्वी जैसे–जैसे ठण्डी होती गयी, गैसीय पदार्थ तरल और तरल पदार्थ ठोस रूप में बदलते गये।

फलस्वरूप पृथ्वी ठोस होती गयी। अधिक ठण्डा होने पर संकुचन के कारण पृथ्वी की सतह ऊंची (पर्वत, पहाड़ी), तथा नीची हो तो गही। आरम्भ में वायुमंडल में अमोनिया, मिथेन आदि गैसे तथा जल–वाष्प से निर्मित मीलों गहरे बादल बने। पृथ्वी के अधिक ठण्डा होने पर एक ऐसा समय आया कि बादलों ने घनघोर वर्षा की और पृथ्वी का निचला भाग जलमग्न हो गया जिससे समुद्र, नदियां झीलें बनीं।

ओपरिन की परिकल्पना के अनुसार आदि समुद्रों में मीथेन, अमोनियो, हाइड्रोजन तथा विभिन्न खनिज लवण उपस्थित थे। इनमें से केवल मीथेन ही कार्वनिक है। शेष सभी अकार्बनिक यौगिकों के अणुओं ने अपचायक वातावरण में परस्पर प्रतिक्रिया करके कार्बनिक यौगिक अणुओं को संश्लेषण किये। संश्लेषण के लिये आवश्यक ऊर्जा किसी वाह्य स्रोत से प्राप्त हुई। उस समय सूर्य के प्रकाश की पराबैंगनी किरणें, एक्स किरणें, ऊष्मा, आकाशीय विद्युत आदि ऊर्जा के मुख्य स्रोत थे। इस प्रकार यौगिकों के संश्लेषण की पुष्टि अब वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा हो गयी है कार्बनिक यौगिकों– एमीनों अम्ल, शर्करा, वसा, अम्ल, प्यूराइन (Purine), पाइरीमिडीन (pyrimidine) के द्वारा ही कोशिका के जीवद्रव्य का निर्माण हुआ है जो अब पूर्ण विदित है।

इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग 1953 में शिकागो विश्वविद्यालय के स्टेनले मिलर ने किया है। उन्होंने एक मिथेन, अमोनिया, तथा जल वाष्प का मिश्रण लिया और इसमें करीब 15,000 वोल्ट की विद्युतधारा प्रवाहित की। इतने अधिक वोल्ट की धारा प्रवाहित कर उन्होंने आदिकाल में पृथ्वी पर मौजूद भीषण गर्जन, बिजली का चमकना, तथा तेज आँधियों के प्रभाव को उत्पन्न करने का प्रयास किया। इस विलयन के ठण्डे होने पर इसमें कार्बोहाइड्रेट तथा एमीनो एसिड पाया गया।

कुछ अन्य प्रयोगों से सरल कार्बनिक यौगिकों से जटिल कार्वनिक यौगिकों के निर्माण को सिद्ध किया गया, क्योंकि सरल कार्बनिक यौगिकों को जीवन की उत्पत्ति के लिये पर्याप्त नहीं माना गया। आज यह ज्ञात है कि जीवद्रव्य की रचना जटिल कार्वनिक पदार्थों से होती है। अतः इनका संश्लेषण माना गया है कि सरल शर्करा के अणुओं ने विभिन्न अनुपात में संयोजन कर माड़ी, सेल्यूलोस तथा ग्लाइकोजन का संश्लेषण किया। बसा अम्ल एवं ग्लीसरीन के अणुओं के संयोजन से वसा का और अमीनो अम्लों के संयोजन से प्रोटीन जैसे जटिल कार्बनिक पदार्थों का संश्लेषण हुआ। इंजाइम की भांति कार्य करने वाले कुछ प्रोटीन भी बने जिनके कारण रासायनिक क्रिया और तेज हो गयी। प्यूराइन एवं पीरिमिडाइन ने शर्करा एवं फास्फोरस के साथ मिलकर परस्पर क्रिया करके न्यूक्लिओटाइडो को संश्लेषण किया और इनसे न्यूक्लिक एसिड बने।

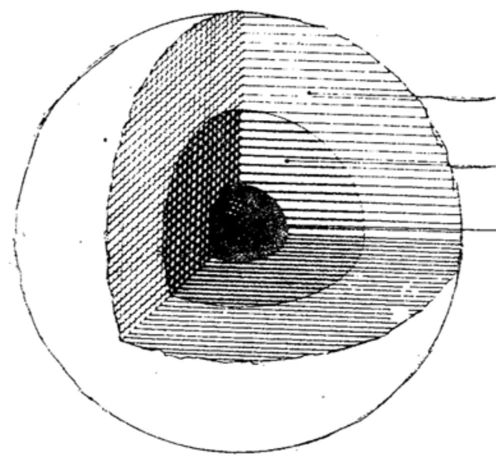
भारतीय वैज्ञानिक कृष्ण वहादुर एवं ओंकारनाथ ने विभिन्न अमीनो अम्ल के मिश्रण से कायिक जनन करने वाली यीस्ट (Yeast) से मिलती जुलती रचनायें प्राप्त की जिन्हें उन्होंने जीवाणु के नाम से पुकारा।

इस प्रकार ओपेरिन की परिकल्पना के अनुसार **कोएसरवेट** (Coecervate, लैटिन शब्द जिसका अर्थ गुच्छा) प्रोटीन जो अघुलनशील सूक्ष्म बूंदों के रूप में संयोजित रहता है इन्हीं से सर्वप्रथम जीव की उत्पत्ति हुई है। उनका अनुमान था कि कोएसरवेट अणु अपने चारों ओर उपस्थित समुद्री जल से अन्य यौगिकों का प्रचूषण करते रहे जिससे इनके आकार में वृद्धि हुई। निश्चित आकार ग्रहण करने के बाद वे दो में फिर अनेकों में विभक्त होते गये, इससे विभाजन की क्षमता आ गयी। वास्वतिक क्षमता उस समय आयी जब विशेष रासायनिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप न्यूक्लिक अम्ल बने। उनका अनुमान था कि ये कोएसरवेट अणु मृतजीवी (Saprophyte) थे शनैः–शनैः इनको प्रचूषित पदार्थे के किण्वन एवं आक्सीश्वसन से ऊर्जा प्राप्त होती रही जिससे यौगिक सांद्रता, अधिक हुई, इंजाइम की उपस्थित एसिड एवं जटिल यौगिकों का संश्लेषण तीव्रता से होने लगा जिससे उसमें जीवन क्रियायें गति, उत्तेजना, वृद्धि, क्षतिपूर्ति, उत्सर्जन, प्रश्जनन एवं स्वांगीकरण विकसित हुई, और अन्ततः एक जीव उत्पन्न हुआ।

यह जीवन इस पृथ्वी पर अब से दो–तीन अरब पूर्व प्रगट हुआ जो एक प्रारम्भिक कोशिका से प्रारम्भ हुआ।

आदिकाल में पृथ्वी पर CO_2 का अभाव होने क कारण प्रारम्भिक जीव परपोषी रहे होंगे। वे समुद्र में उपस्थित कार्बोहाइड्रेट, एमीनोएसिड तथा अन्य कार्वनिक यौगिकों को भोजन के रूप में ग्रहण करते रहे होंगे। शनैः–शनैः इन जीवों का ह्रास होता गया और परजीवी, मृतजीवी, प्राणिसमभोजी (Holotrophic) और अन्त में पर्णहरिमयुक्त आत्मपोषी जीवों का विकास हुआ होगा। पोषण विधियों के विकास के साथ–साथ कोशिकायें संरचना का विकास भी भिन्न दिशाओं में हुआ।

कुछ प्रारम्भिक कोशिकाओं में न्यूक्लियो प्रोटीन के समूह कोशिका द्रव्य में बिखरे हुये थे इन जीवों को **मोनेरा** (Monera) कहा गया। वर्तमान काल में जीवाणु तथा नीले–हरे शैवाल (Blue green algae) इस प्रकार के जीवों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरी ओर ऐसी कोशिकाओं का विकास हुआ जिनमें न्यूक्लियो-प्रोटीन कोशिका के मध्य एकत्र हो गये और इनके चारों ओर एक झिल्ली बन गयी तथा कोशिका में स्पष्ट केन्द्रक बन गया, इन जीवों को **प्रोटिस्टा** (Protista) कहा जाता है। इनसे शैवाल, कवक, आदि पादप तथा प्रोटोजावा का विकास हुआ। इन्हीं के उपरान्त लाखों–करोड़ों वर्षों में आजकल पाये जाने वाले विभिन्न सरल एवं जटिल पौधे तथा जन्तुओं का विकास हुआ, जिसका उल्लेख बाद में किया जायेगा। चूंकि भित्र–2 प्रकार की जीवन लीलायें पृथ्वी पर हुई हैं और पृथ्वी पर इनके अनुरूप वातावरण बनते रहे हैं, इसलिये अब यहां पर पृथ्वी के इस भूगर्भिक इतिहास का सिंहावलोकन करना आवश्यक होगा जिसके प्रमाण आज भी भूगर्भ वैज्ञानिक तलाशते चले जा रहे है।



चित्र 3 : 2 पृथ्वी की रचना

पृथ्वी–गर्भ अर्थात् भूगर्भ विभिन्न शैलों आग्नेय, (Igneous), अवसादी (Sedimentary) एवं रूपांतरित (Metamorphic) की परतों का स्तरीकृत स्वरूप है। इसका आन्तरिक भाग तीन वृहद् मण्डलों– क्रस्ट (Crust), मैण्टिल (Mantle), तथा अन्तरम (Core) के संयुक्त होने से विनिर्मित है। ये तीनों मण्डल 6371 Km. गहरी परतों से निर्मित है। क्रस्ट (Crust) पृथ्वी का ऊपरी 30 Km. गहरी परत–मण्डल है मैण्टिल 5120 km. मोटी परत–मण्डल है जो क्रस्ट मण्डल के नीचे है। अन्तरम (Core) 1221 km मोटी परत– मण्डल जो सर्वाधिक निचली है जो क्रमशः सर्वाधिक भारी एवं सघन आन्तरिक संरचना है यह समस्त संरचनायें 200 से 300 करोड़ वर्ष (2 अरब से 3 अरब वर्ष) में बनी होंगी, ऐसा अनुमान रेडियो–सक्रिय पदार्थों को प्रमाण•मानकर किया गया है जो अन्य अनुमानों (आयुनिर्धारण विधियों) से सर्वाधिक विश्वसनीय हैं।

यदि पृथ्वी की विभिन्न परतों, उनमें पाई जाने वाली चट्टानों, जीवविकास आदि का अध्ययन के भूगर्भ वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद विशेष प्रकार के शैलों का जमाव तथा जीवों का विकास हुआ है। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयास फ्रांसीसी वैज्ञानिक वफन (Buffon) का माना जाता है।

इन्होंने पृथ्वी के सम्पूर्ण इतिहास को सात विभिन्न युगों में प्रस्तुत किया। लेकिन भूगर्भीय विश्लेषण को लेकर वैज्ञानिक एकमत नहीं है। वर्तमान समय में पृथ्वी के इतिहास को पांच बड़े भूवैज्ञानिक महाकल्पों (Era) में विभक्त किया गया है। प्रत्येक कल्प (Era) को पुनः युग (Epochs) में विभाजित किया गया फिर इसके छोटे–2 उपभागों– शक (Periods) में विभक्त किया गया। इनकी अवधि वर्षों में आंकी गयी तथा वनस्पति जीव–जन्तु आदि के विकास पर भी प्रकाश डाला गया है। यहां पर इसे निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है :

जीवन–विकास काल–क्रम

महाकल्प (Era) (वर्ष पहले)प्रकार	शक(काल) (Period)	युग (Epoch)	अवधिवर्ष का समय	प्रारम्भ होने जीवन	मुख्य
नूतन कल्प	चतुर्थयुग	आधुनिक युग (Holocene)	-------	10 हजार	
(Neozoic)	(Quarternary)	प्लाइस्टोसीन	2.7 लाख	30 लाख	मानव का
अथवा		(Pleistocene)			अभ्युदय
सीनोजोइक	तृतीय भाग	–प्लायोसीन	1 करोड़	1.10 करोड़	स्तनी
(Cenozoic)	(Tertiary)	–मायोसीन	1.40 करोड़	2 करोड़	पशुयुग
		–ओलिगोसीन	1.5 करोड़	4 करोड़	
		–इयोसीन	3 करोड़	7करोड़	
		–पैलियोसीन	3 करोड़	7करोड़	
मीजोजोइक	द्वितीयक	–क्रिटैसियस	6.5 करोड़	13.5 करोड़	सरीसृप
(Mesozoic)	(Secondary)	जुरेसिक	1 करोड़	7 करोड़	युग
		–ट्रियासिक	4.5 करोड़	22.5 करोड़	
पैल्योजोइक	प्राथमिक	–यार्मियन	4.5 करोड़	27 करोड़	
(Palaeozoic)	(Primary)	–कार्वानिफरस	8 करोड़	35 करोड़	मत्स्य
		–डिवोनियन	5 करोड़	40 करोड़	युग
		–सिलूरियन	4 करोड़	44 करोड़	
		–ओडोविसियन	6 करोड़	50 करोड़	
		–कैम्ब्रियन	10 करोड़	60 करोड़	
प्राकजीव कल्प	-------	प्रि. कैम्ब्रियन	50 करोड़	100 करोड़	आदिम
(PrePalaeozoid)					समुद्रीय
आद्य कल्प	-------	आर्कियन	50 करोड़	150 करोड़	लार्वा
(Archoeozoic)					

जैव उद्विकास

जब हम अपने चारों ओर असंख्य विभिन्न प्रकार के जी व जन्तुओं तथा वनस्पतियों को देखते हैं तो कुछ प्रश्न सहसा ही मनमस्तिष्क में कौंधने लगते हैं कि ये सभी जीव– (सरल तथा जटिल रचना वाले) कैसे उत्पन्न हुये होंगे ? क्या इनकी उत्पत्ति अलग–अलग हुई है ? ये अलग–अलग क्यों बने ? क्या ये जीव आज से लाखों वर्ष पूर्व भी इसी तरह थे जैसे आज दिखाई पड़ते हैं, आदि। जैसा कि इसका पूर्व इसकी मात्र जिक्र किया गया था कि सव्रप्रथम पृथ्वी पर एक जीव उत्पन्न हुआ था और उससे ही समस्त वनस्पति एवं प्राणिजगत विकसित हुआ है अर्थात सरल जीवों के पश्चात जटिल जीवों का उद्भव हुआ जिसके तथ्य भू उत्खननों एवं तुलनात्मक विज्ञान प्राप्त होते हैं। अतः जैव–विकास का उल्लेख करने के पूर्व उन जैविक साक्ष्यों की चर्चा करना भी आवश्यक है जिनके आधार पर जैविक उद्विकास की विचारधारायें प्रतिपादित की गयी हैं।

प्रारम्भ में जीव–उद्विकास कि विचारधारायें कपोल कल्पनायें थीं क्योंकि यह इतनी मंथर प्रक्रिया है जिसे आंखों से अवलोकन कर पाना असम्भव है, लेकिन जैविक उद्विकास की प्रक्रिया की निरन्तरता की पुष्टि कई क्षेत्रों के **प्रमाणों** से हुई है, इनका संक्षेप में वर्णन यहां किया जा रहा है–

जीवाश्मवैज्ञानिक साक्ष्य

पृथ्वी की उत्पत्ति के पश्चात समय–समय पर वातावरण परिवर्तित होने से विभिन्न प्रकारकी वनस्पतियों जन्तुओं का विकास हुआ। इनमें से अनेक लुप्त हो चुके हैं जिनके अवशेष पृथ्वी के गर्भ में आज भी परिरक्षित मिलते हैं। इन जीवाश्मों के अध्ययन से जैव उद्विकास को भलीभांति समझा जा सकता है और यह स्पष्ट होता है कि वातावरण के अनुकूल न होने से कई स्पीसीज नष्ट हो गयी है जो जैव–उद्विकास का अन्ततः समर्थन करते हैं।

जिन जन्तुओं एवं वनस्पतियों के जीवाश्म अभी तक प्राप्त हुये हैं उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे आधुनिक प्राणियों से भिन्न हैं। यह भिन्नता ही प्रदर्शित करती है कि जैव–उद्विकास घटित हुआ है, उदाहरणस्वरूप–प्राचीन चट्टानों में सरलतम प्राणी के जीवाष्म मिलते हैं जैसे– मूंगा, शैवाल, कवक आदि। तदोपरान्त की चट्टानों में मछलियाँ, उभयचरवर्ग के प्राणी, इसके पश्चात् की चक्षानों में विशाल एवं दैत्याकार जीव– डाइनोसोर तथा आधुनिक चक्षानों में स्तनधारी, उच्चस्तनी एवं मनुष्य के जीवाष्म मिलते हैं। इस प्रकार क्रमिक चट्टानों में भिन्न प्रकार के जीवाश्म क्रमिक विभेद को प्रकाशित करते है जैसे जिससे जीव के क्रमिक विकास अर्थात जैव उद्विकास के घटत होने के विचार को और अधिक स्पष्ट होता है। संक्षेप में जीवाश्म जीवों के जैव उद्विकास के एक अभिलेख (Documentary) है जो कहीं–2 पर अधूरे हैं जिनकी खोज आज भी की जा रही है।

भ्रूणवैज्ञानिक साक्ष्य

बहुकोशिकीय जन्तुओं के भ्रूण का प्रेक्षण करने से यह विदित होता है कि यह प्रारम्भिक अवस्था में अनूठी साम्यता रखते हैं। सभी जीवों में निषेचित अण्डा (युग्म नज) हर बार विभक्त होकर कोशिकाओं का खोखला मण्डल बनता है जिसे ब्लास्टुला कहते हैं। तदोपरान्त यह द्विस्तरीय संरचना वन जाता है जिसकी बाह्य परत एक्टोडर्म एवं आन्तरिक इण्डोडर्म कहलाती है।

मछली, जल–थलचर (उभयचर), सरीसृप, पक्षी तथा स्तनधारी की भ्रौणिकी तुलनात्मक अध्ययनों ने यह तथ्य उजागर किया है कि ये सभी प्रारम्भिक अवस्थाओं में पर्याप्त साम्यता रखते हैं। मेंढक के टेडपोल (Tadpole) की रचना, रहन सहन तथा श्वसन मछली की भांति होता है। अतः इससे स्पष्ट होता है कि मेंढक तथा अन्य उभयचरी जीवों का उद्विकास मछलियों जैसे पूर्वज से हुआ है।

उभयचरी जीव (Amphebian) ही नहीं सरीसृप, (Reptiles), पक्षी (Pisces), स्तनधारी (Mammals), जन्तुओं के प्रारम्भिक भ्रूण भी मछलियें की भांति ही परिलक्षित होते हैं। इन सभी में द्विकोष्ठी, हृदय, क्लोम तथा क्लोम–दरारें प्राप्त होती हैं। परन्तु जैसे–2 भ्रूणों का परिवर्धन एवं विकास होता जाता है ये रचनायें विलुप्त हो जाती हैं तथा उस वर्ग के वयस्क जन्तु की विलक्षणतायें विकसित होती जाती हैं। इस तथ्य से यह प्रतीत होता है कि सभी जन्तुओं का विकास भी मछन्नियों जैसे पूर्वजों से हुआ है।

वर्गीकरणवैज्ञानिक साक्ष्य

वर्गीकरण विज्ञान (Taxonomy) में समान संरचना वाले जीवधारियों को एक साथ एक ही जाति में रखा जाता है। एक जाति के जीव दूसरी जाति के सदस्यों से भिन्न होते हैं। कुछ जातियों की इस समानता के कारण उन्हें एक **जीनस** में, और समान जीनस **वंश** में, समान वंश **गण** में, गण **संवर्ग** में, संवर्ग **संघ** में समाविष्ट किये जाते हैं।

इससे प्रतीत होता है कि समस्त जीव एक ही प्रकार के मूल पूर्वजों से उत्पन्न हुये हैं लेकिन भिन्न परिस्थितियों के अनुरूप विलग जन्तु विकसित हुये हैं तथापि उनमें कतिपय मौलिक लक्षण विद्यमान होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी समय सभी जीव समान रहे होंगे लेकिन भिन्न–भिन्न परिस्थितियों के परिणामस्वरूप इनमें परिवर्तन हो गये हैं, उदाहरण स्वरूप– मत्स्य, ऐम्फीवियन (उभयचर), सरीसृप, पक्षी तथा स्तनधारी को संघ कार्डेटा में सम्मिलित किया जाता है क्योंकि इन सभी में जीवन की किसी न किसी अवस्था में पृष्ठ रज्जु, नालिकाकार केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र ग्रसनी तथा क्लोम छिद्र पाये जाते हैं।

तुलनात्मक शरीररचनात्मक साक्ष्य

नाना प्रकार के जन्तुओं का विस्तृत अध्ययन करने पर प्रायः दो प्रकार की संरचनायें पायी जाती हैं–

(i) समजात (Homologous) संरचनायें

(ii) समवृत्ति (Analogous) संरचनायें

(i) **समजात संरचनायें**– कुछ संरचनायें मूल रूप एवं उद्भव की दृष्टि से तो समान होते हैं लेकिन उनके कार्यों में अन्तर होता है। ऐसे अंगों को समजात अंग तथा उनकी साम्यता को समजातता कहते हैं। ये समजात अंग विभिन्न वातावरण एवं परिस्थितियों में रहने से तथा उसके अनुरूप कार्य करने से तदनुरूप उनकी वाह्य रचना परिवर्तित हो जातही है। उदाहरण स्वरूप घोड़े के अग्रपाद, मनुष्य के हाथ, पक्षी व चमगादड़ के पंख, सील के फ्लीपर (Flippers) की मूल रचना एक सी होती है और ये समान अस्थियों से बने होती है तथा आकार में एक दूसरे से पूर्णतया विलग हैं क्योंकि क्रमशः तेज दौड़ने, वस्तुओं को पकड़ने, हवा में उड़ने तथा जल में तैरने के प्रयोग में आते हैं। कार्यों में भिन्नता होने पर भी इन अंगों के कंकाल मूलतः समान दिखाई समान दिखाई देते हैं। कंकाल की समानता से स्पष्ट है कि इन जन्तुओं के पूर्वज समान रहे हैं और इनका उद्विकास हुआ है। समजात अंशों वाले जन्तुओं का होना जैव–उद्विकास की पुष्टि करता है।

(ii) **समवृत्ति संरचनायें**– ऐसे अंगों जिनके कार्यों में समानता होती है लेकिन उनकी मौलिक संरचना एवं उद्भव में भिन्नता होती है उनको समवृत्ति संरचना तथा इस प्रकार की साम्यता को **समवृत्तिता** कहते हैं। जीवों में एक ही वातावरण में कार्य करने के कारण विभिन्न प्रकार की रचनायें भी एक समान दृष्टिगोचर होते हैं उदाहरणस्वरूप, कीट, तितली, पक्षी एवं चमगादड़ के पंख उड़ने का कार्य करते हैं और एक समान दिखाई पड़ते हैं। तितली के पंख काइटिन के एक महीन पल्ले के रूप में तथा निचली सतह पर पेशियों की सहायता से गति करते हैं। इसके विपरीत चमगादड़ के पंख अग्रपादों की चार लम्बी अंगुलियाँ तथा धड़ के मध्य विस्तीर्ण त्वचा से निर्मित है पक्षियों में पंख अग्रभुजा के रूप में विकसित हुये हैं। अतः इनका उद्विकास भिन्न प्रकार के पूर्वजों से भिन्न–2 काल में हुआ है।

अवशेषी अंगों के प्रमाण

जन्तुओं के शरीर में कतिपय ऐसे भी अंग पाये जाते हैं जिनका वर्तमान अवस्था में कोई भी उपयोग नही है। वे कार्य विहीन एवं अनावश्यक हैं। इन्हें अवशेषी अंग (Vestigial organs) कहते हैं। अवशेषी अंगों का जन्तुओं की दूसरी जातियों में सुविकसित तथा क्रियाशील होना जैव विकास की पुष्टि करता है। उदाहरणस्वरूप, कृमिरूप परिशेषिका (Vermiform appendix), निमेषक पटल (nictitating membrane), पुच्छ केशरुका (Coccys) वाह्य कर्ण पेशियां आदि मानव शरीर में पाये जाने वाले अवशेषी अंग हैं।

कृमिरूप परिशेषिका मनुष्य में कार्यविहीन, परन्तु शाकाहारी स्तनीय जन्तुओं में सेल्यूलोज के पाचन के लिये अंधनाल (Caecum) होती है किन्तु मनुष्यों में यह कृमिरूप परिशेषिका एक अवशेषी अंग है। इससे यह प्रतीत होता है कि मनुष्य के पूर्वज शाकाहारी थे। सर्वाहारी स्वभाव के कारण मनुष्य के आहार में सेल्यूलोज की मात्रा कम होने से अधनाल का महतव गौड़ हो गया। परिणामस्वरूप शनैः–शनैः यह छोटी होकर कृमिरूप परिशेषिका के रूप में शेष रह गयी।

निमेषक पटल जो मेढक, मछली, पक्षियों आदि में नेत्र की सुरक्षा में सहायक होती है, मनुष्य के नेत्र में एक अर्धचन्द्राकार रचना के रूप में एक किनारे पर पड़ी है तथा इसका कोई उपयोग नही होता।

पुच्छ कशेरुकाओं से अन्य स्तनीयों, जैसे– गाय, बंदर गिलहरी आदि में लम्बी पूंछ का निर्माण होता है। ये जन्तु पूंछ का उपयोग शरीर की स्वक्षता, सुरक्षा आदि केलिये करते रहते हैं लेकिन मनुष्यों में पूंछ न होने के कारण यह पुच्छ कशेरुकाएं अवशेषी अंग के रूप में हैं जो निरर्थक एवं अनावश्यक हैं।

वाह्य कर्ण पेशियों गाय, घोड़े, कुत्ते आदि में सुविकसित होते हैं और अपने कान का प्रयोग आवश्यकतानुरूप करते हैं, परन्तु मनुष्यो में इसकी आवश्यकता नही है, अतः यह पेशियां अविकसित तथा अवशेषी हैं। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य के पूर्वजों में इन पेशियों का कोई न कोई उपयोग होगा।

भौगोलिक तथा पारिस्थितकी साक्ष्य

विश्व में समस्त स्थानों पर एक से जीव–जन्तु नहीं पाये जाते। इनका भौगोलिक वितरण विचित्र

है जिसे केवल जलवायु की विविधता के आधार पर समझना कठिन है। उदाहरण स्वरूप आस्ट्रेलिया में प्रोटोथीरिया प्रोटोथीरिया वर्ग के 'प्लेटीपस' एवं मेटाथीसिया वर्ग के कंगारू जैसे अनोखे जीव पाये जाते हैं। अन्य महाद्विपों पर यह नहीं है इससे यह स्पष्ट होता है कि भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार वहां पर जीव भी विकसित हुये हैं।

जीव विकास परिस्थितियों के अनुरूप हुआ है अथात उस भूभाग पर उपलब्ध अन्य जीव जन्तु, पेड़ पौघे, इनकी जनसंख्या, पोषण, प्रजनन आदि का प्रत्यक्ष प्रभाव वहां पर रहने वाले जन्तुओं परपड़ता है। इससे सम्बन्धित उदाहरण डार्विन द्वारा गैलेपागोस द्वीप समूह में फिंच–पक्षी, एग्यूना नामक विराट छिपकली तथा बड़े–बडे आकार के ऊपर किये गये अध्ययन है जिसके आधार पर वह जैव उद्विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

शरीर एवं क्रियात्मक जीव रासानिक साक्ष्य

जन्तुओं के शरीर के व्यवहारों के अध्ययन से यह पता चलता है कि क्रिया–विज्ञान जैव उद्विकास के लिये अनेकों साक्ष्य प्रस्तुत करता है, उदाहरणस्वरूप, शिशु के हाथों की पकड़ हमें उसके वृक्षीय पूर्वजों की सम्भावना की ओर संकेत करता है। शिशु अपने विकास के दौरान एक चतुष्पदीय स्थित से गुजरता है। वह ऐसी स्थिति में ओरांगुटान की भांति दृष्टिगत होता है और वृक्षीय अनुकूलन की याद दिलाता है।

स्तनीयों एवं पक्षियों के शरीर का तापमान निश्चित होता है इस के विपरीत सरीसृपों एवं निम्नकोटि के प्राणियों का शारीरिक तापक्रम निश्चित नहीं होता। वह वातावरणानुसार घटता बढ़ता रहता है। इन दोनों के मध्य परवर्ती स्थिति वाले जीव जैसे– डकबिल, प्लैटीपस आदि।

जैव रसायनिक–' जैसे ट्रिप्सिन प्रोटीन को पचाने वाला पदार्थ एक कोशिकीय से लेकर मनुष्य तक, सभी में मिलता है, यह सिद्ध करता हे कि जैव उद्विकास हुआ है।

इसी प्रकार माइटोकाण्ड्रिया लगभग सभी जीवों की कोशिकाओं में मिलता है। इनके इन्जाइम भी समान हैं। सभी कोशिका की ऊर्जा का स्रोत A.T.P. है। समस्त प्राणियों में जीव द्रव्य ही आधार भूत पदार्थ है। इसकी मूल क्रियायें एवं रासायनिक संरचना सभी जीवों में समान है। सभी जीवों की गुणवत्ता की रासायनिक सरचंना डी.एन.ए. नामक न्यूक्लिक अम्ल से हुई है। गुणसूत्रों की संरचना में पायी जाने वाली यह साम्यता एक ही पूर्वज की उपस्थित को प्रदर्शित करती है।

यदि किसी जन्तु के प्रोटीन को खरगोश के रक्त में इंजेक्शन द्वारा रक्त में प्रविष्ट करा दिया जाये तो ये प्रोटीन एण्टीजन (Antigen) के समान कार्य करता है परिणामस्वरूप खरगोश के शरीर में प्रतिपक्षी पदार्थ एण्टीबाडी (Antibody) का निर्माण होता है। ऐसे रुधिर से मिले सीरम को **प्रतिसीरम** कहते हैं। इस प्रकार प्रोटीन द्वारा जीव जन्तुओं के प्रतिसीरम तैयार कर लिये जाते हैं। जब दो प्राणियों के प्रतिसीरम को मिलाया गया तो अवक्षेप उत्पन्न होता है। इसका गाढ़ापन जीवों के सम्बन्ध को प्रदर्शित करता है। जो जितना निकटस्थ जीव होता है उसको प्रतिसीरम का अवक्षेप भी उतना गाढ़ा होता है। यह सीरम व विज्ञान का साक्ष्य भी उदविकास को प्रमाणित करता है।

इसके अतिरिक्त कुछ प्रमाण रोग प्रकियाओं (Pathological processes) एवं परजीवी विज्ञान से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिये एक ही प्रकार के रोगी की सम्भावना अधिक निकटस्थ जीवों में होती है और जूं (Pediculous) जो उच्चस्तनियों को शरीर का परजीवी है केवल मानव एवं चिम्पैंजी में पाया जाता है। यह निम्न कोटि के वानरों में नही पाया जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णित जैव उद्विकास के साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति में जन्तुओं की नयी–नयी प्रजातियाँ सदैव पूर्व विद्यमान जातियों के क्रमिक परिवर्तनों द्वारा उत्पन्न हुई हैं और इसी के फलस्वरूप सरलतम जीवों से जटिल जीवों का उद्विकास हुआ है। अतः अब यहां पर आवश्यक हो गया है कि जैविक उद्विकास की अवधारणा के इतिहास का सिंहावलोकन करते हुये इसका विस्तृत उल्लेख किया जाये।

***

4

जैव–उद्विकास के सिद्धान्त

'उदविकास' आंग्लभाषा के 'इवोल्यूशन' (Evolution) शब्द का अनुवाद है, जो लैटिन भाषा के शब्द 'इवोल्यूरे' (evolure) से व्युत्पन्न हुआ है। 'इवोल्यूरे' शब्द का अर्थ है 'खुलाव' या क्रमशः खुलना' प्रक्रिया। (unrolling or an opening out) । ठीक वैसे ही जैसे कोई पोस्टर या मानचित्र जो बंद एवं लिपटा हुआ हो और उसे एक ओर से शनैः–शनैः खोला जाय। आरम्भ में इस कार्य से मानचित्र का कुछ अंश दृष्टिगोचर होता है शनैः–शनैः कुछ और, अन्ततः उसका सम्पूर्ण चित्र आंखों के सामने होता है। मोटे तौर पर वर्तमान समय में उद्विकास का प्रयोग सामान्यतः समयानुसार परिवर्तित लक्षणों हेतु किया जाता है। उद्विकास के संदर्भ में यह माना जाता है कि जीवन का उद्भव होने के उपरान्त इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ। ये तथ्य बताते हैं कि आरम्भ में जीव सरल संरचना वाला था। वह एक कोशीय प्राणी था शनैः शनैः उसकी संरचना पेचीदी एवं बहुकोशकीय हुई। अतः जैव उद्विकास का सरल संरचना से जटिल संरचना की ओर गतिमान हुआ है जिसका आधारस्तम्भ है– परिवर्तन। परिवर्तन ही उदविकास का मूल है। क्रमिक एवं जैविक परिवर्तन उद्विकास के नियामक हैं। जैविक उद्विकास को यदि बर्डसेल (Birdsell, 1975) के शब्दों में परिभाषित करें तो यह "एक आनुवंशिक समग्र में अवतरित परिवर्तन है जो एक जनसंख्या की सम्पूर्ण आनुवंशिक तत्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं ("a change in the genetic content of tha pool which represents the total inheritable properties of a population") । यह परिभाषा केवल जैव उद्विकास के संदर्भ में ही नहीं बल्कि इसको मानव व्यवहार, मानव संस्कृति, उसकी तकनीक और विज्ञान प्रगति के सन्दर्भ में भी प्रयुक्त हो सकती है। इसे अजैविक उद्विकास (Inorganic Evolution), जैसे— पृथ्वी विकास, सौर विकास अथवा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विकास के प्रसंग में भी संशोधित कर प्रयुक्त कर सकते हैं। ब्रह्माण्ड का उद्विकास, सौर परिवार, गृहों, पृथ्वी आदि के उद्विकास के द्वारा अनुसरित किया गया है। संक्षेप म ें यहां पर यह कहना आवश्यक होगा कि पृथ्वी पर जैव विकास अजैव (inorganic) विकास जैसे– गैसों, चट्टानों, मिट्टियों आदि का विकास, के पश्चात् हुआ है। जैव विकास में सजीवों को सम्मिलित किया जाता है।

इस प्रकार जैव उद्विकास के संदर्भ में यह स्वीकार्य होना चाहिये कि वह एक क्रमिक परिवर्तन है जिसकी दिशा प्रायः सरल जीवों से जटिल प्राणियों की ओर रही है। जब यह परिवर्तन क्रमशः सरल रचना से जटिल संरचना की ओरा उन्मुख होता है तो उसे **"प्रगामी उद्विकास"** कहा जाता है। लेकिन यह भी सत्य है कि धरती पर क्रमबद्ध परिवर्तन न तो एक समान हुये हैं और न ही सरल से पेचीदे प्राणी की रचना की दिशा शाश्वत रही है क्योंकि हम जानते हैं कि परजीवी (Paresites) प्राणी, उदाहरण के लिये– फीताकृमि (Tapewarm) की संरचना में प्रारम्भिक अवस्था में कई अंग होते हैं और शनैः बाद की अवस्थाओं में कम होते चले जाते हैं। अतः उद्विकास की इस प्रकार की गति को **"प्रतिक्रमणी उद्विकास"** कहते हैं।

जैव–उद्विकास एक वृहद, जटिल, अविरल एवं महाकल्पीय प्रक्रिया है। यह दो प्रकार की हैः वृहद् एवं सूक्ष्म। जब हजारों करोड़ों वर्ष पुराने जीवाश्म भूगर्भ से प्राप्त होते हैं। उनकी भूगर्भीय तिथि निर्धारित करके इन्हें तिथिवार प्रस्तुत करते हैं तो इसे **'वृहद् या 'स्थूल उद्विकास'** (Macro Evolution) कहा जाता है जिसमें हम जीवों का समानताओं और असमानताओ के आधार पर उनका वर्गीकरण करते हैं उनका उद्विकासीय वंशवृक्ष निर्मित करके उसमें सरल से जटिल जीवों के विशिष्ट स्थान दर्शाने की चेष्टा करते

हैं। इसमें अपेक्षाकृत वृहद विभेदों को आधार मानते हैं। कभी-कभी सम्पूर्ण जीव जगत के प्राणियों के उद्विकास का एक रेखीय उन्नतशील व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं। जीवों के इस उन्नतशील एवं एकरेखीय उद्विकास को **'आर्थोजेनेटिक उद्विकास'** (Orthogenetic Evolution) के नाम से अभिहित करते हैं। यदा कदा जब दो जीवाश्मों के बीच पर्याप्त भूगर्भीय तिथिक अन्तराल होता है तब इस विचारधारा के आधार पर पुराजीवाश्मशास्त्री **एकरेखीय उद्विकास** (Unilinear Evolution) की निरन्तरता का आश्रय लेते हैं। लेकिन वर्तमान मान्यता यह है कि जैविक उद्विकास जनसंख्याओं द्वारा विभिन्न शाखाओं में अग्रसारित हुआ है और ये जनसंख्यायें छोटी बड़ी अनेकों जनसंख्याओं को उत्पन्न किया है, जिसमें कतिपय जनसंख्यायें दूसरी जनसंख्याओं की अपेक्षा अधिक क्षमतावान उत्तम एवं प्रतियोगी प्रमाणित हुई हैं। नव 'स्थूल उद्विकास' में आकस्मिक घटक अत्यधिक सक्रिय हो जाते है तब इसे जीवाष्मों के आधार पर सिद्ध करना कठिन हो जाता है अतः इस प्रकार स्थूल उद्विकास व्यवस्थित और क्रमबद्ध परिवर्तनों से स्वतः अनेकों श्रृंखलाओं में अग्रसारित होता रहा है।

सूक्ष्म उद्विकास (Microevolution) अपेक्षाकृत मापकों के आधार पर छोटे होते हैं। यह अपेक्षाकृत अल्पाविधि में सम्पूर्ण हो जाते हैं। ये जीवित जनसंख्याओं के अध्ययनों से प्रमाणित किये जाते हैं। यदा कदा विभिन्न काल मापकों एवं विभिन्न अध्ययन सामग्रियों की विद्यमानता से सूक्ष्म उद्विकास व्यर्थ विवादों के शिकार हो जाते हैं लेकिन फिर भी सूक्ष्म विभद (Micro changes) जो इस प्रकार के उद्विकास के आधार है, इतने लघु हैं जिसमें कोई वृहद् प्रवृत्ति प्रमाणित नही हो पाती तथा तस्वीर प्रायः अनेकों जनंसंख्याओं के मिश्रित होने से भी अस्पष्ट रहती है। प्रत्येक जनसंख्या अपनी ही दिशा में गतिशील रहती है जो उद्विकासीय प्रक्रियाओं से मार्गदर्शित होती है। इसमें अवलोकनीय तथ्य स्पष्ट नहीं होते हैं । संयोग (chance) सूक्ष्म विभेदों में अत्यधिक क्रियाशील प्रतीत होते हैं। संक्षेप में सूक्ष्म उद्विकास द्वारा आये वंशानुगत गुणों में परिवर्तन से प्रजातियों **(Race 'or' ethnic group 'or' population)** का जन्म तो सम्भव है लेकिन जातियों (Species) का नहीं।

इस प्रकार उद्विकास दो रूपों में दृष्टिगत होता है (सूक्ष्म एवं स्थूल), इसकी मौलिक प्रक्रिया वंशानुगत गुणों में आये हुये परिवर्तन है। जो परिवर्तन नई जातियों (Species) को उत्पन्न करे उन्हें **स्थूल उद्विकास** कहा जाता है जबकि सूक्ष्म उद्विकास अधिक से अधिक प्रजाति (Race) का जन्म दे सकता है। दूसरे शब्दों में स्थूल उद्विकास कई सूक्ष्म उद्विकासों का संकुल है सूक्ष्म उद्विकास वंशानुगत गुणों में आये हुये सूक्ष्म परिवर्तनों का समूह है तथा परिवर्तन ही वस्तुतः उद्विकास की मूलभूत इकाई है। और यह मूलभूत इकाई जिन विभिन्न कारकों के योग का परिणाम है वे हैं- उत्परिवर्तन, प्राकृतिक वरण, अन्त-प्रजनन, संकरण प्रसरण, जीन अपसरण आदि जिनका उल्लेख हम वाद में करेंगे। यहां पर पहले उन मौलिक विचारधाराओं का वर्णन करेंगे, जिन्होंने सम्पूर्ण सैद्धान्तिक जगत में एक क्रान्ति ला दिया था। इन वैज्ञानिक विचारों ने भ्रामक एवं तथ्यविहीन पौराणिक गाथाओं के विरुद्ध एक लहर उत्पन्न कर दिया था जिनके फलस्वरूप ही आज हम आधुनिक विचार-युग में पहुंच सके हैं।

यदि हम उद्विकासीय इतिहास के पन्ने उलटें तो चार्ल्स डार्विन (8109-1882 A.D.) एक ऐसे 'मील के पत्थर' सावित हुए हैं जिन्होंने भविष्य के विचारों को सम्पूर्णतया पूरे मनोवेग से प्रभावित किया है। है।डार्विन का योगदान उद्विकासीय समझ की दुनिया में स्थायी अवधारणा है यद्यपि ये विचार जैविक उद्विकास की सम्पूर्ण कहानी गढ़ने में पूर्ण समर्थ नही हैं। उनकी व्याख्या आज प्रासंगिक होते हुये भी त्रुटियुक्त है इसलिये यहाँ डार्विन के पूर्व के उद्विकासीय इतिहास का उल्लेख करना युक्त संगत होगा।

डार्विन पूर्व विचारधाराये

डार्विन पूर्व यूरोपीय देशों में जैव विकास पर मौलिक मत प्रस्तुत करने वाले प्राचीन यूनान (Greece) के थेल्स ऑफ मिलेट्स (Thales of Miletus) माने जाते हैं जिन्होंने ईसा पूर्व पौराणिक व्याख्या दिया था कि 'जीवन जल एवं समुद्र से व्युत्पन्न एवं अंकुरित हुआ है। यद्यपि यह मत अलिखत था, फिर भी लम्बे अर्से तक उनके शिष्यों के जिव्ह्या पर जीवित रहा। उनमें से एक शिष्य अनाक्सीमैन्डर (Anaximander, 611-546 B.C) ने विचार व्यक्त किया जो भूगर्भीय एवं जीवाश्मी आधारित थे। इनके अनुसार जीवन कीचड़ से उत्पन्न हुआ जिसमें अंततः मनुष्य अस्तित्व में आये हैं।' लेकिन ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में यूनानी दार्शनिक एवं प्रकृतिविद्वान अरस्तू (384-322 B.C.) ने 'क्रमबद्धता' एवं 'प्रकृति की निरन्तरता' के विचार का

प्रतिपादन किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम निम्न स्वरूप से उच्च जीवस्वरूप का उद्विकासीय विचार प्रस्तुत किया।

अठारहवीं शताब्दी में उद्विकासीय विचारों के प्रणेता जो डार्विन के पूर्ववर्ती हैं उनमें चार महान विचारक हैं- 'जार्ज लुइस डी वफन' (1707–1788), चिवेलियर डी लैमार्क (1744–1829), जार्ज कूवियर (1969–1832) एवं कार्ल वॉन लिनॉय या लाइनियस 1707–1778)

बफन की विचारधारा

अरस्तू के प्रकृति सम्बन्धी अटल विश्वास ने जीव वैज्ञानिकों को डार्विन के पूर्व तक काफी प्रभावित किया। बफन, जो एक प्रांसीसी दार्शनिक व प्रकृतिशास्त्री थे 'मानवविज्ञान का जनक भी माना जाता है, उन्होंने भौतिक नियमों द्वारा संचालित प्राकृतिका प्रसिद्ध प्रक्रियाओं को संगठित किया। पहले तो वफन ने न्यूटन की पुस्तक 'फ्लक्जन' (Fluxions) को फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया जो हिस्ट्री नेचुरील (Historie Naturelle) के पन्द्रह भागों (volume) में प्रकाशित हुई। इसमें कई लेख पृथ्वी की उत्पत्ति, इसका विकास, इस पर जीवन के अनुकूल वातावरण का विकास आदि विषयों पर थे। वे वाइविल के विचारों का खण्डन करने वाले साहसी व्यक्तियों में पहले थे। उन्होंने पृथ्वी की आयु आंकी और भूगर्भीय इतिहास को सात महायुगों में विभक्त किया। वफन का मत था कि "पौधे एवं जीव दोनों समयानुसार अपने शारीरिक लक्षण परिवर्तित करते रहते हैं।" इस प्रकार उन्होंने डार्विन के लिये पृष्ठभूमि तैयार किया।

लिनॉय की विचारधारा या 'लिनियन प्रणाली

स्वीडन ने एक महान वनस्पतिवैज्ञानिक को 1707 A.D. में जन्म दिया जिनको 'लिनॉय' (Karl von Linne) या लाइनिंयस के नाम से जाना जाता है। इन्होंने वर्गीकरणविज्ञान को एक नवीन मोड़ दिया तथा पृथ्वी पर विद्यमान पौधों एवं जन्तुओं का नामकरण करके उन्हें व्यवस्थित एवं क्रमबद्धता से विभक्त किया जो लीनियन प्रणाली के नाम से विख्यात है उनका यह कार्य 'सिस्टमा नेचुरी' (Systema Naturae) नामक ग्रंथ में 1735 A.D. में प्रकशित हुआ। इस समय इनकी आयु मात्र 25 वर्ष थी। इन्होंने अपने मौलिक कार्य हेतु लैटिन भाषा का चयन किया जो वाद में अन्य प्राचीन भाषाओं का अनुवाद हुआ जिससे इनकी वर्गीकरण पद्धति और प्रख्यात हो गयी। इनहोंने प्राणियों की समान एवं विषम संरचना के आधार पर सोपानीकृत वर्गीकरण प्रणाली विकसित की। उनकी मौलिक द्विनामी पद्धति (Binomial System) में वंश (genus) एवं जाति (Spicies) का प्रयोग होता है आजकल त्रिनामी प्रणाली (Trinomial system) में रूपान्तरित हो गयी है जिसमें दो नामों के अतिरिक्त तीसरा नाम उपजाति (Sub-Spicies) अथवा प्रजाति (Race) भी जोड़ा गया है। इनके प्रकृति जगत (वनस्पति एवं जन्तु) के वर्गीकरण प्रणाली मं मात्र कुछ परिवर्तन हुआ है।

उन्होंने अपने विस्तृत वर्गीकरण में कतिपय त्रुटियाँ भी की, जैसे- चमगादड़ (bat) को उच्चस्तनियों में सम्मिलित किया, लेकिन सामान्यतः उनका निर्णय समुचित है। उनका यह योगदान अनेकों वनस्पति एवं जीव शास्त्रियों के लिये वरदान सिद्ध हुआ। डार्विन भी इससे प्रभावित थे और इस सोपानी कृत वर्गीकरण प्रणाली के आधार पर ही उन्होंने क्षेत्रीय संकलन किया।

लैमार्ककी विचारधारा या लैमार्कवाद

(Lamarckism)

फ्रांस ने अठारहवीं शदी में जिस एक और व्यक्ति को उत्पन्न किया जिसने अपने अनूठे कार्यों से प्रकृति विज्ञानों को पुनः आकृष्ट किया, वह है- चिवालियर डी लैमार्क।इन्होंने सन् 1744 ई. में जन्म लिया। वह एक समर्पित उद्विकासवादी विद्वान थे।इनकी उद्विकासीय प्रक्रियात्मक व्याख्या अपर्याप्त एवं अनुचित समझी गयी। लैमार्ककी श्रद्धा लिनायस में थी।लेकिन वे जाति के स्थिरता में विश्वास नहीं करते थे। उनका विश्वास पे ड पौधो व जीव जन्तुओं में परिवर्तनशीलता पर अटल होता गया। सन् 1809 में इन्होंने फिलॉसफी जूलागीक ((Philosophie Zoologique) नामक ग्रंथ प्रकाशित करवाया। इसमें इन्होंने **जीवों में अंगों के प्रयोग एवं अनुपयोग की आनुवंशिकी** महत्व बताया जिसे उपार्जित लक्षणों की वंशागति के नाम से भी जाना जाता है। लैमार्क ने जैव उद्विकास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने का प्रथम प्रयत्न किया जो 'लैमार्कवाद' के नाम से पुकारा जाता है। इनके सिद्धान्त के मुख्य नियमों का उल्लेख यहां किया जा रहा है।

1. **आन्तरिक बल या जीवन शक्ति-** लैमार्कका विश्वास था कि प्रत्येक जीव में कोई आन्तरिक शक्ति या बल होता है जो निरन्तर वृद्धि रहती है। इनका यह भी मानना था कि जीव का स्वभाव, आकृति व

अन्य लक्षण वातावरण से प्रभावित होते हैं। परिवर्तित वातावरण में जीवों को नवीन परिस्थितियों का मुकाबला करना पड़ता है। अपनी आन्तरिक जीवन शक्ति की पूर्ति हेतु उसे नवीन आदतें विकसित करनी पड़ती हैं। लैमार्क का विश्वास था कि वातावरण, मिट्टी, ताप एवं भोजन का प्रभाव जीवों पर पड़ता है। उन्होंने ऐसे उदाहरण भी प्रस्तुत किये जिनमें वातावरण की भिन्नता थी, फलस्वरूप जीवों में भी पर्याप्त विभ ेद पाये गये जैसे बीच (Beech) नाम पेड़ मे सूर्य के प्रकाश की ओर रहने वाली पत्तियों में पालीसेड (Polysade) ऊतकों की दो परते होती हैं। इसके विपरीत छाया में रहने वाली पत्तियों में केवल एक ही स्तर पाया जाता ह ै। संक्षेप में, लैमार्क की परिकल्पना का आवश्यक तत्व है— वातावरण का जीवों पर प्रभाव लेकिन जीवों की जीवन शक्ति उनकी आवश्यकताओं एवं आदतों के अनुसार कार्य करती है। यह जीवों की रचनात्मक जटिलता के प्रगति को सुरक्षित करती है जो नियमित एवं क्रमवद्धता से अवतरित होते हैं फलस्वरूप जीव के आकार की वृद्धि होती हैं तथा उसके अंग प्रत्यंगों का परिवर्धन होता है।

2. **नवीन अंगों का प्रादुर्भाव–** लैमार्क की धारणा थी कि जीव के शरीर के प्रत्येक अवयवों का विकास या प्रादुर्भाव वस्तुतः उसकी नवीन एवं आवश्यकताओं की अवरिल अनुभूति के फलस्वरूप होती है। उसे नवीन वातावरण में अपना अस्तित्व बनाये रखने हेतु नितान्त आवश्यक हो जाता है कि वह नवीन अवयवों का विकास करे अतः उस अंग का अभाव बार–बार उस जीव के शरीर को (सम्भवतः मस्तिष्क को) कचोटता रहता है जिससे जीव का शरीर नये अंगों का उद्भव करता है।

3. **अवयवों का उपयोग एवं अनुपयोग–** इनका अटल विश्वास था कि किसी अंग का नियमित एवं अधिकाधिक प्रयोग किया जाये तो वह अधिक विकसित हो जाता है तथा इसके विपरीत यदि किसी अंग का समुचित उपयोग न किया जाये तो वह शनैः– शनैः अपघटित होता है। इसकी व्याख्या हेतु जिराफ की गर्दन, जलचर पक्षियों की लम्बी टांगे, जमीन पर चलने वाले सांप, उड़ने वाले जीवों में फेफड़े की अनुपस्थित आदि के उदाहरण प्रस्तुत किये। उनके अनुसार जिराफ के पूर्वजों ने जब ऐसे स्थल–प्रदेशों में अभिगमन किया जहां घास का अभाव था तो पेड़ की पत्तियों को खाने के लिये उनहें अपनी गर्दन को ऊपर की ओर खींचना पड़ता था इनकी गर्दन एवं अगली टांगों का अधिकाधिक प्रयोग होने के कारण ये लम्बी हो गयीं और अपने इसी प्रकार के प्रयोग से ये लक्षण कई पीढ़ियों पश्चात् स्थायी हो गये।

इसके विपरीत सर्प के पूर्पजों के पैर होते थे लेकिन ये अनुपयोग के कारण शनैः–शनैः अपघटित ह ोते गये और कई पीढ़ियों पश्चात् ये पूर्णतः विलुप्त हो गये और वंशज सर्पों का यह स्थायी लक्षण बन गया।

4. **उपार्जित लक्षणों की आनुवंशिकता–** लैमार्क का मत था कि अंगों के प्रयोग एवं अनुपयोग के कारण जीव अपने जीवन काल में एक विशेषता अर्जित कर लेता है जो वंशागति के द्वारा अगली पीढ़ी में उसकी सन्तती में हस्तान्तरित होती हैं। इस प्रकार उपार्जित लक्षणों की वंशागति क्रमिक होने से नवीन जातियाँ (Spicies) बन जाती है।

लैमार्कवाद की समीक्षा

इस प्रकार लैमार्कने उपरोक्त वर्णित परिकल्पना उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशक (1809 A.D.) में प्रस्तुत की जिसने उत्तरवर्ती प्रकृति विज्ञानियों को जैव उद्विकास पर शोधकार्य करने को प्रेरित ही नहीं, विवश भी किया। लैमार्ककी भूलों का सावधानीपूर्वक परखने वाला व्यक्ति और कोई नही था, चार्ल्स डार्विन ही थे जिन्होंने लैमार्क की विचारधारा का पूर्ण लाभ लिया।

(i) वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यदि लैमार्क के सिद्धान्तों की विवेचना करें तो इनका **प्रथम नियम** अप्रासंगिक है क्योंकि इनका मानना था कि जीवों का आकार निरन्तर बढ़ता रहता है। यह शाश्वत नही है और आज जीवाश्म साक्ष्यों से यह सिद्ध हो चुका है कि जीवों का आकार निरन्तर नहीं बढ़ा है, जैसे मीजोइक महाकल्प के जुरासिक युग के विशालकाय सरीसृत– डायनासोर अन्ततः विनष्ट एवं विलुप्त हो गये। यदि जीवन शक्ति या आन्तरिक बल होता जिससे जीवों के आकार में निरन्तर वृद्धि होती रहती है तो डाइनासोर अपना और अधिक आकार बढ़ाकर जीवित क्यों नहीं रह सका, पूर्णतः विलुप्त क्यों हो गया ? यदि हम मनुष्य के शारीरिक संवृद्धि एवं विकास पर नजर डालें जो कि एक कोशिका (युग्मनज) से अपनी यात्रा आरम्भ करता है और प्रौढ़ावस्था तक वृद्धि करता है लेकिन तदोपरान्त उसकी शारीरिक संवृद्धि एवं विकास अवरुद्ध क्यों हो जाती हैं ? अतः लैमार्क का प्रथम नियम असत्य एवं भ्रामक है इसकी सार्वभौमिकता सिद्ध नहीं होती।

(ii) यदि लैमार्क के **द्वितीय नियम** पर विचार करें जो नवीन अंगों के प्रादुर्भाव से सम्बन्धित है तो इसमें नवीन अवयवों को नई आवश्यकताओं की अनुभूति एवं तद्सम्बन्धित किये गये प्रयत्नों के कारणों से उत्पन्न बताया गया है। यह सर्वथा अतर्कसंगत एवं भ्रामक है जो नवीन अंगों के प्रादुर्भाव की व्याख्या करने में पूर्ण असमर्थ है क्योंकि आज हम जानते हैं कि 'उत्परिवर्तन' या आनुवंशिक प्रक्रियायें ही इनकी जन्मदाता हैं।

(iii) लैमार्क का **तृतीय नियम** जो अंगों के प्रयोग एवं अनुपयोग से सम्बन्धित है, यह पूर्णतः अप्रासंगकिक नहीं माना जा सकता। इसकी प्रासंगिकता इसी बात से सिद्ध होती है कि डार्विन ने भी इस तथ्य का आश्रय लिया है। किसी अवयव का उसकी क्षमता से अधिक प्रयोग करने से उस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अंगों के प्रयोग से उस अंग का विकास सम्भव है और अनुपयोग से अवयव अपघटित भी हो सकता है उदाहरणस्वरूप मानव दंत विन्यास जिसमें तृतीय चवर्णक विलुप्त होता जा रहा है जो सम्भवतः उनका पूर्णतः प्रयोग न होने के कारण है। लेकिन मानव में अवशेषी अंग जैसे– कृमिरूप परिशेषिका, निमेषक पटल, वाह्य कर्ण पेशियां आदि का उपयोग न होने के कारण विलोप नहीं हो सका यद्यपि ये अपघटित हुये हैं। संक्षेप में, अंगों के उपयोग एवं अनुपयोग सर्वथा असत्य नहीं है यह वर्तमान समय में भी पूर्णतः नही लेकिन अंशतः सत्य एवं प्रासंगिक हैं।

(iv) लैमार्क का चतुर्थ नियम इनकी विचारधारा का सारतत्व है यह अतर्कसंगत है और आधारविहीन है। वाइज़मैन ने अपनी प्रयोगों से इसकी तीखी आलोचना की। उन्होंने लगातार बीस पीढ़ियों तक चूहों की पूंछे काटी, लेकिन अन्ततः कोई भी चूहा पूंछ विहीन नहीं मिला। उनके अनुसार यदि 'उपार्जित लक्षणों की वंशागति सत्य प्रक्रिया होती, तो कम से कम अन्तिम पीढ़ी के चूहे पुच्छ–विहीन होते' अतः इसी प्रकार आज हम अपने आस–पास देखते है कि विकलांगता, महिलाओं में नाक कर्ण छेदन एवं गोदना (Tatooing) आदि लक्षण वंशानुगत नही होते हैं। संक्षेप में उपार्जित लक्षण वंशानुगत नहीं होते जिनके स्थायी होने से कोई नई जातियाँ उत्पन्न होती हो।

इस प्रकार यद्यपि लैमार्क की अवधारणा जैव उद्विकास की व्याख्या करने में अक्षम है फिर भी उद्विकासीय विचारधाराओं हेतु एक नींव तैयार करने में सक्षम रही है जिसका उपयोग परवर्ती उद्विकास यह उस संदर्भ में महत्वपूर्ण अवश्य है जब लैमार्ककाल का स्मरण करते हैं जिस समय सम्पूर्ण विश्व पौराणिक अंधविश्वासों में जकड़ा हुआ था तथा उद्विकास और जैविक उद्विकास का उल्लेख करना कठोर अपराध माना जाता था। ऐसे प्रतिकूल समय में तथ्याधारित परिकल्पना का उल्लेख कोई दुस्साहसी एवं विद्वान पुरुष ही कर सकता है भले ही उसका कालान्तर में खण्डन हुआ हो।

नवलैमार्कवाद (Neo-Lamarckism)

वाइज़मैन (Weismann) एवं कूवियर (Cuvier) की तीखी आलोचना के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अन्तिम दशक में लैमार्क के विचारों का महतव घटने लगा था लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लैमार्क के योगदान पर पुनः ध्यान दिया गया और इन्हें रूपान्तरणवाद (metamorphosisism) का प्रवर्तक माना गया। तदोपरान्त नवलैमार्कवाद (New Lamarckism) अपने निखरे स्वरूप में अवतरित हुआ। इस विचारधारा को पुनर्जन्म देने वालों में अमेरिका के जीवाश्म वैज्ञानिक ई.डी. कोप (1840–1898) एवं आइमेर (T.Eimer 1842– 1892), स्पेंसर (Spencer), पैकार्ड (Packard), नैगेली (Naegali) आदि प्रमुख थे।

कई वैज्ञानिकों ने लैमार्क की विचारधारा का विश्लेषण करके कुछ नियमों को स्वीकार करके कुछ का खण्डन किया। लेकिन नव लैमार्कवादियों ने अपने प्रयोगों से उपार्जित लक्षणों को परिभाषा–बद्ध करके उनकी वंशगति को सिद्ध किया।

मैक्डागल (Mc Dougall) ने चूहों को निर्धारित एवं विशेष मार्ग से निकलने का प्रशिक्षण दिया और इस तथ्य की प्राप्ति की कि प्रशिक्षण प्राप्त पूर्वजों की सन्तति चूहों ने निर्धारित मार्ग का अनुसरण करने में त्रुटियां कम की। इस प्रयोग के आधार पर उपार्जित लक्षणों की वंशागति को सिद्ध किया। टॉवर (Tower) ने भी नव लैमार्कवाद का समर्थन किया इन्होंने आलू की बीटल्स (Beatles) की सन्ततियों को ताप एवं नमी की उग्र दशाओं में रखने पर उनमें स्पष्ट परिवर्तन देखा तथा इन विकसित परिवर्तनों की (जो एक उपार्जित लक्षण है) वंशागति को सिद्ध किया।

संक्षेप में, नवलैमार्कवाद प्राचीन लैमार्कवाद के गौड़ नियमों से विहीन इस विचारधारा में लैमार्क के

कटु–आलोचकों जैसे– वाइज़मैन को कटघरे में खड़ा किया गया। इसमें अंगों के उपयोग एवं अनुपयोग से उपार्जित अवयवों की अनुवंशिकता पर बल दिया जो कालान्तर में जीवों के वंशजों को परिवर्तित करते हैं और इस परिवर्तन से नई जातियां (Spicies) उत्पन्न होती हैं।

कूवियर की विचारधारा

फ्रांसीसी विचारकों में कोई भी व्यक्ति डार्विन को इतना लाभ नहीं पहुंचा सका जितना जार्जस कूवियर (1769–1832) ने अपने विस्तृत जीवाष्मिक एवं तुलनात्मक शरीर रचनात्मक अध्ययनों से उन्हें लाभान्वित किया। सम्भवतः कूवियर पहले अपेक्षाकृत आधुनिक विचारों वाले तुलनात्मक शरीररचनावैज्ञानिक थे। इन्होंने अपने अध्ययनों से 'प्रलयवाद' का सिद्धान्त (Theory of Catatrophism) प्रस्तुत किया जो त्रुटियुक्त एवं पर्याप्त तथ्यों पर आधारित नहीं है चूंकि इसका उल्लेख जीवन की उत्पत्ति के संदर्भ में यहां के पूर्व किया जा चुका है अतः हमें इसकी पुनरुक्ति नहीं करना चाहिये। लेकिन इनके योगदान केक्रम में इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि इन्होंने डार्विनवाद की पृष्ठभूमि तैयार करने में सहायक सिद्ध हुये हैं।

डार्विनवाद या 'प्राकृतिक वरणवाद'

(Darwinism or Natural Selection)

12 फरवरी 1809 को इंग्लैण्ड केएक सम्भ्रान्त परिवार में एक बालक ने जन्म लिया। पिता रावर्ट डार्विन जो एक प्रख्यात चिकित्सक थे, ने इसका नाम 'चार्ल्स' रखा। यह बालक उसी दिन जन्मा था जिस दिन प्रसिद्ध राजनेता अब्राहम लिंकन ने जन्म लिया था। चार्ल्स प्रकृति प्रेमी थे इसलिये स्कूली शिक्षा नियमित नहीं रही। उनको बचपन से जीवों का अध्ययन एवं इन्हें संग्रह करना रुचिकर लगता था।

चार्ल्स डार्विन के प्रेरणास्रोत दो अंग्रेजी वैज्ञानिकों को माना जा सकता है : थामस माल्थस (1766–1838) एवं चार्ल्स लायल (1798–1875 A.D.)। इनके उल्लेखनीय कार्यों को जाने विना डार्विनवाद को समझना तर्कसंगत नहीं होगा। अतः हम दोनों महान शोधकर्ताओं का डार्विनवाद पर प्रकाश डालने के पूर्व ही संक्षेप में वर्णन करेंगे।

थामस माल्थस (Thomus Malthus) एक अर्थशास्त्री थे जिनका प्रमुख कार्य जनसंख्या का सिद्धान्त (An Essay on the Principle of Population) एक लेख के रूप में प्रकाशित हुआ। इसमें इन्होंने अपना आधारभूत सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि खाद्य सामग्री की वृद्धि अंकगणितीय अनुपात (mathamatical ratio) में होती है जब कि जनसंख्या की वृद्धि ज्यामितिक अनुपात अर्थात गुणोत्तर अनुपात (Geometrical ratio) में होती है। इस प्रकार भोजन वृद्धि के अनुपात में अधिक जनसंख्या वृद्धि (जन्मदर) के फलस्वरूप भोजन के लिये जन समुदाय में संघर्ष होना स्वाभाविक है जिससे प्रकृति संतुलन बनाती है।डार्विन ने इस तथ्य को बारीकी से समझने का प्रयास किया जो अन्त में उनकी विचारधारा का मुख्य आधार बना।

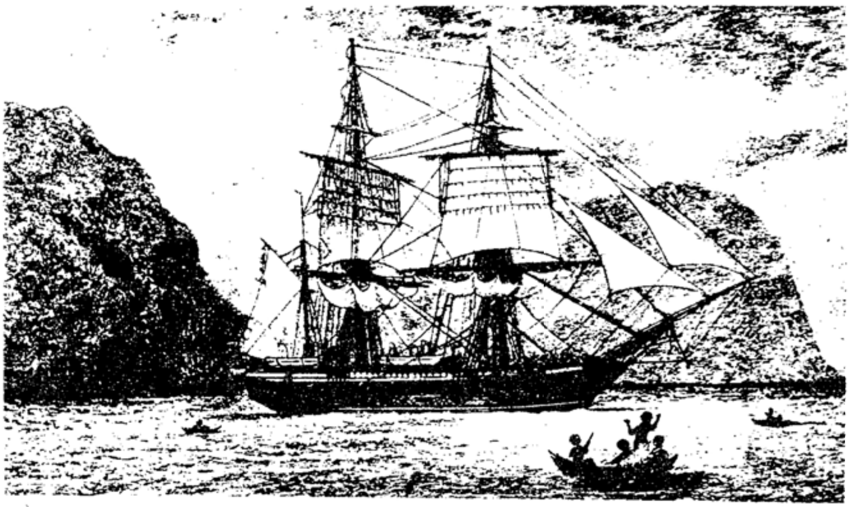
दूसरे चार्ल्स लायल (Charles Lyell) जो आधुनिक भूगर्भविज्ञान के जनक माने जाते हैं, उनकी 'भूगर्भ के सिद्धान्त' (The Principles of Geology) नामक ग्रंथ का प्रभाव डार्विन पर अधिक पड़ा। लायल का मत था कि पृथ्वी पर प्राकृतिक शक्तियों के कारण परिवर्तन होते रहते हैं। ये पर्वत, मरुभूमि, तराई, घाटियां, नदियाँ, झीलें, द्वीप, एवं सागर इन्हीं कारणों से उत्पन्न हुये हैं। ये प्राकृतिक शक्तियां (Forces) अतीत में भी कार्यरत थी, आज भी क्रियाशील हैं और भविष्य में भी सक्रिय रहेंगी।

इन शाश्वत शक्तियों से प्रकृति में परिवर्तन सर्वथा होते रहे हैं जैसे ताप, वायु, एवं बहता हुआ पानी लम्बे समय में मिट्टी के ऊंचे धरातल बनाता है। मैदानों में बहने वाली नदी मिट्टी काटकर धीरे–धीरे घाटी बनाती है और कहीं पर एकत्रित होकरके डेल्टा (Delta) बनाती है। इस प्रकार इन तथ्यों को डार्विन की जिज्ञासा को और बढ़ाया। इनके मस्तिष्क में अन्य प्रश्न भी उठने लगे, जैसे– पृथ्वी का उद्भव कैसे हुआ ? यह प्रारम्भिक अवस्था में कैसे थी ? क्या इस पर आरम्भ में जीवन था ? क्या जीवन तब भी आज की तरह था? और जीवन किस प्रकार वर्तमान स्वरूप में आया है आदि।



चित्र 4 : 3 चार्ल्स डार्विन (1849)

इसके अतिरिक्त चार्ल्स डार्विन अपने 22 वर्ष की आयु तक कई व्यक्तियों के सम्पर्क में आये। चूंकि इनका मन स्कूली शिक्षा में नहीं रमता था और प्रतिष्ठित पिता की अभिलाषा थी कि वह जीवन में प्रतिष्ठित व्यक्ति बने, तो उन्होंने चिकित्सा अध्ययन हेतु इडिनवर्ग विश्वविद्यालय में उसके बड़े भाई के साथ भेजा वहां भी जब चार्ल्स ठहरन पाये तो उसे चर्च का पादरी बनने के लिये तद्सम्बन्धित शिक्षा के लिए कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भेजा। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में 1828 में प्रवेश लिया था वहां से बी.ए. की उपाधि 1831 में प्राप्त किया। इस बीच प्राचीन कला, (Classics), गणित (Mathmatics) एवं धर्मशास्त्र (Theology) का अध्ययन किया। यहीं पर वह डब्ल्यू डार्विन फाक्स (W.Darwin Fox) के सम्पर्क में आये और इनसे कीट विज्ञान (Entomology) सीखा। तदोपरान्त प्रोफेसर हेन्सलो (Henslow) के सम्पर्क में आकरउन्हें वनस्पति विज्ञान, कीटविज्ञान, रसायन विज्ञान, खनिज विज्ञान एवं भूगर्भ विज्ञान के बारे में परिचय हुआ।



चित्र 4 : 4 दक्षिण अमेरिकाई क्षेत्र के मैडगेलन जलडमरूमध्य (Straight) में भ्रमण करता हुआ एच.एम.एस. बीगल

अन्तिम वर्षों में हम्बोल्ट (Humboldt) की वैयक्तिक व्याख्यायें एवं हर्सकेल (Herschel) की प्रकृति–दर्शन का अध्ययन किया।

इस अध्ययन की श्रृंखला में इन्होंने लैमार्क और अपने दादा इरैस्मस डार्विन (Erasmus Darwin) का गहनतापूर्वक अध्ययन किया। अन्ततः कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के द्वितीय खोजी वैज्ञानिक अभियान दल में इनको एक सदस्य की तरह सम्मिलित किया गया। वैज्ञानिक दल ने एच.एम.एस वीगल नामक जहाज से 1831 में प्रस्थान किया। युवा प्रकृति वैज्ञानिक दक्षिणी अमेरिका के दोनों तटों का अवलोकन किया एवं पैटागॉनिया (Patagonia) में जन्तुओं में जीवाश्म, कपाल अवशेष प्राप्त किये।

इसके अतिरिक्त यहां के विभिन्न जन्तुओं का अध्ययन एवं संग्रह किया। यहां पर यह अनुभव किया कि जीव संख्या में अधिक है लेकन नवजात शिशु मुश्किल से जीवित रह पाते हैं। तदोपरान्त गैलापागोस (Galapags) द्वीप में गये। यहां पर विभिन्न प्रकार के जीवों की उपस्थिति से यह द्वीप डार्विन की जीवित जन्तुओं की प्रयोगशाला प्रमाणित हुई। यहां पर डार्विन ने विभिन्न पक्षियों, कीटों, सरीसृपों आदि जन्तुओं व वनस्पतियों की निरीक्षण करके तथ्यों एवं आंकड़ों का संग्रह किया। अन्ततः न्यूजीलैंड, एवं आस्ट्रेलिया होते हुये पांच वर्ष केबाद वह इंग्लैण्डवापस आये।

वास्तव में डार्विन की विचारधारा ने विकसित होने में एक लम्बी अवधि लिया। इन्होंने 1836 में माल्थस के जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त का गहन अध्ययन किया। डार्विन ने 20 वर्षों वाद अपनी उद्विकासवादी विचारधारा को संग्रहीत तथ्यों के आधार पर क्रमबद्ध किया ही था कि उन्हें अपने एक मित्र- आलफेड रसेल वैलेस (1823-1913) का 1858 में एक लेख प्राप्त किया, जिसे उसके मित्र ने चार्ल्स लॉयल को दिखाने हेतु उसके पास भेजा था। डार्विन वैलेस के लेख को देखकर स्तब्ध रह गये क्योंकि उसके विचार डार्विन के लेख के विचारों से काफी मेल खाते थे। उदार हृदय वाले डार्विन हिचकिचाये लेकिन उनके मित्रों ने विशेषकर चार्ल्स लॉयल तथा डॉ. हूकर ने लीनियन सोसाइटी में 1858 में दोनों शोधपत्र पढ़ने की सलाह दी। लेकिन कोई भी शोधपत्र सोसाइटी के सदस्यों का ध्यान आकृष्ट करने में पूर्ण सक्षम न हो सके। जब 24 नवम्बर, 1858 में डार्विन की पुस्तक- 'ऑन दि ओरीजिन ऑफ स्पीसीज" (On the Origin of Species) प्रकाशित हुई तो "प्रकृतिशास्त्रियों ने जोरदार स्वागत किया। उनकी विचारधारा इस प्रकार है-

प्राकृतिक वरणवाद प्रमुखतः **तीन तथ्यों** पर आधारित एक विचारधारा है जिसमें दो निष्कर्षों पर बल दिया गया है। लेकिन अर्नस्ट मॉयर (1932) ने डार्विन के पांच तथ्यों को उजागर करके उन पर आधारित तीन निष्कर्षों की ओर ध्यान दिलाया है। जिसे निम्न तालिका द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है-

तथ्य	निष्कर्ष
1. प्रत्येक जीवों की जनन क्षमता अपार है जिससे जन समुदायों के आकार में गुणात्मक वृद्धि होती है।	1. जीवन संघर्ष में कुछ ही जीवित रह पाते हैं शेष की मृत्यु हो जाती है।
2. जनसमूहों की संख्या में स्थिरता यद्यपि वार्षिक रूप से लघु एवं दीर्घ उतार चढ़ाव।	
3. प्राकृतिक संसाधन जैसे- भोजन, आवास सीमित	
3. जनसमुदायों में अत्यधिक विविधता और कोई भी दो व्यक्ति बिल्कुल एक से नहीं।	2. समर्थ की उत्तरजीविता
5. परिलक्षित विविधता अधिकांशतः वंशागत।	3. प्राकृतिकवरण की प्रक्रिया कई पीढ़ियों बाद परिवर्तन लाने में सफल अन्ततः नवीन जाति की उत्पत्ति।

उपर्युक्त तालिका का मूल तत्व डार्विन के तृतीय निष्कर्ष में निहित है।जिसके अनुसार प्राकृतिक वरण एक जटिल प्रक्रिया है जिसके द्वारा नव जातियों की उत्पत्ति होती है जो जन समुदायों में (जीवों में) शनैः-शनैः कई पीढ़ियों के पश्चात परिवर्तन लाती है। वह परिवर्तन ही उद्विकास की इकाई है। सम्भवतः डार्विन को जनसंख्या पारिस्थितकी का पूर्ण ज्ञान था जिन्होंने अनुकूलन का विश्लेषण किया जो सर्वथा मौलिक एवं स्पष्ट है। डार्विन की सम्पूर्ण विचारधारा को मुख्यतः पांच परिकल्पनाओं में वर्णित किया जा सकता है। जो इस प्रकार हैः

1. अपार जनन क्षमता
2. जीवन संघर्ष एवं प्राकृतिक संतुलन
3. समर्थ की उत्तरजीविता
4. विभेद तथा आनुवंशिकता
5. वातावरण के प्रति अनुकूलन या प्राकृतिक वरण एवं नवीन जातियों की उत्पत्ति।

1. **अपार जननक्षमता**– डार्विन का मानना था कि प्रत्येक जीवों में संतति उत्पन्न करने की स्वाभाविक इच्छा होती है तथा इनमें अपार जनन क्षमता है। ड्रोसोफिला या फलमक्खी एक समय में 200 अण्डे देती है अण्डों से मक्खियों 10-14 दिन में उत्पन्न हो जाती हैं यदि इन अण्डों से बनी सभी फलमक्खियां जीवित रहें और निरन्तर जनन करती रहें तो 40-45 दिन में इन मक्खियों की संख्या 20 करोड़ हो जायेगी। दूसरी ओर हाथी की जनन क्षमता अपेक्षाकृत कम होती है। अनुमानतः एक जोड़ा हाथी 30 वर्ष से 90 वर्ष की आयु के अपने जीवन काल में कुल 6 सन्ततियों को जन्म दे पाता है। यदि ये सभी बच्चे जीवित रहें तो 750 वर्षों में उस जोड़े हाथी से लगभग 2 करोड़ हाथी उत्पन्न हो सकते हैं। इसी प्रकार आम की गुठली से संवर्धित पौधे से हमें भारी संख्या में आम मिलते हैं और यदि सभी गुठलियां पुनः अंकुरित होकर आम का पौधा बने तो असंख्यों आम मिलेंगे, और आम के पौधों को गिनना दुष्कर हो जायेगा।

2. **जीवनसंघर्ष एवं प्राकृतिक संतुलन**– लेकिन सन्तानोत्पत्ति की अपार क्षमता होने पर भी जीवों की संख्या लगभग स्थिर रहती है क्योंकि जीवों की सभी सन्ततियां जीवित नहीं रह पाती। उनमें से अनेकों वयस्क नहीं बन पाते और समस्त वयस्क वंशज भी जीवित नहीं रह पाते। दूसरे शब्दों में प्रत्येक जीव की बहुत सी सन्ताने वयस्क होने पर या उसके पूर्व ही किसी न किसी कारण से मृत्यु का शिकार होती है क्योंकि उन्हें जीवित रहने के लिए प्राकृतिक संसाधन जैसे भोजन, आवास आदि मूलभूत आवश्यकता है। इन संसाधनों की वृद्धि सीमित है जो अपरिमित जन्तुओं की आवश्यकता पूर्ति नहीं कर सकती। परिणामस्वरूप जीवों में जन्म से ही संघर्ष आरम्भ हो जाता है। यह संघर्ष तीन अवस्थाओं में होता है, अन्तः जातीय, अन्तर्जातीय एवं वातावरणीय पहले एक ही समुदाय अथवा जाति के सदस्यों के मध्य क्योंकि सभी सदस्यों की आवश्यकतायें समान हैं, दूसरे विभिन्न जातियों के सदस्यों के मध्य, और तीसरे, वातावरण में अनेकों वार्षिक लघु अथवा भीषण आपदाओं जैसे- सूखा, बाढ़, महामारी, कड़ाके की सर्दीआदि से संघर्ष। संक्षेप में, जीवित रहने के लिये भोजन एवं आवास आदि प्राप्त करने के लिये जीवों में एक स्पर्धा सदैव रहती है जिसे हम **जीवन संघर्ष** कहते हैं।

समर्थ की उत्तरजीविता– इस जीवन संघर्ष के परिणामस्वरूप वही जीव जीवित रह पाते हैं जो इस संघर्ष में सफल होते हैं तथा असफल व निर्बल जीवों की मृत्यु हो जाती है। दूसरे शब्दों में समर्थ जीव ही उत्तरजीवी होते हैं शेष नष्ट हो जाते हैं। जीवित रहने के लिये भी सभी जीवों को समान संघर्ष भी नहीं करना पड़ता है क्योंकि कुछ जीव अन्य जीवों की तुलना में उस विशेष वातावरण में रहने के लिये अधिक उपयुक्त होते हैं।

विभेद तथा आनुवंशिकता– डार्विन का मानना था कि प्रत्येक जीवों में अत्यधिक भिन्नता विद्यमान है और एक ही जाति में कोई भी दो जीव एक समान नहीं होते हैं। ये परिलक्षित भिन्नता अधिकाधिक

रूप से वंशानुगत होती है। दूसरे शब्दों में विशेषकर के वे भिन्नतायें जो जीवन संघर्ष में भी उपयोगी होती हैं, वही वंशानुगत होती है।

वातावरण के प्रति अनुकूलन या प्राकृतिक वरण एवं नवीन जातियों की उत्पत्ति- डार्विन का अटल विश्वास था कि भीषण जीवन संघर्ष में जीवित बचे रहना कोई आकस्मिक घटना (random) या प्रक्रिया नहीं है। यह व्यक्ति की आन्तरिक (आनुवंशिक) संरचना पर निर्भर करता है कि जो व्यक्ति जीवन संघर्ष में जीवित रह पाते हैं वे स्वभावतः विनष्ट हुए व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक सक्षम एवं योग्यतम होते हैं। यह असमान उत्तरजीविता प्राकृतिक वरण की एक प्रक्रिया है। साथ ही साथ उन जीवों को जो वातावरण में रहने के लिये अनुपयुक्त है तथा वातावरण की परिस्थितियों के प्रतिकूल है उन्हें वातावरण में रहने के अनुकूल जीवों से स्वतः अधिक संघर्ष करना पड़ता है अर्थात दोनों में कुछ न कुछ विभेद अवश्य होते हैं। यदि यह विभेद वातावरण के अनुकूल होते हैं, तो ये सभी सन्ततियों में वंशागत होते हैं क्योंकि समर्थ एवं योग्यतम जीव (व्यक्ति) ही उस वातावरण में जीवित रहने के लिए उपयुक्त हैं जो वयस्कता तक पहुंच सकता है। दूसरे शब्दों में योग्यतम व्यक्ति ही सन्तानोतपत्ति करने में सक्षम होता है। उनमें विद्यमान वातावरण के अनुकूल विभेद या संशोधित लक्षण (modifications) ही वंशानुगत होते हैं तथा इनका ही प्राकृतिक वरण होता है, शेष नष्ट हो जाते है। यह क्रम जब पीढ़ी दर पीढ़ी निरन्तर रहता है तो परिवर्तन या विभेद संकलित होते रहते हैं और अन्ततः एक समय आता है जब नए उत्पन्न जीव (व्यक्ति) अपने पूर्वजों से इतना भिन्न हो जाते हैं कि उनको नवीन जाति का स्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार एक नवीन जाति उत्पन्न होती है।

यद्यपि डार्विन ने तथ्याधारित निगमन विधि (Hypythetico-deductive method) से अपनी विचारधारा प्रस्तुत किया जो पूर्णतः वैज्ञानिक अवधारणा है और इसका जोसेफ हूकर (Hooker) एवं थामस एच. हक्सले (T.H.Huxley) जैसे विद्वान एवं प्रभावशाली वैज्ञानिकों ने समर्थन किया तथा इसके पक्ष में प्रमाण भी प्रस्तुत किये। फिर भी अनेकों प्रमाण इसके विपक्ष में हैं। डार्विन ने अपनी सम्पूर्ण व्याख्या में चार कारकों को उद्विकास का आधार मानाः

1. प्राकृतिक वरण
2. अंगों के उपयोग या अनुपयोग से उपार्जित लक्षणों की वंशागति
3. पर्यावरण के प्रत्यक्ष प्रभाव से उपार्जित लक्षणों की वंशागति और
4. व्यक्तियों में आकस्मिक रूप से पुनरावृत्त विभेद (वे परिवर्तन जो वर्तमान समय में उत्परिवर्तन कहलाते हैं)।

इसमें प्राकृतिक वरण को एक महत्वपूर्ण उद्विकासीय प्रक्रिया बताया। इस प्रकार उनका सिद्धान्त अन्ततः कठोर प्रकृतिवादी अथवा भौतिकवादी शब्दों में गढ़ा गया।

उद्विकास से सम्बन्धित अलौकिक सिद्धान्तों का इन्होंने खण्डन किया। यद्यपि उनका सिद्धान्त विवादग्रस्त नही है फिर भी डार्विन ने लैमार्क की विचारधारा— उपर्जित लक्षणों की वंशागति का सहारा लिया। इस प्रकार इनकी व्याख्या त्रुटियुक्त है जो उद्विकास का सम्पूर्ण प्रक्रिया बताने में असमर्थ है। आज हम जानते है कि उद्विकास सम्बन्धी प्रक्रियायें एक से अधिक हैं। उस समय तक डार्विन मेंडेल के आनुवंशिक सिद्धान्तों को नहीं जाते थे। 20 शताब्दी के वैज्ञानिकों ने मेंडलवाद के आनुवंशिकता के नियमों को आधार मानकर 'उपार्जित लक्षणों की वंशागति' को पूर्णतः खण्डन कर दिया लेकिन डार्विन वाद का समय से ही संशोधन करके वाद को नवीन परिधान पहनाया गया और यह जैविक उद्विकास की अवधारणा पूर्णतः स्थापित हो गयी।

आस्ट्रेलिया के 'आणविक जीवशास्त्री माइकेल डेन्टॉन (Michael Denton) ने डार्विन की विचारधारा पर अविश्वास व्यक्त किया। उनके अनुसार आणविक जैव-विज्ञान के अनुसंधानों डार्विन के

सिद्धान्तों को प्रमाणित नहीं करते, क्योंकि जब अमीनो एसिडों के क्रमों एवं सम्बन्धित जाति की कोशाओं के आनुवंशिकी अवयवों से सम्बन्धित मौलिक प्रमाणों का अध्ययन किया जाता हे तो डार्विन की अवधारणा के अनुसार एक वर्ग (Class) दूसरे वर्ग के आनुवंश्कि उत्पत्ति की रूपरेखा स्पष्ट नहीं होती।

नवडार्विनवाद (Neo-Darwinism)

चार्ल्स डार्विन की विचारधारा को आरम्भ में तो व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ लेकिन 20वीं शताब्दी में जब आनुवंशिक अध्ययनों की प्रतियोगिता आरम्भ हुई तो 'प्राकृतिक वरणवाद' के निर्बल पहलू पर भी ध्यान गया जिसमें 'उपार्जित लक्षणों' की वंशागतता' को भी उद्विकास को एक कारक माना गया था। चूंकि उस समय तक 'आनुवंशिक लक्षणों की हस्तान्तरता' का कोई ठोस आधार नहीं था, और डार्विन मेंडल के आनुवंशिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ थे, इसलिये डार्विन के विचारों की व्याख्या उनके समर्थकों ने आनुवंशिकी उपलब्धियों के प्रकाश में की।

सर्वप्रथम वाइजमैन ने डार्विन के 'प्रकृति वरण' के विचार को स्वीकारा और डार्विन के पैंजिनेसिस (Pangenesis) की परिकल्पना में सुधार करके 'जर्म ट्रैक सिद्धांत (Germ Track Theory) को प्रस्तुत किया जिसमें इनहोंने प्राणी की कोशिका को कायिक (Somatic) एवं जननिक (Germ) दो भागों में विभक्त किया 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' को निराधार माना। वाइजमैन ने कोशिका ज्ञान के आधार पर यह बताने की चेष्टा की कि जनन कोशिका के विभाजन के साथ गुणसूत्रों में 'क्रासिंग ओवर' की प्रक्रिया होती है जिसके परिणामस्वरूप गुणसूत्रों की पुनः रचना होती है जिसमें नवीन संयोजन बनते हैं और जिसके कारण अगली पीढ़ी के कोई भी दो व्यक्ति एक से नहीं होते। यही वंशागति विविधता का मौलिक श्रोत है। इसके अतिरिक्त उत्परिवर्तन से भी नये जीनी संयोजन बन सकते हैं किन्तु यह एक असाधारण अनियमित एवं विरल प्रक्रिया है। वाइजमैन प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने आनुवंशिक विविधता को जन्म देने में लैंगिक पुनः संयोजन की कल्पना किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने उद्विकासी य विचारों में प्राणी की अपनी अन्तःप्रेरणा शक्ति अर्थात अतिरिक्त शक्ति (Orthogenesis) को पूर्णरूपेण अप्रासंगिक ठहराया। उन्होंने अपने आनुवंशिक विभिन्नताओं एवं उससे उत्पन्न करने की जीव में क्षमता में विभेद स्थापित किया और कहा कि इन दोनों का वरण हो सकता है लेकिन प्राकृतिक वरण से होने वाली आकस्मिक विभिन्नता इनके अनुसार पर्याप्त नही है।

संक्षेप में नवडार्विनवाद के अनुसार नवीन जातियों की उत्पत्ति जनसमुदाय में जीन परिवर्तन के कारण होती है। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप उनकी सन्तानों के लक्षण परिवर्तित हो जाता है। ये परिवर्तन बेहद सूक्ष्म एवं स्थूल दौनों हो सकते हैं। यदि ये परिवर्तन जीव (व्यक्ति) केजीवन संघर्ष में सहायक होते हैं तो उन पर प्राकृतिक वरण प्रभावशाली होता है अन्यथा नहीं। यह जीनी परिवर्तन एक संतति से दूसरी सन्तति में निरन्तर विकसित होते रहते हैं तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में ऐसे अनेकों जीनी परिवर्तन, संकलित होने से नवीन जीव (व्यक्ति) उत्पन्न हो जाते हैं जो अपने पूर्वज जीनी प्ररूप से भिन्न होते हैं और अन्ततः अलग होकरके नवीन जातियाँ उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार प्राकृतिक वरण एक उद्विकासीय प्रक्रिया है जो परिवर्तनों को जन्म देती है और अन्ततः उद्विकास में सहायक होते हैं।

संश्लेषण-सिद्धान्त (Synthetic Theroy)

वस्तुतः संश्लेषण-सिद्धान्त उद्विकासीय प्रक्रियाओं का पुंज है। इसमें अनेकों विचारधारायें एक स्थल पर आकर मिलती हैं जो वैचारिक परिपक्वता का द्योतक है। चूंकि जैविक उद्विकास की विचारधारायें 20वीं शताब्दी के अन्त तक अलग-अलग राग अलाप रही थी, और क्रमशः विकसित हुई (जो आज भी हो रही है)। डार्विन की सशक्त प्रस्तुति के पश्चात जैव उद्विकास को एक निश्चित दिशा प्राप्त हुई तथा मेंडल के आनुवंशिक नियमों के सत्यापनोपरान्त उद्विकासीय विचारों को ठोस आधार मिला। इसके बाद मेंडेलवाद से जनानुवंशिकी (Population genetics) विकसित हुई।

चूंकि जनानुवंशिकी की व्याख्या का आधार उद्विकासीय प्रक्रियायें ही हैं जैसे- उत्परिवर्तन, प्राकृतिक वरण, जीनी पुनःसयोजन, पृथक्करण, जीनी अपसरण एवं जीन-प्रवाह (प्रवास)। संक्षेप में, संशलेषण-सिद्धान्त मुख्यतः डार्विन के प्राकृतिवरण सिद्धान्त एवं जनानुवंशिकी के सिद्धान्तों का मिश्रित रूप है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संश्लेषण सिद्धान्त डार्विन के प्राकृतिकवरणवाद, मेंडेल के आनुवंशिकी सिद्धान्त एवं जनानुवंशिकी के क्षेत्र में किये गये अवलोकनों का संयुक्त उद्विकासवादी विचार है। इसके विकास में चार्ल्स डार्विन तथा मेंडेल के अलावा कैसल (Castle), हार्डी (Hardy) एवं वीनवर्ग (Weinberg) सरीखे विशेषज्ञों का मूल योगदान है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि डिव्रीज (De Vries) का उत्परिवर्तन सिद्धान्त, बावरी (Bovery) एवं सटन (Sutton) के निरीक्षण, प्राणि गुणसूत्री अन्योन्यगमन (Crossing Over) से सम्बन्धित मार्गन (Morgan) के नियम आदि ने प्रमुखतः प्राकृतिकवरण एवं जनानुवंशिकी के संश्लेषण का द्वार खोला। फिशर (fisher), राइट (Wright), हाल्डेन (Haldane), हक्सले (Huxley) एवं डाब्जांस्की (Dobshonsky) के निरीक्षणों ने प्रमुखतः दो विचारधारा नवडार्विनवाद एवं जनानुवंशिकी की समाविष्टि विचारधारा को अन्ततः जन्म दे ही दिया। जिस संश्लेषण की सम्भावना के विचार रूसी वैज्ञानिक चेटवेरीकोव (Chetverikov) ने 1927 में व्यक्त की थी। शीघ्र ही वाटसन (Watson), क्रिक (Crick) एवं विल्किस (Wilkins) ने 'जीन' के आणविक वुनियादी बातों को उजागर किया जिससे जीव के आणविक मूल को समझने में सहायता मिली।

इस प्रकार जब उद्विकास को जीनी आवृत्तियों के परिवर्तन के रूप में व्यक्त किया जाने लगा जिसे जीनी सिद्धान्त (gene theory) भी कहा जाता है और कैसल (Castle) के द्वारा यह प्रदर्शित किया गया कि उद्विकास में जैसे ही प्राकृतिक वरण प्रक्रिया रुकती है जीनी आवृत्तियां उसी स्तर पर स्थिर हो जाती है। कैसल का यह निरीक्षण संश्लेषण-सिद्धान्त के लिये प्रवेश द्वार साबित हुआ और फिशर (1930), राइट (1931-32), हाल्डेन (1932) आब्जेनस्की (1937) एवं हक्सले (1943) ने जनानुवंशिकी (Population genetics) के सिद्धान्तों को प्राकृतिक वरण प्रक्रिया के साथ जोड़ दिया।जिनके अनुसार जीनी आवृत्तियों में परिवर्तन चार मूल कारकों के कारण होता है। ये हैं: उत्परिवर्तन, (Mutation) प्राकृतिक वरण, (Natural Selection) यादृच्छिक आनुवंशिक अपसरण, (Random genetic arift) एवं प्रवसन (Migration) अथवा जीनी प्रवाह। इन चतुष्कारकों को उद्विकासीय प्रक्रियाये (process) या उद्विकासी क्रियाविधि (mechanism) या उद्विकासीय बल (force) के नाम से भी सम्बोधित किया जाता हैं। अतः संश्लेषण सिद्धान्त की प्रमुख परिकल्पनाएं निम्नलिखित हैं :

1. उद्विकास चार अपरिहार्य प्रक्रियाओं के परस्पर अन्तक्रियाओं एवं अन्तर्सम्बन्धों का परिणाम है। ये हैं : उत्परिवर्तन, जीनी पुनर्सयोजन, प्राकृतिक वरण, पृथक्करण।

2. विभेद लाने में उत्परिवर्तन अधिक प्रभावकारी है जिनसे एक जान समूह प्रभावित होता है। इसके अतिरिक्त गुणसूत्रीय विपथन, जीनी पुनः संयोजन किया, आनुवंशिक विभेद लाने के लिये आवश्यक है।

3. प्राकृतिक वरण सूक्ष्म विकास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है तथा आनुवंशिक विभेद लाने में अधिक सक्रिय एवं रचनात्मक है।

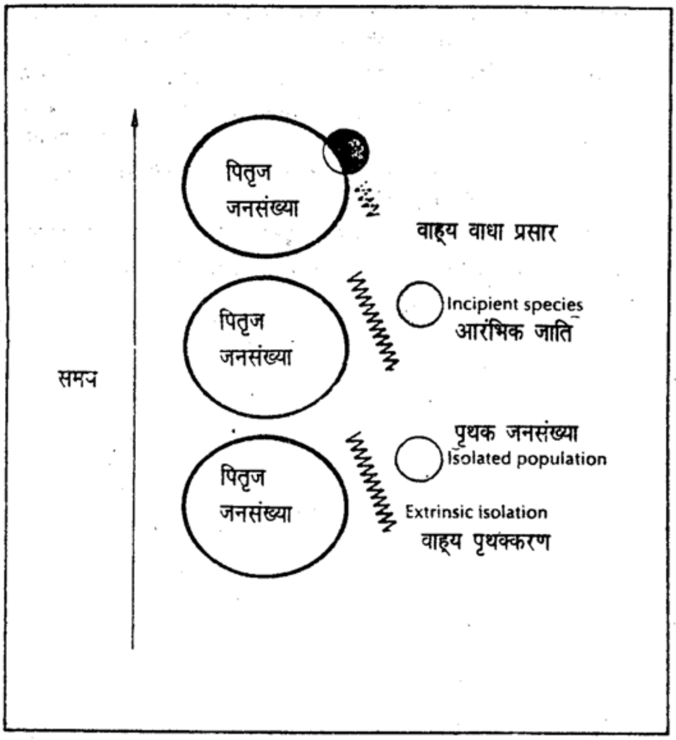
4. प्रजनिक पृथक्करण नई जाति-उत्पत्ति हेतु आधार बनाती है। पृथक्करण अधिक प्रभावशाली हो इसमें उत्परिवर्तन तथा प्राकृतिक वरण का मुख्य योगदान रहता है।

5. भौगोलिक सीमाओं को लांघकर उपर्युक्त सूक्ष्मविकासी कारकों के सतत सक्रिय रहने से नवीन जातियों का उद्भव होता है।

6. अपरिहार्य प्रक्रियाओं (कारकों) के अतिरिक्त तीन द्वितीयक प्रक्रियायें भी हैं जो इस सिद्धान्त में समाविष्ट किये गये है। ये हैं: प्रवास अथवा जीन प्रवाह, संकरण, तथा जीनी यादृच्छिक अपसरण, जो जीनी आवृत्तीय विभेदों को सम्पोषित करते हैं।

संक्षेप में जैविक उद्विकास की इस अवधारणा में तीन कारक- उत्परिवर्तन, गुणसूत्रों की संख्या एवं

संरचना में परिवर्तन (जीनी विपथन या जीनी वियोजन) एवं, जीनी पुनः संयोजन आनुवंशिक विभेद लाने के लिये आवश्यक है, दो कारक- पृथक्करण एवं प्राकृतिक वरण अनुकूलन की दिशा में सहयोग करते हैं। तीन द्वितीय कारक- प्रवास, संकरण एवं जीनी अपसरण जीनी समूहों के विभेदों को संपोषित करने में सहायक होते हैं। अतः कुल मिलाकर जैव उद्विकास का संश्लेषण सिद्धान्त अब तक की विचारधाराओं में सर्वोत्तम, सुस्पष्ट, एवं तर्कसंगत है कुछ अनावश्यक पहलुओं पर जोर एवं आवश्यक पहलुओं का समुचित ध्यान नहीं रखा गया जैसे— 1. भविष्य; के उद्विकास की स्पष्ट व्याख्या नहीं करता। (ii) जीन अपसरण एवं संकरण को द्वितीयक कारक माना जब कि दोनों कारक वर्तमान उद्विकास में- मानव के संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं। (iii) गुण सूत्रों की संख्या एवं प्रवास का अनावश्यक महत्व देना एवं (iv) नवीन विभेदों के समाज-जैविक अनुकूलन की सम्पूर्ण व्याख्या न कर पाना। कुछ भी हो यह विचारधारा अपने मौलिक प्रतिपादन में निश्चय ही सही है और इसकी स्पष्ट भविष्य वाणियां भी युक्तसंगत प्रतीत होती है।



चित्र 4 : 5 भौगोलिक एवं पर्यावरणीय कारकों का प्रभाव एवं जनसंख्या का निर्माण

उद्विकासीय प्रक्रियाएं (जीन परिवर्तन के कारक)

(Evolutionary Processes)

जिन जीन परिवर्तन के कारकों या जीन उद्विकासीय प्रक्रियाओं का उल्लेख संश्लेषण सिद्धान्त में किया गया है वे जैव उद्विकास के महत्वपूर्ण कारक हैं जो अन्ततः नवीन जातियों की उत्पत्ति करने में सफल होते हैं। इनकी दो स्तरों- प्राथमिक एवं द्वितीय में विभक्त किया गया है।प्रक्रियायें ये कुल 8 मानी गयी हैं जिनमें चार अपरिहार्य हैं। चूंकि हमारा उद्देश्य जैव-उद्विकास को समझते हुये मानव उद्विकास की प्रक्रियाओं अथवा क्रियाविधि को समझना है तो यहां पर उन महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं का वर्णन करेंगे जो प्रत्यक्षतः मानव उद्विकास से सम्बन्धित है। ये प्रक्रियायें निम्न हैं :

1. उत्परिवर्तन (Mutation)

2. वरण (Selection)

3. जीन प्रवाह अथवा संकरण प्रवसन (geneflow or migration)

4. यादृच्छिक आनुवंशिक अपसरण (Random genetic drift)

उत्परिवर्तन (Mutation)– उत्परिवर्तन जैविक लक्षणों के उस परिवर्तन को कहते हैं जो सहसा उत्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक जीव में दो प्रकार की कोशिकायें होती है– दैहिक एवं जननिक कोशिका। प्रथम प्रकार की कोशिका में होने वाले उत्परिवर्तन को दैहिक उत्परिवर्तन (Somatic mutation) एवं जननिक कोशिकाओं में होने वाले उत्परिवर्तन को जननिक उत्परिवर्तन (Germ mutation) कहते हैं। इसमें प्रथम प्रकार का उत्परिवर्तन अर्थात् दैहिक परिवर्तन का उद्विकास में कोई योगदान नहीं होता, क्योंकि ये वंशागत् नहीं होते। लेकिन दूसरे प्रकार का उत्परिवर्तन– जननिक उत्परिवर्तन उद्विकास में सक्रिय भूमिका निभाते हैं जो दो प्रकार के होते हैं पहली जीन उत्परिवर्तन, जो एकत्र जीनों की संरचना (डी.एन.ए.) में परिवर्तन लाते हैं, दूसरा गुणसूत्री उत्परिवर्तन जो गुणसूत्रों में परिवर्तन लाते हैं। मानव उद्विकास में गुणसूत्रीय उत्परिवर्तन की भूमिका हैं। ये जीव उत्परिवर्तन में सक्रिय प्रक्रिया है। जीनी उत्परिवर्तन भी मानव उद्विकास में एक सक्रिय एवं प्रभावकारी प्रक्रिया है।

गुणसूत्रों की संरचना में होने वाले उत्परिवर्तन मानव उद्विकास में सक्रिय होते हैं इन्हें संरचनात्मक गुणसूत्र विपथन भी कहते हैं ये चार समूहों में विभक्त किये जाते हैं:

(i)न्यूनता

(ii) द्विगुणन

(iii) प्रतिलोमन

(iv) स्थानान्तरण

मानव में बहुत से संरचनात्मक गुणसूत्र विपथन पाये गये हैं। प्रत्येक का हानिकारक प्रभाव (मानव जंसंख्या पर) पड़ता है। जैसे– फिलाडेल्फिया–22, में गुणसूत्र– –22 की न्यूनता होती है जिससे स्त्रियां ल्यूकोरिया का शिकार होती हैं।

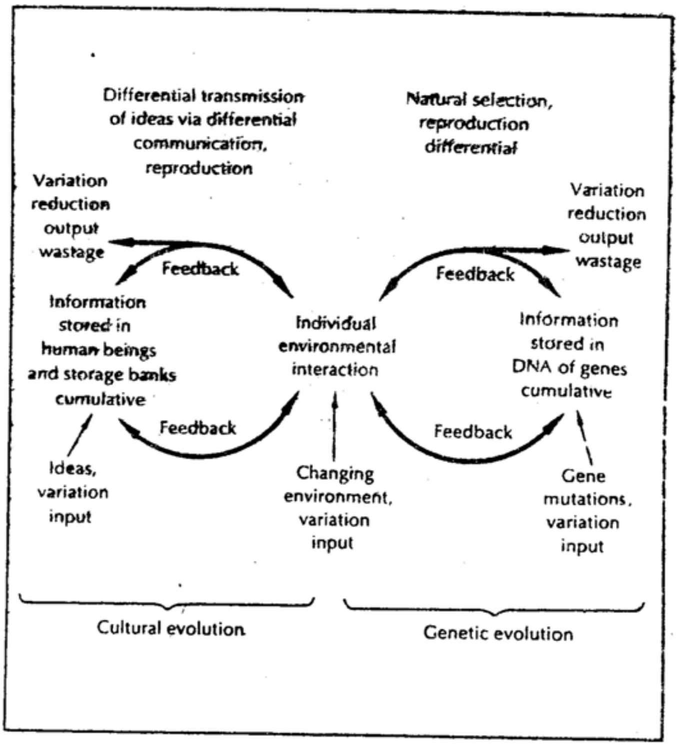
जीनी उत्परिवर्तन के कई प्रकार हैं जो उत्पत्ति स्थान, प्रभाविता, उत्परिवर्तन के कारण, उत्परिवर्तन की दिशा, उत्तरजीविता का प्रभाव एवं प्रोटीन अणुओं में से प्रभावित होते हैं।

प्रायः कुछ कारकों के उपचार से मानव में उत्परिवर्तन उत्पन्न किये जा सकते हैं उत्परिवर्तन प्रेरण में समर्थ कारकों को उत्परिवर्तजन तथा उत्परिवर्तनी गुणों को 'उत्परिवर्तन जनीं' गुण कहते हैं। कणीय एवं अकणीय विकिरण (Radiation Theory) उत्परिवर्तन की दर से निकाली जाती है।

प्राकृतिक वरण (Natural Selection)- प्राकृतिक वरण मानव उद्विकास की क्रिया को प्रेरित करता है। उत्परिवर्तन द्वारा नवीन गुणों का उदय तो होताहै। लेकिन यह गुण लाभदायक या हानिकारक सिद्ध नहीं होते, यह महत्वपूर्ण क्रियाविधि प्राकृतिक वरण द्वारा सम्पन्न होती है। वरण ऐसे आनुवंशिक गुणों (जीनों) का सम्पोषण करता रहता है जो किसी जनसमुदाय तथा उसके पर्यावरण के मध्य अनुकूलन अपनी पराकाष्ठा पर दिखता है। इस प्रकार दो या दो से अधिक जीनों की विद्यमानता से यह पर्यावरण के सर्वाधिक अनुकूल जीनों को ही पुनरुत्पादन करता है। यह किसी भी व्यक्ति के जीवन की सभी अवस्थाओं पर कार्यरत होता है। अतः यहां यह कहना तर्कसंगत है किसी भी व्यक्ति के सामाजिक–जैविक समस्त गुणों का लाभदायक अथवा हानिकारक होना उस पर्यावरण पर निर्भर करता है जिसमें वह निवास करता है। यहां पर मानव समुदायों में पाया जाने वाला हीमोग्लोबिन– S का दृष्टान्त लिया जा सकता है। यह लक्षण रक्ताल्पता का द्योतक होता है जिससे रोगी मर सकता है। लेकिन यह हानिकारक लक्षण भी मलेरिया के लिये शरीर में प्रतिरोधी शक्तियां भी उत्पन्न करता है और मलेरिया युक्त वातावरण में मानवोपयोगी है। ऐसे में विषमयुग्जम हीमोग्लोबिन– S

व्यक्ती की लम्बी आयु के लिये आवश्यक तो है लेकिन प्रजन्न शक्ति को प्राकृतिक वरण प्रभावित करता है और इस लक्षण से युक्त व्यक्तियों की प्रजनन शक्ति क्षीण हो जाती है।कई पीढ़ी पश्चात प्रजनन शक्ति समाप्त हो जाती है तथा दूसरी ओर लाभप्रद लक्षण पीढ़ी दर पीढ़ी बार-बार वृद्धि करता है। अतः प्राकृतिक वरण जीनी आवृत्तियों को बनाये रखने अथवा इसे कम करने में महत्वपूर्ण क्रिया करता है जिनकी मानव उद्विकास में महती भूमिका है। यह तीन प्रकारों में बांटा जा सकता है- स्थायीकारी, दिशात्मक, एवं, विघटनकारी।

मार्थेर एवं थिजोड़े के अनुसार जब वरण औसत लक्षणों वाले व्यक्तियों को बार-बार प्रोत्साहित करे तथा विभेद रखने वालों की छटनी करे और आनुवंशिक स्थिरता लायें, तो इस प्रकार के वरण को 'स्थायीकारी वरण' कहते हैं इसे 'नकारात्मक वरण' भी कहा जाता है। दूसरे, जब वातावरण किसी विशेष कारणों से परिवर्तित हो रहा हो तो किसी विशेष गुणों वाले व्यक्तियों का वरण करके जनसमुदाय की जीनी संरचना को अनुकूल दिशा की ओर प्रेरित करता है, तो इस प्रकार के प्राकृतिक वरण को 'दिशात्मक प्राकृतिक वरण' कहते हैं। इसका दूसरा नाम संतुलित वरण (Balanced Selection) भी है जो एक ओर जीवों की संख्या में अवरिल वृद्धि करता है तथा दूसरी ओर औसत लक्षणों युक्त व्यक्तियों को विलुप्त करता है। तीसरा, 'विघटनकारी वरण' उसे कहते हैं जब एक ही जनसमुदाय प्राकृतिक वरण की सक्रियता के फलस्वरूप दो



चित्र 4 : 6 मानव जनसंख्या में सांस्कृतिक एवं जैविक उद्‌विकास की अन्तर्क्रिया का सरलीकृत प्रतिफल मॉडल

अनुकूली समूहों में बंट जाता है।

प्रायः यह बड़े भूभाग में रहने वाले जनसमुदाय में देखा जा सकता है जब दो छोरों पर रहने वाले जनसमूह भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकसित होते हैं जिनका जीनी प्ररूप सामान्य सदस्यों से थोड़ी भिन्न होती है। इस प्रकार मानव समुदाय में अनुकूलन विकसित होने के लिये प्राकृतिक वरण ही प्रमुखतः उत्तरदायी है जिसस मानव स्पीसीज़ का उद्विकास सम्भव हो सका।

3. **जीन-प्रवाह संकरण या प्रवसन** (Gene Flow, Hypridization or migration)- एक जनसमुदाय से दूसरे जनसमुदाय में जीनी स्थानान्तरण को 'जीन-प्रवाह' कहते हैं। चूंकि मानव स्पीसीज़ अत्यधिक गतिमान है।संचारमाध्यमों, शिक्षा के प्रचार-प्रसार, परिवहन आदि भौतिक एवं अभौतिक सांस्कृतिक विकास से मानव गतिशीलता उच्चाकाष्ठा पर है। जब इनका प्रभाव जन वैवाहिक स्वरूप पर पड़े तो यह जनसमुदाय की जीनी-आवृत्ति में परिवर्तन लाती है यही जीन प्रवाह को प्रदर्शित करती है।

भिन्न-भिन्न जनसमुदायों के मध्य दोनों दिशाओं में होने वाला जीन प्रवाह, दोनों समुदायों को जीनी आवृत्ति में परिवर्तन करता है और दोनों समुदायों में समानता लाता है। इस प्रकार के जीनी प्रवाह को **संकरता** भी कहते हैं।

संकरता वह क्रियाविधि है जिसके द्वारा मानव स्पीसीज में एक जनसमुदाय से दूसरे जनसमुदाय में जीन लाये जाते हैं। इससे नये जीन का उद्भव नहीं होता वरन् यह जीन-आवृत्ति में परिवर्तन ले आता है जिनके कारण जनसमुदाय में नवीन गुणों का विकास सम्भव होता है।

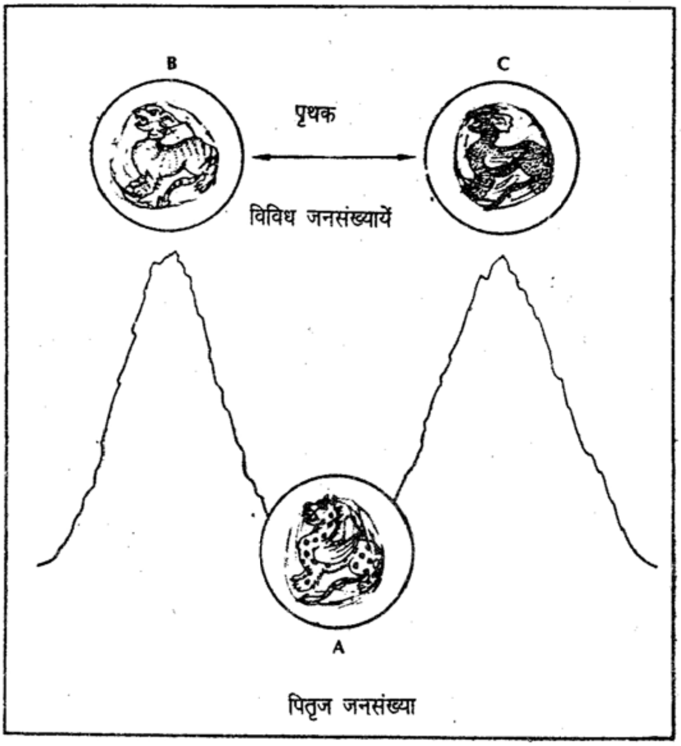
समयुग्मजो की अपेक्षा इससे विषम युमजो की वृद्धि होती है। विभिन्न युग्मविकल्पियों वाले दो व्यक्तियों (स्त्री पुरुष) के सहवास से यह क्रिया सम्पन्न होती है। यदि दो प्रथक समाज संकरण की क्रिया को स्वीकार ले, तो एक बड़े जीन समुचेय का विकास सम्भव हो सकता है।

इससे घातक एवं अर्धघातक जीन (Lethal gene) जो अप्रभावी एवं अलिंग गुण सूत्री होते हैं, उनकी सम्भावना कम हो सकती है। प्राकृतिक वरण से इस की सम्भावना अति विलम्ब से सम्भव हो पाती है। मानव समुदायों में जहां पर संकरण से जीन आवृत्तियों में परिवर्तन आया है ऐसे अनेकों उदाहरण है, जैसे- अमेरिका में रहने वाले अफ्रीकी मूल के प्रवासी आदि। अतः इससे सिद्ध होता है कि संकरण परिवर्तन लाने वाली महत्वपूर्ण अभिक्रिया है जो अन्ततः मानव उद्विकास में सहायक सिद्ध हुई है।

जीन प्रवाह एवं संकरता जैसी एक और उद्विकासीय प्रक्रियाहै जिसे 'प्रवसन' (Migration) कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है- आप्रवासन (Inmigration) एवें उत्प्रवासन (Immigration) ।इसका आशय 'आगमन' एवं 'निर्गमन' से समझा जा सकता है। वैसे प्रवसन का तात्पर्य जनसमुदाय में होने वाली उस प्रक्रिया से है, जो एक स्थल से दूसरे स्थल पर गतिमान् होने से सम्भव होती है। आप्रवासन एवं अन्तर्पजनन (दो भिन्न समूहों के बीच होने वाला प्रजनन) को 'जीन प्रवाह' एवं 'संकरण' कह सकते हैं लेकिन जीन प्रवाह अथवा संकरण प्रवसन के अभाव में भी सम्भव है जिसे 'दूरस्थ प्ररूप' (Distant model) से सिद्ध किया गया है जैसे- यदि मानव जन समुदाय में सामाजिक सांस्कृतिक मान्यताओं का दबाव वैवाहिक सम्बन्धों के ऊपर हटा लिया जाये तो इन बाधाओं से मुक्त जन-समूह दूरस्थ होते हुये भी अन्तर्प्रजनन कर सकता है।

इस प्रकार 'जीन प्रवाह', 'संकरण', एवं प्रवसन मानव व्यवहारों से प्रेरित एवं प्रभावित प्रक्रियायें हैं जो जनसमुदायों में जीनी विभेद लाती है और ये परिवर्तन ही मानव उद्विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। ये अभिक्रियायें मानव उद्विकास की उत्तरदायी उद्विकासीय प्रक्रियायें हैं।

जीन अपसरण (Genetic Drift)- 'जीन अपसरण' का तात्पर्य है 'एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में



चित्र 4 : 7 भौगोलिक एवं पर्यावरणीय कारकों का प्रभाव एवं नवीन जनसंख्या की उत्पत्ति

जाने वाले आनुवंशिक विशेषकों की आवृत्ति में यादृच्छिक (random) आकस्मिक उतार–चढ़ाव'।

ये बड़े जन समुदायों की अपेक्षा छोटे जन समुदायों में अधिक प्रभावशाली उद्विकासीय प्रक्रिया है। इसे 'प्रतिचयन त्रुटि' भी कहा जाता है। यह जनसंख्या में जीन आवृत्तियों में वरण अथवा उत्परिवर्तन की अनुपस्थित में भी विभेद ला सकती है। यदि एक लघु जनसंख्या अथवा जनसमुदाय पृथक निवास करता है तो उसके विशेष वंशागत लक्षणों के एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुंचने की सम्भावना बहुत कम होती है। इससे कुछ लक्षणों का विलोपन हो सकता हैं। दूसरी स्थिति में भी समझा जा सकता है कि यदि एक जनसंख्या के कुछ लोग अपने पूर्वज समूह से पृथक हो करके कहीं दूर प्रवास करने लगें तो प्रवासी सदस्यों की जीनी आवृत्ति पूर्वज समूह की जीनी आवृत्ति से पूर्णतः मेल नहीं खाती है। यह तभी जब वह अपने पूर्वज समूह से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करता है। आनुवंशिक प्रतिचयन त्रुटियों के फलस्वरूप प्रवासित समूह के जीनी लक्षण पूर्वज जीनी लक्षणों के पूर्ण प्रतिनिधि नहीं होते यदि होते भी हैं तो वे जीन आवृत्तियाँ अत्यल्प है। इससे विशेष वंशागत लक्षणों के पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरण होने की सम्भावना अत्यल्प है। कालान्तर में वरण के कारण कुछ लक्षणों का लोप हो सकता है। इस क्रिया को "संस्थापक प्रभाव(Founder Effect) भी कहते हैं। चूंकि छोटे जन–समूहों में जीनी विभेदक कम होते हैं इसलिये वहां पर यह अत्यधिक सक्रिय कारक है। सीवेल राइट ने जीन अपसरण के उद्विकास के कारक के रूप में कार्य करने की सम्भावनाओं को गणितीय ढंग से आंका है।

जीन अपसरण को एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। जैसे किसी एक सामान्य जनसमुदाय में दो एलील 'A' एवं 'a' है जहां पर 'a' विरले है संयोग से यह घटित हो सकता है कि प्रतिचयन में सभी 'A' जीन ही हैं और केवल एक या दो 'a' जीन हैं। यदि 'a' जीन वाले कुछ लोग सन्तानरहित हैं या हैं भी तो वह वयस्कता तक पहुँचते-पहुँचते मर गया या वे सन्तान युक्त हैं और संयोग से 'a' जीन अपनी सन्तति में हस्तांतरित

न कर सके, तो एक पीढ़ी में 'a' जीन पूर्णतः लुप्त हो जाता है। इस स्थित में यह कहा जा सकता है कि 'a' जीन नष्ट हो गया और 'A' जीन स्थिर हो गया। इस प्रकार संयोग से एक जीन का लोप तथा दूसरे जीन की स्थिरता जीनी आवृत्तियों में परिवर्तन ला सकती है।

उपर्युक्त वर्णित जैविक प्रक्रियाओं के अतिरिक्त कुछ और भी दैहिक प्रक्रियायें हैं जो मानव उद्विकास के लिये महत्वपूर्ण हैं जैसे– अनुकूलक प्रसारण (Adaptive radiation), विलुप्तीकरण (Extinction), अनुत्क्रमणीयता (irreversiblity), समान्तरता एवं समाभिरूपता (Homologous and Analogous) आदि इनमें समान्तरता एवं समाभिरूपता का वर्णन उद्विकासीय साक्षों के साथ किया जा चुका है। यहां पर शेष का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

अनुकूलक प्रसारण (Adaptive radiation)- किसी भी उद्विकासीय वर्ग के जीव की संख्या एवं प्रकार में तीव्र बृद्धि को 'अनुकलक प्रसारण' कहते हैं। जीवों में उपरिकुल, वंश, जाति एवं वर्ग वातावरण सम्बन्धी विभेदों से लाभांवित होता है और भूभाग के अनेक विभिन्न स्थलों से अनुकूलन की गति तीव्रता से प्रसरित हो सकती है। उदाहरण के लिये पुरानूतन काल में जैसे–जैसे जलवायु शीतल होती गयी वैसे–वैसे पृथ्वी के सभी भागों में स्तनधारी जीव फैल गये तथा दूसरी ओर इसके पूर्व तक सरीसृप जो एक समय सफल जीवधारी था वह शरीर के आन्तरिक ताप को वातावरण के अनुकूल स्थिर बनाये रखने में सफल जीव (स्तनधारी) की अपेक्षा वरणात्मक प्रतिकूलता के शिकार होकर विलुप्त हो गये। इसके विपरीत उदाहरण वृक्षीय कपियों (Apes) एवं पुरानी दुनिया के बानरों का दिया जा सकता है जो ऊष्ण कटिबन्धीय जंगलों के वृक्षों पर छोटे भूभाग में तीव्रता से फैल गये।

यह प्रक्रिया उस सभय तीव्रता से घटित होती है जब जीव पर्यावरण से बेहतर सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। ऐसे भूभागों जहां पर वे नहीं जा सके, उसकी अपेक्षा वे उस भूभाग में वातावरण को बेहतर ढंग से अनुकूलित कर लिया और तीव्रता से संख्या एवं प्रकार में बढ़ गये।

विलुप्तीकरण (Extintion)- किसी एक जीव–समूह अर्थात स्पीसीज का उद्विकासीय इतिहास से पूर्णतः अदृष्य होने को 'विलुप्तीकरण' कहते हैं। यह प्रक्रिया दो तरीकों से सम्पन्न होती है। पहले जब जीवन यापन में कोई जाति इस प्रकार की प्रणाली विकसित कर लेती है जो पर्यावरण के अनुकूल नहीं होती तो 'वातावरणीय प्रतिकूलन' का शिकार होकर के विलुप्त हो सकती है। दूसरे, कभी–कभी जब एक जाति दूसरी जाति में विलीन हो जाती है। इस प्रक्रिया का चर्चित उदाहरण मध्यकल्पीय विशालकाय सरीसृप–डाइनासोर है जो वातावरण वातावरण का अनुकूलन न कर सकने से विलुप्त हो गये।

अनुत्क्रमणीयता (Irreversibility)- इसके अनुसार उद्विकास अपरिवर्तनीय है एक बार जब कोई जीव उद्विकास की अनेक अवस्थाओं को पार कर लेता है तो वह जीव पुनः वापस उसी स्थित पैतृक दशा में नही आता। इसे 'डोलो का सिद्धान्त' Dolo's Principle भी कहते हैं। उदाहरण के लिये दंतविन्यास में हुये परिवर्तन अनुत्क्रमणीय है। ब्यूटनर जानुश के अनुसार यह कोई नियम या उद्विकासीय प्रक्रिया नहीं है, मात्र वर्णनात्मक समीकरण है।

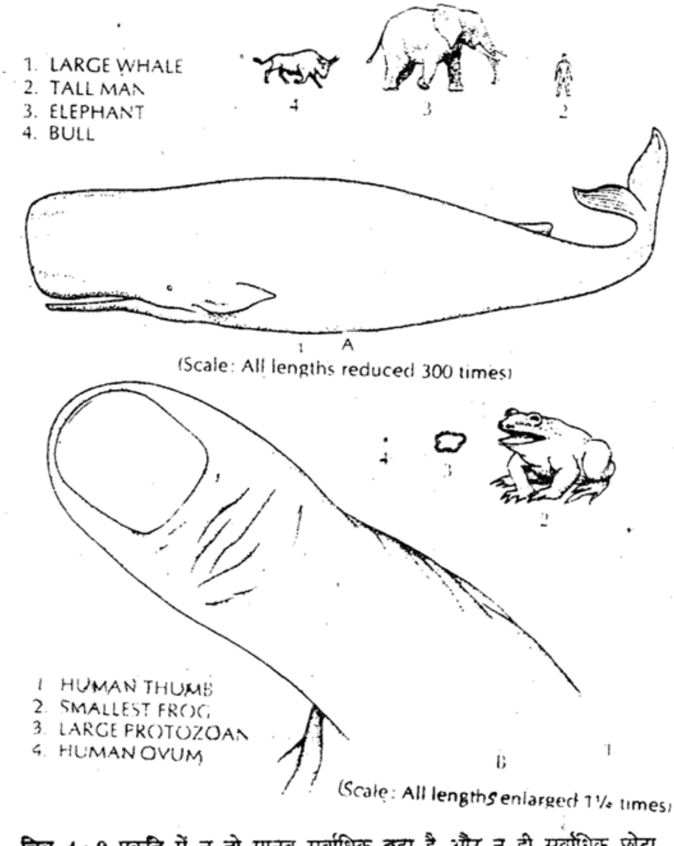
***

5

प्रकृति में मानव जाति का स्थान

गत अध्याय में जीव की उत्पत्ति एवं उद्विकास विषय पर एक विहंगम दृष्टि डाली गयी थी और यह वर्णन करने की चेष्टा की गयी थी कि जीवन जिससे जीव बना है उसके उद्भव के बाद उसका विकास किस क्रम में हुआ। चूंकि इस जीवन एवं जीव का सर्वोच्च प्रतिनिधि मानव जाति है, अतः जीव जगत में इसके स्थान को समझना एवं समझाना अत्यावश्यक है। यही ध्यान में रखते हुये यहाँ पर जीवजगत और सम्पूर्ण जगत अर्थात प्रकृति में मानव का क्या स्थान है इसका उल्लेख करेंगे।

जब हम मानव को एक जीव स्वीकार लेते हैं, और इस मत पर भी विश्वास कर लेते हैं कि पृथ्वी जीव और जीवन का ग्रह है तो हमारे मस्तिष्क में प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मानव यदि जीव है तो उसका अन्य जीवों से सम्बन्ध क्या है। ये जीव जो कभी तो ह्वेल मछली जैसे स्थूलकाय है तो कहीं जीवाणुओं जैसे सूक्ष्म दर्शी अतः सम्पूर्ण सृष्टि (Nature) में मानव कहां स्थित है ? उसका पूर्वज कौन है ? जैविक सम्बन्धों के ताने–बाने में वह कहां पर स्थित है? उसका स्थान क्या है आदि। ये प्रश्न इतने पेचीदे हैं जो मानव विज्ञान विशेषज्ञों को सदियों से व्यस्त किये रहे हैं। वैसे मानव के स्थान को निर्धारित करने का वैज्ञानिक तरीका 1735 A.D. में कार्ल लिनायस ने विकसित किया था। इस विधि को लिनियन प्रणाली के नाम से जाना जाता है। यह आज भी सजीवों के वर्गीकरण करने की आधारभूत विधि है लेकिन त्रुटियुक्त है। सर्वाधिक नवीन एवं विस्तृत वर्गीकरण का तरीका जी.जी. सिम्पसन ने 1961 A.D. में विकसित



चित्र 4 : 9 प्रकृति में न तो मानव सर्वाधिक बड़ा है और न ही सर्वाधिक छोटा

किया जो उनके ग्रंथ 'प्रिंस्पल्स ऑफ एनीमल टैक्सानॉमी' (Principles of Animal Taxonomy) में, प्रकाशित हुआ। मायर (Ernst Mayr) ने अपनी पुस्तक 'एनीमल स्पीसीज एण्ड इवोल्यूशन' (Animal Species and Evolution 1996) में भी इससे सम्बन्धित समस्याओं का उल्लेख किया।

वर्गीकरण प्रणाली

यह वर्गीकरण विधि तथ्यों पर आधारित है। प्रारम्भ में तो प्राकृतिक समानता एवं असमानता का आधार शारीरिक, गठनात्मक, तुलनात्मक, शरीर रचना शास्त्रीय, भ्रूण वैज्ञानिक, जीवाश्म शास्त्रीय, एवं अस्थिवैज्ञानिक साक्ष्यं थे।लेकिन शनैः-शनैः तकनीकी प्रगति होने से अन्य विज्ञानों जैसे- दैहिक विज्ञान, आनुवंशिकी, विज्ञान, जैव- रासायनिकी, मनोविज्ञान, पारिस्थितकी एवं जैव-वानिकी आदि के साक्ष्यों को भी जीव वर्गीकरण विधि में समाविष्ट किया गया। इससे वर्गीकरण का बहुआयामी (multidimensional दृष्टिकोण विकसित हुआ जो वर्गीकरण के मुख्य उद्देश्य- जातिवंशीय सम्बन्धों (phylogenetic relations) को स्पष्ट करना था। लेकिन सिम्पसन (1961) का मानना है कि जीव-वर्गीकरण स्वयं में कोई जैविक तथ्य नहीं है यह मात्र एक विशलेषणात्मक विधि है। चूंकि वर्गीकरण का आधार शारीरिक संरचना है अतः संरचनात्मक साम्यतायें पूर्वज-सम्बन्धों को संकेत करती है और जैव-उद्‌विकास सम्बन्धों को दर्शाती है। वर्गीकरण की नामावली (Nomenclature) पद्धति द्विनामी प्रणाली (Binomial System) है।जिसमें वंश एवं जाति के नाम को समाविष्ट करके किसी जीव का नामकरण किया गया है यह प्रणाली 'लीनियल प्रणाली' के नाम से भी जानी जाती है। यह सोपानीकृत वर्गीकरण की व्यवस्था है। वर्तमान समय में इसे 'त्रिनामी प्रणाली' (Trinomial system) में विकसित कर लिया गया है। इससे तीसरा नाम उस जीव की उपजाति (Sub-species) को भी संयुक्त कर लिया जाता है, जैसे- मेधावी मानव होमो सैपियंस सैपियंस (Homo Sapiens Sapiens) इसमें होमों वंश का नाम, सैपिंयस जाति का नाम एवं, सैपिंयस उपजाति का नाम है।

इस प्रकार प्रकृति में विद्यमान समस्त जीवों के मध्य मानव का स्थान प्रदर्शित करने के लिये कोई वैज्ञानिक प्रणाली ही न्याय कर सकती है। जिसका आधार वर्तमान परिप्रेक्ष्य हो, बहुआयामी दृष्टिकोण हो तो यह पद्धति अधिक विश्वसनीय हो जाती है। ये सभी विशेषताएं उपर्युक्त वर्णित प्रणाली में विद्यमान हैं। अतः यहां उपरोक्त अनुसंधानों के प्रकाश में प्रकृति की गोद में स्थित मानव के ऊपर एक दृष्टि डालना समीचीन होगा।

प्रकृति एवं मानव

सम्पूर्ण प्रकृति तीन प्रकार के पदार्थों के योग से बनी है गैस, द्रव एवं ठोस। ये पदार्थ भी तत्वों (Element) से, तत्व अणुओं (Molecule) से, अणु परमाणुओं (atom) से और परमाणु भी सूक्ष्म अंशों के योग से बना है। अर्थात् सूक्ष्मतम इकाई से प्रकृति बनी है। आणविक युग में हम अणु (Molecule) को प्रकृति की इकाई मान सकते हैं। अतः सूक्ष्म से स्थूल का निर्माण हुआ है अर्थात यदि अणु (molecule) को सूक्ष्म मान कर स्थूल की ओर चलें तो इस यात्रा में तत्व, (element), पदार्थ (matter) आदि मिलेंगे। यहीं पर अजैव मण्डल जैसे- गैस, मिट्टी, चट्टान आदि एवं जैव मण्डल जैसे- वनस्पति एवं जीव जन्तु दृष्टिगोचर होते हैं। वैसे अणुओं की भिन्न रचना दोनों प्रकार हैं। चूंकि मनुष्य जैव मण्डल का सदस्य है अतः यहां जीवन को जानना आवश्यक होगा। जैसा कि गत अध्ययन में वर्णन कर चुके हैं कि जीवन वह है जिनमें जीवन के लक्षण विद्यमान हो। ऐंगिल्स के शब्दों में जीवन प्रोटीन पिण्डों के अस्तित्व का रूप है।' जीवन की संरचनात्मक एवं क्रियात्मक इकाई कोशिका (Cell) है। हमें विभाजन के दृष्टिकोण से कोशिका को जीवन की एक मूल इकाई मान लेना चाहिये जो सजीव एवं निर्जीव में भेद स्थापित कर सकती है। आधुनिकतम अनुसंधानों के आधार पर प्रारम्भिक कोशिका 3.5 अरब वर्ष पूर्व अपने अस्तित्व में अवतरित हुई है (एंगिल, 1968)। वैज्ञानिक सर्वसम्मति के अनुसार लगभग 4 अरब वर्ष पूर्व जीवन अस्तित्व में आया, वह भी पृथ्वी एवं सौर मण्डल के अस्तित्व के ठीक (या लगभग) 1 अरब वर्षोपरान्त। अतः यह मानने में हमें हिचकना नहीं चाहिये कि 'एक कोशिका से सम्पूर्ण सजीव सृष्टि (Universe) बनी है।'

विषाणु (Viruses) सजीव एवं निर्जीव सृष्टि की विभाजन रेखा है अब सजीव इस कारण से नहीं माने जाते क्योंकि वे सजीव के समान स्वजनन (Selff reproduction) नहीं कर सकते तथापि वे सूक्ष्म एवं एक कोशिकीय हैं और उनमें जैसे– T4 विषाणु में जीवनांक (Code of life) उनके डी.एन.ए. (DNA) में अंकित है जो कई सैकड़े जीन्स भी रखता है।

जीवजगत में मानव

इस प्रकार जो वास्तव में सजीव है उन संजीवों में सबसे सूक्ष्म जीवाणु (Bacteria) है एवं सबसे स्थूल नीली ह्वेल मछली (Blue Whale) है। दूसरे शब्दों में समस्त सजीव मण्डल एक कोशकीय या बहुकोशकीय है। अति आधुनिक वर्गीकरण (whitakar 1969) के अनुसार सजीव सृष्टि (Lively Kingdom) को दो भागों में बांटना चाहिये। 'मोनेरा' (Monera) एवं 'प्रोटिस्टा' (Protista) जगत। यह कोशिका में विद्यमान न्यूक्लियोंप्रोटीन की कोशिकीय केन्द्रक में उपस्थित के आधार पर किया गया है। जिनमें न्यूक्लियो प्रोटीन कोशिका द्रव्य में बिखरे होते हैं वे 'मोनेरा' है जैसे– जीवाणु, नीलहरित शैवाल (blue green algae)। वे जिनमें न्यूक्लियो प्रोटीन केन्द्रीय हैं उन्हें 'प्रोटिस्टा' कहते हैं, जैसे– शैवाल (नील हरित शैवाल के अतिरिक्त), कवक आदि पादप एवं जन्तु। इस प्रकार मनुष्य जो बहुकोशिकीय (Metazoa) प्राणी हैं वह एक कोशिकीयों में 'मोनेरा' की अपेक्षा **'प्रोटिस्टा'** के अधिक निकटस्थ हैं क्योंकि उसकी कोशिका का न्यूक्लियो प्रोटीन केन्द्रीय है।

यहां पर यह स्मरणीय है कि जटिल संरचना या **बहुकोशिकीयों** में जीव जन्तु जगत ही नहीं वनस्पतियां भी है जो सजीव हैं। लेकिन आकार, माप एवं जैव–क्रियाओं में स्पष्ट भेद है। अतः उनका प्राणिजगत (animalia) से भिन्न साम्राज्य वनस्पति जगत (Vegetalia) सर्वमान्य है। इस प्रकार सम्पूर्ण सजीव सृष्टि में असंख्य प्रकार के जन्तु एवं पौधे हैं। अब तक लगभग 8.5 लाख प्रकार के जन्तु एवं 3.5 लाख लाख प्रकार के पौधों की जातियां (species) पहचानी जा सकी हैं और अनुमानतः हजारों प्रकार के जन्तु एवं पौधे पहचानना शेष हैं। मनुष्य जन्तुओं की इन्हीं लाखों जातियों में एक जाति (Species) है।

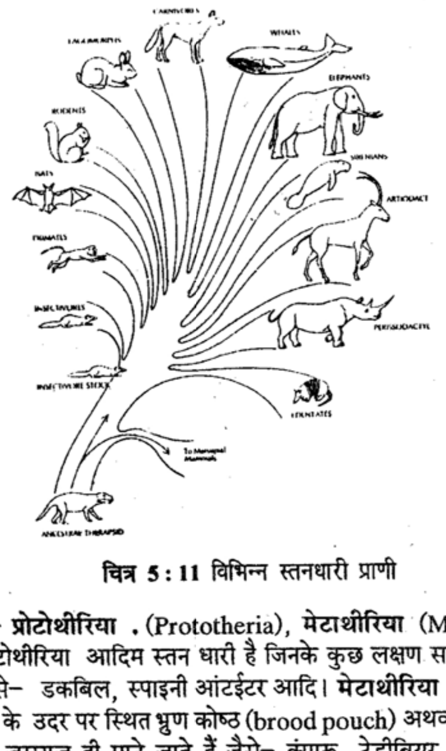
अतः मनुष्य जाति का उस बहुकोशिकीय जन्तु–जगत में, वास्तविक स्थान निर्धारित करने के लिए हमें उदि्वकासीय स्तरों का अनुसरण करना चाहिये। जिसके अनुसार मनुष्य प्राणिजगत के **'कोर्डेटा संघ'** (Phylum–chordata) का सदस्य है। कार्डेटा संघ की मुख्य विशेषताएं नोटोकार्ड खोखला केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र (Central nevrvous system) एवं ग्रसनी–क्लोम रन्ध्र (Pharyngeal gill slits) की उपस्थिति हैं। ये इनको **'नान–कार्डेट संघ'** से दूर करती हैं। इसके प्रतिनिधि सभी पृष्ठीय जन्तु, एकार्न, मानव आदि हैं। कार्डेटा संघ को पुनः एक्रेनियेटा (Acraniata) एवं क्रेनियेटा में विभाजित किया गया है जिसमें कपाल (Cranium), कशेरुकायें एवं उपांग (Appendages) लक्षणों को आधार माना गया है। **'क्रेनियेटा'** में यह सभी लक्षण पाये जाते हैं। इसे **'वर्टीब्रेटा उपसंघ'** (Vertebrata–subphylum) भी कहते हैं।

'वर्टीब्रेटा–उपसंघ' में अनेकानेक जन्तु आते हैं जो 'नानवर्टीब्रेटा–उपसंघ' से इस कारण भिन्न माने जाते हैं क्योंकि इनमें कशेरुक अस्थियां (Vertebrae) विद्यमान होती हैं। अन्य सामान्य लक्षणों में ये कपाल युक्त, मेरु तन्त्रिका (Spinal nerves) युक्त, उपांग (Appendages) युक्त, क्लोम छिद्र वाली ग्रसनी वाले शरीर के अन्दर विकसित हृदय से संचालित रक्त संचार प्रणाली से युक्त, लाल रक्त कणिकाओं वाला रक्त वाले, जोड़े में आंख एवं कान युक्त, एक जोड़ा जनन ग्रंथियां (gonads) रखने वाले प्राणी हैं। ये आकार में छोटे से लेकर विशाल तक हैं, जैसे रीढ़धारी मछली, मेढक, सर्प, चिड़िया, कुत्ते, मानव आदि। इस प्रकार मनुष्य 'वर्टीब्रिटा–उपसंघ का सदस्य है क्योंकि वह कशेरुक दण्ड एवं कपालयुक्त प्राणी है।

वर्टीब्रेटा–उपसंघ को दो मुख्य सुपर–क्लास (Super–classes) में विभाजित किया गया है– **मत्स्य वर्ग** (Pisces) एवं **टेट्रोपोडा** (Tentropoda)। मत्स्य वर्गीय प्राणी समुद्री एवं निर्मल असमुद्री जलनिवास करते हैं इनमें श्वांस लेने के लिये गिल्स (Gills) एवं संचलन हेतु दो जोड़े 'फिन्स' या पंख'

(Fins) होते हैं। 'टेट्रापोडा–उच्चवर्ग' फेफड़ों वाले प्राणी हैं जो जलीय (acqutic) एवं थलीय (Terestrial) दोनों प्रकार के हैं इनमें दो जोड़े उपांग–अग्र एवं पश्च पादों के रूप में पाये जाते हैं। मनुष्य 'टेट्रापोडा–उच्चवर्ग का एक सदस्य है क्योंकि उसमें इस उच्चवर्ग की विशेषतायें विद्यमान हैं और इन्हीं लक्षणों के कारण वह मत्स्य उच्चवर्ग से दूरस्थ हो जाता है।

टेट्रापोडा–उच्चवर्ग को पुनः **चार वर्गों** (Class) में विभक्त किया गया है। ये हैः **उभयचर** (Amphibians), **सरीसृप** (Reptiles), **पक्षी** (Birds or Aves) एवं, **स्तनधारी** (mammals) इनमें उभयचर अर्धजलीय एवं जलीय प्रकार के हैं। ये अण्डे देते हैं जैसे– मेंढक, टोड एवं सेलामेंडर।



चित्र 5 : 11 विभिन्न स्तनधारी प्राणी

सरीसृप थलचर हैं। इनका शरीर शल्क (Scales) एवं श्रंगीय प्लेटो (Horny plates) से युक्त होता है। ये भी अण्डज (Oviparous) है जैसे– छिपकली, सर्प, एलीगेटर आदि। पक्षी–वर्ग (Aves) थलचर के अतिरिक्त नभचर है ये भी अण्डज होते हैं।

स्तनधारियों में मानव- स्तनधारी (Mammales) भी स्थलचर प्राणी है इनमें स्तन ग्रंथि (mammary glands) इनका शरीर अ पूर्णरूप से रोमों से आच्छादित रहता है, स्थिर तापी रक्त (Warm blooded) वाले होते हैं, फेफड़ों से श्वास लेते हैं, विद्यमान होती है शिशु का जन्म देते हैं अर्थात ये जरायुक्त (viviparous) प्राणी है चुंकि स्तनधारी–वर्ग के ये समस्त मुख्य लक्षण मानव में होते हैं अतः वह उसको स्तनधारी वर्ग में समाविष्ट किया गया है।

स्तनधारी–वर्ग को पुनः तीन उपवर्गों (Sub–classes) में विभक्त किया गया है। ये हैं– **प्रोटोथीरिया .** (Prototheria), **मेटाथीरिया** (Metatheria) एवं **यूथीरिया** (Eutheria)। इनमें प्रोटोथीरिया आदिम स्तन धारी है जिनके कुछ लक्षण सरीसृपों एवं पक्षियों से मिलते हैं ये प्रायः अण्डज है जैसे– डकबिल, स्पाइनी आंटईटर आदि। **मेटाथीरिया** जन्तु पहले अण्डे देते हैं और फिर इसका विकास मां के उदर पर स्थित भ्रुण कोष्ठ (brood pouch) अथवा मारसूपियम (marsupium) में होता है। ये प्राणी भी जरायुज ही माने जाते हैं जैसे– कंगारू, टेडीबियर कोलाबियर, अमेरिकी अपोसम आदि। इन सभी स्तनधारियों में यूथेरिया– उपवर्ग विकसित प्रकार के प्राणी है जिनमें शिशु का विकास अपरा (placenta) में होता है। ये सभी जरायुज है। मानव **यूथेरिया–उपवर्ग** का सदस्य है क्योंकि यह इस वर्ग की मुख्य विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है।

यहां यह ध्यान देना आवश्यक होगा कि स्तनधारी प्राणियों का उद्विकास अत्यधिक तेजी से हुआ क्योंकि परिवर्तित वातावरण के अनुकूलन करने में ये सफलतम जीव थे। वातावरण के आवश्यकता के अनुसार ही स्थायीकृत शारीरिक तापमान (Warm blood), एवं रोमयुक्त शरीर के लक्षणों, का उद्विकास हुआ। जब शरीर के अन्तर्गत ही यूथेरियन स्तनधारी नवजात 'शिशु भ्रूणीय विकास कर लेने में सक्षम हो गय', तो इनकी जनसंख्या इतनी त्वरित गति से बढ़ी कि ये समस्त भूभागों में प्रसारित हो गये सम्पूर्ण भूभाग पर

एक लम्बी अवधि तक इनका आधिपत्य रहा। अतः 'अपरा' (Placenta) एवं 'स्तन ग्रंथियां' (mammary glands) जन्तु–जगत में महत्वपूर्ण जैविक लक्षण हैं जिनसे युक्त 'यूथेरिया' अन्य समस्त जैविक रचनाओं में श्रेष्ठ है। इस उपवर्ग के सदस्यों में अनूठी विविधता पाई जाती है।वैज्ञानिक आज भी एक मत के नहीं है कि कितने 'आर्डर' (order) होंगे। सामान्यतया इन्हें निम्नांकित तालिका सारणी में वर्तमान जीवित 16 आर्डरों (orders) को प्रदर्शित किया गया है:

आर्डर	सदस्य
1. इन्सेक्टीवोरा (Insectivora)	कीटभक्षी जिनमें घूस, साही छछुंदर आदि।
2. डरमोप्टीरा (Dermoptera)	उड़ाकू लीमर
3. चीरोप्टीरा (Chiroptera)	चमगादड़
4. इडेन्टाटा (Edentata)	आर्माडिलो, स्लाथ
5. फोलीडोटा (Pholidota)	स्केली, आंट–ईटर्स, पैगोलिंस
6. लैगोमार्फा (Lagomarpha)	खरगोश
7. रोडेन्शिया (Rodentia)	गिलहरी, चूहे
8. सिटेशिया Cetacea)	ह्वेल, डालफीन आदि
9. कार्नीबोरा (Carnitora)	कुत्ते, बिल्ली, चीता, शेर आदि
10. ट्यूविलीडेंटाटा (Tublidentata)	आर्डवाक
11. हाइरेक्वाइडिया (Hyrocoidea)	कोनीज
12. प्रॉवॉसिडिया Probascidea)	हाथी
13. साइनेरिया (Sineria)	ड्यूगांग, सी–काऊ
14. पेरिसोडैक्टाइला (Perissodactyla)	घोड़े, गैंडे आदि
15. आरटियोडैक्टाइला (Artiodactyla)	सुवर, ऊंट, हिरन, जिराफ, गाय आदि
16. प्राइमेट्स (Primates)	लिमर, टार्सियल, वानर, कपि, **मानव** आदि

उपर्युक्त तालिका में यह स्पष्ट होता है कि मानव प्राइमेट्स आर्डर का प्रतिनिधि है। यूथेरियन स्तनीयों में प्राइमेट्स आर्डर उच्च क्रम के प्राणियों का समूह है जो मुख्यतः परिग्राही (Prehensile) उपांग युक्त, स्थल एवं वृक्ष वासी, अभिमुख अंगूठे (opposable thumb) तथा विकसित मस्तिष्क वाला प्राणी है। इन प्राणियों में इतनी विषमतायें हैं कि इन्हें सरलतापूर्वक परिभाषित नहीं किया जा सकता। जी.जी. सिम्पसन (1945) एवं ली ग्रॉस क्लार्क(1971) के प्रयासों से आजकल इनकी दस प्रमुख उद्विकासीय जैविक प्रवृत्तियां मानी जाती हैं जिनके आधार पर ये अन्य आर्डरों (Orders) से विलग हैं। ये प्रवृत्तियाँ अथवा जैविक लक्षण निम्न हैं:

1. सामान्य उपांगों (Limb) की रचना है जिसमें आदिम पंच–अंगुलि–पाद (primitive pentadactyle) है। प्रायः जत्रुक (clavicle) अस्थि उपस्थित होती है।

2. स्वतन्त्र अंगुलियां हैं। अभिमुख अंगूठा है। हाथ एवं पैर के अंगूठे परिग्राही (grasping) हैं।

3. अंगुलियों एवं पादांगुष्ठों में संवेदनशील, स्पर्शयोग्य गद्दियों (Pads) के ऊपर चपटे नाखून हैं न कि नख (Claws)।

4. थूथन (Snout) का आकार अपेक्षाकृत छोटा है।

5. घ्राण–शक्ति (Sense of smell) में ह्रास होने के कारण नासिका का आकार छोटा है।

6. दृष्टि अग–आंख का संवर्धन (elaboration) होने के साथ–साथ द्विनेत्री दृष्टि (Binocular vision) सुविकसित है।

7. दन्तविन्यास में चवर्णक (Molar) दांतों में साधारण कस्प–प्रतिरूप (Cusp pattern) है। और कम से कम चार प्रकार के दांतों, कृतंक, रदनक, पुराचवर्णक एवं चवर्णक, में से तीन प्रकार के दांत पाये जाते हैं।

8. सुविकसित एवं जटिल रचना वाला मस्तिष्क होने के साथ–साथ प्रमस्तिष्कीय कार्टेक्स (Cerebral Cortex) का आकार बड़ा है।

9. गर्भाविधि (gestational period) में वृद्धि हुई है।

10. जन्मोत्तर जीवन–अवधि अधिक लम्बी है।

प्राइमेटों में मानव का स्थान

इस प्रकार उपर्युक्त प्राइमेटों के सामान्य एवं विशिष्ट लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य इनमें से लगभग सभी लक्षणों से युक्त है। जिसमें उपांगों (limbs) का परिग्राही अंगों के रूप में विकास अग्रांगों का परिवेक्षणीय अंगों के रूप में विकास, शाकाहारी पोषण तन्त्र का विकास, घ्राण–संवेदों (olfactory sense) का ह्रास, सुविकसित मस्तिष्क की संरचना जटिल, कपाल के अस्थीय संरचना में परिवर्तन, शिशुओं की संख्या में कमी आदि प्रमुख उच्चस्तनीयों (Primates) की उदि्वकासीय–प्रवृत्तियां विद्यमान हैं। अतः वह उच्चस्तनी प्राइमेट का एक सदस्य है। वह स्तनीय में 15 अन्य आर्डरों की अपेक्षा उच्चस्तनीयों के अधिक सन्निकट है।

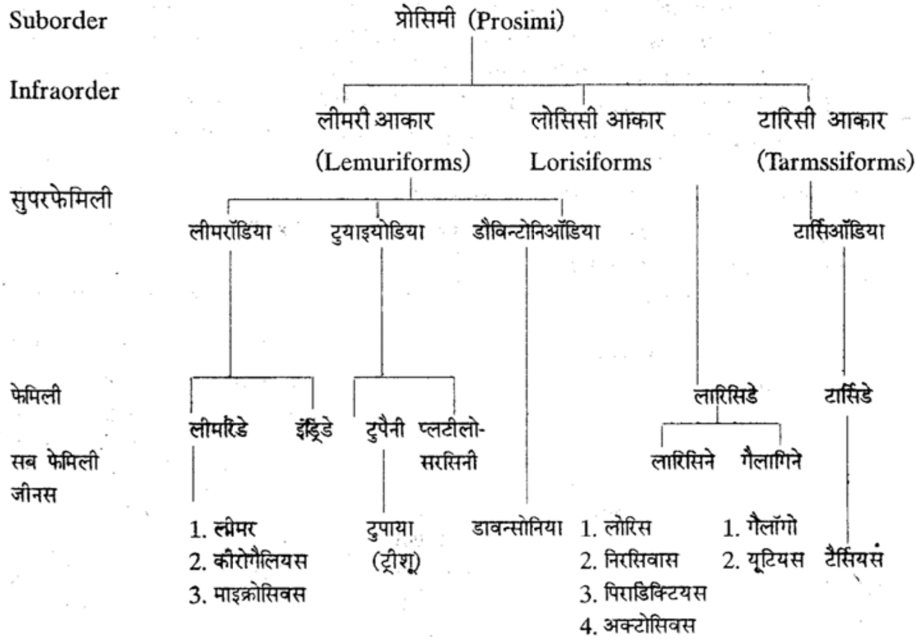
प्राइमेट के विशिष्ट गुणों में विविधता पर्याप्त रूप से परिलक्षित होती है जैसे– हाथ पैरों का परिग्राही होना, पंचागुलि की उपस्थित, अंगुलि–सिरों पर चपटे नाखून, वृहद् मस्तिष्क इनकी लगभग दो सौ जातियां (Species) अब तक पहचानी जा चुकी है।इनके अतिरिक्त कुछ विलुप्त समूह भी हैं जिनका जीवाष्मिक साक्ष्यों से पता चला है।

इन प्राइमेटों को दो 'सब–आर्डरों' (Sub–orders) **प्रॉसिमी** (Prosimi) एवं एन्थ्रोपॉयडिया (Anthropoidea) में बांटा गया है। यद्यपि यह विभाजन प्राचीन है एवं सिम्पसन तथा ली गॉस क्लार्क के अथक प्रयासों का परिणाम है। लेकिन अनेकों विद्वान इससे सहमत नहीं हैं।कई इसे निम्न–प्राइमेट एवं उच्च प्राइमेट में विभक्त करते हैं। उच्च प्राइमेटों में बानर, कपि तथा मानव को रखते हैं। निम्न प्राइमेटों में लीमर, लासिस एवं टार्सियर आते हैं।

'प्रासीमियन सबआर्डर' (Prosimian Suborder) में समाविष्ट प्राणी अफ्रीका, मेडागास्कर, दक्षिण पूर्व एशिया, फिलीपाइंस आदि ऊष्णकटिबन्धीय सघन जंगलों में विस्तीर्ण पाये जाते हैं। ये रात्रिचर (Nocturnal) तथा बिल्ली जैसे छोटे आकार के प्राणी हैं। इनका मुख उद्‌गत (Prognathic) युक्त है जिसका लोमड़ी की तरह का रोमयुक्त थूथन (Snout) है। नेत्रगुहायें (Orbits) पीछे एवं बाहर की ओर हैं। नेत्रगुहा की पिछली भित्ति (Wall) अविद्यमान है। महारन्ध्र (Foramen magnum) अपेक्षाकृत पीछे की ओर है।

अग्रांग (Fore limb) की अपेक्षा पश्चांग (Hind limb) लम्बे हैं। पैरों के पदांगुष्ठ अत्यधिक गतिशील है। पूंछ अपेक्षाकृत अपरिग्राही (Non–prehensile) एवं कृतंक दांत (Incisor) आगे की ओर निकले हैं। इन सामान्य एवं विशिष्टताओं पर दृष्टिपात करने से हम यह पाते हैं कि मनुष्यों में इन लक्षण अभाव है अतः वह प्रॉसीमियन सबआर्डर से अपेक्षाकृत दूरवर्ती जन्तु है।वर्तमान साक्ष्यों के आधार पर

प्रासीमियन सर्वआर्डर को तीन 'इन्फ्राआर्डर' तथा पुनः 'इन्फ्राआर्डर' को 'सुपरफेमिली' और सुपरफमिली को 'फेमिली' फिर 'जीनस' आदि में विभक्त किया गया है, जिन्हें सुविधा की दृष्टि से रेखांकन से दर्शाया जा. रहा हैः



इस प्रकार इस रेखांकन पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि 'प्रांसीमियन सर्वआडर' के वर्तमान प्रतिनिधि मुख्यतः टीश्रू (Tree Shrews), लीमर, (निक्टीसिवस), आय–आय (डाइवेन्टोनिया) एवं, टार्सियर (डार्सियस) है। 'टीश्रू' की स्थिति आज भी विवादग्रस्त है क्योंकि कुछ वैज्ञानिक इसे उच्चस्तनीयों में सम्मिलित करने से हिचकिचाते हैं। रोज़ेन (1974) ने इसके व्यवहारों का अध्ययन करके इसे पाइमेट में सम्मिलित किया है। सिम्पसन (1945) एवं ली ग्रॉस क्लार्क(1972) भी इसी मत के हैं।

प्राइमेट आर्डर का दूसरा सबआर्डर **'एंन्थ्रोपॉयडिया'** (Anthropoidea) है। शुल्ट्ज (Schultz) ने इसको 'सीमियाई' (simii) कहा है। यह सवआर्डर'प्रासीमियन' की तुलना में विकसित एवं प्रगतिशील लक्षणों का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी शरीर रचनात्मक विशेषतायें निम्न हैंः

शरीर के अनुपात में अपेक्षाकृत वृहद् मस्तिष्क, क्षीण घ्राण अंग (नासिका), द्विनेत्री एवं आगे की ओर उभरी आंखें, अपेक्षाकृत आगे की ओर खिसका हुआ महारन्ध्र, अपेक्षाकृत नीचे की ओर स्थित जबड़ा (Jaw) 28−36 के मध्य दांतों की संख्या (I.C.PM.M = 2.1 2/3.2/3), पैर की पहली अंगुलि अपेक्षाकृत अधिक विकसित एवं परिग्राही, सुस्पष्ट लिंग विभेद (Sexual dimorphism), जन्मोपरान्त लैंगिक परिपक्वता में अपेक्षाकृत विलम्ब आदि।

इन परिष्कृत लक्षणों वाला 'सीमियाई' अथवा 'एंथ्रोपाइडिया' प्राणी सामूहिक विविधता के कारण तीन 'सुपरफेमिली' में विभक्त किया गया है। ये हैंः 'सिवोयडिया' (Cebodea), 'सरकोपीथेक्वाईडिया' (Cercopithecoidea) एवं, होमिन्वाइडिया (Hominoidea)।

'सिबायडिया'. उच्चपरिवार को सदस्य नयी दुनिया अर्थात् मध्य एवं दक्षिणी अमेरिका में विस्तृत है इन्हें इनके आवास स्थल के कारण ही नई दुनिया के बानर' (New Workd monkeys) भी कहा जाता है। यह वृक्षवासी प्राणी है जो वातावरण का अनुकूलन करने में सफल है फलस्वरूप इनका स्तनियों (मोजोइक महाकल्प में), एवं एवं लीमरों की भांति अनुकूलनीय विकिरण (adaptive radiation) का चर्चित उदाहरण है। इनकी जैविक विशेषताओं में 'चपटी नासिका' प्रमुख है फलस्वरूप इन्हें 'प्लेटीराइन–वानर' (Platyrrhine monkey) भी कहा जाता है। अन्य विशेषताओं में चौड़ा नेज़ल सेप्टम (Nasal Septum) जो नथुनों को अलग करता है, कुल 36 दांत (I.C.PM. M = 2.1.3.3.), परिग्राही पूंछ आदि हैं। इन्हें पुनः दो 'फेमिली' (वंशों)– कैलिथ्रिसिडी एवं सेविडी में विभक्त किया गया है जिसे निम्न तालिका में दर्शाया गया है।

उच्चवंश (Super Family)	वंश (Family)	उपवंश	जिनस	सदस्य
सिबॉइडिया (Ceboidea)	1. कैलिथ्रिसिडी	?	1. कैलीथ्रिक्स	गुच्छित मार्मोसेट
			2. सेब्यूला	वौना मार्मोसेट
			3.लिऑनटिडियस	अमालयुक्त तमारिन
			4. सेगुइनस	कलमुंहे तमारिन
			5. तमारिनस	मूंछ्वाले तमारिन
	2. सेविडे	1.सेविनी	1.सिवस	कपूरिन वानर
		2. साइमिरी	गिलहरी वानर	
		2. अलूटिनी	आलूटा	हाउलर बानर
		3. आओट्रिमी	1. आओटस	रात्रि बानर
		4. अटेलिनी	1. एटिलिस	स्पाइडर
			2. ब्रैकिटिलिस	ऊनी स्पाइडर
			3. लैगोंथ्रक्स	ऊनी वानर
		5. कैलिमिकोकिनी	कैलिमिको	गोल्डी वानर
		6. पिथेसिनी	1. ककायो	उकारी वानर/बाल बड़े
			2. पिथेसिया	साकी वानर
			3. चिरोपोटीज़	साकी वानर (छोटेबाल)

कैलिथ्रिसिडी के 36 दांत ($\frac{2.1.3.3}{2.1.3.3}$) गलकोष्ट (Cheek pouches) तथा आसव गद्दी (Ischial Colloisties) विहीन हैं, जबकि किलीथ्रिसिडी के कुल 32 दांत तथा, आसन गद्दी पायी जाती है।

'सरकोपिथेक्वाइडिया' उच्चवंश (Super Family) प्राचीन विश्व–एशिया एवं अफ्रीका के विशाल क्षेत्रों में देखे जाते हैं। इनके इस निश्चित भूभाग के कारण इन्हें 'पुरानी दुनिया के वानर'(Old world monkeys) भी कहा जाता है। इनकी जैविक विशेषताओं में प्रमुख 'संकीर्ण नासिका' है फलस्वरूप इन्हें 'कैटेरिनी वानर' (Catarrhine monkeys) भी कहा जाता है। इन वानरों को पुनः वंश, उपवंशों, जीनस में विभक्त किया गया, जिसे निम्न तालिका में दर्शाया गया है:

उच्च वंश (Super Family)	वंश (Family)	उपवंश (Sub family)	जीनस (Genus)	सदस्य
सरकोपिथेक्वाइडिया	सरकोपिथेसिडी	1. कालोविनी	1. कालोवस	गुरेजा
			2. निसेलिस	प्राबॉसिस
			3. प्रेस्विटस	लंगूर
			4. पाइगैथ्रिक्स	डूकलंगूर
			5. रिनेपिथेकस	भोंडी नाकवाला लंगूर
			6. सिमियस	पागी लंगूर
		2. सरकोपिथेसिनी	1. सरकोपिथेकस	गुएनॉन
			2. सर्कोसिबस	मैंगवी
			3. साइनोपिथेकस	काला बन्दर
			4. मैकाका	लालमुहे वानर (मेकाक)
			5. पैपिआ	वैवून

इनमें कालोविनी के गलकोष्ठ (Cheek pouches) एवं आसन गद्दियाँ (Ischial alloisition) नहीं होती जबकि सरकोपिथेसिनी में ये लक्षण पाये जाते हैं। इनमें दांतो की संख्या सामान्यतया 32$(\frac{2.1.2.3}{2.1.2.3})$ पायी जाती है। ये वृक्ष एवं भूमि दोनों स्थानों पर निवास करते हैं। अग्रांगों एव पश्चांगों की लम्बाई का अनुपात लगभग समान है। जैवासिकी (Ethology) के अध्ययनों से ज्ञात होता है कि इनमें अनूठी व्यावहारिक भिन्नता है।

इस प्रकार मुख्य जैविक लक्षणों जैसे– नाक की बनावट, नेत्र गुहॉ, दंत विन्यास एवं मस्तिष्क का संवर्धन एवं व्यावहारिक स्वरूप के आधार पर कई विशेषज्ञ मानव का स्थान 'सिवॉइडिया की अपेक्षा 'सरकोपिथेक्वॉइडिया' उच्चवंश के निकट पाते हैं। कुछ वैज्ञानिक इस मत के भी है कि मानव का उद्विकास 'सिवॉइडिया' से हुआ है। 'सरकोपिथेक्वाइडिया' समानान्तर उद्विकास का परिणाम है।

एन्थ्रोपॉयडिया–सब–आर्डर का तृतीय उच्चवंश (Super-Family) 'होमीन्वाइडिया' (Hominoidea) सर्वाधिक उद्विकसित है जिसमें कपि (Ape) एवं कपियों का समावेश किया गया है। 'होमीन्वाइडिया' उच्चवंश की मुख्य विशेषतायें निम्नांकित हैं:

1. ये लगभग सम्पूर्ण विश्व में पाये जाते हैं।
2. इनमें दांतो की संख्या 32$(\frac{2.1.2.3}{2.1.2.3})$ है।
3. दन्त चाप V आकार की अपेक्षा U– आकार का है
4. चवर्णक अपेक्षाकृत संवर्धित है।
5. आकार अपेक्षाकृत बड़ा, लेकिन आननास्थियां संकीर्ण हैं।
6. प्रमस्तिष्क एवं अनुमस्तिष्क के आकर में संवर्धन हुआ है।

7. महारन्ध्र अग्रसर है।

8. अग्रांग पश्चांगों की अपेक्षा लम्बे हैं।

9. वक्षस्थल आगे से पीछे की ओर चपटा है।

10. गर्दन लम्बी, चौड़े कंधे एवं बाहर की ओर फैला हुई श्रोणि (Pelvis) है।

11. वाह्य–दुम (पूंछ) का अभाव है।

12. कपि (Ape) चतुष्पदीय लेकिन मनुष्य द्विपदीय होता है।

13. ऊर्ध्व–संस्थिति में गमन करने की क्षमता है।

14. अभिमुख चारी अंगूठा (Opposable thumb) एक सामान्य लक्षण नहीं हैं जैसे मानव में मात्र हस्तांगुष्ठ में है।

उपयुक्त सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त कई विशिष्ट लक्षण 'होमिन्वाइडिया' में पाये जाते हैं जिनके कारण से इस उच्च वंश को पुनः दो उपवंशों में विभक्त किया गया है– ये हैं– पांगिडी (Pongidae) एवं हाभिनिडी (Hominidae)।जिसे निम्न तालिका में दर्शाया गया हैः

उच्चवंश	वंश	उपवंश	जीनस	सदस्य
होमिन्वॉइडिया	1. पागिडी	1. हाइलोबेटिनी	1. होइलोबेट्स	गिबन
			2. सिम्फेलैगस	सियामंग
		2. पांगिनी	1. पांगो	ओरांग-उटान
			2. पैन	चिम्पैंजी
			3. गोरिल्ला	गोरिल्ला
	2. होमिनिडी	—	होमो	**मानव**

होमिन्वॉइडिया उच्चवंश के दोनों उपवंशों– 'पांगिडी' एवं 'होमिनिडी' में भिन्न उद्विकासीय प्रवृत्तियां हैं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैः

1. होमिनिडी उपवंश का अतिजटिल एवं अतिविकसित मस्तिष्क,

2. होमोनिडी का ऊर्ध्व संस्थति में भू–गमन

3. होमिनिडी में मात्र हस्तांगुष्ठ (Polleux) अभिज्ञमुखचारी लेकिन पदागुष्ठ (Hallux) नहीं

4. महारन्ध्र की अग्रस्थति।

5. उद्गत हनुता (Prognathism) का ह्रास।

6. दंत चाप का V आकार की अपेक्षा 'हामिनिडी' में U आकार होना, कृतंकों का आकार पागिडी की अपेक्षा छोटा।

7. पागिड़ी की तरह होमिनिडी में दन्तावकाश (Diastema), का अभाव।

8. अधोहनु में विकसित सिम्फीसियल क्षेत्र एवं सीमियन शेल्फ की पांगिडी में विद्यमानता है।

9. पांगिडी प्रायः अफ्रीकी एवं एशियाई भूभाग में सीमित है जबकि होमिनिडी सम्पूर्ण विश्व में फैले हुये हैं।

10. ललाट होमिनिडी में पांगिडी की अपेक्षा उभारयुक्त पश्चकपाल तथा, भ्रूकटक उभार आदि का ह्रास।

11. होमिनिडी में समृद्धशाली भाषा एवं सुविकसित संस्कृति।

इस प्रकार 'होमिनिडी वंश' जिसका में 'जीनस–होमो' है और 'स्पीसीज–सैपियंस' । वह अपने निकटतम प्रतिद्वंद्वी वंश–पांगिडी से कई–लक्षणों में विशिष्ट है। अपने इस अभूतपूर्व जैविक विशिष्टता तथा विकसित व्यवहार प्रतिरूप, भाषा एवं संस्कृति के कारण वे सम्पूर्ण भूभाग पर विस्तृत हैं।निजीर्व एवं सजीव

जगत (सृष्टि अथवा प्रकृति) में भले ही कई विराटकाय जीव (जैसे– नीली ह्वेल स्तनधारी 100 फिट लम्बी है, हाथी आदि) विद्यमान हैं, मानव की सर्वोच्चता साक्ष्यप्रदर्शित एवं सर्वमान्य है। जीवित-जगत में कपि (Anthropoid Apes) उसका निकटतम प्राणी है। अतः आधुनिक मानव का वंश–हामिनिडी जीनस–होमो, स्पीसीज–सैपियंस, सब स्पीसीज–सैपियंस है ।संक्षेप में, यदि उसके स्थान को प्रकृति (Universes) में देखें, तो अब तक के पूर्व विवरण से यह चित्र उभरता है कि वह–

"प्रकृति में सजीव, सजीवों में बहुकोशिकीय, बहुकोशिकीयों में रज्जुधारी (Chordata), रज्जुधारियों में रीढ़धारी या कशेरुकीयों में स्तनी, स्तनीयों में अपरायुक्त, अपरायुक्त (Placental) स्तनीयों में उच्चस्तनी, उच्चस्तनियों में एन्थ्रोपाइडिया, एन्थ्रोपाइडियां प्राणियों में होमिन्वाइडिया, होमीन्वाइडियो प्राणियों में होमीनिडी, होमीनिडी जन्तुओं में होमो, होमो जीनस में उसकी स्पीसीज–सैपियस, एवं उपस्पीसीज सैपियस हैं।"

यदि इस बात पर बल दें कि हमारे इर्द गिर्द या चारों ओर के 'ब्रह्माण्ड' (Universe) या 'प्रकृति' (Nature) में मानव अद्वितीय है और उसकी विनिर्मित सभ्यता भी अद्वितीय है, तो हम मानव को केन्द्र में फिर सम्पूर्ण प्रकृति में स्थित सजीवों, निर्जीवों, का निरीक्षण भी कर सकते हैं। मानव (Homo Sapiens Sapiens) में कम से कम पांच विशेषताएं सर्वोपरि हैं: सुविकसित मस्तिष्क जिससे वह पारिस्थितिक अनुकूलन करने में संचार, व्यवहार, भाषा, संस्कृति मानव का विकास करने वाला अनूठा प्राणी हो सका द्विपदगामिता एवं ऊर्ध्वसंस्थिति जिससे वह अनेकों प्रकार के कार्य करने में सक्षम हुआ, हाथो (अग्रांगों) की उत्कृष्ट संरचना से उपकरणों का निर्माण एवं प्रयोग किया, द्विनेत्रक दृष्टि– जिससे वह वस्तु की आकृति, रंग, उभार, चमक, दूरी आदि का तीक्ष्ण एवं गहन बोध करने में सक्षम हुआ, उत्कृष्ट पाचन तन्त्र जिससे वह सर्वाहारी हो सकने में सफल हुआ। इसके अतिरिक्त कई अन्य विशिष्टतायें हैं जिससे वह अपने पूर्वजों (जो अफ्रीका एवं एशिया के भूभागों में ही सीमित हो गये और अपने को वही वातावरण का अनुकूलन करने में सफल रह सके।) की अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व के वातावरण का तीक्ष्णता से अनुकूलन करने में सफलतम प्राणी हुआ। पर्यावरण के अनुकूलन में उसके जटिल व्यवहारों का उद्विकास हुआ जिससे उसकी अनमोल निधि–भाषा एवं संस्कृति का विकास हुआ जिससे वह 'मनुष्य' (Homo Sapiens) 'मेधावी मानव' (Homo Sapiens Sapiens) में सुविकसित हो सका।

अतः संस्कृति जो उसको जीनस–होमो' से स्पीसीज–सेपियंस ('होमोसैपियंस') फिर 'होमो सैपियंस' सैपियंस (जीनस + स्पीसीज + सब–स्पीसीज) में परिवर्तित करती है।संस्कृति बिना मेधावी मानव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। दूसरे शब्दों में संस्कृति विहीन मेधावी मानव पुनः जीनस–होमो और उपवंश 'होमिनिडी' की श्रेणी में आ जाता है जिससे 'पांगिडी' (कपि समूह) की पंक्ति में खड़ा दृष्टिगत होता है। तब उसकी जीवों में सर्वोच्चता खतरे में पड़ जाती है क्योंकि उस समय उसके पास 'पर्यावरण अनुकूलन' का अभिलेख नहीं रहेगा। अतः जीव-जगत में संस्कृति युक्त प्राणी जो मात्र 'मेधावी मानव जाति' है वह प्रकृति मे विविध पर्यावरण के अनुकूलन के कारण इस प्रकृति पर अपना 'सर्वोच्च स्थान' रखता है।

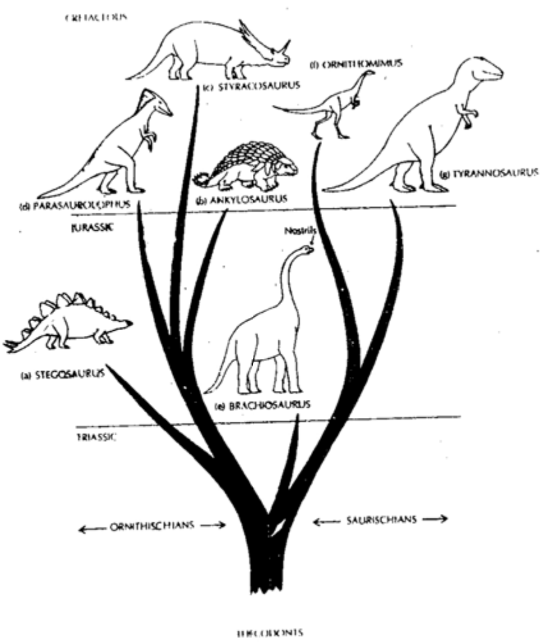
यह विशिष्टता मानव की 'विचित्रता' में परिवर्तित लगता है क्योंकि यह 'सब–स्पीसीज' वृद्धि के कारण पर्यावरणीय संसाधनों का अधिकाधिक दोहन करने लगी है।आज वह पर्यावरण (Surroundings) का नियन्त्रण करने की कोशिश में विस्फोटक तकनीक का प्रयोग करता है जिससे वातावरण को प्रदूषित हो रहा है। फलस्वरूप आज वह विश्वव्यापी पर्यावरण असंतुलन की स्थित (सफल वातावरण–अनुकूलन से परांगमुखता) के कगार पर खड़ा है।अतः भविष्य में निर्जीव एवं सजीव जगत में 'मानवजाति' की सर्वोच्चता क्या शाश्वत रह पायेगी ? इसका भूगर्भिक एवं जीवाष्म–वैज्ञानिक साक्ष्यों (जिसमे डाइनासोर जैसी स्पीसीज परिवर्तित वातावरण के अनानुकूलन से विलुप्त हो गयी) के प्रकाश में उत्तर दे पाना सरल नहीं है।

***

6

प्राइमेट वर्गीकरण एवं उद्विकास

गत अध्याय में जब प्रकृति में मानव के स्थान को उत्कीर्णित किया जा रहा था तो मानव को आर्डर–'प्राइमेट' या 'उच्चस्तनी' या 'प्रधानक' का एक सदस्य के रूप में देखा गया। ये सभी प्राइमेट अपनी जैव–व्यावहारिक विशिष्टताओं के कारण स्तनधारियों में सर्वोच्च हैं। स्तनधारी जिसमें नीली ह्वेल (लगभग 100 फिट लम्बी), एवं हाथी, उंट जैसे विराटकाय प्राणी है उसमें ये प्राइमेट कैसे श्रेष्ठ एवं सफलतम माने जाते हैं? इसका संक्षिप्त वर्णन पिछले अध्याय में भी किया गया था। चूंकि प्राइमेट या उच्चस्तनी अपनी विशिष्टताओं से विशिष्ट प्राणियों में एन्थ्रोपाज (मनुष्य) के निकटवती माने जाते हैं, अतः इनका अति संक्षिप्त ज्ञान मानववैज्ञानिक दृष्टिकोण से पर्याप्त नहीं माना जा सकता है फलस्वरूप इस अध्याय में इनके उद्विकास की चर्चा करते हुये जीवित उच्चस्नीयों के वर्गीकरण पर भी दृष्टिपात करेंगे।



चित्र 6 : 13 डाइनासोर का प्रसार

लगभग 7 करोड़ वर्ष पूर्व जब स्तनधारियों ने सम्पूर्ण धरातल पर अधिपत्य स्थापित कर लिया था उस समय वे अपेक्षाकृत छोटे आकार के स्थलवासी और अधिकांशतया कीटभक्षी थे। स्तनधारी इसके पूर्व क्रिटेसियस युग (मीजोजोइक महाकल्प का तीसरा युग जो 13.5 करोड़ वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था) में विकसित हुए। ये इसके पूर्व जुरासिक युग (18 करोड़ वर्ष पूर्व) में अवतरित हो चुके थे। जीवाश्मिक साक्ष्यों के अनुसार जुरासिक युग में डाइनासोर–विराटकाय सरीसृप पृथ्वी पर आधिपत्य स्थापित किये हुये थे। उस समय जब दलदल, झीलें, बड़े–बड़े सागरों से पृथ्वी घिरी हुई थी। वनस्पतियों में मात्र फर्न (Ferns), कोनीफर (conifers) एवं आदिम फूल देने वाले पौधे थे। लेकिन क्रिटेसियस युग (Cretaceous era) आज से जो 13.5 करोड़ वर्ष पूर्व आरम्भ एवं लगभग 7 करोड़ वर्ष पूर्व खत्म हुआ इस

काल में विश्व के वातावरण में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ । इस परिवर्तन से जलवायी आर्द्र (Wet) से शुष्क (dry) एवं शीत हुई । डायनासोर जाति इस परिवर्तित वातावरण का अनुकूलन न कर सकी क्योंकि उसने पानी एवं दलदल को अपना स्वर्ग समझ लिया था। फलतः शनैः-शनैः ये विराटकाय सरीसृप परिवर्तित जलवायु के कारण विलुप्त हो गये।

ज्योंही वातावरणीय परिस्थितियां परिवर्तित हुईं, पुष्प देने वाले पौधे विस्तीर्ण हुये और घने जंगलों का उद्भव हुआ। यह सघन फुलवारी के साथ नये-नये प्रकार के कीटों का प्रसार भी हुआ जो उस समय के सफलतम स्तनधारियों एवं पक्षियों के भोजन बने। 65 करोड़ वर्ष पूर्व तक पैलियोसीन काल (Palaecene epoch, 7 करोड़ वर्ष पूर्व 6 करोड़ वर्ष पूर्व तक) में जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप स्तनधारियों में प्रतियोगिता और गहरा गयी। जिससे उनमें से कुछ अपनी जीवन शैली परिवर्तित करने को बाध्य हुए। उन्होंने वृक्षों को आश्रय स्थल बनाया और वहीं भोजन (पत्ती, कन्दमूल आदि)। के साथ-साथ कीट को भी आहार बनाया। इस नवीन जीवन शैली से स्थलवासी जंगली प्राणियों के खतरे से भी मुक्ति मिल गयी और अन्ततः प्राइमेट-सम जन्तु सृजित हुआ !इस प्रकार नवीन पारिस्थितिक-अनुकूलन से इसने अपनी जाति का वर्धन कर के सजीवों में उच्चकोटि की पहचान स्थापित कर लिया।



चित्र 6 : 14 विभिन्न जीवों का उद्विकास-जलचर से लेकर मानक तक

मनुष्य के रूप में वह कुछ लाख वर्ष पहले उद्विकसित हुआ है। मनुष्य करोड़ों वर्ष की उद्विकासीय प्रगति का लाभकारी प्राइमेट है जिसने कालान्तर में वृक्षवासी जीवन से स्थल-वास का अनुकूलन किया। मानव सम कपियों का भी उद्विकास हुआ। लेकिन प्राणिवैज्ञानिकों ने बहुत दिनों तक शरीर रचनात्मक समानता के कारण मनुष्य को प्राइमेट के साथ रखा। आधुनिक जैव रासायनिक क्षेत्रीय अध्ययनों ने इस प्रकार के वर्गीकरण को मान्यता इस आधार पर दी कि दोनों प्राइमेट एवं मानव में कोशिका रुधिर में पर्याप्त समानता है। लेकिन जैववासिकी के आधुनिक अध्ययनों ने कपियों एवं वानरों के सामाजिक-व्यावहारिक जीवन के आधार पर कपियों को वानरों की अपेक्षा अधिक उद्विकसित पाया। जब इन अध्ययनों की तुलना मानव व्यवहार से की गयी तो मानव प्राइमेट की अपेक्षा कपियों के व्यवहारों से अधिक समान परिलक्षित हुए।

प्राइमेट कौन हैं ?

'प्राइमेट' नाम 'लाइनियस' के द्वारा 1835 AD. में वृक्षवासी वानरों, कपियों एवं मानव के लिये दिया गया था यह लैटिन शब्द 'प्राइमस' (Primus) से बना है जिसका अर्थ होता है 'प्रथम' या 'पहले'। वास्तव में इस शब्द में ही उद्विकासीय दृष्टिकोण निहित है। ये अन्य अपरायुक्त स्तनधारियों से वर्गीकरणात्मक साक्ष्यों के आधार पर अलग किए जा सकते हैं। वर्गीकरणात्मक साक्ष्यों का आधार वे जैविक लक्षण या प्रवृत्तियां हैं जिसके फलस्वरूप उद्विकासीय सम्बन्धों को इन्हीं प्रवृत्तियों के आधार पर निश्चित किया जाता है। अतः प्राइमेट के उद्विकास को समझने के लिए उन प्रवृत्तियों को समझना आवश्यक होगा जिन्होंने उद्विकास का मार्ग निश्चित किया है। लेकिन इन प्रवृत्तियों को भी समझने के लिए हम उन जीवों को भी परिभाषित करना होगा जिनमें यह प्रवृत्तियां पनप रही हैं।

वर्तमान समय में प्राइमेटों की 200 जीवित जातियां जानी जाती हैं। इनमें विविधता होने के कारण 'प्राइमेट' शब्द की व्युत्पत्ति के कई वर्षों बाद 1873 में मीवार्ट (Mewart) ने इसे निम्न शब्दों में परिभाषित किया :

"उच्चस्तनी नखरित् जत्रुकीय, अपरायुक्त स्तनधारी है जिनकी नेत्रगुहा अस्थियों से घिरी, जिनके कम से कम क्रम में तीन प्रकार के दांत (कृतंक, रदनक एवं चवर्णक), मस्तिष्क में पश्चपिण्ड एवं कैल्केराइन फिसर, कम से कम एक जोड़ा अग्रांगों की भीतरी अंगुली अभिमुखचारी, पदांगुष्ठ चपटे नख युक्त अथवा नखरित (पंजा नहीं), सुविकसित अंधात्र (Caecum), लटकते शिष्न, कोशीय वृक्षण तथा दो उरस्त्रांणी स्तन होते हैं।"

("Primates are ungiculate, claviculate, placental mammales; with orbits encircled by bone; three kinds of teeth at least one time of life, brain always with a posterior lobe and calcarine fissure; the innermost digit of atleast one pair of extreemities opposable, hallux with a flat nail or none; a well developed caecum; penis pendulous; testes scrotal; always two pectoral mammae.")

उपर्युक्त परिभाषा के लगभग एक शताब्दी पश्चात् 1971 में ली ग्रास क्लार्क ने प्राइमेट को स्तनधारियों का एक प्राकृतिक समूह के रूप में परिभाषित किया जो निम्नलिखित उद्विकासी एवं प्रवृत्तियों से युक्त होते हैं:

"सामान्यीकृत अग्रांगों का परिरक्षण अंगुलियों विशेषकर अंगुष्ठ एवं पदांगुष्ठ की स्वतन्त्र गतिशीलता तथा नोकदार पंजों के स्थान पर चपटे नाखून, दृष्टिशक्तियों का विकास, एवं घ्राण क्षमताओं का अपेक्षाकृत अनुपाती ह्रास, थूंथन के आकर का ह्रास, चवर्णकों की सरल संरचना तथा वृहद् एवं जटिल मस्तिष्क का उत्तरोत्तर विकास।"

लेकिन उपर्युक्त दोनों परिभाषायें प्राइमेट के लक्षणों का संकलन प्रतीत होता है जिनमें मुख्यतः दो प्रकार के लक्षणों को समाविष्ट किया गया। एक तो वे जो विकसित एवं सामान्य कोटि के हैं तथा दूसरे विशिष्ट एवं सुविकसित हैं। विशिष्ट प्रकार के लक्षण जैसे नाखून, वृहद एवं जटिल मस्तिष्क एवं अभिमुख चारी अंगुष्ठ, परिग्राही अग्रांग हैं, शेष समस्त सामान्य लक्षण हैं।

लक्षण व उद्विकासीय प्रवृत्तियां

जैसा कि इसके पूर्व कहा जा चुका है कि सम्भवतः ऊष्ण कटिबंधीय जलवायु में स्तनधारियों की संख्या प्रसरण से कालोपरान्त उनके मध्य ही जैविक संघर्ष बढ़ गया था जिससे उनमें से कुछ को अपनी जीवन शैली परिवर्तित करने के लिये विवश होना पड़ा। जब वृक्ष को अपना आवास बना लिया तो उन्हें बन-भूस्वामियों के खतरे से भी मुक्ति मिली। शनैः-शनैः बदली हुई पारिस्थितियों के फलस्वरूप उनके शरीर में कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियां पनपने लगीं जिसके फलस्वरुप वे नवीन वातावरण का पूर्णतः अनुकूलन

कर सकें। ये विशिष्ट प्रवृत्तियां पीढ़ी दर पीढ़ी उनकी सन्ततियों में हस्तांतरित होती रही और संचित होती रही तो ये कालान्तर में अन्य स्तनधारियों में सम्भवतः श्रेष्ठ साबित हुये। इन प्राइमेट की प्रमुख उद्विकासीय प्रवृत्तियां निम्नलिखित हैं। ये जी.जी. सिम्पसन (1975) एवं ली ग्रॉस क्लार्क(1971) के मतों पर आधारित हैं।

अग्रांगों एवं पश्चांगों की ग्राह्य क्षमता की वृद्धिः

आवास परिवर्तन के कारण नवीन पारिस्थिक अनिवार्यतायें प्राइमेटों के समक्ष थी। संरक्षित एवं सक्रिय जीवन इनकी अनिवार्यता थी। शारीरिक गतिविधियों में और कुशाग्रता आये इसके लिये इनके अग्रांग एवं पश्चांग अधिक क्रियाशील हुए। इसकी क्रियाशीलता परिरक्षित तब हो सकी जब जैविक अनुकूलन के फलस्वरुप विशिष्ट लक्षणों का उत्तरोत्तर विकास हुआ, जैसे नखरों, परिग्राही अग्रांग (हाथ) एवं पादों का विकास आदि। वस्तुतः परिग्राही हाथ एवं पैरों का उद्विकास तभी सम्भव हो सका जब समस्त अंगुलियों स्वतन्त्र एवं अधिकाधिक गतिशील हुई। अंगुलियों की स्वतन्त्रता एवं वस्तुओं को पकड़ने से अभिमुखचारी अंगूठे का विकास सम्भव हो सका अंगुलियों की गतिशीलता का संवर्धन एवं पंजों के स्थान पर चपटे नाखूनों के विकास से हो सका। अंगुलियों में स्पर्श की अनुभूति हेतु चपटे नखरित अंगुलियों के नीचे छोटी–छोटी गद्दियों का विकास हुआ। उदाहरण के लिए ट्री श्रू प्राइमेट के अतिरिक्त सभी सदस्यों नखयुक्त अंगुलियां पायी जाती हैं।

पश्चांग की पादतल गद्दियों (Planter Pads) की मोटी एवं खुरदरी त्वचा परिग्राही क्षमता से सम्बन्ध रखती है। पश्चांगों तुलना में अग्रांगों का प्रयोग अधिकाधिक किया गया। इसका उपयोग भोजन सामग्रियां एकत्रित करने वाह्य संवेदों का पता लगाने, भोजन को खाने आदि में अधिक कौशल, संवेदना का विकास पर्यावरणीय अनुकूलन का परिणाम है।

पाचन तन्त्र विकास एवं संशोधन

वृक्षीय जीवन के प्रभाव से इन उच्चस्तनियों में पाचन तन्त्र से सम्बन्धित नवीन प्रवृत्तियाँ पनपी हैं। सुविकसित अंधनाल (Caecum) का विकास हुआ है क्योंकि प्राइमेट प्राथमिक जीवन में फलाहारी एवं शाकाहारी था, सेल्यूलोज के पाचन के लिए इस अंधनाल की आवश्यकता हुई और जब पुनः वह सर्वाहारी हुआ स्थलवास का वरण पुनः किया तो यह एक अवशेषी अंग रूप में रह गयी। उसकी दांतों की संख्या में उत्तरोत्तर ह्रास हुआ। इसके पूर्ववर्तियों– स्तनधारियों में दंत सूत्र I.C.P.M. $= \frac{3.1.4.3}{3.1.4.3}$ होता लेकिन प्राइमेटों में कृतन्कों एवं पुराचवर्णकों की संख्या कम हो गयी और इनकी संख्या क्रमशः 2 अथवा 3 शेष रह गयी।

घ्राणेन्द्रियों का ह्रास

प्राइमेटों की घ्राणेन्द्रिय अर्थात सूंघने की संवेदना का **अंग-नासिका** की आकृति उत्तरोत्तर घटी है क्योंकि घ्राणेन्द्रिय का उपयोग एवं आवश्यकता अन्य अंगों की भांति वृक्षीय वातावरण में नही रहा था। इसके स्थान पर परिग्राही अंगुलियां वाहृय संवेगों हेतु उपयोग में लायी जाने लगी थी ।इससे स्पर्श संवेदनाएं विकसित हो गयी थीं। साथ ही साथ थूथन (Snout) एवं ऊपरी ओष्ठ तथा नासिका के मध्य गीली त्वचा राइनेरियन (Rhinarium) का आकार छोटा हो गया।

श्रवणेन्द्रियों अथवा वाह्य कर्णों का ह्रास

श्रवणेन्द्रिय में वाह्य कर्णों की पेशियों को अधिकांश स्तनधारी हिलाते–डुलाते रहते हैं और छोटे–छोटे आकार के जीवों जैसे– मक्खी, मच्छर कीटों आदि के काटने से अपना वचाव भी करते हैं। लेकिन प्राइमेटों के उपांगों के अधिक क्रियाशील हो जाने से वाह्य कर्णों का महत्व गौड़ हो गया। इससे यह अंग गतिहीनता ही ओर उन्मुख हो गया और अन्ततः अवशेषी अंग (Vestigeal organ) बन गया जैसे मानव,

कपि एवं पुरानी दुनिया के बानर आदि में इस प्रकार इसकी उत्तरोत्तक कमी एवं क्षीणता जैविक अनुकूलन (Biological Adaptation) का परिणाम है।

दृष्येन्द्रियों का विकास

स्तनधारियों की दृश्येन्द्रिय– आंख के दृष्टपटल (Retina) में दो प्रकार के प्रकाश ग्राहक (Photoreceptors) होते हैं– शलाका (Rods) एवं शंकु (Cones)। वास्तव में ये ही दृष्टि के संग्राहक अंग हैं प्रकाश जो उन पर पहुंचता है, आवेग (Impulses), उत्पन्न करता है जिनका हस्तान्तरण तन्त्रिकाओं तक हो जाता है जो इस दृष्टि तन्त्रिका (Optic nerves) के द्वारा मस्तिष्क के दृष्टि–केन्द्र तक जाते हैं जहां दृष्टिधारण (Visual Impression) उत्पन्न होते हैं। इन दोनों दृष्टि संग्रहकों (Vision receptors) में शलाका धीमे प्रकाश के लिये संवेदनशील है जो धीमे प्रकाश में भी वस्तु की पहचान कर लेते हैं। दूसरे शंकु (Cones) तीव्र प्रकाश में संवेदित होते हैं। ये वस्तु की आकृति, सूक्ष्मता, रंग आदि में भेद स्थापित करने में सहायता करते हैं। दृष्टिपटल (Retina) में सामान्यतया शलाकाओं का आधिक्य होता है। लेकिन शंकु जब भी उपस्थित होते हैं तो केन्द्र में पाये जाते हैं। यह प्राइमेट की आंखों का विशिष्ट लक्षण है। जिससे इनकी दृष्येन्द्रियां अत्यधिक तीक्ष्ण हो गयी है। लेकिन प्राइमेटों में इन दृष्टि संग्राहकों का वितरण एवं रचना में विविधता पायी जाती है।इनमें शंकु रेटिना के केन्द्र में नहीं पाये जाते। एन्थ्रोपाइडिया समूह के प्राइमेटों में शंकु केन्द्र में स्थित होते हैं। इस प्रकार प्राइमेटों की दृष्येन्द्रियों का विकास सम्भवतः परिवर्तित पारिस्थितिकी अनुकूलन से सम्भव हो सका क्योंकि वृक्षीय आवास में दृष्टि–तीक्ष्णता आवश्यक होती है।

दूसरे, आंखें पार्श्व भाग से खिसककर सामने आ गयी और आकार में अपेक्षाकृत बड़ी भी हो गयी। इससे दृष्टि–अक्ष (axis of vision) क्षैतिजिक हो गयी। प्राइमेट के मस्तिष्क को अधिकांश सूचनायें आंखों से प्राप्त होती हैं जिससे अन्ततः इनकी त्रिविमितीय दृष्टि (Sterioscopic vision) का विकास हुआ।

मस्तिष्क की वृद्धि एवं विकास

प्राइमेटों की ज्ञानेन्द्रियों जैसे– स्पर्श, दृश्य, घ्राण आदि के उत्तरोत्तर क्रियात्मक परिवर्तन से मस्तिष्क का आकारिकीय विकास एवं वृद्धि हुई। इस का सर्वाधिक प्रभाव प्रमस्तिष्कीय कार्टेक्स (Cerebral Cortex) पर पड़ा जो मस्तिष्क के अग्रभाग में स्थित होता है। इसके अतिरिक्त पश्चकपाल में दृष्टिक्षेत्र का विकास हुआ। अनुमष्तिष्क (Cerebellum) का विस्तारण हुआ। आक्सिपिटल लोब (accipital cobe) ध्वनिक्षेत्र अर्थात टेम्पोरल लोब (Temporal lobe) का विस्तार हुआ। घ्राणक्षेत्र (Olfactory region) का ह्रास हुआ। फ्रन्टल लोब (Frontal lobe) का विकास हुआ जिसका सम्बन्ध पेशीय एवं वाक प्रेरणा नियन्त्रण से होता है।

इस प्रकार प्राइमेटों के मस्तिष्क अन्य स्तनधारियों की अपेक्षा अत्यधिक विकसित हुआ। उसमें ज्ञानेन्द्रियों के विकास से अभूतपूर्व परिष्कार हुआ जैसे– घ्राणेन्द्रिय का ह्रास एवं अल्प संवेदनात्मक क्रियायें जैसे– बोध अनुभव, दृष्टिसम्बन्धी अनुभव,श्रवण सगम्बन्धी अनुभव, प्रेरक या गति वाही क्रियायें (Motor Function), साहचर्य क्रियायें (Association Function) आदि से अग्रमस्तिष्क (Fore brain) विस्तृत होकर ऊपर की ओर आ गया। मस्तिष्क के आकार में आनुपातिक वृद्धि हुई।

कंकालीय रचना में परिवर्तन

प्राइमेट उद्विकास के दौरान में कपालीय कंकाल में कुछ असाधारण परिवर्तन हुये। नेत्रगुहायें पार्श्वभाग से खिसक कर सामने आ गयीं। यह कुशल त्रिविमितीय दृष्टि (Sterioscopic vision) के विकास का लक्षण है। प्रत्येक नेत्रगुहा के ऊपर भ्रूकटक का ह्रास हुआ, यद्यपि यह संरचनाएं कुछ उच्चस्तनियों (प्राइमेट्स) में विशाल भी पायी जाती है। ऊपरी हनु (Uppr Jaw) की वृहदतम अस्थि मैक्सिला है यह भी प्राइमेट्स उद्विकास में शाकाहारी प्रवृत्ति के फलस्वरू परिवर्तित हुआ। अधोहनु के आकार में भी परिवर्तन हुआ, जिसका दन्तचाप V आकार से U आकार हो गया।

महारन्ध्र (Foramen Magnum) की नीचे ओर खिसकने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। आक्सिपिटल कॉण्डाइल भी परिवर्तित होकर पीछे से नीचे की ओर अग्रसर हो गया।वृक्षीय निवास में प्राणियों को चारों दिशाओं की परिस्थितियों का पूर्वानुमान प्रायः करना पड़ता है। प्राइमेट्स भी शाखाओं पर अपने कूल्हें की सहायता से बैठा करते हैं जिससे शनैः–शनैः इस जैविक अनुकूलन से कपाल की रचना में भी परिवर्तन आये।

मस्तिष्कीय विकास एवं वृद्धि के कारण कपाल की मुख्य अस्थियां जैसे– फ्रंटल, आक्सिपिटल एवं टेम्पोरल अस्थि परिवर्धित हो गयी।

प्राइमेट्स के पूर्ववर्ती स्तनधारियों में चौड़े कन्धे होते हैं लेकिन जत्रुक (Clavicle) अस्थि विकसित नहीं होती है जो प्राइमेटों के वृक्षवासी जीवन में अग्रांग की सक्रियता से विकसित हो गयी। श्रोणि प्रदेश में भी परिवर्तन हुआ। आसनास्थि (Ischium) ने विकासोन्मुख प्रवृत्ति धारण कर लिया। फीमर की दोनों शिराओं में भी परिवर्तन हुआ।

वृक्ष पर क्रियायें करने से वक्ष–अस्थियां आगे की ओर खिसक करके सपाट होन गयी। कशेरुक अस्थियों की संख्या अपघटित होने लगी। पेड़ों पर लटकने बैठने, संचलन करने आदि क्रियाओं से अस्थि संधियों (Articulation) में परिवर्तन हुआ। अंश मेखला एवं श्रोणिमेखला प्रबल एवं गतिशील हो गयी।

जननांगीय विकास एवं परिवर्तन

ऊर्ध्व संस्थति में लिपटना एवं कूदना चतुष्पदीयता, वाहुगमन एवं द्विपदीयता जैसे प्राइमेटी संचलन प्रतिरूपों जननांगों की स्थिति में परिवर्तन हुआ। लैंगिक भेद के लक्षण और स्पष्ट हो गये। संचलन में परिवर्तन वक्षस्थली स्तन सामने की ओर खिसक करके उरस्त्राणी हो गये गये। शिष्न एवं वृषण कोश लोलक (Pendulous) प्रवृत्ति वाला हो गया। वृषणकोशयुक्त हो गया।

गर्भाविधि प्रक्रियाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि

भ्रूण के पोषण सम्बन्धी प्रक्रियायें जटिल हो गयी। भ्रूण की परिपक्वता को सुनिश्चित करने के कारण उसकी गर्भाविधि में अपेक्षाकृत वृद्धि हुई। प्राइमेटों में गर्भकाल पांच माह से लेकर 9 माह तक बढ़ गया। इस अवधि में भ्रुण का विकास जब मादा प्राइमेट के गर्भ में हो चुका होता है तदोपरान्त नवजात शिशु का जन्म होता है। इस प्रकार गर्भकाल की उत्तरोत्तर वृद्धि से प्राइमेटों में नवजात शिशुओं की संख्या एवं उसकी पुनरावृत्ति में ह्रास हुआ। क्योंकि वृक्षीय जीवनयापन में नवजात शिशुओं का पालन–पोषण दुष्कर होता है। ऐसी स्थिति में यदि एक समय में अधिक नवजाति शिशु जन्म लें, तो मादा प्राइमेट विधिवत पोषण नहीं रुक सकेगी। सन्ततियां सुपोषित हो इसलिये यह आवश्यक होता है कि उसका गर्भकाल में अधिक से अधिक विकास हो, जन्मोपरान्त उस शिशु की भली भांति देखभाल हो। इस प्रवृत्ति ने प्राइमेटों की जननिक योग्यता को अधिक निश्चित एवं परिष्कृत रूप प्रदान किया।

जन्मोत्तर जीवन अवधि में वृद्धि

प्राइमेटों में जन्मोत्तर भी जीवन की अवधि लम्बी हुई है। लैंगिक परिपक्वता अर्थात वयस्कता की आयु अपेक्षाकृत अधिक हो गयी। जननिक योग्यता की आयु में भी वृद्धि हुई लेकिन मादा प्राइमेटों में यह आयु सीमित हो गयी। इस प्रकार गर्भाविधि के वृद्धि से, नवजात शिशु की मातृ–आश्रयता, वयस्कता आयु में वृद्धि, आदि का प्रभाव जीवन काल पर सर्वाधिक पड़ा। मानव में अपेक्षाकृत यह और लम्बा होता है।

इस प्रकार उपरोक्त सामान्य प्रवृत्तियां परिवर्तित वातावरण एवं पारिस्थितिकी अनुकूलन का परिणाम है जो कभी भी एक निश्चित मार्ग का अनुसरण नहीं करती। इसके फलस्वरुप ही प्राइमेटों में काफी विविधता आयी है।यदि यह मान लेंकि होमोसैपियंस् जो प्राइमेट में सर्वाधिक विकसित हैं, तो ब्यूटनर जानुश के मत में आत्मकेन्द्रित घटना की पुनरावृत्ति है। मानव जाति का विकास उच्चस्तनियों (प्राइमेटों) में सबसे बाद में हुआ, तथा प्राइमेट उद्विकास का गन्तव्य होमोसैपियंस है।

जीवाष्मिकी प्रमाणों से होमोसैपियंस जाति की व्याख्या एक 'अनिवार्य' उद्विकासीय प्रवृत्ति से होती है। ऐसा प्रमाण विरले ही मिलता है जिससे यह सिद्ध हो सके कि एक श्रेणी या गण का विकास योजनाबद्ध ढंग से हुआ है। ऐसा जीवाश्म प्रमाणों से ज्ञात होता है कि अनेक प्राइमेट वंश (Family) पृथक विकसित हुये लेकिन जीवित रहे और नष्ट भी हुए।

जब ये जीव एक सीधी रेखा में अनिवार्य रूप से प्रगति करता हुआ प्राणियों की एक निश्चित जाति, के पराकाष्ठा– होमोसैपियंस पर पहुंचे तो इस प्रकार के उद्विकास को व्यूटनर जानुश के मत में, 'नियत–विकास' मानना चाहिये। लेकिन इस प्रकार का दृष्टिकोण विकसित करने में अनेकों जीवाश्म प्रमाणों की अनदेखी भी करनी पड़ती है और तब हमारी रुचि रेखीय प्रगतियों पर अधिक बल देती है।

सिम्पसन (1945) के मतानुसार अनुकूल वरण एक सीमित ढंग से सम्पन्न हो सकता है जिसके परिणाम नियत विकास को सहायता प्रदान करते हैं। उदाहरणस्वरूप अत्यन्त नूतनकाल में अनेक स्तनधारी समूहों के शरीर की आकृति में सामान्य रूप से वृद्धि हुई। यदि सरीसृप का आकार देखें तो वह भी **पेंसिलवेनियन** एवं परमीयन की लघु छिपकली जैसे प्राणी **जुरासिक** एवं **क्रिटेसियस** युग (era) में 'डायनासोर' जैसे विशाल आकार का हो गया। लेकिन कोई भी नियम जातिगत नहीं है जिसके आधार पर वृहद आकार को उद्विकास का परिणाम कहा जाय। इस प्रकार जैव उद्विकास अल्पकालीन प्रवृत्तिवाला लगता है, क्योंकि परिवर्तित वातावरण में प्रकृतिवरण का समर्थन न मिलने से वृहदाकार डायनासोर अन्ततः विलुप्त हो गये।

पृष्ठवंशियों में सीधी रेखा में उद्विकास के अनेक उदाहरण हैं। हाथी जैसे शाकाहारियों ने कुत्ते जैसे लघु जीव से लेकर वृहद ऊनी महाकुंजरों तक के आकार में विकसित हुए। प्राइमेटों में मैलेगेसी लीमरों ने एक वृहदतम गधे के आकार वाले "मैगले डेपिस" प्राइमेट को उत्पन्न किया, जो उस समय विलुप्त हो गये जब उनके दलदली कटिबंधी आवासों पर उनसे प्रतिस्पर्धा रखने वाले 'एन्थ्रोपाइडिया' (नर वानर) ने सम्भवतः आक्रमण कर दिया। (ब्यूटनर–जानुश 1976)।

आधुनिक लीमरों के आकार चूहे जैसे "माइक्रोसिबस" से लेकर बड़े कुत्ते की आकार के समान "इन्ड्री" तक पाये जाती है। अफ्रीकी प्राइमेट के आकार सामान्य से गोरिल्ला तक हो गये जिनकी अपेक्षा उनका उत्तराधिकारी 'मनुष्य' (Homo Sapiens) लघुतर है। इस प्रकार इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि पर्यावरण के साथ–साथ अनुकूलन प्राप्त करने की जटिल आवश्यकताओं ने प्राकृतिक चयन को उस समय जिम्मेदारी अधिक सौंपी जब पर्यावरण में परिवर्तन हुये। और प्राकृतिकवरण द्वारा उत्पन्न अनुकूल प्रवृत्ति एक लम्बी अवधि तक एक प्रकार की सीधी क्रम अवस्था में जारी रही जिसे 'अनुकूलन वरण' की संज्ञा दी जाती है। जब तक पर्यावरण द्वारा डाले गये चयनात्मक दबाव एक समान रूप से स्थिर रहे, यह उद्विकासीय प्रवृत्ति उसी दिशा में जारी रही लेकिन परिवर्तित पर्यावरण में यह प्रवृत्ति विपरीत हो गयी। इससे यह सिद्ध होता है प्राइमेट उद्विकास नियत प्रवृत्ति नही रखता है और न ही यह एकरेखीय है।

जीवित प्राइमेटों को हक्सले (1876) ने एक लघुरूप में प्रायः प्रस्तुत किया है क्योंकि इनके अनुसार प्राइमेटों का यह रूप अनुकूलन विकिरण (Adaptive radiation) के फलस्वरूप हुआ है। व्यूटनर जानुश के शब्दों में "प्रत्येक प्राइमेट ने अतीत में 'अनुकूलन' और 'परिवर्तन' प्राप्त करने के लिए एक लम्बा एवं जटिल मार्ग का अनुसरण किया है। ये जीवित प्राइमेट मानव जाति के समान ही आज भी उद्विकासीय प्रक्रियाओं के परिणाम हैं जो प्रक्रियायें चिरकाल से जारी हैं" उनके अनुसार जीवित एवं जीवाश्म प्राइमेटों की सूचनाओं के आधार पर लाभदायक व्याख्यायें की जा सकती हैं। जीवित नरवानरों के पारस्परिक सम्बन्ध भी अधिकांश सीमा तक जीवाश्मिक प्रमाणों के आधार पर स्थापित किये जाते हैं। इनके प्रत्येक स्तरों का निर्धारण जातीय शाखा विन्यास, और उन समस्त अनुकूलक, उत्परिवर्तक, तथा प्रकार्यात्मक घटनाओं पर निर्भर करता है जो शाखा विन्यास के पश्चात् सम्पन्न हुई हैं। अतः प्राइमेट उद्विकास में जातियों, वंशों तथा कुलों के सम्बन्धों

का मूल्यांकन प्रत्येक समूह द्वारा अर्जित समस्त अनुकूलक जटिलताओं को भलीभांति समझने के पश्चात् ही किया जा सकता है। अतः जैविक उत्परिवर्तन, पृथक्करण, प्राकृतिकवरण, प्रवसन आदि के उद्विकासीय प्रक्रियाओं की सक्रियता समय-समय पर आवश्यतानुरूप रही है जिससे पर्यावरण के अनुकूल प्रवृत्तियों ने प्राइमेटों के उद्विकास को सम्भव बना या।

प्राइमेट वर्गीकरण

जैसा कि इसके पूर्व इसका उल्लेख किया गया था कि लाइनियस द्वारा किये गये प्राइमेट वर्गीकरण का पुनरावलोकन एक शताब्दी से भी अधिक समय के पश्चात् सिम्पसन 1945 ने किया। इन्होंने लाइनियन वर्गीकरण को स्वीकारने से उत्पन्न कई समस्याओं का उल्लेख 1961 में प्रकाशित अपने ग्रंथ प्रिंसपल्स ऑफ एनीमल टैक्सानॉमी (Principles of Animal Taxanomy) में किया। अर्नस्ट मॉयर (1966) ने भी कई अन्य समस्याओं जैसे- 'टेक्सान', 'स्पीसीज' एवं 'सबस्पीशीज' विषयों को लेकर उभारा अन्ततः ली ग्रॉस क्लार्क ने 1972 में प्राइमेटों के वर्गीकरण में कई संशोधन किये। इन्होंने 'सामान्य' एवं 'विशिष्ट' प्रवृत्तियों के आधार पर प्राइमेट को दो सबआर्डर में विभक्त किया- 'प्रासिमी' एवं 'एन्थ्रोपॉइडिया'। उसके पश्चात दोनों सबआर्डरों को पुनः उच्चवंश में (Super Family) में, वंश (Family) में, वंश जीनस में जीनस स्पीसीज में, अन्ततः प्राइमेट उपस्पीसीज में विभक्त किये गये। जिस के लक्षणों का उल्लेख गत अध्याय में किया जा चुका है। इस अध्याय में जीवित प्राइमेट सदयों का वर्णन करेंगे जो सामान्य अथवा विशिष्ट लक्षणों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

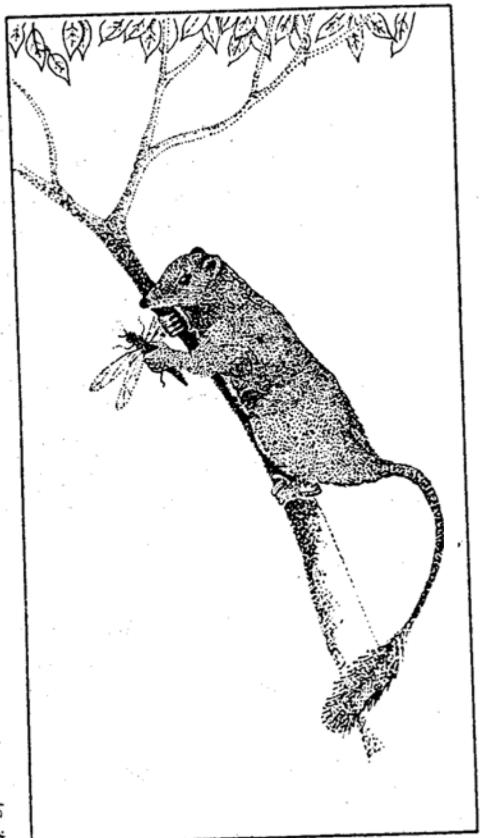
सबआर्डर-प्रोसिमी (Prosimii): सब-आर्डर प्रासिमी को तीन इन्फ्रा-आर्डरों में विभक्त किया गया है: लीमरीआकार (Lemuriforms), लोरिसीआकार (Lorisiforms) एवं टार्सिआकार (Tarsiforms)। इन्फ्राआर्डर लीमरीफार्मसे को तीन उच्च वंशों में विभक्त किया गया है:

टुपाइडिया, लिमरॉइडिया, एवं डाडवेन्टोनाइडिया।

टुपाइडिया (Tupaioidea)- इस उच्च वंश के अन्तर्गत आने वाले प्राणियों को कुछ वैज्ञानिकों ने आर्डर- इनसेक्टीवोरा (Insectivora) के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। इन प्राणियों को इन्फ्राआर्डर लीमरीफार्म में समावेश करने वाले मानववैज्ञानिक ली ग्रॉस क्लार्क हैं।

इसका प्रतिनिधि सदस्य ट्रीश्रू (Tree Shrews) माना जाता है।

ट्री श्रू (Tree Shrews) कीटभक्षी समूह के साथ एक कड़ी का निरूपण करते हैं जो प्राइमेटों के आदिम सदस्य हैं। इनके कई ऐसे लक्षण हैं जो सम्भवतः आदिम हैं और इनके कीटभक्षियों



चित्र 6 : 15 आधुनिक ट्रीशयू (टुपाया)

(Insectivora) के साथ निकटवर्ती सम्बन्ध हैं। इनका वितरण क्षेत्र उष्ण कटिबन्धीय बनों की निचली शाखायें अथवा झाड़ियां हैं। जो वर्षा होने के कारण सघन हो गयी हैं। मलयेशिया में पाया जाने वाला ट्री श्रूज जिसे 'टुपायाग्लिस' (Tupaia glis), के नाम से भी जानते हैं, यह जाति (Spicies) भूमि पर रहती है। आज यह समूह दक्षिणी एवं दक्षिणी पूर्वी एशिया में भारत से लेकर इण्डोनेशिया द्वीप समूहों तक अधिकाधिक क्षेत्रों में फैले हुये हैं जैसे– चीन, वर्मा, इण्डोचीन, थाइलैण्ड, मलाया ईस्टइण्डीज, फिलीपाइंस आदि इन के कई 'जेनरा' एवं 'स्पीसीज' का पता लगाया जा चुका है जो आकार, रंग एवं व्यवहार में विविधता रखते हैं।

ट्री श्रू शारीरिक आकार में अपेक्षाकृत छोटे गिलहरी अथवा चूहे के जैसे होते हैं इन्हें टुपायडी वंश (Family) में समाविष्ट किया गया है। इनका उच्च वंश अभी ज्ञात नहीं है इनके 6 जेनरा एवं 47 जातियों (Spicies) का उल्लेख किया गया है। ये रात्रिचर एवं दिनचर दोनों प्रकार के हैं लेकिन प्रायः लघु आकार के ट्री श्रू रात्रिचर हैं। इनका भोजन छोटे–छोटे पौधे तथा कीड़े–मकोड़े हैं। यह अत्यधिक गतिशील एवं फुर्तीले प्राणी हैं। इस प्रकार सभी प्रकार के ट्री श्रू को दो उपवंशों में विभक्त किया गया हैः ट्यूपेआइनी (Trupaioinee) एवं टिलोसरसिनी (Ptelocercinae) ट्यूपेआइनी को चार जिनस में विभक्त किया गया है। ये हैं– टुपाया, अनैथेना, डेन्ड्रोगेल, एवं युरोगेल जिसके क्रमशः ट्री श्रूज, मद्रासी ट्री श्रू, चिकनी पूछ वाला ट्रीश्रू एवं फिलीपिनी ट्री श्रू हैं। टिलोसरसिमी उपवंश का जीनस– टिलोसरसा है। टिलोसरसस को पेन–टेल्ड ट्री श्रू भी कहते हैं। यह प्रायः रात्रिचर है। इनके पूंछ पर बाल नहीं होते हैं केवल उनके छोर पर बालों का गुच्छा होता है।

मस्तिष्क में दृष्टि केन्द्र सामान्य प्राइमेटों के समान विकसित होते है। घ्राणेन्द्रिया अपेक्षाकृत संक्षेपित हैं। यह प्राइमेटों की तरह जटिल हैं। परमस्तिष्क बल्कुट (Cerebrum Cortex) विकसित एवं संवर्धित है टुपाया माइनर के मस्तिष्क एवं एवं शरीर का अनुपात 1:26 है (जानुश 73। हस्तागुष्ठ एवं पदागुष्ठ अत्यधिक गतिशील है। अपरा एवं भ्रूण झिल्ली (foetal membrane), मीस्टर एवं डिविस (1956) के अनुसार, कीटभक्षी एवं एन्थ्रापाइडिया के मध्यवर्ती है तथा आकृतीय विशेषता लीमरों की तरह है।

दन्तविन्यास प्राइमेटों के सदृश हैं। इनका दन्तसूत्र $\frac{2.1.3.3}{3.1.3.3}$ है। चवर्णक तथा पुराचवर्णक अपेक्षाकृत साधारण है। तृतीय कृतंक के आकर में ह्रास हुआ है। निचले जबड़े के तीन कृतंक पूर्ववर्ती स्तनधारियों का स्मरण कराते हैं। ट्री श्रूज के हाथ व पैर प्राइमेटों की सामान्य प्रवृत्ति रखते हैं। इसकी अंगुलियों में ग्राह्य क्षमता विद्यमान होती है। हाथों एवं पैरों के अंगूठे अभिमुखचारी हैं। अभी जल्दी ही खोजे गये एक प्राइमेट जीवाश्म एनेगालिड के अंगुष्ठास्थियां चपटी एवं चमचाकार है जो इनके नाखून होने की सूचना देते हैं। पैलियोसीन (अल्पनूतन काल) के प्राणी यह सिद्ध करते हैं कि यह प्राइमेट का ही सदस्य है। टुपाइनी उपवंश में कशेरुक दण्ड में 54 कशेरुकायें होती हैं, जब कि टीलोसरसिनी (Ptelocercinae) समूह के ट्रीश्रू में 61 कशेरुक अस्थियां होती हैं।

इनका गर्भकाल लगभग पांच महीने का होता है। ट्यूपाया में यह औसतन लगभग 40 दिन की होती है। इनके एक समय में नवजात शिशुओं के जन्म की संख्या निश्चित नहीं है। यह प्रायः संख्या में दो से चार के बीच पायी गयी है। वर्ष भर जनन क्रिया होने के कारण जनन काल का समय निश्चित नहीं है। ट्री श्रू मादाओं में एक से तीन जोड़े तक स्तन होते हैं।

यह प्राणी (विशेषकर ट्यूपाया) अत्यन्त आक्रामक प्राइमेट है जो प्राइमेटों में ही आक्रमण करते हैं। ट्यूपाया ग्लिस प्रायः छोटे–छोटे समूहों या परिवारों में पाये जाते हैं। यह परिवार स्थाई नहीं होता। वेन्डेन वर्ग (1963) ने मादा ट्यूपायों का कटघरे (Cage) में अध्ययन किया जिसमें देखा कि प्रायः मादायें अपने अधिकांश बच्चों को मार डालती थी। मादायें अत्यन्त हीन श्रेणी का व्यवहार अपने शिशुओं से करती है।

लीमर आकार (Lemur Forms)

लीमरी आकार में लीमर एक आदिम प्राइमेट है जो स्तनीयों एवं बानरों के मध्यवर्ती प्राणी है। वर्तमान समय में यह प्राचीन विश्व में निवास करते हैं। मेडागास्कर जो अफ्रीकी महाद्वीप के करीब (250 मील दूर) एक द्वीप है उसके कटिबन्धीय घने जंगलों में लीमर फैले हुये हैं। इसके अतिरिक्त यह फिलीपीन एवं इण्डोनेशिया द्वीप समूहों में पाये जाते हैं।

लीमर रात्रिचर एवं दिनचर दोनों प्रकार के प्राइमेट हैं। यह वृक्षवासी होने के साथ-साथ स्थल पर भी अधिकांश समय व्यतीत करते हैं। इनका प्रमुख आहार छोटे-पौधे, फूल, पत्ती कंद जड़, आदि हैं। इसके अतिरिक्त कीट भक्षण भी करते हैं। इनके आकार में विविधता पायी जाती है। अधिकांश लीमर का आकार लघु होता है लेकिन यह चूहे से लेकर के बिल्ली के आकार तक पाये जाते हैं। इनका आकार 12-13 Cms. से अधिक नहीं होता। इन्द्री का आकार 4 फीट तक होता है (पैर से सिर तक)। बाहरी आकार विशेषकर हाथ एवं पैर वानरों के समान होते हैं जो परिग्राही होते हैं। पदांगुष्ठ एवं हस्तांगुष्ठ स्वतन्त्र एवं गतिशील होते हैं। इनमें थूथन (Snout) का आकार बड़ा एवं स्तनियों के सदृश है। इनमें आदिम लक्षणों में स्वतन्त्र एवं वृहदाकार गतिशील कर्ण पल्लव होते हैं।

लीमरों को दो उच्चवंशों (Super family) में विभक्त किया गया है। ये हैं: लीमरॉइडिया (Lemuroidea) एवं डाउवेन्टोनाइडिया (Daubeitonoidea)।

लीमरॉइडिया पुनः दो वंशों में लीमरिडे (Lemuridae) एवं इन्ड्रिडे में विभक्त किये गये। लीमरडे लघुआकार के चौपाये जन्तु हैं। इनकी पूंछ लम्बी होती है। यह रात्रि प्राणी होते हैं। इनके जीवित प्रतिनिधियों में जीनस लीमर, बौना लीमर (शिरोगेलियस), एवं माइक्रोसिवस (Mouse lemur) होते हैं। दूसरी ओर इन्ड्रिडे आकार में बड़े होते हैं। इनकी दांतों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। इनमें अवाही (Avahi), सिफाका (Sifaka) एवं इन्ड्रि (Indri) समाविष्ट किये जाते हैं। इन सभी की नासिका वास्तविक लीमर (True lemur) की अपेक्षा छोटी होती है। इस प्रकार इनका आकार कुत्तों के समान होता है। इनमें मात्र अवाही (Avahi) ही रात्रिचर होते हैं। ये पूर्णतः शाकाहारी हैं।

डाडबेन्टोनाइडिया उच्च-वंश का एक ही वर्तमान्य जीवित सदस्य आय-आय (Aye-Aye) होता है जिसे डाउबेन्टोनिया के नाम से भी जाना जाता है। यह मेडागास्कर में पाया जाता है जिसका शारीरिक भार 2 कि.ग्रा. होता है। यह पूर्णतः रात्रिचर, वृक्षवासी होता है, यह प्रायः अकेले अथवा जोड़े में भ्रमण करते हैं। इनके कृतंक रोडेशिया के समान होते हैं। अन्य दांत अपेक्षाकृत बहुत छोटे हैं। इनका दंतसूत्र $\frac{1.0.1.3}{1.0.0.3}$ है। पपदांगुष्ठ के अतिरिक्त अंगुलियों में पंजे (Claws) होते हैं। इनका मस्तिष्क आदिम प्रकार होता है।

लोरिसीफार्मस (Lorisiforms)

इस इन्फ्रा-आर्डर के सभी सदस्य प्रायः 'लोरिस' के नाम से सर्वविदित है। अधिकांशतया ये जन्तु दक्षिण पूर्व एशिया एवं अफ्रीका में सहारा के निकटवर्ती ऊष्ण ककटिबंधीय बनों में पाये जाते हैं। ये सभी प्राणी एक ही वंश में समाविष्ट किये जाते हैं तथा संचलन के आधार पर इन्हें दो उपवंशों (subfamily) में विभक्त किये गये हैं। ये हैं: लोरिसिनी (Lorisinae) एवं गेलागिनी (Galaginae)।

समस्त लोरिस वृक्षवासी एवं रात्रिचर होते हैं। इनमें अनेक रात्रिचर प्राणियो के समान आंखों में टेटेनम नेत्र के रक्तक पटल पर चमकीली परत होती है जो रात्रि में प्रकाश पड़ने पर चमकती है। अफ्रीका के गैलगो फुर्तीले होते हैं और सरलतापूर्वक फुदकते रहते हैं जब कि एशिया एवं अफ्रीका के पोंटो अत्यधिक सुस्त एवं मंथर गति से पेड़ो पर संचलन करते हैं। इनमें तेज उछलने वाले लोरिस को गैलागिनी उपवंश (Sub family) में रखते हैं जब कि मंद आरोही लोरिस को लोरिसिनी उपवंश में सम्मिलित करते हैं।

लोरिसिनी उपवंश का विस्तार क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक है। अफ्रीकी लोरिसिनी पीरोडक्टिकस

(Perodicticus) एवं ऐरेक्टोसिबस (Arectocebus) सम्मिलित किये गये हैं। इनकी सामान्यतया आंखे बड़ी होती हैं। पीरो (Perodicticus) की पूंछ ठूंठ जैसी अत्यधिक छोटे आकार की होती है। इनकी गर्दन कशेरुकाओं पर अनेक उभरे कांटे होते हैं। एशियाई लोरिस एक तो लम्बे पतले होते हैं जो श्रीलंका और भारत में मिलते हैं तथा दूसरे मंदगति वाले लोरिस (Necticebus) होते हैं जो सम्पूर्ण दक्षिणी पूर्वी एशिया में दृष्टिगोचर होते हैं। लम्बी पतली लोरिस की टांगे सामान्यतया केला पौधे सदृश होती हैं, जब कि मंद गतिवाले निकटीसिवस गुलाबी एवं श्वेत पीरों की भांति होती है।

सामान्यतः इनका दंत विन्यास प्रासीमियनों के समान होता है। दंत सूत्र $\frac{2.1.3.3}{2.1.3.3}$ होता है। हाथ–पैर की उंगलियां विशेषीकृत हैं। पैरों की दूसरी उंगली में नख के स्थान पर पंजा (Claws) होता है। हस्तांगुष्ठ एवं पदांगुष्ठ शक्तिशाली तथा अभिमुखचारी होते हैं। लोरिसिनी को कीटभक्षी माना जाता है लेकिन वे फल, फूल, सब्जी, छोटे स्तनी, पक्षियों के अण्डे, चिड़ियों के बच्चे भी खाते हैं इससे वे सर्वाहारी हैं। ये रात्रिचर तथा वृक्षवासी हैं तथा पेड़ो के कोटरों एवं शाखाओं से लिपटकर सारा दिन सोते हैं। ये एकान्तवासी प्राणी है लेकिन सामान्य समूहों में भी देखे गये हैं। मादायें अच्छी माता की भूमिका निर्वाह करती हैं। ये एक से लेकर दो बच्चों का जन्म देती हैं। मादाओं में एक वर्ष में एक से अधिक अण्डजनन चक्र होता है।



चित्र 6 : 16 टार्सियर (नर)

गैलागिनी अधिक से अधिक खरगोश के आकार के तथा छोटे से छोटे एक चूहे के आकार के होते हैं। इनकी पूंछ लम्बी होती है। इनकी एक बड़ी जाति, गैलागो क्रेसीकौडेट्स के घने एवं गुच्छेदार बाल होते हैं। जबकि छोटी जाति गैलागो सिनैगैलेसिस के अपेक्षाकृत पतली पूंछ होती है जिसपर अधिक सघन बाल होते हैं। लोरिसिनी के सदृश इनके हाथ व पैर परिग्राही, अंगुलियां सुविकसित, पैरों की द्वितीय अंगुलि नखरयुक्त (claws) हैं। इनके निचले दनक, एवं कृतंकों पर सुविकसित दंतकंघी होती है। इनका दंतसूत्र $\frac{2.1.3.3}{2.1.3.3}$ होता है। ये सर्वाहारी होते हैं। इनका संचलन कंगारु की भांति होता है। यह जमीन पर कूद–कूद कर चलते हैं। इनका आवास प्रमुखतः वृक्ष होता है। ये भी रात्रिचर प्राणी है। मादाओं में गर्भकाल लगभग 16 सप्ताह का होता है तथा वह एक वर्ष में कई बार अण्डजनन (ovulalion) करती है।

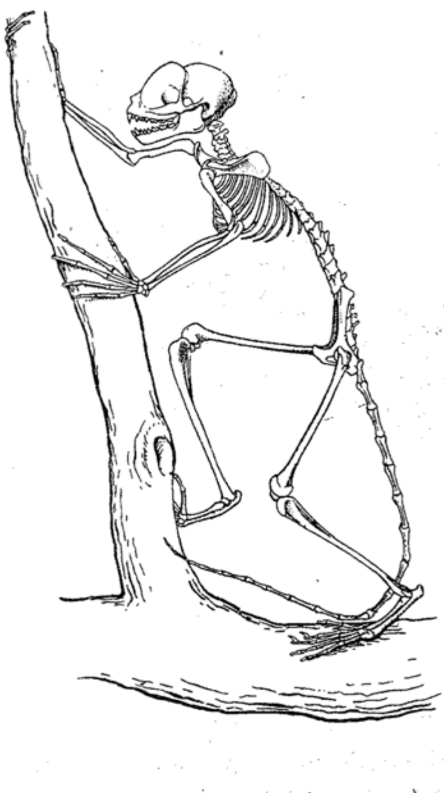
इन्फ्राआर्डर–टारसीआकार (Tarsiforms)

इन प्राणियों को 'टार्सियर' के नाम से भी जाना जाता है जो इस इन्फ्राआर्डर का जीवित वंश (Family) है। इनका विस्तारक्षेत्र पूर्वी भारत से लेकर पश्चिमी सुमात्रा तक– सुमात्रा, करीयता, वांका, विलीतन, नेतुना, बोर्नियों, सेलीवस, सालेट, पुलोपियन, सांगीर, मिंदानव, वोइल एवं समर आदि द्वीप समूहों में है।

टार्सियर के पैर एवं पूंछ आकार में लम्बे होते है इनका आकार चूहे सदृश होता है। इनकी कुल शारीरिक लम्बाई करीब 20.5 सेमी होती है। इनके थूथन (Snout) नहीं होता है एवं छोटी नाक होती है। इनका सिर गोल होता है। आंखे बड़ी होती हैं जो दूसरी के समीप सामने की ओर होती हैं। ये त्रिविमतीय (Sterioscopic) नही होती है। इनका चेहरा चपटा होता है। नथुने दूर दूर होते हैं तथा बालयुक्त होते हैं। ओष्ठ पेशीय युक्त तथा स्वतन्त्र गति रखने की क्षमता रखते हैं। इनका मुख चौड़ा होता है। इनके दांत पैने होते हैं। इनमें लीमर एवं लोरिस के समान दंत कंघी (dental comb) नहीं होती। इनका दंत सूत्र $\frac{2.1.3.3}{2.1.3.3}$ होता है।

इनके सभी अंगुलियों तथा पोरों पर गद्दियाँ होती हैं। हथेली में भी गद्दियाँ पायी जाती हैं। इससे इनके हाथों की ग्राह्य क्षमता विशिष्ट होती है। इनके हाथ तथा तलवे दोनों परिग्राही होते हैं। पैरों की दूसरी एवं तीसरी अंगुलियों में बड़े नाखून होते हैं। इनकी बाहें छोटी लेकिन हाथ लम्बे होते हैं। इनके पश्चपाद काफी लम्बे होते हैं। इनकी टांगे लम्बी एवं मेढक सदृश मुड़ी होती हैं जिससे यह फुदकते हुए संचलन करते हैं।

इनमें 57 कशेरुक अस्थियां होती हैं। इनकी टीविया एवं फीबुला अस्थि (टांग की) अपने नीचे के सिरे पर जुड़ी होती है। पैरों का आकार लम्बा होने से कैलकैनियम (Calcanium) एवं नेवीकुलर (Navicular) संवर्धित एवं विकसित है तथा यह मिलकर टार्सस (Taraus) का निर्माण करते हैं। इसी कारण सम्भावतः इन्हें टार्सियर भी कहा जाता है।



चित्र 6 : 17 टार्सियर का कंकाल (3/4 अनुपात)

इनका महारन्ध्र अन्य प्रासीमियनों की तुलना में कपाल के आधार पर आगे की एवं नीचे की ओर होता है। इनकी दृश्येंद्रिय सम्भवतः प्रधान इन्द्रिय है।घ्राणेन्द्रिय गौड़ है इसका प्रभाव इनके मस्तिकी आकार पर भी दर्शनीय है। इनका प्रमस्तिष्क बल्कुट संवर्धित होता है।

ये कीटभक्षी होते हैं। चुहियों, छिपकलियों एवं गिरगिट को भोजन के रूप में पसंद करते हैं। ये अधिकांशतया जोड़े में देखे जाते हैं। ये रात्रिचर प्राणी है। ये प्रायः संध्या में अधिक क्रियाशील पाये जाते हैं। ये वृक्षवासी जीवन व्यतीत करते हैं। प्रायः दिन में ये ऊंची शाखा में चिपक कर सोते रहते हैं। मादा टार्सियर अपने बच्चों का अधिक ध्यान रखती है जो प्रायः पेट में चिपका रहता है।

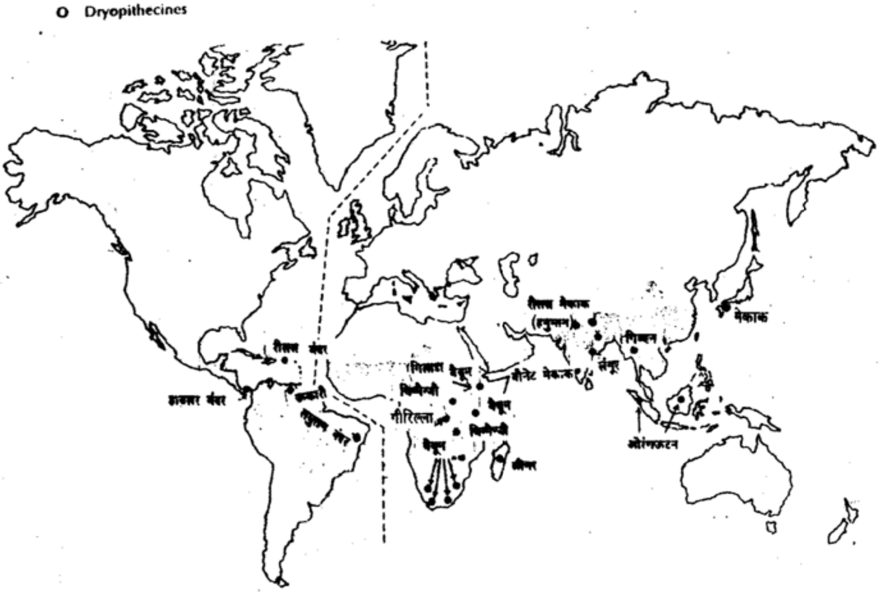
वर्तमान समय में टार्सियर मुख्य वंश की तीन जातियां पायी जाती हैं तथा प्रत्येक जाति की अनेक उपजातियां परिभाषित की गयी हैं।

टार्सियर 'प्रासीमियन–सबआर्डर' के पहले प्रतिनिधि स्वीकारे गये हैं जिन्हें 'एन्थ्रोपाइडिया' के निकटस्थ माना जाता हैं। इनकी बड़ी–बड़ी

आंखें तथा अस्थिमय नेत्रगुहा इनके ऐसे लक्षण हैं जो एन्थ्रोपॉइडों से इनके सम्बन्ध अधिक प्रबल होते हैं। ऐश्ली माण्टेगू (1960) का मत है किसी टार्सियर मूल ने ही प्राचीन एवं नवीन विश्व के वानरों एवं गिब्बन को उत्पन्न किया।

सब–आर्डर एन्थ्रोपॉइडिया (Anthropoidea)

गत अध्याय में एन्थ्रोपॉइडिया के विशिष्ट लक्षाणों का उल्लेख किया गया था जिसके आधार पर इस सब–आर्डर को आदिम लक्षणों वाले प्रासीमियनों से पृथक किया जाता है। वहाँ पर इसका भी वर्णन किया किया गया गया था कि 'एन्थ्रोपॉइडिया' को तीन उच्चवंशों में विभक्त किया जाता है– सिब्बाइडिया, सरकोपिथेक्वाइडिया एवं, होमिन्वाइडिया। यहाँ पर इन उच्चवंशों के जीवित प्रतिनिधियों की विशिष्टताओं का उल्लेख करेंगे।



चित्र 6 : 18 विश्व में मानवामों (वानर एवं कपि का वित्रण)

उच्चवंश– सिब्वाइडिया (Ceboidea) या नई दुनिया के बानर– इस उच्चवंश के सभी सदस्य मध्य एवं दक्षिणी अमेरिका में विस्तृत है इन्हें चपटी नासा वाले बानर या 'प्लैटीरिनी' (Platyrrhinae) भी कहते

हैं । इन्हें व्यूटनर जानुश (1972) 'प्रासीमियन प्राइमेटों' के एक समूह की सन्तान मानते हैं। इनका उद्विकास एकान्त में हुआ है जहां इनका विस्तृत रूप से अनुकूलन विकिरण (Adaptive Radiation) हुआ है। ये पुरानी दुनिया के बानरों के समानान्तर हैं। इन्हें नासिका के आधार पर उनसे पृथक किया जाता है। आधुनिक अनुसंधानों के अनुसार ये एक ही पूर्वजता रखते हैं लेकिन कालान्तर में यह विभक्त हो गये।जीवाश्मों के आधार पर कभी ये ऊष्ण कटिबंधी भूभाग में रहते थे लेकिन आज विषुवत रेखीय वातावरण का अनुकूलन कर चुके हैं।

नई दुनिया के वानरों को दो कुलों (वंशों) में विभक्त किया जाता है- **सेविडे** एवं **कैलीथेसिडे**। पनामा खाड़ी के सागर में मिलने से ये दोनों पृथक हो गये हैं। सेविडे में कुल 6 उपकुल (उपवंश) होते हैं तथा कैलीथ्रेसिडे के 5 जीनस होते हैं।जिन्हें गत अध्याय की एक तालिका में प्रदर्शित किया गया है।

उपकुल सेविनी दो जीनस **सिवस** तथा **साइमिरी** में विभक्त किये गये हैं जिनके सदस्य क्रमशः कैपुचिन एवं गिलहरी वानर हैं।स्क्वैलर वानर या गिलहरी बानर गिलहरी सदृश छोटे आकार के होते हैं जो



चित्र 6 : 19 अमानवी उच्चस्तनियों (वानर एवं कपि) का वितरण

मध्य एवं दक्षिणी अमेरिका में पाये जाते हैं। ये वृक्षीय चौपाये हैं ।पूंछ लम्बी मोटी एवं अपरिग्राही होती है।ये लेकिन सन्तुलन का कार्य करती जब ये प्राणी एक डाल से दूसरी डाल पर कूदता है या बैठता है। ये प्रायः छिपकली, के अण्डे एवं कीड़ों का आहार करते हैं और समूहों में रहते हैं। इनके समूह अधिक से अधिक 100 सदस्य होते हैं। ये चपल एवं अशान्त व्यवहार वाले होते हैं।

कैपुचिन बंदर– इन्द्रिय–घर्षक बन्दर माने जाते हैं ये प्रायः अफ्रीकी बन्दर के सदृश होते हैं जो सादृश्यता इनके वृहद गोलाकार सिर के कारण होती है। ये साधारण बन्दर वृक्षवासी है जो दक्षिण अमेरिका के ऊष्ण कटिबन्धीय जंगलों में विचरण करते हैं। ये सर्वाहारी हैं। ये प्रायः चतुष्पदीय है लेकिन सुगमतापूर्वक ऊर्ध्व स्थित में खड़े हो जाते हैं।

अलूटिनी उपवंश में एक ही जीनस अलूटा होता है जिसका हाउलर बानर जीवित सदस्य है। इसका विस्तृत क्षेत्रीय अध्ययन कार्पेन्टर (1934) ने किया उनके अनुसार ये दीर्घाकार, एवं परिग्राही पूंछ वाले बानर हैं। वयस्क होने पर ये मध्यम कद वाले हो जाते हैं। इनकी दाढ़ी बड़ी एवं बाल रेशम जैसे होते हैं। ये वृक्षवासी प्राणी उंची–उंची शाखाओं पर विचरण करता है। इनकी टुकड़ी में अधिक से अधिक 40 सदस्य होते हैं। मादायें नर पर प्रभावी रहती हैं। ये शायंकाल भयंकर कोलाहल मचाते हैं। इनकी प्रमुख आवाज हुयाने (Howling) की होती है जो मीलों दूर से सुनी जा सकती है। इनकी आवाज प्रायः दहाड़ एवं भौंकने की भी लगती है। आवाज प्रायः दुखदायी, शक्तिशाली, तीव्र एवं असह्य होती है। इनका व्यवहार क्रूर हिंसक एवं पशुवत लगता है। इनका चिवुक (Chin) दीर्घ होता है। दीर्घ ग्रासिकास्थि (Laryns) जो जिह्वा एवं स्वरयन्त्र को स्वर प्रदान करती है। ये नीचे झुककर दो पैर तथा चार पैरों से संचलन करते हैं। इनका अंगूठा बड़ा लेकिन अभिमुखचारी नहीं होता। पूंद परिग्राही तथा स्पर्शी अंग है जिसका प्रयोग मक्खियाँ भगाने में भी किया जाता है। यह शाकाहारी प्राणी है।

आओटिनी उपवंश में दो जीनस आओपस तथा कैलिसिनस हैं जिनके साधारण नाम क्रमशः रात्रि एवं तिति वानर भी हैं।इनकी पूंछ लम्बी, ऊनी, अपरिग्राही तथा रेशमी होती है। रात्रिचर आओपस की आंखें बड़ी होती हैं। मुंह एवं नासिका के अतिरिक्त चेहरे पर बड़े–बड़े कई रंगों के बाल होते हैं। टिटिस वानर दिनचर होता है। ये संध्याकाल में अधिक सक्रिय होते हैं। ये सर्वाहारी होते हैं।

अटेलिनी के तीन जीनस होते हैं जिनके प्रतिनिधि वानर क्रमशः स्पाइडर बानर, ऊनी स्पाइडर वानर एवु ऊनी बानर हैं। स्पाइडर (वास्तविक) बानर अत्यन्त लम्बी भुजाओं वाले होते हैं जिनकी पूंछ लम्बी तथा परिग्राही होती है। पैरों के साथ–साथ शरीर की दुबली बनावट होती है जिससे ये मकड़े जैसे प्रतीत होते हैं। ये अपनी विशेषता में कुछ सीमाओं तक गिब्बन से मिलते जुलते हैं। ये श्रेष्ठ वाहुगामी (Brachiator) हैं। ऊनी बन्दर के भी परिग्राही पूंछ होती है। ये शाकाहारी होते हैं। ऊनी स्पाइडर वानर उपर्युक्त दोनों अटेलिनी बानरों के मध्यवर्ती हैं।

कैलीमिकोकिनी का एक जीनस तथा एक ही प्रतिनिधि सदस्य है जिसे गोल्डी बानर कहते हैं। यह नई भूमिका का लघुतर बन्दर है जो नर्म, रेशमी, काल लोमचर्म वाले चतुष्पादी प्राणी हैं। इसके एक अपरिग्राही पूंछ तथा अंगूठे पर नुकीले नख होते हैं।

पिथोसिनी उपवंश में तीन जीनस होते हैं जिनका प्रतिनिधित्व उकारी बानर, बड़े बालों वाला **साकी** बानर, छोटे बालों वाला **साकी बानर** करता है। इनकी पूंछ परिग्राही नहीं होती है। साकी वानर पूर्णतया वृक्षवासी होते हैं। ये संध्या एवं रात्रिचर होते हैं। ये सर्वाहारी होते हैं। ये अमेजन घाटी के आन्तरिक भागों में पाये जाते हैं। इनके शरीर पर लम्बे–लम्बे बाल (Fur) होते हैं जो इन्हें शीत से बचाते हैं। साकी वानर जो छोटे बालों वाला होता है उसका दाढ़ीदार चेहरा, तथा उभरी नासिकास्थ, यह वृक्षवासी एवं चतुष्पादीय होती हैं। ये शाकाहारी होते हैं। उकारी वानर छोटी पूंछ वाले, गंजी खोपड़ी वाले प्राणी हैं। इनका लोचर्म चमकीले लाल रंग का होता है। इनका सिर तथा चेहरे पर बाल नहीं होते। यह अत्यन्त कायर किस्म का प्राणी हैं जो पूर्णतः शाकाहारी है। इनकी तीन जातियां (Spicies) पायी गयी हैं।

कैलिथ्रेसिडी वंश (Family) में पांच जीनस हैं जिनका प्रमुख प्रतिनिधि तमारिन तथा **मार्मोसेट** बन्दर है। इनका दंत सूत्र $\frac{2.1.3.2}{2.1.3.2}$ है। मॉर्मोसेट साधारण गिलहरी सदृश लघु आकार के होते हैं। इनका सम्पूर्ण शरीर मुलायम बालों से ढका रहता है। ये लम्बी पूंछ वाले चौपायों हैं जिनके अग्रांग पश्चांगों से छोटे होते है। उनकी अंगुलियों पर नुकीले नाखून के स्थान पर अधिकांश में पंजे होते हैं (सेविडे के विपरीत)है। अंगूठा अभिमुखचारी नहीं होता। यह वृक्षवासी, शाकाहारी तथा कीटभक्षी होते हैं।

इनके मुख का आकार अपेक्षाकृत छोटा तथा आंखें बड़ी होती हैं। इनकी खोपड़ी गोल तथा छोटी होती है। मस्तिष्क का अग्रभाग अपेक्षाकृत बड़ा होता है। इनकी गण्डास्थि (Zygomatic Bone) पार्श्विकास्थि (Temporal Bone) से मिलकर खोपड़ी को दो भागों में बांट देती है। मादा मार्मोसेट एक समय में एक से अधिक बच्चे देती है। इनका गर्भकाल लगभग 5 माह 1 सप्ताह का होता है।

तमारिन वानर के सिर पर सफेद बालों का झुरमुट होता है। ये फुर्तीले बानर हैं जो बिना किसी चोट के अधिक से अधिक ऊंचाई से जमीन पर कूद जाते हैं।

इन्फ्राआर्डर-सरकोपिथेक्वाइडिया (Ceropithodeirdea) या पुरानी दुनिया के बानर

'सरकोपिथेक्वाइडिया' या 'प्राचीन दुनिया के बन्दर' को संकीर्णनासा (Catarrhinae) भी कहते हैं।ये बन्दर दक्षिण अफ्रीका के केप ऑफ गुडहोप से लेकर जापान के प्रायद्वीपों तक विस्तृत होते हैं। हिमालय पर्वत उनकी उत्तरी सीमा है। ये यूरोप में नहीं पाये जाते ।कुछ जनसंख्यायें अरब प्रायद्वीप में पायी जाती हैं। सरकोपिथेक्वाइडिया का एक ही सरकोपिथेसिडी वंश (Family) है जिसे पुनः दो उपवंशों में विभक्त किया गया है। ये हैं : सरकोपिथेसिनी एवं कोलोबनी। ये गलूचों (Cheek pouch) के आधार पर बांटे गये हैं। सरकोपिथेसिनी गलूचेयुक्त एवं कोलोबिनी गलूचे विहीन होते हैं

'सरकोपिथेसिनी' उपवंश के पांच जीनस हैं जिनके क्रमशः गुएनान, मैगवी, कालाबन्दर (सेलीवीज़), मैकाक (लालमुंह वाले) एवं बैबून के प्रतिनिधि सदस्य हैं।

गुएनान लम्बी पूंछ वाले (लेकिन अस्थाई रूप से परिग्राही) गलूचोवाले तथा अच्छी पाचन नली वाले बानर हैं। ये सर्वाहारी जीव हैं। ये वृक्षवासी होते हैं। अफ्रीकी गुएनान का एक समूह सबसे बड़े आकार के प्राइमेटों में से है। रंगों के आधार पर इनकी सैंकडों उपजातियां हैं। दूसरे बन्दरों की अपेक्षा गुएनान बन्दर अपने चेहरे पर अभिव्यक्ति के लक्षण प्रदर्शित नहीं करते हैं। यह प्रायः गम्भीर एवं एकाकी प्रकृति का प्राणी होता है। मादायें बच्चों के प्रति स्नेहभाव प्रदर्शित करती हैं। बच्चे दो या तीन माह तक मां के दूध केसहारे पलते पोषते हैं।

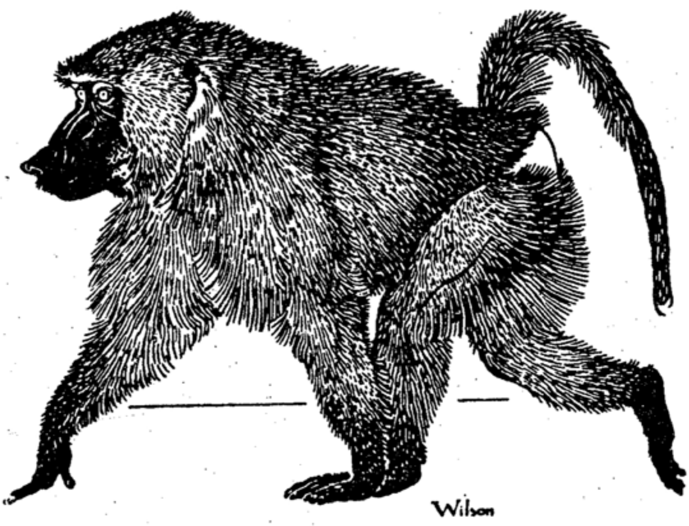
मैगवीज़ अपेक्षाकृत बड़े एवं स्थलवासी जन्तु हैं जिन्हें अफ्रीका के सम्पूर्ण जंगली क्षेत्रों में पाया जाता है। ये अपेक्षाकृत आक्रामक बानर हैं। इनकी पूंछ लम्बी होती है। इनमें आसनास्थि गद्दी (Ischial Pad) होती है। ये अपने व्यवहारों में बैबून के समान होते हैं।

काला बानर सेलीबीज (एशिया) में पाया जाने वाला बानर है। यह अनेक सामाजिक तथा कुछ शारीरिक विशेषताओं में **बैबून** के सदृश होता है।

बैबून सहारा के दक्षिण सम्पूर्ण अफ्रीका में तथा अरब प्रायद्वीप में पाये जाते हैं। यह भारत में पाया जाने वाला बंदर-मेकाक के सन्निकट है। ये स्थलवासी प्राणी है। अफ्रीका का गिलाडा बैबून मैकाक के सदृश है तथा एशिया का काला बंदर बैवून सदृश है। इन बानरों की कपाल की बनावट एक दूसरे के समान है। बैबून में मस्तिष्क विकसित, उद्‌गत आनन, सकरी नांक, द्विनेत्री दृष्टि, उभरी गण्डास्थियां, उभरा भ्रूकटक, अपेक्षा विकसित ललाट, आदि प्रमुख लक्षण होते हैं। इनका दंत सूत्र $\frac{2.1.2.3}{2.1.2.3}$ है। गेलडा बैबून थुयथोपियो के पहाड़ी क्षेत्रों पर पाया जाता है। नर बैवून अपने वक्षस्थल पर लाल रंग की एक आकृति रखता है। ये सर्वाहारी प्राणी है जो प्रमुखतः कंद-मूल, पत्ती, फल इत्यादि अधिक पसंद करता है।

वाशवर्न एवं डिवोर ने **बैबून** का विस्तृत अध्ययन किया है। उनके अनुसार बैबून एक सामाजिक प्राणी है। इनके समाज का संगठन विस्तृत एवं सुदृढ़ होता है। यह झुण्ड में रहते हैं। झुण्ड में प्रायः 10–125 तक सदस्य होते हैं। अनुमानतः मादायें अधिक होती हैं। झुण्ड का मुखिया एक बलिष्ठ नर बैबून होता है। यह बच्चों एवं मादाओं की आपत्ति काल में रक्षा करता है। खाद्य पदार्थों के दैनिक आखेट अभियान में मुखिया अग्रगामी होता है। अन्य बलिष्ठ बैबून बाहर एवं पीछे की ओर चलते हैं तथा मादायें एवं बच्चे झुण्ड के मध्य में चलते हैं। मुखिया वही होता है जो सबसे अधिक बलिष्ठ हो समयानुसार लड़ाई के द्वारा बदलते रहते हैं। मुखिया ही विशेषकर ऋतुमती मादा बैबून के साथ सम्भोग करता है शेष ऋतुकाल के उतार चढ़ाव पर मैथुन क्रिया करते हैं। नवजात शिशुओं को सभी स्नेह करते हैं।

बैबून (Hamadrays) यूथपोपिया निवासी है। इनका समाज साधारण बैबूनों के समाजिक संगठन से भिन्न होते हैं। (कुम्भेर, 1968)।



चित्र 6 : 20 बैबून

लाल मुंहे बानर– एशिया महाद्वीप के देशों जैसे– भारत, बांग्लादेश, पाकिस्तान तथा जापान में पाये जाते हैं। ये सामाजिक वृक्ष एवं स्थलवासी प्राणी हैं। ये भी बैबून की भांति झुण्ड में चलते हैं जिसका मुखिया नर बानर होता है जो बलिष्ठ होता है। मुखिया शारीरिक आकार में बड़ा तथा, गर्वीला, होता है। मुखिया की पूंछ सर्दव उंची उठी रहती है इसकी तुलना में अन्य नर वयस्कों की पूंछ थोड़ी झुकी होती है। मादायें अपने बच्चों को अन्य सदस्यों के पास कम जाने देती हैं। (साइमन्स, 1965)।

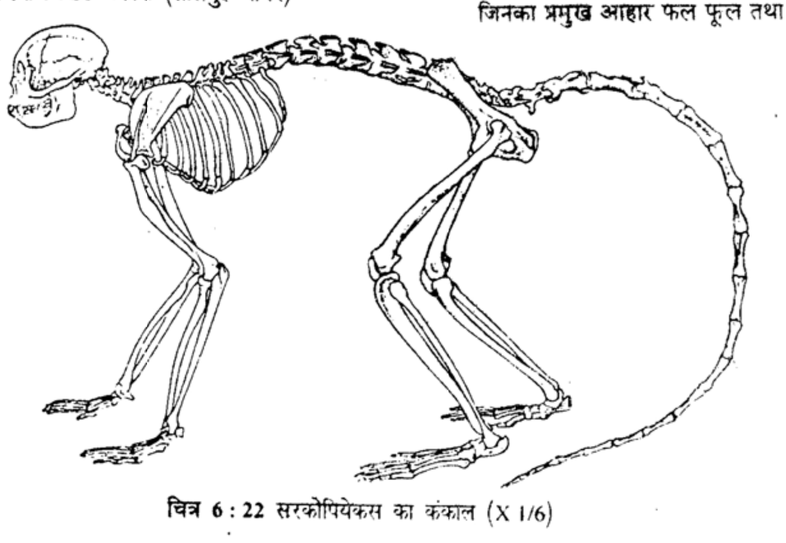
मादायें जो मुखिया के साथ सम्भोग करती है वह झुण्ड में सम्माननीया मानी जाती है। मादाओं के प्रायः वर्ष में दो रतिकाल होते हैं एक अक्टूबर–नवम्बर तथा दूसरा जून–जुलाई। जापान के ललमुंहे बंदर में यह ऋतुकाल तभी आता है जब खाद्य पदार्थ प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है।



चित्र 6 : 21 मैकाक (लालमुहे बानर)

कावामुरा (1956) ने इनके व्यवहारों का अध्ययन किया है तथा समयानुसार इनके व्यवहार सीखने पर जोर दिया है जैसे– शकरकन्द को कुछ टुकड़ियां धोकर खाती हैं। आल्तमैन (1967) के अनुसार शहरी वातावरण में रहने के कारण इनके व्यवहारों पर अधिक प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार खेती की जाने वाले स्थानों पर बैबूनों ने भी व्यवहारों में परिवर्तन किया है (मैल्टस, 1969)। सामान्यतया लालमुंहे बानर सामाजिक संगठनों में बैबूनों के अधिक सदृश है।

एक दूसरा उपवंश– **कॉलोबिनी** जो अफ्रीका एवं एशिया देशों में विस्तृत है उन्हें 'सैम्नोपिथेसिनी' भी कहा जाता है। ये मुख्यतः 6 जीनस में विभाजित किये गये हैं जिसके क्रमशः गुरेजा, प्रोबॉसिस, साधारण लंगूर, डूक लंगूर, भोंड़ी नाक वाला लंगूर, एवं पागी द्वीप का लंगू मुख्य प्रतिनिधि हैं। ये सभी मुख्यतः वृक्षवासी होते हैं जिनका प्रमुख आहार फल फूल तथा



चित्र 6 : 22 सरकोपियेकस का कंकाल (X 1/6)

पत्तियां हैं। इसे पचाने के लिये पेट में एक विशेष्ज्ञ प्रकार की थैली होते हैं। चीक पाउच (गलूये) प्रायः नहीं होते। अफ्रीका के गुरेजा तथा भारतवासी लंगूर इसकी प्रमुख जातियां हैं।

अफ्रीका निवासी 'गुरेजा' बानर सामान्य लालमुंहे वानर के सदृश होते हैं। इनका पूरा शरीर मुख्यतः काले चमकदार बालों से आच्छादित रहता है। लम्बी पूंछ घने बालों से घिरी रहती है। नवजात शिशुओं के बालों का रंग सफेद होता है। वयस्कों में सफेद बाल मुख के चारों ओर एवं पीठ पर पाये जाते हैं। इसके बालों का रंग अत्यन्त विविधता पूर्ण है। हाथ का अंगूठा अत्यन्त लघु होता है कभी–कभी अनुपस्थित भी होता है। पश्चांग अग्रांगों की तुलना में लम्बे हैं। यह वाहुचलन में प्रवीण होते हैं। इनका सामाजिक अध्ययन हैडो एवं बूथ ने किया है। इनमें भी छोटे–छोटे झुण्ड होते हैं जिनके बीच कभी–कभी युद्ध भी छिड़ जाता है। सभी सदस्य अपनी सीमा की रक्षा करते हैं। एक टुकड़ी में 5 से 20 तक सदस्य होते हैं। मादायें वर्ष भर बच्चों के जन्म दे सकती हैं। गर्भिणी मादाओं के जननेंद्रियों के पास सूजन आ जाती है।

लंगूर एशिया महाद्वीप में विस्तृत होते हैं जिनकी कई जातियां हैं। भारत के अतिरिक्त लंका, वर्मा, दक्षिण पश्चिमी चीन, थाईलैण्ड, मलाया, सुमात्रा, जावा एवं बोर्नियां तक ये फैले हुये हैं। भारत में तो गांवों एवं नगरों के आसपास भी पाये जाते हैं।मुख्यतः ये हिमालय की पहाड़ियों से लेकर सुदूर दक्षिण के नीलगिरि तक फैले हुये हैं। ये वृक्षवासी प्राणी शाकाहारी एवं चौपाये हैं। शरीर इनका अपेक्षाकृत बड़ा है। अग्रांग एवं पश्चांग दोनों पतले होने के साथ–साथ लम्बे होते हैं। पश्चांग की लम्बाई अग्रांग की तुलना में अधिक होती है। अंगूठा छोटा होता है। यह गुरेजा की भांति वाहुचलन में पारंगत होते हैं। मुख की त्वचा काली होती है। नवजात शिशु हल्कें काले–भूरे तथा सफेद वालों युक्त होते हैं जबकि वयस्कों का रंग काले से लेकर हल्का काला (राख जैसा) होता है। वयस्क लंगूरों की छलांग कम से कम 35–40 फुट तक होती है (हैरीसन 1962, नैपिये 1963)

लंगूर की एक टुकड़ी (छोटी अथवा बड़ी) सदस्यों की संख्या 5–50 तक हो सकती है। नैपिये के अनुसार लखनऊ के आस–पास ओरछा की टुकड़ियों में नर और मादा का अनुपात 1:1 से लेकर 1:5 होता है मादाओं को ऋतुचक्र 30 दिन तथा गर्भकाल 168 दिनों का होता है। मादा वर्ष के किसी भी महीने में बच्चे का जन्म दे सकती है।

प्रोवॉसिस बोर्नियों द्वीप के दक्षिण पूर्वी दलदली भाग के वृक्षों पर निवास करते हैं। इन्हें पत्तियों का आहार अधिक प्रिय है। नर वानर अपनी नासिका का प्रयोग भावाभिव्यक्ति में अधिक करता है।

इस प्रकार नई दुनिया एवं पुरानी दुनिया के उपरोक्त जीवित प्राइमेटों का वर्गीकरण भौगोलिक विवरण जैविक तथ्यों के आधार पर किया गया है। उनमें पर्याप्त सादृश्यता एवं विविधतायें परिलक्षित होती हैं। इनके जैववासिक (Ethological) अध्ययनों से ज्ञात होता है कि प्राचीन दुनिया के बानर अपेक्षाकृत विकसित मस्तिष्क रखते हैं, जो उच्चवंश हामिन्वाइडिया के सर्वाधिक निकटवर्ती हैं। उनका सामाजिक संगठन भी तुलनात्मक दृष्टि से सुदृढ़ है। जैविक लक्षणों में उनकी नासिका एवं दांत रचना प्रमुख है जो दोनो में आश्चर्यजनक विभेद स्थापित करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान इस मत के भी हैं कि दोनों उच्चवंशों को पहले बानर में सम्मिलित करें, तत्पश्चात सम्पूर्ण 'बानर' मानवानुरुपियों (Anthropoid) को तीन वंशों में विभक्त करें: (नई दुनिया के बन्दर), कैलीथ्रेसिडे (मार्मोसैअ) एवं सरकोपिथेक्वाइडे (पुरानी दुनिया के बन्दर)। लेकिन यह विभाजन अत्यधिक विश्वसनीय नहीं माना गया है क्योंकि कैलीथ्रेसिडे एवं सिब्वाइडे दोनों ही नई दुनिया के 'एन्थ्रोप्वाइड (मानवानुरूपी प्राइमेट) है। दूसरे कई विद्वानों के अनुसार नई दुनिया के बंदर अपेक्षाकृत आदिम स्तर के लक्षणों से युक्त हैं और पुरानी दुनिया के बंदर होमिन्वाइडिया उच्च वंश, जिसका मानव एक सदस्य है, के अधिक निकट है।

नई एवं पुरानी दुनिया के वानरों में तुलनात्मक विभेद अग्रांकित तालिका में प्रदर्शित किये जा रहे हैं–

'सिब्बाइडिया' (नई दुनिया के बन्दर) एवं सरकोपिथेक्वाइडिया (पुरानी दुनिया के बन्दर) की तुलना

लक्षण	नई दुनिया के बन्दर	पुरानी दुनिया के बन्दर
1. विस्तार क्षेत्र	मध्य एवं दक्षिणी अमेरिका	अफ्रीका, अरब, एवं एशिया
2. नासिका	चपटीनासिका (चौड़ा नेजल सेप्टम)	संकीर्णनासिका (संकीर्ण नेजल सेप्टम)
3. दांत की संख्या	36	32
4. दंत सूत्र	$\frac{2-1-3-3}{2-1-3-3}$	$\frac{2-1-2-3}{2-1-2-3}$
5. शारीरिक आकार	अपेक्षाकृत छोटे	अपेक्षाकृत बड़े
6. अग्रांग	अग्रांग पश्चांग लगभग बराबर	अग्रांग पश्चांगों से छोटे
7. ग्राह्य क्षमता	परिग्राही अग्रांग	परिग्राही अग्रांग
8. अंगूठा	अंशतः अभिमुखचारी	स्पष्टतः अभिमुखचारी
9. नाखून	सभी अंगुलियों में लेकिन कुछ में पंजे	सभी में
10. पूंछ	लम्बी परिग्राही	लम्बी, छोटी संतुलन बनाने में उपयोग
11. गलूचा (Chek pouches)	अनुपस्थित	उपस्थित
12. इश्चियल कैलायसिटी	अनुपस्थित	उपस्थित
13. लैंगिक द्विरूपता	अंशतः उपस्थित	उपस्थित
14. आवास	वृक्ष	वृक्ष एवं स्थल
15. आहार	शाकाहारी, कीटभक्षी	सर्वाहारी
16. व्यवहार	अविकसित	विकसित
17. सामाजिक संगठन	अविकसित	सुद्र .ढएवं अपक्षोकृत विकसित
18. ऋतुस्राव का प्रभाव	अनुपस्थित	जननांग चर्म में सूजन
19. संचलन	चतुष्पदीय	चतुष्पदीय, वाहुगमनक
20. क्रियाशीलता	अधिकांश रात्रिचर (nocturnal)	दिनचर (diurnal)

उच्चवंश–होमिन्वाइडिया (Hominoidea)

'होमिन्वाइडिया' प्राइमेट सब–आर्डर के एन्थ्रोपाइडिया (मानवानुरूपी) का तीसरा इन्फ्राआर्डर एवं सर्वाधिक विशिष्ट उच्च वंश है। उद्विकासीय दृष्टिकोण से ये सफलतम प्राणी रहे हैं। इनके जीवित सदस्यों में कपि तथा मानव हैं। होमिन्वाइडिया को दो उपवंशों में विभक्त किया गया है– पांगिडी तथा होमिनिडी। पांगिडी के सदस्य विशिष्टतया कपि जैसे– गिब्बन, ओरांग उटान, गोरिल्ला एवं, चिम्पैंजी हैं जब कि होमिनिडी उपवंश का सदस्य मानव है, जिनका संक्षिप्त उल्लेख गत अध्याय में किया गया था। चूं कि मानव का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः कपि उपवंश से है और मानवोत्पत्ति एवं उद्विकास का अध्ययन हमारा प्रमुख उद्देश्य है अतः इसका वर्णन हम अगले पृथक अध्याय में करें गे और वहीं पर जीवित तथा जीवाष्म 'मानव सम' प्राइमेटों का वर्णन भी करेंगे।

प्राइमेट जीवाश्म (Peimate Fossils) - इस प्रकार अब तक प्राइमेटों (उच्चस्तनियों) के वर्तमान जीवित सदस्यों का उद्विकासीय क्रम में वर्णन किया गया जिसका आधार प्राणिवैज्ञानिक, प्राइमेट वैज्ञानिक (Primatological), शरीर रचनात्मक, शरीर क्रियात्मक एवं जैव–वासिक (ethological) अध्ययन थे। लेकिन जीवाष्म अभिलेखों से हमें प्राइमेट जैविकी के संदर्भ में कतिपय तथ्य प्राप्त होते हैं जो मात्र जीवित प्राणियो के अध्ययन से प्राप्त नहीं होतें। क्योंकि जीवाष्म अभिलेख एक कालिक रूपरेखा प्रदान करते हैं जिसके आधार पर किसी विशेष घटना का कालनिर्धारण किया जा सकता है। अन्ततः यही स्वरूप उद्विकासीय प्रतिरूपों की दरों, श्रृंखला, तथा सम्पूर्ण संरचना का बोध कराने में सहायक होते हैं। अतः अब यहां पर हम उन खोजे गये प्राइमेटों के जीवाष्म साक्ष्यों की चर्चा करें गे जो प्राइमेटों के उद्विकास की कहानी गढ़ने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सहायक सिद्ध हुये हैं।

प्राइमेट उद्विकास का स्वरूप

अन्य आर्डर से तुलना करने के पश्चात सर्वप्रथम जी.जी सिम्पसन (1949) ने प्राइमेट अभिलेखों के आधार पर उद्विकास की दर निर्धारित की। जिसमें यह सम्भावना व्यक्त की कि प्रथम प्राइमेट जीवाश्म पैलियोसीन (Paleocene 7–6 करोड़ वर्ष पूर्व) कालीन स्तनधारियों के नवीन जीवनशैली के अनुकूलक विकिरण होने से अवतरित होगा, उस समय जब सरीसृपों को साम्राज्य समाप्त हो गया था।

पैलियोसीन कालीन प्राइमेट– कालान्तर में प्राइमेट उद्विकास का स्वरूप जीवाश्म साक्ष्यों से अधिकाधिक स्पष्ट हुआ है। उत्तरी अमेरिका एवं यूरोप की पैलियोसीन स्तर संख्या में 'प्रोसीमियन' जातियों के जीवाश्मों को रखते हैं। जीवाश्म अभिलेख यह इंगित करते हैं कि सीनोजोइक महाकल्प तक प्राथमिक विकिरण जारी रहा। प्रासीमियमों की पारिस्थिक परिस्थितियां मानसूनी प्रदेशों के सघन जंगलों की हैं। सम्भवतः उनकी उत्तरी अमेरीकी एवं यूरोपीय गर्म क्षेत्रों में उपस्थिति यह है कि इन दोनों क्षेत्रों की जलवायु आज की अपेक्षा उस समय अधिक शुष्क एवं गर्म रही होगी।

30 मिलियन (3 करोड़) वर्ष से अधिक समय पूर्व प्रासीमियन ही अधिकांश प्राइमेट थे। इस अन्तराल में इनका 9 वंशों में विकिरण हुआ जिससे 6 इयोसीन युग के अन्त तक जीवित रहे।इनकी रचना कुछ आज के लीमर के सदृश होगी। उनमें से एक रोडेन्टों के सदृश विशिष्टीकृत कृतंक वाले रूप में उद्विकसित हुआ। पुनः स्वतन्त्र रूप से ये छेनीआकार (chisel teeth) के दांतों में पुनः विशिष्टी कृत हुआ तथा अन्ततः प्रासीमियनों के सदृश दांतों का उद्विकास हुआ जैसा कि मेडागास्कर में आई–आई बानरों में दर्शनीय है।

पैलियोसीन युग (epoch) के ज्ञात 13 जीवाश्म जेनरा को तीन कुलों (Family) में रखा गया हैः कारपोलस्टिडी (Carpolestidae), फेनाकोलीमरायडी (Phenacolemuridae) एवं प्लेसी एडापिडी (Plesi adapidae)

कुल	जेनरा	महाद्वीप
कार्पोलेस्टिडी	कार्पोडेप्टस	उत्तरी अमेरिका
	कार्पोलेस्टस	उत्तरी अमेरिका
	एल्फीडोटार्सियस	उत्तरी अमेरिका
फेनाकोलीमरायडी	नवाजोविस	उत्तरी अमेरिका
	पैलीम्थन	उत्तरी अमेरिका
	पैलेनाश्था	उत्तरी अमेरिका
	प्लेसीआलेस्टस	उत्तरी अमेरिका
	पेरामोनिस	उत्तरी अमेरिका
	फेनाकोलीमर	उत्तरी अमेरिका
प्लेसीएडेपिडी	यीरोमीवयडेस	यूरोप
	प्लेटीकेरोप्स	यूरोप
	प्लेसीएडेपिस	उत्तरी अमेरिका, यूरोप
	प्रोनोथोडेक्टस	उत्तरी अमेरिका

इन प्राइमेटों को उनकी आकारिकी समानताओं जैसे पुराचवर्णक, चवर्णक दांतों की सादृश्यता के आधार पर ही प्राइमेट समूहों में सम्मिलित किया गया। लीमर जीवाश्म जो प्लेसी एडापिडी कुल में रखे गय इनको दो भागों (उपकुलों) में विभक्त किया जाता है। इसका एक समूह पुरानी दुनिया में (Adapinae) तथा दूसरा (Notharctinee) नई दुनिया के भूभागों में चला गया। ये पैलियोसीन प्रासीमियन चौपाये, लघु आआकारवाले (गिलहरी से बिल्ली तक) पंजे युक्त (Claws), कृतंक गण (Rodentia) सदृश वाले थे।

इयोसीन कालीन प्राइमेट (Eocene Primate)– ऐसा प्रतीत होता है कि इयोसीन काल में जो प्रासीमियन सम्पूर्ण मानसूनी स्थलों में फैल गये थे कालान्तर में इनके अवशेष जीवाश्म अभिलेख से घटने लगे थे। वर्डसेल के अनुसार यही पर सम्भावनायें अकाल का सिद्धान्त (Theory of scareity) का अवलम्बन लेती है क्योंकि प्राइमेटों की उच्च श्रेणी "मानवानुरूपी" (Anthropoid) के नई एवं पुरानी दुनिया पर आधिपत्य स्थापित करने में सर्वाधिक उत्तम थे। जीवित साक्ष्य इंगित करते हैं कि कुल मिलाकर प्रासीमियन आदिम एवं सामान्य लक्षणों वाले थे, जो अपेक्षाकृत उच्च श्रेणी का मस्तिष्क का विकास न होने से नवीन वातावरणीय अनुकूलन करने में समर्थ नहीं हो पाये। अतः इयोसीन काल में नवीन प्राइमेट स्पीसीज विकसित हुई जो अपने आकारिकी (morphological pattern) में अधिक आधुनिक थी।

इयोसीन काल के स्तरों से अधिकांश संख्या में प्रॉसीमियन प्राइमेटों के विभिन्न जेनरा प्राप्त हुये हैं जो प्रासीमियन विकिरण को भी इंगित करते हैं जिनसे वह तेजी से समस्त भाग में फैल गये। आज 45 प्राइमेट अवशेष प्राप्त हैं जिन्हें 6 कुलों में समाविष्ट किया गया है। ये हैं : 1. एडापिडी– जेनेरा, एडेपिस, एन्क्रोमोमिस, सीनोपिथेकस, जेस्नेरोपिथकस, प्रोनेक्टोसिवस, प्रोटो–एडेपिस, नाथरेक्टस, पेलीकोउस, एवं स्माइलोडेक्टस।

(ii) **एनेप्टोमार्फिडी– जेनरा–** एवं सारोकियस, एजेप्टोमार्फस एश्रीमॉरीसिस, टेटोनियस,

टेटोन्वाड्स, ट्रोगोलीमर, यूइन्टेलेकस, यूइन्टेमिथस, यूइन्टासोरेक्स (iii) **माइक्रासिओपिडी–** जेनराः एलसैटिकोपिथेकस, क्रेसिओप, सोइनोडोन्टोमिस, माइक्रोसिओप्स, (iv) ओमोमिडी– कैंशियम, रोरीसिस, कुमैशियस, डाइसिथोलीमर, हेमी ओकोडान, होन्घोनियस, लोवीना, लूशियस, निप्टोमिमिस, ओमोमिस, ओरैरुया, पेरीकोनाडान, शोशोनियस, स्टोकिया, टील्हारडिम, उटाहिया, वशाकियस, (v) **टार्सिडी–** माइक्रोकोरियस, नोनोपिथेकस, नेक्रोलीमर, सूडोलोरिस, (vi) पांगिडी– एम्फीपिथेकस एवं पान्डौन्जिया। इनमें अधिकांश उत्तरी अमेरिका एवं यूरोप से प्राप्त हुये। दो–दो प्राइमेट जीवाश्म चीन एवं वर्मा से प्राप्त हुये हैं।

एन्थ्रोपाइडिया सब–आर्डर (पांगिडी कुल) के दो जीवाष्म हैं। नोथेरेक्टस तथा स्माइलोडेक्टस सम्भवतः लीमरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें से नोथेरेक्टस को नई दुनिया के बन्दरों का पूर्वज माना जाता है। इस विचार से नई दुनिया एवं पुरानी दुनिया के वानरों का समानान्तर उद्विकास (Parallel evolulion) हुआ है।एडापिडी कुल में लीमरों से सम्बन्धित जीवाश्मों को सम्मिलित किया गया है। जिनमें से एडपिस मैग्नस एवं एडपिस पैनेन्सिस यूरेशिया के भूभाग में फैल गये।सिम्पसन ने यह विचार व्यक्त किया है कि यद्यपि मेडागास्कर के लीमर के उद्विकास के विशय में पर्याप्त सूचना नही है।फिर भी इनके अनुसार इन्हीं लीमरों में से एक गर्भवती मादा जैम्बजी महानदी में बहती हुई मीलों दूर मोजाम्बीक चैनेल होती हुई मेडागास्कर आयी होगी जिससे यह मेडागास्कर की लीमर स्पीसीज ने जन्म लिया होगा। इस घटना को उन्होंने 'स्वीपस्टेक लाटरी' (Sweepstake lottery) कहा।

लोरिसी आकार (Lorisiform) कुल के कई सदस्यों के अवशेष पूर्वी अफ्रीका के प्रारम्भिक मायोसीन स्तरों से प्राप्त हुये हैं जिन्हें जीनस 'प्रोगैलगों' में समाविष्ट किया गया है। इयोसीन काल ही में टार्सियर भी विकसित हुये तथा तेजी से फैल गये। पैलियोसीन एवं इयोसीन युगों से लगभग 25 जेनरा ऐसे प्राप्त हुये जिन्हें "एनप्टोर्माफिडी" (Anaptomorphidae) एवं 'ओमोमाइडी' (Omomydae) नाम के दो कुलों में सम्मिलित किया गया है। संक्षेप में इन इयोसीन के समस्त जीवाश्म साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि इस काल के पहली बार प्राइमेट जन्तु ने वृक्षवासी पारिस्थतिकी का अनुकूलन करने में विशिष्टता हासिल की कालान्तर में टार्सिवायडा समूह के कुछ जेनेरा जैसे नेक्रोलीमर नेनोपिथेकस, एवं स्यूडोलोरिस की विशेषताओं से प्रतीत होता है कि नेक्रोलिमुरिनी अथवा किसी अन्य निकटवर्ती समूह से ही मानवानुरूपियों (Anthropoid) की व्युत्पत्ति हुई। दो जीवाश्म– पाण्डोजिया तथा एम्फीपिथेकस जो वर्मा के आदि निक्षेपों से प्राप्त हुये। पाण्डोजिया जीवाश्म में दो चवर्णक, वांयी जम्भिका का एक टुकड़ा, चिवुकास्थि आदि प्राप्त हुये। इनके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इनका दंत सूत्र $\frac{2.1.2.3}{2.1.2.3}$ हामिनिड जैसा नहीं है तथापि एम्पीपिथेकस ओलिगोसीन जीवाश्मों के सदृश है जो निश्चित रूप से होमिनिड है और वह साकान्तिक प्राणी हो सकता है। अतः इन तथ्यों के आधार पर पुष्ट होता है कि तीनों मानवरूपियों के वृहद उच्चवंश– सीब्वाइडिया, सरकोपिथेक्वाइडिया एवं होमिन्वाइडिया प्रोसिमी पूर्वजों से भिन्न समकक्ष विकसित हुये होंगे।

इस प्रकार यहां पर यह कहना उचित होगा कि (प्राचीन विश्व जहां पर मानव उद्विकसित हुआ) नूतन महाकल्प–सीनोजोइक स्तरों के जमाव में अनेकों प्रासीमियन जीवाश्म प्राप्त हुये और यह वह समय है जब इससे सभी उच्च प्राइमेट अवश्य विकसित हुये हैं, लेकिन जीवाश्म अभिलेख प्रदर्शित करते हैं, अफ्रीका एवं एशिया की लगभग 20 मिलियन वर्षों के तथ्य अब भी अज्ञात हैं। हम इस तथ्य का अल्प ज्ञान रखते हैं कि लीमर एवं टार्सियर जैसा आकार उच्च प्राइमेटों में उद्भूत हुआ होगा।

ओलिगोसीन कालीन प्राइमेट (Oligocene Primates)

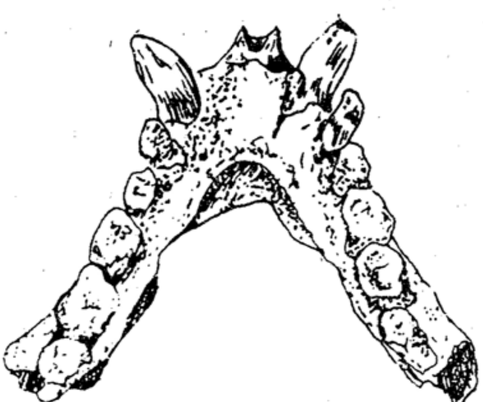
इस युग में प्राइमेट जीवाश्म विरले ही मिले हैं। इस युग के जमाव के स्तर से मिश्र के फायूम (Fayum) स्थान से प्राप्त हुआ है। इस खोज से प्राइमेट उद्विकास में जो जीवाश्मिक संस्तरों का अन्तराल था उसे ज्ञात

किया जा सका। यह जीवाश्म पुरानी दुनिया के उच्चतर प्राइमेटों के प्रथक्करण के साक्ष्य प्रस्तुत करता है इनको निम्न तालिका में दर्शाया जाता है :

कुल	वंश	स्थान (क्षेत्र)
ओमोमिडी	मैक्रोटार्सियस	उत्तरी अमेरिका
ओरियोपिथेसिडी	एपीडियम	मिश्र
ओरियोपिथेसिडी	पेटापिथेकस	मिश्र
हेमिन्वायडिया	एडलोपिथेकस	मिश्र
पांगिडी	एइजिप्टोपिथेकस	मिश्र
होमिन्वायडिया	ओलिगोपिथेकस	मिश्र
होमिन्वायडिया	पोप्लाथोपिथेकस	मिश्र
?	मोइरोपिथेकस	मिश्र
डसीविडी	डालिकोसीवस (A)	अरजेन्टीना

फायूम स्तर के ये स्त निम्नतर प्राइमेटों के लिये भी समृद्ध है। इलविन साइमन्स (1963) ने अपने लम्बे अध्ययन के पश्चात् अपना मत प्रस्तुत किया। मिश्र में कुल 7 जीवाष्म खोजे गये उनमें से चार प्राइमेट उद्विकास के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं:

एइलोपिथेकस (Aeolopithecus), एपीडियम (Apidium), प्रोप्लायोपिथेकस (Propliopothecus), एवं एजिप्टोपिथेकस (Aegyptopithecus)।



चित्र 6 : 23 फायुम (मिस्र) से प्राप्त एओलोपिथिकस का भग्न अधोहनु (सायमन्स, 1972 के आधार पर)

स्तनीयों का दन्त सूत्र $\frac{3.1.4.3}{3.1.4.3}$ है और कुल 44 दांत होते हैं।इस प्रकार यदि हम उद्विकासीय दन्त साक्ष्यों पर विचार करें तो एक तो विविधता की प्रवृत्ति एवं दूसरी दांतों की संख्या के अपघटन की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है। प्रासीमियनों में यह संख्या सामान्यतया $\frac{2.1.3.3}{2.1.3.3}$ है जिससे 36 दांत होते हैं और इसके पश्चात प्राचीन दुनिया के बानरों में $\frac{2.1.2.3}{2.1.2.3}$ जिससे 32 दांत होते हैं। यह 32 दांत वाला लक्षण वर्तमान मेधावी का सामान्य लक्षण है और साथ ही साथ तृतीय चवर्णक (Wisdom

teeth) घटने की प्रवृत्ति पायी गयी है। यह प्रवृत्ति आधुनिक काकेसायड एवं मगोलायड प्रजातियों में पायी जाती है जो भविष्य में विश्व जनसंख्या में अधिकांश भाग का योगदान करेंगे। अतः निस्संदेह तृतीय मोलर लुप्त होने की प्रवृत्ति के फलस्वरुप भविष्य मानवों में 28 दांत शेष रहेंगे।



चित्र 6 : 24 फायुम (मिस्र) से प्राप्त प्रोप्लायोपिथिकस हेइकेली का अधोहनु (सायमन्स, 1972 पर आधारित)

एइलोपिथेकस जिसका एक अधोहनु अवशेष के द्वारा जाना जाता है जो गिब्बन के विशिष्टीकरण को इंगित करता है। यह लघु चेहरे युक्त तथा दंत लक्षण से शाकाहारी प्रवृत्ति वाला प्राइमेट जीवाश्म है।

एपीडियम 50 अधोहनु एवं 4 ऊपरिहनु जीवाश्मों के द्वारा जाना जाता है। इसका दंत सूत्र $\frac{2.1.3.3}{2.1.3.3}$ है जो नई दुनिया के बन्दरों के समकक्ष है। इसका आकार लघु गिलहरी सदृश तथा छोटा चेहरा है। चवर्णक का दंत कस्प (Cusp) प्रतिरूप कुछ अनूठे लक्षणों से युक्त है जो प्राइमेट उद्विकास श्रृंखला में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। इसके अतिरिक्त, ओरियोपिथेकस जो एक प्लायोसीन का हामिन्वाइड प्रतीत होता है, वे सम्भवतः समानान्तर रूप से मानव की पूर्वज रेखा तक उद्विकसित हुये हैं। इसलिये यह मानवसम श्रेणी की रचना का जनने करने वाला ओलिगोसीन पूर्वज का एक प्रतिनिधि है।



चित्र 6 : 25 एइजिप्टोपिथेकस की भग्न खोपड़ी (सायमन्स, 1972 पर आधारित)

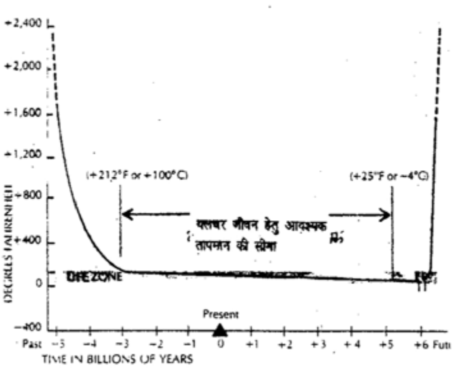
प्रोप्लायोपिथेकस- "फायूम जीवाश्मों" का एक विवादास्पद प्राइमेट है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये आधुनिक गिब्बन के पूर्वज हैं। कुछ इसे होमिन्वायड से सम्बद्ध करते हैं। साइमन्स इसे उत्तरवर्ती एइजिप्टो पिथेकस (1967) का पूर्वज माना है। इन्होंने स्वयं फायूम जीवाश्मों

की खोज की है तथा यह मत प्रतिपादित किया है कि "एइजिप्टोपिथेकस" प्रोप्लायोपिथेकस के उपरान्त भी मायोसीन युग तक जीवित रहे हैं। ठीक मायोसीन के डायोपिथेकस जीवाश्म के पहले तक यह स्मरणीय होना चाहिये कि ड्रायोपिथेकस ही जीनस गोरिल्ला एवं चिम्पैन्जी का पूर्वज था। जब कि एइजिप्टोपिथेकस आधुनिक गिब्बन के समकक्षी आकार का आंका गया है। इस प्रकार संक्षेप में एइजिप्टोपिथेकस सामान्य वानरों केसदृश होने के बावजूद भी जीवाश्म अभिलेखों में सर्वप्रथम 'एन्थ्रोप्वॉइड' का प्रतिनिधत्व करता है और अतः वही मानव का अपना सर्वप्रथम प्रत्यक्ष पूर्वज हो सकता है।

मायोसीन युग में हामिन्वायड विकिरणः

ओलिगोसीन–मायोसीन युग में फायूम के चारों प्रमुख प्राइमेटों का आधारभूत अनुकूलक विकिरण (Adapture radiation) हुआ। विकिरण की दर समान थी या नहीं इसका वास्तविक आकलन काल निर्धारण पद्धति से नहीं किया जाता है।। प्रासीमियन का विकिरण लीमर के मेडागास्कर में पहुंचने से एक जनक भण्डार से हुआ। सीब्वायड विकिरण भी प्रवसन के फलस्वरुप अनेकों वृक्षवासी परिस्थितियों में दक्षिणी अमेरिका में हुआ। उसी काल में लेकिन प्राचीन विश्व में दोनों सरकोथिथ एवं हामिन्वायडा का साथ–साथ दो शाखाओं में मायोसीन युग में उद्‌विकास हुआ। यह वह समय था जब घास के मैदान सम्पूर्ण विश्व में संवर्धित हुए। प्राइमेट उद्‌विकास का सामान्य प्रारुप (Pattern) इस चित्र में प्रदर्शित किया जा रहा है।

चूंकि मायोसीन एवं प्लायोसीन (टर्शरी काल के अन्तिम युग) में गिब्बन की बनावट वाले ओलिगोसीन जीवाश्म 'प्रोप्लायोथिथेकस सदृश प्राणियों का वाहुल्य हो गया था।लिम्नोपिथेकस (पूर्वी अफ्रीका) एवं प्लायोपिथेकस (यूरोप) जीवाश्म यह इंगित करते हैं कि गिब्बन वंश (Family) का उत्तरोत्तर वृद्धि एवं विकास हुआ। इन युगों की स्तर के शेष 20 से अधिक जेनेरा विभिन्न जीवाष्म वैज्ञानिकों ने खोजा। लेकिन दुर्भाग्यवश अधिकांश ने पृथक–पृथक वंशीय नामकरण कर दिया जिससे जीवाश्म वर्गीकरण में अधिक जटिलता आ गयी। इस कारण से यहाँ पर पुनर्मूल्यांकन पद्धति को आधार मानकरके वर्णन किया जा रहा है। यह स्मरणीय होना चाहिये कि पुनर्मूल्यांकन साइमन्स, पिल्वीम, अर्न्सट मॉयर सरीखे विद्वानों के द्वारा किया गया था जिन्होंने प्रसिद्ध जीवाश्म वैज्ञानिक जी.जी. सिम्पसन का अनुसरण किया है।



चित्र 3 : 1 पृथ्वी के तापमान के उतार-चढ़ाव को प्रदर्शित करता हुआ ठण्डक व्रक (Coling Curve)

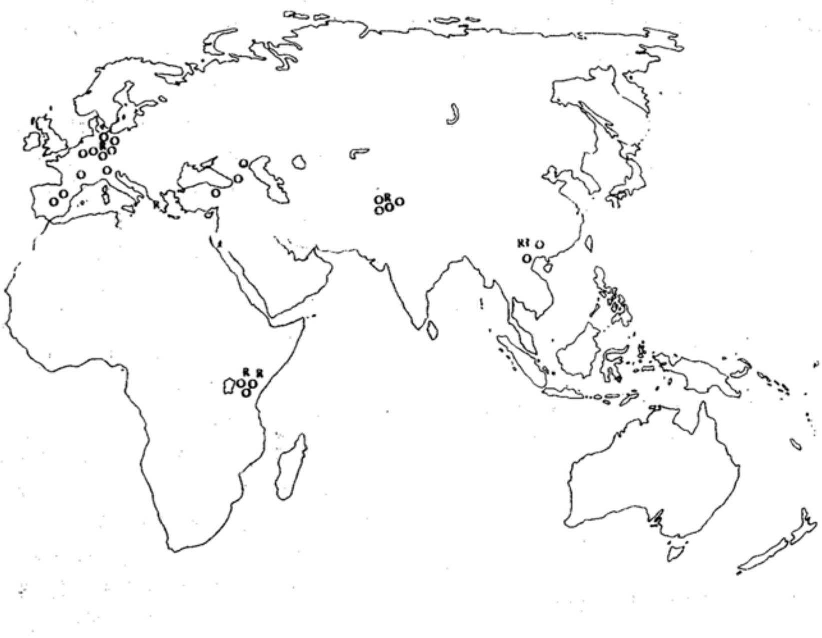
साइमन्स एवं पिल्वीम (1965, 1971, 1972) ने तीन मायोसीन–प्लायोसीन युग के अन्त के समस्त जीवाष्म कपियों को तीन स्पष्ट जेनेरा में समायोजित किया है। ये हैं– **ड्रायोपिथेकस** (Dryopitecus), **जाइगैन्टोपिथेकस** (Gigantopithacus) एवं **रामापिथेकस** (Ramapithecus)।

ड्रायोपिथेकस के अवशेष टर्शरी काल के मायोसीन एवं प्लायोसीन युगीन स्तरों से प्राप्त दांतों एवं जबड़ों के अंशों के रूप में हैं। इन सभी को ड्रायोपिथिसिनी कुल में समाविष्ट किया गया है। इनका विस्तार क्षेत्र यूरोप, अफ्रीका एवं एशिया है। यूरोप से प्राप्त जीवाष्मों को ड्रायोपिथेकस, अफ्रीका से प्राप्त हुये जीवाश्मों को जीनोपिथेकस (Xenopithecus) एवं प्रोकांसल

(Proconsul), तथा एशिया से मिले हुये जीवाष्मों को सिवापिथेकस (Sivapithecus) इत्यादि नामों से अलंकृत किया। इन स्तरों के जीवाश्मों के गहन अध्ययन के पश्चात एक तस्वीर उभरती है कि इनका शारीरिक ढांचा वर्तमान जीवित गिब्बन से गोरिल्ला तक के सदृश है। जीवाष्म कपियों का यह एक विशाल समूह अन्य तृतीय युग के प्राइमेटों से भिन्न था। इनका सबसे प्रधान लक्षण 'चवर्णक दातों का "4–5 कस्पप्रतिरूप" है जिसे "ड्रायोपिथेकस प्रतिरूप" भी कहा जाता है। इसमें चार कस्पों के स्थान पर पांच कस्प विद्यमान हैं तथा कस्प की संरचना में मध्य की दरारें (Fissures) हैं जो आंग्ल भाषा के Y अक्षर के समरूप है। यह प्रतिरूप आधुनिक पांगिडी एवं मानव के भी कतिपय रूपान्तों (modification) में दर्शनीय है। अतः इन जीवाश्म तथ्यों से ड्रायोपिथेसिनी वर्तमान उच्चतर प्राइमेटों (हामिन्वायड) का पूर्वज प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त ड्रायोपिथेकस सरकोपिथेक्वायड तथा हामीनिड लक्षणों के रखने से वह इन दोनों (सरकोपिथे एवं हामिनिड) के पूर्वज सम्बन्धों को उजागर करताहै।

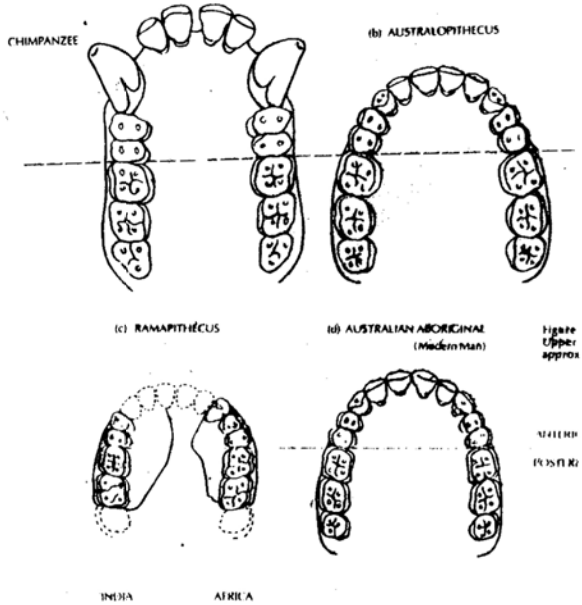
चीन एवं उत्तरी भारत में जाइगैन्टोपिथेकस के जीवाश्म मिले हैं। इसका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यह आधुनिक गोरिल्ला से अधिक विराट शरीर वाला प्राणी था जो ड्रायोपिथेकस के अधिकांशतः



चित्र 6 : 26 ड्रायोपिथेकस एवं रामपिथेकस का विस्तार क्षेत्र

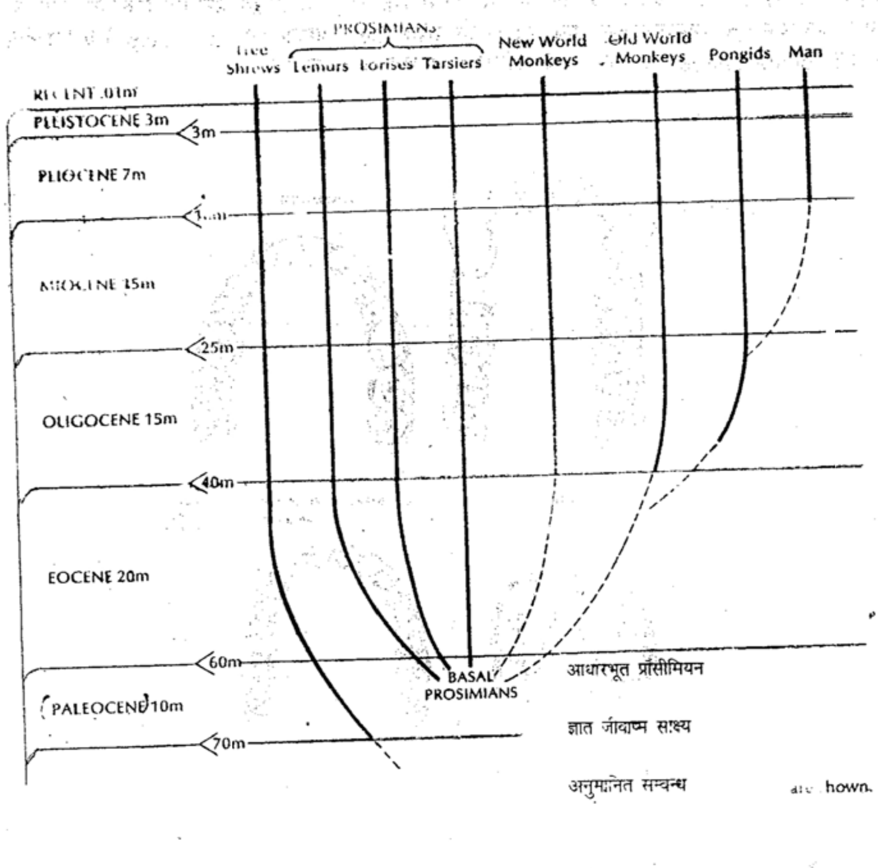
सदृश है। अनुमानतः यह जन्तु (प्राइमेट) प्लायोसीन काल के अन्त एवं हिमयुग (प्लाइस्टोसीन) के प्रारम्भ में जीवनयापन कर रहा होगा। इसके मात्र जबड़ों एवं दांतों के अतिरिक्त अन्य कोई भी अस्थीय साक्ष्य अभी तक प्राप्त नहीं हो सके हैं। अतः ऐसा मत प्रतिपादित किया गया है कि ये सम्भवतः ये मध्य प्लाइस्टोसीन युग में विलुप्त (Extint) हो गये होंगे।

रामापिथेसीन कुल का भौगोलिक क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत जिसके जीवाश्म भारत (रामापिथेकस, वृम्हापिथेकस), पूर्वी अफ्रीकी राष्ट्र कीनिया (कीनियापिथेकस) तथा चीन (कासूपिथेकस) से खोजे गये हैं। इस प्राणी का ऊपरी जबड़ा (upper Jaw) हामिनिड कुल के सदस्यों के समान था इसी कारण से इसका मुखमण्डल छोटा था। कृतंक (Incisors) एवं रदनक (canine) भी रचना एवं आकार–प्रकार में छोटे थे। दंत चाप (Dental arcade) स्पष्टतः होमिन्वाइड सदृश है। इन तथ्यों पर रामापिथेकस को कपि एवं मानव की मध्यवर्ती स्थिति का प्रदर्शक माना जाता है जो मानव के कपियों से घनिष्ठ सम्बन्धों को उजागर करता है। लेविस (1937) ने तो इसे वास्तविक हामिनिड स्थिति में रखा था। लेकिन साइमंस एवं पिल्वीम (1965) ने पुनः अध्ययन एवं पुनर्मूल्यांकन किया है। इन्होंने इसके तालु, आकार (Palatal shape) एवं दन्तीय विन्यास (dental shape) को मानव तथा कपियों से अधिक भिन्न माना है।



चित्र 6 : 27 रामापिथेकस की दन्त चाप की तुलना अन्य जीवाष्म (आस्ट्रेलोपिथेकस) चिम्पैंज एवं मानव के दन्त चाप से

इस प्रकार उपरोक्त जीवाश्म अभिलेखों से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि हामिनिड (मानव) रेखीय उद्विकास अफ्रीका में आरम्भ हुआ तथा वहीं पर सीनोजोइक महाकल्प शेषकाल अपनी अविरल गति बनाये रहा। जब तक यूरेशिया मायोसीन के उततरार्ध मंड जिब्रराल्टर एवं सऊदी अरब के पास अफ्रीका से संलग्न नहीं हुआ, तब तक प्राइमेट का जीवन प्रॉसीमियन तक सीमित रहा। तत्पश्चात स्थलवासी प्राणी दोनों ओर इधर से उधर, उधर से इधर प्रवास किया और तब एक प्रगतिशील अफ्रीकी जीव रूप (सम्भवतः मानव) ने यूरोप एवं एशिया को प्रस्थान किया।



चित्र 6 : 28 मानव उत्पत्ति का सामान्य स्वरूप

प्राइमेटों का आणविक उद्विकास (Molecular Evolution of Primates)

प्राइमेट उद्विकास में आधारभूत उत्परिवर्तनी परिवर्तन (mutational changes) को मापने हेतु आणक्कि जैविकी (molecular Biology) के प्रयोग का विचार अत्यधिक आकर्षक है क्योंकि यह बिना किसी हिचकिचाइट एवं गहन पुनर्मूल्यांकन (close Serutiny) के स्वीकारने के लिये प्रलोभित करता है। इसकी आधारभूत परिकल्पना विन्सेंट सैरिच (Vincent Sarich) ने 1971 में प्रस्तुत की है। जिसका यहां पर वर्णन किया जा रहा है।

वास्तव में सैरिच की आणविक परिकल्पना किमूरा (1868) के उस मौलिक विचार से उत्पन्न हुई जिसमें उन्होंने आणविक स्तर पर उद्विकासीय परिवर्तनों का मुख्य कारक वरणात्मक रूप से निष्क्रिय उत्परिवर्तकों (Neutral mutation) या यादृच्छिक स्थिरीकरण (random fictation) को माना है न कि सकारात्मक डार्विनी प्राकृतिक वरण (positive Darwinean natural Selection)। इसमें किमुरा (Kimura) ने प्रदर्शित किया है कि प्रोटीन एवं डी.एन.ए. अनुक्रमों के तुलनात्मक अध्ययन वर्णनात्मक रूप से अथवा निष्क्रय उत्परिवर्तकों के यादृच्छिक अपसरण" को स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं। इस विचार का जो लाभ उठाते हुये सैरिच ने 'सीरम अल्ब्यूमिन' (Serum Albumin) के आधार पर विभिन्न जातियों (Spicies) के मध्य स्थित विभेदों का आणविक मापदण्ड (maganitude) ।रुधिरवैज्ञानिक निरीक्षणों (reactions) को "इम्यूनोलोजिकल डिस्टेंस" रूपान्तरित किया जिसे "ID" के नाम से भी जाना जाता है। आरम्भ में तो इन्होंने इसे निम्नतर एवं उच्चतर पांडा के ऊपर प्रयुक्त किया तथा और उसकी तुलना काला भालू (Black Bear) एवं रैकून (Raccoon) से की जिसके परिणामी आई.डी. (ID) अत्यन्त विश्वसनीय प्रतीत हुये। तदोपरान्त सैरिच ने इस विधि का प्रयोग करते हुये जीवित प्राइमेटों का गहनतापूर्ण अध्ययन किया।

इन्होंने आई.डी. (IDs) के आधार पर प्राइमेट वंशावली का निर्माण किया और इससे अनूठे परिणाम स्पष्टतया प्रदर्शित हुये। इन 'इम्यूनोलोजिकल दूरियों' से यह स्पष्ट उजागर होता है कि 'मानव एवं चिम्पैंजी दोनों 40 लाख वर्ष पूर्व एक ही पूर्वज से व्युत्पन्न हुये हैं। आधुनिक दबावों से सैरिच (1971) ने इस आयुनिर्धारण के आंकलन का विस्तार कर दिया और उनके शब्दों में–

"To put it as bluntly as possible, I now feel that the body of molecular evidence on the 'Homo pan' relationship is sufficiently extensive so that one nolonger has the option of considering a fossil specimen older than about 8 million years as a hominid 'no matter what it looks like."

अर्थात " इसे अधिक से अधिक मोटे तौर पर लेते हुये मैं अब अनुभव करता हूं कि होमो-पैन (मानव–चिम्पैंजी) के मध्य सम्बन्धों की आणविक साक्ष्यों की संरचना (गठन या शरीर) पर्याप्त रूप से विस्तृत है एक जीवाश्म अवशेष का 80 लाख वर्ष से भी अधिक प्राचीन समझने का विकल्प शेष नहीं है। यह निमूंल है चाहे एक हामिनिड कैसा दिखाई पड़ता हो।"

इन्होंने अपन अध्ययन में निम्न जीवित प्राइमेटों को समावेश किया है जो निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है–

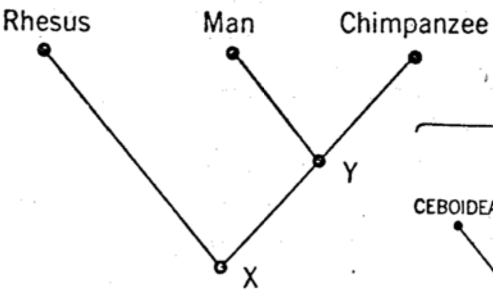
	कुल जातियाँ
1. होमिन्वाइडिया	होमोसैपिंयस, पैन ट्राग्लोडाइट्स, होइलोवैट्स लार
2. सरकोपिथेक्वाइडिया	मैकाक मुलाटा, पैपियो पैपियो, सरकोसिवस गैलरिटस, सरकोपिथेकस एथियोप्स, प्रेस वाइटिस इण्टेलस
3. सिब्वाइडिया	सिवस कैपूसिमस, एटलस जियसोफ्राई, कैकाजा व रूवीकुण्डुस, औटस ट्रिविरगेटस सैगुइनस औडडियस
4. प्रासिमी	निक्टभ्सिवस कौकांग, गैलागोक्रासिका डेट्स

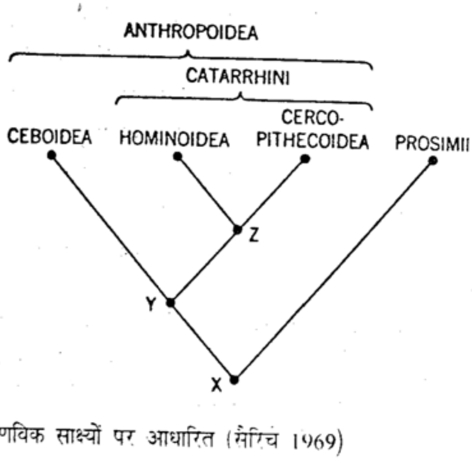
इनके अनुसार आणविक उद्विकास की प्रक्रिया एकरूप में सततगामी नहीं है क्योंकि सम्भव सूक्ष्म परिवर्तन किसी एक विशिष्ट अणु (molecule) के प्राथमिक क्रम व्यवस्था में (sequence) एक अमीनो एसिड के पुनर्स्थापन से हो सकता है। द्विगुणित जीवों में यह परिवर्तन कई पीढ़ियों तक हस्तांतरित किया जा सकता है जब तक एक 'विचित्र स्वरूप' (wild type) एवं उत्परिवर्तित एलील्स (जीन) रूपान्रण (Transient) अथवा संतुलित वहुरूप में सह अस्तित्व न बना लें। वह प्रक्रिया जो प्राइमेट अल्ब्यूमिन कण

के आधार पर प्रदर्शित की गयी है वह एक विशिष्टतम सतत प्रक्रिया है। इस परिवर्तन प्रकार आणविक उद्विकास का प्रारूप (model) जहां एक ओर परिवर्तन होने से (जैसा कि विभिन्न अल्ब्यूमिन वंशावली में प्रदर्शित हुआ है) समस्त परिवर्तनों का समावेश कर सकने में सक्षम है वही दूसरी ओर सतत भी रहती है। इस प्रकार इन्होंने आणविक उद्विकास के परिवर्तनशील एवं सततगामी होने से इसकी दर अति विश्वसनीय है। इस प्रकार के एमीनो एसिड आकड़े का प्रयोग करते हुये एक काल मापक का निर्माण किया जिसके आधार पर यह प्रदर्शित हो सकता है कि कौन सब–आर्डर, उच्च कुल, कुल, उपकुल, जेनरा कब मूल पूर्वज से पृथक हुआ इसे निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है–

समूह	काल (मिलियन वर्षों में)
होमो–पैन–गोरिल्ला	3.5 ± 1.5
हाइलोवैटिड्स–अन्य होमिन्वायड	7± 1.0
सरकोपिथेक्वायडिया–होमिन्वायडिया	22± 2.0
कैटीरिनी–प्लैटीरिनी	36 ± 3.0
एन्थ्रोपायड–प्रोसिमी	60 ± अनुमनित

इन्होंने पैलियोसीन को 65 मिलियन वर्ष पूर्व (6.5 करोड़ वर्ष पूर्व) आरम्भ हुआ होगा यह सांख्यकीय माडल से आंका। यह वह युग था जब प्रारम्भिक प्राइमेट विकसित हुये थे तथा उनका अनुकूलक विकिरण हुआ। पैलियोसीन युग में ही ट्रीश्रूज का विकास हो चुका था और सम्भवतः वह मूल प्राइमेट समूह से पृथक हो चुका था। इयोसीन युग के आरम्भ काल टार्सियर जीनस का पृथक उद्विकास हुआ। गैलागो एवं लोरिस वंश ओलिगोसीन युग में पृथक होकर के अपना समानान्तर उद्विकास किया। इयोसीन युग के अन्तिम चरण एन्थ्रोपायडिया से नवीन दुनिया के वानर (सिब्वाइडी अथवा प्लेटीरिनी) पृथक हो गये अपना पृथक ही इन उच्चकुलों का उद्विकास हुआ।

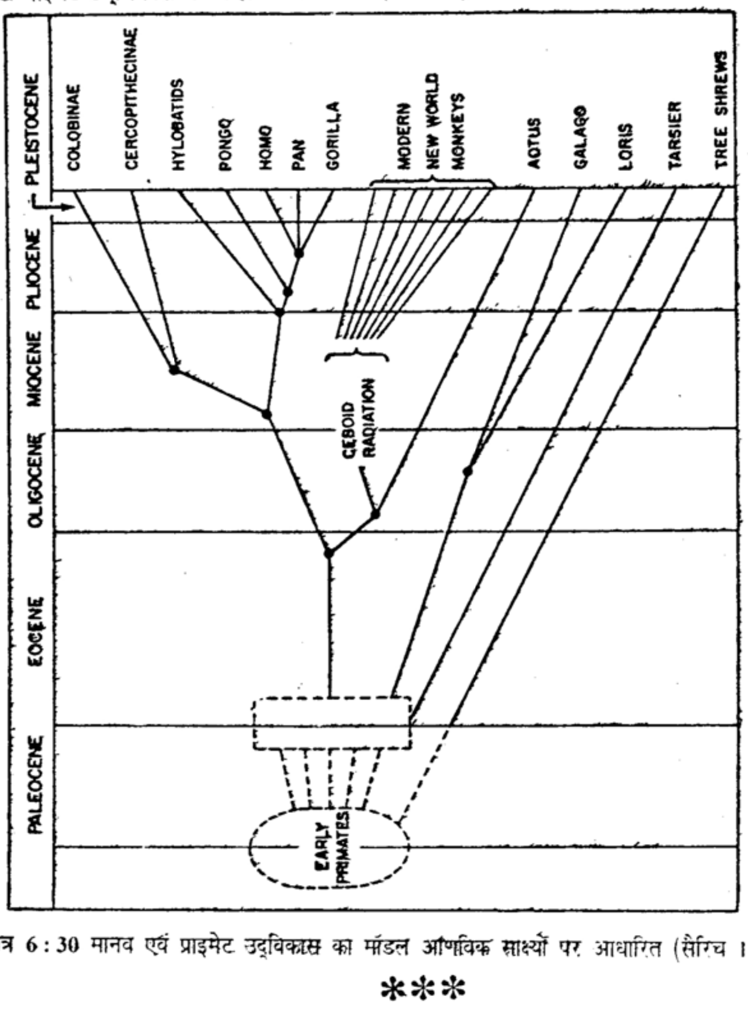




चित्र 6 : 29 प्राइमेट अन्तर्सम्बन्ध; आणविक साक्ष्यों पर आधारित (सैरिच 1969)

एंथ्रोपायडिया समूह (सब–आर्डर) पुनः दो उच्चकुलों में मायोसीन युग के आरम्भिक चरण में विभक्त होकरके दोनों उच्चकुलों– सरकोपिथेक्वाइडिया (पुरानी दुनिया के वानर) एवं होमिन्वायडिया का पृथक समानान्तर उद्विकास हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि होमिन्वायडिया सिब्वाइडिया की अपेक्षा सरकोपिथेक्वाइडिया के अधिक निकटस्थ है जो सिब्वाइडिया से पृथक होने के 1.4 करोड़ वर्ष पश्चात् विलग हुये। तदोपरांत प्लायोसीन युग में होमिन्वायडिया उच्चकुल हाइलोबैटिड्स वंश, फिर पांगो (डरांगुटान) वंश और अन्ततः तीन जीनस एक साथ पृथक हुये– होमो, पैन (चिम्पैंजी) एवं गोरिल्ला। इस प्रकार होमो, चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला एक ही पूर्वजता के थे जो आज से लगभग 35 लाख वर्ष पूर्व पृथक हुये। इन्होंने गोरिल्ला की अपेक्षा मानव को चिम्पैंजी का अधिक निकटवर्ती बताया है जिसे आणविक साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि दोनों लगभग 40 लाख साल वर्ष पूर्व एक ही पूर्वज से आविर्भूत हुये हैं।

इस प्रकार प्राइमेटों के उद्विकास के यह आणविक तथ्य जहां एक ओर जीवाष्म साक्ष्यों का खण्डन करते हैं, नवडार्विन का परिकल्पना पर संदेह व्यक्त करते हैं वहीं दूसरी ओर जैव वासिक, व्यवहार विज्ञान तथा शरीररचनाविज्ञान के तुलनात्मक साक्ष्यों से सहसम्बन्ध रखते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि मात्र जीवाश्म अभिलेख प्राइमेट उद्विकास की कहानी बता सकते इसके लिए आणविक तथ्यों की सहायता अनिवार्य है।



चित्र 6 : 30 मानव एवं प्राइमेट उद्विकास का मॉडल आणविक साक्ष्यों पर आधारित (सैरिच 1969)

***

7

होमिन्वायड : मनुष्य 'या' कपि

आज से शताब्दी से भी अधिक वर्षों पहले जब थामस हैनरी हक्सले (1863 A.D) ने मनुष्य को अस्थि साक्ष्यों के आधार पर कपियों (गोरिल्ला) का निकटतम सम्बन्धी कहा था तो इसके पश्चात उसके पक्ष या विपक्ष में वैज्ञानिक मतों की बाढ़ सी आ गयी। अनेकानेक तुलनात्मक शरीर रचनात्मक, जीवाश्म वैज्ञानिक, भूगवैज्ञानिक, भूगर्भ-वैज्ञानिक, देह वैज्ञानिक आदि अध्ययन किये गये लेकिन सन्देह के बादल मडराते रहे।द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात मानव विज्ञान के सर्वांगीण दृष्टिकोण के फलस्वरूप जैव उद्विकास के अन्तिम परिणाम 'व्यवहार' मी मीमांसा पर बल दिया गया तो प्राइमेटों का अध्ययन उन्हीं के आवासीय भूभाग में किया जाने लगा।साथ ही साथ मनोवैज्ञानिक एवं जैव-रासायनिक अध्ययन भी हुये।जी.जी. सिम्पसन ने लगभग 1945 में मेधावी मनुष्यों को कपियों के निकट बैठाते हुए इस समूह को 'होमिन्वायडा' नाम प्रस्तावित किया।इससे एक दो वर्षों में सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया।इस प्रकार हक्सले के वह दूरदर्शी विचार विज्ञान सम्मत सिद्ध हुए जिसे उन्होंने लगभग एक शताब्दी पूर्व व्यक्त किया था।

उच्चकुल- होमिन्वायडिया, जिसे होमिन्वायड्स भी कहा जाता है, इससे सम्बन्धित चर्चा गत अध्यायों (तीन एवं चार) में भी की गयी है चूंकि मानव उद्विकास की वास्तविकता को समझने के लिये आधुनिक मानव की तुलना कर लेना आवश्यक है। अतः होमिन्वायड्स का विशेष तुलनात्मक उल्लेख इस अध्याय में किया जा रहा है जो गत अध्यायों में सम्मिलित नहीं किया जा सका।

जैसा कि इसके पूर्व भी कहा जा चुका है कि सिम्पसन ने 'होमिन्वायड' उच्चकुल को दो कुलों- 'पांगिडी' एवं 'हामिनिडी' में विभक्त करना उचित समझा था। पांगिडी के अन्तर्गत कपियों का एवं हामिनिडी में मेधावी मनुष्य का समावेश किया। कपियों में भी निम्न कपियों- सियामंग एवं गिब्बन को 'हाइलोवैटिनी' जो पांगिडी का एक उपकुल है। के दो जीनस- 'सिमफैलेन्गस' एवं हाइलोवैट्स में रखा। उच्च कपियों- ओरांगुटान, चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला को पांगिड़ी के उपकुल- पांगिनी के तीन जीनस क्रमशः 'पाग्गे', पैन एवं गोरिल्ला में समाविष्ट किया। दूसरी ओर होमिनिडी उपकुल को प्रतिनिधि मेधावी मानव को माना जिसका जीनस होमो एवं जाति सैपियस है। इस प्रकार 'होमिन्वायड' उच्चकुल निम्न कपियों, उच्चकपियों एवं मनुष्य के द्वारा जाना जाता है। इनकी सामान्य विशेषताओं का वर्णन तीसरे अध्याय में किया जा चुका है। यहां पर हम इनके विशिष्ट लक्षणों का वर्णन करेंगे।

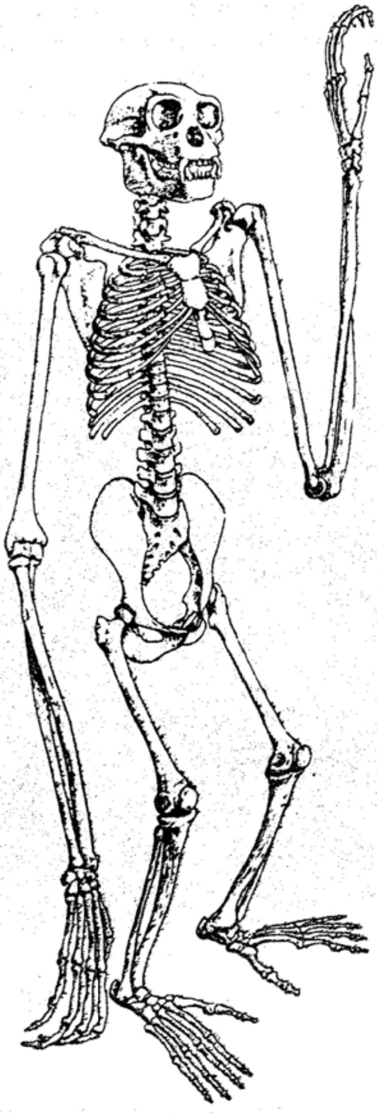
जीनस-सिम्फैलेन्गसः (सियामंग) :

यह निम्न कपि अधिकांशतया सुमात्रा एवं मलाया दीपों के पहाड़ी अथवा दक्षिणी एशिया के ऊष्ण

कटिबन्धीय वनों में विस्तृत हैं। यह गिब्बन (निम्न कपि) का सर्वाधिक करीबी रिश्तेदार है। लेकिन उसकी अपेक्षा यह अधिक लम्बा, भारी आकार वाला प्राणी है। इसके बाल घने काले रंग के होते हैं। इसकी चिवुक के बाल लाल एवं भूरे रंग के होते हैं। यदि इसके सम्पूर्ण मुखमण्डल पर दृष्टिपात करें तो यह चिम्पैंजी के सदृश प्रतीत होता है।यह वृक्षवासी निम्न कपि प्रायः वृक्ष की चोटी को ही अपना घर मानता है। यह प्राणी गिब्बन की भांति व्यवहार प्रदर्शन करता है। यह मुख्यतः शाकाहारी जीव है। इसके अतिरिक्त कीड़े मकोड़े तथा छोटे-छोटे अन्य जीवों को भी अपना आहार मानता है। यह पेड़ों की शाखाओं पर स्फूर्ति से दौड़ लेता है।यह शोर मचाने में विख्यात निम्न कपि कई प्रकार के आवाजें उच्चारित करने में निपुण है जैसे- हुवाना, हुक्काना, वूं-वूं करना, जो आवाजें मीलों दूर से सुबह के समय सुनी जा सकती हैं। ये आवाजें प्रायः इतनी ऊंचे स्वर में होती हैं जिसे कर्णप्रिय नहीं कहा जा सकता। इनमें स्वर यन्त्र-बायुथैलियां पायी जाती हैं।

सियामंग का कपाल अपेक्षाकृत लम्बा होता है। इनकी कपाल क्षमता भी गिब्बन की अपेक्षा अधिक है। सियामंग गिब्बन एवं उच्च कपियों का मध्यवर्ती सियति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके अग्रांग एवं पश्चांग दोनों चौड़े एवं मोटे होते हैं। इनके संचलन का प्रतिरूप बाहुगमन (Brachiation) है।

सियामंग कई लक्षणों में गिब्बन की भांति हैं मात्र मादा गिब्बन के गर्भ अवस्था के अतिरिक्त जो कतिपय सप्ताह पश्चात घटित होती हैं। अधिक सादृश्यता को फलस्वरूप इन्हें प्रायः गिब्बन के जीनस में ही सम्मिलित किया जाता है।

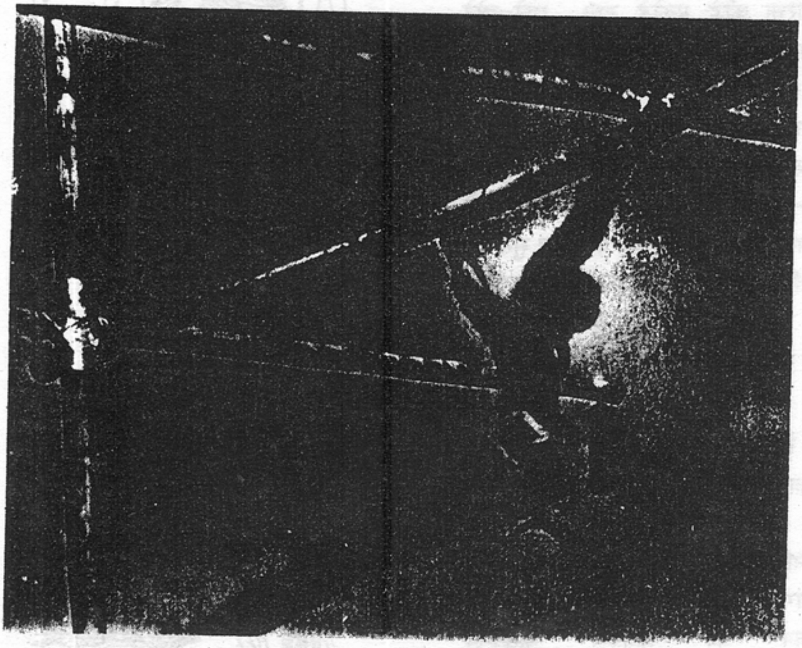


चित्र 7 : 31 प्रौढ़ सियामंग का कंकाल

जीनस–हाइलोबैट्स : गिब्बन (Gibbon)

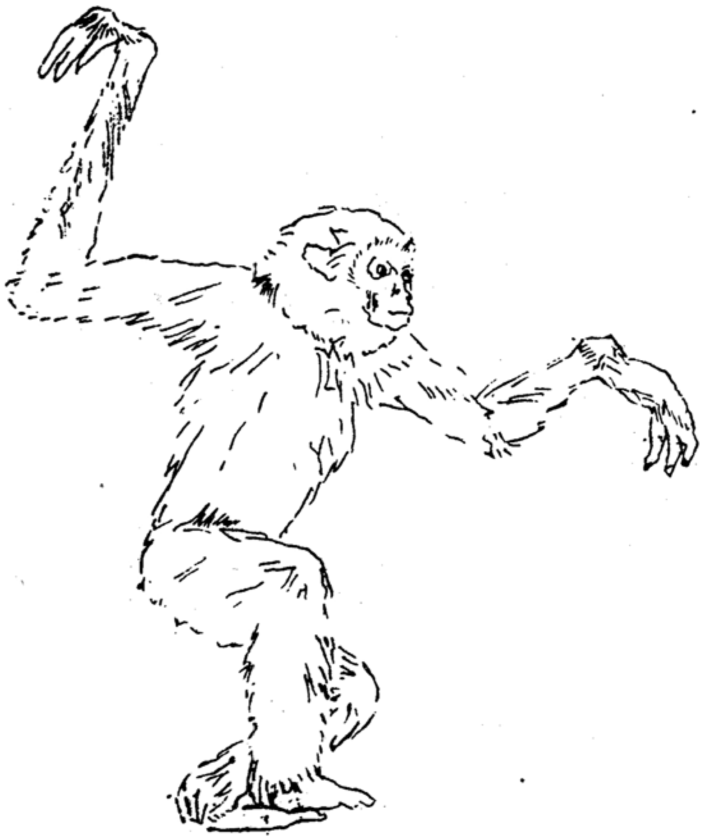
सियामंग के घनिष्ठ सम्बन्धी गिब्बन का विस्तारक्षेत्र सीमित नहीं है। यह प्राणी वर्मा, थाईलैण्ड, भारत, चीन, मलाया, सुमात्रा, जावा एवं बोर्नियो में पाये जाते हैं। यह समुद्र सतह के घने वनों से लेकर 8000 फिट उंचे पहाड़ी घने जंगलों में आवास करते हैं। इनकी लगभग आधी दर्जन जातियां हैं, जैसे हाइलोवैट्स हूलाक (हूलाक गिब्बन), हाइलोवैट्स लार (लार गिब्बर), हाइलोबैट्स कानकलर (काले गिब्बन) आदि।

यह कपियों में सबसे छोटे आकार के प्राणी हैं। एक पूर्ण प्रौढ़ गिब्बन की लम्बाई लगभग 3–4 फिट तक होती है।



चित्र 7 : 32 बाहुगमन करता हुआ गिब्बन

यह कई बानरों से भी छोटे होते हैं और इससे वे स्थलवासी जंगली प्रभुओं से लड़ाई करने पेड़ से कभी नहीं उतरते। यह पूर्णतः वृक्षीय होते हैं।



चित्र 7 : 33 साधारण गिब्बन

अग्रांग पश्चांग की तुलना में अधिक लम्बे होते हैं। यह प्राणी ऊर्ध्व स्थिति में खड़ा होने की क्षमता रखता है और जब यह खड़ा होता है तब इसके हाथों की उंगलियों के अन्तिम छोर के पोर भूमि को स्पर्श कर सकते हैं। इनके हाथ पैर की अपेक्षा लम्बा एवं सकरा होता है। वृक्षीय अनुकूलन के फलस्वरूप रेडियस व अल्ना लम्बी होती है। इनका अंगूठे की अभिमुखता विकसित नहीं है और उसकी लम्बाई भी छोटी होती है। अंगुलियां हुक के सदृश अन्दर की ओर झुकी रहती हैं। अपनी इन्हीं शारीरिक विलक्षणताओं के कारण ये एक शाखा से दूसरी शाखा पर हाथों के द्वारा झूलते हुए अत्यधिक तेज गति से संचलन करते हैं। यह दस मीटर दूर स्थित शाखा तक बिना किसी हिचकिचाहट व आत्मविश्वास के साथ हवा में उछलते हुये पेंडुलम की तरह छलांग लगा लेते हैं। यह संचलन की दिशा कभी भी बीच में ही परिवर्तित करने की क्षमता रखते हैं। इसी कारण गिब्बन कुल का नाम हाइलोवैटिडी दिया गया।इस ग्रीक शब्द का अर्थ ही होता है 'वृक्ष भ्रमणकर्ता'



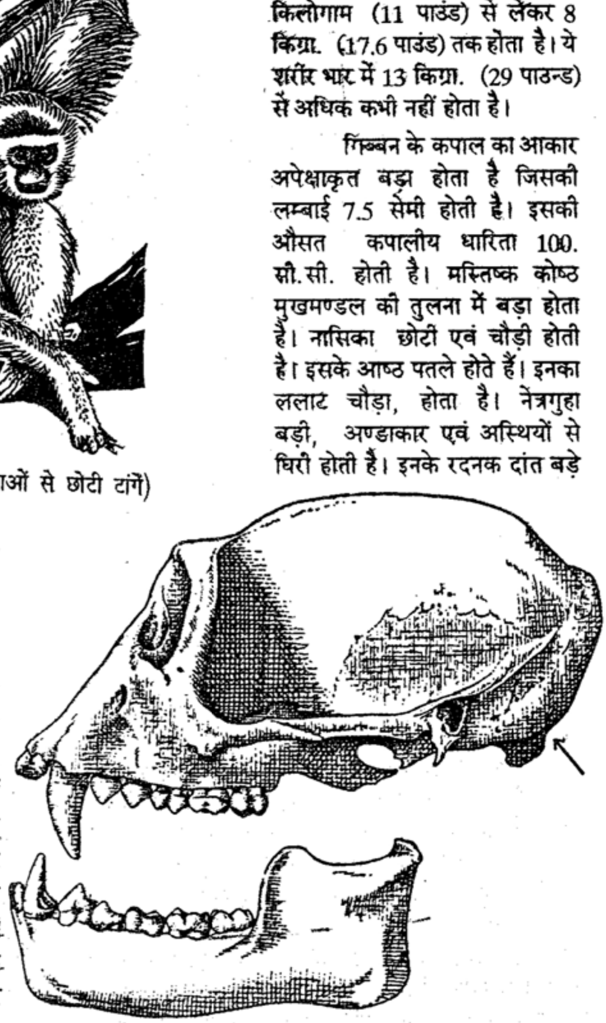
चित्र 7 : 34 गिब्बन (हाथ की भुजाओं से छोटी टांगें)

(Tree-walker)। इस प्रकार के हाथों एवं अग्रांगों के द्वारा वृक्ष के भ्रमणकर्ता को 'बाहुगमनक' (Branchiater) एवं संचलन पद्धति को 'बाहुगमन' (Brachiation) की संज्ञा दी गयी है।

इनके शरीर का औसत भार 5 किलोगाम (11 पाउंड) से लेकर 8 किग्रा. (17.6 पाउंड) तक होता है। ये शरीर भार में 13 किग्रा. (29 पाउन्ड) से अधिक कभी नहीं होता है।

गिब्बन के कपाल का आकार अपेक्षाकृत बड़ा होता है जिसकी लम्बाई 7.5 सेमी होती है। इसकी औसत कपालीय धारिता 100. सी.सी. होती है। मस्तिष्क कोष्ठ मुखमण्डल की तुलना में बड़ा होता है। नासिका छोटी एवं चौड़ी होती है। इसके आष्ठ पतले होते हैं। इनका ललाट चौड़ा, होता है। नेत्रगुहा बड़ी, अण्डाकार एवं अस्थियों से घिरी होती हैं। इनके रदनक दांत बड़े होते हैं।

कारपेंटर (1940) के अनुसार नर गिब्बन मादा गिब्बन से शारीरिक आकार में कुछ ही बड़ा होता है। ये दोनों (नर एवं मादा) प्रायः साथ साथ दृष्टिगत हुये हैं इनके साथ इनके बच्चे भी हो सकते हैं। इसी परिवार में रहकर नर एवं मादा साथ बैठकर एक दूसरे बालों को साफ करते रहते हैं गिब्बन बड़ी टोली में नहीं रहता जो इनके एकान्तिक प्रवृत्ति को इंगित करती है। इलेफसन (1968) ने इनके स्थलवासी व्यवहार को भी अवलोकित किया है और इस प्राणी के इस साधारण परिवार 250 से लेकर 300 एकड़ के क्षेत्रफल में रहता है।



चित्र 7 : 35 गिब्बन का कपाल



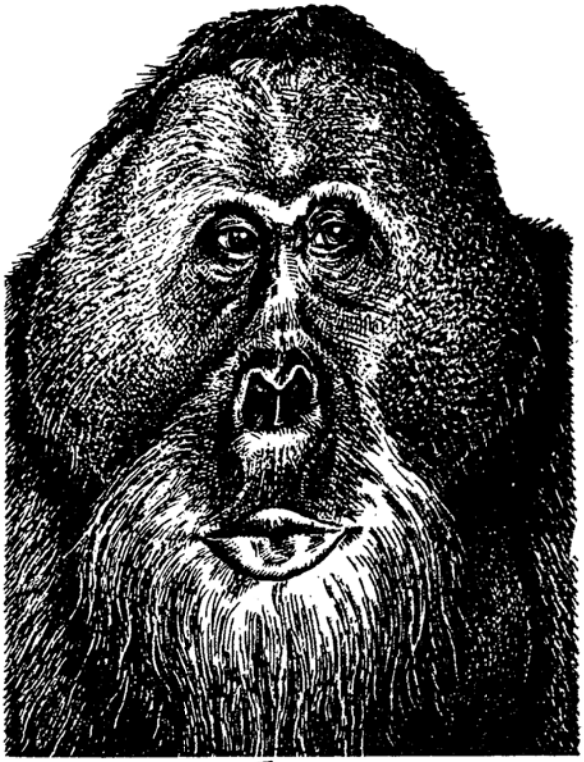
चित्र 7 : 36 मादा गिब्बन अपने दो माह के शिशु के साथ

वे अत्यधिक शोर मचाने वाले प्राणी हैं जो पूरे दिन राग अलापते रहते हैं तथा कई प्रकार की आवाजें निकालते हैं। प्रायः यह प्रातःकाल से हू–हू की आवाज निकालते हैं। इस कार्य में मादा भी नर का साथ निभाती है। रात में ये पत्तियों से ढककर के शयन करते हैं। ये किसी भी प्रकार का घोंसला एवं आश्रय स्थान नहीं बनाते। अपनी संवेदनाओं को वे चिल्ला करके, मुंह के भाव बदल–बदल करके व्यक्त करते हैं।

गिब्बन प्रमुखतया फलाहारी एवं कंदमूलाहारी है। लेकिन कभी–कभी वे कीड़े मकोड़े, चिड़ियां के अण्डे एवं निम्न स्तनियों को भी आहार में सम्मिलित कर लेते हैं। मादा गिब्बन की गर्भावस्था 5 वर्ष से 8 वर्ष के मध्य होती है तथा गर्भकाल 7 माह की होती है। (शुल्ज, 1956)। रति–क्रीड़ा का कोई निश्चित समय नहीं होता बल्कि यह वर्ष भर बिना किसी प्रतिरोध के चलता है। (कूलिज, 1933, एवं केंचली 1942)

जीनस पांगोः ओरांगुटान (Orang-utan)

जीनस पांगो की एक ही स्पीसीज– पांगो पिग्मायस (Pango Pygmaeus) है जिसे 'ओरांगुटान' के नाम से जाना जाता है। ये सुमात्रा एवं बोर्नियो के निम्नतलीय घने जंगलों में सीमित रूप में पाये जाते हैं। मलाया में ये 'जंगली वृक्षों का मनुष्य' ("man of the woods") के नाम से जाना जाता है। यह प्राणी पूर्णतया वृक्षीय हैं। वृक्षीय गमन अपने आग्रांगों एवं हाथों की सहायता से करते हैं। इस विधि को बाहुगमन (**Brachiation**) कहा जाता है। ये भूमि संचलन भी करने में सक्षम हैं लेकिन भूमिगमन पादांगों की सहायता से करते हैं। इनके शरीर का भार अधिक होता है इस कारण संचलन के पश्चात प्रायः थके–थके देखे गये हैं। शारीरिक भार लगभग 200 किग्रा. (440 पाउण्ड) तक होता है। शारीरिक भार की तुलना में इनका औसत कद मात्र 5 फीट (1.5 मीटर) है और जब भुजाओं को भी फैलाया जायें तो इनकी सम्पूर्ण लम्बाई 8 फिट 3 इंच (2.5 मीटर) तक हो सकती है। नर मादाओं के शरीर की अपेक्षा दो गुना भारी एवं लम्बे होते हैं। इस प्रकार यह शारीरिक आकार प्रकार में गिब्बन से अत्यधिक भिन्न होते हैं।



चित्र 7 : 37 ओरांगुटान का सिर (इसकी दाढ़ी मूँछें बड़ी तथा गालों की बनावट भिन्न होती है)

शरीर में कतिपय स्थानों को छोड़कर, जैसे मुखमण्डल, तलवे, हथेली इत्यादि सम्पूर्ण भाग में लाल भूरे सुर्ख कत्थई अथवा एवं लम्बे बालों से आच्छादित रहता है। नर में ये शारीरिक बाल अपेक्षाकृत और अधिक लम्बे एवं मोटे होते हैं। इनके भारी एवं थुलथुले शरीर में त्वचा–वलय दर्शनीय और लटकती रहती है। इसके दाढ़ी एवं मूंछो के बाल लम्बे होते हैं। यदि इसकी तुलना अन्य कपियों से करें तो इसके शरीर पर बालों का वितरण विरल है।

ओरांगुटान ऐसा एकाकी कपि है जिसके सिर का ऊर्ध्व भाग विकसित विकास होता है। फलस्वरूप इसका ललाट उच्च एवं चापाकार होता है। यह मानव के समान 2 थोरेसिस कशेरुकाएं रखता है तथा मात्र 12 पसलियों के जोड़े रखता है। वक्ष में स्तनों की स्थिति पार्श्व में होती है फलस्वरूप उरोज लगभग बगलों के सामने स्थित होते हैं। नर ओरांगुटान के वक्ष में सुगन्ध ग्रंथियां पायी जाती हैं। जो मादाओं में नहीं होती हैं। इनकी स्वर वायु थेलियां (Laryngeal air sacs) विकसित होती है जो विशेषतया मादा की अपेक्षा नर की ग्रीवा में पेंडुलम सदृश लटकती रहती है।

मुखाकृति में बड़ा सिर, गोल एवं ऊंचा माथा, छोटा एवं वृत्ताकार मस्तिष्क कोष्ठ, दीर्घ गोलाकार नेत्रगुहायें, अवतल मुख मण्डल, सुविकसित मध्य कपालीय उभरी क्रेस्ट (Sagital Crest), उभरा भ्रुकटक, विकसित मस्टवायड प्रवर्ध छोटी नासिकास्थि, उभरी नासिका सेतु, रदनक, उद्गत शक्तिशाली एवं लम्बे–चौड़े जबड़े, फैले गलूचे (Cheek pouches), बड़ा अधोहनु एव सीमियन शेल्फ युक्त अधाहनु आदि इनके विशिष्ट लक्षण हैं।



चित्र 7 : 38 वृद्ध नर ओरांग-उटान

इनके पश्चांग अग्रांगो की अपेक्षा छोटे होते हैं। हाथ पैरों की अपेक्षा लम्बे एवं सकरे होते हैं। अंगुलियां हथेली के अनुपात में लम्बी होती हैं। इनका अंगूठा लघुआकार का होता है। अग्र भुजा (Lower arm) ऊपरिभुजा (upper arm) की अपेक्षा छोटी होती है। टांगें छोटी हैं। पदांगुष्ठ छोटा होता है लेकिन अभिमुख चारी होता है। स्थल भ्रमण करते समय लम्बी अंगुलियों को अन्दर की ओर मोड़कर रखते हैं इसे 'नकल संचलन (Knuckle walking) कहते हैं।



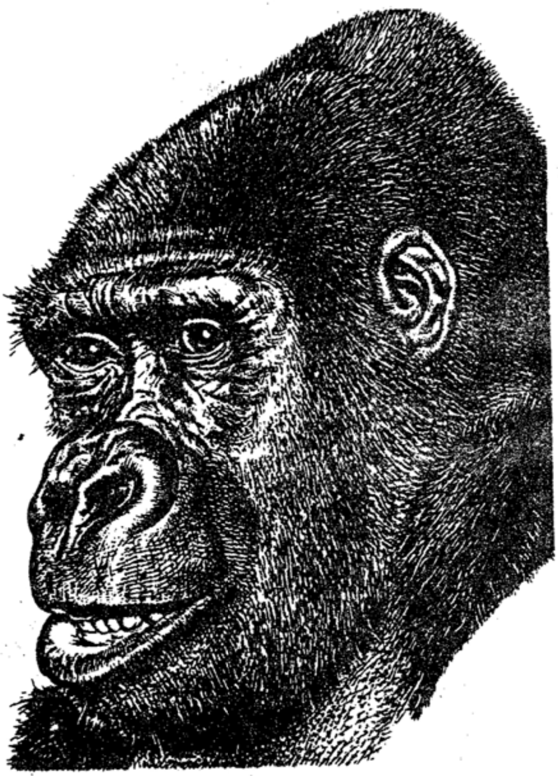
चित्र 7 : 39 ओरांगुटान

यद्यपि ये प्राणी वृक्षीय जीवन का पूर्णतः अनुकूलन कर लिया है फिर भी भारी शरीर के कारण प्रायः जिन शाखाओं पर वाहुगमन करते हैं वे टूट जाया करती हैं। नर प्रायः एकाकी जीवन व्यतीत करता है लेकिन जब इन्हें मादा के साथ सहवास करना होता है तब वे उसको खोजते हैं। ये पारिवारिक दायित्वों को समझने का सम्भवतः विवेक रखते हैं। नर एवं मादा दोनों में लैंगिक परिपक्वता 10 वर्ष पर घटित होती है। गर्भकाल 8 माह एवं 15 दिन का होता है। इनमें एक बार में एक ही बच्चे को जन्म देने का लक्षण है नवजात शिशु का जन्मभार लगभग 1 किग्रा का होता है। शैलर (1961) के अनुसार यह शाकाहारी जीव है जो फलों को अधिक पसंद करते हैं। चूंकि फलों वाले पौधे जंगलों में दूर–दूर पाये जाने से ओरांग भोजन के लिये बहुत परिश्रम करना पड़ता है। ये कभी–कभी पक्षियों के अण्डे भी खाते हैं।

शयन उद्देश्य से ओरांग पेड़ो की दो शाखाओं के मध्य घोंसले विनिर्मित करते हैं। ये पीठ को नीचे करके सोते हैं इस समय ये टांगों को मोड़कर ऊपर ले आते हैं तथा भुजायें भी अन्दर की ओर मोड़ लेते हैं। शीत एवं वर्षा ऋतु में यह पत्तियों से अपने शरीर को ढककर सोते हैं। अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि यह नम्र व्यवहार का, सामाजिक एवं जिज्ञासु प्रवृत्ति का जीव है जिसकी अधिकाधिक 40 वर्ष की आयु होती है।

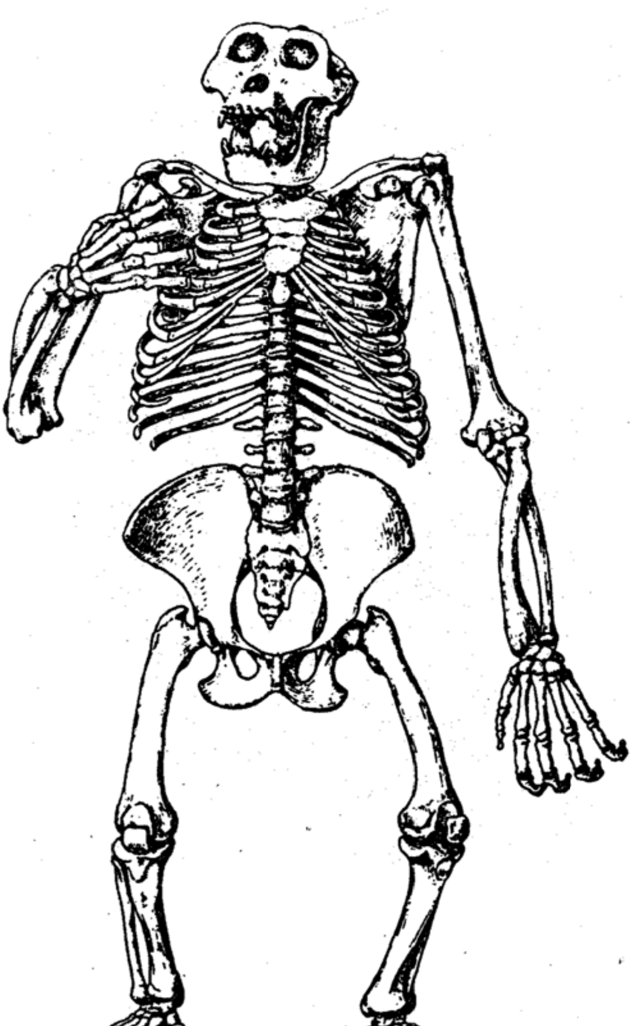
जीनस–गोरिल्ला ; गोरिल्ला (Gorilla)

यह सामान्यतया माना जाता है कि गोरिल्ला की एक ही जाति (Species) गोरिल्ला है, लेकिन पर्वती गोरिल्ला (Mountain gorilla) एक उपजाति मानी जाती है। यह अफ्रीका महाद्वीप में कैमरून, गेबॉन, एवं कांगों के सघन जंगलों में पाये जाते हैं। अफ्रीका के कियू झील के उत्तरी ऊंची–ऊंची पहाड़ियों पर "पर्वती गोरिल्ला" की उपजाति पायी जाती है।



चित्र 7 : 40 नर गोरिल्ला का सिर

गोरिल्ला एक विशालतम प्राइमेट है जो मनुष्य की तुलना में काफी बड़ा होता है। यह सर्वाधिक शक्तिशाली प्राइमेट औसतन 6 फिट लम्बा (ऊर्ध्व स्थिति में) और 200 किग्रा. भारी होता है। नर गोरिल्ला की अधिक से अधिक ऊंचाई 9 फिट की तथा कम से कम लगभग 5 फिट 11 इंच की होती है। अपने इस विराट शरीर में मनुष्यों से भी लघु वाह्य–कर्ण होते हैं। इनकी आंखें अन्दर की ओर धंसी रहती हैं तथा भ्रूकटक अधिक उभरा तथा भौंहों से आच्छादित रहता है जो प्रायः इनके नेत्रों पर लटकता दृष्टिगोचर होता है। समस्त नर गोरिल्ला में सजाइटल क्रेस्ट उभरी होती है। इससे शक्तिशाली जबड़े की मांसपेशियां संयुक्त होती हैं। यह उभरी सजाइटल क्रेस्ट गोरिल्ला के कपाल को अपेक्षाकृत अधिक ऊंचाई प्रदान करती है। ललाट भाग निम्नतलीय होता है। कपाल अण्डाकार होता है। नरों में औसत कपालीय धारिता 550 घन सेमी तथा मादाओं मे 450 घन सेमी होती है। कपालीय अस्थियां भारी, मोटी तथा ठोस होती हैं। इनके मस्तिष्क की माप 490 घन सेमी, आंकलित की गयी है। कपालीय क्षेत्र की अपेक्षा मुख मण्डल बड़ा होता है। इनका ऊपरी जबड़ा उद्गत होता हैळ। अधोहनु भारी एवं मोटा होता है। आकार में दरनक (Canine) बड़े होते हैं। दंत चाप U आकार का पाया जाता है। नासिकास्थि अपेक्षाकृत कम उभरी एवं लम्बी होती है। इनकी नासिका सेतु उभरी एवं नथुने चौड़े होते हैं। चिवुक अनुपस्थित तथा होट अपेक्षाकृत पतले होते हैं।



चित्र 7 : 41 गोरिल्ला कंकाल

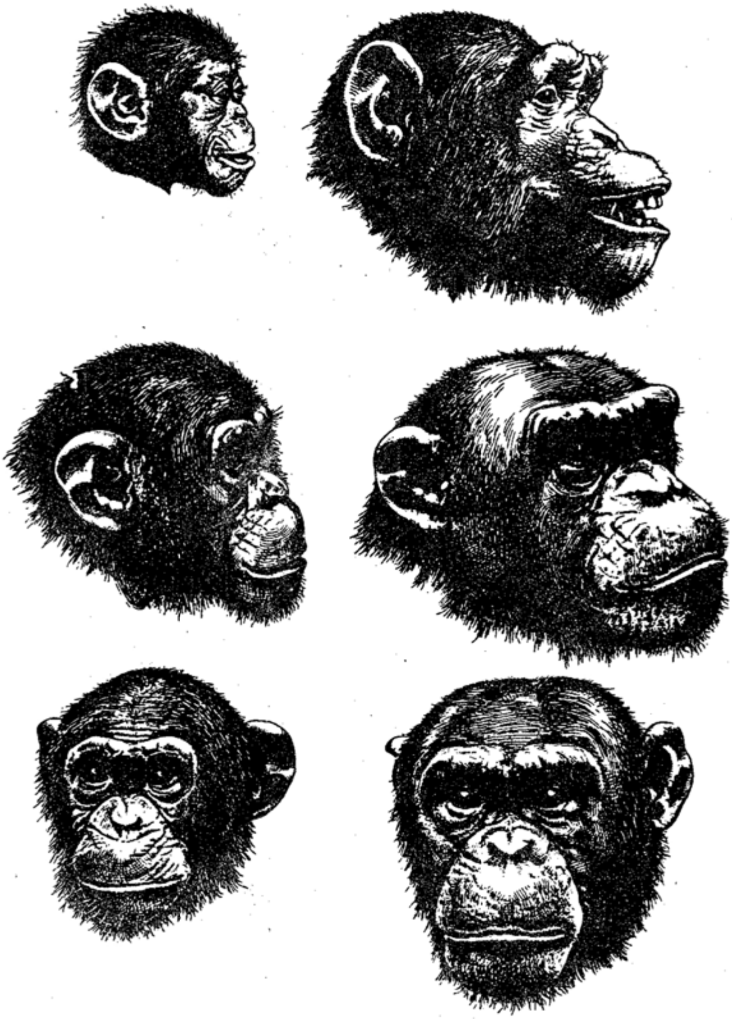
गोरिल्ला के अग्रांग पश्चांगों की अपेक्षा लम्बे होते हैं। अन्य कपियों की भांति अग्रांग में अग्रभुजा (Fore arm) ऊपरी भुजा से लम्बी नहीं होती है। इनके हाथ मानव सदृश होते हैं। अंगूठा सुविकसित एवं अभिमुखचारी होता है। टांगे छोटी, मानव सदृश पैर एवं अभिमुखचारी पदांगुष्ठ आदि लक्षणों का होना इनकी विशिष्टता है। इनकी एड़ी विकसित होती है लेकिन पाद संरचना से प्रतीत होता है कि वृक्षीय संचलन एवं परिग्राह्यता के उपयुक्त नहीं है तथापि ये वृक्षों पर चढ़ते हैं तथा शयन की व्यवस्था भी वृक्षों के ऊपर करते हैं। यह स्थल भ्रमण पैरों के सहारे कर सकने की क्षमता रखते हैं लेकिन ऐसी स्थिति में अपने अग्रांग को आगे झुका लेते हैं। उंगलियों को नीचे तथा अन्दी की ओर मोड़ लेते हैं अर्थात "नैकल संचलन" करते हैं। सामान्यतया गोरिल्ला अपने चारों पैरों का उपयोग करता है।

वृक्षीय वाहुगमन करते हुये प्रायः मादायें एवं उनके बच्चों को देखा गया है।

इनका सम्पूर्ण शरीर बालों से आच्छादित रहता है। गोरिल्ला सामान्यतया दो प्रकार के पाये जाते हैं इसलिये निम्न क्षेत्रीय गोरिल्ला के बाल छोटे, घने एवं मोटे तथा पर्वती गोरिल्ला के भुजाओं के बाल काले लम्बे घने तथा मोटे होते हैं।

गोरिल्ला के जैववासिक जीवन का अनेकों विद्वानों ने अध्ययन किया, जिसमें शैलर (1963–65),

आशवर्न (1963), कूलिज़ (1929), मरफील्ड (1956) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन जैववासिक शोधकार्यों के अनुसार गोरिल्ला का पारिवारिक जीवन ओरांग की अपेक्षा अत्यधिक प्रगतिशील हैं क्योंकि नर अपनी सन्ततियों के साथ जीवन व्यतीत करता है। कभी–कभी अनेको परिवार एक साथ मिलकर रहते



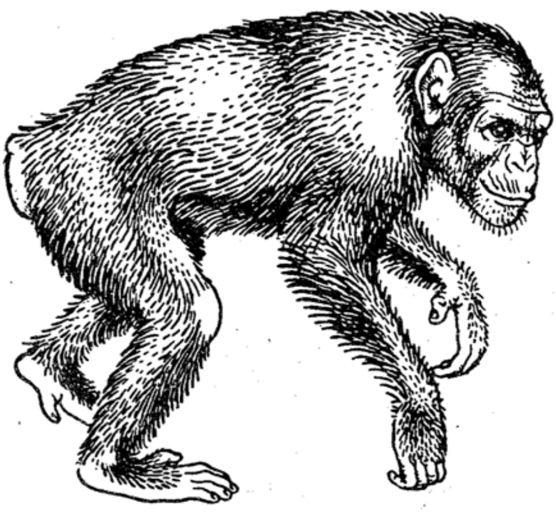
चित्र 7 : 42 नर एवं मादा (क्रमशः- दांयें व बायें) चिम्पैंजी के भिन्न-भिन्न आयु में सिर (शुल्ज 1940)

शरीर रचनात्मक आधार पर चिम्पैंजी मानव की ओर उन्मुख प्रवृत्ति वाला है जो अपने मस्तिष्क, दंत विन्यास तथा उपांगों की सापेक्ष लम्बाई में मानव के अधिक निकटस्थ प्रतीत होता है। जब अन्य मानव सम कपियों की टांगे भुजाओं की अपेक्षा छोटी होती हैं तो चिम्पैंजी की टांगे एवं भुजायें लगभग समान होती हैं। यह अन्य मानवसम कपियों की अपेक्षा अधिक विकसित मस्तिष्क रखता है तथापि मस्तिष्क का आकार 365 घन सेमी होता है जो गोरिल्ला 490 cc की अपेक्षा छोटा है।

नर चिम्पैंजी की लम्बाई 5 फुट से लेकर 5 फुट 7 इंच तक तथा मादा की औसत लम्बाई लगभग 4 फीट होती है। नर के शरीर का औसत भार 110 पाउण्ड तथा मादा के शरीर का भार 88 पाउन्ड होता है। सम्पूर्ण शरीर पर खुरदरे काले एवं लम्बे-लम्बे बाल आच्छादित होते हैं लेकिन इनके तलवों, हथेलियों, मुखमण्डल बालरहित होते हैं। मुख की त्वचा का रंग पीत अथवा हल्की चित्तियों वाला होता है। शेष समस्त दैहिक त्वचा श्यामवर्ण होती है।

अधिकांश चिम्पैंजी गोल सिर वाले होते हैं। इनका कपाल गुम्बद (Vault) निम्न होता है। इनकी औसत कपालीय धारिता लगभग 400 घन सेमी होती है। भ्रूकटक कम विकसित लेकिन सतत होने से एक दूसरे से संलग्न दृष्टिगत होती है। नासिका सेतु उभरे होते हैं। नथुने किनारे बहुत चौड़े नहीं होते नासिकास्थि की लम्बाई छोटी होती है। वाह्यकर्ण नालिकाकार होता है। जबड़े उदगत होते हैं। इनके रदनक लम्बे एवं अपेक्षाकृत बाहर की ओर कम मुड़े होते हैं। इनके ओष्ठ बड़े एवं लटके होते हैं। इनकी चिबुक लगभग अनुपस्थित होती है। सम्पूर्ण रूप से इनका मुखमण्डल सिर की अपेक्षा बड़ा आकार होता है। इनके कर्णपल्लव अपेक्षाकृत बड़े होते हैं।

इनके हाथ लम्बे आकार के होते हैं लेकिन अभिमुखचारी अंगूठा अंगुलियों से छोटे होते हैं। हाथ अपेक्षाकृत पतले होते हैं। पैर भी लम्बा एवं पतला होता है। पादांगुष्ठ भी विरोधी दिशा वाला होता है। इनका अंगुलि सूत्र 3 > 4 > 2> 5> 1 होता है। पदांगुष्ठ हस्तांगुष्ठ से अपेक्षाकृत लम्बा होता है। हाथ अनूठी परिग्राही क्षमता रखते हैं। यह इस विशिष्टता के कारण पेड़ों पर 'बाहुगमन' करने में सक्षम होते हैं। भूमि पर 'नकल वाकिंग' करते हैं। स्थल भ्रमण में यह चारों पैर का प्रयोग करते हैं।



चित्र 7 : 45 चिम्पैंजी पृथ्वी पर भ्रमण करता हुआ

यह आधा दिन वृक्षों पर व्यतीत करते हैं। रात्रि काल में शयन हेतु नित्य प्रति डालियां एवं पत्तियां तोड़ करके एक झुरमुट वना लेते हैं। यह घोंसला भूमि से लगभग 15 फिट ऊंचे स्थान पर होता है।

चिम्पैंजी के ऊपर अनेकों अध्ययन किये गये हैं जिसमें गुडाल (1965), कार्तनाल्ड (1962), रिवार्ल्डस (1965), नैपियर (1965), मंतक यर्कीज (1943-56) जोन्स (1960) आदि उल्लेखनीय हैं। इन

अध्ययनों से पता चलता है कि चिम्पैंजी की एड़ी विकसित नहीं होती है। स्थल पर चलते समय जब पश्चांगों का प्रयोग करते हैं तो संतुलन बनाने के लिये ये अपनी भुजाओं को मोड़कर सिर के ऊपर रख लेते हैं।

गुडाल(1965) के अनुसार चिम्पैंजी मुख्यतया शाकाहारी होते हैं। फल, पत्तियां, बीज, छिलके इत्यादि इनका मुख्य भोजन हैं, लेकिन कभी-कभी छोटे जीवों को भी आहार के रूप में प्रयुक्त होते हैं। ये कीड़े, मकोड़े, दीमक, चींटी इत्यादि भी खाते हैं। ये प्रायः खानाबदोश जीवन व्यतीत करते हैं।

चिम्पैंजियों का सामाजिक व्यवहार उनके पर्यावरणी परिस्थितियों के कारण विविधता रखता है। सामान्यतया चिम्पैंजी बहुत ही चतुर प्राणी है। वह नवीन तकनीक सीखने में प्रवीण होता है। प्रयोगशालाओं में इसका अध्ययन कई विधियों से किया गया है। इसका व्यवहार कड़े प्रकार से मानव सदृश होता है।

ये प्राणी टोली बनाकरके रहता है जो स्थिर एवं स्थायी की नहीं पायी जाती। ये परिवर्तनशील रहता है। टुकड़ी का भौगोलिक क्षेत्र 6-10 मील के अन्तर्गत पाया जाता है। टुकड़ी के सदस्यों की संख्या घटती बढ़ती रहती है। चूंकि यह जीव सहिष्णु होता है तो कभी-कभी एक से अधिक दूसरी टोली में आकर सम्मिलित हो जाते हैं। सामान्यतया 5-6 चिम्पैंजी एक साथ दृष्टिगोचर हुये हैं। रिनाल्ड्स (1965) ने इनकी अस्थायी टोली होने के अतिरिक्त भी इनके चार प्रकार की विशेष टोलियों का उल्लेख किया है-

A. वयस्क टोली जिसमें नर व मादा दोनों रहते हैं।

B. नर टोली जिसमें वयस्क नर होते हैं।

C. मात्र-टोली जिसमें बच्चों वाली मादायें रहती हैं।

D. मिश्रित टोली जिनमें सभी नर, मादा, बच्चे रहते हैं। इसमें सदस्यों की संख्या अधिक होती है। जिसमें अधिक से अधिक 46 तथा कम से कम 6-7 सदस्य होते हैं।

यर्कीज (1943-56) के अनुसार नर चिम्पैंजी की वयस्कावस्था 7-8 वर्ष की आयु होती है। तथा मादायें 10 वर्ष तक की आयु तक रजासला होने में समर्थ हो जाती है। यंग तथा यर्कीज़ का विचार है कि मादाओं का ऋतुचक्र 37 दिन का होता है यह मानव समान है गायन के मतानुसार गर्भकाल लगभग 227 दिन का होता है। मादा चिम्पैंजी का अपंरा (placenta) मानव सदृश पाया गया है। गुडाल (1965) ने एक मादा के साथ सात नरों को रति क्रीड़ा करते देखा है। अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि एक चिम्पैंजी अधिक से अधिक 50 वर्षों तक जीवित रह सकता है। यह कपियों में सर्वाधिक जीवन आयु रखता है।

चिम्पैंजियों के मनोवैज्ञानक अध्ययनों से पता चलता है कि ये संवेदनात्मक अभिव्यक्ति करने में सफल रहे हैं, जैसे चिल्लाना, रोना, हंसना आदि। अपने साथियों एवं मनुष्यों के साथ मृदुल भाव रखते हैं। इसकी सीखने की प्रवृत्ति अप्रतिम है। संगीत प्रिय प्राणी है। इसकी स्मरण शक्ति विकसित है।

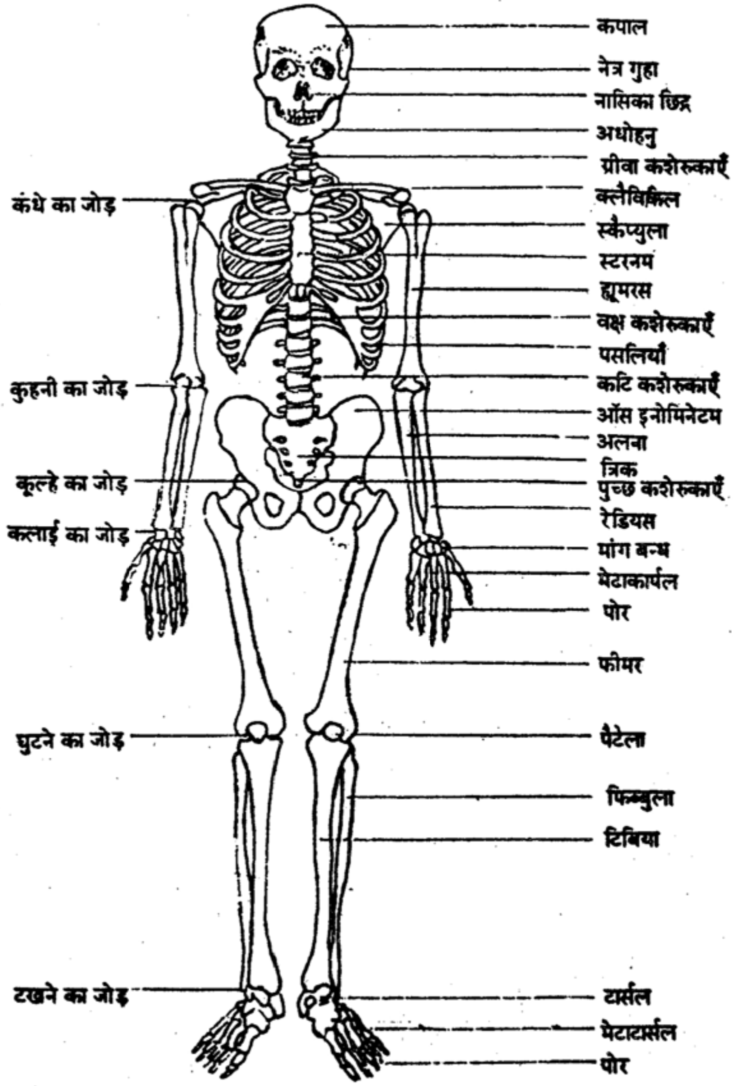
इस प्रकार शरीरक्रियात्मक रुधिरविज्ञान रोगविज्ञान, जैवरसायनविज्ञान, जैववासिकी, मनोविज्ञान के अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि अन्य निम्न एवं उच्च कपियों में चिम्पैंजी मानव के अधिक निकटवर्ती हैं।

हॉमिनिडी : होमोसैपियंस सैपियंस (मानव)

हॉमिनिडी हॉमिनिडी कुल में एकाकी जीनस- 'होमो' माना गया है जिसकी जाति- सैपियंस है एवं उपजाति सैपियंस है। जीवाष्मिक शरीर रचनात्मक व्यवहार वैज्ञानिक, आणविक इत्यादि साक्ष्यों के अनुसार, उद्विकसित हुई है। मेधावी मानव अपनी विशिष्ट जीनस, स्पीशीज, एवं उपसपीसीज़ के फलस्वरूप "होमोसैपियस सैपियंस" के नाम से अलंकृत किया गया है।

होमोसैपियंस सैपियंस (मानव) का विस्तार क्षेत्र लगभग सम्पूर्ण विश्व स्थल है। विशाल शरीर

वाले प्राणियों में मानव सर्वाधिसंख्यक प्राणी है। मानव शरीर निस्संदेह अन्य किसी एक जीवित स्पीशीज के शरीरों की अपेक्षा अधिक जैविक पदार्थ रखता है। स्तनधारी ह्वेल मछली एवं हाथी, के शरीर की अपेक्षा मानव लघुतर शरीर वाला है।



चित्र 7 : 46 मानव कंकाल

तथापि असंख्यों सजीव प्राणी जातियों के शरीर उसकी तुलना में अति सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम हैं। जी.जी. सिम्पसन (1968) द्वारा दिये गये मापदंडों के आधार पर इसकी महत्वपूर्ण शरीर रचनात्मक विशेषताएं निम्नवत हैं:

1. इसका सामान्य आसन (posture) ऊर्ध्व संस्थिति है।

2. इसके पश्चांग अग्रांग की अपेक्षा लम्बे हैं।

3. पैर के अंगूठे लघु हैं, प्रायः प्रथम अंगूठा (पैर का) सर्वाधिक लम्बा है।

4. कशेरुक दण्ड (Vertebral column) S– आकार का वलय (Curve) रखती है।

5. हाथ परिग्राही हैं जिनमें लम्बा एवं शक्तिशाली अभिमुखचारी अंगूठा है।

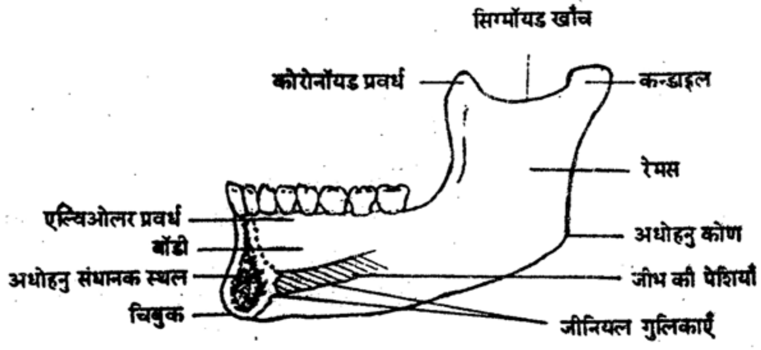
6. अधिकांश शरीर बाल रहित है या तो मात्र छोटे विरल रोमयुक्त बाल दर्शनीय हैं लेकिन सिर सघन एवं लम्बे बालों सेंआच्छादित है।

7. शारीरिक अनुपात में मस्तिष्क अपेक्षाकृत अत्यधिक विशाल है जो बड़ा एवं जटिल प्रमस्तिष्क (Cerebrum) रखता है। इसकी औसत कपालीय क्षमता 1300–1450 तक होती है, जो सबसे अधिक है।

8. मुखमण्डल सापेक्षतया लघु है जो अधिकांशतया ऊर्ध्व रेखीय (Vertical) एवं अग्रमस्तिष्क के नींचे है। ने पूर्णतः त्रिविमितीय दृष्टिवाले हैं।

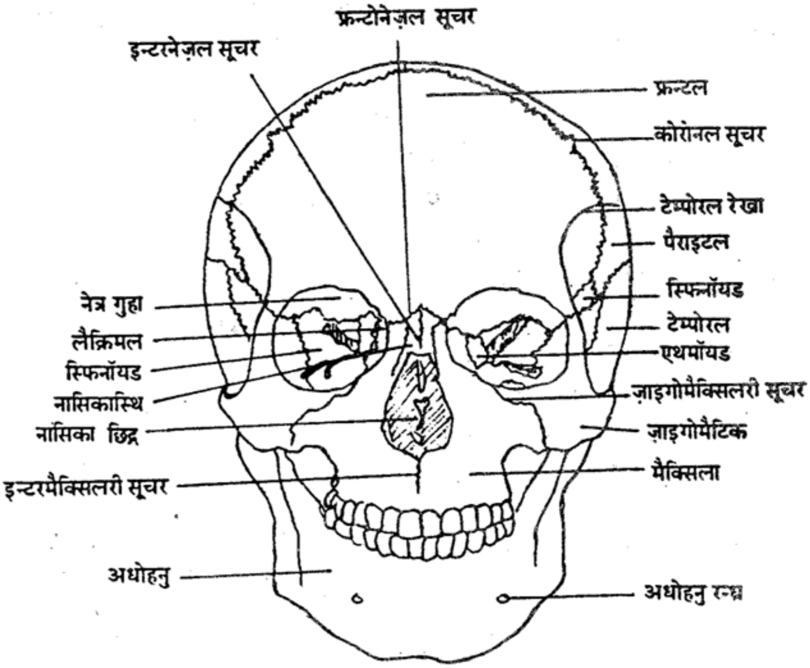
9. जबड़े अपेक्षाकृत लघु हैं जिनमें गोलाकार अथवा परवलयाकार (Parabolic) दन्त चाप है।

10. पुराचवर्णक की अपेक्षा रदनक प्रायः छोटे हैं। साधारणतया रदनक के आगे अथवा पीछे कोई अवकाश (Diastema) विद्यमान नहीं है।



चित्र 7 : 47 मानव अधोहनु-संधानक स्थल का काट

इस प्रकार उपरोक्त प्रमुख शरीर रचनात्मक विशिष्टताओं के आधार पर कोई भी प्रेक्षक (Observer) मानव को अन्य किसी भी स्पीशीज से पृथक कर सकता है। लेकिन ये लक्षण संभेद सक्षम तो हो सकते हैं, न कि विभेदन करने में पर्याप्त।



चित्र 7 : 48 मानव कपाल का सामने का भाग (Norma Frontales)

ये मानव की प्रमुख विशेष्टताओं का ज्ञान कराने में भी अक्षम हैं क्योंकि "मानव" की "मानव-ता" को समझने हेतु "मानव स्वभाव" समझना परमावश्यक है जो मानव गतिविधियों एवं व्यवहार विज्ञान (मस्तिष्क विज्ञान) से सम्बन्धित है। सिम्पसन ने इस संदर्भ में चार्ल्स डार्विन (Descent of Man, 1971) को उद्धृत किया है जिन्होंने सम्भवतः पहली बार इन मानवीय व्यवहारों को मानव की व्याख्या करने में प्रमुखता दी थी। संक्षेप में उनके अनुसार मानव की व्यावहारिक विशिष्टतायें निम्नवत हैं :

1. अनुपात में सर्वोत्कृष्ट बुद्धि का प्रतिनिधित्व करने वाला मानव का व्यवहार परिवर्तनशील एवं लचीला होता है।

2. मानव विशिष्टतम सुविकसित एवं जटिल व्यावहारिक लक्षणों का प्रदर्शित करता है जैसे– जिज्ञासा, नकल (initation), एकाग्रचन, ध्यान, स्मृति एवं कल्पना आदि।

3. मानव अन्य प्राणियों की अपेक्षा विचारशील, तर्कशील होता है जो तार्किक मार्ग से अपने अनुकूलिक व्यवहारों के अनुकूलक स्वभाव का उत्तरोत्तर विकास करता है।

4. मानव नियमित रूप से विभिन्न प्रकार के अनेकों उपकरणों को विनिर्मित करता है तथा उसका प्रयोग करता है।

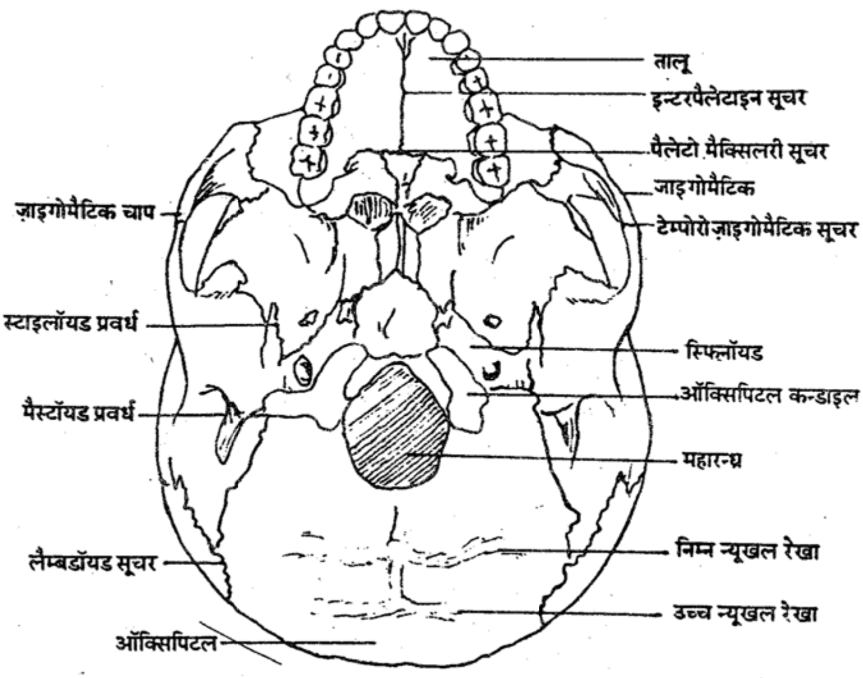
5. मानव आत्मबोधी है जो अपने अतीत, भविष्य जीवन मरण आदि को संस्मरणों एवं भविष्य दर्शनों में परिवर्तित करता है।

6. मानव मानसिक सारांशों का निर्माण कर सकता है, एवं अन्तर्सम्बन्धित प्रतीकों का विकास करता है और अन्ततः जो अत्यधिक जटिल भाषा में रूपान्तरित होती है।

7. अधिकांश मानवों को सुन्दरता का बोध होता है।

8. अधिकांश मानवों को धर्म–बोध होता है जिनके द्वारा वे विचित्र व्यवहारों, अंधविश्वासों, आत्मावाद, अलौकिक सत्तावाद, अथवा अध्यात्मवाद में विश्वास करते हैं।

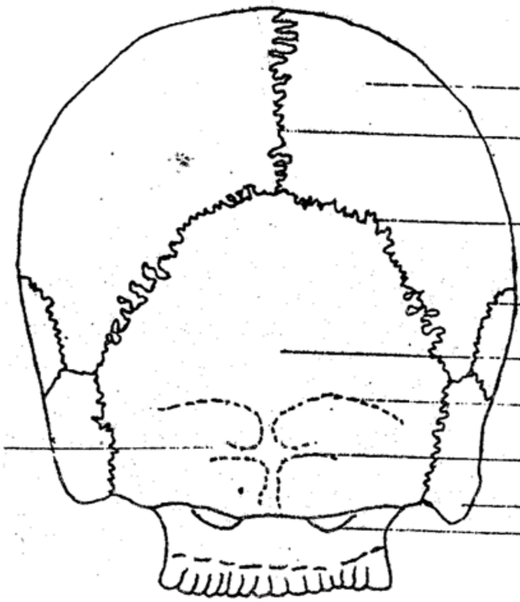
9. सामान्यतया मानव को नैतिक बोध होता है।



चित्र 7 : 49 मानव कपाल आधार दृश्य (Norma Basales)

10. मानव सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्राणी है जिसने अनूठी संस्कृतियों एवं समाजों की जटिलताओं एवं विविधताओं को विकसित किया है।

विशिष्टताओं में अन्तिम बिन्दु अधिक महत्वपूर्ण है जिसे डार्विन ने प्राथमिकता के आधार पर दसवें स्थान पर रखना उचित समझा है क्योंकि सम्भवतः यह अन्य जीवों में पूर्णतः प्रतिबिम्बित नहीं होती है जिससे मनुष्य की सांझी धरोहर को उनमें से अनूठी माना जा सके। चूंकि मानव के इस विशिष्ट लक्षण का उद्विकास अन्य लक्षण संकुलों के समग्र विकास से हुआ है इसलिये सिम्पसन (1968) डार्विन के मत को अंशतः उचित ठहराते हैं।



चित्र 7 : 50 मानव कपाल (पश्च दृश्य)

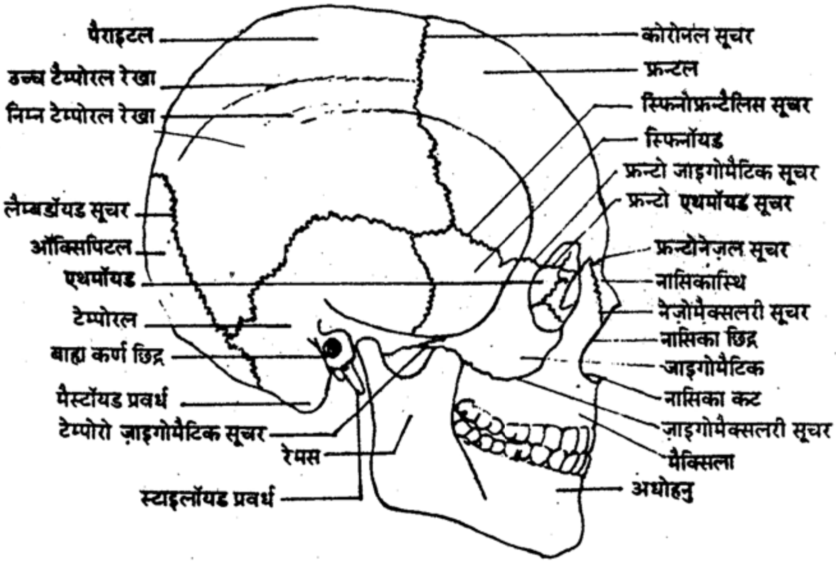
अतः यह प्रामाणिक सत्य है कि संस्कृति एवं समाज आधुनिक मानव का मूल एवं प्रमुख तत्व है जिसके आधार पर उसे सम्पूर्ण प्राइमेटों, एवं कपियों में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है।

इस प्रकार इन दोनों प्रकार के प्रमुख लक्षणों को पृथक करके मानव को सर्वांगीण रूप से समझा नहीं जा सकता। ये समस्त लक्षण उसकी शारीरिक व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक क्षमता को इंगित करते हैं जिसके आधार पर मनुष्य जाति का उत्तरोत्तर विकास सम्भव हो सका। ये लक्षण परस्पर अन्तक्रियायें करते हैं और अन्तर्सम्बन्धित है। इसलिये इनके एकीकृत स्वरूप के आधार पर मनुष्य जाति को समझा जा सकता है।

उदाहरणस्वरूप वर्तमान जटिल मानव समाज जो सम्पूर्ण विश्व में शीघ्रता से प्रसरित हो गया है, उसमें अपने समाज के विभिन्न सदस्यों के गतिविधियों की उत्तरोत्तर विशेषज्ञता से सरल उपकरण, जटिल एवं बड़े उपकरण, सरल व लघु मशीनें एवं जटिल एवं बड़ी मशीनें निर्मित की हैं। ये विशिष्टतायें जो आनुवंशिक नहीं हैं, मानव के लचीले एवं परिवर्तनशील व्यवहार से विकसित हुई हैं।जो किसी अन्य जीवों में घटित नहीं हो सकीं। ये विशिष्ट आधुनिक समाज की मशीनें एक उपकरण हैं जो मात्र तर्कशील एवं उपकरण निर्माता जीवों से उत्पन्न नहीं हो सकीं। ये अनुसंधान परिग्राही हाथ, एवं ऊर्ध्व-संस्थित के फलस्वरूप उत्पन्न

हो सके जो चतुष्पदगामी व्यवहार से उद्भूत नहीं हो सकते। प्रारम्भिक सांस्कृतिक अनुकूलन ने आधुनिक मशीनों को जन्म दिया जो मनुष्य के उत्कृष्ट मस्तिष्क एवं भाषा से सम्भव हो सका इससे मानव की कपालीय एवं दंत रचना में भी परिवर्तन हुआ ।

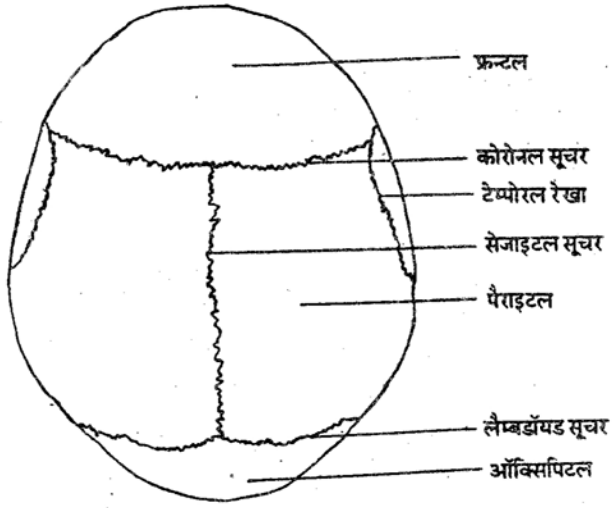
अतः इन लक्षणों को पुनः प्राथमिकता एवं विशिष्टता के आधार पर स्तरीकृत किया जाये तो यह मानव उद्विकास के कम से कम तीन प्रमुख परिवर्तनों को प्रकाशित करते हैं जिसके आधार पर मानव सहजतापूर्वक अन्य जीवो, प्राइमेटों से पृथक किया जा सकता है। ये हैं– **द्विपदगामिता,** उपकरण निर्माण



चित्र 7 : 51 मानव कपाल (पार्श्व दृश्य)

एवं, **भाषा**। इनमें एक शरीर रचनात्मक लक्षण है जिससे लगभग समस्त मानव की उद्विकासीय विशिष्टताएं अन्तर्संसम्बन्धित है। शेष दो सांस्कृतिक बिलक्षणतायें हैं जो अन्ततः जैविक लक्षण इस कारण से हैं क्योंकि दोनों जैविक अनुकूलन की संप्राप्ति एवं निरन्तरता के संसाधनों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

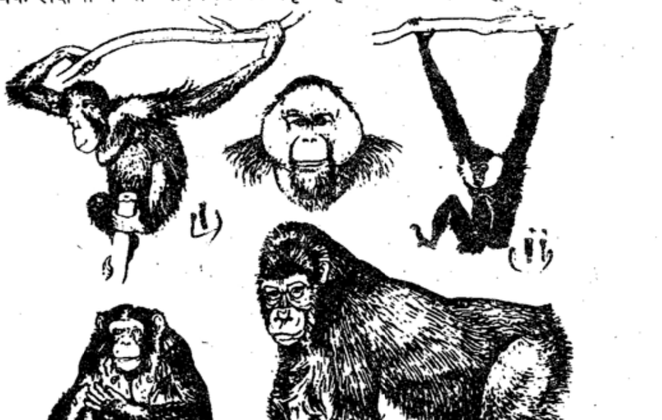
इनमें भाषा मात्र संचार का साधन ही नहीं है बल्कि यह विचार, स्मृति, अन्तविश्लेषण, अन्तःविश्लेषण, समस्या–समाधान और सभी मानसिक गतिविधियों के प्रमुख "प्रतीक–समूहों" की विशिष्टता एवं सामान्यता हमारी मानसिक गतिविधियों को एक विस्तृत क्षेत्र ही नहीं प्रदान करती है बल्कि एक लक्षण भी प्रदान करती है जो अन्य जीवों के क्षेत्रों से परे है। भाषा मनुष्य के अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं है बल्कि अनुकूलन का सशक्त संसाधन भी है। इसी से मनुष्य जाति अपने अतीत, वर्तमान एवं भविष्य का आंकलन सहजतापूर्वक कर सकने में सक्षम है जिसका अन्य जीवों में सर्वथा अभाव है।



चित्र 7 : 52 मानव कपाल (ऊपरी दृश्य)

परिगमन प्रारूप
(Locomotion Pattern)

कपियों एवं मनुष्यों के जैविक एवं व्यावहारिक लक्षणें के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त उल्लिखित लक्षणों में उद्विकासीय दृष्टिकोण से परिगमन (Locomotion) अत्यधिक महत्वपूर्ण है जिसके फलस्वरूप ही मनुष्य उपकरण निर्माण का हस्तकौशल (manipulation) प्राप्त कर सका और नवीन शारीरिक संरचनाएं रूपान्तरित हो सकी। इन हामिन्वायडों (कपिया एवं मानव) के प्राइमेटों के जैविक लक्षणों में भी परिगमन की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। दूसरे शब्दों में यदि हम कहें कि



चित्र 7 : 53 (i) ओरांगुटान बाहुगमन करता हुआ; बांयें एवं दांयें नर तथा मादा (ii) बाहुगमन करता हुआ गिब्बन (iii) संचलन करता हुआ चिम्पैंजी (iv) भूमि पर चलता हुआ गोरिल्ला।

परिगमन प्रत्येक जीव का विशिष्ट लक्षण है तो अतिश्योक्ति नहीं होगी क्योंकि गति (motion) जो जीवन का अविभाज्य लक्षण है, उसके फलस्वरूप कोई भी जीव 'गमन' (movement) करता है। गमन प्रायः स्थान से स्थान पर होता है। अतः यह जैविक लक्षण है जो जीवाणु से लेकर मनुष्य तक समस्त एक एवं बहुकोशिकीयों में अतुलनीय विविधता प्रदर्शित करता है।जैविक विविधता कशेरुकीयों, स्तनधारियों, यूथेरियनों, एवं प्राइमेटों में क्रमिक रूप से दृष्टिगोचर होती है क्योंकि ये जीव स्थान परिवर्तन (भ्रमण) में विभिन्न प्रकार की गति करते हैं जो अनके शारीरिक संरचना से परिलक्षित होती है। उद्विकास के दृष्टिकोण से यूथेरियनों के 'विचरण प्रारूप' अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक सुविकसित एवं विशिष्ट है जिसके आधार पर उन्हें स्तनधारियों से विलग किया जा सकता है और यूथेरियनों आर्डर–प्राइमेट को उनके अपेक्षाकृत भिन्न परिगमन प्रारूप के आधार पर विशिष्ट माना जाता है।इस प्रारूप से वे वातावरण अनुकूलन करने में अपने स्थलवासी प्रतिद्विंद्वियों से सफल हो सके थे।

हामिनिडों के विभेदन में परिगमन पारूप की भूमिका विशिष्ट रही है क्योंकि हमें मालूम है किं वर्तमान जीवित कपि चतुष्पदगमनक (quadrupedal) एवं वृक्ष बाहुगमनक (Brachiator) है जब कि मनुष्य पूर्णतः स्थलवासी द्विपदगामी (Bipedal) है।

जे.आर. नैपियर (1967) कंकालीय एवं अस्थीय जैव–क्रियाविधि (Biomechanism) के आधार पर प्राइमेट परिगमन–पारूप को चार वर्गों में विभक्त किया है जिनमें अग्रांगों (Forelimb) एवं पश्चांगों (Hind limb) की अन्तक्रियाओं को विशेष महत्व दिया गया है। ये चारों प्रारूप निम्नांकित हैं:

1. ऊर्ध्वरेखीय लिंपटना एवं कूदना (Vertical Clinging and Leaping)
2. चतुष्पदगामिता (Quadrupedalism)
3. बाहुगमन (Brachiation)
4. द्विपदगामिता Bipedalism)

1. ऊर्ध्वरेखीय लिपटना एवं कूदना– यह एक वृक्षीय जन्तुओं का परिगमन व्यवहार है। इसमें जन्तु वृक्ष की किसी शाखा से लिपट जाते हैं जिससे उनका शरीर ऊर्ध्व रेखा में स्थित हो जाता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिगमन तब प्रभावी होता है जब जन्तु एक शाखा से दूसरी शाखा पर ऊर्ध्व स्थिति में ही उछल अथवा कूदकर जाता है। उछल कूद में इन प्राइमेटों के अग्रांगों की कोई भूमिका नहीं रहती है। ऊर्ध्वरेखा में उछलने कूदने से प्रायः दो पैर (पश्चांग) का ही प्रयोग होता है। स्थल पर ऐसे प्राणी जब तेजी से चलते हैं फुदकते हुये प्रतीत होते हैं लेकिन मंथरगति से चलने पर अग्रांगों एवं पश्चांगों दोनों (चतुष्पदगामिता) का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार का परिगमन व्यवहार प्राइमेटों में अवही, गैलागो, हैपैलीमर, लेयीलीमर, प्रॉपीथिकस, टार्सियस एवं इन्ड्री इत्यादि जेनेरा प्रदर्शित होता हैं। नैपियर (1967) के अनुसार यह प्राइमेटों के परिगमन व्यवहार की मूलभूत प्रवृत्ति है।

2. चतुष्पदगामिता– इस प्रकार का परिगमन स्थल अथवा वृक्षों पर सम्पन्न होता है। इसके प्रमुख संघटक चारों पैरों से भ्रमण करना अथवा दौड़ना है। इसमें प्रायः धड़ (उपांगों एवं सिर के अतिरिक्त) क्षैतिजिक (Horizontal) होता है। नैपियर ने इसे 5 उप–वर्गों में विभक्त किया है ये है:

(i) मंथर गति से चढ़ना (Slow Climbing)– चतुष्पदगमन का यह प्रकार है जिसमें तीन अथवा चारों उपांगों का प्रयोग शाखा च ढ़ने एवं भ्रमण करने में किया जाता है। यह गमन सदैव मंद एवं सावधानीपूर्वक क्रिया जाता है। यह परिगमन व्यवहार अर्क्टोसिवस, लोरिस, निक्टीसिबस, पॉडिक्टिकस इत्यादि प्रासीमियन प्राइमेटों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है जो कभी भी शाखा पर उछलते–कूदते या दौ ड़ते नहीं हैं।

(ii) शाखा दौड़ एवं भ्रमण (Branch running and walking)– इस प्रकार की परिगमन विधि में जन्तु वृक्ष की शाखाओं पर चढ़ता, उछलता, कूदता, भ्रमण करता एवं दौड़ता है। इस व्यवहार में

चारों अग्रांगों का प्रयोग शारीरिक संतुलन में भी होता है। यह परिगमन ऑटस कैलीसिबस, सिबस, सर्कोपिथेकस, लीमर, टुपाया आदि प्रासीमियन प्राइमेटों में दृष्टिगोचर होता है।

(iii) **स्थल दौड़ एवं भ्रमण** (Ground running and walking)– यह सामान्यीकृत चतुषपदीय परिगमन है जिसमें जन्तु दौड़ने एवं भ्रमण करने में प्रायः उपांगों की परिग्राही क्षमता का उपयोग नहीं करता। ऐसे व्यवहार को प्रदर्शित करने वाले जन्तु प्रायः शाखाओं पर चढ़ते हैं और कभी–कभी शाखा भ्रमण भी करते हैं। यह परिगमन विधि मैकाक, मैन्ड्रिल, पैपियो, थीरोपिथेकस, इराइथ्रोसिबस आदि बानरों में दृष्टिगत होती है।

(iv) **नई दुनिया के बानरों का अर्धबाहुगमन** (New world Semibrachiation)– नैपियर (1968) के अनुसार यह वृक्षीय परिगमन की एक विशिष्ट विधि है जिसमें अग्रांग सिर के ऊपर खींचकर सिर को भी धड़ के सीध में रखते हुये एक शाखा से दूसरी शाखा पर झूलते हुये भ्रमण किया जाता है। इसमें अग्रांगों की सहायता हेतु पश्चांगों अथवा परिग्राही पूंछ का प्रायः प्रयोग किया जाता है। चतुष्पादगमन एवं दौड़ की आदत प्रायः इन प्राणियों में पायी जाती है। उछल–कूद सामान्य लक्षण नहीं है यह व्यवहार अलूटा, एटिलस, लागोथ्रिकस जेनेरा में दर्शनीय है।

(v) **पुरानी दुनिया के बानरों की अर्धबाहुगमन** (Old world Semibrachiation)– इस परिगमन विधि में बाहों के द्वारा झूलते हुए एवं कूदते हुये एक शाखा से दूसरी शाखा पर भ्रमण किया जाता है। यह विधि नई दुनिया की विधि से कूदने की प्रवृत्ति (Leaping behaviour) के आधार पर पृथक की गयी है। यह व्यवहार कालोवस, नेसेलस, रहीनोपिथेकस सीमियस आदि जेनेरा में सहजतापूर्वक दृष्टिगोचर होता है।

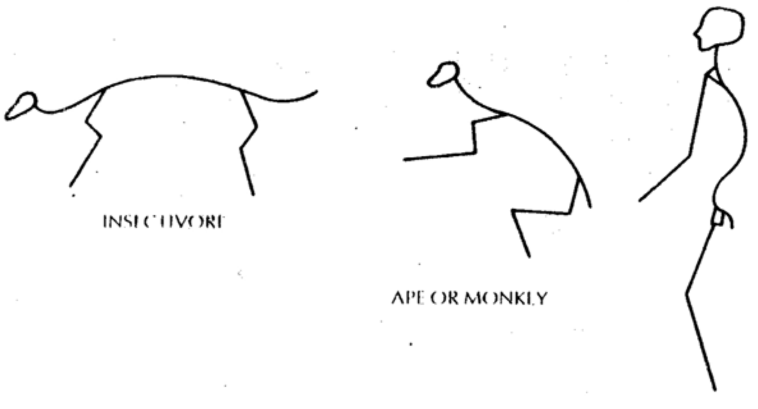
3. **बाहुगमन** (Brachiation)– यह परिगमन की विधि हामिन्वायडों के पांगिडी उपकुल में विशिष्टतया पायी जाती है जिसमें प्रमुख संघटक हाथों की सहायता से झूलने की प्रवृत्ति है। ऐसी क्रिया में सम्पूर्ण शरीर ऊपर की ओर विस्तीर्ण हो जाता है। इस प्रकार अपने शरीर को लटकाते हुये हाथों को हुक के समान एक के पश्चात दूसरा प्रयोग करते हुये एक शाखा से दूसरी शाखा पर सहजतापूर्वक भ्रमण किया जाता है। नैपियर (1968) के अनुसार बाहुगमन दो प्रकार का होता है।

(i) **वास्तविक बाहुगमन** (True Brachiation)– इस प्रकार की परिगमन विधि हाइलोवैट्स–गिब्बन एवं सिम्फैलांगस– सियामंग निम्न कपियों में पायी जाती है। इसमें अग्रांगों का सम्पूर्ण प्रयोग होता है जो सिर के ऊपर विस्तारित किए जाते हैं। इसके सम्पूर्ण प्रारूप में शाखों पर द्विपदगामिता एवं स्थूल भ्रमण चतुष्पदीय लक्षण से गमन करते हैं। समस्त बाहुगमन में गिब्बन एक चतुर प्राणी है।

(ii) **रूपान्तरित बाहुगमन** (Modified Brachiation)– यह परिगमन व्यवहार प्रायः गोरिल्ला, चिम्पैंजी, ओरांगुटान आदि में परिलक्षित होता है। इस विधि में चारों उपांगों की सहायता से अर्धऊर्ध्व संस्थिति में भ्रमण किया जाता है। ऐसी स्थिति में हामिन्वायड प्राणी अपने हाथों की मुड़ी हुई उंगलियों को पैर के घुटनों (गांठों) पर रखकर के सामान्यतया अपने शरीर को सहायता प्रदान करता है ।इस प्रकार परिगमन प्रक्रिया में अंगुलियां सर्वथा भीतर की ओर मुड़ी होती हैं। इस प्रकार का परिगमन व्यवहार जिसमें अंगुली की गांठों के बल पर प्रदर्शित होता है नैकल वाकिंग (Knuckle walking) भी कहते हैं। अफ्रीका के उच्चकपि इस प्रकार का परिगमन व्यवहार प्रदर्शित करते हैं। स्थल पर ये प्राणी चतुष्पदीय भ्रमण का व्यवहार दर्शाते हैं। टटिल (1969) ने रूपान्तरित बाहुगमन की परिगमन विधि के वर्गीकरण प्रासंगिकता पर संदेह व्यक्त किया है।

4. **द्विपदगामिता** (Bipedalism)– द्विपदगामिता सर्वोत्कृष्ट परिगमन व्यवहार है जो मात्र मुनष्यों में पाया जाता है। इस आसन में सम्पूर्ण शरीर भार पाश्चांगों के द्वारा वहन किया जाता है। अग्रांग यदा कदा शारीरिक संतुलन स्थापित करने में सहायक होते हैं। इसमें एड़ी–अंगूठे भूमि के समानान्तर रहते हैं।

द्विपदगामी शेषशवास्था (Infancy) के अतिरिक्त परिगमन व्यवहार में चारों उपांगों का प्रयोग कभी भी नहीं करता।

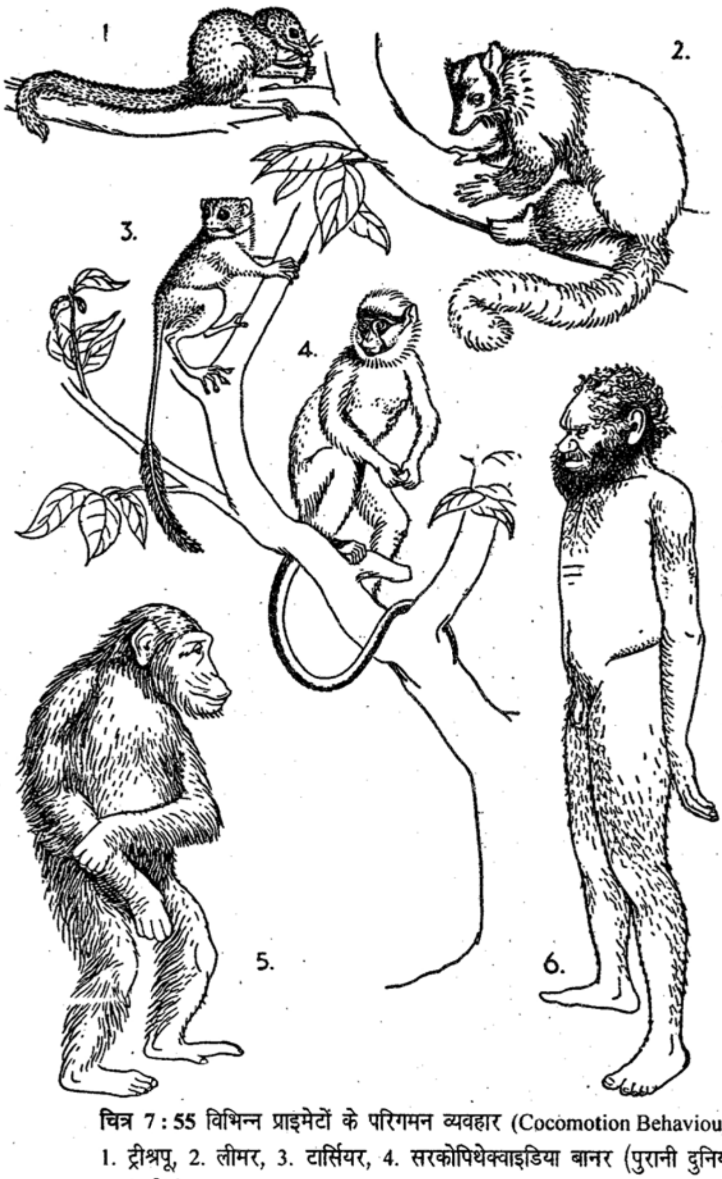


चित्र 7 : 54 परिगमनं प्रारूप (Cocomotion Pattern) में संमागत क्रमिक परिवर्तित अवस्थायें

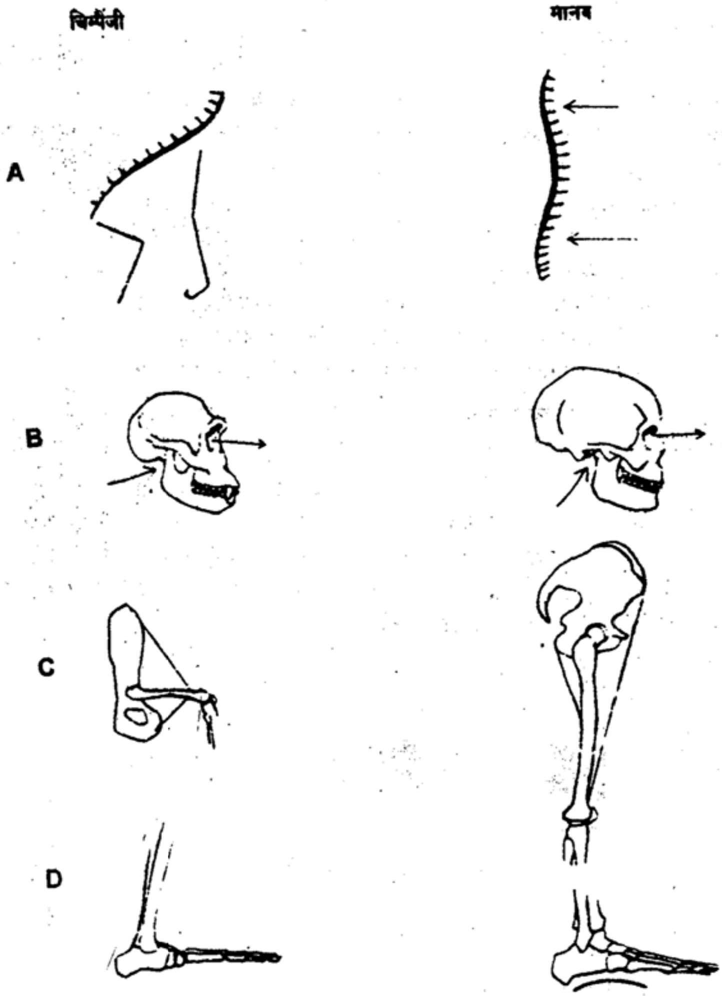
इस प्रकार सभी चारों परिगमन वर्ग क्रमशः एक दूसरे से सम्बन्धित हैं तथा अपने परवर्ती परिगमन व्यवहार से सादृश्यता अधिक रखते हैं। ऊर्ध्वरेखा में पेड़ की शाखाओं से लिपटने वाले प्राणी स्थल पर मंद गति से जब भ्रमण करते हैं तो चतुष्पदगामी होते हैं। चतुष्पदगामी अपनी भुजाओं को ऊपर की ओर फैलाने पर बाहुगामी व्यवहार प्रदर्शित कर सकता है। बाहुगामी जब स्थल पर होता है तो कुछ दूरी तक द्विपदगामी होता है। इस प्रकार नेपियर (1968) के अनुसार ऊर्ध्वरेखीय लिपटा चतुष्पदगमन–बाहुगमन–द्विपदगमन का क्रम परिगमन व्यवहार की सतत गतिविधि को प्रदर्शित करता है। नैपियर (1967) एवं वाकर (1967) के अनुसार कभी–कभी परिगमन व्यवहार विधि के वर्ग में जीवित प्राइमेट को रखना कठिन हो जाता है, उदाहरण के लिए 'लीम कैटा' स्पीसीज जो चतुष्पदगामी माना जाता है लेकिन क्षत्र अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि वह ऊर्ध्वरेखीय लिपटना एवं उछल–कूद की परिगमन विधि भी प्रदर्शित करता है। इरिक्सन (1963) ने इंगित किया है कि स्पाइडर एवं ऊनी वानर यद्यपि चतुष्पदीय हैं लेकिन अपनी भुजाओं से झूलते हुये भी चलते हैं। ऐश्टन (1965) के अनुसार नई दुनिया के बानरों के परिगमन विधि की स्थिति वाहुगमन एवं ऊर्ध्व वाहुगमन के मध्य की है। गिब्बन भूमि पर द्विपदगमन की स्थिति प्रदर्शित करता है।

द्विपदगमन की उत्पत्ति से सम्बन्धित दो परिकल्पनायें व्यक्त की जाती हैं। एक यह चतुष्पद गमन से उद्विकसित हुआ है, दूसरी यह बाहुगमन की प्रारम्भिक अवस्था से उद्विकसित हुआ है। अधिकांश विद्वान इसको पूर्ण बाहुगम की स्थिति से उद्विक़सित नहीं मानते हैं जैसा की कीथ (1923) विश्वास करते थे। नेपियर (1968) के अनुसार चतुष्पदगमन के उपवर्ग अर्ध बाहुगमन में दोनों (चतुष्पदगमन एवं बाहुगमन) व्यवहारों के मूल तत्वों का समावेश है। वैशवर्न (1950) के अनुसार स्पाइडर बानर बहुगमन भी करता है एवं चतुष्पद्गमन भी। अतः इस प्रकार का व्यवहार (चतुष्पदगमन एवं बाहुगमन क़ा मध्यवर्ती) यह इंगित करता है कि कपि सदृश परिगमन कैसे उत्पन्न हुआ ?

नैपियर (1968) पुनः अपनास प्रस्तुत करते हैं कि द्विपदगमन चाहे चतुष्पदगमन से उत्पन्न हुआ हो या बाहुगमन से यह महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि महत्वपूर्ण यह है कि दोनों– चतुष्पदगमन एवं बाहुगमन एक क्रमिक



चित्र 7 : 55 विभिन्न प्राइमेटों के परिगमन व्यवहार (Cocomotion Behaviour)
1. ट्रीश्रपू, 2. लीमर, 3. टार्सियर, 4. सरकोपिथेक्वाइडिया बानर (पुरानी दुनिया), 5. चिम्पैंजी, 6. मानव।



चित्र 7 : 56 द्विपदीयता के फलस्वरूप विकासित विभिन्न अंग (A) मेरुदण्ड, (B) मेरुदण्ड के ऊपर टिका कपाल और नेत्र कोटश की स्थिति (C) श्रोणि से जुड़ा उर्विका (D) पैर।

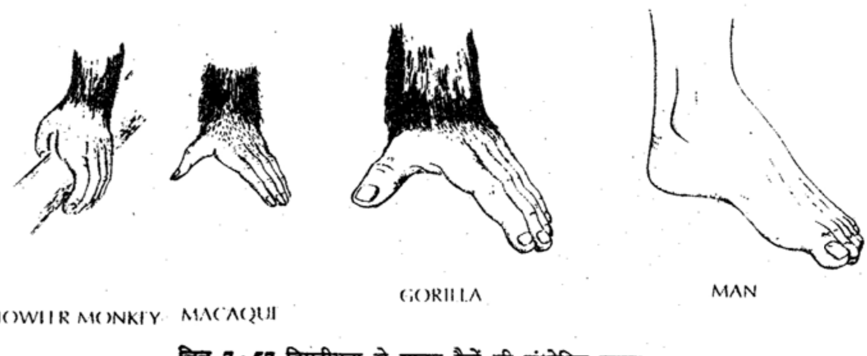
एवं सतत शरीर गठनात्मक एवं व्यावहारिक लक्षण प्रदर्शित करते हैं जो द्विपदगमन की ओर अग्रसरित हैं। वैशवर्न (1971) भी इनका समर्थन करते हुये द्विपदगमन की उत्पत्ति अंगुलियां मोड़कर चलने की प्रवृत्ति "नकलवार्किंग"(Knuckle Walking) से माना है।

ऊर्ध्व संस्थिति (Erect Posture)

द्विपदीय परिगमन व्यवहार से मानव का शरीर अधिकांशतया ऊर्ध्व रेखीय स्थिति में रहता है। फलस्वरूप उपांगों (appendages) में अग्रांग (Forelimb) उच्चांग (Upper–limb) एवं पश्चांग (Hind limb) निम्नांग (Lower limb) में रूपांतरित हो गये। सिर की स्थिति सर्वोच्च एवं एड़ी–अंगूठे की स्थिति निम्नतम हो गयी। ऐसी मानव संस्थिति से सम्पूर्ण शारीरिक भार का वहन करना पैरों का प्रमुख कार्य हो गया। इस परिवर्तित व्यवहार के अनुकूलन के फलस्वरूप पैरों की अस्थियों में महत्वपूर्ण रूपान्तरण हुए। पैरों में एड़ी सुविकसित हुई है। पैर की अस्थियां– टार्सल एवं मेटाटार्सल का सन्धि भाग अनुदेर्घ्य एवं अनुप्रस्थ (longitudinal and Transverse) पाद चाप के रूप में विकसित हुआ। पदांगुष्ठ पदांगुलियों की पंक्ति में खिसक आया जो अपनी पूर्ववर्ती अभिमुखता (opposability) से मुक्त हो गया। टार्सल एवं मेटाटार्सल की सन्धि स्वतन्त्र रूप से गतिशील नहीं है। टार्सल एवं फैलेंजियल सन्धि ऊपर एवं नीचे की ओर गतिशील होने की क्षमता रखते हैं। पदांगुष्ठ भार वाहन में प्रमुख भूमिका निर्वाह करता है। इसकी परिग्राही शक्ति का लोप हो गया है लेकिन सर्वाधिक यह शक्तिशाली एवं मोटे आकार का हो गया है। प्रथम एवं द्वितीय पदांगुष्ठ के मध्य अन्तराल अपघटित हुआ है। शेष समस्त पदांगुलियों का ह्रास हुआ है।

पाचवीं पदांगुलि का आकार सबसे लघु हो गया है। पैर की अक्षीय रेखा प्रथम एवं द्वितीय पदांगुष्ठ के मध्य में स्थित हो गयी है। पैर का अंतः एवं पार्श्व झुकाव एड़ी की अस्थि के सापेक्ष विकसित हुआ है।

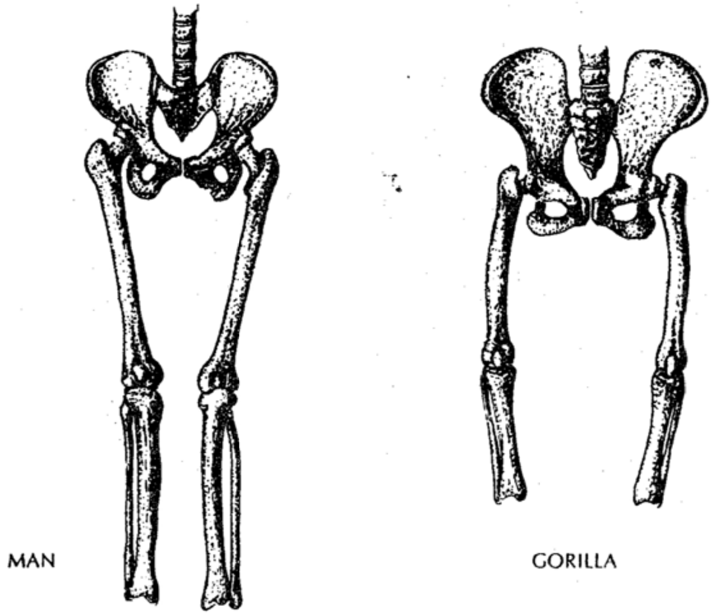
मानव पादों के समस्त अंगों की रचना में अभिवृद्धि अवश्य हुई है तथापि कपियों की तुलना में अस्थियों, पेशियों एवं स्नायु मण्डल में प्रकारीय भेद उत्पन्न नहीं हुआ है। शुल्ज (1968) के मतानुसार मानव के पैर भ्रूणावस्था में पुरानी दुनिया के बानर (मैकाक) के अधिक सदृश होते हैं जो उत्तरावस्थाओं में मानव सदृश हो जाते हैं। शैशवावस्था में पादतल की मोड़दार लकीरें गोरिल्ला उच्चकपि के समान होती है जो मानव के पूर्वज की परिग्राही क्षमता को इंगित करती है।



चित्र 7 : 57 द्विपदीयता से मानव पैरों की संशोधित रचना

निम्नांग (Lower limb) में टीविया अस्थि के आकार में परिवर्तन हुआ है क्योंकि प्रकार्यानुसार टीबिया शारीरिक भार को जंघास्थि–(फीमर) से पैरों तक हस्तांतरित करती है।अतः इसकी ऊपरी छोर पर एक चौड़ा, विस्तृत एवं समतल क्षेत्र विकसित हो गया है।अग्र किनारा (Anterior Border) अपेक्षाकृत ऊपर की ओर उभारयुक्त हो गया है।कपियों में (गोरिल्ला) ऊपरी शिरा पीछे की ओर मुडा हुआ है जिससे अविकसित अग्रभाग वाली टीनिया दृष्टिगोचर होती है।फीबुला अस्थि में कोई भी उल्लेखनीय

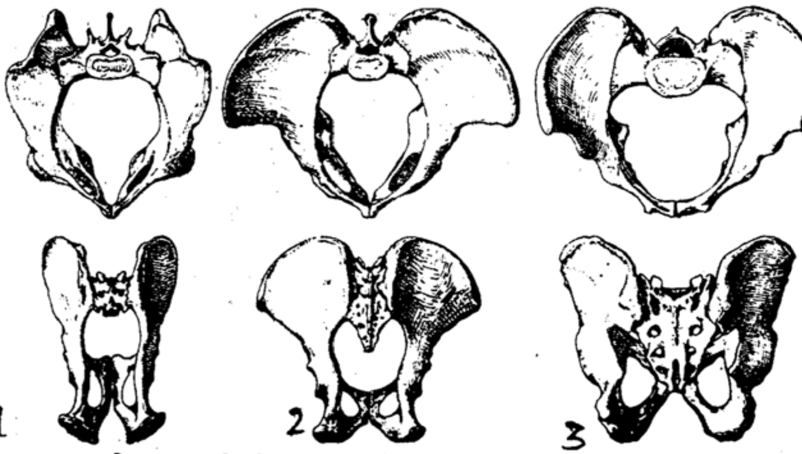
परिवर्तन नहीं हुआ तथापि इसका निम्न शिरा जो टीनिया एवं गुल्फसंधि (Ankle Joint) से संयुक्त होता है, वह भाग विकसित होकर के पैर की टेलस अस्थि से संयुक्त होने की सुविकसित प्रवृत्ति से युक्त हो गया है।



चित्र 7 : 58 द्विपदीयता एवं ऊर्ध्वसंस्थिति से निम्नांगों में आये परिवर्तन 1. मानव, 2. गोरिल्ला।

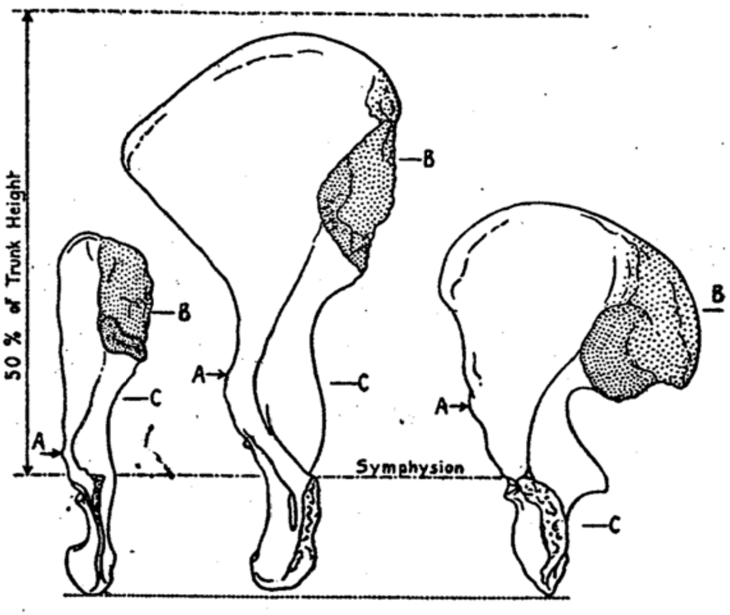
फीमर जो जांघ की अस्थि है वह मानव के शरी र की सबसे लम्बी अस्थि है।यह श्रोणिमेखला एवं पैटला अस्थि के मध्य में पायी जाती है। इसका सिर श्रोणिमेखला अस्थि के एसेटाबुलम से संयुक्त होता है। इसका आकार कपियों में भी मानव सदृश होता है लेकिन ऊर्ध्व संस्थित से इसकी संरचना में मूलभूत परिवर्त न आये हैं। मानव फीमर अपेक्षाकृत आगे की ओर झुकी– उन्नतोदर हो गयी है। इसके काण्ड (Shaft) की पश्चभाग में "लाइनिया एस्पेरा" विकसित हो गया है जो अन्य प्राइमेटों में नहीं पाया जाता। लाइनिया फीमर काण्ड क पश्चभाग में एक विकसित धारदार रेखा है, जो पिलास्टर रिज (Pilaster Ridge) से विनिर्मित होती है। पिलास्टर पश्चभाग में विकसित कटक है। लाइनिया एस्पेरा काण्ड निचले छोर में दो शाखाओं शाखाओं में विभक्त होकर के, एक पाप्लीटियल सतह (Popliteal Surface) का निर्माण करता है। मध्य कण्डाइल बाहरी कण्डाइल की अपेक्षा अधिक समानान्तर एवं सदृढ हो गयी है। अस्थि ग्रीवा एवं अस्थकण्ड के मध्य एक झुकाव का कोण (Angle of linclination) है जो कपियों की अपेक्षा अधिक है। जुडने वाला अस्थि सिर अपेक्षाकृत बड़ा हो गया है एवं ग्रीवा लम्बी हो गयी है।

परिचलन व्यवहारका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानव की श्रोणिमेखला से है जिसमें आकारीय भेद उत्पन्न हुए हैं। मनुष्यों में ऊर्ध्व संस्थिति परिगमन से शरीर का भार सैक्रो–इलियक संधि, इलियम एवं मेखला सन्धि (Hip Joint) के द्वारा फीमर को हस्तान्तरित किया जाता है।



चित्र 7 : 59 द्विपदीयता तथा ऊर्ध्वसंस्थिति से श्रोणि मेखला में आये परिवर्तन 1. मैकाक, 2. गोरिल्ला, 3. मानव।

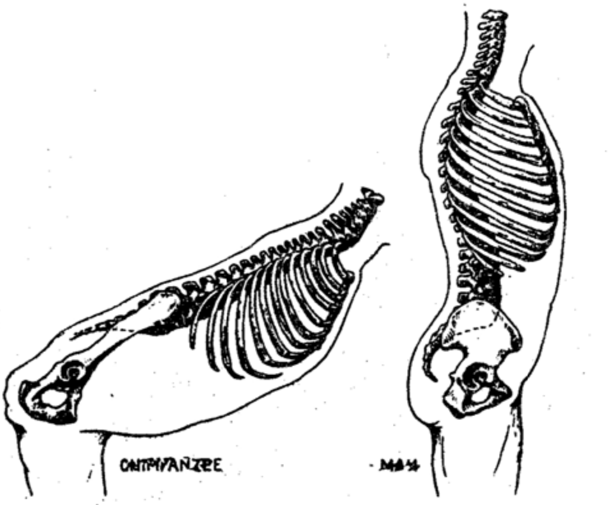
ये तीनो कपियों से भिन्न मानवों में लम्बवत पाये जाते हैं इससे इलियम का आकार अपेक्षाकृत लघु एवं सुदृढ़ हो गया है। पेलविस भी अन्य प्राइमेटों की तुलना में भिन्न हो गयी है। मानवेतर प्राइमेटों में सैक्रम



चित्र 7 : 60 मैकाक, गोरिल्ला एवं मानव की श्रोणि मेखला

सदैव प्यूविक सिम्फाइनिस (Pubic Symphysis) के ऊपर स्थिति होती थी लेकिन मानवों में नीचे की ओर खिसककर के सिम्फाइसिस के पीछे हो गयी है। श्रोणिमेखला का भीतरी गुहा का क्षैतिज व्यास बढ़ गया है। पेलविस एवं इश्चियम के आकार प्राइमेटों की अपेक्षा बड़े हैं जो ऊर्ध्व संस्थिति के अनुकूलन के परिणाम हैं। इश्चियैम की पश्च गांठ (Tuberoity) अपेक्षाकृत अपघटित हुई है।

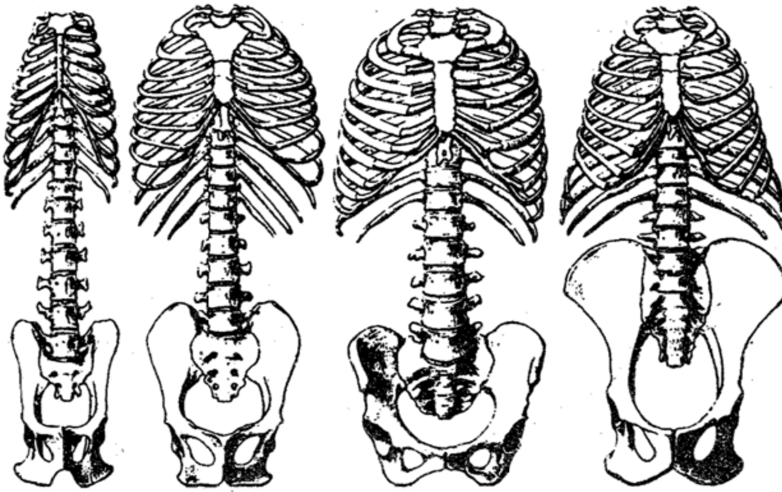
ऊर्ध्व संस्थिति के अनुकूलन से मानव की कशेरुक दण्ड में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। मानव में कुल 33 कशेरुकायें के हैं। सैक्रम एवं कपाल के मध्य तीन प्रकार की कशेरुकायें सरवाइकल, थोरैसिस एवं लम्बर पायी जाती हैं जो कुल 24 होती हैं। प्रत्येक में एक स्पाइन दो अनुप्रस्थ प्रवर्ध एवं तीन छोटे लीवर होते हैं। सभी कशेरुकायें एक एक करके इस प्रकार जुड़ती हैं कि लम्बी नालिका "स्पाइनल कॉलम" बनाती है।जिनसे होकर मस्तिष्क का निम् भाग मेरु रज्जु (Spinal Chord) गुजरता है। सभी कशेरुकाओं के मध्य कुछ न कुछ गति सम्भव है उनमें लम्बर क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा एवं शक्तिशाली है। मानव कशेरुक दण्ड में चार वक्र (Curve) पाये जाते हैं। सरवाकल (ग्रीवा) एवं लम्बर (उदर) क्षेत्र में यह वक्र सामने से उत्तल (Convex) एवं पश्च भाग से नतोदर (concave) होते हैं। शेष दो क्षेत्रों थोरैसिस (वक्ष) एवं पेलविक (कटि) क्षेत्र में अग्रभाग से (anteriorarpeat) से अवतल (concave) एवं पश्चभाग से उत्तल (Convex) होता है। उसे S आकार वक्र भी कहते हैं। कशेरुक दण्ड के यह उत्तल वक्र शरीर के प्राकृतिक आकार के अनुरूप होते हैं क्योंकि य इन क्षेत्रों में आन्तरिक अंगों जैसे– फेफड़े अथवा यकृत एवं पाचन तन्त्र के अंग आदि को समाहित करते हैं। इन वक्रों को मुख्यतः दो प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है– प्राथमिक वक्र (Primary Curvatures) जो भ्रूणीय विकास की अवस्था में भी पाये जाते हैं, एवं द्वितीयक वक्र (Secondary Curvatures) जो जन्म के पश्चात पाये जाते हैं। इनमें थोरैसिस एवं पेलविक प्राथमिक वक्र एवं, सरवाइकल एवं लम्बर द्वितीयक वक्र कहलाते हैं। अन्य बाहुगमनक एवं चतुष्पदीय प्राणियों में ये समस्त वक्र नहीं पाये जाते।



चित्र 7 : 61 कशेरुक दण्ड का वक्र एवं द्विपदीयता।

वक्षस्थल अपने पार्श्व भाग में अधिक विकसित हुआ है।यह अग्र एवं पश्च भाग में कुछ सपाट हो गया है ।इसलिये सामने से अवलोकन करने पर यह पीछेसे आगे की ओर चपटा प्रतीत होता है। इसके पार्श्व भाग अर्धवृत्ताकार दृष्टिगत होते हैं। पसलियों की संख्या अपघटित हो गयी है। ये मात्र 12 जोड़ी है जो पीछे की ओर वक्ष कशेरुकाओं से एवं आगे की ओर स्टर्नम से संयुक्त होती है। स्टर्नम (Sternum) के सबसे ऊपरभाग मैन्यूब्रियम स्टर्नी (Manubrium Sterni) के पार्श्व किनारों पर दोनों ओर जत्रुक अस्थि (Clavicle) संयुक्त होती है। यह अस्थि मानव में S आकार की होती है। इसका

बाहरी शिरा स्कैपुला के एक्रोमियन प्रबंध से संयुक्तहोता है। सिर, वक्ष एवं उच्च भुजा की मांसपेशियां क्लेविकल से संयुक्त होती है, जिसके कारण इस भाग पर अनेक प्रकार की गतियां सम्भव हैं। यह कपियों के समान ही स्थित होती है।



चित्र 7 : 62 बदलते परिगमन व्यवहार के फलस्वरूप परिवर्तित वक्षस्थल एवं अक्षीय कंकाल (Trunk) 1. मैकाक, 2. गिब्बन, 3. मानव, 4. चिम्पैंजी।

स्कैपुला में भी ऊर्ध्व संस्थिति के कारण परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। इसका त्रिभुजागार आधार ऊपर की ओर उन्मुख होता है। यह पार्श्व में स्थित न होकरके पश्च एवं पार्श्व में खिसक गई है। इस अस्थि की पश्च सतह में स्पाइ प्रवर्ध ऊपर की ओर अग्रसरित हो गया है। स्पाइन की ऊपरी दवी हुई सतह संकीण हो गयी है। अन्तः कटि रेखा (medial Border) ऊर्ध्वरेखीयहो गयी है। इस प्रकार श्वासोच्छवास से स्म्बद्ध अंश जैसे- पसलियों, कशेरुकायें, स्टर्नम, वक्ष गुहा की मांसपेशियां, कशेरुक रज्जु, एवं दण्ड, डायफ्राम, हृदय एवं फेफड़े आदि में अन्तर्सम्बन्धित एवं अनुकूलनशील परितवर्तन हुये हैं।

ऊर्ध्व संस्थिति में परिगमन के कारण मानव में कशेरुक दण्ड के ठीक ऊपर कपाल स्थिति हो गया है। ग्रीवा की सर्वोच्च कशेरुक अस्थि एटलस लगभग वृत्ताकार हो गयी है जिसके ऊपर कपाल की आक्सिपिटल कण्डाइल संयुक्त होती है। मेरुरज्ज नीचे स्थित कपालक महारन्ध्र से होकर गुजरता है। परिणामस्वरूप कपाल में महारन्ध्र निम्नतल केन्द्र में स्थित हो गया है। ग्रीवा का पश्चभाग एवं पश्चकपाल का अस्थि-आक्सिपिटल के ऊपर मांसपेशी अत्यधिक सुदृढ़ एवं शक्तिशाली हो गयी है जिनकी गतिशीलता के फलस्वरूप पश्चकपाल अस्थि में तीन रेखायें- न्यूखल रेखायें, स्पष्ट हो गयी हैं। कपाल के पार्श्व में टेम्पोरल रेखायें अपेक्षाकृत सुस्पष्ट हो गयी हैं। मुखमण्डल में भी रूपान्तरण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। थूथन(Snout) का ह्रास प्राइमेटों का विशिष्ट लक्षण है लेकिन ऊर्ध्व संस्थिति के फलस्वरूप यह लक्षण विलुप्त हो गया है। आनन मण्डल में नासिका स्थल पुनः पीछे की ओर पश्चसरित होने से इसका आकार

छोटा हो गया है। अधो एवं उच्च हनु (Upper and lower Jaw) के आकार में ह्रास हुआ है। चिवुक का विकास हुआ है जो नीचे की ओर उभरी है इसका प्रभाव दंत चाप पर भी पड़ा है। दांतों में कृतंक एवं रदनक लघु आकार के हो गये हैं। इस प्रकार आननमण्डली लक्षणों के रूपान्तरित होने के परिणामस्वरूप यह अपेक्षाकृत सपाट हो गया है।

(हल्स, 1971)

***

8

मानव एवं कपि : तुलनात्मक शरीररचना

मानव एवं कपि की तुलनात्मक शरीररचना
(Comparative Anatomy of Man and Ape)

आज हॉमिन्वायड उच्च कुल के सदस्य–कपि एवं मानव के उल्लेख से हमें यह ज्ञात होता है कि ये सदस्य परस्पर शारीरिक सादृश्यता ही नहीं बल्कि व्यावहारिक साम्य भी प्रदर्शित करते है।अस्थीय एवं शारीरिक समानता के आधार पर डार्विन के समकालीन टी. एच. हक्सले ने यह धारणा एक शताब्दी पूर्वव्यक्त की थी।वह कतिपय संशोधनों के उपरान्त लगभग वर्तमान शताब्दी के 70 के दशक में समस्त वैज्ञानिकों की आम धारणा में विकसित हो सकी है।हक्सले के इस मत को प्रकृति वैज्ञानिक, प्राणिशास्त्री एवं मानववैज्ञानिक इस कारण से स्वीकृति नहीं दे पा रहे थे क्योंकि हामिन्वायडों– कपियों एवं मानव के मध्य शक्तिशाली भिन्नता की दीवार जो खड़ी थी।दूसरे शब्दों में मानव एवं कपियों के मध्य विषमतायें समानताओं की अपेक्षा अधिकांश थी जो उदविकास की तस्वीर को स्पष्ट नहीं होने देती थी। यह तभी सम्भव हो सका जब हमारा तुलनात्मक दृष्टिकोण अस्थिमितीय अध्ययनों से ऊपर उठकर अधिक व्यापक हुआ और शरीर रचनात्मक अध्ययनों का भी शुभारम्भ हुआ। जब इन शरीररचनात्मक अध्ययनों के आधार पर मानव के (प्राइमेट) से व्यापक तुलना की गयी तो अचम्भित कर देने वाले साक्ष्य प्राप्त हुए। कालान्तर में यही अध्ययन जैव रासायनिक, व्यवहार वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, चिकित्सा वैज्ञानिक, भ्रूण वैज्ञानिक आदि अध्ययनों को ठोस पृष्ठभूमि प्रदान करने में सफल रहें जिसके आधार पर आज हम मानते हैं कि चार लाख वर्ष पूर्व मानव एवं कपि (चिम्पैंजी) के पूर्वज एक थे। अतः मानव एवं कपियों की एक पूर्वजता को प्रमाणित करने में तुलनात्मक शरीररचनाविज्ञान की भूमिका महत्वपूर्ण एवं अकाट्य है। इसका महत्व तब और होता है जब यह जीवित होमिन्वायडों (कपि एवं मानव) के अतिरिक्त जीवाश्म अवशेष के अध्ययनों में भी उपयोगी होती है, जो विगत अध्ययनों से स्पष्ट होता है।

इस प्रकार हामिनिडों की तुलनात्मक शरीररचना का उल्लेख किये बिना हामिन्वायड–प्रतिरूप को नहीं समझा जा सकता। यद्यपि इसके पूर्व किये गये आधुनिक हानिन्वायडों के वर्णन का आधार शरीर रचनात्मक एवं व्यवहार वैज्ञानिक तथ्य थे, तथापि शरीर रचनात्मक लक्षणों की विस्तृत विवेचना नहीं की जा सकी। अतः यहाँ पर होमिन्वायड के समग्र प्रतिरूप को समझने के उद्देश्य से शरीर रचनात्मक तथ्यों का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

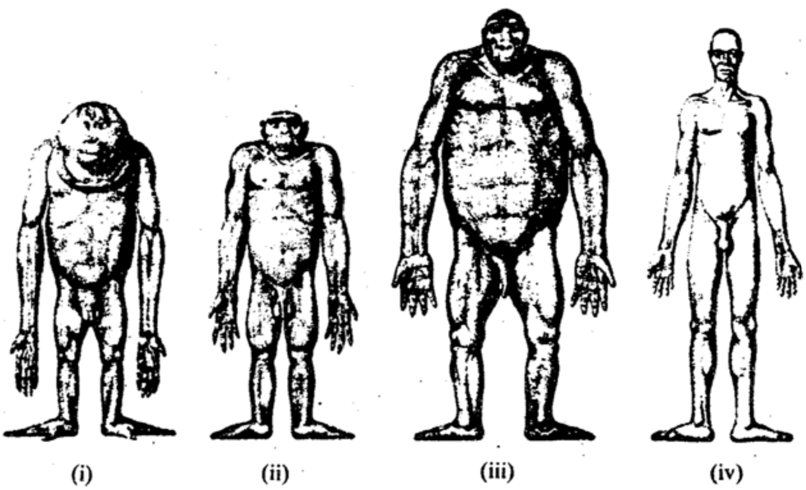
शरीरिक आकार

जैसा कि हम जानते हैं कि आधुनिक होमिन्वायडों के अन्तर्गत मानव के अतिरिक्त कपि जैसे– चिम्पैंजी, गोरिल्ला, ओरागुंटान (उच्च कपि), एवं सियामंग तथा गिब्बन (निम्न कपि) सम्मलित किये जाते है। इन समस्त सदस्यों में गोरिल्ला के शरीर का आकार सर्वाधिक विराट (लगभग 6 फिट से लेकर 9 फिट तक) होता है तथा गिब्बन का शरीर अति लघु लगभग 3 फिट का होता है।

मानव, चिम्पैंजी, ओरांगुटान एवं सियामंग का आकार मध्यवर्ती होता है। मानव का औसत आकार 5 फिट है जो अधिक से अधिक 6 एवं 7 फिट के मध्य होता है। मानव के शरीर का भार लगभग 65 किग्रा० (नर) का होता है जब कि गोरिल्ला (नर) का औसत भार 200 किग्रा० होता है। शरीर के आकार एवं भार का तुलनात्मक विवरण निम्नतालिका में दर्शाया जा रहा है–

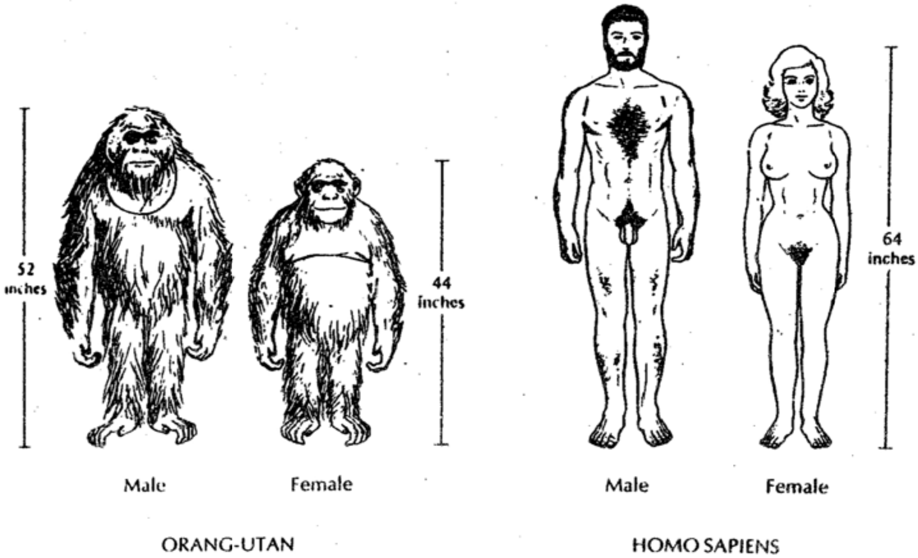
हामिन्वायड	कद (नर एवं मादा का औसत)	नर भार	मादा भार पुरुष के प्रतिशत में
मानव	5.6 फिट	65 किग्रा०	81%
चिम्पैंजी	5 फिट	48 किग्रा०	88%
गोरिल्ला	6.6 फिट	175 किग्रा०	48%
ओरांगुटान	4.6 फिट	75 किग्रा०	49%
सियामंग	4.01 फिट	11.1 किग्रा०	92%
गिब्बन	3 फिट	5.7–6.2 किग्रा०	97%

(From– Schultz 1968)



चित्र 8 : 63 विभिन्न हामिन्वायडों के आनुपातिक कद एवं शरीर के अंग (i) ओरांग-उटान, (ii) चिम्पैंजी, (iii) गोरिल्ला, (iv) मानव।

उक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि गोरिल्ला जितना अधिक विराटकाय हामिन्वायड है उतना ही अधिक मात्रा में लैंगिक भेद (Sexual dimorphism) प्रदर्शित करता है। सबसे कम लैंगिक भेद गिब्बन प्रदर्शित करता है क्योंकि मादा गिब्बन के शरीर का आकार लगभग नर गिब्बन के समान होता है। मादा गिब्बन का भार नर की तुलना में कम से कम 93% और अधिक से अधिक 105% होता है। यह आनुपातिक लक्षण मानव एवं चिम्पैंजी की शारीरिक समानता को इंगित करता है।



चित्र 8 : 64 मानव एवं ओरांगगुटान में स्त्री-पुरुष भेद (Bisexual dimorphism)

शरीर रचनात्मक अनुपातों पर यदि विचार किया जाय तो वे समस्त अनुपात, जो कपियों एवं मानव शरीर की विभिन्न मापों को उनके शारीरिक कद के आकार पर आंकलित किए गये है, पर्याप्त विविधता दर्शाते है। शुल्ज (1927) मानव की कपि एवं मैकाक (पुरानी दुनिया के बंदर) से जब इन शारीरिक अनुपातों के आधार पर तुलना की तो उन्हें मानव मैकाक की अपेक्षा कपियों के अधिक सादृश्य प्रतीत हुए। शुल्क (1968) द्वारा प्राप्त किये गये शरीर रचनात्मक आंकडों को निम्नलिखित तालिका में दर्शाया जा रहा है–

A	शारीरिक तना (Trunk) की लम्बाई का सम्बन्ध से आंकलित अनुपात	(25) मानव	(30) चिम्पैंजी	(5) गोरिल्ला	(13) ओरांग	(9) सियामंग	(80) गिब्बन	(28) मैकाक
1.	**वक्ष परिधि**	160	**165**	217	187	170	152	**104**
2.	**स्कन्ध चौड़ाई**	65	57	70	62	52	53	34
3.	**श्रोणि मेखला चौड़ाई**	61	52	**66**	50	47	43	34

4.	निम्नांग लम्बाई	169	**127**	124	116	134	148	100
5.	उच्चांग लम्बाई	148	**172**	172	200	233	243	113
6.	पाद लम्बाई	48	50	**47**	62	52	52	44
7.	हस्त लम्बाई	37	49	**40**	53	51	59	29
8.	अंगूठे की लम्बाई	25	**23**	22	23	28	31	16
9.	सिर का आकार	30	26	**29**	26	26	26	21
10.	सम्पूर्ण आनन ऊँचाई	24	27	28	30	**23**	19	21
B								
1.	वक्ष चौड़ाई : गहराई		**127**	138	126	125	117	88
2.	उच्चांग : निम्नांग ल.	88	136	138	172	178	165	112
3.	उच्चानन लम्बाई : सिर आकार	50	77	72	86	62	**52**	74
4.	आनुपातिक कर्ण पल्लव आकार	5	**17**	**4**	3	8	13	14



चित्र 8 : 65 प्रौढ़ होमिन्वायडों के हाथों की सापेक्ष लम्बाई (शुल्ज 1965)

उक्त तालिका में शारीरिक तना अथवा धड़ की लम्बाई के अनुपात में मानव की लगभग दस विभिन्न शारीरिक मापों की तुलना उच्च कपि (चिम्पैंजी, गोरिल्ला, ओरांगुटान), निम्न कपि (सियामंग, गध्बन) एवं पुरानी दुनिया के बन्दर (मैकाक) के मापों से की गयी है। ये समानुपातिक लक्षण यह दर्शाते है कि मानव की वक्ष परिधि चिम्पैंजी के अधिक समतुल्य है। शेष उच्च कपि (गोरिल्ला एवं ओरांग) निम्न कपियों (सियामंग, गिब्बन) की अपेक्षा मानव के अधिक समान नहीं है। उच्च कपि एवं निम्न कपि दोनों मैकाक की अपेक्षा मानवसम अधिक है।यह लक्षण धड़ की लम्बाई की अपेक्षा सबसे अधिक गोरिल्ला कपियों में दृष्टिगोचर होती है। मानवों में वक्ष की चौड़ाई इसकी गहराई की अपेक्षा अधिक होती है। कपियों के अतिरिक्त वानर (मैकाक) में नहीं पाया जाता है। कपियों में चिम्पैजी वक्ष की चौड़ाई एवं लम्बाई सापेक्षतया मानव के अधिक सदृश है।

मानव की स्कन्ध चौड़ाई (Shoulder Breadth) चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला की तुलना में ओरांगुटान के अधिक समकक्ष है। मैकाक बानर की अपेक्षा निम्न कपि के कन्धे अथवा स्कन्ध (Shoulder) मानवतुल्य अधिक है। इस प्रकार हामिन्वायडों में गोरिल्ला के कन्धे सर्वाधिक चौड़े (मानव से भी अधिक) है। लेकिन धड़ की तुलना में मानव के कन्धे अधिक सन्तुलित है जो ग्रीवा को ऊपर की ओर प्रसारित होने में सहायक होते है।जत्रुक अस्थि जो स्कन्ध अस्थि से संयुक्त होती है वह क्षैतिज रेखा में होती है जिससे केवल मानव ग्रीवा में ही ऊपर की ओर प्रसारसम्भव होता है।

(शुल्ज, 1926)

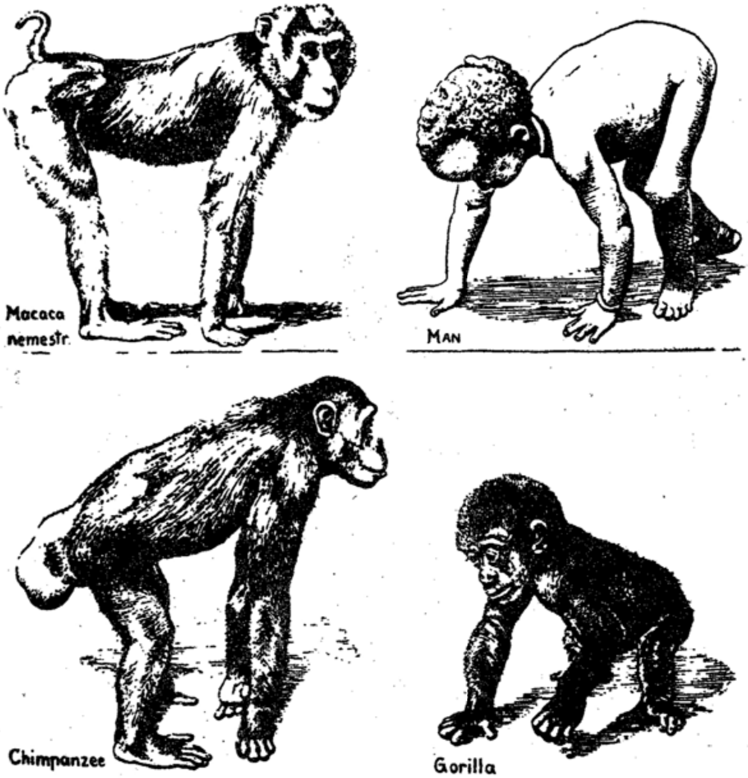
श्रोणि मेखला की चौड़ाई (Hip Breadth) यह इंगित करती है कि गोरिल्ला चिम्पैंजी की अपेक्षा अधिक मानवसम है। निम्न एवं उच्च दोनों कपियों का श्रोणि प्रदेश अपेक्षाकृत मानवसम है। मैकाक की श्रोणि धड़ की अपेक्षा अधिक संकीर्ण है, जो मानव के समकक्ष नहीं है। गोरिल्ला का श्रोणि प्रदेश मानव से अधिक चौड़ा है।

मानव के निम्नांग (Lower limb) उच्चांग (Upper limb) की अपेक्षा अधिक लम्बे है जो विशेषता अन्य प्राइमेटों में नहीं पायी जाती। इस अनुपात में मैकाक कपियों की अपेक्षा मानव के अधिक निकटस्थ है तथापि उसके निम्नांग एवं उच्चांग की लम्बाई धड़ की लम्बाई की तुलना में मानव की भाँति नहीं है। कपियों में चिम्पैंजी के निम्नांग एवं उच्चांगों के समानुपाती लक्षण मानव की भाँति है तथापि ये अल्पांश में विविधता प्रदर्शित करते है।हामिन्वायडों में सियामंग के निम्नांग उच्चांग की अपेक्षा छोटे होते है।मनुष्यों में धड़ की लम्बाई निम्नांग की अपेक्षा देढ़ गुने से भी अधिक (169%) होते है। चिम्पैंजी ओरांग एवं गिब्बन में यह अनुपात लगभग सबा एक गुना से अधिक पाया जाता है।गिब्बन में उच्चांग धड़ की तुलना में ढाई गुने (243%), सियामंग में सवा दो गुने (233%), ओरांगुटान में दो गुने (200%) एवं उच्च कपि चिम्पैंजी व गोरिल्ला में देढ़ गुने से अधिक (172% दोनों में) अवलोकित किये गये है।

(शुल्ज, 1968)

पैरों की लम्बाई धड़ की लम्बाई की तुलना में मनुष्यों में लगभग आधी (48%) अवलोकित की गयी है। इस लक्षण के आधार पर अन्य कपियों एवं वानरों की अपेक्षा क्रमशः गोरिल्ला एवं चिम्पैंजी मानव के निकटस्थ प्रेक्षित किये गये हैं। यह स्मरणीय है कि हामिन्वायडों में ओरांगुटान के पैरों की लम्बाई सबसे अधिक दृष्टिगत की गयी है।

सापेक्षतया मनुष्यों में लघु आकार के हाथ प्राप्त किए गये है जो धड़ की लम्बाई की अपेक्षा लगभग एक तिहाई (37%) हैं। उच्चकपियों में यह समानुपातिक आंकलन आधा या आधे से अधिक (गोरिल्ला के अतिरिक्त) अवलोकित किया गया है। गोरिल्ला के हाथों की लम्बाई धड़ की तुलना में मानव से अधिक है तथापि यह अन्य कपियों की अपेक्षा मनुष्यों के अधिक सदृश है। हस्तांगुष्ठ मनुष्यों में सर्वाधिक पुष्ठ होता



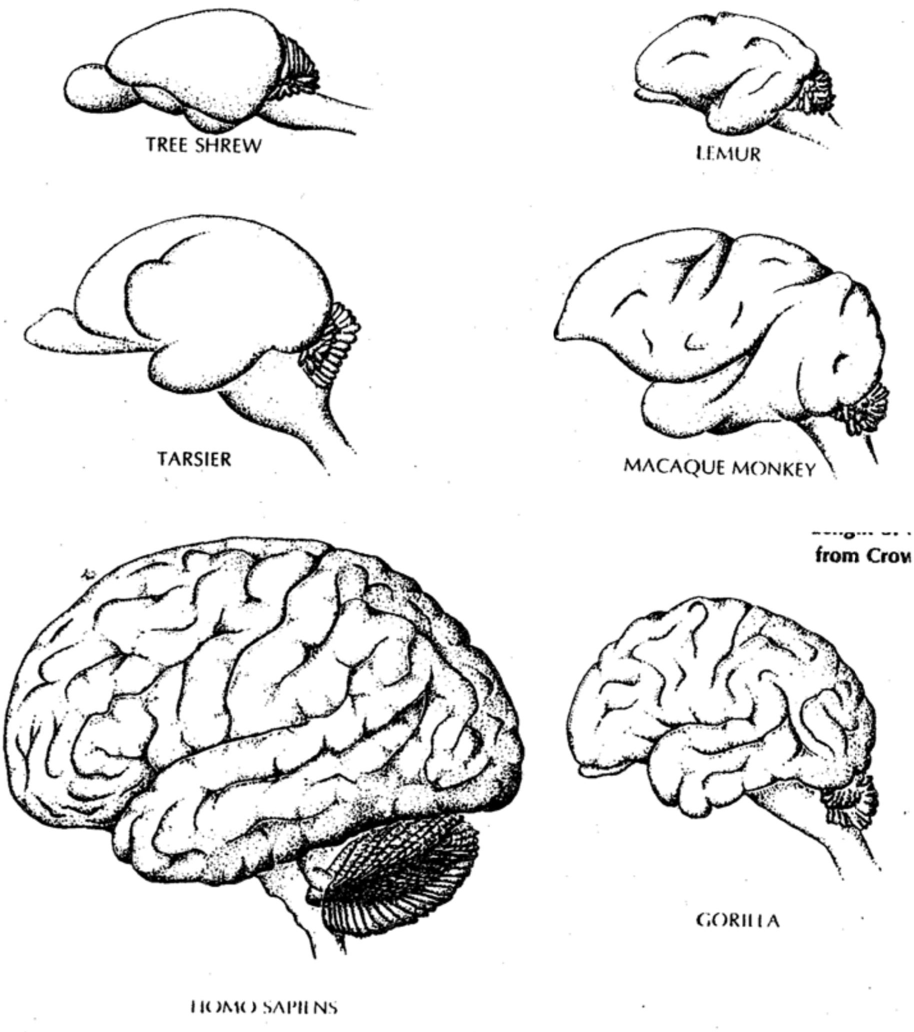
चित्र 8 : 66 अग्रांग एवं निम्नांग (पश्चांग) का सापेक्षिक स्वरूप

है उसका आकार धड़ की तुलना में एक चौथाई है। कपियों में मात्र चिम्पैंजी के अंगूठे का आकार मानव के अधिक समान है। हामिन्वायडों में सापेक्षतया सबसे अधिक लम्बा अँगूठा गिब्बन का है।

इस प्रकार लम्बे उच्चांग अथवा अग्रांग (Forelimb) जो कपियों का विशिष्ट लक्षण है इनके कुशल वाहुगमनक लक्षण की ओर इंगित करते है। साथ ही साथ उच्च कपियों में अग्रांग छोटे होने की प्रवृत्ति इनके नकल भ्रमण (Knouckle Walking) की ओर इंगित करती है। मानव में अग्रांग छोटे एवं निम्नांग बड़े व प्रबल होने की प्रवृत्ति उसके द्विपद्गामी व्यवहार से सम्बद्ध है।

सिर के आकार की रचनात्मक तुलना करने हेतु शुल्ट्ज (1968) ने सिर की लम्बाई, चौड़ाई एवं मस्तिष्क की ऊँचाई के मापों को आधार माना है। उन्होंने जब इसके समानुपातिक योग की तुलना धड़ की लम्बाई से किया (लम्बाई + चौड़ाई + मस्तिष्क की ऊँचाई/3) तो धड़ की अपेक्षा सिर का आकार मनुष्यों में लगभग एक तिहाई (30%) आंकलित किया गया है। गोरिल्ला के सिर का आकार छोटा है, तथापि यह मनुष्यों के अधिक सदृश (एक तिहाई से अधिक 29%) है। अन्य उच्च एवं निम्न कपियों के सिर का आकार मैकाक की अपेक्षा अधिक दीर्घ है और मानव सम है।

कपि (Apes) वानरों की अपेक्षा दीर्घ आकार वाला मस्तिष्क रखते है। मिखाइल बूरर के अनुसार गिब्बन के मस्तिष्क का औसत आकार 100 घन सेमी॰, ओरांगुटान का 375 घन सेमी॰, चिम्पैंजी का 365 घन सेमी॰, गोरिल्ला का 490 घन सेमी॰ तथा मानव का 1390 घन सेमी॰ है। इससे यह स्पष्ट होता है गोरिल्ला



चित्र 8 : 67 उच्चस्तनियों का तुलनात्मक मस्तिष्कः प्रत्येक सदस्यों के मस्तिष्क का आकार उनकी शारीरिक ऊँचाई के अनुपात में निर्मित किया गया है

मानव के अधिक निकटस्थ है। लेकिन जब इन हामिन्वायडों का बुद्धि परीक्षण किया गया तो चिम्पैंजी सभी कपियों, वानरों में सफलतम रहा। अतः कपियों में चिम्पैंजी सर्वाधिक बुद्धिमान स्वीकार किया गया है। भले ही उसके मस्तिष्क का आकार गोरिल्ला की अपेक्षा लघु क्यों न है।

अध्ययनों के अनुसार मस्तिष्क का आकार तीन कारकों से सबसे अधिक प्रभावित होता है। ये हैं– भ्रूकटक चाप का विकास, टेम्पोरल मांसपेशियों की मोटाई एवं क्रेनियल क्रेस्ट। क्रेनियल क्रेस्ट गोरिल्ला के सिर के उच्च मध्यवर्ती रेखा पर फैला सघन एवं मोटे ऊतक के होते है जिनके कारण गोरिल्ला के सिर की ऊँचाई वर्धित हो जाती है एवं मस्तिष्क क्षेत्र भी अधिकाधिक प्रभावित होता है। शेष दो लक्षण भी गोरिल्ला के सिर की आकारीय विशेषता है। (स्ट्रास, 1942)

उच्चानन मण्डल (Upper Face) की लम्बाई सिर के आकार (सिर की लम्बाई + चौड़ाई + मस्तिष्क की ऊँचाई /3) की तुलना में, मनुष्यों में आधी प्रेक्षित की गयी है जब कि सभी कपियों में यह आधे से अधिक पायी जाती है। चिम्पैंजी का उच्चानन मण्डल सिर के आकार की अपेक्षा दो तिहाई से अधिक (77%) होता है। औरांगुटान का ऊपरी आनन सर्वाधिक लम्बा पाया गया है। गिब्बन के उच्चानन मण्डल की लम्बाई अन्य कपियों की तुलना में मानव सदृश (आधे से अधिक लम्बा 52%) है। गोरिल्ला एवं सियांमग मध्यवर्ती लक्षण प्रदर्शित करते है। (शुल्ट्ज, 1968)

सम्पूर्ण आननमण्डल की तुलना धड़ की लम्बाई से करने पर मानव का आनन अन्य उच्चकपियों की अपेक्षा लघु है, तथापि यह निम्नकपियों की अपेक्षा दीर्घ है। इस लक्षण के आधार पर चिम्पैंजी एवं गिब्बन अन्य कपियों एवं वानरों (जैसे– मैकाक) की अपेक्षा मनुष्य का निकटवर्ती है। (कृपया तालिका देखे) हामिन्वायडों में सर्वाधिक लम्बा आनन गोरिल्ला का है।

कर्णपल्लव अर्थात् कान (External Ear) का आकार धड़ की लम्बाई की अपेक्षा प्रायः अति अल्प होता है। इस आधार पर यदि हामिन्वायडों की तुलना की जाय तो यह सर्वाधिक लघु ओरांगुटान का है, तत्पश्चात् क्रमशः गोरिल्ला, मानव, सियामंग एवं गिब्बन का है। चिम्पैंजी के कान का आकार सबसे छोटा होता है।

उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त शरीर रचना की विशेषतायें भी संगणित करके होमिन्वायडों की तुलना की जा सकती है। शुल्ट्ज ने अपने अध्ययनों के आधार पर तीन देशनायें प्रस्तुत की है जो कपियों के अग्रांगों एवं पश्चांगों से सम्बद्ध है और बाहुगमन एवं द्विपदगमन की ओर संकेत करती है। ये है– ब्रेकियल देशना, क्रूसियल देशना एवं इंटर मेमब्रल देशना। ब्रेक्रियल देशना (Brachial Index) रेडियस एवं ह्यूमरस अस्थि की लम्बाई का प्रतिशत अनुपात है। यहाँ पर यह ज्ञातव्य हैं कि ये दोनों अस्थियाँ क्रमशः अग्रवाह एवं पश्चबाहु की हैं। दूसरे क्रूसियल देशना (Crucial Index) टीविया एवं फीमर अस्थि का प्रतिशत अनुपात है तथा दोनों अस्थियाँ क्रमशः टांग एवं जाँघ की अस्थि हैं। इन्टर मेम्ब्रल देशना (Intermembral Index) अग्रांग या उच्चांग एवं पश्चांग या निम्नांग के प्रतिशत अनुपात को कहते हैं। इस प्रकार ब्रेकियल देशना जो बाहुगमन से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध है उसका सर्वाधिक औसत मान गिब्बन (113) में दृष्टिगोचर हुआ है। इसके पश्चात् क्रमशः सियांगम (111), ओरांगुटान (100), चिम्पैंजी (93), गोरिल्ला (80) एवं मानव (76) में अवलोकित किया गया है। दूसरे सापेक्ष क्रूसियल देशना (Crucial Index) जो वर्तमान मानव समूहों में विविधता रखती है वह हामिन्वायड में बढ़ती प्रवृत्ति से युक्त है। इसका मान क्रमशः 87 गिब्बन एवं सियामंग में, 92 ओरांगुटान में, 83 चिम्पैंजी में, 80 गोरिल्ला में एवं 83–89 तक आधुनिक मानव में है। इंटरमेम्ब्रल देशना जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध द्विपदगमन एवं ऊर्ध्व संस्थिति से है उसका सबसे कम मान मनुष्यों में पाया गया है। यह विभिन्न मानव प्रजातियों में 64 – 79 के मध्य अवलोकित की गयी है जो पश्चांग अथवा निम्नांग (Lower limb) के अग्रांगों की तुलना में लम्बा एवं शक्तिशाली है। इसका मान चिम्पैंजी में 107, गोरिल्ला में 117, गिब्बन में 128, ओरांगुटान में 144 एवं सियामंग में 148 है।

वाह्य शारीरिक लक्षण

वाह्य शारीरिक लक्षणों में त्वचा रंग, बालों का रंग, वितरण एवं स्वरूप आदि **प्राथमिक लक्षण हैं जो** आयुपरिवर्तनों से प्रभावित होते है। यह मनुष्यों में ही नहीं बल्कि कपियों में **भी वैविध्य प्रदर्शन करते हैं।** उदाहरण स्वरूप अनेकों चिम्पैंजी यूरोपियन मानव जैसी हल्की त्वचा का रंग हैं। जिस प्रकार मानव में तालु रंगीन होते है तथा 'इपीथीलियल' रेखाये मसूडों में दर्शनीय होती है उसी प्रकार ये अनेकों कपियों में भी अवलोकित की गयी है। बालों के रंगों में विविधता निम्न कपियों में दृष्टिगोचर होती है जो एक ही स्थानीय समुदाय में प्राप्त की गयी है जैसे श्वेत, भूरे एवं श्याम रंग के बाल गिब्बन में पाये जाते हैं (शुल्ट्ज, 1956)। चिम्पैंजी के बालों का रंग हल्का तथा लाल, कतिपय गोरिल्ला में श्वेत–श्याम अथवा चितकबरे (जबकि वृद्ध नर गोरिल्ला के पीठ पर बालों का रंग चाँदी के समान श्वेत होता है) होते हैं। ओरांगुटान के बाल सबसे अधिक लम्बे (70 सेमी० से अधिक) पीठ एवं कन्धों पर होते हैं जो आयु परिवर्तनों से प्रभावित रहते है। अनेकों ओरांग लम्बी मूंछ एवं दाढ़ी वाले देखे गये हैं जिनके रंग हलके है। यह मादा ओरांग में अल्पमात्र ही पाया जाता है। दूसरा विविधंतापूर्ण लक्षण है बालों का घनत्व।यह नियमानुसार हामिन्वायडो में सिर के ऊपर सघन होते है तथा ये सबसे विरले घड के अग्र एवं पश्च क्षेत्रों में होते हैं। नर गोरिल्ला में वक्षस्थल व्यवहारतया बालरहित है जो आयु के परिवर्धन के साथ–साथ अधिव स्पष्ट होता है। गिब्बन के सबसे अधिक सघन बाल सिर, पीठ एवं वक्ष स्थल पर विद्यमान होते है। चिम्पैंजी एवं ओरांगुटान यहाँ पर मध्यवर्ती लक्षण प्रदर्शित करते है। चिम्पैंजी के वक्षस्थल पर बालों के घनत्व में अपघटन की प्रवृत्ति पायी गयी है। (शुल्ट्ज़, 1941, 56)

लगभग समस्त बानरों एवं गिब्बन में आसन गद्दिया (Horny Ischial Colloisities) दृष्टिगोचर होती है जो इश्चियल गांठ (Ischial Tuberosities) को आच्छादित रखती है। यह अनेकों कपियों में भी है जो प्रौढावस्था में स्पष्ट हो पाती है। यह मनुष्यों में अनुपस्थित है ।

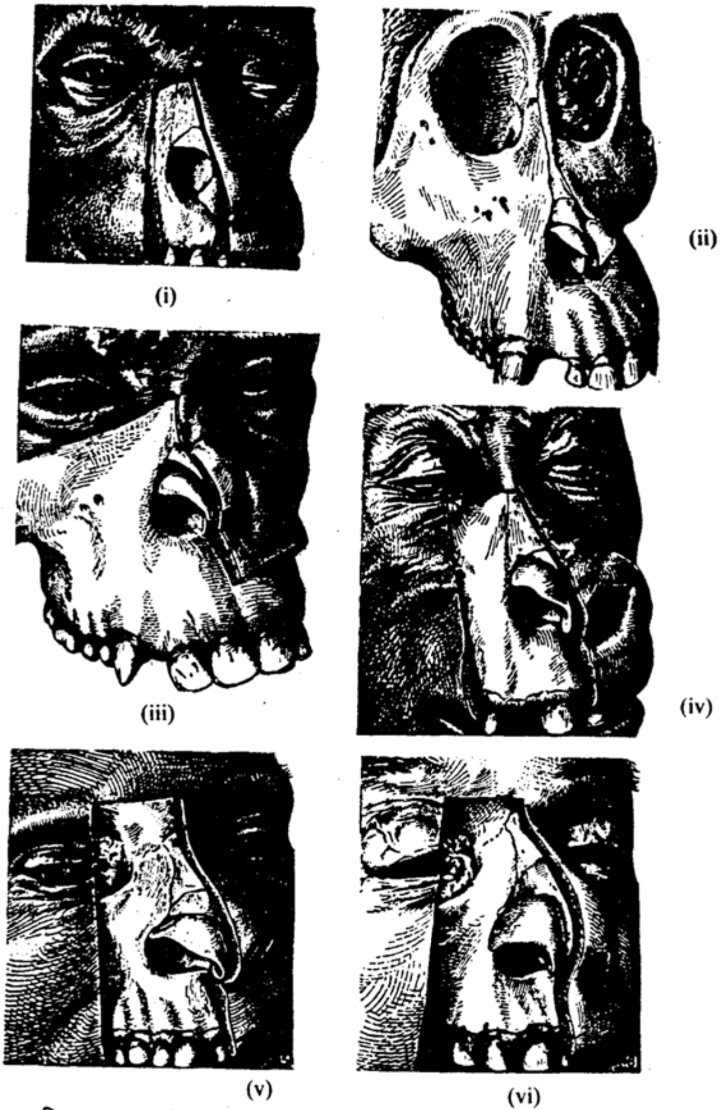
मनुष्यों की हथेली, तलवों एवं अंगुलियों में विशेष प्रकार त्वचा रेखीय प्रतिरूप पाये जाते है। ये डरमैटोग्लिफीय प्रतिरूप समस्त प्राइमेटों में भी दृष्टिगोचर हुए है। इनकी संरचना का बीगर्ट (Biegert, 1961) ने अध्ययन करके त्वचारेखीय प्रतिरूपों के आधार पर हामिन्वायडों की एक ही पूर्वज से उत्पत्ति की धारणा प्रस्तुत की।

समस्त 'सीमियायीं' प्राइमेट में दो दुग्ध ग्रंथि (Mammary glands) शेष रही है जो मादा में द्वितीय अथवा तृतीय पसली के पार्श्व में विकसित होती है। मानव में यह परिपक्वावस्था में चौथी पसली पर इन का विकास होता है। यह ओरांगुटान एवं बानरों में अत्यधिक पार्श्व की ओर स्थित होते है। अफ्रीकी उच्च कपियों में व्यवहारतया मानव के अधिक सदृश है जिनके वक्षस्थल पर ग्रंथियों के ऊतक विकसित होते है।

वाह्य शारीरिक लक्षणों में गलूचे (Throat pouches) सियामंग एवं ओरांगुटान का विशिष्ट लक्षण है जिसमें लगभग 6 लीटर वायु भरी जा सकती है। गोरिल्ला में 'लैरींजीयल गलूचा' (Laryngeal pouch) पाये जाते है जो ओरांग गलूचे के ही आकार में प्रसरित हो सकते है। चिम्पैंजी में मध्याकार का 'सैक्स' पाया जाता है जो मादा चिम्पैंजी में घेंघे (Goitre) के सदृश विकसित होता है (यर्क्स् 1943)। स्टार्कएवं स्नाइडर (Starch and Schneider, 1960) ने इसका प्रकार्यात्मिक महत्व बताया है जैसे– सियामंग एवं गिब्बन इन ग्रीवा गूंचों (Pouches) का तेजी से आवाज़ करने में प्रयोग करते हैं। मानव में यह लक्षण नहीं पाया जाता।

हिल (1958) ने हामिन्वायडों के जननांग साहित्य का पुनर्विश्लेषण किया है। उनके अनुसार नर गोरिल्ला के वृषणकोष का आकार लघु होता है जबकि चिम्पैंजी के वृषणकोष अपेक्षाकृत दीर्घाकार होते है। शुल्ट्ज (1938) के अनुसार शारीरिक भार के अनुपात में प्रौढ़ चिम्पैंजी का वृषणकोष 0.27 प्रतिशत, गिब्बन में 0.08 प्रतिशत, ओरांगुटान में 0.05 प्रतिशत एवं मानव में 0.08 प्रतिशत होता है। हाल क्रैग (1962) के

अनुसार गोरिल्ला के वृषणकोष शरीर भार के अनुपात में 0.02 प्रतिशत होता है। मानव के अतिरिक्त समस्त हामिन्वायड में शिश्न अस्थि (Penis bone) पायी जाती है लेकिन आकार में यह बानरों की तुलना में कपियों



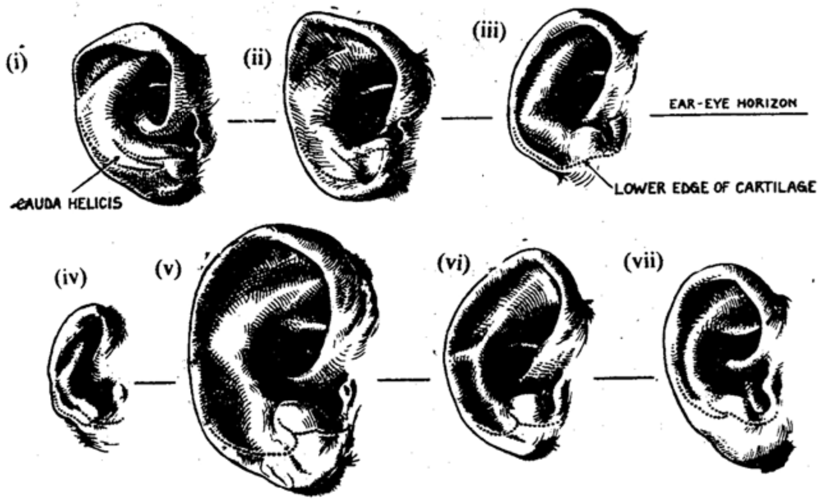
चित्र 8 : 68 नासिका एवं मुखभाग (i) सियामंग, (ii) ओरांग-उटान, (iii) चिम्पैंजी (iv) गोरिल्ला, (v) नीग्रा, (vi) यूरोपीय मानव

में लघु होती है। गिब्बन के मादा जननांग उच्च कपियों की अपेक्षा मानव की स्थिति के सदृश है जिसमें "लैबिया मेजरा" विलुप्त होने की प्रवृत्ति रखता है। महत्वपूर्ण जननांगिक भेद मासिक धर्म के प्रवाह के समय मादाओं के जननांग क्षेत्र में सूजन आने की प्रवृत्ति है जो परिपक्व मादा चिम्पैंजी में माहवारी के पूर्व काल में, गोरिल्ला में अत्यल्प सूजन, ओरांगुटान में माहवारी समाप्त होने पर, एवं मानव तथा गिब्बन में यह लक्षण नहीं पाया जाता।

वाह्य लक्षणों में त्वचीय सलवटें (deep wrinkles) गोरिल्ला एवं चिम्पैंजी की विशेषता है जो सम्पूर्ण चेहरे पर विशेषकर गालों एवं मुखमण्डल के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होते है। परिपक्व भ्रूण में भी ये लक्षण पलकों के क्षेत्र में अभिचिन्हित होते है। यह लक्षण अन्य हामिन्वायडों में अनुपस्थित है।

हामिन्वायडों की नासिका आकार एवं प्रकार में पर्याप्त विविधता प्रदर्शित करती है। इन में वाह्य नासिका कार्टिलेज (Cartilage) से विनिर्मित होती है। सभी कपियों का "सेप्टम कार्टिलेज" (Septum Cartilage) अस्थीय नासिका गुहा से बाहर की ओर उठा होता है जिससे नासिका का आकार सपाट होता है, यह मानव सदृश उठी हुई नहीं होती ।नासिका सेतु एवं नासिका पंख के कार्टिलेज भी अल्प विकसित होते है। यद्यपि गोरिल्ला के नासिका पंख चौड़े एवं मोटे होते है तथापि वे मानव के समान सुडौल एवं उभरे नहीं होते।

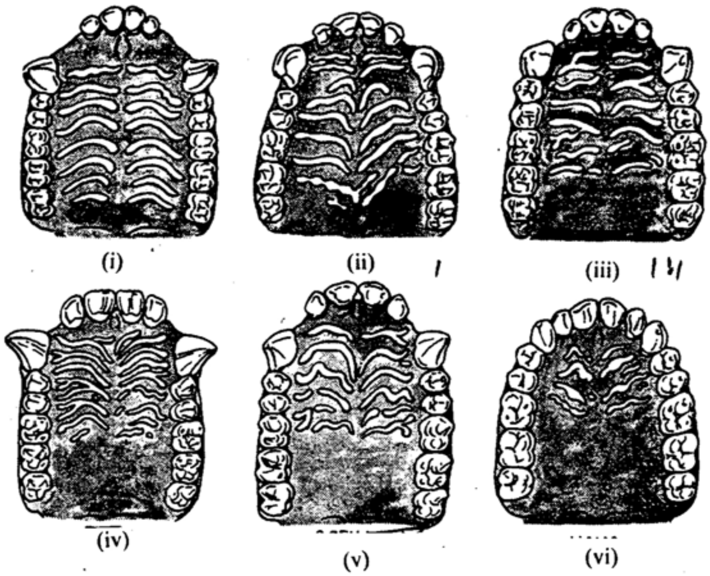
सापेक्ष आकार में हामिन्वायडों के कर्ण विभेद प्रदर्शित करते है जिसका वर्णन इसके पूर्व किया गया है। स्मरणीय तथ्य यह है कि वानरों (जैसे– बैबून एवं लंगूर) के कर्ण पल्लव कोन युक्त (Pointed) होता है। कपियों में कर्ण पल्लव का कोण उच्चासीन होता है एवं पश्च क्षेत्र में कर्ण पल्लव (Helix Rim) अन्तःदिशा में गोलाकार होता है। मानव में यह लक्षण नहीं पाया जाता तथापि "डार्विनीय गांठ" (Darwinian Tubercles) होता है जो सम्भवतः विलुप्तप्राय लक्षण है (लैसिंकी, 1960)। मानव कर्ण में वास्तविक कर्ण लोब (Ear lobe) एवं पृथक कर्ण लोब पाया जाता है। जो लक्षण लगभग समस्त अफ्रीकी कपियों में भी पाये जाते है। यह गिब्बन एवं ओरांगुटान में अनुपस्थित है।



चित्र 8 : 69 विभिन्न प्राइमेटों की तुलना में मानव-कर्ण-पल्लव

(i) लंगूर, (ii) बैबून, (iii) गिब्बन, (iv) ओरांग-उटान, (v) चिम्पैंजी, (vi) गोरिल्ला, (vii) मानव।

हामिन्वायडों के मुख के तालु में क्षैतिजक मोड़दार रेखायें (Ridge) अर्थात् सलवटें विद्यमान होती है।इनका प्रकार्यात्मक महत्व होता है। इससे नवजात शिशु अपने मां का दूध निचोड़ता है। परिपक्व होने पर भोजन को पीसने में प्रयोग करता है। यह लक्षण मैकाक बन्दर में सर्वाधिक विकसित होता है। हाइलोवैट्स–गिब्बन एवं सियामंग में भी मैकाक की अपेक्षा विरल होता है, तथापि उच्च कपियों की अपेक्षा अधिक संख्या में होते है। मानव के तालु में यह लक्षण अपघटित रूप में पाया जाता है, जो रदनक एवं पुराचवर्णक के मध्य दृश्यमान है। इस लक्षण के आधार पर गोरिल्ला एवं चिम्पैंजी मानव के अपेक्षाकृत निकट प्रतीत होते हैं



चित्र 8 : 70 तालु रेखायें (i) मैकाक, (ii) हाइलोवैट्स, (iii) ओरांग-उटान, (iv) चिम्पैंजी, (v) गोरिल्ला, (vi) मानव।

कंकालीय लक्षण :

स्तनधारियों की अस्थियों में एक विशिष्ट लक्षण सरवाइकल कशेरुकास्थि की संख्या है जो कुछ अपवादों के अतिरिक्त ये कुल 7 हैं। यह संख्या प्राइमेटों में भी परिरक्षित है यदि कुछ अपवादों (6 अथवा 8) की अवहेलना की जाये। मानव एवं कपियों में भी ये कुल 7 ही पायी जाती हैं। दूसरी ओर कशेरुक अस्थियों की संख्या में पर्याप्त विविधता भी दृष्टिगोचर होती है जब पुच्छ अस्थि (Coccyx) का उल्लेख होता है क्योंकि प्राइमेटों में 0 – से 35 की संख्या में विविधता पायी गयी है। हामिन्वायडों में उण्डक पुच्छ (Tail) पूर्णतया अपघटित होती है। यदि भ्रूणावस्था के संक्षिप्त अवतरण को अपवाद मान लिया तो जाय परिपक्व भ्रूणावस्था में विलुप्त हो जाती है। काक्सीक्स कशेरुकास्थि एक अवशेषी अंग है जो प्रौढ़ होमिन्वायड में 3–5 कें मध्य की संख्या में परिवर्तित होती रहती है। (शुल्टज 1961)

थोरैसिरन एवं लम्बर कशेरुकाओं की संयुक्त संख्या श्रोणि प्रदेश हेतु कशेरुक दण्ड का महत्वपूर्ण खण्ड प्रतीत होता है। प्राइमेटों की यह संख्या अपवादों के अतिरिक्त 15 से 24 के मध्य पायी जाती है। पुरानी

दुनिया के बानर नियमतः 19 कशेरुकायें (थोरेसिस + लम्बर) रखते हैं। हामिन्वायडों में यह संख्या पुनः अपघटित होती है। दोनों कशेरुकाओं में थोरेसिस की संख्या परिवर्तित नहीं होती जब कि लम्बर की संख्या परिवर्तनशील है। संक्षेप में गिब्बन एवं मानव में औसतन 5 लम्बर कशेरुकी, सियामंग में 4.4, ओरांग में 4, गोरिल्ला एवं चिम्पैंजी में 3.6 होती है। सम्भवतः उच्च कपियों लम्बर क्षेत्र से अपघटत होने का कारण श्रोणिमेखला अस्थि के इलियम पंखे की ऊंचाई में अभूतपूर्व वृद्धि हो सकती है। (शुल्ट्ज, 1968)

प्रायः निम्न प्राइमेटों के सैक्रम में संयुक्त वास्तविक कशेरुकाओं की संख्या 3 पायी जाती है। इसमें लोरिस आकारीय प्रासीमियनों एवं हामिन्वायडों में वृद्धि दृष्यमान हैं। उच्च हामिन्वायडों में यह संख्या पुनः अपघटन की प्रवृत्ति रखती है। मानव में यह 4 संख्या होती है।

कशेरुक दण्ड के विभिन्न क्षेत्रों की आनुपातिक लम्बाई मात्र कशेरुकाओं की संख्या पर ही आधारित नहीं होता बल्कि अन्य कारक भी इसे प्रभावित करते हैं क्योंकि हाथी एवं जिराफ की ग्रीवा का यदि दृष्टान्त लें तो दोनों की ग्रीवायें परस्पर विरोधी स्वभाव रखते हुए भी उनमें सरवाइकल अस्थियां (ग्रीवा अस्थियां) मात्र 7 ही हैं। उच्च प्राइमेटों में ग्रीवा क्षेत्र निम्न प्राइमेटों की अपेक्षा लम्बा होता है जो धड़ की लम्बाई की तुलना में 20 प्रतिशत है। मानव एवं उच्चकपि नई दुनिया के बानरों की अपेक्षा लम्बा वक्षस्थल (Thoracis Region) एवं लघु उदर स्थल (Lumber Region) रखते हैं। नियमानुसार प्राचीन दुनिया के बानर भी उदर क्षेत्र वक्ष क्षेत्र की अपेक्षा लम्बा रखते हैं जब कि समस्त उच्च प्राइमेट अपेक्षाकृत छोटे उदर क्षेत्र को प्रदर्शित करते है। मानव में यह क्षेत्र उच्च कपियों (ओरांग, गोरिल्ल, चिम्पैंजी) की अपेक्षा कुछ लम्बा है इसे निम्न तालिका में प्रदर्शित किया गया है :

सदस्य	सरवाइकल क्षेत्र धड़ की लम्बाई	सरवाइकल क्षेत्र	थोरैसिस क्षेत्र	लम्बर क्षेत्र
		पूर्व सैक्रम मेरुदण्ड की लम्बाई		
मैकाक	17.2	16.6	40.6	42.6
गिब्बन	21.7	21.0	48.7	30.3
सियामंग	23.5	20.8	50.1	29.1
ओरांगुटान	24.2	24.5	50.9	24.6
चिम्पैंजी	22.5	23.5	53.5	23.0
गोरिल्ला	24.2	24.2	51.2	24.6
मानव	25.3	22.0	45.1	32.9

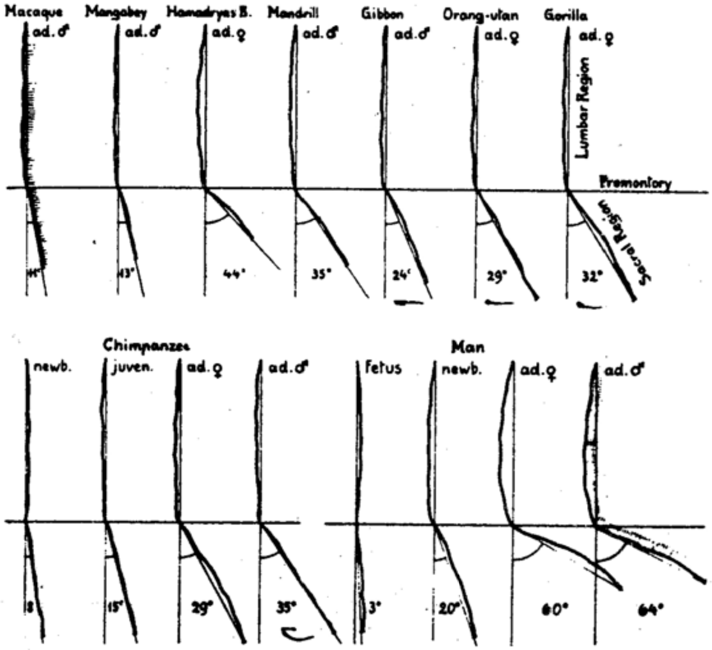
हामिन्वायडों में थोरेसिस एवं लम्बर कशेरुक अस्थियों की लम्बाई एवं मोटाई बानरों की अपेक्षा अधिक होती है। यह अंशतः शारीरिक भार में विविधता के कारण होता है क्योंकि लघु कपि गिब्बन एवं गोरिल्ला में यह भेद देखा जाता है। मनुष्यों में लम्बर कशेरुक अस्थियों की अधिक चौड़ाई उर्ध्व संस्थिति के कारण होती है जो लक्षण चतुष्पदगामियों में नहीं पाया जाता। (शुल्टज, 1953, 1968)

सरवाइकल कशेरुक अस्थि की पश्चभाग में उभरी 'डार्सल स्पाइन' की लम्बाई सभी उच्च कपियों में, निम्न कपि एवं वानरों की अपेक्षा, अधिक होती है जो सुदृढ़ ग्रीवा प्रदेश की मांसपेशियों (nuchal muscles) को एक आधार प्रदान करती है।

कशेरुक दण्ड का ऊर्ध्वरेखीय अक्ष, जो सीधी रेखा से अग्र एवं पश्च विचलन के मध्य स्थित होता

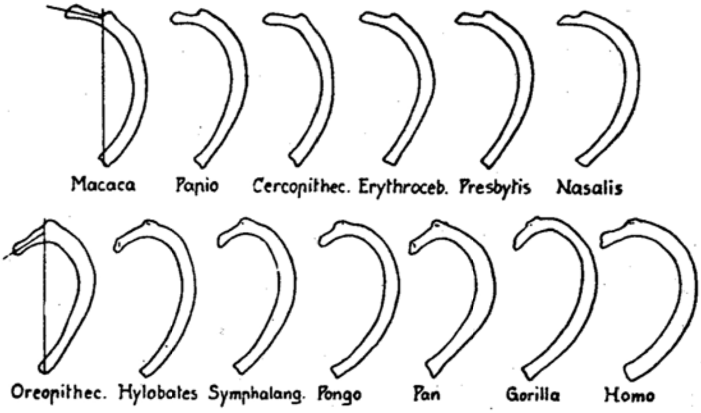
है, मानव में प्राइमेटों की अपेक्षा स्पष्ट होता है। जैसा कि इसके पूर्व भी वर्णन किया जा चुका है कि मानव में S – आकार का झुकाव (curvature) पाया जाता है। सबसे अधिक वलन (curvature) लम्बर एवं सैक्रम क्षेत्र में पाया जाता है जहां पर सैक्रम इस प्रकार पीछे की ओर झुकता है जिससे एक आकर्षक कशेरुकी उभार (promontary) बन जाता है।

इस प्रकार का उभार कपियों में भी पाया जाता है लेकिन मानव की अपेक्षा कम होता है। शुल्ज के अनुसार यहां पर जो कोण बनता है वह गिब्बन में 24°, ओरांगुटान में 29°, गोरिल्ला में 32°, चिम्पैंजी में 35° एवं मानव में 64° है।

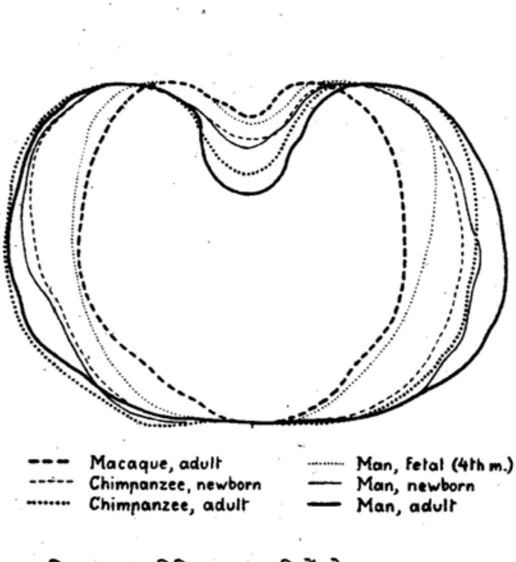


चित्र 8 : 71 विभिन्न उच्चस्तनियों में लम्बर एवं सैक्रल कशेरुकियों के पश्च बलन के कोण (शुल्ज 1961)

हामिन्वायडों का धड़ पूर्णतयां चौड़ा होता है। परिणामस्वरुप वक्षस्थल का क्षैतिजिक व्यास इसकी मध्यवर्ती सजाइटल लम्बाई से अधिक होता है। साथ ही साथ चौपायों की अपेक्षा यह अग्र (ventral) दिशा में खिसक आया है हामिन्वायडों की पसलियां वानरों की तुलना में डार्सल शिरे की ओर अधिक झुकी हुई है। फलस्वरुप वक्षस्थल की चौड़ाई अधिक बढ़ी है जिससे उच्च कपियों 'वक्ष' (Thorax) का आकार 'कुप्पी सदृश' funnel-shaped) एवं मानव में गिब्बन व सामान्यतया लकड़ी के पीपा के समान (Barrel Shaped) हो गया है। (शुल्ट्ज, 1968)।



चित्र **8 : 72** Tracings of second ribs of some adult catarrhines, reduced to same straight length of corpus. (*From Schultz 1960*)

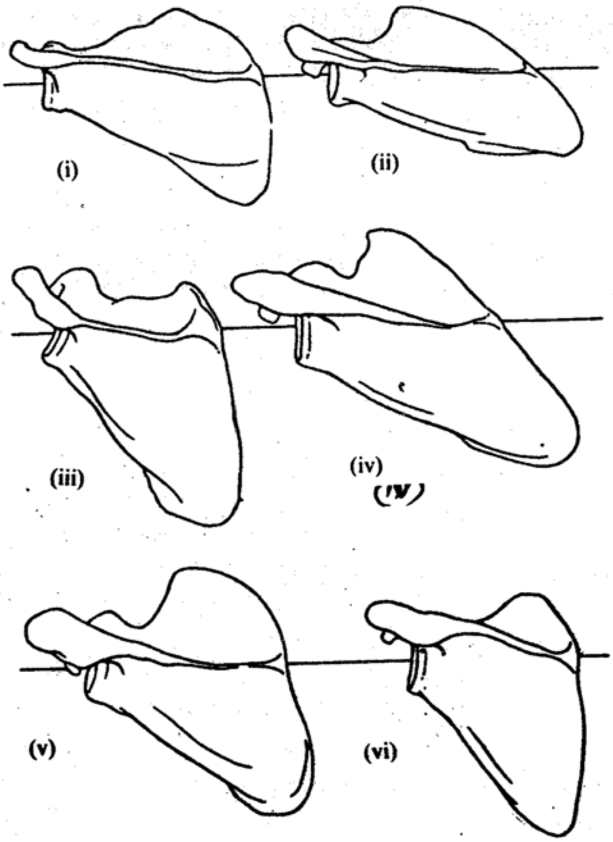


चित्र 8 : 73 विभिन्न उच्चस्तनियों के तुलनात्मक वक्ष-आकार

हामिन्वायडों के स्कन्ध मेखला (Shoulder Girdle) के कारण भी धड़ की मोटाई में संवर्धन हुआ है जो जत्रुक (clavicle) की लम्बाई बढ़ने एवं स्कन्ध मेखला अस्थि या स्कैपुला के पीछे की ओर खिसकने का परिणाम है। जत्रुक अस्थि की लम्बाई वानरों में उनके धड़ का 15 अथवा 16 प्रतिशत, हाइलोबैट्स में 32.4 प्रतिशत, सियामंग में 34.5 प्रतिशत, ओरांगुटान में 35.3 प्रतिशत, चिम्पैंजी में 26.8 प्रतिशत, गोरिल्ला में 26 प्रतिशत एवं मानव में 29.9 प्रतिशत होता है।

धड़ के साथ ही हामिन्वायडों के स्टर्नम अस्थि की चौड़ाई भी वानरों की तुलना में परिवर्धित हुई है इसकी लम्बाई एवं चौड़ाई की देशना यह इंगित करती है कि निम्न कपि, उच्च कपि एवं मानव में भी यह आकर्षक विविधता प्रस्तुत करती है। मानव में यह आनुपातिक देशना 35.8 है जबकि सरकोपिथेकस में 10.6, मैकाक में 12.2, गिब्बन में 35.1, सियामंग में 53.3, ओरांगुटान में 56.8, चिम्पैंजी में 23.9 एवं गोरिल्ला में 45.0 है।

इसके पूर्व भी स्कन्ध मेखला एवं श्रोणि मेखला अस्थि का वर्णन मानव संस्थिति के कंकालीय प्रभाव के अन्तर्गत किया गया था। यहां पर यह स्मरणीय है कि स्केपुला के संदर्भ में ओरांगुटान एवं गोरिल्ला परस्पर विरोधी शिरों का प्रतिनिधित्व करते हैं क्योंकि गोरिल्ला में उच्च स्पाइनी दबाव (Intra Spinous Fossa) निम्न स्पाहनी दबाव (Infra Spinous Possa) के लगभग समान होता है तथा दोनों के मध्य में स्पाइन प्रवर्ध दीवाल के सदृश होती है जब कि ओरांगुटान में उच्च स्पाइनी दबाव निम्न दबाव की तुलना में अधिकाधिक संकीर्ण होता है। सियामंग, गिब्बन एवं चिम्पौंजी में भी गोरिल्ला के समान स्पाइन प्रवर्ध स्कैपुला के मध्यवर्ती किनारे के लगभग मध्य से आरम्भ होती है। मानव की स्कैपुला अस्थि में उच्च किनारा विकसित एवं चौड़ा होता है जिससे गोरिल्ला की अस्थि उसके अधिक सदृश है।



चित्र 8 : 74 स्कैपुला का तुलनात्मक रेखांकन (i) मैकाक, (ii) सिम्फल, (iii) ओरांग-उटान, (iv) चिम्पैंजी, (v) गोरिल्ला, (vi) मानव।

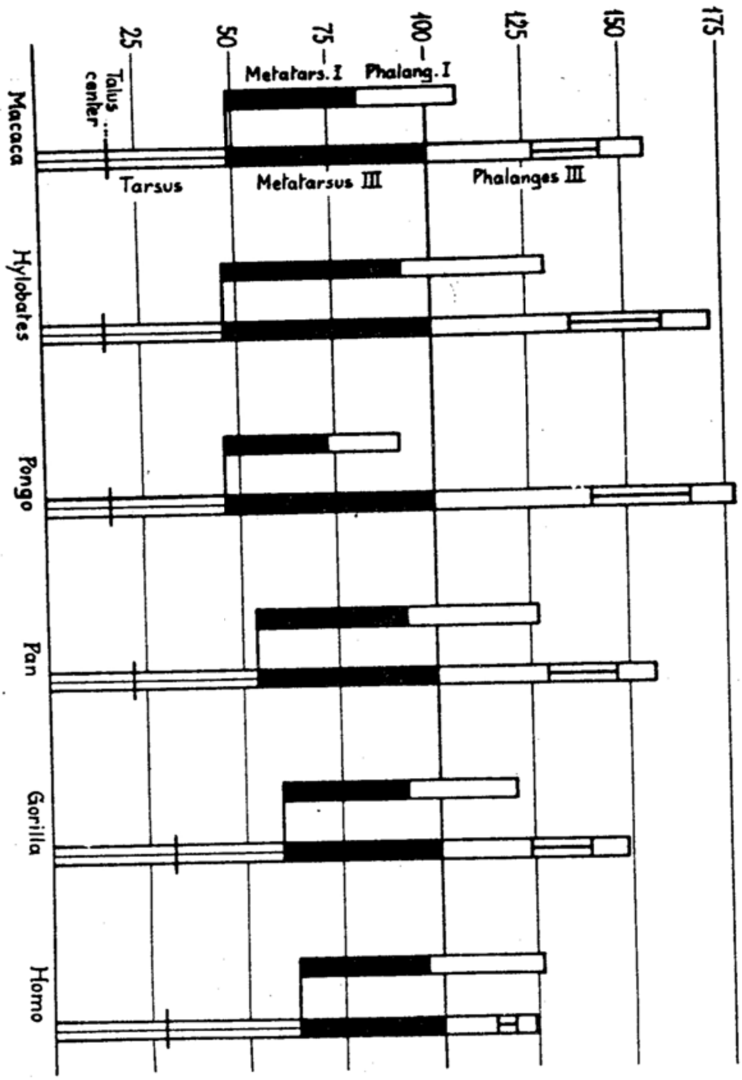
श्रोणि मेखला में एक आकर्षक लक्षण होमिन्वायडों की **इलियम** उपास्थि है जो चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला दोनों में अधिक उंच्ची एवं सकरी है। मानव में यह उच्चकपियों की अपेक्षा छोटी एवं चौड़ी है। गिब्बन में यह लक्षण उच्चकपियों की तुलना में मानव सदृश है। सिम्फाइसियल क्षेत्र मानव में अपेक्षाकृत कम उंच्चा होता है जब कि यह क्षेत्र चिम्पैंजी, ओरांग, गिब्बन एवं सियामंग में उंच्चा होता है। **पेलविस** एवं इश्चियम उपास्थि भी मानव में कपियों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ एवं चौड़ी होती है। **इश्चियल गांठ** मानव में दृष्टिगोचर होती है जब कि कपियों में यह अधिक उभार लिये हुए है जो **इश्चियल कोलाइसिटी** (आसन गद्दी) का निर्माण करती है जिसका उल्लेख इसके पूर्व किया जा चुका है।

उपांगो की अस्थियों के प्रमुख अनुपातों की चर्चा दैहिक मापों के अनुपातों के साथ ही की जा चुकी है अतः यहाँ इसकी पुनरावृत्ति समीचीन नहीं होगी। इसके उपांगों की अस्थियों की लम्बाई के अतिरिक्त इसकी सापेक्ष मोटाई एवं चौड़ाई क में विविधता परिलक्षित होती है। यह स्पष्ट है कि यह अस्थि गोरिल्ला की भारी एवं मोटी एवं लघुकाय गिब्बन की सर्वाधिक पतली एवं संकीर्ण होती है। अल्ना अस्थि की मध्यवर्ती परिधि सभी हामिन्वायडों में रेडियस की मध्यवर्ती परिधि से दीर्घ होती है जब कि सरकोपिथेक्वायड में रेडियस अल्ना से मोटी होती है। उच्च प्राइमेटो में फीबुला अपेक्षाकृत मोटी होती है जब कि मानव में यह सकरी एवं पतली जो मोटी टीबिया अस्थि से संयुक्त होती है। ओरांगुटान में टीबिया अपेक्षाकृत पतली होती है।

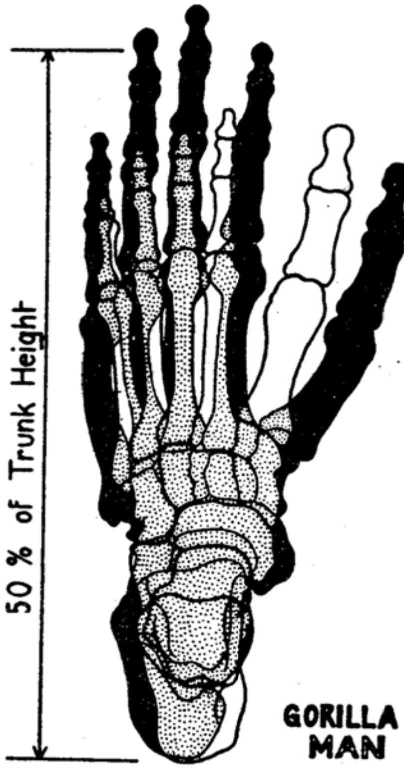
उच्च प्राइमेटों में पाद–कंकाल एक महत्वपूर्ण साक्ष्य है क्योंकि यह प्राइमेटो के परिचलन प्रारुप एवं परिग्राही व्यवहार से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध है। सभी हामिनायडों में मध्य पदागुष्ठ का आकार छोटा होता है जब कि ओरांगुटान में बहुत बड़ा होता है। टार्सल अस्थिाँ मानव तथा गोरिल्ला में अधिक लम्बी होती है जो लगभग समान लम्बाई भी रखती है। टार्सल की लम्बाई सम्पूर्ण पाद कंकाल की लम्बाई की 50 प्रतिशत मानव में, 40 प्रतिशत गोरिल्ला में, 34 प्रतिशत चिम्पैंजी में, एवं 26 से 28 प्रतिशत ओरांगुटान एवं गिब्बन में होती है। मानव में मेटाटार्सल अस्थि पाद कंकाल के अनुपात में छोटी होती है। गोरिल्ला में यह मानव सदृश लक्षण प्रदर्शित करती है। गिब्बन एवं ओरांगुटान की मेटाटार्सल बड़ी होती है लेकिन चिम्पैंजी गोरिल्ला एवं ओरांग की टार्सल के मध्यवर्ती स्थित को दर्शाती है।

चिम्पैंजी, गोरिल्ला का प्रथम पदागुंष्ठ अन्य अंगुष्ठों की अपेक्षा अत्यधिक मोटा एवं शक्तिशाली होता है। मानव में "दीर्घ पंदागुष्ठ" अत्यधिक मोटा एवं अन्य अंगूठों की उपेक्षा छोटा है। यद्यपि इस अंगूठ की सम्पूर्ण लम्बाई (इसकी मेटाटार्सल के साथ) अन्य से गुरुतर नहीं होती ।प्रथम पंदागुष्ठ की लम्बाई (इसके मेटाटार्सल के साथ) बड़ी ही नहीं होती अपितु यह लगभग सम्पूर्ण पाद की लम्बाई की आधी होती है। यह विशेषता मानव के अतिरिक्त चिम्पैंजी एवं गिब्बन के पैरों में भी होती है। पैर के लीवर के साथ यदि इसका सम्बन्ध स्थापित करें तो मनुष्यों में गिब्बन एवं सियामंग की अपेक्षा छोटा है। यह अन्य कपियों (चिम्पैंजी, ओरांग, गिब्बन) की भांति विपर्यासी नहीं होता अपितु गोरिल्ला तथा मानव में अन्य पंदागुष्ठों की पंक्ति म स्थित हो गया है। लेकिन गोरिल्ला में प्रथम फैलेजस एवं द्वितीय पदांगुष्ठ के मध्य अवकाश मानव से अधिक होता है।

हामिन्वायडों के हाथों का ककांल, जिसके कुछ लक्षणों का वर्णन इसके पूर्व भी कर चुके है, अन्य प्राइमेटों के कंकाल से भिन्नता प्रदर्शित करता है। इसके भार की तुलना यदि कंकाल के सम्पूर्ण भार से की जाये तो यह मानव में उसके कंकाल के सम्पूर्ण भार का 2.7 प्रतिशत है जबकि यह कपियों एवं बन्दरों में बहुत अधिक होता है। यह गिब्बन में 6.1 प्रतिशत, ओरांगुटान में 6.0 प्रतिशत है। (शुल्ट्ज, 1962) हस्त–कंकाल की केन्द्रीय एवं मध्यवर्ती अस्थियां–कार्पल (Carpal) अपेक्षाकृत सभी बर्टीब्रेटाओं (कशेरुकीयों) में छोटी होती है जो लक्षण एन्थ्रोपॉयडिया (Anthropoidea) मानव, चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला में विद्यमान नहीं होता।



चित्र 8 : 76 पादों के अंगों का तुलनात्मक चित्रण (शुल्ज 1963).



चित्र 8 : 77 पाद कंकाल गोरिल्ला एवं मानव (शुल्ज 1936)

प्राइमेटों में केन्द्रीय अस्थि (Centrale) अब भी प्रारम्भिक विकास की अवस्था में अवतरित होती है। मानव में भ्रूणावस्था की तीसरे मास में यह "नेवीकुलर" (Naviculare) में सम्मिलित हो जाती है, जब कि यह चिम्पैंजी में जन्म के समय, गोरिल्ला में भ्रूणावस्था के विकास के समय "नेवीकुलर" में समाविष्ट होती है।अन्य कपियों में "केन्द्रकीय" (Centrale) प्रौढ़ावस्था में विलुप्त हो जाती है।यह विकास विलुप्तावस्थायें भिन्न–भिन्न होती हैं।

कपालीय लक्षण :

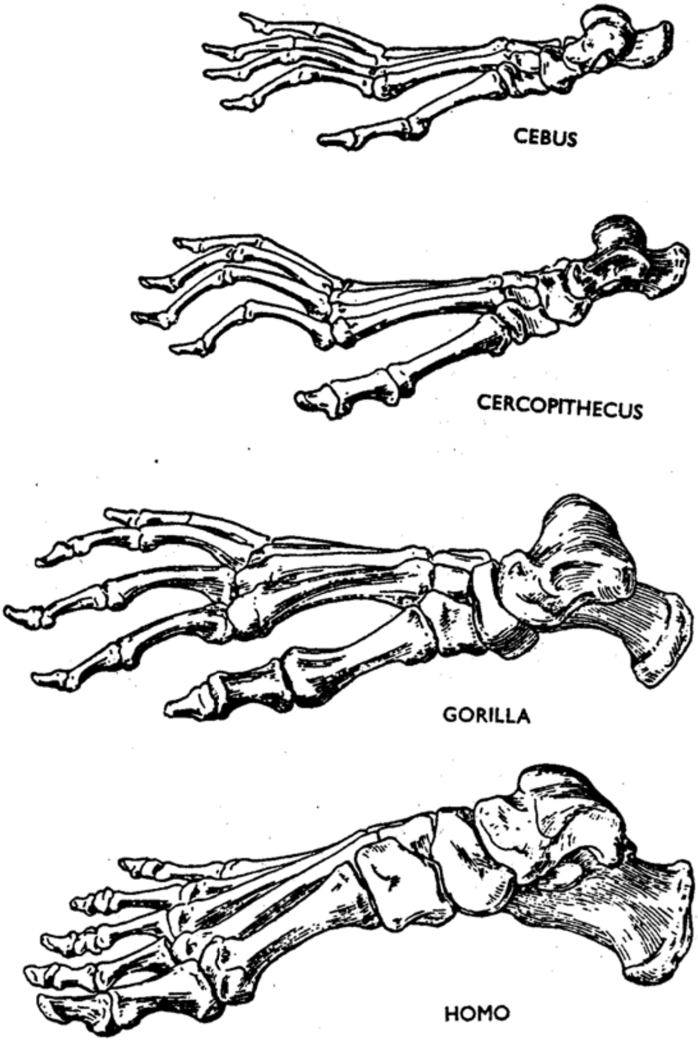
मानव में आननीय अस्थियों की अपेक्षा कपाल की अस्थियां अधिक भारी एवं बड़ी होती हैं जो लक्षण कपियों में दृष्टिगोचर नहीं होता। इनमें इसके विपरीत आनन मण्डल की अस्थियां कपाल की तुलना में बड़ी एवं भारी होती है। इस प्रकार मानव आनन आकार में छोटा होने से कपियों की भांति उद्‌गत नहीं होता और मानव का कपाल आर्थोग्नैथस (Orthognathous) होता है। उसका आनन कोण जो F–H– तल पर नेसियन – प्रास्थिपन रेखा द्वारा बनाया जाता है, 70°–90° के मध्य होता है। कपियों का कपाल प्रागनैथस (Prognathous) होता है उनके कपाल का आनन का कोण 45°–60° तक होता है।

ली ग्रॉ क्लार्क(1962) के अनुसार मेधावी मानव में सर्वाधिक विशिष्ट लक्षण तीन हैं :

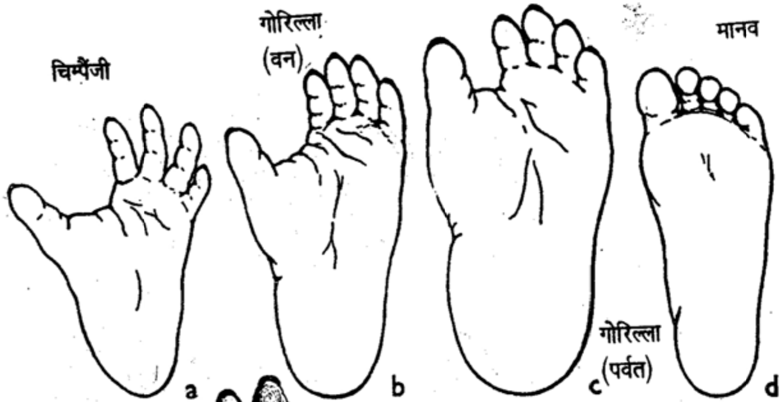
(i) दीर्घ आकार का मस्तिष्क गुहा जो ऊर्ध्वरेखीय ललाट एवं गोल एवं उभरा पश्चकपाल – क्षेत्र, (ii) अत्यधिक अपघटित जबड़ा एवं दांतों का आकार (iii) सिर का ऊर्ध्व स्थित में होना जो कशेरुक दण्ड के ऊपर संतुलित होता है।

इन लक्षणों के अतिरिक्त भी अनेक लक्षण हैं जिनके आधार पर निम्न एवं उच्च कपियों के कपाल से तुलना की जा सकती है।

हामिन्वायडों के कपालों में यदि गिब्बन का कपाल सम्मिलित करें तो मस्तिष्क गुहा आनन कंकाल के अनुपात में निम्न प्राइमेटों के अधिक निकट है। जबड़े के आकार में सापेक्षतया अपघटन हुआ है लेकिन इसमें चिबुक मानसिक उभार का अविकसित है। फ्रन्टल अस्थि पीछे की ओर प्रसरित है जो त्रिकोणत्मक सिरे में 'पराइटल' अस्थि से संयुक्त होती है। पार्श्व में 'स्फीन्वायड' अस्थि पराइटल से जुड़ती है। 'उच्च अर्बिट कटक' विशेष रुप से उभरी है जिससे, ललाट–पार्श्व दबे हुए प्रतीत होते हैं। 'आक्सिपिटल कण्डाइल' आडिटरी मीटस के पिछले तल में उभरी हैं। टेम्पोरल रेखायें लगभग मध्यवर्ती 'सजाइटल क्रेस्ट' में मिली हैं।



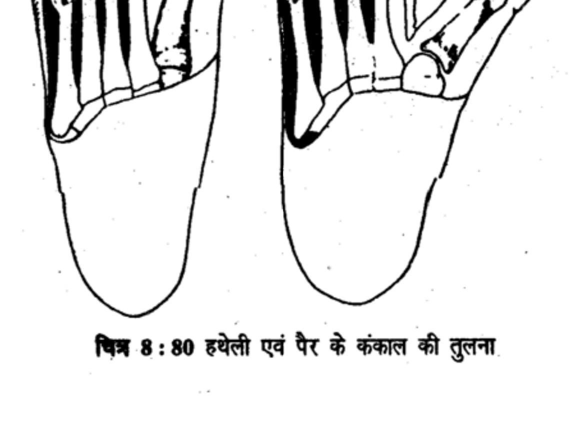
चित्र 8 : 78 विभिन्न उच्चस्तनियों के पाद कंकाल
(W.K. Gregory, Mem. Am Mus. Nat. Hist, 1920)



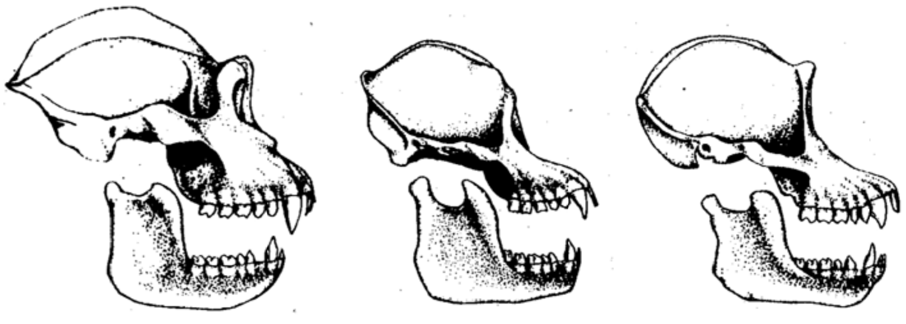
चित्र 8 : 79 पाद एवं तलवे (मार्टन एवं फुलर 1952)







चित्र 8 : 80 हथेली एवं पैर के कंकाल की तुलना



GORILLA ORANG-UTAN CHIMPANZEE

चित्र 8 : 81 कपियों के कपाल (पार्श्व भाग)

उच्चकपियों एवं मानव के कपाल का तुलनात्मक विवरण निम्न तालिका में दिया जा रहा है :

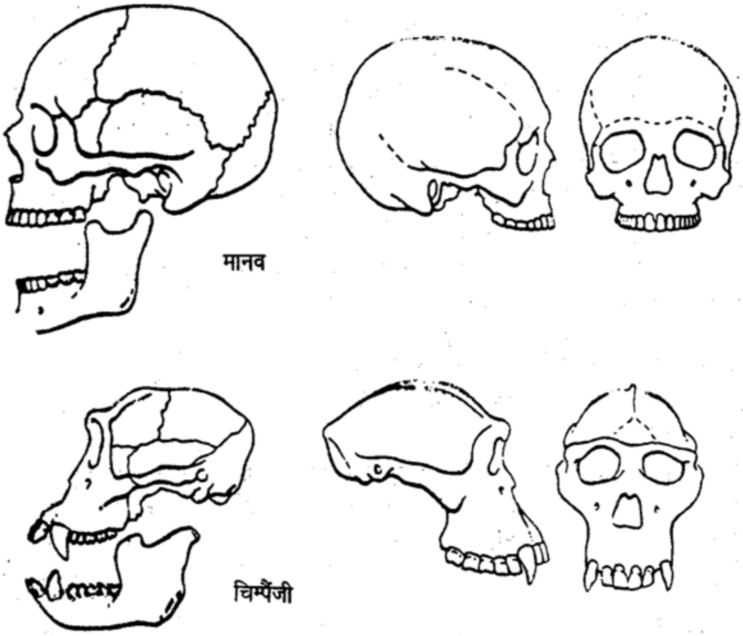
	लक्षण	ओरांगुटान	गोरिल्ला	चिम्पैंजी	मानव
1.	मस्तिष्ककोश छत	निम्न	सेजाइट क्रेस्ट के कारण कोष छत खुरदरी	गोल एवं चिकनी गुम्बदाकार	चिकनी एवं विकसित
2.	फ्रंटल उभार (ट्यूबरासिटी)	अल्प विकसित	अल्प	अल्प	पूर्ण विकसित
3.	पराइटल उभार	अल्प विकसित	अल्प	अल्प	पूर्ण विकसित
4.	ललाट क्षेत्र	अल्प एवं ढलाव–युक्त नहीं	अल्प एवं ढलावयुक्त नहीं	अल्प एवं ढलावयुक्त नहीं	पूर्ण विकसित एवं ढलवा
5.	पराइटल क्षेत्र	अविकसित चापाकार	अविकसित चापाकार	अविकसित चापाकार	पूर्ण विकसित चापाकार
6.	स्क्वांमस सूचर	अंशतः चापाकार	ओरांग जैसा	अशतः चापाकार	चापाकार
7.	टेम्पोरल रेखा	बर्टेक्स के निकट स्थित	बर्टेक्स के निकट एवं उससे लगभग मिली	बर्टेक्स के निकट क्षेत्र तक	बर्टेक्स से आधी दूरी पर स्थित
8.	टेम्पोरल दबाव	गहरा	गहरा	अधिक गहरा नहीं	परिवर्तनशील लेकिन गहरा नहीं
9.	न्यूखल रेखायें	अस्पष्ट	अस्पष्ट	अस्पष्ट	स्पष्ट एंव तीन
10.	सजाइटलक्रेस्ट	स्थित	प्रचिन्हित	चिन्हित	अनुपस्थित
11.	सुप्राअर्बिटलरिज़ (टोटस)	उभरी	अधिक चिन्हित	अधिक उभरी	अस्पष्ट एवं गोल
12.	अक्सिपिटल टोरस	उपस्थित	उपस्थित	उपस्थित	अनुपस्थित,
13.	फोटामेन मैग्नम (महारन्ध्र)		कुछ पीछे की ओर	पीछे की ओर	आगे केन्द्र में स्थित

इस प्रकार पूर्व विवरण से यह इंगित होता है कि उच्च कपि एवं मानव के कपाल की धारिता भी भिन्न–भिन्न है। सभी कपियों में अधिकतम कपालीय धारिता 752 घन सेमी॰ शुल्ट्ज (1962) के द्वारा आंकलित की गयी है जो "होमो इरेक्टस" के कपाल की न्यूनतम धारिता के निकट है एवं गोरिल्ला (नर एवं मादा दोनों) के समान है हामिन्वायडों के कपाल की धारिता को निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है तथा अन्तिम कालम में धारिता का मान शारीरिक भार के अनुपात में भी आंका गया है (शुल्ट्ज 1968)।

हामिन्वायड		विभेद अन्तराल (कपालीय धारिता)	औसत धारिता	भार की तुलना में धारिता
गिब्बन	(मादा)	82–116	101	2.0
	(नर)	89–125	104	1.9
सियामंग	(मादा)	100–152	125	1.2
	(नर)			
ओरांग	(मादा)	276–494	366	1.0
	(नर)	320–540	424	0.6
चिम्पैंजी	(मादा)	375–455	355	0.9
	(नर)	322–500	396	0.9
गोरिल्ला	(मादा)	340–595	458	0.5
	(नर)	420–752	535	0.3
मानव	(मादा)	1000–1600	1300	2.2
	(नर)	1100–1700	1400	2.1

उक्त तालिका में प्रदर्शित कपालीप धारिता सम्बन्धी तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि गोरिल्ला उच्च एवं निम्न कपियों में मानव के अधिक निकट है लेकिन अन्तिम कॉलम से यह इंगित होता है कि गिब्बन अन्य कपियों की तुलना में मानव के अधिक निकट है। यदि इस लक्षण के आधार पर लैंगिक भेद सम्बन्धी तथ्यों का विश्लेषण करें तो सबसे अधिक ओरांग एवं गोरिल्ला में दृष्यमान है। चिम्पैंजी में लैंगिक भेद अस्पष्ट है जैसा कि अन्य शारीरिक रचना सम्बन्धी लक्षणों से भी इंगित हुआ है।

हामिन्वायडों में आनन क्षेत्र की कंकाल रचना के आधार पर विविधता दृष्टिगोचर होती है।आर्विट का आकार शारीरिक आकार से सम्बन्धित है। इसी के अनुपात में अर्विट का आकार आयु के बढ़ने से मस्तिष्क की तुलना में घटता है अर्थात् वृद्धि नहीं करता। उदाहरण के लिए आर्विट का विस्तार (volume) शारीरिक भार की तुलना में प्रौढ़ावस्था में समान पाया गया जबकि मानव एवं कपियों के नवजात शिशुओं में शारीरिक भार प्रौढ़ावस्था में पहुंचते–पहुंचते यह घटकर 1/5 हो गयी। प्रौढ़ होमिन्वायडों में आर्बिट का आयतन भार की तुलना में सबसे अधिक गिब्बन में है जो 0.15 है जबकि शरीर भार 15.4 किग्रा है।इसी प्रकार 44 किग्रा के चिम्पैंजी में 0.06, 142 किग्रा के गोरिल्ला में 0.03 एवं 66 किग्रा के मनुष्य में 0.4 आर्बिट का आयतन है। (शुल्टज 1965) इसी प्रकार आर्बिट की उंचाई को आनन की उंचाई के अनुपात में



चित्र 8 : 82 मानव एवं चिम्पैंजी कपाल

विश्लेषण किया गया है। शुल्टज के अनुसार यह उंचाई गिब्बन में 66 प्रतिशत ओरांगुटान में 41, चिम्पैंजी में 39, गोरिल्ला में 35 एवं मानव में 50 प्रतिशत है। गिब्बन का आर्बिट मानव के आर्बिट के अपेक्षाकृत निकट है। आर्बिट का उच्च एवं वाह्य उभरा किनारा एवं भ्रूकटक कपियों का अधिक चिन्हित होता है।

मानवों में नासिकास्थि मुखमण्डल की सतह से ऊपर उठी होती है। ये संख्या में दो होती हैं जो मिलकर दोनों ओर की मैक्सिला के ऊपर मध्यवर्ती क्षेत्र को घेरती है। कपियों में यह अस्थि मुखमण्डल की सतह से ऊपर नहीं उठती है ये उत्तल न होकर चपटी होती है।

मैक्सिला अस्थि (Maxilla Bone) के जाइगोमेटिक प्रबर्ध (Zygomatic Process) कपियों में जबड़ों से भोजन चबाने की प्रक्रिया से उत्पन्न प्रतिवलों के फलस्वरुप अधिक शक्तिशाली होता है। इनमें फ्रन्टोनेजल प्रबर्ध (Frontonasal Process) मानव की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ होता है जिसके कारण नेत्र गुहा (आर्बिट) मानव की तुलना में सुदूरवर्ती है। मानव की तुलना में कपियों का एल्व्योलर प्रबर्ध अधिक सुदृढ़ एवं लम्बा होता है। इसी कारण से कपियों की नासिका एवं मुख के मध्य चौड़ी एवं उंची मांसपेशिया पायी जाती हैं जब कि मानव में ऐसा नहीं देखा जाता। इस क्षेत्र के परिपुष्ठ होने से कपियों में यह भाग आनन की सतह से और अधिक उद्गत होता है।मैक्सिला का पैलेटाइन प्रबर्ध क्षैतिजिक होता है।यह प्रबर्ध "तालु" का निर्माण करता है। यह तालु मुखगुहा को नासिका गुहा से पृथक् करता है। यह कपियों में मानव सदृश ही होता है लेकिन विभेद मात्र इतना है कि कपियों की तालु के दोनों पार्श्वों पर स्थित दांत की चापें होती हैं जो आकार में अंग्रेजी के अक्षर V जैसी होती हैं। मानव में यह U – आकार की होती है। तालु के दंत चांपों में समान

रुप से चार प्रकार के दांत – कृतक (Incisor), रदनक (Canine), पुराचवर्णक (Premolar) एवं चवर्णक (Molar) दोनों ओर पाये जाते है। एक ओर 2 कृतक, 1 रदनक, 2 पुराचवर्णक एवं 3 चवर्णक चाप गढ़ों में स्थित होते हैं। दूसरी ओर भी इसी क्रम में दांतों का विन्यास होता है केन्द्रकीय कृतक दांत के पास एक गढ़ा या फोसा (Fossa) स्थित होता है। इसे "इन्साजिव फोसा" के नाम से जाना जाता है।ये कपियों में मानव की अपेक्षा अधिक गहरा एवं स्पष्ट होता है। इसी प्रकार रदनक के दोनों ओर अर्थात् रदनक – कृतंक एवं रदनक – पुराचवर्णक के मध्य कपियों में अन्तराल या अवकाश पाया जाता है जिसे 'डायस्टेमा' या 'दन्तावकाश' के नाम से जाना जाता है। यह मानव के दन्त चाप में नहीं होता।

इसके अतिरिक्त मैक्सिला अस्थि में नेत्रगुहा के नीचे उपस्थित रन्ध्र, एल्व्योलर रिज, केनाइन रिज, नेजल स्पाइन आदि प्रमुख लक्षण है। नेज़ल स्पाइन को छोड़कर समस्त उक्त लक्षण कपि मैक्सिला में विद्यमान होते हैं। इन्फ्रा आर्बिटल रन्ध्र कपियों में 3 एवं मानव में मात्र एक होता है। मानव में नेजल स्पाइन विद्यमान होती है जबकि कपियों में यह विकसित नहीं है।

जाइगोमेटिक अस्थि की संरचना में कोई भेद नहीं होता तथापि यह कपियों में अपेक्षाकृत अधिक पुष्ठ, उभरी एवं भारी होती है।

अधोहनु (Mandible) की रचना हामिन्वायडों में लगभग समान होती है लेकिन कतिपय ऐसे विशिष्ट लक्षण है जिनके आधार पर कपियों के जबड़े से मानव जबड़ा भिन्न होता है।उदाहरण स्वरूप, कपियों का जबड़ा मानव की तुलना में भारी एवं बड़ा, लम्बे आधार के भाग वाला, चौड़े रैमस वाला, छिछली सिग्मायड खांच से युक्त, सीमियन शेल्फ से युक्त, चिबुक रहित, अधिक अधोहनु कोण वाला, संकीर्ण दांत की चाप वाला होता है।

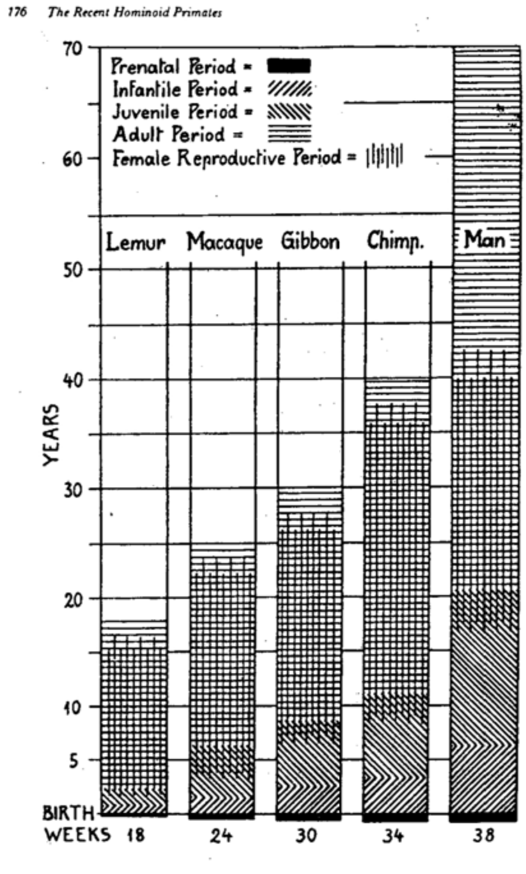
दंत रचना ये मुख्यतः अपने विशिष्ट कार्यों से प्रभावित होती है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध "चबाने की प्रक्रिया" पर्यावरण एवं ख़ाद्य आदतों से है। मानव सम कपियों में कृतक दांत चौड़े एवं 'स्पैचुला' आकार के होते हैं। रदनक बाहर की ओर निकले होते हैं। मुख के बन्द होने की स्थिति में ऊपर एवं नीचे के रदनक एक दूसरे से बंध जाते है। रदनक का कार्य चूं कि भोजन को चीड़ना–फाड़ना, कसकर पकड़ना आदि होता है। अतः ये सामान्यतया बड़े लम्बे एक नुकीले बाहर की ओर निकले होते है। इनका क्राउन (Crown) तेज होता है। इन्हें फाड़ने वाले दांत (Tearing Teeth) के नाम से भी जाना जाता है। कपियों में रदनक मानव की तुलना में बड़े, मोटे एवं लम्बे आकार के होते हैं। कपियों की भांति मानव में रदनक बाहर की ओर नहीं निकलते और न ही इनके मध्य **दंतावकाश** पाया जाता है जिसका वर्णन इसके पूर्व किया चुका है।

पुरावचर्णक में दो क्राउन, जो शक्वाकार होते है इनके दो कस्पों में एक जिब्हा की ओर एवं एक बाहर की ओर होता है। ये एक जड वाले होता हैं। यह मानव सदृश होते हैं लेकिन भेद मात्र इतना है कि मैक्सिला के एल्व्योलर प्रबर्ध में स्थित पुराचवर्णकों में एक के स्थान पर तीन जडे एवं निचले जब ड़े में दो जडे होती हैं।

भोजन को पीसने वाला दांत चवर्णक का क्राउन बड़ा एवं गुम्बदाकार होता है। चवर्णकों में 'कस्पों' की संख्या में विविधता दृष्टिगोचर होती है क्योंकि होमिन्वायडों में सामान्यतया ऊपरी चवर्णकों में चार 'कस्प' एवं निचले वर्णकों में पांच कस्प होते है। ये 'कस्प' मानवों में अपेक्षाकृत छोटे होते हैं तथा इन पांच दन्ताग्रों या कस्पों के मध्य स्थित दरारों की संरचना कुछ ऐसी होती है कि यह अंग्रेजी के अक्षर 'Y' के आकार का प्रतीत होता है। इसे 'Y–5 कस्प प्रतिरुप' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। यह मानव सम लक्षण है जो कपियों में भी पाया जाता है तथापि कपियों के कस्प उभरे 'ट्यूबरकल' (Tubercle) जैसे होते हैं। इसके अतिरिक्त मानव में तीन चवणकों में से प्रथम चवर्णक बड़े आकार का होता है जब कि कपि का तीसरा चवर्णक सबसे बड़ा होता है।

प्रौढ़ हामिन्वायडों के कपाल की रचना यह इंगित करती है कि कपाल की अस्थियों में अवकाश रहने की प्रवृत्ति होती है। यह सबसे अधिक पागिडों (कपियों) में दृष्टिगोचर होती है। बृद्ध गोरिल्ला (नर) एवं ओरांग में बृहद नासिका गुहा – "पैरानेजल साइनस" (Paranasal Sinus) होता है। मानव में कपाल के निम्न एवं आधार क्षेत्र में जो 'साइनसेज' (Sinuses) पाये जाते हैं। मानव से भी दीर्घ आकार के 'साइनस' गोरिल्ला एवं ओरांगुटान के कपाल में दृष्टिगोचर होते हैं। ओरांगुटान की मैक्सिला अस्थीय साइनस फ्रंटल अस्थि तक होते है। चिम्पैंजी में दाये एवं बायें मैक्सिला – साइनस 'तालु' के ऊपर मिलते हैं एवं नासिका गुहा को दोहरी सतह (Plate) प्रदान करते हैं। अस्थियों में अवकाश रहने की प्रवृत्ति से मनुष्यों का "मस्टॉयड प्रबर्ध" कपियों की तुलना में अधिक बड़ा है। (शुल्ट्ज 1952)

इस प्रकार उपरोक्त शरीर रचनात्मक लक्षण जिनके आधार पर मानव एवं कपियों की तुलनात्मक विवेचना की गयी है और यह कई उदाहरणों द्वारा सिद्ध हुआ कि होमिन्वायडों की शरीर रचना (Anotamy) पर आयु के प्रभाव से विविधता प्रतिरुप परिवर्तित होता है।शारीरिक रचना का आयु से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है जैसा कि हामिनिड – प्रतिरुप से स्पष्ट हो गया है। लेकिन इसके अतिरिक्त भी आयु परिवर्तन के लक्षण ऐसे हैं जो सम्पूर्ण शरीर की संरचना को कम से कम प्रभावित करते हैं लेकिन जीवन की अवस्थाओं की आयु में परिवर्तन हामिन्वायडों की एक सामान्य प्रवृत्ति है जो निम्न प्राइमेटों से तुलना करने पर ज्ञात होती है (शुल्ट्ज 1949, 56)।



चित्र 8 : 83 हामिनडों में विकास की विभिन्न अवस्थायें (शुल्ज, 1966)

गर्भावस्था मानवों में सर्वाधिक लम्बी होती है जो लगभग 38 सप्ताह की होती है। यह चिम्पैंजी, गोरिल्ला एवं ओरांगुटान में लगभग 34 सप्ताह, गिब्बन में लगभग 30 सप्ताह, मैकाक में 24 सप्ताह, लीमर में लगभग 18 सप्ताह तथा ट्रीश्रू में 6 सप्ताह की होती है। हामिन्वायडों की गर्भोपरान्त अवस्थायें भी भिन्न–भिन्न हैं। मानव पुनः सर्वाधिक लम्बी आयु का हामिन्वायड है। शुल्ट्ज (1966) ने मानव की औसत आयु 70 वर्ष आंकलित किया है। उच्चकपियों में सर्वाधिक गर्भोपरान्त आयु वाला प्राणी चिम्पैंजी है जिसने शीघ्र ही एक चिड़ियाघर में 50 वर्ष की आयु पूरी की है। (W.W.L. Report 1990)। शुलट्ज के अनुसार तीनों उच्चकपि लगभग एक ही प्रकार की विकास–अवस्थाओं की प्रवृत्ति रखते हैं। उनके अनुसार चिम्पैंजी की गर्भोपरान्त जीवन विस्तार 40 वर्ष, गिब्बन में 30 वर्ष, मैकाक में 25 वर्ष एवं लीमर में 28 वर्ष का है।

शैशवावस्था (Infantile period) भी मनुष्यों में सर्वाधिक लम्बी (गर्भोपरान्त 6 वर्ष) होती है। अन्य हामिन्वायडों में कम होने की प्रवृत्ति है, जैसे – चिम्पैंजी में लगभग 4 वर्ष, गिब्बन में 2 1/2 वर्ष की होती है।अन्य एन्थ्रोपॉयडो में पुनः घटती है, जैसे – मैकाक में लगभग दो वर्ष एवं लीमर में लगभग 1 वर्ष की शैशवावस्था है। इसी प्रकार किशोरावस्था (Juvenile Period) आयु वृद्धि की प्रवृत्ति मनुष्यों में सर्वाधिक 20 वर्ष तक चिम्पैंजी में 11 वर्ष, गिब्बन में 8 वर्ष, मैकाक में 6 वर्ष एवं लीमर में लगभग 2 वर्ष, होती है। प्रौढ़ावस्था (Adult) भी मनुष्यों में विलम्ब से आरम्भ होती है जो मनुष्यों में 20 वर्ष के पश्चात् 70 वर्ष तक, चिम्पैंजी में 11–40 वर्ष, गिब्बन में 8–30 वर्ष मैकाक में 6–15 वर्ष, लीमर में 2–18 वर्ष के मध्य आंकलित ही गयी है। (शुल्ट्ज, 1966)

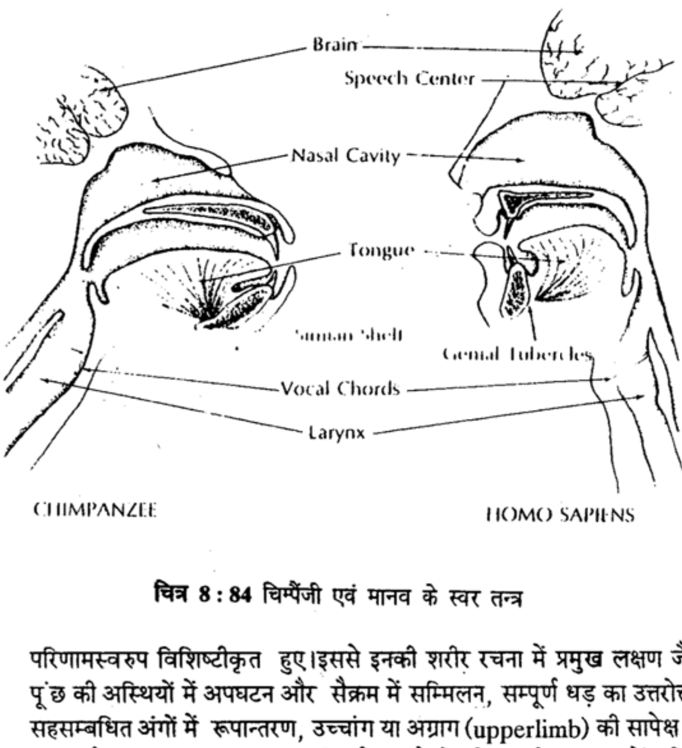
हामिन्वायडों में **परिपक्वावस्था** (Puberty Age) में भी विविधता पायी जाती है। यह मानव में अन्य कपियों की अपेक्षा विलम्ब से अवतरित होती है यह जीवन की अवस्थाओं में अधिक महत्वपूर्ण अवस्था है।इसके अवतरित होने के पश्चात् ही कोई जन्तु सन्तानोत्पत्ति की क्षमता प्राप्त करता है। अतः इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध सन्तानोत्पत्ति अवस्था से है जो मानवों में सर्वाधिक लम्बी होती है। मनुष्यों (स्त्रियों) में यह लगभग 15 वर्ष से लेकर 45 वर्ष तक की सामान्यतया पायी गयी है। अन्य मादा कपियों एवं प्राइमेटों में यह अवस्था कम आयु की पायी गयी है। शुल्ट्ज (1966) के अनुसार मादा चिम्पैंजी में 8 वर्ष से आरम्भ होकर 37 वर्ष तक, मादा गिब्बन में 6 वर्ष से 27 वर्ष तक मादा लीमर में लगभग 1 3/4 वर्ष से 17 वर्षों तक की आयु सन्तानोत्पत्ति की आयु है। नर हामिन्वायडों में यह परिपक्वावस्था से लेकर प्रौढावस्था तक पायी जाती है अतः सन्तानोत्पत्ति अवस्था का जितना सम्बन्ध परिपक्व आयु (puberty age) से है उतना ही प्रौढावस्था से है।

गर्भकाल की आयु वृद्धि के साथ ही साथ नवजात शिशु के जन्म भार में वृद्धि होती है। जन्म भार मानव में 3.5 किग्रा एवं कपियों में 2 किग्रा है। (शुल्ट्ज, 1960):

आयु परिवर्तनों से प्रभावित होने वाले शारीरिक लक्षणों में **दंत विन्यास** एक महत्वपूर्ण शरीर रचना है जो कपियों एवं मानव में विविधता प्रदर्शित करती है। अध्ययनों के अनुसार दूध के दांत बानरों में जन्मोपरान्त अवतरित होने लगते हैं। कपियों में यह 3 माह के पश्चात् निकलते हैं जब कि मानव में 5 माह के पश्चात् निकलते हैं। मानव, गिब्बन एवं पुरानी दुनिया के बानरों में सबसे पहले केन्द्रीय कृंतक, फिर वाह्य कृंतक, प्रथम दूध चवर्णक, रदनक, और अन्त में द्वितीय दुग्ध चवर्णक निकलता है।जब कि कपियों (pongids) में रदनक सभी दूध के चवर्णकों के निकल जाने के पश्चात् निकलता है। स्थाई दांत का अवतरण पुनः होमिन्वायडों में भिन्नता प्रदर्शित करता है जैसे मैकाक बानर में 1 1/2 वर्ष के पश्चात्, उच्चकपियों में तीसरे वर्ष के पश्चात् एवं मानव में 6 वर्ष के पश्चात् स्थाई दांत निकलते हैं। **स्थाई दांतों** के निकलने के क्रम का सूत्र नियमानुसार M1 – I1 – I2 – M2 – (PP) – (CM3) है जो मानव के अतिरिक्त सभी एन्थ्रोपॉयड, पांगिड में पाया जाता है। आधुनिक मानव में यह, अपवादों को छोड़कर, (I1 M1) – I2 – (PCP) – M2 – M3 है। (शुल्ट्ज 1968)

मुख्य कपालीय सूचरों के मध्य अवकाश भर जाने की प्रवृत्ति जन्तुओं में देखी जाती है जो प्रक्रिया जन्मोपरान्त पूर्ण होती है। यह सूचर भरने की प्रवृत्ति कपियों में मानव की तुलना में अत्यधिक पहले

एवं अधिक त्वरण गति से पूरी होती है। अधिकांश नई दुनिया के बानरों पुरानी दुनिया के बन्दरों, गिब्बन एवं सियामंग आदि केसूचार कई वर्षों तक खुले रहते हैं। मनुष्यों में भी ये सूचर नई दुनिया के बन्दरों के सदृश विलम्ब से बंद होते है। उच्चकपियों (चिम्पैंजी, गोरिल्ला, ओरांगुटान) में ये सूचर निम्न कपियों की तुलना में विलम्ब से एवं मानव की तुलना में शीघ्र बंद होते हैं। (शुल्ट्ज 1956, चोपड़ा 1957)



चित्र 8 : 84 चिम्पैंजी एवं मानव के स्वर तन्त्र

इस प्रकार उक्त शरीर रचना के विभिन्न लक्षणों के विश्लेषण से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि समस्त हामिन्वायड – मानव एवं कपि पुरानी दुनिया के बंदर एवं निम्न प्राइमेटों से चिन्हित विविधता प्रकट करते हुए भी एक समान वंशजता को इंगित करते हैं, जो भिन्न वातावरण परिस्थितियों के अनुकूलन के फलस्वरुप विशिष्ट लक्षणों से युक्त हो गये। ये कालान्तर में पुनः उद्विकासीय प्रक्रियाओं के परिणामस्वरुप विशिष्टीकृत हुए।इससे इनकी शरीर रचना में प्रमुख लक्षण जैसे पूर्व सैक्रल कशेरुक एवं पूंछ की अस्थियों में अपघटन और सैक्रम में सम्मिलन, सम्पूर्ण धड़ का उत्तरोत्तर चौड़ा एवं मोटा होना तथा सहसम्बधित अंगों में रूपान्तरण, उच्चांग या अग्राग (upperlimb) की सापेक्ष लम्बाई में परिवर्धन, भार की तुलना में मस्तिष्क का अधिक परिवर्धन, अनेकों जीवन की अवस्थाओं की आयु में वृद्धि आदि लक्षण उत्पन्न हो गये। इसके अतिरिक्त शरीर रचनात्मक, शरीर क्रियात्मक एवं विकास आनुवंशिकी प्रवृत्तियों का जो यह प्रमाणित करते हैं कि मानव एवं कपि (हामिन्वायड) एक ही पूर्वजता से सम्बद्ध एवं प्राइमेट के एक ही प्राकृतिक समूह के सदस्य है। साथ ही साथ उक्त तुलनात्मक शरीर रचना सम्बन्धी लक्षणों से यह भी स्पष्ट होता है कि उच्चकपियों में चिम्पैंजी अथवा गोरिल्ला आधुनिक मानव के अधिक निकट है तथा इनमें से भी चिम्पैंजी मानव की शरीर रचना से समानता अधिक प्रदर्शित करते हैं।

***

9

मानव उत्पत्ति एवं उद्विकास; प्रारम्भिक अवस्था

गत अध्याय में मानवसम प्राइमेटों से मानव की तुलना की गयी जिसमें यह पाया गया कि इनमें से उच्च कपि (विशेषकर चिम्पैंजी) शरीररचना, शरीरक्रिया एवं व्यवहार सम्बन्धी भिन्न विलक्षणतायें रखते हुए भी मानव सदृश अनेकों लक्षण प्रदर्शित करता है। इससे यह प्रतीत होता है कि अतीत में मानव एवं उच्चकपि एक समान पूर्वजता को ग्रहण किये थे जो कालान्तर में भिन्न वातावरणीय परिस्थितियों के अनुकूलन से इनका समानान्तर उदविकास हुआ। अत्याधुनिक आणविक अनुसंधानों से भी यह निकटता एवं एक समान पूर्वजता प्रदर्शित हुई है। इसके अतिरिक्त उच्चकपियों के अतीत के समानता प्रदर्शित करने वाले अवशेषी प्रमाण भी प्राप्त हुए है।

आदि मानव जीवाश्म ?

समस्त कपि जीवाश्मों में तीन जीवाश्म जेनरा ड्रायोपिथेसीन, जाइगैन्टोपिथेसीन एवं रामापिथेसीन उच्च कपियों के पूर्वज अवशेष माने गये है। इनमें ड्रायापिथेसीन के शरीर रचनात्मक लक्षणों में चिम्पैंजी सदृश पाया गया है। रामापिथेसीन जेनरा, जो मायोसीन युग का अवशेष है भारत एवं चीन के अतिरिक्त यूरोप, अफ्रीका महाद्वीपों में भी विस्तृत माना गया है। मानव उदविकास की समस्या के समाधान में यह अन्य कपि जीवाश्मों की तुलना में योगदान अधिक करता है। क्योंकि यह मानव सदृश लक्षणों के आधार पर प्राथमिक हामिनिड जीवाश्म प्रतीत होता है (लेविस, 1937)। साइमन्स एवं पिल्वीम ने 1965 में पुनर्मूल्यांकन के आधार पर इसे मानव एवं उच्चकपियों की मध्यवर्ती स्थिति में रखा जिससे यह कुछ पुराजीवाश्म वैज्ञानिकों ने इसे कपि जीवाश्म माना है (ऐन्ड्रयूज एवं मार्टिन 1987, डेल्सन 1995, पिलवीम 1986)।इस प्रकार रामापिथेसीन जो लगभग 14 से 20 मिलियन वर्ष पूर्ण मायोसीन युग में जीवन व्यतीत कर रहा था, इसकी उदविकासीय स्थिति इस समय भ्रामक है। परन्तु यदि इसके उपलब्ध सीमित साक्ष्यों की विवेचना करें तो अनेकों पुरामानव वैज्ञानिकों की सहमति पायी जाती है कि इसके दन्त साक्ष्य हीमिनिड की प्राथमिक स्थिति के है। सामान्यतया यह अनुमान किया जाता है कि वह लगभग 3 फिट का लम्बा एवं 40–50 पाउन्ड के शारीरिक भारवाला होगा। इनके दांत की संरचना से प्रतीत होता है कि सम्भवतः ये वृक्षवासी जीवन तक ही सीमित नहीं होंगे जो इनकी द्विपादगमन की स्थिति के प्रमाण का सुझाव देता है (हल्स 1971)। शीघ्र ही पुरामानव वैज्ञानिकों ने रामापिथेसीन को प्रारम्भिक पहचान रखने वालेहामिनिड्स ही कहा।ये सम्भवतः प्रत्यक्ष रूप से हमारी पूर्वजता रखते हैं (वर्डसेल 1975, चोपड़ा 1983, प्रसाद 1983, डेल्सन 1985, एन्ड्रयूज 1985, ऐन्ड्रयूज एव मार्टिन 1987, आक्सनार्ट 1987 आदि)।

जब हम रामापिथेसीन के पश्चात् जीवाश्म अभिलेख को देखते है तो लगभग 40 लाख या 50 लाख वर्ष के लम्बे अन्तराल में कोई अवशेष प्राप्त नहीं होता यदि अफ्रीकी तंजानिया वंश के लीतोलिल (Laetolit) एवं इथियोपिया राष्ट्र के हादर (Hadar) के तथाकथित हीमिनिड अवशेषों का उल्लेख न हो। क्योंकि ये जीवाश्म अभिलेख स्पष्ट करते है कि अफ्रीकी देश कीनिया के नगोरा (Ngora) स्थान से 'एक दांत' का अवशेष प्राप्त हुआ जो हीमिनिड के रूप में स्वीकारा गया है। उसे 90 लाख वर्ष पूर्व का आंका गया। उसके पश्चात पूर्वी अफ्रीका के लोथागाम (Lothagam) में इसी भूगर्भ स्तर से एक अधोहनु, एक गर्भवर्णक दांत उत्खनन से प्राप्त हुए जो कालान्तर में लक्षणों के आधार पर आस्ट्रेलोपिथेसीन में सम्मिलित कर लिया गया।

इस प्रकार लीतोलिल (Laetolil) एवं हादर (Hadar) के जीवाश्म जो क्रमशः 1974 में मैरी डी. लीकी (Mary D. Leakey) एवं 1972–1977 में 'इण्टरनेशनल एफार रिसर्च एक्सपिडेशन' (International Afar Research Expedition) दल के मुखिया तेनेय्यव एवं जोहांसन के द्वारा खोजे

गये थे, ये शोधकार्य 1976 में प्रकाशित किये गये। ये जीवाश्म अवशेष 30 से 40 लाख वर्ष पूर्व प्लायोसीन युग के अनुमानित किये गये जो हीमिनिड कुल के आदि या प्रारम्भिक सदस्य के रूप में प्रस्तुत किये गये है (लीकी आदि 1976, तैय्यव जोहांसन आदि 1976, जोहांसन एवं ह्वाइट 1997)।

लीतोलिल (Laetolil) एवं हादर (Hadar) के जीवाश्मों 23 स्पेसीमेन हैं जो न्यूनतम 35 सदस्यों के है।इनमें अधिकांश 'लूसी' के नाम से भी सम्बोधित किये गये है। ये दन्तविन्यास, अधोहनु, क्रेनियम, पश्च कपाल सम्बन्धी लक्षणों में स्पष्टतया हामिनिड कहे गये है। इनके पूर्ववर्ती कौन होंगे यह स्पष्ट नहीं है तथापि इनकी रामापिथेसीन से समानता यह इंगित करती है कि हीमिन्वायडों रामापिथेकस कालान्तर में ये पृथक हो गये जिनसे हीमिनिडों की उत्पत्ति हुई। एक प्रश्न जो जीवाश्म अभिलेख के 40−60 लाख वर्षों के अन्तराल के ऊपर प्रायः उठता था इन अवशेषों के प्रकाश में आने से अनुत्तरित नहीं रहा। जोहान्सन एवं ह्वाइट (19779) के अनुसार ये प्लायोसीन युग के अवशेष पूर्णतया मानव पूर्वजों के है उन्होंने **'आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेसिस'** नाम का एक नवीन 'टैक्सान' की रचना की, जो कालान्तर में 'आस्ट्रेलेपिथेसीन्स' हीमिनिड उपकुल (Sub family) में समाहित कर लिया गया।

इस प्रकार अफ्रीका महाद्वीप के पूर्वी एवं दक्षिणी भागों में सम्पन्न हो रहे उत्खनन अभियान में आस्ट्रेलोपिथेसीन्स, प्रारम्भिक हीमिनिड उपकुल, के जहाँ एक ओर नवीन टैक्सानों के अवशेष खोजते चले जा रहे है वही दूसरी ओर 'रामापिथेसीन्स' वे जीवाश्म से प्रत्यक्ष सम्बन्धों को उजागर करते जा रहे हैं। जिससे यह स्पष्ट होता है कि रामापिथेकस मेधावी मानव का मायोसीन युगीन पूर्वज था (बर्नाड कैम्पबेल 1982)। दूसरे पुरामानवैज्ञानिकों की रामापिथेसीन से सम्बन्धित तीनों प्रकार की धारणायें− (i) ये कपि जीवाश्म हैं, (ii) ये प्रारम्भिक मानव अथवा हीमिनिड जीवाश्म हैं, (iii) ये कपि एवं मानव के मध्यवर्ती जीवाश्म हैं− एक सामान्य तथ्य को इंगित करते हैं कि मानव के आरम्भिक पूर्वज कम से कम मानव कपि की मध्यवर्ती स्थिति अवश्य रखते थे। जीवाश्म अभिलेख के इन तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि मानव एवं कपि प्रत्यक्षतः एक समान पूर्वजता रखते है जिसे आज अत्याधुनिक जैवासिकी, व्यवहारिकी एवं जैव रसायनिक तथ्य पुष्टि प्रदान करते है और यह भी धारणा व्यक्त करते है कि मानव एवं कपि (चिम्पैंजी) के पूर्वज अधिक से अधिक 80 लाख अथवा 40 लाख वर्ष पूर्व तक एक थे।

हॉमिनिड (मानव) कुल

हॉमिनिड कुल के आगमन की प्रमुखतः तीन दिशानिर्देशक उदविकासीय प्रवृत्तियाँ रही है, ये हैं− **द्विपादगमन , उपकरणों का निर्माण एवं उनका प्रयोग, मस्तिष्क विकास एवं भाषा** (सिम्पसन 1968)। ये तीन प्रमुख लक्षण कालक्रम की दृष्टि से समांग नहीं है। इनमें सबसे पहला लक्षण द्विपादगमन है। यह एक तथ्य ही इस बात का सैद्धान्तिक अनुमान लगाने के लिए पर्याप्त है कि न केवल हीमिनिड के पूर्वगामियों के उद्विकास की गति असमान रही बल्कि इस कुल के विकास के दौरान भिन्न−भिन्न अवयवों के उदविकास की गति भी असमान रही है जैसे हाथ के उदविकास का उदाहरण लें तो उसके उदविकास की अवस्थाओं में असमानता रही उदाहरणस्वरूप मैकाक, गिब्बन, ओरांग, गोरिल्ला एवं चिम्पैंजी के हाथों की रचना जिसके उदविकास की असमानता स्पष्ट है। अतः हीमिनिड के तीनों लक्षणों का उदविकास भी समान स्तर पर नहीं हुआ है।उनके अनुसार अन्तिम लक्षण मस्तिष्क की संरचना और अनुपात की दृष्टि से होमोवंश में दो समूह बनते है।पहले जिनमें अनेक अविकसित लक्षण विद्यमान रहे− पैलियोएन्थ्रापस एवं दूसरे समूह जिनमें मस्तिष्क का आधुनिकतम स्तर तक पूर्ण विकास हुआ− **नियोऐन्थ्रोपस** माने गये हैं। इस आधार पर होमो वंश में दो जातियाँ मानी गयी हैं।सिम्पसन ने आधुनिक पुरामानववैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर मानव जीवाश्मों को निम्न रूप में वर्गीकृत किया है−

प्रसिद्ध रूसी मानव वैज्ञानिक बलेरी अलेक्सेयेव (1986) इन्हीं लक्षणों के आधार पर मानव उदविकास की तीन अवस्थायें मानते हैं– आर्कैंथ्रापस पैलियोएन्थ्रापस नियोएन्थ्रापस।

कुल (Family) - हामिनिड (Hominidac)

उपकुल (Sub family)	वंश (Genus)	जाति (Spicies)
1. आस्ट्रेलोपिथेसिन (Australopithecinae)	आस्ट्रेलोपिथेकस	--
	पैरान्थ्रोपस	--
2. हॉमिनिन (Homininae)	पिथकैन्थ्रापस	–पिथकैन्थ्रापस इरक्टेस (डुवॉयस) –पिथकैन्थ्रायस पैकीनेंसिस (ब्लैक) –पिथकैन्थ्रापस हाइडेलवगैंसिस (स्कायटेनसैक) –पिथकैन्थ्रापस सोलेंसिस (ऑपेन नूर्थ) –पिथकैन्थ्रापस लीकेई (लीकी, हर्वरर) –पिथकैन्थ्रापस रुडोल्फेंसिस (अलेक्जेव)
	होमो	–होमो नियन्डरथलेंलिस (किग) –होमो सैपियंस (लाइनियस)

लेकिन उक्त मानव (हामिनिड) जीवाश्मों की वर्गीकरण व्यवस्था सर्वमान्य नहीं है क्योंकि वंश–होमों में इरेक्टस– पिथकैन्थ्रापस आदि को सम्मिलित किया जाता है तथा होमों की जाति–सैपियस के अन्तर्गत उपजाति नियंडरथलेंसिस माना गया है।आधुनिक विद्वानों द्वारा वंश होमों के अन्तर्गत दो जातियाँ (Spicies) (i) इरेक्टस एवं (ii) सैपिंयस मानी गयी हैं।इरेक्टस जाति के अन्तर्गत उपजाति– इरेक्टस एवं पेकीनेंसिस मानी जाती है तथा सैपिंयस जाति में नियन्डरथलेंसिस एवं सैपिंयस उपजातियाँ स्वीकारी गयी है। इसी प्रकार आस्ट्रेलोपिथेसिन जीवाश्मों की उक्त व्यवस्था भी विवादित है। इसलिए वर्गीकरण सम्बन्धी विवादित व्यवस्था से हटकर तीन प्रमुख मानव उदविकासीय लक्षणों के महत्व को समझते हुए यहाँ हम मानव उदविकास के तीन चरणों– आस्ट्रेलोपिथेसीन – होमो इरेक्टस – होमोसैपियस (– होमोसैपियंस सैपियस) का विस्तार उल्लेख करेंगे।

1. आस्ट्रेलोपिथेसीन (Australopithecines)

आदि मानव : खोज एवं भौगोलिक विस्तार

आस्ट्रेलोपिथेसीन की खोज की कहानी अत्यन्त रोचक है एक दिन की बात है जब एक शिष्या ने अपने शरीररचनाशास्त्री युवा शिक्षक को एक उस वानर जीवाश्म के कपाल को भेंट किया जो उसे चूने के पाषाणों के आस–पास की तलाश में प्राप्त हुआ था।वह युवा रचनाशास्त्री जो पेशे से शिक्षक था इस उपहार देख करके इतना अचम्भित एवं प्रेरित हुआ कि शीघ्रातिशीघ्र एक अपने मित्र को उस तलाश–स्थल के पुनर्निरीक्षण के लिए भेजा। जिसने चूने के पत्थर के ऊँचे टीले को डाइनामाइट से उडा दिया।इसके नीचे एक ऐसी गुफा मिली जिसमें भूरी चिपड़िया (Prown patches) जो सम्भवतः जीवाश्म अस्थियाँ से युक्त थी। चूने सम्बन्धी कार्य के प्रबन्धक ने अनेकों चट्टान से सने हुए जीवाश्म टुकडों को छटनी करके अपने मुखिया को सौंप दिया जिसने इन अवशेषों को अपने अपने महत्वाकांक्षी मित्र को भेजा। फिर क्या था ? एक नवम्बर 1924 को प्राग–इतिहास की दुनिया का एक नवीन अध्याय खुल गया।



चित्र 9 : 85 टांग से प्राप्त वास्तविक आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस

वह शरीर रचनाशास्त्री कोई और नहीं था बल्कि दक्षिणी अफ्रीका के जोहान्सबर्ग के विटवाटरस्ट्रैंड विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध विद्वान एवं प्रोफेसर रेमण्ड डार्ट थे। यह इस खोज के नायक थे।इन्होंने अपने मित्र डॉ० यंग को चूने की चट्टान खोदने का कार्य भार सौंपा। यहीं रेमण्ड डार्ट को दक्षिण अफ्रीका के टॉन्ग नामक क्षेत्र के चूना मिट्टी के उत्खननों से एक अवशेष प्राप्त हुआ। इसका नाम रेमण्ड डार्ट ने 'आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस' रखा।

'आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस' नाम जो 'आस्ट्रेलो', 'पिथेकस' एवं 'अफ्रीकैनस' शब्द से संयुक्त होकर के बना है जिसका अभिप्राय है क्रमशः **दक्षिणी कपि, अफ्रीका** अर्थात् 'दक्षिणी अफ्रीका का कपि' है।

इस प्रकार आस्ट्रेलोपिथेकस की खोज के पश्चात् जावा मानव सम्बन्धी विवाद समाप्त हुआ। कुछ वर्षों बाद अफ्रीका महाद्वीप मानव उत्पत्ति का केन्द्र स्थल माना जाने लगा। आस्ट्रेलोपिथेकस को मानव उत्पत्ति की एक विलुप्त कड़ी के रूप में स्वीकारा गया। कालान्तर में आस्ट्रेलोपिथेकस जीवाश्म के सदृश अनेकानेक जीवाश्म अफ्रीका के दक्षिणी भाग के अतिरिक्त क्षेत्रों पूर्वी से भी खोजे गये जो 1979 तक प्रकाशित किए जाते रहे हैं और यहाँ खोज का सिलसिला आज भी जारी हैं। इन सभी मानव के प्रारम्भिक अवशेषों को आस्ट्रेलोपिथेसिन वंश (जीनस) में सम्मिलित किया गया। कई पुरा मानव वैज्ञानिक आस्ट्रेलोपिथेसिन में एक उपकुल एवं इसके दो वंशों के अस्तित्व का मत प्रतिपादित किया है। आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल (Sub family), के प्रमुख जीवाश्मों को उत्खनन स्थान, खोजकर्ता आदि के साथ निम्न तालिका में प्रदर्शित किया जा रहा है–

तालिका : 2

	प्राप्ति स्थान	खोजकर्ता	खोज की तिथि	नाम एवं अवशेष खण्डों की संख्या
	दक्षिणी अफ्रीका :			
1.	ट्वांग	रेमण्ड डार्ट	1924	आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस (1)
2.	स्टर्कफॉन्टीन	राबर्टब्रूम	1936	प्लेसीएथ्रापस (28 – 43)
3.	क्रॉमड्रूनी	राबर्टब्रूम	1936	पैरन्थ्रापस रोबस्टस (5 – 6)
4.	मैकापैन	रेमण्ड डार्ट	1947	आस्ट्रेलोपिथेकस प्रामीथियस (8 – 13)
5.	स्वर्टक्रैंस	रावर्ट ब्रूम	1948	पैरन्थ्रापस क्रासीडेंस
6.	"	"	"	टिलैन्थ्रापस कैपेंसिस (10 – 94)
	पूर्वी अफ्रीका :			
7.	ओल्डवाय (तंजानिया)	मेरी लीकी	1959 से आज तक	जिन्जैन्थ्रापस ब्रायसिस (50 +)
8.	"	एल.वी. एस लीकी दम्पत्ति एवं जोनाथन लीकी	1960	होमोहैविलिस
9.	पेनिंज	––	1964	अधोहनु (1) (रोवस्टस)
10.	कैनापोई (कीनिया)	ब्रेन	1965	ह्यूमरस अस्थि (1) रोवस्टस
11.	ओमो नदी बेसिन (इयथोपिया)	एरमबोर्ग कोपेंस	1967–77	200 अस्थि जीवाश्म विषंड रोवस्टस
12.	चेंसोवांजा (कीनिया)	––	1971	(1) रोवस्टस
13.	लीटोलिल (तंजानिया)	मेरी लीकी	1974 से आज तक	आस्ट्रेलोपिथेक्स अफारेंसिस (13)
14.	हडार (इथयोपिया)	जोहांसन, ह्वाइट एवं कोपेंस	1974–1978	आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेंसिस (लूसी) (250)
15.	क्रूवी (तुर्काना झील कीनिया)	––	1967 से आज तक	आस्ट्रेलोपिथेकस रोवस्टस (150 +)

भूगर्भीय काल :

भूगर्भीय तिथि मापक के अनुसार आस्ट्रेलोपिथेसी प्रातिनूतन (Pliestocene) काल के आरम्भिक चरण में रहते थे। यह वह समय था जब धरातल ठण्डा होकर के हिमाच्छादित हो गया था। इस समय उत्तरी गोलार्ध के हिमावर्ती एवं अन्तर्हिमावर्ती एक एक करके सम्पूर्ण धरातल के वातावरण को प्रभावित करते रहे। आस्ट्रेलोपिथेसीन के मानव अवशेषों (प्रारम्भिक) की तिथि का अनुमान सापेक्ष तिथि निर्धारण (Relative dating) एवं निरपेक्ष तिथि निर्धारण (Absolute Dating) विधियों के द्वारा लगाया गया है।अनुसार अनुमानतः ये जीवाश्म 40 लाख वर्ष पूर्व से लेकर 10 लाख वर्ष पूर्व के हैं। जोहांसन, एवं ह्वाइट (1979) ने लीतोलिल के जीवाश्म अवशेषों को इनमें से प्राचीनतम माना है।

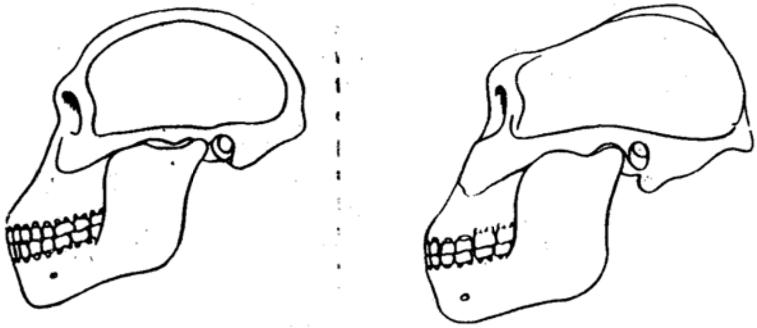
आस्ट्रेलोपिथेसीन अवशेषों का विवरण

क्रम सं०	जीवाश्म आयु (लाख वर्ष पूर्व)	स्थल	नाम	लक्षण
1.	20 लाख वर्ष पूर्व	ट्वांग	आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस	दुबला–पतला
2.	20–15	स्वार्टक्रैंस	पैरन्थ्रापस क्रासिडेंस	पुष्ठ एवं तगड़ा
3.	20–15		टिलैन्थ्रापस कैपेंसिस	दुबला–पतला
4.	20–15	क्रोमड्राई	पौरणआपस रोवस्टस	पुष्ठ तगड़ा
5.	30–35	मैवाइज सुगठ	आठ प्राथीमिवस	दुबला–पतला
6.	30–35	स्टर्ककाण्टीन	प्लेसी एन्थ्रापस	दुबला–पतला
7.	10.4–10.1	चेशोवाजा	सेवस्टस	पुष्ठ व प्रबल
8.	10.5	पेनींज	रोवस्टस	पुष्ठ व मोटा
9.	10.3–10.8		रोवस्टस	
10.	10.75-20.75	ओमो नदी बेसिन	आस्ट्रेलोपिथेकस	दुबला पतला,
11.	20–10.5	ओल्डुवाय	जिजैन्थ्रापस	दुबला पतला,
12.	"	"	होमोहैविलिस	पुष्ठ
13.	30.50-26.79	हदार	आस्ट्रेलोपिथेकस डाफारे सिस	दुबला पतला
14.	36.77–38.59	लितोलिल	"	पुष्ठ
15.	40.5–40.0	कैनापोई	रोबस्टस	पुष्ठ

इस प्रकार उक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि आस्ट्रेलोपिथेसिन मध्य एवं निम्न प्रातिनूतन के अतिरिक्त प्लायोसीन युग के अवसान एवं प्रातिनूतन एवं प्लायोसीन युग के सुविधाकल में भी विद्यमान रहे जैसे लीतोलिल एवं हदार से प्राप्त जीवाश्म जो 26 लाख वर्ष पूर्व से लेकर 38 लाख वर्ष मध्य के आंकलित किया गया है।

आस्ट्रेलोपिथेसीन विविधताएँ : उपकुल एवं जातियाँ

आस्ट्रेलोपिथेसीन समूह के जीवाश्म अवशेषों का सर्वाधिक आकर्षक तथ्य उनमें पायी जाने वाली आकारीय विविधता है।ये अवशेष जिनमें कपाल मुख्यतः पुष्ठता एवं मोटाई के आधार पर दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते है। प्रारम्भ में इस विविधता का कारण लैंगिक विविधता माना जाता था लेकिन कालान्तर में यह प्रचलित मत विश्वसनीय न रहा क्योंकि आस्ट्रेलोपिथेसीन की एक से अधिक जातियाँ मानी गयी।एक वह स्पीशीज है जो दुबले पतले आकार वाले थे जिनका प्रतिनिधित्व "आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस" करता है तथा दूसरे भारी एवं पुष्ठ शरीर वाले थे जिनका प्रतिनिधि सदस्य "आस्ट्रेलोपिथ सीन रोवस्टस" करता है। एक तीसरे प्रकार के आस्ट्रेलोपिथेसीन इनमें भी कुछ विविधता प्रदर्शित करते है अफ्रीका महाद्वीप के पूर्वी क्षेत्रों– तंजानिया, इथयोपिया से आदि से प्राप्त हुए है– इनमें "जिन्जैन्थ्रापस बोशेइ" प्रतिनिधि जीवाश्म माना जा सकता है।



(b) *A. africanus*

(a) *A. boisei*

चित्र 9 : 87 आस्ट्रेलोपिथेसीन विभेद प्रदर्शित करते हुए



चित्र 9 : 88 आस्ट्रेलोपिथेसीन के उत्खनन स्थल

जैसा कि पूर्व तालिका एवं चित्र सं० 9.88 (भौगोलिक विस्तार) में यह दर्शाया गयाहै कि सन् 1936 में डॉ० राबर्ट ब्रूम ने दक्षिणी अफ्रीका के स्टर्कफॉन्टेन गुफा से कुछ जीवाश्म अवशेषों की खोज की थी। यह स्थल ट्वांग कपाल के स्थल के उत्तर–पूर्व में लगभग 300 किमी० दूर स्थित है। उन्होंने इस जीवाश्म अवशेष का नाम "आस्ट्रेलोपिथेकस ट्रांसवालेसिस" (Austrolopitheeus Transvalensis) रखा क्योंकि ये मानव अवशेष ट्रांसवाल (Transvaal) नामक स्थान की एक गुफा से प्राप्त किये गये थे। कालान्तर में इसे 'प्लेसीएन्थ्रापस ट्रांसवालेसिस' (Plesianthropus Transvalensis) नाम दिया गया। प्रारम्भ में इसे किसी कपि का कपाल माना जाता है। ब्रूम ने ट्वांग कपाल से इसकी घनिष्ठता को उजागर करने की चेष्टा की। ब्रूम ने 1947 में अन्य जीवाश्म अवशेषों की खोज की। जिनका नाम क्रमशः 'आस्ट्रेलोपिथेकस प्रिमाथियस' (Australopithecus Premothcus) रखा। उन्होंने उत्खनन खोज कार्य इसके पश्चात भी क्रमिक रूप से जारी रखा। उनको 1948 में स्वार्टक्रांस स्थल, जो स्टर्कफाण्टेन से लगभग 2 किमी० दूर है, के एक खदान से एक गठीले आकार का अधोहनु प्राप्त हुआ। ब्रूम एवं राबिंसन ने 1949 -1950 के मध्य के जीवाश्म अवशेषों को इस स्थल से प्राप्त किया जिन्हें "पैरन्थ्रापस क्रासिडेंस" (Paranthropus Crassidens) के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया। इसके अतिरिक्त रावर्ट ब्रूम ने स्टर्कफाण्टेन के पूर्व लगभग 3 किमी० दूर स्थित क्रॉमडाई के मध्य प्रतिनूतन काल की स्तर से कतिपय जीवाश्म अवशेषों को खोजा जिन्हें "पैरन्थ्रापस रोबस्टस" (Parantbropus Robustnss) वैज्ञानिक नाम दिया।

इस प्रकार कई पुरामानवशास्त्री आकारीय लक्षण के आधार पर आस्ट्रेलोपिथेलीन वर्गीकरण व्यवस्था को उचित नहीं ठहराते हैं। वे दो से अधिक स्पीशीज की विधमानता का मत प्रतिपादित करते है। वे 'होमोसीहैविलिस' (Homo−Habilis) को एक तीसरी मानवनिकटस्थ जाति मानते है तथा एक और पृथक जाति आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेंसिस का प्रस्ताव करते है जो सबसे अधिक प्राचीन एवं पहले हामिनिड थे। ये सर्वाधिक प्राचीन एवं पहले मानववंशी आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेसिस प्लायोसीन युग के अन्तिम चरण के हैं। यह वह समय है जब रामापिथेसीन के अवशेष जीवाश्म अभिलेख में समाप्त हो जाते है। अतः इन्हें रामापिथेसिन एवं आस्ट्रेलोपिथेकस प्रजातियों की मध्यवर्ती कड़ी प्रस्तावित किया गया है (जोहांसन एवं ह्वाइट 1979)।

आकारीय लक्षणों (अस्थीय दुबला−पतलापन एवं पुष्ठता−गठीलापन) के आधार पर आस्ट्रेलोपिथेसीन की मात्र दो स्पीशीज को स्वीकारा गया है।इन दुबले−पतले (Gracite) एवं गठीले शारीरिक लक्षणों वाले आस्ट्रेलोपिथेसीन जीवाश्मों को पूर्व तालिका में प्रदर्शित किया गया है।

आस्ट्रेलोपिथेसीनों के सामान्य लक्षण

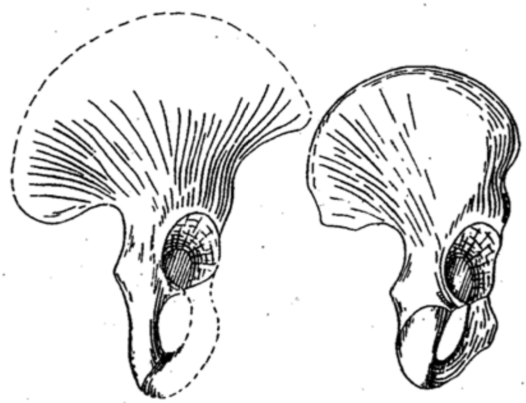
आस्ट्रेलोपिथेसीन उपकुल के जीवाश्म अवशेष सामान्यतया निम्न शारीरिक लक्षणों से युक्त है–

मस्तिष्कीय रचना

इनका मस्तिष्क आधुनिक मानव की तुलना में निम्न कोटि है। मस्तिष्क के आयतन का अनुमान इनके कपाल की धारिता के आधार पर किया जा सकता है। इनकी केपालीय घारिता 375 घन सेमी० एवं 775 घन सेमी० के मध्य ऑकी गयी है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि ये आदिमानव कपियों की तुलना में विकसित एवं प्रगतिशील मस्तिष्क रखते थे। इनके मस्तिष्क के दृष्टि, श्रवण, स्पर्श से सम्बद्ध भाग, वाणी से सम्बन्धित ललाट खण्ड, अपेक्षाकृत अधिक विकसित थे।

इनको कपालीय धारिता के आधार पर मानव की अपेक्षा आधुनिक कपि गोरिल्ला के अधिक निकटवर्ती रखा जा सकता है क्योंकि आधुनिक गोरिल्ला की कपालीय धारिता 420 − 752 घन सेमी० आंकलित की जाती है जो आस्ट्रेलोपिथेसिन के लगभग समकक्ष है लेकिन जब मस्तिष्क को शरीर भार के

अनुपात में आँका जाता है तो यह गोरिल्ला की तुलना में उच्चकोटि का 1 : 47 पाया गया है जब कि गोरिल्ला का 1 : 420 है। मेधावी मानव का मस्तिष्क शरीर भार के अनुपात में 1 : 42 है। इससे स्पष्ट होता है कि कपियों की अपेक्षा वे उच्चकोटि की मस्तिष्कीय रचना रखते थे।



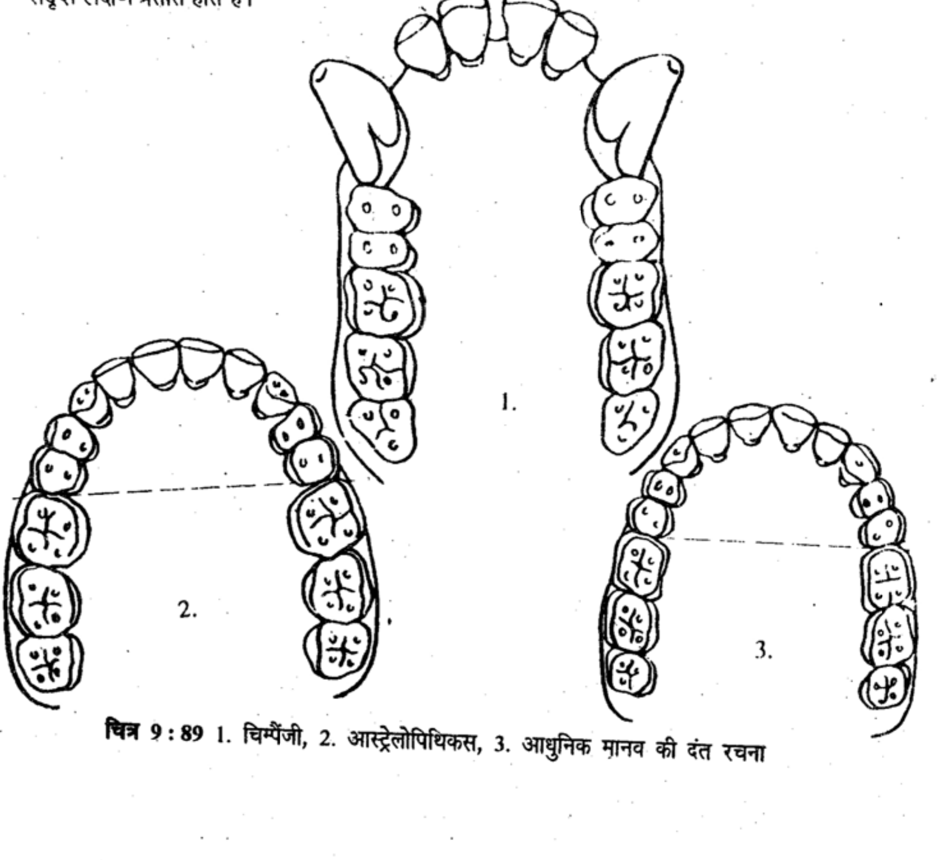
चित्र 9 : 86 स्टर्क फाण्टीन आस्ट्रेलोपिथेकस (बांयें) एवं आधुनिक बुशमैन (दांये) की दायीं श्रोणि अस्थि

कपाल :

इनके कपाल की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. कपाल का आकार अपेक्षाकृत लघु एवं कपियों से भिन्न है। इसकी मस्तिष्क गुहा लघु एवं उच्चहनु (Upper Jaw) की अस्थि अपेक्षाकृत पुष्ठ है इससे इनमें उदगतहनुता प्रतीत होती है।

2. कपाल गुम्बद पर कुछ उभरी मध्य कटिरेखा है लेकिन कपियों की तुलना में निम्न है। इसी प्रकार इनका उभरा उच्च भ्रूकटक क्षेत्र, उदगतहनुता से युक्त आनन्द मण्डल इनमें कपि सदृश लक्षण प्रतीत होते है।



चित्र 9 : 89 1. चिम्पैंजी, 2. आस्ट्रेलोपिथिकस, 3. आधुनिक मानव की दंत रचना

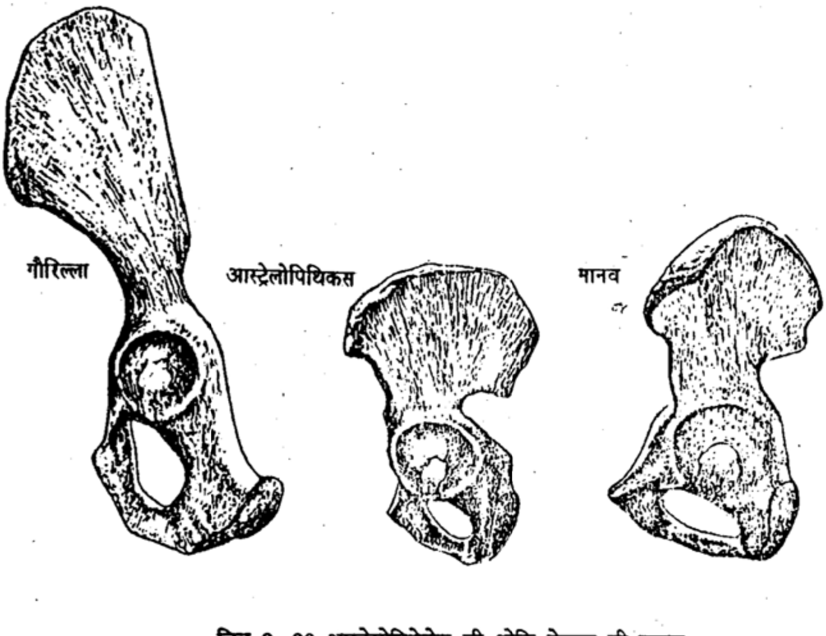
3. कपाल की ऊँचाई में वृद्धि आक्सिपिटल क्षेत्र की अग्रपश्च स्थित, कपाल की लम्बाई, आक्सिपिटल उभार (Torus) की निम्न स्थिति, निम्न इनियन उभार, न्यूखल क्षेत्र की ऊँचाई में वृद्धि, उच्च भ्रूकटक क्षेत्र की परिवर्धिक ऊँचाई, महारन्ध्र की अग्रसर स्थिति आदि लक्षण आधुनिक मानव से उसकी सादृश्यता स्पष्ट करते हैं।

4. अधोहनु का आकार बड़ा है, जो कपि सदृश होता हुआ भी सामान्य लक्षणों में मानव सदृश है उदाहरण स्वरूप कपियों के विपरीत इनके अधोहनु में **सीमियन शेल्फ** (Simian Shelf) अनुपस्थित है इसमें मानसिक रन्ध्र विद्यमान है।

5. दांतों का आकार मानव की तुलना में दीर्घ है लेकिन रचना में मानवसम है। कृतंक छोटे एवं ऊर्ध्वरेखीय हैं जो कपियों की अपेक्षा मानव सम है। रदनक भी आकार में छोटे है। दन्तावकाश अनुपस्थित है। मानव के सदृश इनकी निम्नाग्र पुराचवर्णक द्विकस्पीय (Bicuspid) है। कपियों के समान इनके रदनक दांतों में लैंगिक विभेद नहीं पाया जाता है।

उपांग अस्थिया एवं श्रोणि मेखला

खदानों से प्राप्त उपांग लम्बी अस्थियाँ एवं श्रोणि प्रदेशीय अस्थियाँ आस्ट्रेलोपिथेसीन के द्विपदगमन एवं ऊर्ध्व संस्थितीय व्यवहार को प्रदर्शित करते हैं क्योंकि इनकी ये अस्थिया मानव सदृश है। इनके पाव की अस्थि टैलस (Talus) मानव एवं कपि के मध्य की स्थिति प्रदर्शित करते हैं। ओल्डुवाय से प्राप्त हैविलिस का पादकंकाल छोटे आकार का है लेकिन द्विपदगमन व्यवहार को स्पष्टतया प्रदर्शित करता है। इसमें पदागुष्ठ एवं द्वितीय पदांगुलि के मध्य की दूरी मानव सम है। इसका सबसे अधिक प्राचीन जीवाश्म 'अफारेंसिस' 'लूसी' नामक मादा जीवाश्म जिसकी अधिकांश कंकालीय अस्थियाँ प्राप्त हुई है उसकी एड़ी की अस्थि द्विपदगमन व्यवहार को इंगित करती है जिसकी ऊँचाई लगभग 3.5 फिट से लेकर के 4 फिट की



चित्र 9 : 90 आस्ट्रेलोपिथेकेस की श्रोणि मेखला की तुलना

आंकी गयी है। इसका ह्यूमरोफीमोरल सूचकांक (Humerofemoral Index) मानव की अपेक्षा अधिक है जिससे यह सम्भावना व्यक्त की जाती है कि यह मानव की अपेक्षा वृक्षों पर चढ़ने में अधिक सक्षम थे और कुछ समय वृक्षों पर भी व्यतीत करते थे तथापि इनके स्थल वास के अनेकों साक्ष्य उपलब्ध है।

आस्ट्रेलोपिथेसिन की इलियम (Ilium) अपेक्षाकृत चौड़ी है। इससे सियैटिक खांच (Sciatic notch) गहरी हो गयी है। इसका इलियम स्पाइन उभरा है। आसनास्थिक गांठ (Ischial Taberosity) अपेक्षाकृत छोटी, गोल तथा पीछे की ओर खिसकी है। सैक्रम की स्थिति तथा संधि एसेटावुलम (Acetabulum) गढ्ढा के अधिक निकट है। इस प्रकार इसकी श्रोणिमेखला द्विपदगमन के अनुकूल है। (लि ग्रॉस क्लार्क 1967, नैपियर 1967)

इस प्रकार श्रोणिमेखला एवं उर्वस्थि प्रतिरूपों की आकृति एवं जैव यान्त्रिकी (Biomechanism) का विश्लेषण लेवज्वाय आदि (1973) ने किया है जिनके अनुसार ये वर्तमान मानव के सदृश द्विपदगमन नहीं करते थे। लेकिन द्विपदगमन लक्षण इनमें विद्यमान हैं। जत्रुक (Clavicle) अस्थि मानव सदृश है। हाथ की अस्थिया इनके हाथ की परिग्राही प्रवृत्ति को इंगित करती है। उक्त प्रवृत्तियों के आधार पर क्लार्क (1967), नेपियर (1967) एवं वाशवर्न ने मत व्यक्त किया है कि ये सम्भवतः वृक्षवासी जीवन त्याग करके स्थलवास को ग्रहण करने वाली संक्रमण कालीन अवस्था में थे।

सांस्कृतिक एवं पारिस्थितिक लक्षण

आस्ट्रेलोपिथेसीन जीवाश्म अवशेषों के प्राप्ति स्थानों के समीप से पाषाण उपकरण उपलब्ध हुए है। यह उपकरण कई खदानों जैसे– स्वार्तक्रान्ज, स्टर्कफाण्टीन, ओल्डुवाई तथा ओमो से प्राप्त किये गये हैं। ये साधारण उपकरण यह संकेत देते है कि इनमें उपकरण निर्माण एवं इनके प्रयोग की क्षमता थी जो इनकी मस्तिष्क की जटिल रचना से अधिक स्पष्ट होता है। (ब्रूम एवं राविन्सन 1949, नेपिये 1962, क्लार्क 1967)। डार्ट (1940 – 1971) ने तो यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ये टूटी हडिडयों का प्रयोग अनेक रूपों से उपकरण की भाँति करते थे। उपकरणों में पाषाण उपकरण पेबुल चापर (Pebble Chopper) अधिकांशतया पाये जाते है। ओल्डुवाय स्थल से लगभग एक दर्जन प्रकार के उपकरण प्राप्त किए गये है जो अनुमानतः खुरचनें, काटने तथा खुदाई के काम लाये जाते होंगे।

आखेट :

आस्ट्रेलोपिथेसीन जीवाश्मों के उत्खन्ननों से यह विदित होता है कि उस समय अनेक प्रकार के प्राणी जैसे– हरिण, हाथी, गैंडे, घोडें, जिराफ, दरियायी घोडें, सुवर आदि अस्तित्व में थे। इन जानवरों की अस्थियों के ढेर से पता चलता है कि वह कम से कम छोटे जानवरों का शिकार अवश्य करता था तथा मांसाहारी जीवन भी व्यतीत करता होगा। इसके अतिरिक्त शाकाहारी भी होगा। जानवरों का शिकार ये स्वयं करते थे कभी–कभी जंगली जानवरों की सहायता भी लेते थे। कुछ विद्वानों के अनुसार बड़े जानवरों के शिकार, को मौका पाकर उठा ले भागता होगा लेकिन वाशवर्न (1968) ने इस पर आपत्ति व्यक्त करते हुए छोटे जानवरों के शिकार की सम्भावना व्यक्त की है।

स्थल आवास :

ओल्डुवाय की खदानों से ऐसा स्थल मिला है जो इनके निवास स्थान के अस्तित्व का बोध कराता है। मैंरी लीकी (1971) के अनुसार यह स्थान 3400 वर्ग फिट है जिसमें 4000 से अधिक जीवाश्म तथा उपयोग में आने वाले उपकरण प्राप्त हुए है। एक अन्य स्थल अर्धवृन्ताकार रूप में पत्थरों से घिरा है जो निश्चित रूप से निवास स्थान प्रतीत होता है। यह नियत स्थान तथा उपकरणों का सामूहिक उपयोग इनके सामाजिक जीवन को इंगित करते हैं।

इनकी सामाजिक व्यवस्था के विषय में अनेकों पुरामानव वैज्ञानिकों ने परिकल्पनायें की है जो प्राइमेट एवं अन्य शिकारी जीवों के तुलनात्मक अध्ययनों पर आधारित है। वर्डसेल (1975) ने गुड़ाल के चिम्पैंजी

अध्ययन के आधार पर इनके सामाजिक जीवन की पुष्टि की है। इनके अनुसार उनमें परिवार का अस्तित्व समूह के रूप में होगा। जिसमें लगभग 25 व्यक्ति रहते होंगे। यह संख्या घटती बढ़ती रही होगी। इनमें स्त्री–पुरुष का कार्य विभाजन भी रहा होगा। इनका जीवन काल अधिक लम्बा नहीं था। इनकी औसत जीवन आयु 22.9 वर्ष की होगी।(कुर्टेन 1972)।

विशिष्ट सदस्यों पर एक दृष्टि



चित्र 9 : 91 आस्ट्रेलोपिथेसीन की सम्भावित पुनर्रचना एवं सम्भाव्य पर्यावरण (रिचर्डसन एवं स्टब्स, 1976)

आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेंसिस :

आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेंसिस की खोज 1947 से लेकर के 1977 के मध्य में इथियोपिया के हदार एवं तंजानिया के लीतोलिल में की गयी थी जिसका उल्लेख इसके पूर्व किया जा चुका है। प्राप्त सूचनाओं से यह विदित होता है कि यह प्रथम हामिनिड प्लायोसीन–प्लाइस्टोसीन काल के संक्रमणकालीन स्थितियों में जीवनयापन करते थे। यह सर्वप्रथम द्विपदगामी व्यवहार प्रदर्शित करने वाले आदिमानव है।

शारीरिक लक्षण :

दन्त विन्यास– मध्यवर्ती कृंतक का आकार वाह्य कृंतक की अपेक्षा बड़ा है। रदनक बड़े आकार के है जो नीचे एवं ऊपर की ओर निकले है। रदनक की जड़े भी लम्बी एवं बड़ी है पुराचवर्णक द्विकस्पीय है। इनकी दो जड़े है। ऊपरी पुराचवर्णक की तीन जड़े, दृष्टिगोचर होती हैं। चवर्णक मानवसम Y – 5 कस्प प्रतिरूप के लक्षण प्रदर्शित करता है। तृतीय चवर्णक समान्यतया दीर्घ है। चवर्णकों के आकार का क्रम सामान्यतया M3 M2 M1 हैं। इस प्रकार दांतों के लक्षण मानव एवं कपि के मध्य की स्थिति को प्रदर्शित करते हैं। इनमें लैंगिक द्विरूपता पायी जाती है।

कपाल :

हदार एवं लीतोलिल से कपाल के कई अंश प्राप्त हुए है। प्रौढ़ कपाल चिन्हित एलब्योलर उदगतहनुता प्रदर्शित करता है जो कृंतकों की जडों के अग्रसर होने से प्रतीत होता है। नासिका गुहा (Pyriform Apertuse) का निम्न तटवर्ती उभरा किनारा दोनों पाश्र्वों की ओर अग्रसर है। जाइगोमेटिक चाप (arch) अग्र एवं पार्श्व की ओर सपाट है। इनका तालु संकीर्ण है। दंत चाप लम्बा, संकीर्ण एवं परवलयाकार (Parabolic) है। दंत पंक्तियों में बहुत ही हल्का दन्तावकाश पाया जाता है। कपाल की आंकलित धारिता 380 से 500 घन सेमी० है।

अधोहनु :

यह मानव सम है तथापि कुछ लक्षण कपि सदृश भी है। इसके रैमस अपेक्षाकृत हल्के ऊर्ध्व की ओर उभरे हैं। ये पीछे की ओर अधिक फैले हैं। मानसिक रंध्र अपेक्षाकृत नीचे की ओर स्थित है। सिम्फीसियल क्षेत्र गोल एवं पार्श्व की ओर उभरा है जो जिसका निम्न क्षैतिज कूटक्षेत्र (Torus) शेल्फ के आकार की अपेक्षा निम्न एवं गोल है।

कपालेतर कंकालीय लक्षण :

सम्पूर्ण कंकालीय अस्थियाँ प्राप्त न होने के कारण इनकी सम्पूर्ण विशेषताओं का ज्ञान अपूर्ण है। पूर्ण कंकाल 'लूसी' (हदार) का है जिसकी शारीरिक लम्बाई लगभग 3.5 से 4 फिट की है। यह मादा सदस्य का कंकाल है। इसकी उच्चांग की अस्थियाँ निम्नांग अस्थियों की तुलना में मानव की अपेक्षा कुछ लम्बी है। इसका ह्यूमरोफीमोरल सूचकांक 83.9 है जो मानव से अधिक है। इसकी पाद–अस्थि एवं श्रोणिमेखला द्विपदगामिता को प्रदर्शित करती है। इसकी श्रोणिमेखला अस्थि की इलियम की अग्र, उच्च एवं निम्न स्पाइन उभरी है जिससे इसकी ऊचाई कपियों की भाँति नहीं है। सरवाइकल कशेरुक अस्थि का स्पाइनस प्रवर्ध लम्बा है जो पूर्णतः मानवसम नहीं है।

उदविकासीय स्थिति :

29 लाख वर्ष पूर्व से लेकर 38 लाख वर्ष पूर्व प्लायोसीन–प्लाइस्टोसीन कालीन आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेंसिस अन्य आस्ट्रेलपिथेसीनों की अपेक्षा आदिम प्रकार के लक्षणों का प्रतिनिधित्व करते है। ये लैंगिक द्विरूपता को प्रदर्शित करते है। उन्हें जोहांसन एवं ह्वाइट (1979) ने पृथक जीनस के अन्तर्गत रखकर इन्हें आदि मानव का प्राचीनतम वंश माना। यह भी सम्भावना व्यक्त की है कि यह आदि मानव (Early Hominid) अन्य आस्ट्रेलोपिथेसीन जीनसों (वंशों) के पूर्वगामी है जिनसे इनकी उत्पत्ति हुई है। इनका यह मत अनेकों पुरामानव वैज्ञानिकों को मान्य है।

आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस

आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस का प्रथम जीवाश्म जो रेमण्ड डार्ट को दक्षिणी अफ्रीका में टांग्स की खदानों से प्राप्त हुआ। यह अधिकतम 6 वर्ष के बालक का एक कपाल है जिसकी खोज से सम्बन्धित रोचक घटना एवं उसके सम्भावित काल का वर्णन इसके पूर्व किया जा चुका है।

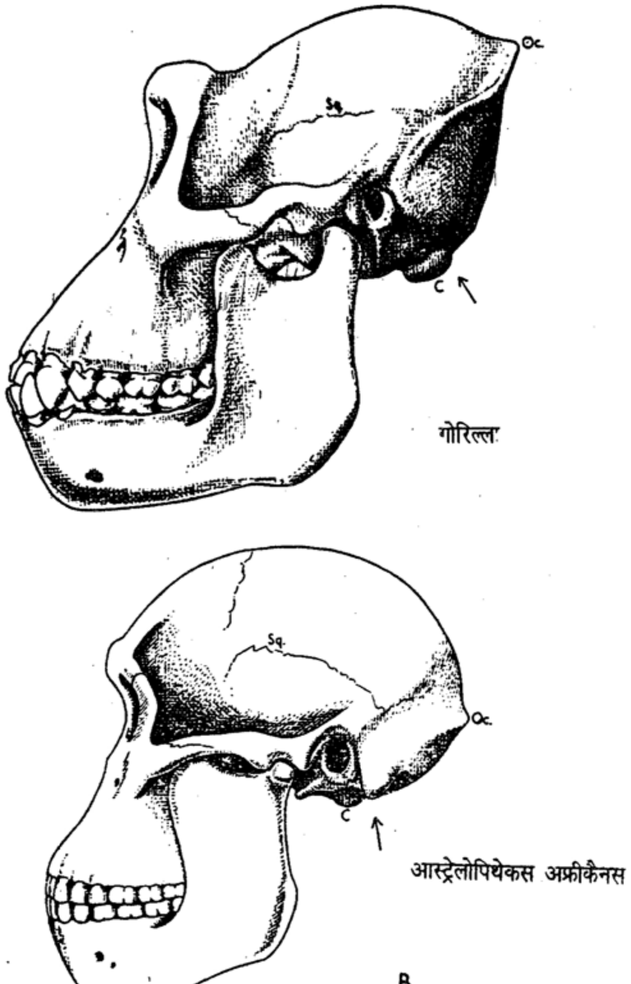
इनका विस्तार मुख्यतया दक्षिणी अफ्रीका तथा अंशतः कीनिया व इथिपोपिया में रहा जैसा कि जीवाश्मों के अध्ययन से प्रतीत होता है।

शारीरिक लक्षण

कपाल :

आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस की ललाटास्थि सुविकसित है। इसका विस्तार सम्भवतः मस्तिष्कीय ललाट खण्डों (Frontal lobe) के परिवर्धन का परिणाम है। उच्च भ्रूकटक क्षेत्र अल्प विकसित है। भ्रूकटक टॉरस (Supra Orbital Torus) का नितान्त अभाव है। कपाल ऊचाई कपियों की तुलना में अधिक है। ये लक्षण इसकी परिवर्धित मस्तिष्क रचना का संकेत करते है। इसके आयतन का अनुमान कपाल की धारिता से लगाया जा सकता है। इसकी कपालीय धारित 400 – 600 घन सेमी० के मध्य है। जिससे ये कपि सदृश करोटि–धारिता से युक्त प्रतीत होते है। लेकिन शरीर के भार के अनुपात में यह कपियों की अपेक्षा उच्च कोटि का मस्तिष्क प्रदर्शित करता है।

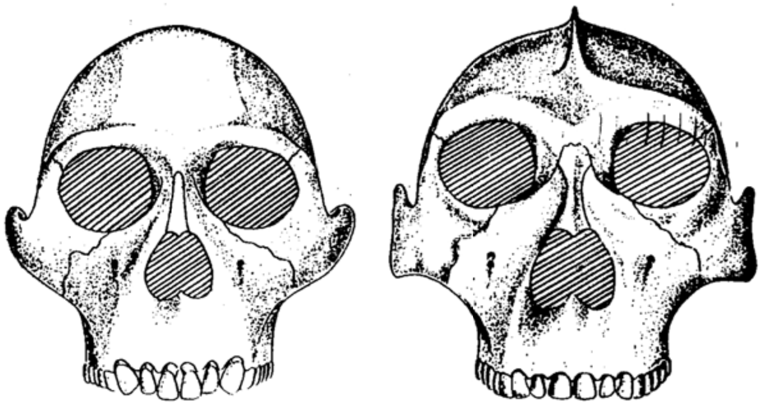
कपाल की लम्बाई कपियों से अधिक है। यह दीर्घ शिरस्क कोटि (Dolichocephalic) का कपाल है। कपाल की पश्च अस्थि–आक्सिपिटल का टोरस की स्थिति अपेक्षाकृत निम्न है जो यह संकेत करती है कि ग्रीवा क्षेत्र की मांसपेशिया अधिक विकसित नहीं थी। कपाल महारन्ध्र की अग्र स्थिति, न्यूखल पेशिया एवं आक्सिपिटल कंडाइल की रचना से प्रतीत होता है कि कपाल कशेरुकदण्ड पर पूर्णतः संतुलित था। आकारिकीय संरचनात्मक साक्ष्य इंगित करते है कि ये ऊर्ध्वगामी थे।



चित्र 9 : 92 आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस एवं गोरिल्ला के कपाल का तुलनात्मक चित्रण

कपाल का उच्च हनु (Upper Jaw) उदगत है जिससे आननमण्डल अपने स्तर से उभरा प्रतीत होता है। नेत्रगुहा गोलाकृति के हैं जो ओरांगुटान से समानता दर्शाते हैं। नासिका गुहा छोटा एवं मानवसम है। प्रिमैक्सिला (Premaxilla) विकसित है। ऊपरी जबड़े में हल्का दन्तावकाश उपस्थित है जो इनकी कपि एवं मानव की मध्यवर्ती स्थिति दर्शाता है लेकिन यह अफारेंसिस की अपेक्षा विकसित प्रतीत होते हैं।

ये अपने छोटे आननमण्डल, उच्च नेत्रगुहा, छोटी चौड़ी एवं अन्तर्नासिका सूचर से पृथक नासिकास्थि सिर के अधिक सापेक्ष आननमण्डल आदि लक्षणों में कपियों से भिन्न है।



चित्र 9 : 93 आस्ट्रेलोपिथेकस की पुनर्निर्मित रचना (डब्ल्यू. बैन्डेल)

ये परिवर्षित कपाल, अधिकाधिक चापाकार ललाट, नेत्रगुहा की स्थिति, नीचे की ओर प्रसरित आनन क्षेत्र, ग्रीवा क्षेत्र की स्थिति, हल्का भ्रूकट के क्षेत्र उभार, अग्रसर महारन्ध्र आदि लक्षणों में पूर्णतः मानवसम है।

अधोहनु :

यह दीर्घाकार है। इससे यह कपि से समानता रखता है लेकिन कई लक्षणों में इनसे भिन्न भी हैं। इनकी दांतों की रचना मानव सदृश है। इनका दंतचाप परवलयाकार है। इनके दांत भी मानव सम है। स्थाई दांतों में कृतक छोटे एवं सीधे है। रदनक अपेक्षाकृत छोटे, चपटे तथा गोठिल नोक वाले है। सामान्यता अधिक गोल तथा एक दूसरे से सटे हुए है। निम्न पुराचवर्णक द्विकस्पीय है।

आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस की शारीरिक कद का अनुमान लगाया गया है। सम्भवतः यह लगभग 4 फिट का होगा। इस का भार 40 से 60 पाउण्ड के मध्य आंकलित किया गया है।



चित्र 9 : 94

उदविकासीय स्थिति :

अफ्रीकैनस के सम्पूर्ण आकारकीय विशिष्टताओं से यह संकेत होता है कि यह मानव का पूर्वज है लेकिन यह विवादास्पद है।अतः भले ही यह मानव का यथार्थ पूर्वज न रहा हो तथापि मानव वंशवृक्ष में आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस प्राचीन मानव वंश का प्रतिनिधित्व करते हैं और मानव उदविकासीय अध्ययनों में एक मील का पत्थर है।

प्लेसीयन्थ्रापस ट्रांसवालेंसिस

'प्लेसीयन्थ्रापस ट्रांसवालेंसिस' की खोज रावर्ट ब्रूम ने 1936 में दक्षिणी अफ्रीका के ट्रांसवाल नामक स्थान पर की थी। यह खोज ट्रांसवाल के स्टर्कफ्राण्टेन नामक गुफा के उत्खनन से सम्पन्न हो सकी। यहाँ पर उनको कपाल के अपभ्रंश अवशेष, 141 दाँत, कुछ अस्थियाँ जिनमें पेलविस भी सम्मिलित है, प्राप्त हुई। सर्वप्रथम रावर्ट ब्रूम ने इसका नाम 'आस्ट्रेलोपिथेकस ट्रांसवालेंसिस' रखा था जिसे बाद में 'प्लेसीयन्थ्रापस' के नाम से जाना गया।

डॉ० ब्रूम ने इन अवशेषों को मध्य प्लाइस्टोसीन युग का आंकलित किया है जो आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस से प्राचीन है।

राव्रट ब्रूम के पश्चात् स्टर्क फॉण्टेन से और भी जीवाश्म अवशेष प्राप्त किये गये है। 1947 में आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस का कपाल प्राप्त किये गये है। यही से 1957 में राविन्सन मेशन को कई उपकरण भी प्राप्त हुए है। इस स्थल पर उत्खनन कार्य होवियाज के नेतृत्व में अब भी जारी है।

शारीरिक लक्षण. :

प्लेसियन्थ्रापस के शारीरिक लक्षण निम्नलिखित हैं–

1. इसकी कपालीय धारिता 435 – 600 घन सेमी० आंकलित की गयी है।

2. आनन मण्डल की सतह अवतल (Concave) है।

3. प्लेसियन्थ्रापस की नासिका अस्थि लम्बी है जिससे नासिका गुहा की ऊँचाई अपेक्षाकृत कम है। ये आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस से भिन्न हल्की भिन्नता प्रदर्शित करते है क्योंकि आस्ट्रेलोपिथकस अफ्रीकैनस की नासिका सपाट एवं चौड़ी है।

4. उच्च अधिभ्रूकटक अल्प विकसित है जिससे ये कपियों से भिन्न आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस के समकक्ष लक्षण प्रदर्शित करते है।

5. प्लेसियंथ्रापस ट्रांसवालेंसिसस में प्रीमैक्सिलरी सूचर विद्यमान है जो कपि सदृश लक्षण है जबकि आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस से भिन्नता रखते है जिनमें यह सूचर विद्यमान नहीं है। मानव में भी यह सूचर विद्यमान नहीं है।

6. रदनक एवं कृतंक के मध्य पाया जाने वाला दन्तावकाश आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस के सदृश है। यह लक्षण कपियों में पूर्णतः एवं चिन्हित दृष्टिगोचर होता है जबकि मानव में अनुपस्थित है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह मानव एवं कपि के मध्यवर्ती स्थित का प्रदर्शन करते है।

7. इनके बड़े आकार के चवर्णक दांत आस्ट्रेलोपियेकस अफ्रीकैनस के सदृश नहीं है। ये दांत चिम्पैंजी एवं मानव की अपेक्षा बड़े आकार के है।

रदनक दांत अपेक्षाकृत छोटे है जो आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस के समान है एवं कपि से भिन्न है।

8. एलव्योलर प्रवर्ध उद्गतहनुता से युक्त है जिससे इनके कपाल का आनन कपि के समान दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस का एलव्योलर प्रवर्ध भी उद्गतहनुता प्रदर्शित करता है।

श्रोणिमेखला अस्थि :

स्टर्कफ्राण्टेन की श्रोणि स्वार्तक्रांज एवं मेंका पांसगाट के समान ही मानवसम है यद्यपि थोड़े बहुत विभेद अवश्य है। व्यावहारिक विशेषताओं में मानव से सादृश्य रखते है।

इलियम अपेक्षाकृत चौड़ा है इससे इसका पीछे की ओर का विस्तार अधिक है। सियाटिक खांच अपेक्षाकृत गहरी है। इलियक स्पाइन का उभार अधिक है जिससे पार्श्व ऊपर एवं मध्य की ओर यह अपेक्षाकृत विकसित हो गया है। सैक्रम एसेटाबुलम के निकट खिसक आया है। आसनास्थि गांठ अपेक्षाकृत छोटी एवं गोल है। सभी विशेषताओं में श्रोणि द्विपदगमन लक्षण को इंगित करती है।

सांस्कृतिक लक्षण :

स्टर्कफ्राण्टेन गुफा से पाषाण उपकरण भी प्राप्त किये गये है जो बहुत ही साधारण आकार के है। लेकिन मस्तिष्कीय क्षमता से यह स्पष्ट होता है कि ये उपकरण का निर्माण के साथ–साथ उसका उपयोग भी करना जानते थे।

स्टर्कफ्राण्टेन से कुछ अन्य जानवरों जैसे बैबून आदि की खोपड़िया टुटी हुई पायी गयी है। इससे यह संकेत मिलता है कि सम्भवतः यह आखेट करते थे एवं मांसहार भी करते थे।

इस प्रकार प्लेसियन्थ्रापस जो 20 से 30 लाख वर्ष पूर्व अपना जीवन यापन करते थे। उन्हें प्रथम उपकरण निर्माता माना जा सकता है क्योंकि आस्ट्रेलोपिथेसीन जीवाश्मों में इसके अतिरिक्त स्वांक्रांज, ओल्डुवाई एवं ओमों उत्खन्न स्थलों से प्राप्त किये गये है जो सभी जीवाश्म स्तर 10 लाख वर्ष पूर्व से लेकर 15 लाख वर्ष पूर्व के अनुमानित किये गये है। कुछ पुरामानवशास्त्री स्टर्कफ्राण्टेन का मानव–कपि जीवाश्म टाग्स एवं मैंकापान्सगाट (मैकापान) जीवाश्मों को समकालीन मानते है।

उदविकासीय स्थिति :

प्लेसियन्थ्रापस ट्रांसवालेंसिस आकार में दुबले–पतले संरचना के प्राचीन मानव प्रतीत होते है। यह आस्ट्रेलोपिथकस अफ्रीकैनस से कुछ लक्षणों में भेद रखते हुए भी कई लक्षणों में समानता प्रदर्शित करते है। कपालीय धारिता में दोनों प्लेसियन्थ्रापस एवं आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस समानता प्रदर्शित करते है इसलिए दो अथवा तीन जीनस की अवधारणा प्रस्तुत करने वाले पुरामानवशास्त्री राविंसन आदि ने इसे पृथक मान्यता न देकर के आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस का समकालीन एवं समरूपी मानते हुए एक जीनस 'आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस' में समाविष्ट कर लिया है। जिसे मानव का विवादास्पद पूर्वज माना जाता है।

आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस एवं पैरन्थ्रापस रोबस्टस :

डॉ॰ राबर्ट ब्रूम ने 1938 में क्रोमड्राई की मध्य प्लाइस्टोसीन काल की भूपरत में स्टर्कफाण्टेन के 3 किमी॰ दूर पूर्व में दो व्यक्तियों के जीवाश्म भग्नावशेष प्राप्त किया। इसका नाम उन्होंने इसके गठीले आकार के फलस्वरूप "पैरन्थ्रापस रोवस्टस" रखा। बाद में इसके अवशेष दक्षिणी अफ्रीका के क्षेत्रों के अतिरिक्त पूर्वी अफ्रीका जिसमें तंजानिया आदि देशों में भी प्राप्त किये गये।



चित्र 9 : 95 जिजैन्थ्रापस एवं प्लेसियेन्थ्रापस के कपाल (बायें एवं दायें)। इनमें पहला गठीले आकार (Robust type) एवं दूसरा लघु एवं दुबले-पतले आकार (Fragil type) के सदस्य हैं

राविंसन ने आस्ट्रेलोपिथेसीन उपकुल में मात्र दो जीनस की परिकल्पना की। पहला जीनस **आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस** जिसके अन्तर्गत– आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस, प्लेसियन्थ्रापस ट्रांसवालेसिस, आस्ट्रेलोपिथेकस प्रीमाथियस आदि दुबले पतले आकार की अस्थियों के सदस्य सम्मिलित किये जबकि दूसरे समूह जीनस में पैरन्थ्रापस रोवस्टस में पैरन्थ्रापस रोवस्टस, पैरन्थ्रापस क्रासिडेंस, टेलेन्थ्रापस कैपेंसिस, जिन्जैंथ्रापस वॉशेयी, मेगान्थ्रापस आदि पुष्ठ एवं गठीले आकार वाले जीवाश्म सदस्यों का समावेश किया। इनके मत का कई पुरामानव वैज्ञानिकों ने समर्थन किया है। यहाँ पर इन दोनों जीनसों की तुलनात्मक विवेचना की जा रही है :

शारीरिक लक्षण :

आस्ट्रेलोपिथेकस रोबस्टस एवं किसी सीमा तक आस्ट्रेलोपिथेकस वॉशेयी (जिन्जैन्थ्रापस) बड़े आकार वाले मानव थे। इनका सम्भवतः 70 से 100 पाउड शारीरिक भार था। ये अपने दुबले पतले आकार के सम्बन्धी (आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस) से लगभग 1 फिट अधिक ऊँचे कद के थे।इनका शारीरिक कद लगभग 5 फिट का था।

मस्तिष्क (Brain) :

बड़े आकार वाले आस्ट्रेलोपिथेसीन अपने गठीले शरीर के साथ साथ कपालीय धारिता भी अपने अन्य सम्बन्धी (आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस) से कम नहीं रखते है। इनकी कपालीय धारिता 400 घन सेमी० से 600 घन सेमी० के मध्य अनुमानित की गयी है।

कपाल (Cranium) :

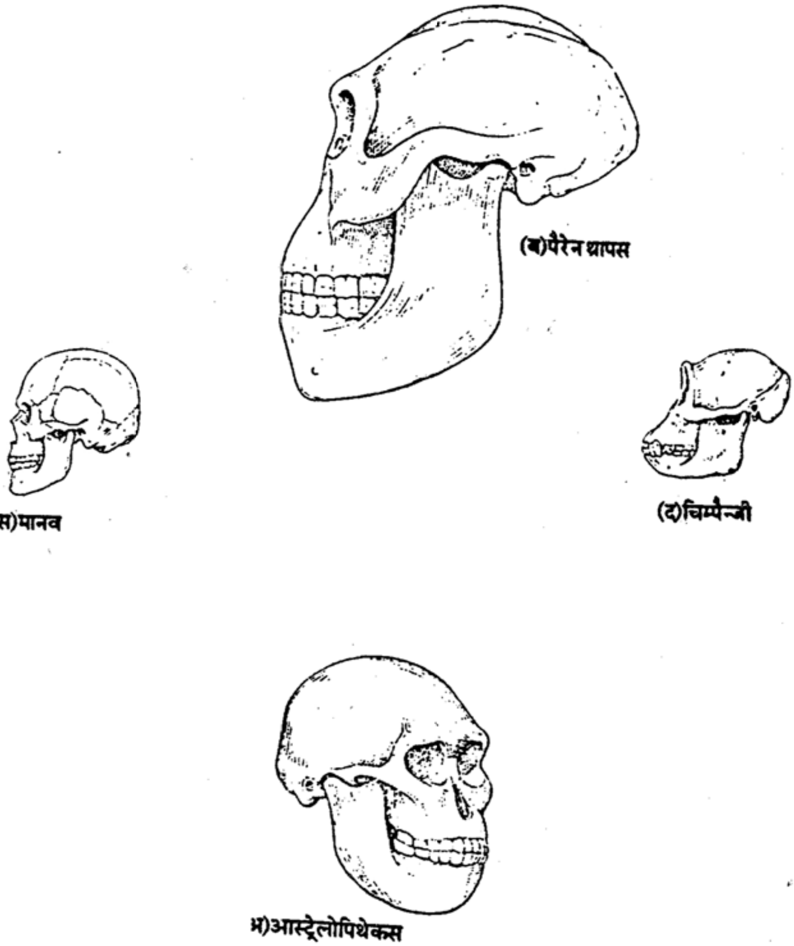
कपाल आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस की तुलना में दीर्घ है। कपाल के फ्रण्टल क्षेत्र में बड़ा अधिभ्रूकटक (Supraorbital ridge) है लेकिन इसके सापेक्ष ललाट भाग नहीं है जबकि आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस में अधिभ्रूकटक अधिक विकसित नहीं है। कपाल गुम्बद पैरन्थ्रापस का गोल एवं विस्तीर्ण नहीं है जबकि आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस ऐसा लक्षण रखता है। इसी प्रकार सजाइटल क्रेस्ट (Sagittal Crest) हल्का विकसित है। गण्डास्थि क्षेत्र (Zygomatic region) एवं जबड़ा भारी एवं उद्‌गत है जिसके आननीय उद्‌गतहनुता दृष्टिगोचर होती है। जबकि आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस में सजाइटल क्रेस्ट विकसित नहीं है। गण्डास्थि एवं जबड़ा अपेक्षाकृत कम भारी एवं उद्‌गत है। कपाल का पार्श्व दबाव अर्थात् टेम्पोरल फोसा पैरथ्रापस में दीर्घाकार है जबकि आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस में यह मध्याकृति का है। पश्च कपाल क्षेत्र में निम्नतलीयटारस है। कपाल के निम्न भाग में महारन्ध्र (Foramen Magrum) की स्थिति आस्ट्रेलोपिथेकस की अपेक्षा अग्रसर नहीं है।

जबड़ा (Mandible) :

रोबस्टस का जबड़ा आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस की अपेक्षा भारी है लेकिन बड़े आकार का जबड़ा दोनों जीनस रखते हैं। पैरन्थ्रापस रोबस्टस के अधोहनु में **सीमियन शेल्फ** की विद्यमानता दृष्टिगोचर होती है जो लक्षण कपि सम है। इनका दंत चाप अंशतः परबलयाकार (Parabolic) है, जबकि इसके विपरीति आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस जीनस में सीमियन शेल्फ अनुपस्थित, दंतचाप पूर्णतः परवलयाकार है।

दंत विन्यास (Dentition) :

पैरन्थ्रापस के दांत अपेक्षाकृत बड़े आकार के हैं। दोनों पुराचवर्णक अपेक्षाकृत बड़े आकार के हैं जो



चित्र 9 : 96 आस्ट्रेलोपिथेसीन की मानव एवं चिम्पेंजी कपाल से तुलना

आकार एवं प्रकार्य में अपने सम्बन्धियों की अपेक्षा परिवर्तित हैं। लेकिन इनके कृंतक एवं रदनक आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस सदृश है। इनके चवर्णक भी अपेक्षाकृत ब.डे आकार के है **ब्रर्डसेल**(1975) ने इनके तुलनात्मक अध्ययन को जिस प्रकार दर्शाया है जिसे यहाँ निम्न तालिका में प्रदर्शित किया जा रहा है–

दांत क्षेत्र (मि० मी० 2)		होमोइरेक्टस	आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस	पैरन्थ्रापस रोवस्टस	आस्ट्रेलोपिथेकस बॉरोयी
प्रथम कृतंक	(1_1)	79	78	71	80
द्वितीय कृतंक	(1_2)	66	44	49	52
रदनक	(C)	98	91	82	86
प्रथम पुराचवर्णक	(PN_1)	101	111	140	185
द्वितीय पुराचवर्णक	(PM_2)	95	117	163	212
प्रथम चवर्णक	(M)	150	173	200	269
द्वितीय चवर्णक	(M_2)	147	213	231	361
तृतीय चवर्णक	(M_3)	116	206	252	335

उक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि पैरंथ्रापस रोवस्टस जो अधिकांश लक्षणों में आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस की अपेक्षा दीर्घ आकार के दांत रखते थे, उनसे भी थोड़ा बड़े आकार वाले दांतों का प्रतिनिधित्व आस्ट्रेलोपिथेकस वॉशेयी करते थे।आस्ट्रेलोपिथेसीन उपकुल में यह भिन्नता इनकी खाद्य आदतों के परिणामस्वरूप थी। आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस की अपेक्षा रोवस्टस दांत सम्भवतः अधिक शाकाहारी प्रवृत्ति के कारण अधिक चवर्ण प्रक्रिया के सक्रियता का परिणाम है।(बर्डसेल, 1975)

उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त पैरंथ्रापस रोबस्टस की श्रोणि पूर्णतः हामिनिड प्रकार की नहीं है इसका आकार उच्चकपि गोरिल्ला सदृश प्रतीत होता है। इसके पैर का अँगुष्ठ आस्ट्रेलोपिथेकस के समान अपसारी दृष्टिगोचर नहीं होता। यह बड़ा एवं अपसारी है।

उदविकासीय स्थिति :

पैरन्थ्रापस एवं आस्ट्रेलोपिथेकस दोनों ही दक्षिणी एवं पूर्वी अफ्रीका में पाये गये है। लेकिन पैरन्थ्रापस रोवस्टस जीनस सम्भवतः दूसरे सम्बन्धी की अपेक्षा अधिक विस्तृत थे क्योंकि इनके जीवाश्म अन्य देशों जैसे– जावा में भी खोजे गये हैं। जीवाश्म अभिलेख यह प्रदर्शित करते है कि दोनों प्रकार के जीनस समकालीन थे जो लम्बे समय तक पूर्वी अफ्रीका एवं दक्षिणी अफ्रीका में रहे तदोपरान्त अन्य क्षेत्रों में भी प्रसरित हुए।

इनके पारस्परिक सम्बन्धों के विषय पर पुरामानव वैज्ञानिक एकमत नहीं है। ब्रेस एवं माण्टेग्गू के मतानुसार, पैरन्थ्रापस आस्ट्रेलोपिथेकस से उद्भूत हुए है जो मानव उदविकास की अग्रिम अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हुए होमोइरेक्टस का जन्म दे सके। लेकिन राविंसन इस मत के नहीं है उनके अनुसार आस्ट्रेलोपिथेकस का होमो इरेक्टस में उदविकसित हुए, न कि पैरन्थ्रापस रोवस्टस से। आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस विकसित लक्षणों को रखते थे तथा उपकरणों का निर्माण एवं उपयोग भी करते थे। राविन्सन के मत का कई विद्वान समर्थन करते है। कई विद्वान दोनों जीनस के आकारकीय भेदों को महत्वपूर्ण नहीं समझते तथा दोनों का आस्ट्रेलोपिथेसीन का सदस्य स्वीकारते हैं।

होमो हैबिलिस (Homo Habilis) :

होमो हैबिलिस के जीवाश्म अवशेष लीके 1960–62 में ओल्डुवाई खदान के प्रथम स्तर से प्राप्त ये जीवाश्म जिनजैनथ्रोपस (Zinganthropus Boisei) के भूस्तर से भी 2 फिट गहरे स्थल से प्राप्त हुआ। यह उत्खन्न स्थल पूर्वस्थल से लगभग 300 फिट दूर स्थित है। यहाँ से कपाल के भग्नावशेष, उच्च एवं अधोहनु प्राप्त किया गया। लीकी डुवाय एवं नेपियर ने इसका नाम 'होमोहैविलिस' रखा। इसके नाम का शाब्दिक

अर्थ है हैण्डीमैन (Handyman) क्योंकि इसके हाथ की पकड़ परिष्कृत थी जिससे वह उपकरण निर्माण सम्बन्धी क्षमता रखता था।

शारीरिक विशेषताएँ

कपाल :

इसका मस्तिष्क आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस जीनस से बड़ा है। इसकी कपालीय धारिता 680 घन सेमी० आंकी गयी है। कपाल गुम्बद ऊँचा एवं गोल है। रोवस्टस की तुलना में कपाल पेशी के चिन्ह बहुत ही हल्के हैं। दोनों पराइटल अस्थियाँ जो खद्रानों से प्राप्त की गयी है मानव सदृश लक्षण रखती है। इसका आननमण्डल चपटा और बाहर की ओर कम निकला है।

अधोहनु :

अधोहनु अपने लक्षणों में आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस से समानता प्रदर्शित करता है। इसमें सीमियन शेल्फ, अनुपस्थित है। चिबुक का उभार भी अल्पविकसित है। रैमस ऊर्ध्वरेखीय झुकाव कम रखते हुए पीछे की ओर अधिक झुके हैं। दाँत चाप परवलयाकार है एवं मानवसम दांतों के विशिष्ट कस्प प्रतिरूप पूरे हैं। ऊपरी जबड़े में **डाइस्टेमा** (Diastema) या **दंतावकास** अनुपस्थित है।

दन्त विन्यास :

होमोहेविलिस के दांत कुछ अंशों तक अधिक परिष्कृत एवं विकसित हैं। यद्यपि चवर्णक दांत अपने आकार में बड़े हैं तथा इनेमिल की मोटी सतह से आच्छादित है फिर भी वे अफ्रीकैनस से हल्के संकीर्ण है। पुराचवर्णक के आकार में इसी प्रकार का अपघटन और भी स्पष्ट है। कृ तंक दांत अपने आकार में बड़े एवं फावड़ा सदृश है। रदनक अपेक्षाकृत चपटे है। होमोहैविलिस के दांतों की प्रमुख विशेषता यह है कि दोनों प्रकार के दांत मिलकर काटने वाली एक दांतों की रेखा बनाते है। इससे स्पष्ट होता है कि इनकी खाद्य आदतों में आस्ट्रेलोपिथेकस की अपेक्षा भिन्न थी। इससे यह भी संकेत मिलता है कि सम्भवतः इनका सामान्य भोजन वर्तमान चिम्पैंजी के सदृश होगा।

अन्य अवशेष जैसे टांगों की अस्थि, क्लैविकल भी प्राप्त हुए है। जिनके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि क्लैविकल अस्थि विशाल एवं भारी है। टांग की अस्थि स्पष्टतः मानव सम है जिसमें ऊर्ध्व संस्थिति एवं द्विपदगमन के स्पष्ट संकेत विद्यमान है।

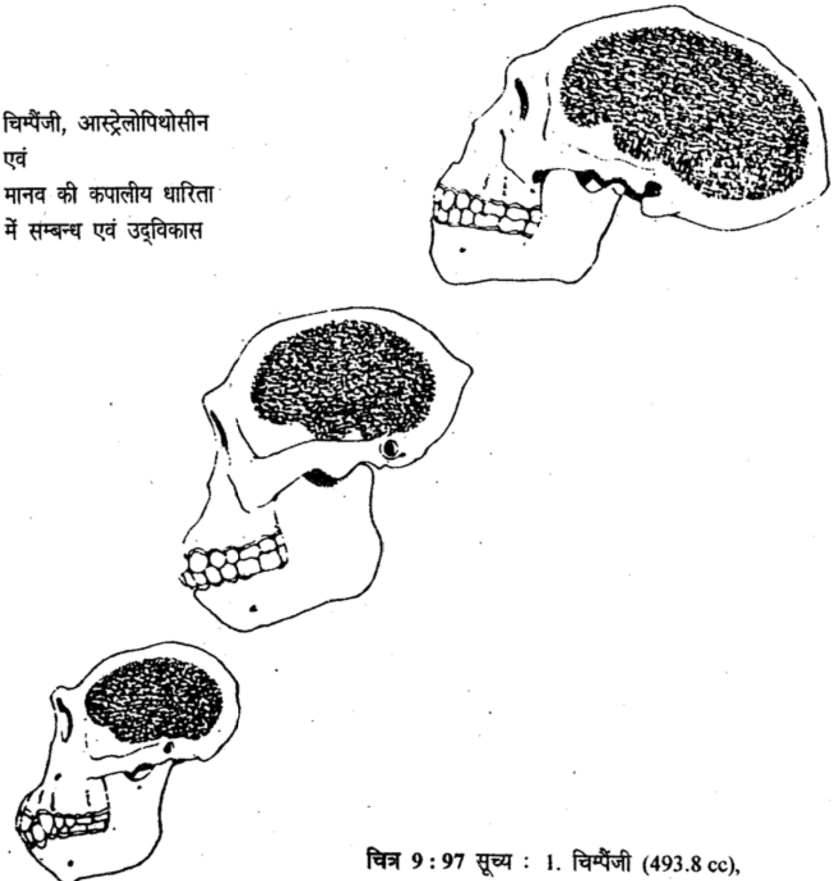
उक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि होमो हैविलिस सभी लक्षणों में मानव से अधिक समान है।वे सफल सांस्कृतिक जीव थे। लीकी एवं टुबायस (1966) होमो हैविलिस को आस्ट्रेलीपिथेसीन की भिन्न शाखा 'होमो' के अन्तर्गत रखने का मत प्रस्तुत करते है तथा शेष समस्त आस्ट्रेलोपिथेसिन के जीनसों को एक जीनस आस्ट्रेलोपिथेकस में सम्मलित करने का प्रयास करते है। लेकिन आस्ट्रेलोपिथेसिनों की उदविकासीय स्थिति विवादित है।होमो हैविलिस को अधिक प्रगतिशील हामिनिड स्वीकारा गया है।ये सम्भवतः होमोइरेक्टस का पूर्वज था। (लुइस, लीकी, टुवायस, नेपियर, फिलिप आदि 1964)।

आस्ट्रेपिथेसीन की उदविकासीय स्थिति

आस्ट्रेपिथेसीन अवशेषों के जीवाश्म अभिलेख में छुटपुट प्राप्त होने के कारण इनकी उदविकासीय स्थिति अत्यन्त विवादास्पद है। अतः यह तो भविष्य ही बतायेगा कि प्लायोसीन–प्लायस्टोसीन युग की हामिनिड वंशावली में इनका वास्तविक स्थान क्या है लेकिन अभी तक जो जीवाश्म साक्ष्य उपलब्ध है उसके आधार पर इन्हें रामापिथेसीन के पश्चात् हामिनिड की आदि अवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। काल एवं आकारकीय लक्षणों को यदि प्राथमिकता दी जाय, जो **सिम्पसन** के मतानुसार आस्ट्रेलोपिथेसीन से होमोइरेक्टस मानव उत्पन्न हुआ लेकिन पुरामानव वैज्ञानिक आस्ट्रेलोपिथेसिनों के अन्तर्गत लाक्षणिक विविधता के कारण एकमत नहीं है। इसके अतिरिक्त इनकी उदविकासीय स्थिति से सम्बद्ध तीन और सम्भावनायें व्यक्त की गयी है।**द्वितीय** सम्भावना के अनुसार (जो 1979 के पश्चात् व्यक्त की गयी है), आस्ट्रेलोपिथेसिनों में आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेंसिस आदि हामिनिड है इनसे दो प्रकार के हामिनिड प्लाइस्टोसीन की मध्य अवस्था तक उत्पन्न हुए आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस एवं रोबस्टस। रोवस्टस तो कालान्तर में उदविकासित होकर के विलुप्त हो गये लेकिन दुबले–पतले शरीर वाले आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस अपने होमो वंशज – होमोइरेक्टस को उत्पन्न करने में सफल हो सके। **तृतीय सम्भावना** जिसमें होमोहैविलिस को एक पृथक सफलतम कोटि का ज़ीनस माना गया है, उसके अनुसार

आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस (जो दुबले–पतले हामिनिड जो पाषाण उपकरण का उपयोग करते थे) होमोहैबिलिस को उत्पन्न करने में सफल हो सके जो प्रथम सांस्कृतिक प्राणी था ये ही होमोइरेक्टस के वास्तविक पूर्वज है। चतुर्थ सम्भावना के अनुसार होमोइरेक्टस एवं आस्ट्रेलोपिथेसिनों के पूर्वज तो उदविकासीय रेखा में एक रूपथे लेकिन ये मानव के पूर्वज नहीं है, ये इस उदविकासीय रेखा से सम्बद्ध अवश्य है।

चिम्पैंजी, आस्ट्रेलोपिथोसीन
एवं
मानव की कपालीय धारिता
में सम्बन्ध एवं उद्विकास



चित्र 9 : 97 सूच्य : 1. चिम्पैंजी (493.8 cc),
2. आस्ट्रेलोपिथेकस (507.9-530 cc),
3. होमोइरेक्टस (973.7 cc)

इस प्रकार आदि हामिनिड के किस रूप ने होमो इरेक्टस को जन्म दिया है यह उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर कहना कठिन है, लेकिन यह कहना तर्कसंगत एवं सर्वसम्मत अवश्य है कि आस्ट्रेलोपिथेसीन मानव उदविकास में प्रारम्भिक स्थान रखते हैं जिनसे होमोइरेक्टस उद्भूत हुए हैं।

***

10

मानव उदविकास; द्वितीय अवस्था

होमो इरेक्टस (Homo Erectus)

आदि या प्रारम्भिक हामिनिड(मानव) का उदविकास प्लायोसीन युग में आरम्भ हुआ जिनका प्रसार दक्षिणी अफ्रीका से लेकर उत्तरी पूर्वी अफ्रीका तथा एशिया के अन्य भागों में पाया गया। यह आदि हामिनिड (मानव) जो आधुनिक मानव के 1/3 भाग तक मस्तिष्क वाला था। उपकरण के उपयोग एवं आखेट जैसी सांस्कृतिक गतिविधियों से युक्त पाया गया।जिससे यह पता चलता है कि प्लाइस्टोसीन के प्रारम्भिक एवं मध्य चरण तक आदि हामिनिड किस प्रकार का था, तथा कैसा व्यवहार करता था, आदि। प्लाइस्टोसीन युग के अन्तिम चरण (Upper Pliestocene) तक आधुनिक मानव का विस्तार हो चुका था। 30 लाख वर्ष के निम्न एवं मध्य प्लाइस्टोसीन काल में मानवता की दो अवस्थाओं का संक्रमण (Transition) हुआ । तब मनुष्यों की जनसंखाएँ क्षेत्र एवं समय के अनुसार इतना विशद विभेद प्रदर्शित करती है जितना इसके पूर्व एवं पश्चात् अस्तित्व में नहीं आया। इस काल की कहानी यद्यपि आज भी अपूर्ण है फिर भी रिचर्ड लीकी की KNM−ER−1470 खोज (पूर्वी रुडाल्फ की 26 लाख वर्ष से लेकर 29 लाख वर्ष पुरानी भू परत से प्राप्त एवं कपाल का भग्नावशेष) ने मानव उदविकास की वैचारिक प्रवाह को एक गति प्रदान किया है।

इस प्रकार मानव उदविकास की उक्त संक्रमण काल की कहानी जीवाश्म तथ्यों के आयामों से समझना एक जटिल पहेली को बूझना है। इसे तभी समझा जा सकता है जब मानव उदविकास को हम कुल तीन चरणों (Grades) में स्वीकार करलें (जो समस्त पुरामानव वैज्ञानिक एक मत से स्वीकार नहीं करते हैं।) ये हैं−

(I) **आदिमतम प्राथमिक संरचनात्मक चरण−** इसमें आस्ट्रेलोपिथेसिन आता है जो दुबले पतले गठन वाला (विशेषतः आस्ट्रेलोपिकेस अफ्रीकैनस के रूप में), अल्प मस्तिष्कीय धारिता (लगभग 500 c.c) के साथ द्विपदी ऊर्ध्वगामी हामिनिड उदविकसित हुआ और उपकरणों का उपयोग एवं आखेट करता था एवं होमोहैविलिस अत्यधिक प्रगतिशील आस्ट्रेलोपिथेसीन है।

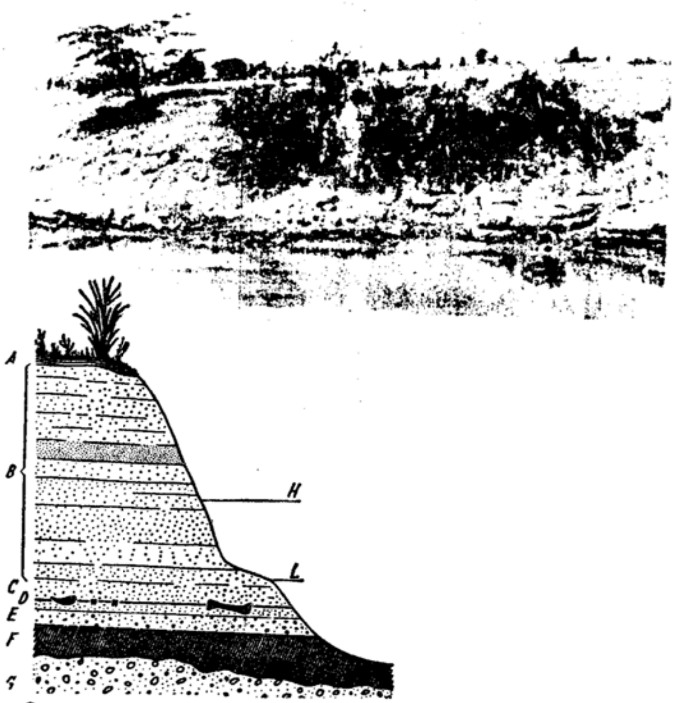
(II) **द्वितीय संरचनात्मक चरण−** इसमें होमो इरेक्टस आता हैं जो पुरानी दुनिया के अधिकांश क्षेत्रों में मध्य प्लाइस्टोसीन में प्रसरित हो गये। ये द्विपदीय ऊर्ध्वगामी हामिनिड की बढ़ी हुई कपाल धारिता बाला (लगभग 1000 c.c) अपने पूर्वजों की अपेक्षा बड़े शरीर गठन वाला, सफल आखेटक, पहले की अपेक्षा अच्छे उपकरण उपयोगकर्ता, आग का प्रयोगकर्ता के रूप में उदविकसित हुआ।

(III) तृतीय संरचनात्मक चरण– यह मानव उदविकास का वह चरण है जिसमें होमो सैपियंस समाविष्ट किया गया है जो 30,000 वर्ष पूर्व अस्तित्व में आया।

जो आधुनिक मानव से भिन्न है इन्हें भी इसी श्रेणी में रखा गया है जिन्हें होमोसैपियंस की एक उपजाति माना जाता है।

होमोइरेक्टस की खोज

होमो इरेक्टस की सर्वप्रथम खोज शरीर रचना वैज्ञानिक यूजीन डुवाय (Eugene Dubois) ने 1891 में की थी। इनको एशिया महाद्वीप के जावा के **सोलो** नदी के तट पर **ट्रिनिल** नामक स्थान से कपाल शिखर, फीमर एवं कुछ दाँत प्राप्त हुए थे। इन जीवाश्म अवशेषों को डुवाय ने "पिथकैन्थ्रापस इरेक्टस" (Pithcanthropus Erectus) नाम दिया। ऐसा कहा जाता है कि सम्भवत् डुवाय अपने खोजे गये मानवपूर्वज का नाम समकालीन जर्मन वैज्ञानिक हैकिल (Haichel) के मत से प्रभावित हो कर दिया था क्योंकि उनके अनुसार मानव के पूर्वज की अवस्था मानव एवं कपि के मध्य की है एवं उसका नाम "पिथकैन्थ्रापी" अर्थात् भाषा विहीन कपि मानव होना चाहिए था। उनके मत में मानव का पूर्वज एशिया में होना चाहिए क्योंकि गिब्बन कानिवास यही हैं जिसका कपाल मानव के कपाल से अधिक समानता रखता है। डुवाय ने मानव के



चित्र 10 : 98 जावा के सोलो नदी के किनारे ट्रिनिल स्थल नीचे : स्थल की विभिन्न भू परतें (डुबॉयस, 1933)

पूर्वज की इस खोज में कुछ परिवर्तन इसलिए किया क्योंकि फीमर में ऊर्ध्वगामिता के लक्षण विद्यमान थे। इसीलिए इसका नाम "पिथकैन्थ्रापस इरेक्टस" रखा, जिसका तात्पर्य है "सीधा खडा होकर चलने वाला कपि मानव"। इस खोज के पश्चात् डुवाय की अफ्रीका को आदि पूर्वज की भूमि मानने वालों ने कटु आलोचना की और कपाल एवं फीमर को भिन्न–भिन्न व्यक्तियों का बताया। इसके आधार पर सन्देह व्यक्त किया गया कि यह मानव सीधा खडा हो करके क्या चलता था।

डुवाय की मृत्यु (1924) के पश्चात् जावा से जब वॉन कोइग्सवाल्ड को 1930–39 में इससे सम्बन्धित अन्य जीवाश्म प्राप्त हुए जो मध्य प्लाइस्टोसीन युग के है। इसके पश्चात् पुरामानवैज्ञानिकों की रुचि पिथकैन्थ्रापस इरेक्टस पर केन्द्रित हो गयी। मार्क्स (1953), सारतोनो (1961, 72), सुरादी (1969) तथा जैकव (1964) को भी यहाँ से अवशेष प्राप्त हुए, जिसमें लगभग एक दर्जन कपाल, पाँच फीमर, कई आनन मण्डल भग्नावशेषों, पांच अधोहनु, कई दाँत, एक अन्तः कपाल का ढांचा है। ये सभी अवशेष लगभग 7.1 लाख वर्ष प्राचीन ट्रिनिल स्तर एवं 20 लाख वर्ष पुराने संगीरन क्षेत्र के **जेटिस** स्तर से प्राप्त हुए।



चित्र 10 : 99 पिथकैंथापस की बाइडेनरीच के द्वारा पुनर्रचना

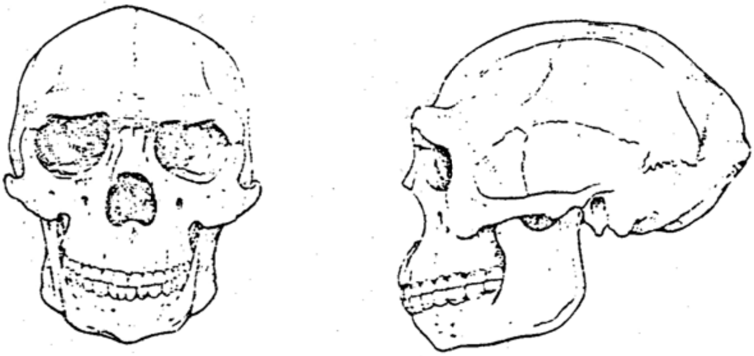
इसी बीच जावा मानव के समान एक स्वीडन भूगर्भशास्त्री जे॰ जी॰ एण्डरसन को 1921 में चुकूतिये की गुफा स्थल से उत्खनन के पश्चात् कुछ स्फटिक



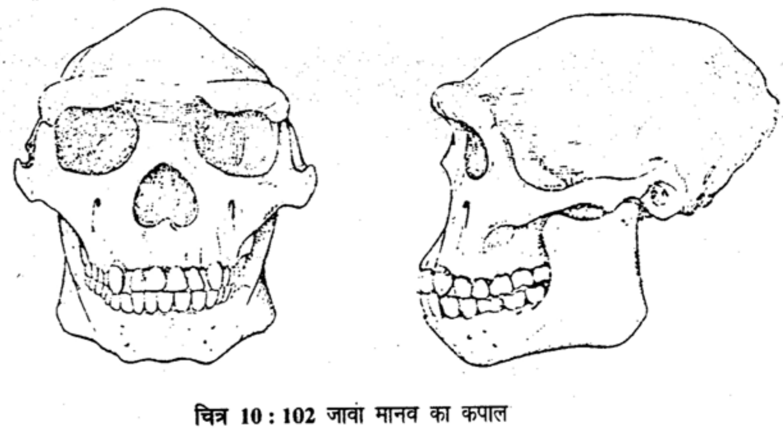
चित्र 10 : 100 डब्ल्यू बैंडल के द्वारा निर्मित सम्भाव्य पिथकैंथ्रापस का आकार

पत्थर (Qnartz) की चिप्पियाँ एवं पाषाण उपकरण प्राप्त हुए, जो स्थल चीन के पेकिंग (वीजिंग) नगर से 40 किमी० दूर स्थित है। यही पर 1927 में डेविडसन ब्लैक ने दाँत का जीवाश्म प्राप्त किया जिसका नाम 'सिनैन्थ्रापस पेकीनेंसिस' दिया। डेविडसन ब्लैक की मृत्योपरान्त (1934) फ्रैंच वाइडेनरीच वर्षों तक अध्ययन करते रहे हैं। ये सभी अवशेष मध्य प्लाइस्टोसीन के जो 6 से 3 लाख वर्ष पुराने है।

चीन के पुरामानव वैज्ञानिक –डॉ० डब्ल्यू० सी० पाई को 1929 में एक सम्पूर्ण मस्तिष्क गुम्बद का जीवाश्म प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् तक पेकिंग से भग्नावशेष प्राप्त होते रहे है। यहाँ का प्राप्त कपाल जावा के कपाल से मिलता है। यहाँ से लगभग 40 व्यक्तियों के भग्नावशेष, 14 कपाल, खोल, 147 दाँत इत्यादि प्राप्त हुए। 1963 में चीन के शांसी (Shenshi) प्रदेश से भी अवशेष प्राप्त हुए। अभी शीघ्र ही में 1984 में त्याओनिंग प्रदेश में जिन्नयुशांग नामक स्थान पर 25 वर्ष के व्यक्ति का कंकाल मध्य प्लाइस्टोसीन युग का प्राप्त किया गया है।



चित्र 10 : 101 पेकिंग मानव का कपाल



चित्र 10 : 102 जावा मानव का कपाल

सन् 1950 में अर्न्स्ट मायर (Ernst Mayar) ने जावा के पिथकैन्थ्रापस इरेक्टस एवं चीन के 'सिनैन्थ्रापस पेकीनेसिंस दोनों की पारस्परिक समानताओं के आधार पर इनका वर्गीकरण 'होमो' वंश के अन्तर्गत रखने का प्रस्ताव किया। सन् 1960 में इन दोनों को अलग–अलग स्पीशीज न मानकर एक स्पीशीज 'इरेक्टस' के अन्तर्गत सर्वसम्मति सेकिया और इसे 'होमो' वंश में समाविष्ट करके दोनों को 'होमो इरेक्टसकी उपस्पीशीज 'जावानेंसिस' एवं 'पेकीनेंसिस' माना।

एशिया महाद्वीप में उक्त दो देशों के अतिरिक्त वियतनाम से कुछ वर्ष पूर्व होमो इरेक्टस के जीवाश्म **क्यान येन, नई–दू, यम घुयान थम हय** स्थल से प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त भारत में होशांगागद जिले में हथनोरा नामक स्थान पर 1982 में खोजा गया जो होमो इरेक्टस के सदृश 1.5 लाख वर्ष प्राचीन माना गया है यद्यपि यह अभी विवादग्रस्त जीवाश्म है।

अफ्रीका महाद्वीपीय जीवाश्म

अफ्रीका के पूर्वी एवं दक्षिणी राष्ट्रों से भी होमो इरेक्टस के अवशेष प्राप्त किये गये है जो 1923 – 1978 के मध्य रावर्ट मोरक्को, ओल्डुवाय (तंजानिया), तुर्कानाझील (कीनिया), बोडो (इथियोपिया), स्वार्ट क्रांस (दक्षिणी अफ्रीका) एवं टरनी फाई (अल्जीरिया) उत्खनन स्थलों के हैं। ये सभी जीवाश्म अवशेष निम्न मध्य प्लाइस्टोसीन युग के 10 लाख वर्ष से लेकर 1 लाख वर्ष पुरानी भूपरत से प्राप्त हुए है। तंजानिया में लुई ली के ने 12 लाख वर्ष पूर्व का कपाल शीर्ष एवं प्रस्तर उपकरण ओल्डवाय खदान से प्राप्त किया है। इसके अतिरिक्त होमो हैविलिस के अवेशेष जो इसी स्थल के वेड IV से प्राप्त हुआ उसे कुछ विद्वान इरेक्टस के अन्तर्गत रखते है। 1975 में रिचर्ड लीके ने कूवीफोरा से जो कपाल (Er–1470) की खोज की उसकी कपालीय धारिता कम होने के कारण इसे होमो इरेक्टस के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है।

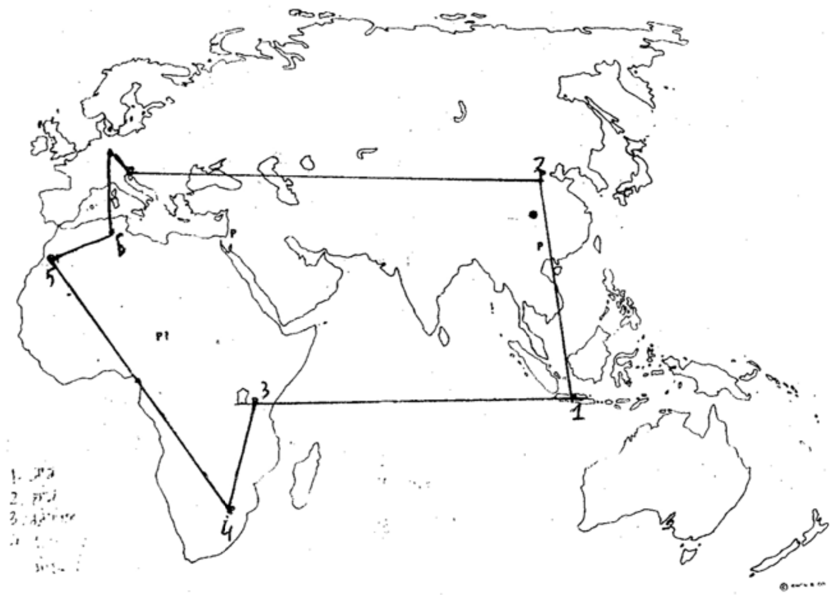
यूरोप महाद्वीपीय जीवाश्म

यूरोप महाद्वीपीय होमोइरेक्टस के जीवाश्म बहुत कम संख्या में हैं जिनमें कुछ विवादों के घेरे में है। सर्वप्रथम जर्मनी के हाइडिल वर्ग के निकट माउयेर (Mouer) क्षेत्र के उत्खनन से एक अधोहनु प्राप्त हुआ, जो आकार में होमोइरेक्स तथा नियन्डरथल के हनु से भी दीर्घ है तथा दाँत भी तुलनात्मक रूप में बड़े हैं। इसको 2.5 लाख वर्ष से 6 लाख वर्ष प्राचीन आंका गया है। जो 'माउयेर जीवाश्म' के नाम से भी प्रसिद्ध है। फ्राँस में मोंटमैरिन स्थल से लगभग 2 लाख वर्ष पुराना होमो इरेक्स जीवाश्म 1949 में प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् इसी देश में आरागो स्थल से 1964–71 के मध्य कई जीवाश्म 2 लाख वर्ष पूर्व के उत्खनित किये गये। सन् 1960 में पेट्रूलोना (ग्रीस) से 3 लाख वर्ष प्राचीन जीवाश्म खोजा गया। हंगरी के बुडापेस्ट के निकट लगभग 3.5 लाख वर्ष प्राचीन एक वयस्क का पश्चकपाल सन् 1964–65 में खोजा गया जिसकी कपालीय धारिता होमोइरेक्टस की अधिकतम सीमा से भी अधिक है। कुछ विद्वान इसे भी होमो इरेक्टस का एक सदस्य मानते है तथा विभेदों का कारण क्षेत्रीय पर्यावरण भिन्नता मानते हैं।

इस प्रकार होमो इरेक्टस मानव जावा अथवा चीन में ही सीमित नहीं था। वह मध्य प्लाइस्टोसीनी पूर्वजों की अपेक्षा लगभग सम्पूर्ण पुरानी दुनिया में विस्तृत हो चुका था जैसा जीवाश्म खोजों से विदित होता है।

होमो इरेक्टस के शारीरिक लक्षण

होमो इरेक्टस के सदस्यों के मध्य शरीर रचनात्मक लक्षणों के संदर्भ में विभेदों का व्यापक अन्तराल पाया जाता है। इसके कई कारण हो सकते हैं। सम्भवतः यह काल एवं क्षेत्र विविधताओं के प्रमुख कारक है, क्योंकि जिस प्रकार विभिन्न होमो इरेक्टस के सदस्य लाखों वर्षों के अन्तराल में पाये गये है उसी प्रकार पृथक–पृथक क्षेत्रों में भी व्यापक वातावरणीय विविधता पायी जाती है। इसके अतिरिक्त आयु एवं लिंग भी सदस्यों के मध्य विविधता का कारक हो सकता है। इसलिए यहाँ पर होमो इरेक्टस की दोनों उपजातियों– होमोइरेक्टस जावानेंसिस एवं होमोइरेक्टस पेकीनेंसिस का वर्णन पृथक–पृथक किया जायेगा।



चित्र 10 : 103 होमोइरेक्टस का प्रसार क्षेत्र

होमोइरेक्टस जावानेंसिस (पिथकैन्थ्रापस इरेक्टस) :

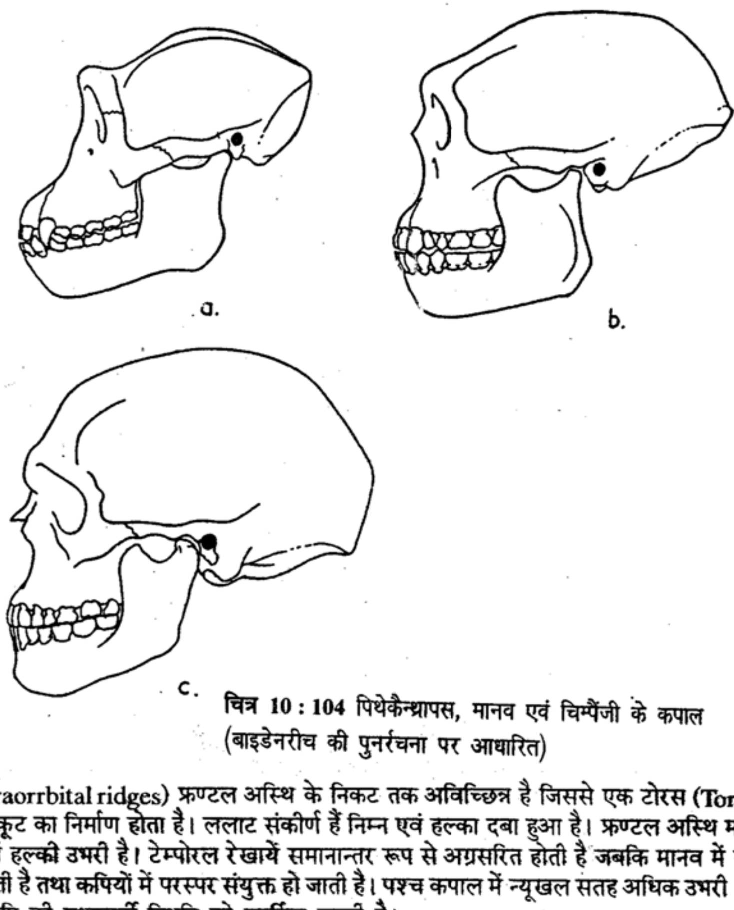
कपाल (Cranium) :

कपालीय भग्नावशेषों में कपाल खोल (Cap) प्राप्त हुआ था। जिसमें अधिनेत्र भ्रूकटक क्षेत्र, फ्रण्टल अस्थि, आक्सिपिटल अस्थिया परिरक्षित है। जिसके अनुसार कपाल की पुनर्रचना की गयी है। पिथकैन्थ्रापस के कपाल खोल की लम्बाई 18.5 सेमी० एवं चौड़ाई 13 सेमी० तथा कपालीय सूचकांक 70 प्रतिशत है। अतः यह इंगित करता है कि जावा मानव जीवाश्म दीर्घशिरश्क (Dolichocephalic) प्रकार के थे।

पिथकैन्थ्रापस की कपालीय धारिता अधिक से अधिक 975 घन सेमी० एवं कम से कम 750 घन सेमी० है, मानव में यह विविधता अन्तराल 850−1700 घनसेमी० है। कपियों में (गिब्बन को छोड़कर) लगभग 290−650 घन सेमी० है। अतः पिथकैन्थ्रापस कपि एवं मानव के मध्य है लेकिन आधुनिक मानव

के अधिक निकट है। साथ ही साथ अफ्रीका में प्राप्त कपाल ER – 1470 की धारिता से भी बहुत अधिक नहीं है जिसके स्वामी 2 लाख वर्ष पूर्व जीवन व्यतीत कर रहे थे।

कपाल गुम्बद के मध्य रेखा उभरी एवं पार्श्व में हल्का चपटापन लिये है। जिससे यह कपि के कपाल से समानता प्रदर्शित करता है। कपाल गुम्बद या भित्ति (Vault) निम्न है। अधिनेत्र भ्रूकंटक रेखा



चित्र 10 : 104 पिथेकैन्थ्रापस, मानव एवं चिम्पैंजी के कपाल (बाइडेनरीच की पुनर्रचना पर आधारित)

(Supraorrbital ridges) फ्रण्टल अस्थि के निकट तक अविच्छिन्न है जिससे एक टोरस (Torus) अथवा उभार कूट का निर्माण होता है। ललाट संकीर्ण हैं निम्न एवं हल्का दबा हुआ है। फ्रण्टल अस्थि मध्य रेखीय भाग में हल्की उभरी है। टेम्पोरल रेखायें समानान्तर रूप से अग्रसरित होती है जबकि मानव में यह अधिक दूर होती है तथा कपियों में परस्पर संयुक्त हो जाती है। पश्च कपाल में न्यूखल सतह अधिक उभरी है जो मानव एवं कपि की मध्यवर्ती स्थिति को प्रदर्शित करती है।

दंत विन्यास (Dentition) :

दाँत बड़े आकार के हैं। लगभग सभी वर्तमान मानव से आकार में कुछ बड़े है। चवर्णकों की जड़ें अधिक शक्तिशाली एवं द्विशाखीय है। दाँतों के क्राउन (Crown) मानव से कपियों की तुलना में अधिक सदृश है। इसके दाँत आस्ट्रेलोपिथेकस से भी भिन्न प्रतीत होते है। निम्न चवर्णकों में सर्वाधिक दीर्घ अन्तिम (तृतीय) एवं उच्च जबड़े की चाप में द्वितीय है जबकि मानव में सर्वाधिक बड़ा चवर्णक प्रथम ही होता है।

रदनक की ऊँचाई लगभग 1 सेमी० की है और इसके समानान्तर ऊँचाई तक एक पंक्ति स्पष्ट दृष्टि गोचर होती है। हल्का दंतावकाश विद्यमान है।

हनु (Mandible) :

उच्च एवं अधोहनु भारी आकार के है जिनमें चिवुक अनुपस्थित है। तालु सतह चिकनी है।

उर्विका अस्थि (Femur) :

फीमर अस्थि की लम्बाई 45.5 सेमी० है जिसके आधार पर जावा मानव 167 सेमी० से लेकर 170 सेमी० की शारीरिक लम्बाई का माना जाता है। लाइनिया एस्पेरा (Linea Spera) पूर्णतः विकसित है इससे स्पष्ट होता है कि यह द्विपदीय ऊर्ध्वगामी मानव था। सम्पूर्ण लक्षणों में फीमर मानव सदृश है।

इस प्रकार होमोइरेक्टस स्पीसीज की उपजाति (Subspecies) जावोनेंसिस अपने लाक्षणिक प्रतिरूप में आस्ट्रेलोपिथेसीन से विकसित एवं विशिष्ट प्रकार के लक्षणों का प्रदर्शन करते हैं। इससे जावा के दो स्थलों ट्रिनिल एवं जेटिस से अब तक लगभग 8 बार कपाल, हनु, दांत के भग्नावशेष प्राप्त हो चुके है। इनके साथ पाषाणकालीन उपकरण भी खोजे गये है जिनसे इनके सास्कृतिक लक्षणों का वर्णन इसके पश्चात् किया जायेगा। यहाँ अब होमोइरेक्टस की दूसरी उपजाति **पेकीनेंसिस** का वर्णन किया जायेगा।

होमोइरेक्टस पेकीनेंसिस (सिनैन्थ्रापस)

शारीरिक लक्षण :

होमोइरेक्टस पेकीनेसिस जिसकी खोज का वर्णन इसके पूर्व किया जा चुका है, इसका शारीरिक कद लगभग 5 फिट 3/2" अनुमानित किया गया है। अन्य भग्नावशेष यह इंगित करते है कि इनकी जनसंख्या छोटे कद वाली थी सम्भवतः वैसे ही जैसे वर्तमान इस्कीमो है।

कपाल :

प्राप्त कपालीय भग्नावशेषों से बाइडेनरीच ने सिनैन्थ्रापस पेकीनेंलिस की पुनर्गठित किया है। अनके अनुसार कपाल की अधिकतम लम्बाई 19.4 सेमी० है यह कम से कम 15.6 सेमी० और अधिक से अधिक 20.5 सेमी० है। इसकी अधिकतम चौड़ाई 13.7 सेमी० से 14.7 सेमी० के मध्य है। कपालीय सूचकांक 71.0 से 72.4 के मध्य है जिससे यह ज्ञात होता है कि यह दीर्घशिरस्क प्रकार का सिर होगा।

इनका कपाल अपेक्षाकृत ऊँचा है। ब्रेग्मा (कपाल का वह बिंदु जहाँ एक फ्रण्टल अस्थि एवं दो पराइटल अस्थिया संयुक्त होती है अर्थात् कोरोनल एवं सजाइटल सूचर का संगम बिन्दु) एवं बेसियन महारन्ध्र के अग्र किनारे के मध्य बिन्दु) की औसत दूरी 11.5 सेमी० है जबकि पिथकैन्थ्रापस की 10.5 सेमी० है।

वाइडेनरीच ने पाच कपाल गुम्बदों से की कपालीय धारिता का आंकलन किया है जो न्यूनतम 915 घन सेमी० एवं अधिकतम 1225 घन सेमी० है। इसकी औसत कपालीय धारिता लगभग 1040 घन सेमी० है।

कपालीय अस्थियां मोटी एवं भारी है जो किसी भी कपि की अपेक्षा अधिक है। कपालीय सूचर आरम्भिक अवस्था में निकटवर्ती प्रतीत होते हैं जो कपि सदृश लक्षण है। ललाट मानव की अपेक्षा दबा हुआ है जो सुप्राआर्विटल रिज के द्वारा प्रथक होता है। सुप्राआर्विटल रिज या अधिनेत्र भ्रूकटक उभरा एवं अविच्छिन्न है। मध्य रेखा पर एक हल्की उभरी रेखा है। पराइटल अस्थि दोनों ओर अपेक्षाकृत चपटी है।

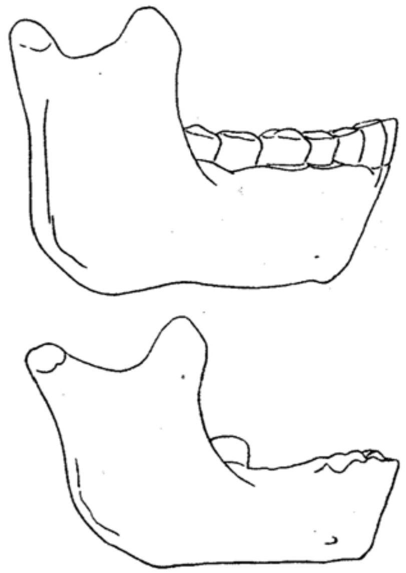
आनन मण्डल चौड़ा एवं छोटा है सिनैन्थ्रापस के नेत्रगुहा या आर्विट दीर्घ है। जाइगोमेटिक अस्थि ऊँची एवं उभरी है। यह लक्षण आधुनिक मंगोलायडों के समान है। नासिका आधुनिक मानव की अपेक्षा भी चौड़ी है। नासिका स्पाइन अनुपस्थित है तथापि एक निम्न रिज नासिका तल एवं ऊपरी जबड़े के एल्व्योलर भाग से पृथक करती है।

ऊपरी जबड़ा आधुनिक मानव के सदृश गहरा है। तालु, चाप आधुनिक मानव की अपेक्षा संकीर्ण लेकिन आधुनिक कपियों की तुलना में अधिक चौड़ी है। निम्न जबड़ा या अधोहनु आधुनिक मानव की

तुलना में बड़ा सकरा एवं भारी है। इनकी महिलाओं के जबड़े आधुनिक मगोलायड महिलाओं के सदृश है। चिबुक अनुपस्थित है।

दन्त विन्यास (Dentition) :

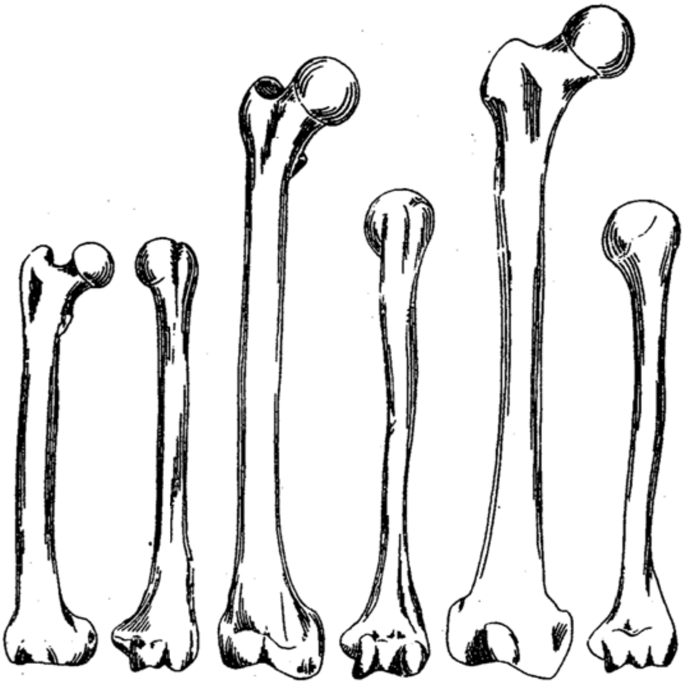
दांत आधुनिक मानव की तुलना में बड़े हैं तथापि आस्ट्रेलिया की आदिम जनजातियों के दांतों की अपेक्षा अधिक बड़े नहीं है। आस्ट्रेलोपिथेसिनों की तुलना में इनके दांत आकार में अपघटित है। ऊपरी रदनक असाधारण रूप से शक्तिशाली एवं नुकीला है जबकि निम्न रदनक आधुनिक मानव के सदृश फावड़ाकार (Spatular) है। रदनक की जड़े अधिक शक्तिशाली है जो यह संकेत देते है कि सिनैन्थ्रापस के पूर्वज अपेक्षाकृत शक्तिशाली एवं बड़े रदनक अवश्य रखते होंगे। रदनक से सटा हुआ पुराचवर्णक दांत भी आधुनिक मानव की अपेक्षा लम्बा है। प्रथम पुराचवर्णक द्वितीय की अपेक्षा लम्बा है। यह लक्षण वर्तमान ग्रीनलैण्ड के स्कीमों के सदृश है। इनकी दन्त रचना में पिथकैन्थ्रापस की भांति दन्तावकाश नहीं पाया जाता क्योंकि वह पूर्णतः अनुपस्थित है।



चित्र 10 : 105 सिनैन्थ्रापस में स्त्री-पुरुष विविधता (वाइडेनरीच)

इस प्रकार उक्त सिनैन्थ्रापस एवं पिथकैन्थ्रापस के लाक्षणिक वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि दोनों एक दूसरे से इतना अधिक समानता रखते है कि दोनों मात्र पृथक-पृथक भौगोलिक जनसमूह के प्रतिनिधि प्रतीत ही होते है। इनमें सिनैन्थ्रापस अन्य की तुलना में अधिक विशिष्ट एवं प्रगतिशील लक्षणों को प्रदर्शित करता है। वाइडेनरीच दोनों को मानव उदविकास की एक ही अवस्था पर विद्यमान मानते है।

यदि संक्षेप में दोनों की यदि तुलना की जाये तो सिनैन्थ्रापस के कपाल या कपाल आकार में अन्य की अपेक्षा बड़ा है। दोनों के कपाल लम्बे है लेकिन सिनैन्थ्रापस का अपेक्षाकृत अधिक लम्बा है। कपाल गुम्बद सिनैन्थ्रापस का अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा एक अधिक कपालीय धारिता को दर्शाता है। ये अधिक मोटी एवं भारी कपालीय अस्थियों से युक्त है। ललाट दोनों में ही दबा हुआ है लेकिन पिथकैन्थ्रापस में यह दबाव अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता है। मध्यवर्ती उभरी रेखा (Median Keel) दोनों में उपस्थित है। सुप्राआर्विटल क्षेत्र दोनों में भारी एवं अविच्छिन्न है लेकिन सिनैंथ्रापस का ललाट सरलतापूर्वक एक मोड़दार नाली (Furrow) से पृथक प्रतीत होता है। पार्श्व में चपटापन दोनों के कपालों में दृष्टिगोचर होता है। पश्च कपाल क्षेत्र सिनैन्थ्रापस के कपालों में अपेक्षाकृत संकीर्ण एवं लम्बे है जबकि पिथकैन्थ्रापस में यह चौड़ा एवं गोल है। फ्रण्टल साइनस सिनैन्थ्रापस में लघु जबकि पिथकैन्थ्रापस में दीर्घ है। सिनैन्थ्रापस के तालु



चित्र 10 : 106 चिम्पैंजी, सिनैन्थ्रॉपस एवं मानव की फीमर अस्थि की सापेक्ष लम्बाई (वाइडेनरीच पर आधारित)

खुरदरे जबकि दूसरे के चिकने है। पहले के रदनक चवर्णक आदि दांत आकार में दूसरे की अपेक्षा छोटे है। दन्तावकाश सिनैन्थ्रापस में अनुपस्थित जबकि दूसरी उपजाति में उपस्थित है।

अतः पिथकैन्थ्रापस या होमोइरेक्टस जावनेसिंस सिनैन्थ्रापस या होमो इरेक्टस पिथकैन्थ्रापस की अपेक्षा आदिम लक्षणों का प्रतिनिधित्व करता है।

हाइडिल वर्ग जबडा (Heidelberg Mandible) :

हाइडिलवर्ग जबड़ा जिसे 'मौएर जबड़ा' भी कहा जाता है वस्तुतः इसको 'होमोइरेक्टस' के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। जिसकी खोज का संक्षिप्त उल्लेख इसके पूर्व भी किया गया है। इशके दांत चूंकि होमोसैपिंपस (नियन्डरथल) के समान है इसीलिए अनेक पुरामानवशास्त्री इसे होमोइरेक्टस नहीं मानते। अतः इसकी विवादास्पद स्थिति होने के कारण इसके सम्पूर्ण लक्षणों का वर्णन यहाँ करेंगे।

लक्षण (Characterstics) :

1907 में डॉ० आट्टो स्कॉएटेनसैक ने यूरोप का सबसे अधिक प्राचीन मानव जीवाश्म जर्मनी के हाइडिल वर्ग के लगभग 9 किमी० निकट मौएर स्थल पर प्लाइस्टोसीन के भूस्तर में एक सम्पूर्ण अधोहनु समस्त दांतों के साथ प्राप्त हुआ। जो 2.5 लाख वर्ष से 6.0 लाख वर्ष प्राचीन है। इसके साथ अन्य कोई उपकरण तो प्राप्त नहीं हुआ लेकिन कई जानवरों के जीवाश्म प्राप्त हुए है, जैसे– एक प्राचीन हाथी, एक घोड़ा, एक जंगली

सुअर, एक जंगली भैंसा एक बड़ा बारहसिंहा, एक जंगली बिल्ली, एक लाल हिरण, एक गैंडा आदि। इससे यह ज्ञात होता है कि इस अधोहनु का स्वामी इनका आखेट करता होगा। इनके आखेट हेतु एक से अधिक की आवश्यकता पड़ने से इनके समाज का गठन भी हो गया होगा।

अधोहनु :

अधोहनु जो नियन्डरथल मानव की अपेक्षा भी बड़ा एवं भारी है जिससे इसका वाह्य स्वरूप अत्यन्त पुष्ठ एवं शक्तिशाली प्रतीत होता है। इसकी अधिकतम लम्बाई 12.0 सेमी० है तथा चौड़ाई (कण्डाइलर चौड़ाई) 13.3 सेमी० है। इसके सिम्फाइसिस (मानसिक उभार) की ऊँचाई 3.4 सेमी० है। प्रथम चवर्णक निम्न सतह की ऊँचाई 3–2 सेमी० है। ऊर्ध्वगामी रैमस (Ramus) की ऊँचाई कम है लेकि चौड़ाई अधिक है जिससे रैमस वर्गाकार प्रतीत होता है। एरमवर्ग (1956) के अनुसार इसकी ऊँचाई 7.1 सेमी० एवं चौड़ाई 5–2 सेमी० है। आधुनिक मानव की चौड़ाई लगभग 3.7 सेमी० होती है। कण्डाल्वॉयड प्रवर्ध एक बड़ी संयुक्त होने वाली सतह है जो कोरोन्वायड प्रवर्ध की अपेक्षा उच्चतल पर स्थित है। यह गोविल एवं गोल है। सिग्मॉयड खांच संकीर्ण है जिससे यह आदिम एवं गिब्धन के जबड़े के सदृश प्रतीत होता है।

रैमस की क्षैतिजिक सतह अत्यन्त ऊँची एवं भारी है जो आधुनिक मानव से भी अधिक है। इसका निम्न किनारा अवतल (Concave) है जबकि यह लक्षण मानव में नहीं पाया जाता है। निम्न सतह पर पायी जाने वाली तिरछी रेखा अस्पष्ट है जो अपवल माइलोहवायड मांसपेशी होने का संकेत करती है।

अधोहनु का कोण नियन्डरथल मानव के सदृश है। सिम्फाइसिस अधिक मोटा है। इसकी अन्तः सतह पूर्णतः आगे से पीछे की ओर ढलती है। इसकी बाह्य सतह उत्तल है। ये लक्षण कपियों में भी दृष्टिगोचर होते हैं। चिबुक कपियों के सदृश अनुपस्थित है।

दन्त विन्यास :

एलब्योलर प्रवर्ध किनारा परवलयाकार है। कपियों में यह u आकार है। इसमें दन्तावकाश कृंतक–रदनक–पुराचवर्णक के मध्य नहीं है जो इसका मानवसदृश लक्षण है।

अधोहनु के दांत सामान्य आकार के हैं जो पूर्णतया मानवसम है। कृतंक साधारण है। रदनक मानवसदृश छोटे है जो अन्य दांतों की सतह पर स्थित एवं एक समान दंत पंक्ति का निर्माण करते हैं। पुराचवर्णक साधारण एवं मानवसम है। निम्न प्रथम चवर्णक पांच कस्यों (दन्ताग्र) को रखता है। अन्तिम चवर्णक द्वितीय की तुलना में छोटा है।

इस प्रकार यह जहाँ अपने लक्षणों में आदिम तथा इसके दांतों की संरचना मानवसम है। इसका स्कॉएटेमसैक ने 'होमो हाइडिवर्गेन्सिस' रखा। एक वर्ष पश्चात् आमेघीनों (Ameghino) ने एक वर्ष बाद पुनः 'सूडो मानव' (Psendoman) नाम दिया। इसके पश्चात् कई नाम दिए गये। अन्ततः इसका नाम 'यूरोपैन्थ्रापस' (Europanthropus) दिया गया। सन् 1909 में बानैरे ली ने 'पैलियोन्थ्रापस' नाम दिया था जिसे कोइंग्सवाल्ड (1962) ने भी स्वीकारा है। वर्थ (Werath) ने इसको 'पिथकैन्थ्रापस' के सदृश माना है। कई पुरामानव वैज्ञानिक इसे 'होमोइरेक्टस' के अन्तर्गत सम्मिलित करते है क्योंकि इसके जबड़े की आकृतिक रचना मानव सदृश नहीं है। (हल्स, 1971)

हामोइरेक्टस के जीवाश्म चूंकि विश्व के अन्य भागों में भी पाये गये है जो उक्त दोनों उपजातियों– होमोइरेक्टस जावानेसिस एवं होमोइरेक्टस पेकीनेंसिस, के समान लक्षण प्रदर्शित करते है। ये सभी जीवाश्म 18 लाख वर्ष पूर्व से सम्भवतः 2 लाख वर्ष पूर्व तक के समय अन्तराल के मध्य आंके गये है। अतः उक्त वर्णन के आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि होमो इरेक्टस जाति के मानव 750–1250 घन सेमी० कपाल धारिता से युक्त है। इनका चपटा कपाल पार्श्व, मोटी अस्थिया, स्पष्ट एवं बड़े भौंकटक, पपरी नासिकास्थि, परवलीय दंतचाप, बड़े दांत, बृषभदन्तता, बेलचाकार (Spaturar) कृतंक, आधुनिक मानवसम श्रोणि एवं अग्रांग है। ये आधुनिक मानव के समान ऊर्ध्वगामी थे।

सांस्कृतिक लक्षण :

होमोइरेक्टस जीवाश्म अवशेषों की खोज के समय इनके साथ अन्य पदार्थ जैसे- पाषाण उपकरण, उस काल में पाये जाने वाले जन्तुओं की अस्थियों का ढेर आदि भी प्राप्त हुए है। जिनके आधार पर इनके सांस्कृतिक जीवन का आभास होता है।

पाषाण उपकरण :

ट्रिनिल, जेटिस, चुंकुतियन (वर्तमान नाम- झांव-कावडियन) आदि लगभग सभी उत्खनन स्थलों से पाषाण उपकरण प्राप्त किये गये है। ये प्रायः बादाम अथवा नाशपाती के आकार के है। इन्हें हस्तकुल्हाड़ी एवं विदारणी कहा जाता है। ये सभी एश्यूली संस्कृति के समकालीन है। लम्बे, बारीक एवं निश्चित आकार वाले इन उकरणों का उपयोग होमोइरेक्टस मानव काटने, फाड़ने, छीलने, छेदने, फेकने, खोदने आदि के कार्यों में करता होगा। इस प्रकार के उपकरण आज से लगभग 20 लाख वर्ष पूर्व हैविलिस मानव भी निर्माण कर लेता था जो ओल्डुवाय खदान से प्राप्त हुए हैं लेकिन वे बेतरतीब एवं बेढ़गी तकनीकों के द्वारा निर्मित प्रतीत होते हैं।

आखेट एवं खाद्य संग्रह :

होमोइरेक्टस जीवाश्मों के अनेकों उत्खनन स्थलों पर जन्तुओं की तोड़ी गयी अस्थियाँ भी प्राप्त हुई है। इससे पुरामानव वैज्ञानिक अनुमान करता है कि इन जन्तुओं का सम्भवतः आखेट किया जाता था। स्पेन के एम्ब्रोना एवं टोराल्बा नाम के स्थान पर हाथियों सहित विराटकाय जन्तुओं का आखेट एवं स्वखाद्य संग्रहण के प्रमाण प्राप्त हुए है। चुंकूतियां स्थल से प्राप्त हाथी, शेर, चीते, हिरण, घोड़े आदि जन्तुओं की अस्थियों के प्रमाण यह संकेत देते हैं कि सम्भवतः तब तक ये मानव विराट जानवरों का शिकार करने लगा था।

आग का प्रयोग :

मानव ने प्रागैतिहासिक काल में अग्नि का पहली बार प्रयोग कब किया यह एक विवादास्पद विषय है। इससे सम्बन्धित प्रमाण स्पष्ट स्थिति को प्रदर्शित नहीं करते हैं। इसके प्रयोग के प्रथम प्रमाण टुर्काना एवं बेरिंगो झीलो (अफ्रीका में कीनिया देश के स्थल) के तट पर प्राप्त हुए है जो विवादास्पद है तथा 15 लाख वर्ष प्राचीन माने जाते हैं। दक्षिणी अफ्रीकी स्वार्तक्रास गुफाओं में जहाँ होमोइरेक्टस के जीवाश्मों के साथ अग्नि प्रयोग के साक्ष्य भी उत्खनित हुए है जो लगभग 10 लाख वर्ष पुराने है। चुंकूतियां स्थल से सिनैन्थ्रापस जीवाश्मों के साथ राख, जली हुई वस्तुएं एवं यदा कदा अधजली लकडियाँ प्रचुर संख्या में प्राप्त हुई है जो इनके आग के नियमित प्रयोग को स्पष्ट करते है।

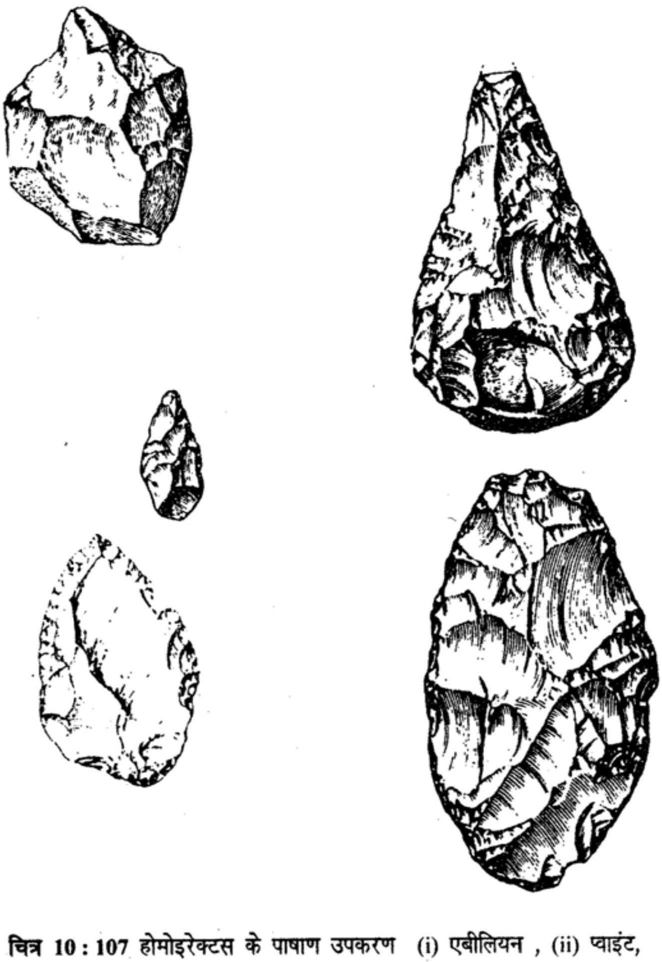
कन्दरावासी जीवन :

होमोइरेक्टस, सम्भवतः गुफाओं के मुहानों पर निवास करता था। गुफाओं जहाँ से इनके अधिकांश जीवाश्म प्राप्त हुए है वे इस जीवन शैली को इंगित करते है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वे अपने औजारों को इन्हीं में छिपाते होंगे तथा आखेट की गयी खाद्यवस्तु का आहार भी मिलजुल कर करते होंगे। इस समय तक सम्भवतः अपने आश्रय स्थल- आवास का निर्माण करने में सक्षम हो गये थे इन्होंने अधिकांशतया गुफा के मुहानों का चयन किया होगा। इस आवास में वे जंगली जानवरों से अपने को सुरक्षित पाते होंगे। इसलिए सम्भव होगा कि इन गुफाओं के मुहानों पर वे आग भी जलाते होंगे।

इस प्रकार पूर्व से श्रेष्ठ उकरण, अग्नि प्रयोग, गुफावास, वृहद जन्तुओं का आखेट आदि प्रमाण होमोइरेक्टस की सामाजिक संरचना को इंगित करते है। वृहद जन्तुओं के शिकार के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य में कई व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इसके पूर्वगामी आस्ट्रेलोपिथेसीन के समय प्रारम्भ हुआ श्रम विभाजन का स्वरूप और अधिक विकसित हुआ होगा। सांकेतिक भाषा भी अवश्य विकसित हुई होगी। जिसके बिना खाद्य संग्रह, वृहद जन्तुओं का आखेट आदि सम्भव नहीं है। इनके विकसित मस्तिष्क एवं पूर्व की अपेक्षा विकसित प्रोद्योगिकी भी इनकी भाषा के विकास का संकेत करती हैं।

उदविकासीय स्थिति :

आस्ट्रेलोपिथेसिनो की तुलना में होमोइरेक्टस की उदविकासीय स्थिति स्पष्ट है क्योंकि इसके जीवाश्म व्यापक रूप से प्राप्त हुए है। पुरामानवैज्ञानिकों में यह आम धारणा है कि यह ही आधुनिक मानव का मध्य प्लाइस्टोसीनयुगीन पूर्वज है। कुछ पुरामानवशास्त्री इनके उभरे हुए सुप्राआर्बिटल टारस कपालीय सूचर आदि आदिम लक्षणों के आधार पर मानव उदविकास में इसकी स्थिति को संदिग्ध बताते है। इसके उपरान्त भी, यह स्पष्ट है कि ये कपि एवं मानव की मध्यवर्ती स्थिति और आस्ट्रेलोपिथेसिन (जिन्हें



चित्र 10 : 107 होमोइरेक्टस के पाषाण उपकरण (i) एबीलियन , (ii) प्वाइंट, (iii) चीलियन हस्त कुठार एवं (iv) हस्तकुठार।

सामान्यता आदि मानववंशी माना जाता है) से अधिक विकसित अवस्था को दर्शाते है। अतः दोनों स्थितियों में यह होमोसैपियस (मानव) का पूर्वगामी है।

***

11

मानव उदविकासीय : तृतीय अवस्था

होमो सैपियंस (Homo Sapiens)

होमो सैपियंस (Homo Sapiens) का विकास मानव उदविकास की तृतीय एवं अन्तिम चरण में हुआ जब 30 हजार वर्ष पूर्व तक 'होमो सैपियस' लगभग सभी जगहों पर पहुंचा। पुरामानव वैज्ञानिकों का सुझाव यह भी है कि कतिपय स्थलों पर तो वे इसके पूर्व भी पहुंच गये। यह समय उच्च प्लाइस्टोसीन (Late Plieistocene) काल का था। इस काल में जीवाश्म अभिलेख यूरोपीय जीवाश्मों से समृद्ध है लेकिन होमो इरेक्टस एवं होमोसैपियस के मध्य काल में समझे जाने वाले अनेको एशियायी जीवाश्म (सोलोमानव इन्डोनेशिया में, नर्मदेंसिस भारत में, हुपै मानव चीन में, साल्दान्ह मानव दक्षिणी अफ्रीका में, काब्चे मानव जाम्बिया में) एवं (स्वांस काब मानव इग्लैण्ड में, स्टीनहाइम जर्मनी में, माटमारिन फ्रांस में, टेरा अमरा फ्रांस के ओरेगो एवं रिवेरा स्थल में, अवरी सुवाई जीवाश्म फ्रांस में प्राप्त हुए है। मानव या होमो सैपियंस श्रेणी के अवस्था में प्रायः दो प्रकार के लक्षणों वाले जीवाश्म है। एक तो अपेक्षाकृत दीर्घ आननों एवं दीर्घ भ्रूकटकों वाले नियन्डरक्षल और दूसरे लघु आननों एवं भ्रूकटकों से युक्त हैं। केवल उनका दीर्घ मस्तिष्क उनमें उसी संरचनात्मक अवस्था में रहा।

होमोसैपियंस अवस्था की इस प्रकार की प्रस्तुति सन् 1950 के पूर्व नहीं थी। पूर्व होमो सैपियंस स्पीशीज के अन्तर्गत नियन्डरथल श्रेणी के जीवाश्म को पृथक अवस्था माना जाता था। सन् 1950 में प्रसिद्ध वर्गीकरण वैज्ञानिकों (Taxanomist) एवं पुरामानवशास्त्रियों (Paleoanthropologist) ने यह स्वीकार किया कि नियन्डर थल मानव को होमो सैपियंस स्पीशीज की एक सव स्पीशीज– होमो सैपियंस नियन्डरथलेंसिस मानना चाहिए जिसे सर्वसम्मति से स्वीकारा गया। वर्तमान मानव को होमो सैपियंस (मेधावी मानव) सबस्पीशीज कहा गया। आधुनिक मानव की ये दोनों उपजाति एक दूसरे से इतना अधिक विभेद नहीं रखती है। अपितु दोनों जीवाश्म उपजातियों में अंतः विभेद (Intravariation) भी है जो इस जीवाश्म वर्गीकरण के व्यापक एवं सरल समूहीकरण दृष्टिकोण का संकेत करते है जिनसे मानव उदविकास का बोध कराने वाले जीवाश्म साक्ष्यों को सरलता पूर्वक क्रमबद्ध करके समझा जा सकता है। उदाहरण हेतु यदि "होमोसैपियंस नियन्डरथलेंसिस" को विश्लेषण किया जाय तो "प्राचीन प्रकार" को "प्रगतिशील प्रकार" के साथ रखना कठिन प्रतीत होता है। इसलिए यहाँ पर इन दोनों जीवाश्म उपजातियां का प्रमुख विलक्षणताओं का वर्णन किया जायेगा।

होमो सैपियंस नियंडरथलेंसिस (Homo Neander Thanlensis)

प्लाइस्टोसीन अथवा महान हिमयुग में चार उपयुग– गुंज (प्लायोसीन– प्लाइस्टोसीन), मिण्डेल हिमयुग (निम्न प्लाइस्टोसीन), रिस हिमयुग (मध्य प्लाइस्टोसीन) एवं बुर्म हिमयुग (उच्च प्लाइस्टोसीन)

घटित हुए है। इन हिमयुगों, जिस समय धरातल के अधिकांश भाग हिमाच्छादित रहते थे, के मध्य में अन्तर्हिमयुग घटित हुए है। इस समय बर्फ पिघलती थी। गुंज हिमयुग सर्वाधिक प्राचीन है जो सम्भवतः 20 लाख वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था।जब आस्ट्रेलोपिथेसीन अफ्रीका में उदविकासित हो रहे थे। ये गुंज–मिण्डेल अन्तर्हिमयुग एवं मिण्डेल हिमयुग में अन्य्त्र फैले। मिण्डेल रिस अन्तर्हिमयुग एवं रिस हिमयुग (मध्य प्लाइस्टोसीन) में होमो इरेक्टस प्राचीन विश्व में अधिकांश भागों में विस्तीर्ण हो गये। होमो इरेक्टस के वंशज रिस–वुर्म अन्तर्हिमयुग में और विस्तृत हुए जिनका, विशेषीकरण महान हिमयुग के वुर्म में हुआ जो सबसे अधिक नूतन हिमयुग है।

इस प्रकार नियन्डरथल मानव का जन्म महान हिमयुग अथवा प्लाइस्टोसीन के अन्तिम चरण वुर्म (उत्तरी प्लाइस्टोसीन) में हुआ। वुर्म हिमयुग में मध्यपुरापाषाण कालीन संस्कृति–माउस्टीरियन (Mousterian) का पल्लवन इसीकाल में हुआ। इस समय सम्पूर्ण भू–भाग शीतप्रधान था। अधिकांश नियन्डरथल अवशेष शीत प्रधान भू भाग से खोजे गये है जो 1 लाख 70 हजार पूर्व से लेकर के 40 हजार वर्ष पूर्व के मध्य कालीन है। कालान्तर में 1 लाख वर्ष पूर्व जीवाश्म होमोसैपियंस नियन्डरथलेंसिस को "क्लासिक नियन्डरथल" एवं दूसरे को "प्रोग्रेसिव (प्रगतिशील) नियन्डरथल" कहा गया।

खोज :

सन् 1856 में पहला नियन्डरथल मानव एल्वर्सफील्ड के एक शिक्षक जो॰सी॰ फ्यूलराट (J.C.Fuhlrott) के द्वारा जर्मनी के नियन्डर घाटी में खोजा गया। यह नियन्डर घाटी का उत्खनन स्थल ड्यूसेल डार्फ (Dusseldorf) के निकट है। इस स्थल के उत्खनन से एक छोटी गुफा पायी गयी जिसकी चिकनी मिट्टी (Clay) से जीवाश्म कंकाल प्राप्त हुए। इसके निकट कोई भी उपकरण एवं अस्थियाँ प्राप्त नहीं की जा सकी। प्राप्त जीवाश्म में एक कपाल खोल एवं लम्बी अस्थियाँ थी। फ्यूलराट एवं स्काफहौसेन जो बोन के शरीर रचनाशास्त्री थे, दोनों इस जीवाश्म को आदिम एवं मानव का पूर्वज मानते थे लेकिन आर. विरचो (R. Vircho) ने इसका खण्डन किया और अन्ततः किंग (King) 1864 ने इस जीवाश्म का नाम 'होमोनियन्डरथलेंसिस' रखा। कालान्तर में इसे वैज्ञानिक दुनिया ने 'हिममानव' के रूप में समझा गया।

क्लासिक नियन्डरथल : (Classic Neanderthal)

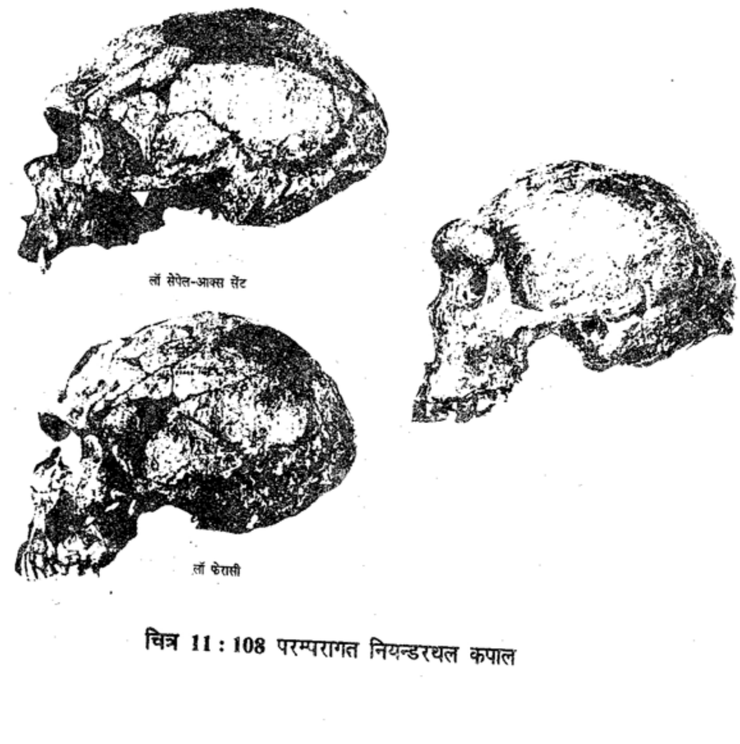
नियन्डरथल मानव जिसे आज वास्तव में 'क्लासिकल' या प्राचीन नियन्डरथल भी कहा जाता है ये वुर्म हिमयुग (Wurm I) में जन्में एवं पल्लवित हुए। इनके अवशेष कालान्तर में सम्पूर्ण यूरोप महाद्वीप के अन्य स्थलों में प्राप्त हुए।

इन्हें निम्न तालिका में दर्शाया गया है–

यूपोर महाद्वीप :

क्रम सं०	स्थल	नाम	प्राप्त अवशेष	वर्ष
1.	जर्मनी (नियन्डरघाटी, ड्यूसेलडार्फ)	नियन्डरथल	कपाल खोल, अस्थियाँ	1856
2.	बैल्जियम	स्पाई	दो कपाल, कंकालीय अवशेष	1886

क्रम सं०	स्थल	नाम	प्राप्त अवशेष	वर्ष
3	फ्रांस : (कोरेंज)	लाशैपेल ऑक्स सेंट्स	सम्पूर्ण प्रौढ़ कंकाल	1908
	डारडोग्न	ला मौस्टियर	सम्पूर्ण किशोर कंकाल	1908
	चैरेन्ट	ला क्विना	कई कपाल, (एक शिशु का भी)	1908–21
	डारगोग्न	लाफेरैसी	कपाल, कंकालीय अवशेष	1909–21
	----	अर्कीसर कर	जबड़े, के भग्नावशेष	1949–51
	----	रिगौर्डान	अधोहनु	1957
4.	ब्रिटेन	जर्सी	दांतों के भग्नावशेष	1910–11
5.	इटली	मॉन्टी सरकियो	कपालीय भग्नावशेष	1939
6.	कीनिया	कियिककोवा	कंकालीय भग्नावशेष	1924
7.	जिब्राल्टर (फार्वसक्वैरी)	जिब्राल्टर I	(एक सम्पूर्ण पाव कंकाल) महिला (?) कपाल	1844
8.	जिब्राल्टर (डविल्स टावर)	जिब्राल्टर II	शिशुकपाल के भग्नावशेष	1924



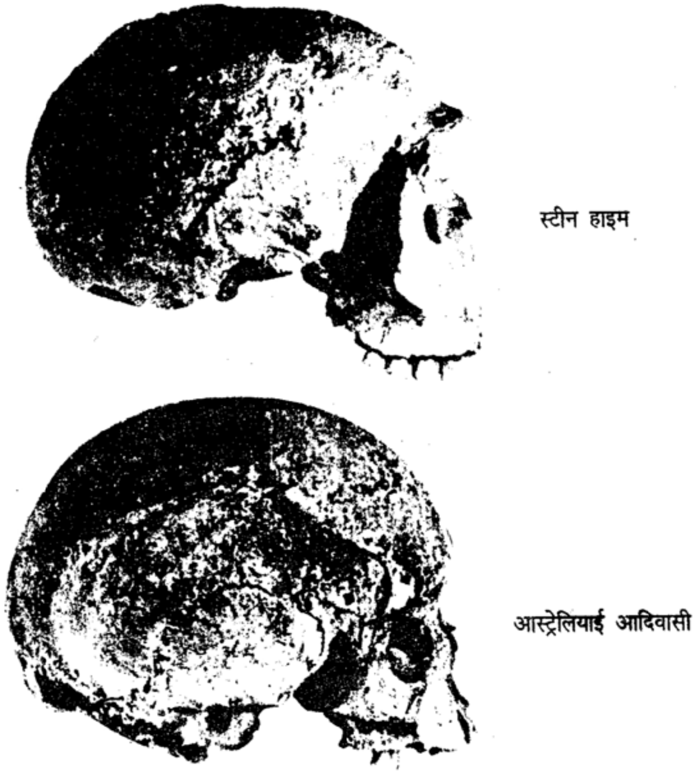
चित्र 11 : 108 परम्परागत नियन्डरथल कपाल

उक्त समस्त अवशेष गुफाओं से प्राप्त हुए है। इनसे सम्बन्धित जो संस्कृति पल्लवित हुई उसे फ्रांस की एक गुफा के नाम पर 'माउस्टीरियन' संस्कृति के नाम से जाना जाता है।

प्रगतिशील नियन्डरथल : (Progressive Neanderthal)

नियन्डरथल मानव जीवाश्मों में जिसे आज हम प्रगतिशील नियन्डरथल (Progressive Neanderthal) के नाम से भी जानते है (इसका नामकरण हुटन के द्वारा किया गया) वे पश्चिमी यूरोप के अतिरिक्त अन्य उत्तरी अफ्रीका एवं एशियायी स्थलों में भी प्राप्त हुए है।ये निम्न है :

क्रम	स्थल	नाम	प्राप्त अवशेष	वर्ष
1.	जर्मनी	इहरिन डॉर्फ	कपाल, कपालीय	1871
	(वीमैर)		एवं फीमर भग्नावशेष	1908
			अधोहनु	1914
			शिशु अधोहनु एवं कंकाल	1916
			महिला मस्तिष्क खोल	1925
		टौबक	दो दाँत	1887, 1892
2.	वुर्टेम्वर्ग	स्टीनहाइम	कपाल (अधोहनु बिना)	1933
3.	इग्लैण्ड	स्वांसकोम्ब	कपाल के भाग	1935–55
4.	युगोस्लाविया (क्रौशिया)	क्रायिना	500 भग्नावशेषो से भी अधिक जो कम से कम 13 व्यक्तियों के हैं	1895–1905
5.	चेकोस्लोवाकिया	गैनाब्से	मस्तिष्क खोल, रेडियस एवं फीबुला भग्नावशेष	1926
6.	इटली	सैकॉपैस्टॉर	महिला कपाल	1929
	(रोम)		उच्चहनु पुरुषकपाल के भग्नावशेष	1935
7.	उजवेकिस्तान	तेशिकताश	शिशुकब्र	1938
8.	फिलिस्तीन	तबुन (माउंटकार्मेली)	कपाल एवं प्रौढ़ कंकाल	1931–32
		स्खूल (माउंटकार्मेली)	1 प्रौढ़ एवं शिशु कंकाल	1931–32
		गैलिलो	कपालीय अवशेष	1925
		शुक्रवाह	एक प्रौढ़ तथा 6 शिशु कपाल	1933–35



चित्र 11 : 109 स्टीनहाइम कपाल की आस्ट्रेलियाई आदिवासियों से तुलना

उक्त इहरिनडॉर्फ, तौबक एवं गैनॉब्से जीवाश्म खुले स्थलों पर प्राप्त हुए, जबकि क्रापिना जीवाश्म गुफा अथवा चट्टान गुफा आश्रय स्थल से एवं सैकॉपैस्टार चिकने कंकड़ों (Grand) के जमाव से खोजे गये। ये सभी जीवाश्म अन्तिम अन्तर्हिमयुगीन भूपरतों से प्राप्त किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त कतिपय और भी जीवाश्म अन्य देशों से प्राप्त हुए है जिनकी भूगर्भीय आयु विवादस्पद है।

6.	स्पेन (जरोना)	बैनालैस	अधोहनु	1887
7.	मोरक्को	सीडी अब्दर्रहमान	अधोहनु के भग्नावशेष	1955
	" (रावट)	तेमैरा	अधोहनु के भग्नावशेष	1958
8.	साइरे नैका	हौआ फ्तीह	अधोहनु भग्नावशेष एवं नियन्डरथल चवर्णक (2)	1952–54

उक्त जीवाश्मों में समस्त अवशेष या तो गुफा से या खड़ी चट्टान (Cliff) के निकट जमाव से उत्खनित किए गये। स्टीनहाइम सम्भवतः मिण्डेल रिस अन्तर्हिम युग का है जो नदी के कंकड़ीले मिट्टी के जमाव से खोजा गया।

इस प्रकार "पुरातन नियन्डरथल" के अन्तर्गत प्रमुखतः तथा स्पाई (बेल्जियम), ला शैपेल –आक्स– सेंट्स, ला फिरैसी, ले मुस्तियर, ला क्विना (फ्रांस), नियन्डरथल (जर्मनी), जिब्राल्टर, मांट सीरको (इटली), शानीदार (ईराक) और मॉन्टमारिन (फ्रांस) जीवाश्म मानव हैं, जबकि "प्रगतिशील नियन्डरथल" समूह में इहरिंग्सडार्फ, स्टेनहाइम (जर्मनी), सैकोपैस्टोर (इटली), क्रापिना (युगोस्लाविया), स्वांसकोंब (इंग्लैण्ड), ऐशिकटस (उजबेकिस्तान), गेलिल, शुकवाह (फिलीस्तीन) तथा स्टबूल एवं तबुन की गुफाओं से प्राप्त माउण्ट कार्मेल जीवाश्म (फिलीस्तीन) समाविष्ट किये जाते हैं।(व्यूटनर जानुश 1973)

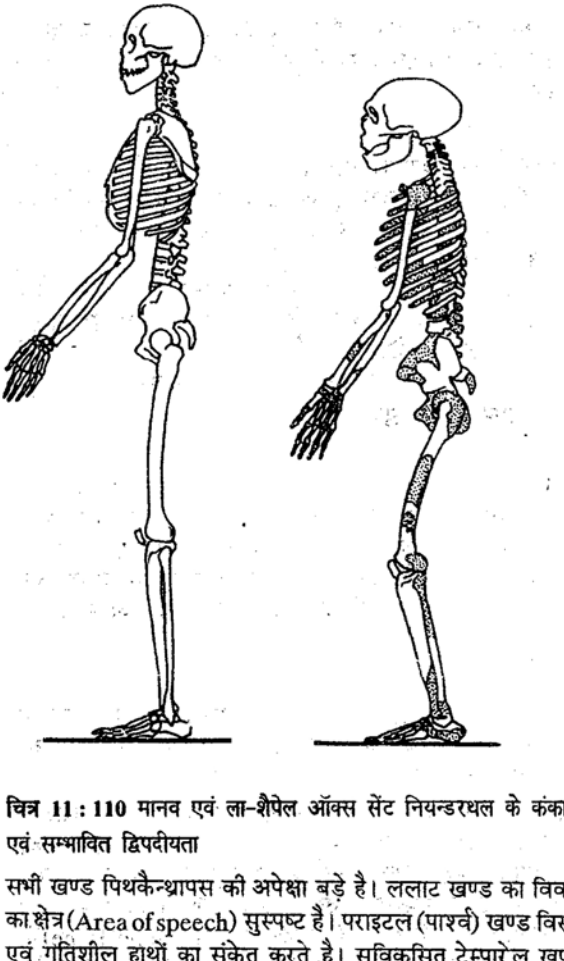
पुरातन नियन्डरथल लक्षण

पुरातन नियन्डरथल की ज्ञापनीय सामान्य विशिष्टताओं में से **उभारयुक्त अधिभ्रूकटक** क्षेत्र (जिस पर एक टांड Torus बन जाता है।) ऊर्ध्वललाट की अनुपस्थिति, लम्बा उद्गत एवं संकीर्ण **मुखमण्डल** प्रमुख हैं। इनके आधार पर इन्हें होमोसैपियंस या आधुनिक मानव से पृथक भी किया जाता है। इसके अतिरिक्त उनका दबावयुक्त कपाल खोल, 1350–1723 घन सेमी० (गीसला, 1957) कपालीय क्षमता, गोलाकार पश्चकपाल, विकसित नासिकास्थि, दीर्घ नासिकागुहा, दीर्घ एवं संकुचित चवर्णक, आधुनिक मानव से भिन्न पुराचवर्णक एवं रदनक, अनुपस्थित चिबुक, कुछ झुकाव युक्त फीमर एवं भुजा अस्थियाँ, टांग की अस्थियाँ अपेक्षाकृत छोटी तथा इनका लगभग 5 फिट से लेकर 5 फिट 4 इंच शारीरिक कद है। पुरातन नियन्डरथल जीवाश्मों के कपाल के प्रमुख लक्षण इस प्रकार है। वाइडेनरीच (1943) एवं गीसेलर (1957) के अवलोकनों पर आधारित है :

सदस्य	1	2	3	4	5
नियन्डरथल	19.9	14.7	73.9	–	1500 (e)
स्पाई – I	20.0	14.0	71.3	–	1562
ला क्विना	20.3	13.8	68.2–12.2 (e)	1350	
ला शैपेल आक्ससेंट्स	20.8	15.6	75.0	13.1	1620

संकेतः 1– (अधिकतम लम्बाई), 2– (अधिकतम चौड़ाई), 3– (कपालीय देशना), 4– (ब्रेम्मा वेसियन लम्बाई), 5– (कपालीय धारिता), e– अनुमान।

पुरातन नियन्डरथल (Conservative or Classic Neanderthal) समूह में जो भी जीवाश्मिक अवशेष प्राप्त हुए है उनमें एक वृद्ध पुरुष का कंकाल सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। वस्तुतः यह जीवाश्म इस समूह का प्रतिनिधि माना जाता है। यह जीवाश्म जिसका नाम "ला – शैपेल– आक्स सेंट्स" (फ्रांस) है, फ्रांस की एक गुफा में 1908 में खोजा गया। इसके साथ अन्य सामग्रियों में माउस्टीरियन संस्कृति काली चकमक पाषाण के उपकरण (Flint lools), द्वितीयक क्रिया से बनाये गये फलक (Retouched Blades) एवं स्क्रेपर (Serapers) हैं। इसके अतिरिक्त इसके साथ ऊनी गैडा, राइनडियर, जंगली घोड़े, जंगली भैंसे आदि के कंकालीय अवशेष भी प्राप्त किए गए है। ला–शैपेल–आक्स–सेंट्स की विशेषतायें निम्न हैं–



चित्र 11 : 110 मानव एवं ला-शैपेल ऑक्स सेंट नियन्डरथल के कंकाल एवं सम्भावित द्विपदीयता

कपाल :

मस्तिष्क कोष्ठ लम्बाई में अधिक लेकिन ऊँचाई में कम है। इनमें विराट भ्रूकटक निम्न एवं पीछे की ओर पाया जाता झुका हुआ ललाट, एवं उद्‌गत मुखमण्डल पाया जाता है। अधोहनु अपेक्षाकृत शक्तिशाली है। मस्टवायड प्रवर्ध आकार में लघु है। पश्चकपा टोरस (टांड) अधिक उभरा है। फोरामेन मैग्नम (महारन्ध्र) की स्थिति आधुनिक मानव सम है।

पुरातन नियन्डरक्षलों में 1350–1620 घन सेमी० के मध्य पायी गयी है स्त्रियों में यह 1300–1425 घन सेमी० आंकी गयी है। अन्त कपालीय संरचना के अध्ययन से कतिपय रहस्य और उद्‌घाटित होते है। मस्तिष्क का बाया खण्ड (Lobe) अपेक्षाकृत दीर्घ है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह दांये अंश का प्रयोग अधिक करता था। मस्तिष्क के कुण्डलीकरण प्रारूप साधारण है ये आधुनिक मानव सदृश नहीं है। इसके ललाट खण्ड (Frontal labe) सेरीब्रल सतह का लगभग 36 प्रतिशत भाग वर्तमान मनुष्यों में यह 43% एवं कपियों में 32% है। मस्तिष्क के सभी खण्ड पिथकैन्थ्रापस की अपेक्षा बड़े है। ललाट खण्ड का विवर्धन कम होते हुए भी बोलने की क्षमता का क्षेत्र (Area of speech) सुस्पष्ट है। पराइटल (पार्श्व) खण्ड विस्तृत है जो इसके सुविकसित संवेदनाओं एवं गतिशील हाथों का संकेत करते है। सुविकसित टेम्पारेल खण्ड में में श्रवण उभार स्पष्ट है। दृष्टि मानसिक क्षेत्र संवर्धित हुए है। इस प्रकार नियन्डरथल मानव का मस्तिष्क बड़ा, भारी एवं आदिम होते हुए भी स्पष्टतया मानव सदृश था।

दन्त विन्यास :

जबड़े आकार में भारी एवं बड़े है। चिबुक लगभग अनुपस्थित है जो नीचे की ढलवी है न कि ऊपर की ओर उन्नत। सिम्फाइसिस ढाल पीछे की ओर एवं अन्तःगामी प्रतीत होती है। सीमियन शेल्फ का अभाव है। सिम्मायड खांच संकरी एवं कोरोन्वायड प्रवर्ध गोठिल एवं निम्न है। दांतों का आकार साधारण से बड़ा है। कृतंक एवं रदनक आधुनिक मानव की चौड़ाई से दीर्घ है। जड़े प्रबल है। ग्लीन्वायड फोसा छिछले है क्योंकि सम्भवतः यह खाने को चबाने में निम्न जबड़े का उपयोग वर्तमान मानव के समान नहीं करता था। दन्तावकाश अनुपस्थित है।

धड :

शरीर के धड़ की अस्थियाँ नियन्डरथल मानव के छोटे एवं शक्तिशाली होने का संकेत करती है। मेरुदण्ड छोटा एवं भारी है। **सरवाइकल** कशेरुकाओं (ग्रीवा) के स्पाइन प्रवर्ध लम्बे एवं लगभग क्षैतिज है। इस स्थिति में यह चिम्पैंजी से कुछ समान है।

उपांग :

फीमर आकार में अपेक्षाकृत छोटी, भारी एवं धनुषाकार है। संयुक्त होने वाले शीर्ष (Head) बड़े आकार के है। काण्ड (Shaft) चिकने एवं वलयाकार हैं।लीनिया एखेरा सुस्पष्ट है जो इनकी ऊर्ध्व संस्थिति को इंगित करता है। टीबिया आकार में छोटी व बलिष्ठ है। इसका शीर्ष (Head) के ऊपरी सतह पर पीछे की ओर ढलवा है जो इस मानव में झुककर चलने (Bent Knee Walking) की स्थिति को इंगित करती है। (बूल 1912–1913)। लेकिन स्ट्राउस एवं केव (1967) ने बूल की इस धारणा को गलत करारा और विचार व्यक्त किया कि ला–शैपेल–अक्स–सेंट्स एक वृद्ध व्यक्ति का कंकाल है, जो गठिया रोग से ग्रसित रहा होगा। इस रोग का प्रभाव कशेरुक अस्थियों एवं जबड़े पर देखा जा सकता है। सम्भवतः इससे घुटने भी प्रभावित हुए होंगे। कुछ वैज्ञानिकों ने इसके सूखे रोग से पीड़ित होने की सम्भावना व्यक्त की है।

प्रगतिशील नियन्डरथल

लक्षण :

प्रगतिशील नियन्डरथल के अवशेष अधिकांशतः पश्चिमी यूरोप के अतिरिक्त अन्य स्थालों से प्राप्त किये गये है। इनमें फिलिस्तीनी जीवाश्म (माउण्ड कार्मेल) अधिक महत्वपूर्ण है जो प्रगतिशील नियन्डरथल का प्रतिनिधि सदस्य के रूप में जाना गयाहै। यह पुरातन नियन्डरथल के विपरीत हल्के शरीर एवं आकृति वाले हैं। इनमें आधुनिक मानव के अधिकांश लक्षण विद्यमान हैं। कपाल पार्श्व में संकुचित होते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक ऊँचाई वाला है। चिबुक सामान्यता विकसित है। इनके प्रमुख जीवाश्म सदस्यों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है :

स्टीनहाइम (Steinheim) :

पश्चिमी जर्मनी के बुटेमवर्ग क्षेत्र में स्थित मारवान स्थल के कंकड़ीले खडड से सन् 1933 में स्टीनहाइम जीवाश्म प्राप्त हुआ, जो सम्भवतः मिन्डेल–रिस अन्तर्हिमयुग का है। इसके साथ कतिपय अन्य जीवों की अस्थियाँ भी प्राप्त हुई है परन्तु कोई उपकरण उपलब्ध नहीं हुए।

इस कपाल की लम्बाई 18.5 सेमी० तथा चौड़ाई अपेक्षाकृत कम (13.2 सेमी०) है। इसका कपालीय सूचकांक 70 हैं जो लम्बे सिर का संकेत करता है। इसकी कपालीय धारिता 1150–1175 घन सेमी० है। इसका ललाट पुरातन नियन्डरथल की भाँति निम्न नहीं है लेकिन भ्रूकटक टोरस विद्यमान है। कपाल गुम्बद ऊँचा है लेकिन पार्श्व में दबा है। उत्तल पश्च कपाल के बावजूद भी उसकी आकृति जूड़े (Bun) के समान नहीं है। नेत्रगुहा चौड़े हैं। नासिका जड़ आधुनिक मानव के सदृश है।गण्डास्थि (Zygomatic Bone) के नीचे गाल के गढ़े आधुनिक मानव सदृश है।जबडों में तृतीय चवर्णक परिरक्षित है तथा सभी चवर्णक आकार में छोटे है। वर्तमान मानव से इसकी उद्‌गतहनुता अधिक है।

इन लक्षणों के आधार पर ये पुरातन नियन्डरथल से भिन्न एवं हौमोसैपियंस सैपियंस की ओर अग्रसर प्रतीत होते है।इनके लिये कई विद्वानों ने होमोइरेक्टस एवं होमोइरैपियस की मध्यवर्ती स्थिति का प्रस्ताव किया। कुछ विद्वान इस जीवाश्म को यूरोप से बाहर जन्मे बताते है।

इहरेंगूसडार्फ(Ehringsdorph) :

इहरिंगसडार्फमानव जीवाश्म जर्मनी के वीमर (Weimar) स्थल के खुली खदान से सन 1871 से 1916 तक प्राप्त होते रहे है। यह गर्म जलवायु का जीवाश्म अन्तिम अन्तर्हिमयुग (रिस–वुर्म) का प्रतीत होता है। इस जीवाश्म के साथ हाथी, गैंडा, वृषभ तथा घोड़े के अवशेष प्राप्त हुए है। अन्य सामग्रियों में माउस्टीरियन कालीन पाषाण उपकरण प्राप्त हुए है।

कपाल की लम्बाई 19.6 सेमी० एवं चौड़ाई 14.5 सेमी० है इसका कपाल सूचकांक 74 आंकलित किया गया है। इस से यह प्रतीत होता है कि ये मानव लम्बे सिर वाले थे। कपाल की अस्थियाँ पतली है। इसकी ऊँचाई अपेक्षाकृत अधिक है। कपाल गुम्बद पुरातन नियन्डरथल की अपेक्षा ऊँचा है। ललाट भी ऊँचा है तथा भ्रूकटक क्षेत्र उभरा एवं भारी है।इससे यह स्टाइन हाइम के समान प्रतीत होते है। इसके अतिरिक्त लक्षण पुरातन नियन्डरथलं के सदृश है। कई विद्वान इसे मेधावी मानव के आदिम सदस्यों में से एक मानते हैं क्योंकि यह अधिकांश लक्षणों में आधुनिक मानव के सदृश है।

फिलिस्तीनी जीवाश्म (माउंटकारमेल) :

डोरोथी गेरॉड (Dorothy Garrod) एवं उनके अन्य साथियों ने 1931–32 में जेरुसलम के निकट माउन्ट कारमेल पर्वत की गुफाओं (स्खूल एवं ताबुन) से कई दबे हुए कंक्कालीय जीवाश्म खोजा। यही से कई पाषाण उकरण भी प्राप्त हुए जो लेवेल्वाइजियन–माउस्टीरिचना संस्कृति के है। यह जीवाश्म अन्तिम अन्तर्हिम युग सेलेकर के वुर्म हिमयुग कालीन है।

स्खूल गुफा से लगभग 10 व्यक्तियों के कंक्कालीय भग्नावशेष प्राप्त हुए है, जो पुरातन नियन्डरथलों से भिन्न है। दो व्यक्ति स्खूल IV एवं V 5 फिट 11 इंच से लेकर 6 फिट तक की शारीरिक ऊँचाई के है। कपाल लम्बे हैं (19.2–20.6 सेमी०)। कपालीय क्षमता 1500 घन सेमी० से अधिक आँकी गयी है। ये भ्रूकटक क्षेत्र रखते है लेकिन अधोहनु में एक उभरी चिवुक विकसित है जो होमोसैपियंस सैपियस एवं नियन्डरपल के मिश्रित स्वरूप को इंगित करती है। इनका ललाट उन्नत है। मस्तिष्क गुम्बद ऊँचा है।

तबुन गुफा से एक 30 वर्षीय महिला का कंक्काल प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त पुरुष अधोहनु भग्न कंक्काल एवं दांतों के अवशेष प्राप्त हुए है। ताबुन महिला का कद स्खूल पुरुष के अपेक्षा कम है। यह लगभग 5 फिट की शारीरिक ऊँचाई की महिला है। इसका कपाल अपेक्षाकृत छोटा है। इसकी अधिकतम लम्बाई 18.3 सेमी० एवं ऊँचाई 11.5 सेमी० है। कपाल की धारिता लगभग 1270 घन सेमी० आंकलित की गयी है। उभरा भ्रूकटक, गोलाकार पश्चकपाल चाप वाले लक्षणों के कारण यह क्रापिना की महिला के सदृश प्रतीत होती है।

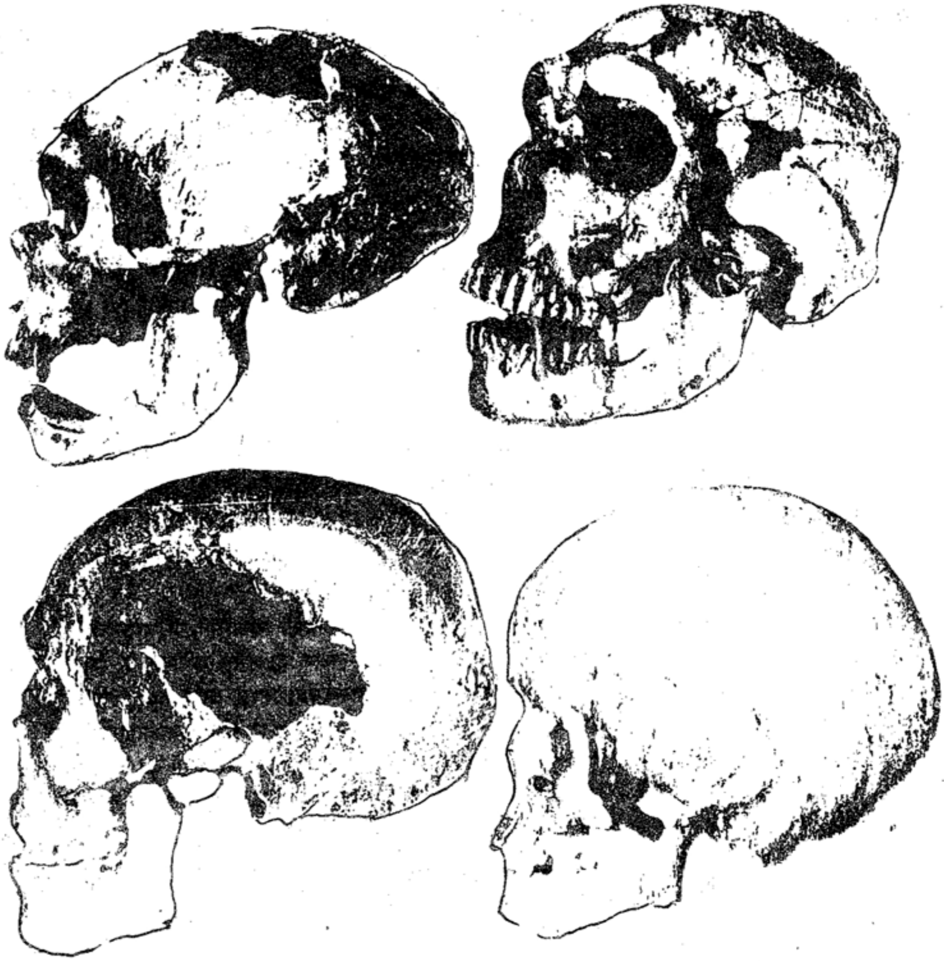
इस प्रकार प्रगतिशील नियन्डरथल पुरातन नियन्डरथलों की अपेक्षा विकसित मस्तिष्क वाले थे, जिनके दांतों का आकार मानव सदृश है (यद्यपि चवर्णक में आदिम लक्षण है)।इनमें अधोहनु के रैमस की चौड़ाई में विविधता, सुविकसित अधोहनु कोण, नासिका के नीचे मध्यम गहराई वाले जबड़े, विकसित चिबुक, चौड़ी नेत्रगुहा, उद्गतहनु के बजाय समहनु (Orthognathic) आनन मण्डल, ऊँचा कपाल गुम्बद, उभरा ललाट क्षेत्र आदि प्रमुख लक्षण है। प्रगतिशील नियन्डरथल के उग्रागों एंव पश्चांगों का अनुमान भी माउंटकारमेल जीवाश्म के अवशेषों से किया गया है। इन जीवाश्म अवशेषों से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि ये आधुनिक मानव (Sapiens) की भांति ही थे।

सांस्कृतिक लक्षण

मध्य पुरापाषाण कालीन : मॉउस्टीरियन संस्कृति :

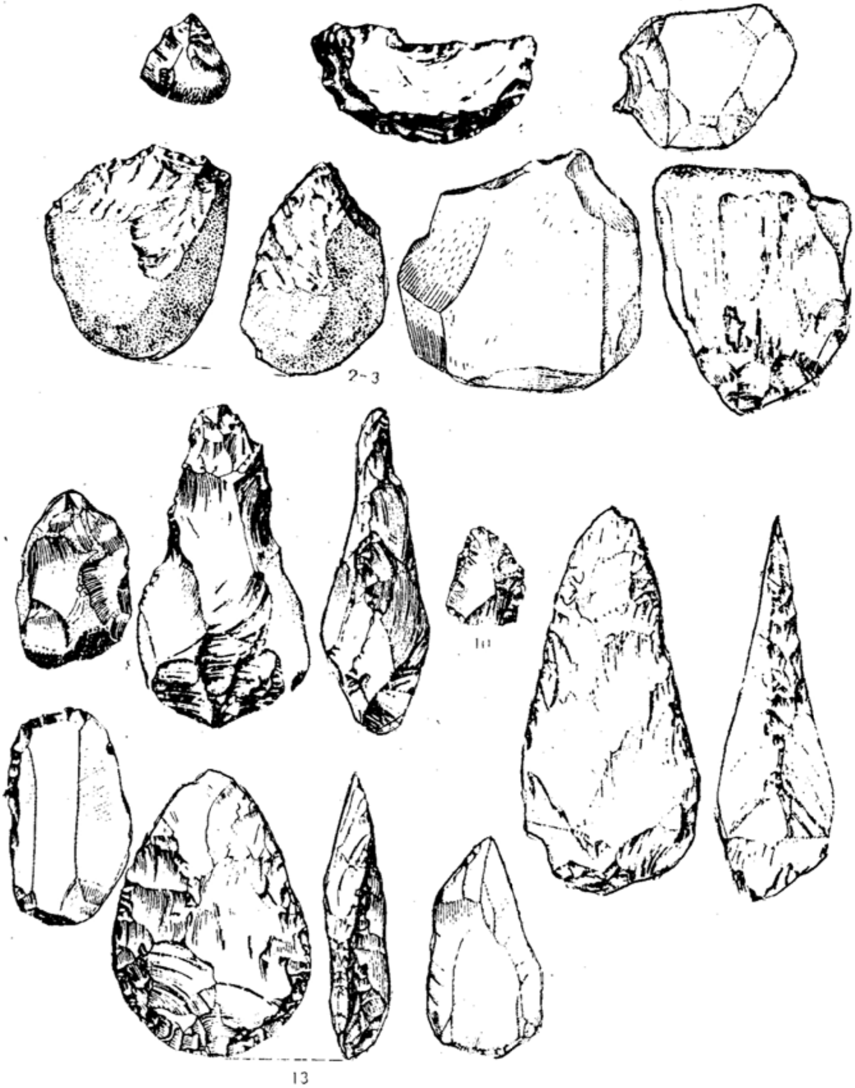
होमोसैपियंस नियन्डरथलेंसिस की मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति के 90 हजार वर्ष पूर्व 35 हजार वर्ष प्राचीन साक्ष्य प्राप्त हुए है। हस्त कुल्हाड़ियों का प्रयोग इस काल में प्रचलित था तथापि ये अल्प मात्रा में प्रयुक्त की जाती थी। अधिकांश उपकरण फ्लेक पर बनाये गये है। इनमें स्क्रेप, साइडस्क्रेप छेदक आदि प्रमुख हैं। प्रायः ये उकरण वटिकाश्म अथवा फ्लिट पर बनाये गये हैं। इनका प्रयोग सम्भवतः बड़े जन्तुओं के आखेट में किया जाता था।

लॉ-शैपेल लॉ-फेरासी



काम्ब सैपेल ग्रिमाल्डी (सैपियन)

चित्र 11 : 111 हिमकालीन फ्रांसीसी मानव (नियन्डरथल एवं सैपियन) के कपाल



चित्र 11 : 112 नियन्डरथल मानवों के पाषाण उपकरण पेबल, फलक, हस्तकुठार (1–14)

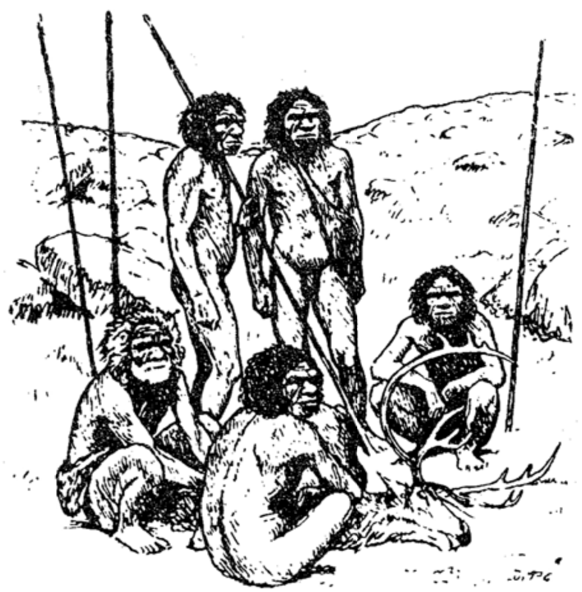
यद्यपि गुफा के मुहानों पर मानव आवास 20 लाख वर्ष पूर्व ही आरम्भ हुआ था लेकिन वुर्म हिम कीपरत जब स्कैन्डीनेवियन उच्च भागों से मैदानी भागों में फैलने लगी तो नियन्डरथल मानव ने व्यवस्थित रूप से गुफाओं में आवास करने लगा था। गुफायें गुफा परतों से चूल्हे की राख, कालिख आदि के अवशेष यह इंगित करते है कि नियन्डरथल ने आग निर्माण को सन्तुलित रूप से सीख लिया था। जलायी गयी अस्तियाँ यह इंगित करती है कि आहार को पकाना आरम्भ कर दिया गया था। फ्रक्वायस बोर्डस ने एक अस्थीय सुई (Needle) खोजा जो यह इंगित करता है कि पुरातन नियन्डरथल जन्तुओं के कोमल रोम का वस्त्र का उपयोग करता है।

दाह संस्कार :

बड़े मस्तिष्क वाले माउस्टीरियन मानव (नियन्डरथल) ने मृत मानव शरीर का अन्तिम संस्कार करना सर्वप्रथमआरम्भ किया। ये मृतकों को दफनाने वाले पहले ज्ञात व्यक्ति है। फ्रांस में ला मॉउस्टीरियन एवं ला–शैपेल ऑक्स सेंट्स ईराक के शनिडर एवं उजबेकिस्तान के तेशिक ताश में मृतकों को दफनाने के साक्ष्य प्राप्त हुए है। मृतकों के साथ पाषाण उपकरणों एवं आखेट किया गये जन्तुओं को दफनाने से यह स्पष्ट होता है कि ये लोग मृत्योपरान्त जीवन में विश्वास करते थे।

सामाजिक संगठन :

गठिया रोग से ग्रसित व्यक्ति 40 वर्ष से अधिक आयु तक जीवित रहा।ये यह प्रमाण सामाजिक संगठन की ओर इंगित करते है क्योंकि एक समाज ही अक्षम एवं असहाय व्यक्ति का पालन–पोषण कर सकता है। बड़े जानवरों का आखेट सामूहिक रूप से ही किया जा सकता है। प्राप्त साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि

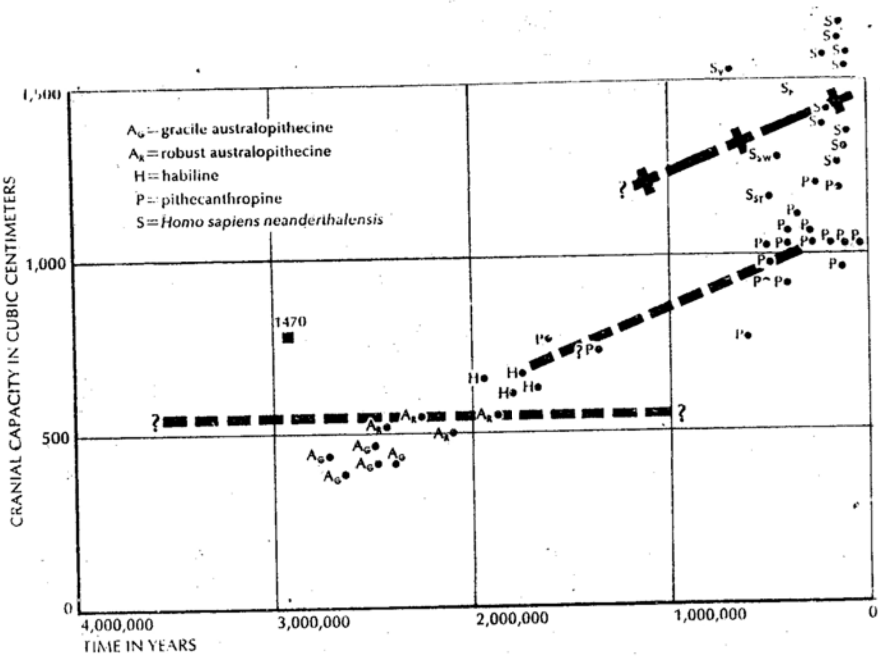


चित्र 11 : 113 नियन्डरथल मानवों का सम्भावित जीवन (डब्ल्यू वैन्डल की पुनर्रचना)

नियन्डरथल की अर्थव्यवस्था आखेट, खाद्य संग्रहण पर आधारित आज की वृंद व्यवस्था के समान है। अरेसवर्ग एवं साथियों नियन्डरथलों में बोलचाल की भाषा आधुनिक मानव के समान है। आर्थिक एवं सामाजिक कार्यों में स्त्रियाँ भी हाथ बंटाती थी।

उदविकासीय स्थिति :

जीवाश्म अभिलेख में 35 से 40 हजार वर्ष पूर्व से पुरातन नियन्डरथल विलुप्त हो जाते है। इस समस्या पर विद्वानों ने विचार किया है लेकिन मतभेद है। एक मत के अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि जब मेधावी मानव (Homo Sapiens Sapiens) ने इनके क्षेत्र में प्रवसन किया तो उन्होंने नियन्डरथल मानवों को धीरे–धीरे उनके स्थल से बाहर भगा दिया। कुछ जीवाश्म विशेषज्ञों का मत है कि नियन्डरथल ने ही आधुनिक मानव को जन्म दिया क्योंकि इसकी आधुनिक मानव तक उदविकासीय निरन्तरता प्रतीत होती है। कुछ विद्वानों का विचार है कि विशिष्ट उपकरणों का बाहुल्य शनैः–शनैः हुआ है जो नियन्डरथल काल की उन्नत प्रविधियों को परिरक्षित करता है।



चित्र 11 : 115 कपालीय धारिता पर आधारित होमोसैपियंस नियडरथैलेंसिस का उद्विकास (बर्डसेल 1976)

इस प्रकार नियन्डरथल मानव की जातिवृन्तीय स्थिति अत्यन्त विवादास्पद है एवं सबसे अधिक विवादास्पद है इनका वुर्म हिमयुग में विलोपन। इनके उदविकासीय स्थिति पर प्रभाव प्रायः दो मत हैं– (1) प्रगतिशील नियन्डरथल वस्तुतः पुरातन प्रकार के प्रतिनिधि है जो होमोसैपियंस में रूपान्तरित हुए (2) फिलीस्तीन मानव नियन्डरथल (पुरातन) एवं होमोस्पैनियस सैपियंस का मिश्रित रूप अथवा संकर समूह, प्रस्तावित किये जाते है जिस पर कई आपत्तियाँ प्रकट की गयी है।

एच० पी० ॅल्क्रायस 19(58) ने नियन्डरथल से सम्बन्धित तीन अवधारणायें प्रस्तावित किया जिसे संसर (1984) ने अधिक महत्व दिया है। ये निम्न लिखित हैं–

(i) **मानव उदविकास की नियन्डरथल अवस्था की परिकल्पना** : नियन्डरथल मानव अपने मध्य प्लाइस्टोसीन, पूर्वजों से उदविकासीय होकर के अपनी अवस्था का विकास करते हुए अन्ततः आधुनिक मानव का उदविकास किया।

(ii) **पूर्व नियन्डरथल परिकल्पना**– इसके अनुसार नियन्डरथल मानव का जन्म पूर्व नियन्डरथल से हुआ जो तीव्र शीत का प्रतिरोध के लिए विशिष्टीकृत होता गया। और वह तीव्र प्राकृतिक वरण का शिकार हुआ।ऐसी स्थिति में पुरातन नियन्डरथल सीमित जीनी प्रवाह के फलस्वरूप मानव का विलग स्वरूप बन गया। इसके समर्थक (हॉवेल, सरगी, क्लार्क, हाबिलन आदि) यह विश्वास करते है कि नियन्डरथलों का पूर्वज वंश यूरोप महाद्वीप के बाहर दक्षिण अफ्रीका (सम्भवतः) के है।

(iii) **पूर्व सैपियन परिकल्पना**– इसके अनुसार यूरोप के अवशेष जैसे– स्टाइनहाइम, स्वांसकाम्ब आदि क्लासिक नियन्डरथल से पृथक थे। जिन्होंने अन्ततः यूरोपीयों को उत्पन्न किया तथा स्वयं हिमयुग के अन्त में लुप्त हो गये। (बूल, Boule)। अनेक प्रसिद्ध पुरामानव वैज्ञानिकों जैसे वेल्वायन, वीनर, लीके थोमा वूल के इस मत का समर्थन किया है।

इस प्रकार नियन्डरथल मानव की स्थिति विवादास्पद होते हुए भी मेधावी मानव (Homo Sapiens Sapiens) के निकटतम लक्षणों को प्रदर्शित करते हैं। इनमें से प्रगतिशील नियन्डरथल मानव उदविकासीय चरण की ओर अग्रसर हुए है, ऐसा अधिकांश पुरामानव वैज्ञानिकों का मत है। यह कहना कठिन है कि प्लाइस्टोसीन युगीन नियन्डरथल मानववंशी आधुनिक मानव में कब और कहाँ परिणत हुए।

होमोसैपियंस सैपियंस (मेधावी मानव)

होमो वंश के आरम्भ के पूर्व ही पाषाण संस्कृति की आधारशिला का न्यास हो चुका था जिसके कई प्रमाण आस्ट्रेलोपिथेसिन जीवाश्मों के साथ प्राप्त हुए है। यह संस्कृतियाँ उत्तरोत्तर प्रगति करती गयी और उपकरण के उपयोग के साथ–साथ आखेट, आवास, श्रमविभाजन, आग का प्रयोग, भाषा का विकास, मानव संस्कारों एवं रीति रिवाजों का अभ्युदय, कर्मकाण्डों एवं अलौकिक शक्ति में विश्वास का उदय आदि मानव गतिविधियाँ इनके आर्थिक व सामाजिक–सांस्कृतिक प्रगति को इंगित करते हैं। इस प्रकार प्राचीन मानव की पाषाण संस्कृति उत्तरोतर विकसित होती गयी और अपने निर्माता के वंशजों को अथवा अनुगामियों को प्रभावित करती गयी। इसका वातावरण के साथ सम्बन्ध अटूट एवं बेजोड़ रहा जिससे यह पर्यावरण की पूरक थी। इसके जैविक अनुकूलन से होमों वंश के एक मेधावी उपजाति– सैपियंस का उद्‌विकास प्लाइस्टोसीन के अन्तिम चरण–उत्तरप्लाइस्टोसीन युग में हुआ।

होमोसैपियंस सैपियंस के जीवाश्म यूरोप के अतिरिक्त पूरे प्राचीन विश्व से प्राप्त हुए है। कतिपय होमोसैपियस स्तर के महत्वपूर्ण जीवाश्म खोजे गये है तथापि वे द्वितीय अन्तर्हिमयुग के पश्चात् के कालों के अनुमानित किये गये है। अनुमान यह भी किया जाता है कि वे होमोसैपियंस की प्रारम्भिक अवस्था क मानव थे। इनमें से प्रमुख निम्न है–

रोडेशियन मानव :

अफ्रीका के ब्रोकेन हिल के रोडेशिया गुफा स्थल से 1921 में एक अधोहनु के विना कपाल एवं कुछ

कंक्रालीय अवशेष टी० स्वीगलार को प्राप्त हुए। यह गुफा लगभग 120 फिट लम्बी है। यही से आर्मस्ट्रांग एवं हर्डलिच्का को पुनः 1921–1925 के मध्य अन्य कंक्रालों के जीवाश्म प्राप्त हुए। इनमें जबड़े रहित कपाल, वायी टीविया, फीमर का भाग, एक सैक्रम, दो पेलविस के भग्नांश तथा ऊपरी जबड़े का भाग समावेश किये गये हैं। सम्भवतः यह अस्थियाँ दो व्यक्तियों की है ऐसा अनुमान किया जाता है।

ये जीवाश्म प्रारम्भिक प्लाइस्टोसीन काल के हैं, जो अनुमान अस्थियों में स्थित लेड व जिंक के परिमाण के विश्लेषण एवं जन्तु तथा पुरातात्विक अवशेषों के आधार पर किया गया है। रोडेशियन कपाल की अधिकतम लम्बाई 21.0 सेमी०, चौड़ाई 14.5 सेमी० वाइजेनरीच एवं सिंगर ने आंकी है। इसकी कपालीय देशना 69.4 है जो इनके लम्बे सिर का बोध कराती है। इनके कपाल की ऊँचाई 12.9 सेमी० है जो सिनैन्थ्रापस एवं पुरातन नियन्डरथल से भी ऊँची है। इनकी कपालीय औसत धारिता 1325 घन सेमी० आंकी गयी है। कीथ के अनुसार मस्तिष्क गुहा की लम्बाई 17.1 सेमी० है जो सम्पूर्ण कपाल का 81.4 प्रतिशत है। आधुनिक मानव के कपाल का यह अनुपात लगभग 92 प्रतिशत है।

कपाल के भ्रूकटक दीर्घ है। ललाट कपिसदृश निम्न तथा ढलवा है। पश्चकपाल का उभार अधिक है। पराइटल क्षेत्र का विस्तार मानव सदृश है। कीथ के अनुसार मस्तिष्क का यह विकास इसके द्विपद गामी व्यवहार एवं हाथों पैरों की गतिशीलता का संकेत करता है। इसके महारन्ध्र की स्थिति लगभग केन्द्रीय है जो कशेरुक दण्ड पर संतुलित है। मुखमण्डल दीर्घ एवं गण्डास्थि तथा मैक्सिला शक्तिशाली एवं सुविकसित है। यह कपाल एलव्योलर उदगतहनुता से युक्त है। तालु आधुनिक मानव सदृश गहरे, बड़े तथा चौड़े हैं।

दन्त रचना मानव सदृश है। इनके दांतों की मज्जागुहायें (Pulp cavities) दीर्घ नहीं है। सामान्यतया इनके दांत कीड़े लगने एवं सड़ने जैसे दंत रोगों का शिकार हुए प्रतीत होते हैं। इनका शारीरिक कद 5 फिट 10 इंच का आंकलित किया गया है। शरीर का भार का अनुमान लगभग 208 पाउन्ड किया जाता है। यह मानव ऊर्ध्व संस्थिति में द्विपादगामी था इससे इसके निम्नांग (Lower Limb) अपेक्षाकृत बड़ा, शक्तिशाली एवं भारी भरकम संधि क्षेत्रों वाला है। फीमर अस्थि मानव सदृश सीधी है न कि पुरातन नियन्डरथलों के समान कुछ धनुषाकार सैक्रम सीधी एवं संकीर्ण है।

इस प्रकार उक्त लक्षणों के से यह प्रतीत होता है कि यह जीवाश्म आधुनिक मानव की पूर्व अवस्था का है। इन्हीं लक्षणों के आधार पर 1921 में वुडवर्थ ने इसे "होमोरोडेयंसिस" नाम दिया। मारैन्ट मार्पो कें तुलनात्मक अध्ययनों के आधार पर इसको होमोसैपियंस के सदृश मानते है। बूल के मतानुसार नियन्डरथल रोडेशिया एवं आधुनिक आस्ट्रेलिया के मानव एक की स्रोत से उत्पन्न हुए हैं। हूटन रोडेशिया मानव को नियन्डरथल मानव का समरूप मानते है।

सैल्दान्हा मानव :

अफ्रीका में केपटाउन के निकट सन् 1953 में कीथ को कपाल गुम्बद तथा बाद में अधोहनु के भग्नावशेष मिले यह रोडेशिया जीवाश्म के समान प्रतीत होता है। यह उत्तर प्लाइस्टोलीन युग के मानवो का जीवाश्म है। इस जीवाश्म के कपाल की लम्बाई 20.0 सेमी० तथा चौड़ाई 14.4 सेमी० है। इसके कपाल का सूचकांक 69 आकलित किया गया है जिससे यह दीर्घशिरश्क (लम्बा कपाल) प्रतीत होता है। इसकी कपालीय धारिता लगभग 1200 घन सेमी० अनुमानित की गयी है। कपाल की अस्तियाँ मोटी ऊँचाई में चपटी तथा ललाट टोरस उभरा है। कोइंगसवाल्ड के मतानुसार यह मानव रोडेशिया मानव का प्रत्यक्ष पूर्वज है। कैम्पवेल (1964) इसको होमोसैपियंस की रोडेशिया मानव के साथ ही एक उपजाति मानते है उन्होंने इस उपजाति का नाम होमोसैपियंस रोडेयंसिस प्रस्ताविक किया। इसी प्रकार का मत बूल एवं वैल्वाय ने भी प्रस्तुत किया है। ड्रेनान ने सैल्दान्हा मानव को एक पृथक स्पीसीज– "होमो सैल्दानैसिस" माना है।

नानडाँग मानव (सोलो मानव) :

एशिया महाद्वीप में जावा देश के केन्द्रीय भाग के नानडाँग (Ngondong) स्थान पर सन् 1931–32 में

ग्यारह टूटे हुए कपाल गुम्बद एवं दो टीविया प्राप्त हुई। यह स्थल ट्रिनिल के निकट सोलोनदी के तट पर स्थित है इस लिए इसको "सोलो मानव" के नाम से भी जाना जाता है। इसकी भूगर्भीय आयु अनिश्चित है तथापि उदविकासीय दृष्टिकोण से यह सम्भवतः उत्तर प्लाइस्टोसीन का होगा। आदिम लक्षणों में यह कपाल नियन्डरथल मानव से समानता प्रदर्शित करते हैं। कपाल की भित्ति मोटी है। भ्रूकटक क्षेत्र अधिक उभरा नहीं है। ललाट चपटा एवं ढलवा है।कपालों की लम्बाई 19.3 सेमी॰ से लेकर 21.9 सेमी॰ तक तथा चौड़ाई 14.0−14.4 सेमी॰ तक आंकी गयी है। ये कपाल लम्बे है इनके कपालों के सूचकांक 66.2 से लेकर 73.3 सेमी॰ है। ब्रेग्मा वेसियन लम्बाई 12.3−13.1 सेमी॰ अनुमानित की गयी है। कपालीय धारिता 1035 घन सेमी॰ एवं 1255 घन सेमी॰ के मध्य है। इनका भ्रूकटक क्षेत्र उभरी है। कपाल गुम्बद चपटा है। ललाट क्षेत्र दबा हुआ है। न्यूखल उभार आक्सिपिटल अस्थि के ऊपर है। फोरामेन मैग्नम (महारन्ध्र) की स्थिति हल्की पीछे की ओर है। सिर आगे की ओर झुका है। इसके अतिरिक्त कई लक्षणों में यह जावा एवं पेकिंग मानव के कपाल के सदृश है। अन्तः कपालीय ढाँचा सिनैथ्रापस के समान है। बाइडेनरीच ने इसे पिथकैन्थ्रापस का प्रत्यक्ष वंशज माना है, जो मत अत्यधिक विवादास्पद है।कोइंग्सवाल्ड (1961) ने इसे नियन्डरथल मानव का एक आद्य ऊष्णकटिबन्धीय रूप माना है। कैम्पवेल (1964) ने इसको होमोसैपियंस की एक उपजाति के रूप में मान्यता दी है। बेल्वाय (1957) नियन्डरथल मानव का पूर्वगामी स्वीकारते है तथा होमोइरेक्टस का अनुगामी।

स्वासंकाम्ब मानव :

ग्रेट ब्रिटेन में लन्दनं के निकट स्वासकाम्ब स्थल पर 1935−1953 के मध्य आक्सिपिटल अस्थि, बायीं एवं दायी पराइटल अस्थि मिली।इन कपालों का गहन अध्ययन ली−ग्रा−क्लार्क ने किया है। मोरैन्ट ने अस्थियों के परिणाम, महारन्ध्र की स्थिति, पराइटल अस्थि की स्थिति कपालीय वक्रों एवं ग्रीवा पेशियों के चिन्हों के आधार पर मानव के समान ठहराया है।इसकी कथालीय धारिता 1325 घन सेमी॰ आंकी गयी है। अतः कपालीय संरचना होमोसैपियंस के समान है।अस्थियाँ मोटी तथा स्क्वैमस भाग चौड़ा है। यह पश्चक्षेत्र में गोलाकार है जिससे यह स्टीन हाइम के समान प्रतीत होता है। बेल्वाय (1954) ने स्वांसकांव को मेघावी की पूर्वस्थिति (Presapiens) का बताया। क्लार्क(1955) इसको स्टाइनहाइम के साथ ही पूर्व माउस्टीरियन अवस्था का जीवाश्म मानव के रूप में स्वीकारा है।

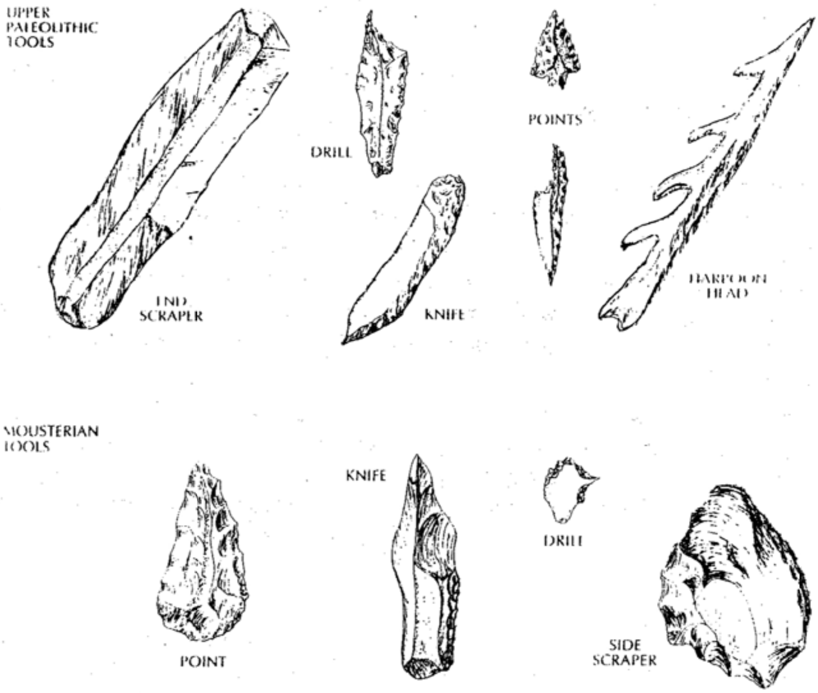
फॉन्टेशेवाद मानव :

यूरोपीय महाद्वीप में दक्षिणी फ्रांस के फॉन्टेशेवाद स्थल की एक गुफा से सन् 1947 में हैनरी मार्टिन ने एक भग्न फ्रंटल अस्थि एवं कुछ पराइटल अस्थि अवशेषों को प्राप्त किया। जीवाश्मिक एवं पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर इसे अन्तिम हिमयुग (वुर्म) का माना जाता है।

यह जीवाश्म अवशेष मेधावी मानव सदृश है। कपाल की अनुमानित चौड़ाई 15.4 सेमी है। पुनर्निमित कपाल का सूचकांक मध्य शिरस्क प्रकार के कपालों का बोध कराता है। इसकी आकलित क्षमता लगभग 1450 घन सेमी॰ है। इनका ललाट दबा हुआ एवं ढलवा है। इसका भ्रूकटक क्षेत्र पुरातन नियन्डरथल मानव की अपेक्षा अल्पविकसित है। वैल्वायस ने इसे वास्तविक नियन्डरथल वर्ग के रूप में व्यक्तिगत मान्यता दी थी जो मत क्लार्क व हावेल के द्वारा खण्डन किया गया।इसकी उदविकासीय स्थिति को भविष्य ही निश्चित करेगा तथापि कोइंग्सवाल्ड ने इसे पूर्व सैपियन श्रेणी के प्रतिनिधि के रूप में माना है।

उत्तर प्लाइस्टोसीन युग के मेधावी मानव

उत्तर प्लाइस्टोसीन युग में जिस समय अन्तिम हिमयुग की शीत जलवायु थी तब मुख्यतः तीन संस्कृतिया− अरिगनेशियन, सल्यूट्रियन एवं मेग्डालीनियन संस्कृतियों का उदविकास हुआ। ऐसा माना जाता है कि जिन स्थानों पर नियन्डरथल मानव निवास करता था, कालान्तर में उन्हीं स्थलों पर उनका परवर्ती



चित्र 11 : 114 उत्तर-पाषाणकालीन **मानव द्वारा** प्रयुक्त विशिष्ट उपकरण

मानव उदविकसित हुआ जो नियन्डरथल मानव की अपेक्षा अधिक बौद्धिक एवं सफल था। इस प्रकार अति मेधावी मानवों के जीवाश्म अवशेष मुख्यतया यूरोप महाद्वीप में ही प्राप्त हुए है जो वर्तमान मानव के उदविकास की दिशा को सुनिश्चित करते है।इनमें से प्रमुख का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है।

(1) क्रोमैग्नन मानव (Cromagnon)

खोजः

सन् 1868 में लुई लारटेट ने फ्रांस के डारडोग्न जनपद में लेस एजीज गांव की एक गुफा से कुछ जीवाश्म अवशेषों की खोज की। यह स्थल बिजारे नदी के तट पर स्थित है। इस जीवाश्म का नाम लारटेट ने "क्रो–मैगनन" रखा जो गुफा के नाम से उदधृत किया गया। जीवाश्म सामग्री में एक वृद्ध व्यक्ति का कपाल एवं कतिपय दूरी पर अन्य व्यक्तियों के कंकालीय अवशेष प्राप्त किये गये।

शारीरिक लक्षण :

क्रोमैगनन जीवाश्मों का प्रतिनिधित्व मुख्यतया वृद्ध व्यक्ति के अवशेष करते हैं जिसके शारीरिक लक्षणों के आधार पर मानव का वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

कपाल :

क्रोमैगनन का कपाल दीर्घ एवं भारी है। इसकी लम्बाई चौड़ाई के अनुपात में बहुत अधिक है जो क्रमशः 20.3 सेमी० एवं 15.0 सेमी० है। कपाल की ऊँचाई 13.2 सेमी० है। इसके आधार पर इसकी कपालीय देशना दीर्घशिरश्क आंकलित की गयी है। कपाल गुम्बद ऊँची है। इसकी कपालीय धारिता कीथ एवं वूल के द्वारा भिन्न–भिन्न आंकी गयी है जो क्रमशः 1660 घन सेमी० एवं 1590 घन सेमी० है। यह आधुनिक यूरोपीयों से अधिक है। इनका ललाट क्षेत्र चौड़ा एवं ऊँचाई साधारण है। भ्रूकटक क्षेत्र का विकास साधारण है। इसका पश्चभाग-आक्सिपुट पीछे की ओर उभार लिये है। कपाल की चौड़ाई पार्श्व अस्थियों (पराइटल) पर सर्वाधिक है।

आनन मण्डल अधिक चौड़ा, छोटा एवं सपाट है। इस प्रकार दीर्घ कपालीय क्षेत्र के साथ-साथ आनन क्षेत्र लघु एवं चौड़ा है जो कपालीय असंगति को प्रदर्शित करता है। नेत्र मुहाने दीर्घ एवं चतुर्भुजाकार है। इनकी चौड़ाई ऊँचाई से अधिक प्रतीत होती है। गण्डास्थि (Zygomatic) क्षेत्र पुष्ठ दीर्घ, एवं उभरा है। नासिका लम्बी है एवं संकरी है अर्थात् "लेप्टोराइन" सूचकांक की है। एलव्योलर क्षेत्र में उद्गतता के लक्षण प्रतीत होते हैं। तालु छिछला एवं संकीर्ण है। अधोहनु पुष्ठ है लेकिन अधिक भारी नहीं है। ऊर्ध्व रैमस अधिक चौड़े नहीं है। चिवुक सुविकसित है। दन्तः रचना सामान्य है।

उपांग :

फीमर अस्थि का काण्ड (Shaft) चपटा (Platymeric) है एवं बाहर की ओर धनुषाकार है। इसमें लीनिया एस्पेरा सुविकसित है। टीबिया अस्थि पार्श्व में चपटी (Platycemic) है। दोनों अस्थियों में पेशीय चिन्हांकन स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। अग्रवाहु उच्च बाहु की अपेक्षा लम्बे हैं। टांगे जांघों की अपेक्षा लम्बी हैं। पुरामानवशास्त्रियों के अनुसार यह अनुपात नीग्रो प्रजाति के समकक्ष है।

लम्बी अस्थियाँ इनके फुर्तीले एवं गतिशील शारीरिक गठन को इंगित करती है। जिसके शरीर पुष्ठ मांसपेशियों से युक्त था। यह मानव लम्बे कद का था। अस्थियों के आधार पर इसकी शारीरिक ऊँचाई 5 फिट 61/4 इंच आंकलित किया गया है। बूल ने क्रोमैगनन को 5 फिट 11.6 इंच शारीरिक कद वाला अनुमानित किया है।

सांस्कृतिक लक्षण :

क्रोमैगनन जीवाश्म अवशेषों के साथ अन्य सामग्री जैसे– उपकरण, आग जलाने के चिन्ह एवं जन्तुओं की अस्थियाँ प्राप्त हुई है। उपकरणों में पाषाण उपकरण के साथ–साथ अस्थि निर्मित हार्पून भी प्राप्त किये गये हैं। उपकरणों में फलक–उपकरण (Blade Tool) की प्रधानता है। इस प्रकार के फलक अफ्रीका एवं

दक्षिणी पूर्वी एशिया में नहीं हैं। जीवाश्म सम्बद्ध सामग्रियाँ इंगित करती है कि क्रोमैगनन अरिग्नेशियन संस्कृति में विकसित हुए जो उच्च पुरापाषाण काल में पल्लवित हुए। क्रोमैगनन ने इस संस्कृति का विकास किया तथा गुफा चित्र, सींग अथवा अस्थि एवं पाषाण की मूर्तियाँ (मूर्तिकला) आदि नवीन कलाओं से संस्कृति में योगदान किया।

जन्तुओं के अवशेषों में गैडा, मैमथ, गुफावासी भालू आदि हिमयुगीन जलवायु का संकेत करते है। कालान्तर में ये जन्तु अपेक्षाकृत गर्म एवं शुष्क जलवायु के जानवरों के द्वारा स्थानान्तरित हुए।

ये गुफाओं के मुहानों पर निवास करते थे। आग जलाकर वे इन्हें गर्म रखते थे। बोर्डे (1968), क्लार्क (1967) एवं क्लाइन (1969) मानव समूहों को मैदानी भागों में झोपडेनुमा निवास बना करके निवास करने का मत प्रतिपादित करते है। सम्भवतः यह बड़े आखेटों के लिए पशुओं को प्रायः हांका लगाकर खडडों में गिराकर फंसा लेते थे। तत्पश्चात् अपने प्रहार उपकरणों से शिकार को मार देते थे।

इस प्रकार जीवाश्म साक्ष्य यह संकेत करते हैं कि क्रोमैगनन उच्च पुरापाषाण काल के उपरान्त विलुप्त नहीं हुए।वे नवपाषाण संस्कृति से गुजरते हुए आज भी जीवित है। डॉ० कॉलिगनॉन ने फ्रांस के डारगोग्न के निवासी लोगों के लक्षणों में क्रोमैगनन तत्व की उपस्थिति का मत प्रस्तुत किया है। डेनिकर ने इनके शारीरिक तत्वों को अटलांटो–मेडीटेरियन जनसमूहों में अवलोकित किया है।

ग्रिमाल्डी मानव(Grimaldi man)

फ्रांस के भूमध्य सागरीय तटवर्ती मोनैको क्षेत्र के ग्रिमाल्डी नामक गांव की चट्टानी गुफा "ग्राटे डेस इनफैन्ट्स"(Grotte des Enfants) से सन् 1901 में दो कंकालीय जीवाश्म खोजे गये। जो बाद में "ग्रिमाल्डी मानव" के नाम से जाने गये। प्रोफेसर वरनियों ने इन कंकालों को नीग्रों सदृश माना। यह उत्खनन स्थल लगभग इटली–फ्रांस सीमा पर स्थित है। इस स्थल से आग जलाने के चिन्ह, उपकरण एवं जन्तु अवशेष प्राप्त हुए है जिनके अध्ययन से पता चलता है कि वे उच्च पुरापाषाण कालीन संस्कृति के है जो संस्कृति प्लाइस्टोसीन के अन्तिम चरण में यूरोपीय देशों में पनपी थी।

लक्षण :

मानव जीवाश्म अवशेषों में एक वृद्ध महिला एवं एक किशोर बच्चे के कंकाल को प्राप्त किया गया जिन्हें साथ–साथ दफनाया गया था। इन जीवाश्मों की शारीरिक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

कपाल :

कपाल लम्बे संकीर्ण एवं ऊँचे है जो दीर्घशिरश्क है। महिला कपाल की देशना 68.5 एवं किशोर बालक की 69.2 है। इनके कपाल की औसत ऊँचाई 11.5 सेमी० है। महिला कपाल की धारिता लगभग 1265 घन सेमी० कीथ द्वारा आंकलित की गयी है। मस्ट्वायड प्रवर्ध लघु एवं पार्श्व अस्थियाँ चपटी है। मुखमण्डल आकार में बड़ा है लेकिन कपालीय अनुपात में लघु है। गण्डास्थि (Zygomatic Bone) अति संकीर्ण है। भ्रूकटक अल्पविकसित है। ललाट क्षेत्र पूर्णविकसित एवं हल्का आगे की ओर उभरा हुआ है जैसे आधुनिक नीग्रों प्रजाति में दृष्टिगोचर होता है। नेत्रगुहा चौड़ी है। नासिका चौड़ी (Platyrrhine) है। नासिका सेतु निम्न एवं नासिका मूल अधिक धसी है। दंत रचना आस्ट्रेल्वायड एवं नीग्रोसम है। एलव्योलर उद्गतहनुता नीग्रों सम प्रतीत होती है। तालु गहरा संकरा एवं लम्बा है। नीग्रों एवं आस्ट्रेलॉयड प्रजाति के एलव्योलर किनारों के सदृश u– आकार का है। अधोहनु शक्तिशाली एवं इसकी रैमस चौड़ी तथा शेष समस्त भाग मोटा है। चिवुक स्पष्ट लेकिन अधिक उभरा नहीं है।

उपांग एवं धड़ :

निम्नांग उच्चांग के सदृश लम्बा है। अग्रवाहु एवं टांगे क्रमशः उच्च बाहु एवं जांघों की अपेक्षा दीर्घ है जो लक्षण नीग्रों सदृश है। वरनियों के अनुसार इलियक अस्थि की ऊर्ध्व स्थिति, इलियक क्रेस्ट की अर्धवृन्ताकृति, निम्न शियाटिक खांच के परिमाण में ह्रास वृद्ध महिला को यूरोपीयों से भिन्न एवं नीग्रों के

सदृश प्रमाणित करते है। उर्विका (Fernur) के काण्ड में स्पष्टतः हल्का झुकाव है। टीबिया का शीर्ष हल्का पीछे झुका है। एड़ी अस्थि का उभार नीग्रो सदृश लक्षण प्रतीत होता है।

इस प्रकार वृद्ध महिला के कंकाल की सम्पूर्ण ऊँचाई 5.3 फिट एवं 3 इंच अनुमानित किया गया है। किशोर बालक (15 से 19 वर्ष के मध्य) का कद महिला से कम लगभग 5 फिट 11/2 इंच अंकलित किया गया है।

प्रजातीय सम्बन्ध :

वरनियों ने अनेकों शारीरिक लक्षणों की तुलना वर्तमान मानव भौगोलिक प्रजातियों से की जिसमें उन्होंने ग्रीमाल्डी जीवाश्म को आधुनिक नीग्रो के लक्षणों के समकक्ष माना। सालैस एवं बूल ने ग्रीमाल्डी नीग्रो तत्वों को बुशमैन एवं हाटेनटाट दक्षिणी अफ्रीकी मानव समूह के सदृश माना हा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ग्रिमाल्डी एवं क्रोमैग्नन मानव अनेकों लक्षणों में विभेद रखने के बावजूद भी दोनों पृथक–पृथक जनसमूहों का प्रतिनिधित्व नहीं करते है तथा दोनों की मिश्रित रूप रचना उसकाल में नीग्रो तथा यूरोपीयों के मध्य अन्तरसंकरण की पुष्टि करते है। प्रोफेसर वैज्ञानियों ने इटली के जनसमूहों में ग्रिमाल्डी तत्व के वर्तमान अस्तित्व की सम्भावना व्यक्त की है।

सांस्कृतिक लक्षण :

ग्रिमाल्डी जीवाश्मं के साथ–साथ उपकरण, जन्तुओं की अस्थियाँ उच्च पुरापाषाण काल की प्राप्त हुई है। उपकरणों में धुरी, स्क्रेपर, ग्रेवर्स, आरी आदि इस काल की विकसिति संस्कृति को इंगित करते है तथा ग्रिमाल्डियों के उपकरण निर्माण की कुशलता का बोध करते है। पुरातात्विक साक्ष्य यह इंगित करते है कि इनकी अरिग्नेसियन सांस्कृति फ्रांस के दक्षिण–पश्चिम भूमध्य सागरीय क्षेत्रों के अतिरिक्त स्पेन के उत्तरी भागों में भी विस्तीर्ण थी। मृतक संस्कार, आग के प्रयोग के चिन्ह, गुफा चित्रों के प्रमाण, जानवरों का आखेट इनके आर्थिक एवं सामाजिक एवं धार्मिक जीवन को भी व्यक्त करते है। सम्भवतः ग्रिमाल्डी मानव क्रोमैगनन का समकालीन था, उनमें क्रोमैगनन मानव अरिग्नेशियन संस्कृति के अतिरिक्त सल्यूट्रियन संस्कृति का भी निर्माण किया। ग्रिमाल्डी मानव से सम्बन्धित पुरातात्विक साक्ष्यों की बहुल उपलब्धता न होने के कारण वर्किट (1963) ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि ग्रिमाल्डी मानव ने अरिग्नेशियन संस्कृति के महाद्वीप प्रसार में कोई हाथ नहीं बटाया। हो सकता है कि वह बाहर से आकर फ्रांस में प्रवाह किये हो।

चांसलेड मानव : (Chancelade Man)

फ्रांस में ही एक तीसरा प्रमुख होमो सैपिंयस सैपिंयस जीवाश्म डारडोन क्षेत्र के चांसलेड स्थल के निकट गुफा स्थलों से पुरामानव वैज्ञानिक फीक्स तथा हार्डे सन् 1888 में खोजा। कंकाल जीवाश्म खदान से बायीं करवट में प्राप्त हुआ।इसकी भुजायें वक्ष पर मुड़ी हुई थी तथा उसके घुटने भी वक्षस्थल की ओर मुड़े हुए थे। उत्खनित साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि दफनाने के पहले इसके शरीर पर लाल मिट्टी (गेरु) का लेप लगाया गया होगा। इस प्रकार के मृतक संस्कार की परम्परा एस्कीमों में आज भी पायी जाती है।

लक्षण :

इस मानव का कद छोटा है जो लगभग 5 फिट से अधिक अनुमानित नहीं किया जाता है। इस जीवाश्म की दफनानें के समय अनुमानित आयु 55 से 65 वर्ष के मध्य प्रतीत होती है। इसके उपांगों एवं अन्य अंगों के अस्थियाँ शक्तिशाली है । उच्चांग तथा निम्नांगों की ऊपरी अस्थियाँ निचली अस्थियों से लम्बी है। फीमर लची हुई है। टीबिया पार्श्व में चपटी है। पाद कंकाल लम्बा है।इस प्रकार नियन्डरथल मानव के सदृश ग्रिमाल्डी मानव में भी प्रथम मेटाटार्सल द्वितीय से स्पष्टतः पृथक है। इनकी मोटी एवं भारी अस्थियाँ इनके पुष्ठ एवं शक्तिशाली मांसल शरीर की पुष्टि करती है।

कपाल :

कपाल लम्बा एवं संकीर्ण है। इसकी 19.4 सेमी० लम्बाई एवं 13.4 सेमी० चौड़ाई मापी गयी है। इसकी कपालीय देशना दीर्घशिरश्क प्रकार की है जिसका मान 70.9 है। कीथ ने 1530 घन सेमी० इसकी कपालीय क्षमता आंकलित किया है।कपाल का गुम्बद ऊँचा है। भ्रूकटक क्षेत्र का विकास साधारण है। ललाट क्षेत्र लगभग ऊर्ध्व रेखीय है। पार्श्व अस्थियों (Parietal Bone) के पार्श्व उभार अधिक है। मस्ट्वायड प्रवर्ध पूर्णतः विकसित है। इसका आनन मण्डल लम्बा तथा सामान्यता चौड़ा है। नेत्र गुहा चौड़ी है। गण्डास्थियाँ सुविकसित है फलस्वरूप आनन क्षेत्र चपटा प्रतीत होता है। नासिका लम्बी, ऊँची एवं पतली है। अधोहनु (Mandible) पुष्ठ एवं सकरा है तथापि रैमस चौड़े एवं चिबुक का उभार स्पष्ट है। भारी जबड़े एवं चौड़ी गण्डास्थि चाप इनके अधिक जटिल चवर्ण को इंगित करते है। तालु सकरे तथा एलव्योलर भाग बाहर से देखने पर अण्डाकार (Elliptical) है। इनके दाँत बड़े नहीं है।

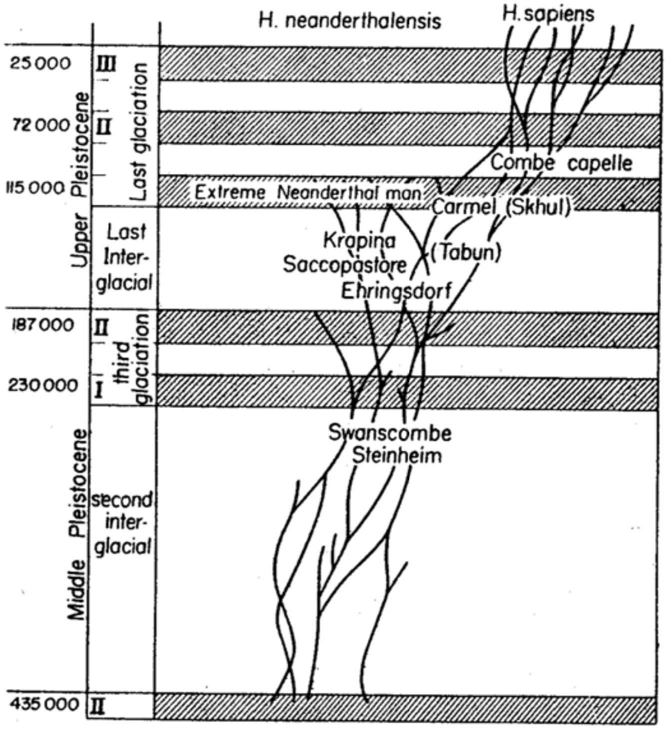
इस प्रकार दीर्घशिरश्क, छोटा कद, अपेक्षाकृत लम्बा, चपटा एवं चौड़ा आनन मण्डल, पतली नासिका, पुष्ठ जबड़े आदि लक्षणों के आधार पर कतिपय पुरामानव वैज्ञानिक इसके एस्कीमों के पूर्वज होने की सम्भावना व्यक्त करते है। उनका अनुमान है कि महान हिमयुग के अन्त में पूर्ववर्ती हिमपट्टियों के खिसकने के साथ–साथ चांसलेड मानव भी शनैः उत्तरी अमेरिका पहुंचे होंगे जो सम्भवतः आधुनिक एस्कीमों के पूर्वज है। हूटन चांसलेड के एस्कीमों के पूर्वज होने के मत का खण्डन करते है। यद्यपि यह धारणा सर्व स्वीकार्य नहीं है। यह एस्कीमों से यह शारीरिक ही नहीं सांस्कृतिक समानता भी दर्शाता है।कीथ इन्हें क्रौमेग्नन की भांति मानव मानते है जिनके कद अपेक्षाकृत छोटे हुआ करते थे।

सास्कृतिक लक्षण :

चांसलेड मानव जीवाश्म के शिलाश्रय पर लगभग 5–4 इंच के जमाव से मैग्डालीनियन संस्कृति के उपकरण एवं जन्तु अवशेष प्राप्त हुए है। यह संस्कृति उत्तर प्लाइस्टोसीन काल की सर्वाधिक विकसित प्रकार की थी जिसके प्रथम प्रमाण ला–माडेलीन (La–Madeline) नामक पुरास्थल से प्राप्त हुए है। गुफाओं में चित्रकला, तथा रेनडियर की सीगों पर अलंकरण करने की कला में इस संस्कृति के निर्माताओं ने अधिक प्रगति की है। प्रमुख पाषाण उपकरणों में नुकीले खुरचन यन्त्र (Scraper), व्यूरिन, चिद्रक, खांचेयुक्त फलक, त्रिभुजाकार ब्लेड आदि प्राप्त किये गये है। साल्यूट्रियन संस्कृति जैसा ही कौशल इनके द्वारा बनाये गये सीगों तथा अस्थियों से बने उपकरणों पर परिलक्षित होता है। इस समय मत्स्य भाला (Harpoon) एवं तीरों को सीधा करने के लिए 'वैटन्स डि–कमाण्डमेंट' का भी उपयोग किया जाता था। इनका आर्थिक जीवन प्रकृतिजीवी या सम्भवतः कृषि तथा पशुपालन से परिचित नहीं हो सका था। ये जीविकोपार्जन खाद्य संग्रह आखेट, मत्स्य आखेट, कद मूलफल आदि से करते थे। इनके सामाजिक जीवन के उपलब्ध प्रमाण यह दर्शाते है कि एक स्थान समूहों तथा दूसरे स्थान समूहों के मध्य आदान–प्रदान की व्यवस्था प्रारम्भ हो चुकी थी। इनमें सहयोग की प्रवृत्ति पूर्ववर्तियों से अधिक विकसित थी। निर्मित कलाकृतियाँ इनके कलात्मक स्वभाव को दर्शाती है। इसकाल में मिट्टी, अस्थि तथा हाथीदांत की मूर्तियाँ अधिक मिलती है। जिनमें नारी मूर्तियाँ (Venus) महत्वपूर्ण है।इनका धार्मिक जीवन भी पूर्व मानव की अपेक्षा विकसित था। इस समय सम्भवतः मूर्ति पूजा आरम्भ हो चुकी थी।

इस प्रकार होमोसैपियंस सैपियंस के जीवाश्म मानव जो मुख्यतः यूरोप में खोजे गये है वे प्लाइस्टोसीन के अन्तिम चरण तक मानव संस्कृति की आदिम अवस्था का निर्माण करते हैं। पुरा पाषाण कालीन संस्कृति की यह व्यापकता उच्च प्रगैतिहासिक मानव मस्तिष्क की उपज हैं। पुरापाषाण काल के अन्तिम चरण में मानव अवशेष यूरोप के अतिरिक्त एशिया एवं अफ्रीका महाद्वीपों से भी खोजे गये है तथापि वे अत्यल्प है तथा उनकी भूगर्भिक आयु भी विवादास्पद है।

अतः संक्षेप में आधुनिक मानव का उदविकास महान हिम युग के अन्तिम चरण में (आज से लगभग 10 हजार वर्ष पूर्व) हो चुका था। 35 हजार वर्ष पूर्व से लेकर 10 हजार वर्ष पूर्व के मध्य मानव विश्व के लगभग सभी जगहों में फैल चुके थे लेकिन प्रसार संदर्भ में पर्याप्त जीवाश्म साक्ष्य अनुपलब्ध होने के कारण यह कहना



चित्र 11 : 116 होमो नियन्डरथैलेंसिस एवं होमोसैपयिनों में सम्भावित अन्तर्सम्बन्ध (ब्रीटिंगर पर आधारित)

कठिन है कि आधुनिक मानव का प्रसार किस दिशा में और कब हुआ। यद्यपि कैनन, स्टोनकिंग एवं विल्सन (1987) ने माइट्रोकान्ड्रियल डी० एन० ए० के अध्ययन द्वारा आधुनिक मानव का मूल क्षेत्र अफ्रीका को दर्शाया है, जहाँ से वह विश्व के अन्य भागों में प्रसरित हुआ है।यद्यापि यह विवादास्पद है लेकिन यह सत्य है कि इन्हीं मानवों के वंशजों ने पुरापाषाण काल के उपरान्त मध्य पाषाण काल में प्रवेश किया।जब उपकरणों का तकनीकी विकास होने के साथ–साथ पशुपालन का आरम्भ तथा खाद्य संग्रहण एवं उसके परिरक्षण के तरीकों का आविष्कार हुआ इसके बाद धीरे–धीरे उसने नव पाषाण काल में खाद्य उत्पादन करना सीखा। वास्तव में वह कृषि कला इसी काल में सीख चुका था। जो उन्तरोत्तर तकनीकी प्रगति करते–करते अपनी आधुनिक अवस्था तक पहुंच सका। साथ–साथ एक क्षेत्र के एक जनसमुदाय के निवासी पैलते गये एवं अन्य क्षेत्रों के निवासियों से पृथक होते गये, जो कालान्तर में उदविकासीय प्रक्रियाओं के फलस्वरूप भिन्न हो गये।

***

12

मानव उदविकासीय खोज के नये आयाम

मानव उदविकास की कहानी के सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद प्रायः तीन बिन्दुओं पर दृष्टिगोचर होते है। प्रथम, मानव की उत्पत्ति का जीव समूही स्रोत ? जिससे यह समझने की चेष्टा की जाती है कि किस जीव समूह या जीव को मानव या हामिनिड के उद्भव का स्रोत मानना चाहिए। द्वितीय, क्या मानव की उत्पत्ति कपि सदृश प्राणी से हुई है ? जिसे एक ओर यदि शरीर रचना विज्ञान के साक्ष्य प्रमाणित करते है तो दूसरी ओर हामिनिड (मानव) के उद्भव काल के विषय मे विद्वानों में काफी मतभेद है। तृतीय, क्या आधुनिक मानव का उदविकास 'होमो इरेक्टस' से हुआ है या स्वतन्त्र रूप से ये तीनों मौलिक प्रश्न मानव शरीर सरचना, काल एवं स्थान भूभाग का बोध कराते है और जब से चार्ल्स डार्विन, टी.एच. हक्सले आदि मानव की उत्पत्ति को कपियों से होने का मत प्रस्तुत किया है तभी से उनका पक्ष एवं विपक्ष प्रखर होने लगा है। इनके समकालीन मीवार्ट मानव के सामान्य लक्षण को प्राइमेटों सदृश मानते है।लेकिन विशिष्ट लक्षणों में वे मानव को कपियों आदि प्राइमेटों से अधिक भिन्न पाते हैं। तीसरे मत जिसके प्रतिपादक एम० बूल (1921) है उसके अनुसार उपांगों का उदविकास विशेष महत्व का है जिसके आनुपातिक सम्बन्धों में बन्दर कपि की अपेक्षा मानव के अधिक निकट है।अतः इस मत के अनुसार मानव की उत्पत्ति भी बंदर से हुई है। चौथा मत बुड जोन्स (1929) ने प्रतिपादित किया है कि मानव की उत्पत्ति का स्रोत बंदर एवं कपि नहीं हो सकते क्योंकि कोई शरीर रचनात्मक विशेषतायें इनमें नहीं पायी जाती जो मानव में हैं। मानव का उद्भव स्रोत टार्सियर जैसा प्राइमेट है जो अधिक क्रियाशील एवं फुर्तीला है। लेकिन इनके मत का दुर्भाग्य यह है कि न तो शरीर रचना सम्बन्धी प्रमाण व्यापक रूप से प्राप्त हुए और न ही जीवाश्म साक्ष्य मिले हैं।इसी प्रकार स्ट्रास (Staus 1949) मानव का उद्भव किसी पुरानी दुनिया के बंदर से ही मानते हैं और यह विश्वास प्रकट करते है कि जिस जाति वृत्तीय शाखा ने मानव को जन्म दिया वह सरकोपिथेक्वॉयडिया समूह्र से ड्रायोपिथेसिनी अवस्था आने के पूर्व ही पृथक हो गयी। एक और मत 1967 में ली ग्रॉस क्लार्क ने प्रस्तावित किया कि मानव तथा कपि की समानतायें समानान्तर विकास का परिणाम न हो करके अपितु जाति वृत्तीय सम्बन्धों के फल है। यह जीवाश्मिक अध्ययनों द्वारा भी प्रमाणित होता है। शीघ्र ही कुर्टेन (1972) ने यह मत व्यक्त किया कि बन्दर एवं कपि मानव पूर्वजों से पृथक होकर के पृथक–पृथक समूहों में विशिष्ट एवं विभक्त हो गये।

बीसवीं शताब्दी में प्राइमेटों की शरीर रचना का अध्ययन शुल्ट्ज ने 50 वर्षों तक किया। उनके अनुसार हक्सले का मत उचित है कि मानव तथा कपि की पूर्वजता का एक समान स्रोत हैं।

इस प्रकार मानव की उत्पत्ति कपि शाखा से हुई है। इस मत को व्यापक समर्थन मिला है लेकिन संदेह के बादल पुनः तब उमड़ते है जब कपियों के बाहुगमन (Brachiation) का प्रश्न उभरता है। एक मत तो

मानव के पूर्वजों को कपि की तरह बाहुगमन में दक्ष मानते है तथा दूसरे मत के विद्वान मानव के पूर्वज को बाहुगमन में दक्ष नहीं मानते है और उन्हें 'नकल वाकिंग' करते हुए बताते है। यहाँ आर्थर कीथ (1925) प्रासंगिक प्रतीत होते है जिनके अनुसार मनुष्यों में द्विपदगामिता के उदविकास के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने शरीर (धड़) को ऊर्ध्व संस्थिति में रखे।यह कपियों के बाहुगमन की स्थिति में विकसित हुआ है। इस प्रकार उन्होंने यह प्रस्तावित किया कि मानव पूर्वज प्रारम्भ में बाहुगमन करते होंगे तथा अन्ततः थलीय परिस्थितियों के अनुकूलन के फलस्वरूप उसमें द्विपदगमनता विकसित हुई। बाशवर्न (1950,71) एवं नैपियर (1968) ने भी मानव के पूर्वजों में वाहुगमनता की विद्यमानता को सत्य ठहराया है। स्ट्रॉस (1949) ने मानव के कैटाराइन पूर्वजों ने भुजाओं के द्वारा पेडों पर झूलने की प्रवृत्ति को द्विपदगमनता हेतु आवश्यक मानते है और बाहुगमनता को गौड़ एवं आदिम। टटिल (1969) यहाँ पर द्विपदगमन के उदविकास में बाहुगमन व्यवहार की भूमिका को निरर्थक मानते है।

इस प्रकार मानव की उत्पत्ति किस जीव स्रोत से हुई है या उसका प्रत्यक्ष पूर्वज कौन है इस विषय पर अत्यधिक मतभेद है। यहाँ पर जीवाश्म साक्ष्यों की भूमिका महत्वपूर्ण हैं जिसके आधार पर हम मानव की उत्पत्ति के जीव स्रोत को समझ सकते हैं। लेकिन जीवाश्म अध्ययन के आधारभूत अवशेष एक तो अपभ्रंश छिटपुट एवं भग्नावस्था में प्राप्त हुए है जिनका अध्ययन सरल कार्य नहीं है।दूसरे उनके भूगार्भिक आयु का वास्तविक ज्ञान करना टेढ़ी खीर होती है। लेकिन अत्याधुनिक प्रगति के प्रकाश में मानव के व्युत्पत्ति स्रोत का पता लगाने में वैज्ञानिक सक्षम हो गये है। इसलिए वैज्ञानिक मतभेदों से बचने के लिए जीवाश्म अध्ययन भी बहुआयामी तकनीकों द्वारा किया जाने लगा है।

आधुनिक भूगर्भविज्ञान प्राथमिकतया स्तर विज्ञान (Stratigraphy) पर आधारित है, जिसमें भूस्तरों का अध्ययन करके भूस्तरों की सापेक्ष आयु का अनुमान किया जाता है। इसकी प्रगति 18 सदी में अंग्रेजी भूगर्भ वैज्ञानिक विलियम स्मिथ के अध्ययनों द्वारा हुई। इन्होंने पता लगाया कि जीवाश्म कई भूस्तरों को पार करके प्रायः अपने से असम्बद्ध भूस्तर से सम्बद्ध हो सकता है। ये जीवाश्मों के आधार पर विभिन्न प्रकार की भूपरतों की पहचान करने में सफल हुए तथा ब्रिटिश वेल्स एवं स्काटलैण्ड की भूपरतों का मानचित्र बनाने की सफल चेष्टा की। आधुनिक भूगर्भ विज्ञान के जनक चार्ल्स डार्विन के समकालीन 'प्रोफेसर चार्ल्स लायल' थे जिन्होंने स्मिथ के शोधों के आधार पर ही भूगर्भीय वर्गीकरण के प्रतिरूप का आविष्कार किया जो प्राकृतिकशास्त्रियों के लिए एक अचूक दवा प्रमाणित हुई। एवं इन्हीं आधुनिक शोधों के आधार पर भूगर्भ विज्ञान की ज्ञानशाखा उत्तरोत्तर प्रगति करती गयी और अन्ततः 1974 में सर्वसहमति से एक 'भूगर्भीय काल क्रम सारणी' विकसित हुई जिसका वर्णन द्वितीय अध्याय में किया गया है। इसमें भूगर्भ की विभिन्न जैविक एवं अजैविक घटनाओं, महाकाल्पों, युगों एवं कालों के आयु का अनुमानित लेखा–जोखा प्रस्तुत किया गया। यह काल क्रम तालिका जैविक उत्पत्ति एवं उदविकासीय अध्ययनों का सार तत्व साबित हुआ है जो विभिन्न कालनिर्धारण विधियों की प्रगति के आधार पर सुविकसित हुआ है।

भू इतिहास का काल मापक प्रायः दो तकनीकों के आधार पर स्थापित हुआ है। ये हैः सापेक्ष तिथि निर्धारण तकनीक (Relative dating Techniques) एवं निरपेक्ष या सम्पूर्ण तिथि निर्धारण विधि (Absolute Dating Techniques)। सापेक्ष तिथि निर्धारण प्रायः स्तरीकरण तिथि निर्धारण एवं फ्लूरीन तिथि निर्धारण तकनीकों द्वारा किया जाता है। ये सापेक्ष तिथि मापक विधियाँ भूगर्भीय, जीवाश्मिकीय एवं जलवायु सम्बन्धी घटनाओं के क्रम अध्यारोहण (Super imposition) के अति साधारण

सिद्धान्तों के प्रयोग से निश्चित की गयी है। भूगर्भ शास्त्रियों ने कुछ समय पूर्व स्तरों एवं उनमें निहित घटनाओं के सापेक्ष कालक्रमों को निश्चित करने के लिए अध्यारोहण के सिद्धान्त का आविष्कार किया।

ERA	EPOCH	FOSSIL
	PLEISTOCENE	HOMO
	PLIOCENE	AUSTRALOPITHECUS OREOPITHECUS RAMAPITHECUS
	MIOCENE	RAMAPITHECUS DRYOPITHECUS "PROCONSUL"
CENOZOIC	OLIGOCENE	AEGYPTOPITHECUS
	EOCENE	AMPHIPITHECUS TETONIUS
	PALEOCENE	TARSIOIDS AND LEMUROIDS
MESOZOIC	CRETACEOUS	INSECTIVORES AND MARSUPIALS

(Scale: 1 inch = 28,000,000 years)

चित्र 12 : 117 भूगर्भीय काल मापक एवं जीवाष्म अभिलेख

बिना किसी व्यवधान के एक के बाद एक क्रम में अध्यारोपित अवसादी शैलों (Rocks) में अपेक्षाकृत प्राचीन स्तर (Bed) तलहटी में होते है तथा नवीन स्तर ऊपर होते है। जिन जीवाश्मों को स्तरों की सबसे अधिक गहराई में प्राप्त किया जाता है वे सर्वाधिक ऊपरी हिस्से में प्राप्त किये गये जीवाश्मों की अपेक्षा अधिक प्राचीन होते हैं। भूगर्भशास्त्री विश्व के विभिन्न भागों के स्तरों में अत्यन्त रोचक सहसम्बन्ध को बताने की चेष्टा करते है जो पूर्णतः विश्वसनीय नहीं है क्योंकि भूतल मे अनेक गतिविधियाँ एवं पुनर्व्यवस्थायें जिन्हें पटल विरुपण कहते है, होती रहती हैं। फ्लूरीन काल मापक विधि में जीवाष्म में फ्लूरीन की मात्रा का परीक्षण किया जाता है। अस्थियों में एक बार फ्लूरीन के बैठ जाने पर यह शीघ्र समाप्त नहीं होती। चूंकि जीवाष्मीकरण नये खनिज पदार्थ विशेषकर चूना या लोहे के आक्साइडों का अस्थियों के रन्ध्रों के साथ मिलने से तथा अस्थियों में हाइड्राक्सी अपाट्राइट के प्रतिस्थापन से होता है। हाइड्राक्सी अपाट्राइट कैल्शियम तथा कार्बोनेट पदार्थ जिनसे अस्थियों का प्रायः निर्माण होता है के परिवर्तन के मापन के लिये फ्लूरीन सापेक्ष कालमापन सबसे अधिक विश्वसनीय तकनीक है क्योंकि फ्लोराइड आयन (फ्लूरीन मापन) हाइड्राक्सिल विस्थापन कर देते है। ओक्ले ने इसी तकनीक के आधार पर निर्दिष्ट किया कि पिल्ट डाउन मानव (जिस खोज को

पिल्टडाडन धोखा या पिल्टडाडन हाक्स भी कहा जाता है) के विभिन्न अंगों में फ्लूरीन की मात्रा उसी स्तर से प्राप्त दूसरे स्तनधारी प्राणियों की अस्थियों की फ्लूरीन मात्रा से भिन्न है। स्वांस काम्ब मानव एवं गौली पर्वत कंकाल जैसे अनेकों जीवाश्म मानव है जिनकी भूगर्भीय आयु का निर्धारण इसी विधि द्वारा किया गया है।

अमीनों एसिड काल मापन विधि का आविष्कार बैदा (Bada) एवं उनके साथियें द्वारा किया गया है जो सन् 1974 में प्रकाश में आयी है। इसमें जीवाश्म अवशेषों में कार्बनिक तत्वों का प्रयोग किया जाता है क्योंकि समय के बढ़ते L– अमीनो एसिड का शनैः–शनैः स्थानान्तरण D– अमीनो एसिड में हो जाता है। इसमें D/L अमीनो एसिड के अनुपात के आधार पर कालमापन किया जाता है। जब अधिक अनुपातिक मान किसी जीवाश्म में पाया जाता है तो वह जीवाश्म अधिक प्राचीन होता है। ऐसपैर्टिक एसिड इसमें सर्वाधिक लाभदायक पाया जाता है जो कम से कम 5,000 वर्ष से 100,000 वर्ष का मापन कर सकता है। इसका प्रयोग दक्षिणी कैलीफोर्निया में 'देल मार' से प्राप्त कपाल की भूगार्भिक आयु निर्धारण में किया गया है।

भूगर्भ इतिहास की निरपेक्ष एवं पूर्ण क्राल मापन विधियाँ अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय एवं उपयोगी है। इनमें यूरेनियम काल माप पोटेशियम–आर्गन एवं कार्बन काल मापन (C14 Dating) तकनीक अधिक विश्वसनीय है। यूरेनियम कालमापन आधुनिक प्रगति का सूचक है इसके आधार पर प्रो० एच० एन० रसेल ने पृथ्वी की आयु 4.5 अरब वर्ष से लेकर 4.8 अरब वर्ष के मध्य आंकी है। यूरेनियम के कई 'आइसोटाप' (Isotopes) रूप होते है जिसके केन्द्रक में प्रोटान की संख्या निश्चित होती है लेकिन न्यूट्रान की संख्या परिवर्तनीय होती है। अतः तीन पहचाने गये आइसोटोप U235, U238 एवं U239 हैं। इनमें रेडियो सक्रिय पदार्थ (Isotopes of Uranium) अपना इलेक्ट्रान बहुत विलम्ब से खो देता है जिससे उनका आधा भार 4.56 अरब वर्ष में खो जाता है अथवा आधार भार यूरेनियम के आइसोटोप का रह जाता है।जैसे–जैसे रेडियोसक्रिय यूरेनियम विघटित होता है, वैसे वैसे उष्मा की उत्पत्ति के कारण यह कई अवस्थाओं में गुजरता हुआ अन्ततः सीसे में रूपान्तरित हो जाता है। यूरेनियम विघटित होने पर अल्फा कण (Alpha Particles) उत्पन्न करता है। फलस्वरूप जीवाश्म या चट्टान से उत्पन्न अल्फा कणों को गिनकर रूपान्तरण की गति का पता लगाया जा सकता है। यूरेनियम के रेडियो सक्रिय विघटन की दर इतनी मंथर गति है कि प्राचीन से प्राचीन घटनाओं चट्टान का पूर्ण कालमापन किया जा सकता है।U238 के रेडियो सक्रिय कणों की क्षति एवं विघटन की मंथर एवं अविरल दर के कारण 50 लाख वर्ष से अधिक प्राचीन चट्टान की आयु का पता लगाने में यह प्रयोग में की जाने लगी है। इसके आधार पर अन्य कालमापन की विधियों का पुनर्परीक्षण किया जा सकता है, जैसे ओल्डुवाईगार्ज के स्तर–I की आयु का पता जो पोटैशियम आर्गन (K–A) विधि से किया गया था उसका पुनर्निरीक्षण यूरेनियम कालमापन से किया गया।

पोटैशियम आर्गन काल मापन तकनीक की खोज 1937 में की गयी थी जिसके सरल उपयोग में डब्ल्यू० एच० पिनसन ने विशेष योगदान किया। यह भी पोटैशियम (K) के आइसोटोपों के गुणों पर आधारित है। मूल पोटैशियम, पोटैशियम के तीन आइसोटोपों K39, K40 एवं K41 का मिश्रण होता है। इनमें पोटैशियम K–40 (K40) विघटनशील है जो मूल पोटैशियम के 0.0118 प्रतिशत मात्रा में उपस्थित होता है। यह रेडियो सक्रिय है एवं जिसके कालान्तर में शनैः–शनैः इलेक्ट्रान नष्ट हो जाते हैं। उनके अपक्षय से आर्गन–40 (A40) गैस बनती है। पोटैशियम–40 की आधी आयु 1,300,000,000 वर्ष अर्थात् 1.3 अरब वर्ष में हो जाती है। इस प्रकार यह एक रेडियो सक्रिय काल मापक घड़ी प्रदान करता है, जिससे प्राचीन से लेकर कुछ लाखों वर्ष पुरानी चट्टानों एवं जीवाश्मों का मापन किया जा सकता है।

रेडियो सक्रिय काल मापकों (Time Clocks) में कार्बन-14 (C^{14}) अत्यधिक उपयोगी तकनीक है जिसका 1946 में अमेरिकी रसायनज्ञ विलियर्ड एफ० लिबी ने आविष्कार किया तथा उन्हें इस योगदान के लिए रसायन विज्ञान में नोबुल पुरस्कार प्रदान किया गया। यह तकनीक इस तथ्य पर आधारित है कि भूमण्डल पर रहने वाले सभी जीवित प्राणी अपने शरीर में कार्बन का पर्याप्त तत्व रखते है जो दो आइसोटोपो–

C^{12} एवं C^{14} के रूप में पाया जाता है। इसमें प्रथम आइसोटोप स्थित (अविघनकारी) एवं द्वितीय रेडियो सक्रिय एवं अस्थिर (विघटनकारी) होता है। इसकी (C14) की 5,720 वर्षों में आधी आयु हो जाती है आधा नष्ट हो जाता है। इससे 50,000 पुरानी जीवाश्म अवशेषों की आयु का पूर्ण मापन उपर्युक्त रूप से किया जा सकता है।

जीवाश्म काल मापन तकनीकों में अभी एक अत्याधुनिक खोज सन् 1960 में जी॰ सी॰ केनेडी एवं एल॰ नाफ के द्वारा की गयी है जिसका उन्होंने मृदुभाण्डों के कालानुक्रम का पता लगाने में उपयोग किया। इसे ताप संदीप्ति विधि (Thermoluminiscence) के नाम से जाना गया। यह विधि इस तथ्य पर आधारित है कि मृदुभाण्ड (Pots) अथवा उसके अनुरूप वस्तुएँ जैसे अलाव की मिट्टी, ईंट, काँच आदि वस्तुएँ जिन्हें 400° सेंटीग्रेट से 1200° सेंटीग्रेट के उच्च तापमान में पकाया गया था इनकी ताप संदीप्ति को मापकर कालमापन किया जा सकता है। किसी वस्तु के गर्म करने पर ताप के रूप में जो ऊर्जा निकलती है उसे ताप संदीप्ति कहते हैं। इसका प्रयोग अत्यधिक सीमित है तथा जीवाश्मों की भूगर्भिक आयु का ज्ञान बिल्कुल नहीं किया जा सकता है।

उक्त विधियों के अतिरिक्त जीव एवं वनस्पति (Flora and Fauna) का अध्ययन सापेक्ष काल मापन तकनीकों द्वारा किया जाता है जिससे मानव जीवाश्म की परिस्थितिकी का ज्ञान होता है। प्रागैतिहासिक काल में पशुओं एवं मानव का जीवन पेड़–पौधों तथा वनस्पतियों पर पूर्णरूप से निर्भर था। इस कारण इस विधि से काल मापन करने में वनस्पतियों का भी ज्ञान हो जाता है। जीवाश्मों की पूर्ण समझ हेतु वातावरण का अध्ययन भी आवश्यक होता है जिसके लिये स्तरीकरण, नदी वेदिकायें, हिमोढ़ एवं लोयेस निक्षेप, समुद्री स्तर, पराग परीक्षण (Pollen Analyses), वृक्ष वलय आदि साक्ष्यों का अध्ययन किया जाता है।

इस प्रकार भूगर्भीय काल मापन के अत्याधुनिक तकनीकों के आविष्कार से किसी भी प्राप्त जीवाश्म की वास्तविक भूगर्भीय आयु को ज्ञात किया जा सकता है। कालमापी मतभेदों से बचने हेतु निरपेक्ष काल मापन तकनीकों का आश्रय उत्तम है तथा इनका पुनः परीक्षण भी किया जा सकता है, जैसे– ओल्डुवाय गार्ज जीवाश्मों का काल मापन दो तकनीकों (यूरेनियम एवं पोटैशियम–आर्गन कालमापन) का प्रयोग किया गया। सम्भव हो तो निरपेक्ष एवं सापेक्ष दोनों प्रकार की कालमापन विधियों का प्रयोग मानव जीवाश्म के अध्ययनों में करना चाहिए। कालमापन की इस नवीन एवं विश्वसनीय तकनीकों के प्रयोग से जीवाश्मिकीय धोखों (Hoxes) से बचते हुए हम मानव उदविकास की वास्तविक चित्रांकन कर सकते हैं।

जीवाश्म प्रतिरूपों की वैयक्तिक आयु को मापना भी जीवाश्म वैज्ञानिकों के लिए कठिन कार्य है। कुशल शरीर रचना वैज्ञानिक जो जनसमूही विविधता परिक्षेत्र से परिचित है, वैयक्तिक कंकाल की वस्तविक आयु एवं लिंग का आकलन कर सकता है। अस्थि की आयु निर्धारण मुख्यतया अस्थि संवृद्धि में परिवर्तन एवं दांतों के अवतरण पर आधारित है। लेकिन जब तक जीवाश्म श्रंखलायें अधिक संख्या में न हो और कंकालपूर्ण न हो आयु निर्धारण कठिन होता है। अतः जीवाश्म की आयु को ज्ञात करने में पक्षपाती निर्णय लिये जा सकते हैं। इसलिए प्राप्त जीवाश्म प्रतिरूप (Specimen) की आयु एवं लिंग का सावधानी से निर्धारण बहुआयामी दृष्टिकोण से करने से त्रुटियों से बचा जा सकता है।

जीवाश्म प्रतिरूपों की वास्तविक लैंगिक पहचान आवश्यक होती है अन्यथा अनेकों भ्रामक परिणाम सामने आ सकते है। यद्यपि आज वर्तमान निश्चित जनसंख्या के आंकडों के आधार पर लैंगिक विभेदों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा चुका है लेकिन जो जीवाश्म खोजे गये हैं वे अत्यल्प है तथा उनके आधार पर लैंगिक विविधता की संपूर्ण समझ नहीं हो सकती है। अतः लैंगिक पहचान अधिकांशतः अनुमानों पर आधारित है जिसमें वस्तुनिष्ठता अत्यावश्यक है। इस क्षेत्र में वर्डसेल (1974) के मतानुसार एक शरीर रचनाशास्त्री अधिक समुचित निर्णय दे सकता है। त्रुटियों से बचने के लिए जीवाश्म प्रतिरूपों की तुलना वर्तमान मानव के कपाल प्रतिरूपों से भी की जा सकती है।

जीवाश्म अस्थियों के स्वरूप को समुचित ढंग से समझने हेतु स्वरूप (Form) एवं प्रक्रिया (Function) के मध्य सम्बन्धों का जान लेना भी आवश्यक क्योंकि है। इसका उदविकासीय महत्व है। शीघ्र ही प्रक्रियात्मक शरीर रचनावैज्ञानिकों ने कतिपय प्रयोगों के आधार पर पता लगाया है कि किसी भी अस्थि में कुछ अंश तक वंशगति का पुट रहता है तथा संवृद्धि अवस्थाओं में पर्यावरण से प्रभावित होता है।वर्डसेल (1957) ने अनेकों जीवाश्म अध्ययनों के तथ्यों का खुलासा किया है। इन्होंने स्वरूप एवं प्रक्रिया के मध्य सम्बन्धों को दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन प्रकार में विभक्त किया। इसका उदविकासीय महत्व है। इस संदर्भ में किसी एक व्यक्ति के जीवनकाल में घटित प्राकृतिक दबावों (Stresses) से उत्पन्न व्यावहारिक क्रिया भी महत्वपूर्ण है। जो अल्पकालीन स्वरूप एवं प्रक्रिया सम्बन्धों को दर्शाती है। अस्थीय संशोधन दीर्घकालीन स्वरूप एवं प्रक्रिया के सम्बन्धों को दर्शाते हैं जो उदविकासीय बलों की अन्तक्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न आनुवंशिक परिवर्तन होते हैं। किसी भी अस्थि के स्वरूप का मुख्यतः निर्धारण आनुवंशिकी प्ररूपों के द्वारा होती है।प्रकार्यात्मक दबाव अस्थियों पर अंशतः परिलक्षित अवश्य होते हैं, जैसे– प्रारम्भिक मानव का अपेक्षाकृत दीर्घ आनन मण्डल आनुवंशिक परिवर्तन के साथ–साथ उसकी खाद्य आदतों एवं कठोर चबाने की प्रक्रिया के फलस्वरूप है। प्रारम्भिक मानव की दीर्घ भ्रूकटक के समान आधुनिक मानव के नहीं है। प्रथमतः ये भ्रूकटक लैंगिक विविधता को परिलक्षित करते हैं क्योंकि पुरुषों के भ्रूकटक स्त्रियों की अपेक्षा दीर्घ होते हैं जो हॉरमोनीय विविधताओं के अस्थीय प्रभावों के फलस्वरूप है लेकिन दोनों आनुवंशिक संरचना में अत्यल्प विविधता है। दूसरे भ्रूकटक के ऊपर दन्तीय दबावों का प्रभाव पुनः इसकी आनुवंशिक संरचना पर प्रश्नचिन्ह लगाता है जो अपने बल को गण्डास्थि एवं नासिकास्थि के माध्यम से ललाटास्थि तक भेजता है। लेकिन स्थिति अस्पष्ट है क्योंकि कपि जो कठोरता से चबाने की क्रिया करता है उसके भ्रूकटक विशाल है लेकिन उनमें ओरांगुटान का ललाट क्षेत्र लम्बवत् (Steep) है।निम्न भ्रूकटक क्षेत्र प्रक्रियात्मक प्रभावों की संदेहप्रद स्थिति प्रदर्शित करते हैं।अतः अस्थीय विभेद जीन्स में हुए परिवर्तनों के कारण समझना उचित होगा जो उदविकासीय प्रक्रियाओं का परिणाम हैं। इस समझ के आधार पर ही पैरन्थ्रापस रोबस्टस एवं आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकैनस में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो सके और उन्हें एक जीनस में सम्मिलित किया जा सका।कपि जीवाश्मों को भी मात्र तीन वंशों– ड्रायोपिथेसीन, जाइगेंटोपिथेसीन एवं रामापिथेसीन में विभक्त किये गये।

इसी प्रकार संरचना एवं उद्‌भव की दृष्टि से जो अंग समान होते है उनके कार्यों में अन्तर होने से समजात संरचनायें (Homologous Structure) उत्पन्न होती है जैसे सील के फ्लीपर, चमगादड के पंख, घोड़े की अगली टांग, मानव के हाथ समान अस्थियों से बने होने के बावजूद भी आकृति में एक दूसरे पूर्णतया भिन्न है। इसके विपरीत, ऐसे अंग जिनके कार्यों में समानता होती है लेकिन मूल संरचना एवं उद्‌भव में अन्तर होता है तो समवृत्ति संरचनायें (Analogous Structures) उत्पन्न होती है, जैसे- तितली, पक्षी, चमगादड़ में पंख उड़ने का कार्य करते है ये समानता दर्शाते हैं लेकिन उद्‌भव भिन्न–भिन्न है। अतः इस प्रकार के तथ्य इस बात पर बल देते है कि मानव जनसंख्यायें अत्यधिक बहुप्ररूपी (Polymorphic) तथा बहुप्रकारीय (Polytypic) है अर्थात् एक ही अन्तर्विवाही जनसमूह में अनेकों स्वरूप (forms) विद्यमान है एवं समस्त अन्तर्विवाही समूहों के अन्तर्गत अनेकों प्रकार हैं। इसके आधार पर रामापिथेसीन वंश में बहुप्ररूपी जीवाश्म प्रतिरूपों को समझा गया है जो एशिय, अफ्रीका के अधिकांश भागों में फैले हुए थे।

मानव उदविकास को समझने के लिए यदि जीवाश्मों का क्रमानुसार विश्लेषण करें तो एक अद्‌भुत चित्र उभरता है जो उदविकासीय प्रवृत्ति को इंगित करती है।एक प्रारम्भिक मानव जीवाश्मों से आधुनिक मानव जीवाश्म की ओर आनन मण्डल का सापेक्ष अपघटन एवं कपाल मण्डल व मस्तिष्क क्षेत्र का सापेक्ष परिवर्धन पाया गया है।उदाहरणस्वरूप आस्ट्रेलोपिथेसीन की औसत कपालीय क्षमता 500 घन सेमी० है

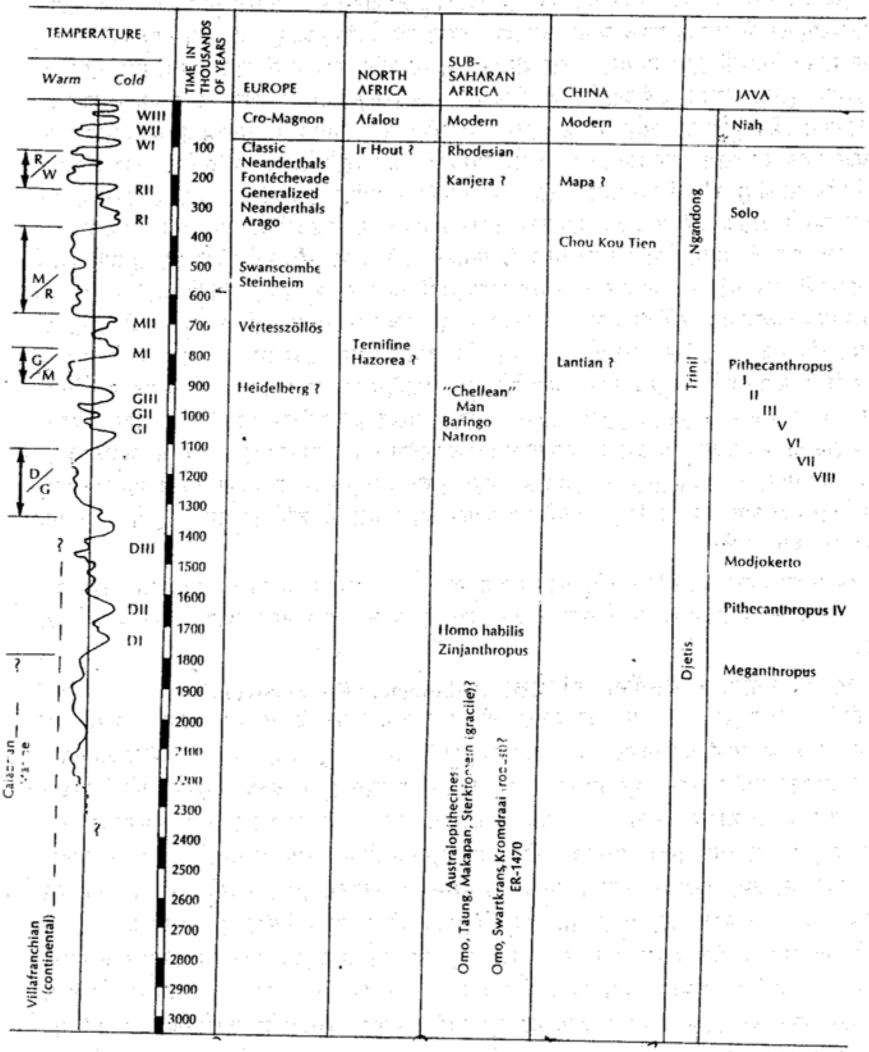
होमोइरेक्टस की लगभग 1000 घन सेमी० एवं होमो सेपियंस की लगभग 1500 घन सेमी० हो गयी है। यह उत्तरोत्तर वृद्धि एवं दूसरी ओर मुखमण्डल में अपघटन मानव जीवाश्मों के मध्य सम्बन्धों को उजागर करते हैं।

इसी प्रकार मानव शरीर रचना के अनेकों ऐसे लक्षण है जो मानव के उदविकासीय सम्बन्धों को प्रदर्शित करने में सक्षम है।यदि हम प्रारम्भिक मानव जीवाश्म (आस्ट्रेलोपिथेसीन) की तुलना कपि जीवाश्मों से करें, जो काल मानप विधियों द्वारा मायोसीन–प्लायोसीन युग के आंके गये हैं तो वह मानव कपि जीवाश्मों रामापिथेसीन, ड्रायोपिथेसीन, एवं जाइगेटोपिथेसीन वंश के अपेक्षाकृत अधिक समीप है, न कि पैलियोसीन एवं इयोसीन कालीन यूरोप एवं अमेरिका के 'प्लासीएडापिडी' एवं 'परमोमाइडी' आदिम प्राइमेट परिवार के। इसी प्रकार मिस्र के फायूम जमावों से प्राप्त पैरापिथेकस, प्रोप्लायोपिथेकस, एजिप्टोपिथेकस जीवाश्म (ओलिगोसीन कालीन) कपियों एवं प्राचीन दुनिया के वानरों के मिश्रित लक्षणों को प्रदर्शित करते है तथा कपि जीवाश्मों के अग्रज माने जाते है। जहाँ तक प्रारम्भिक मानव के जीवाश्मों के अग्रज का प्रश्न है तो वे टर्शरी युग के कपि जीवाश्मों में से कोई है। इन कपि जीवाश्मों के तीन वंशों– जाइगैंटोपिथेसीन, ड्रायोपिथेसीन एवं रामापिथेसीन का वर्णन गत अध्यायों (अध्याय 5 एवं 6) में किया जा चुका है। इनमें से रामापिथेसीन अब प्राथमिक मानव जीवाश्मों की कोटि में माना गया है। (ई० एल० साइमन्स, 1977)। डी० आर० पिल्बीम, जी० ई० मेयर, एम० डी० रोज, एम० एल० पिकफ़ोर्ड, ए० के० वेहरेंसमेयर, एम० इब्राहीम शाह, ने मायोसीन युग के हामिन्वायडों के उदविकासीय सम्बन्धों पर बल देते हुए रामापिथेसीन के कतिपय कपि सदृश लक्षणों को गौड़ माना है (Nature, London, 270 : 689, 1977)। डी० सी० जोहांसन एवं टी० डी० ह्वाइट ने इसके मानवसम लक्षणों के आधार पर इसे आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेंसिस (लीतोलिल एवं हदार के जीवाश्म) का आदिम स्वरूप मानते है (Science, 203, 4378, 1979)। डेल्सन (1985), एन्ड्रयूज एवं मार्टिन (1987), आक्सनाई (1987) आदि अनेकों विद्वान मायोसीन युगीन इस जीनस को हार्मिनिड मानते है जो सम्भवतः मानव का प्रत्यक्ष पूर्वज है।

इस प्रकार मानव का उत्पत्ति स्रोत कपि सदृश प्राणी है इस अवधारणा का समर्थन शरीर रचनात्मक तथ्यों के अतिरिक्त जीवाश्म साक्ष्य भी करते हैं और जीवाश्मिक तथ्य एक ठोक प्रमाण के रूप में माने जा सकते है।

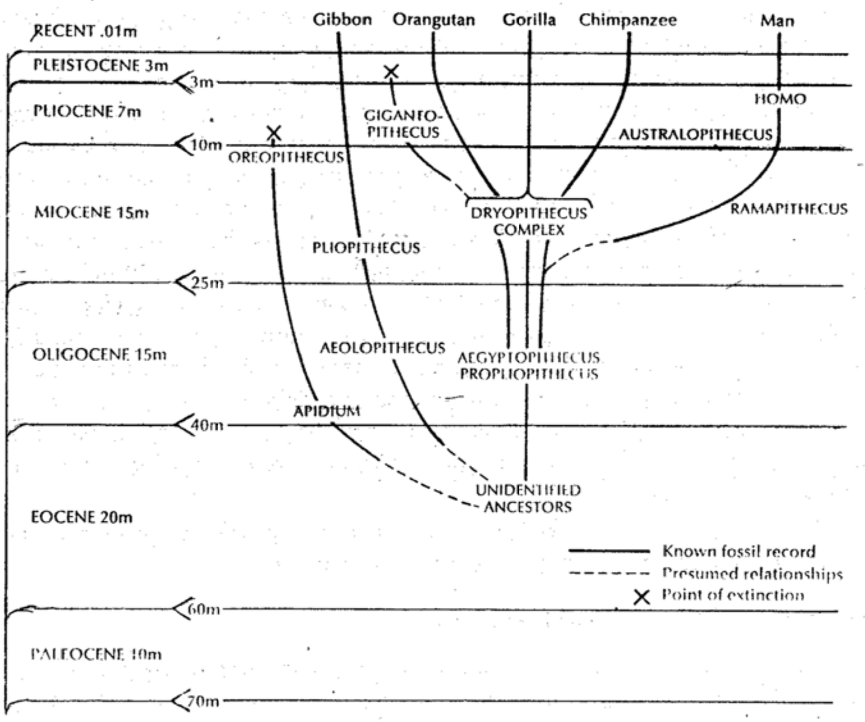
जैववासिक या व्यावहार वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Ethological Perspective) :

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मानववैज्ञानिक अध्ययन क्षेत्र का विस्तार हुआ जिससे प्राइमेटों के शरीर रचनात्मक अध्ययनों के अतिरिक्त पराकपालीय रचना (Post Cranial Anotomy) सम्बन्धी अध्ययनों की ओर मानववैज्ञानिकों का एक समूह आकृष्ट हुआ। प्राइमेटों के व्यवहार का अध्ययन करने वाले ये विद्वान उनके (प्राइमेटों के) प्राकृतिक भूभाग में ही अध्ययन करने पर अधिक बल दिया। इससे अचम्भित कर देने वाले तथ्य सामने आये और लगभग एक शताब्दी से चल रहा मानवोत्पत्ति स्रोत सम्बन्धी विवाद को समझने में बल मिला। (आर० एम० यर्कएवं ए० डब्ल्यू० यर्क1929, नेसेन 1931; बिघंम 1932; कारपेंटर 1934; जकरमैन 1932–33; ब्यूटनर–जानुश 1962, 1963–64, वाशबर्न 1963; नैपियर एवं बर्नीकाट 1963; डी वोर 1965)। **डी वोर** ने आधुनिक प्राइमेट अध्ययनों की एक संकलित पुस्तक का सम्पादन किया। इसमें बानरों, चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला कपियों के विभिन्न क्षेत्रीय शोधों को एक साथ प्रकाशित किया गया। जापान बानर केन्द्र से प्रकाशित होने वाली 'प्राइमेट्स' नामक शोध पत्रिका ने अनेकों मानवेतर प्राइमेटो के "प्राकृतिक व्यवहारों" का सम्पादन किया। वाशबर्न (1971) ने अति सूक्ष्मता से व्यावहारिक तथ्यों का विश्लेषण करके मानवोत्यत्ति का स्रोत आधुनिक कपियों को माना है जो प्रत्यक्ष रूप से मानव की पूर्वजों रेखा से सम्बद्ध है। लेविस (1973) भी मानव उदविकास को समझने में इन कपि व्यवहारों को महत्वपूर्ण माना है। इन विद्वानों ने व्यवहार सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर कपियों में से गोरिल्ला एवं चिम्पैंजी को मानव का समीपवर्ती स्वीकारा है, जिसका उल्लेख अध्याय 5 में भी किया जा चुका है।



चित्र 12 : 118 प्रातिनूतन काल में मानव जीवाष्म

वर्डसेल(1975) ने चिम्पैंजी के आधारभूत आंकडों के आधार पर मानव सदृश व्यवहारों का पुर्नविश्लेषण किया। शरीर रचना शास्त्री चिम्पैंजी की पेलविस एवं टांगों की अस्थियों को द्विपदगमन के अयोग्य ठहराते है तथापित चिम्पैंजी प्रायः खडा होता है एवं टहलता या दो पैरों से परिस्थितियों के अनुसार दौडता है, जब बडे घास के मैदानों में प्रायः द्विपदगमन करता है। जेन गुडाल (1967), 1968) ने चिम्पैंजियों को एक समय में अधिकतम 15 मिनट तक द्विपदगमन करते हुए अवलोकित किया है।ये प्रायः एक पेड से दूसरे पेड तक द्विपदगमन करता हुआ जाता है। जब यह अपने साथ कोई वस्तु लिये होता है तब प्रायः द्विपदगमन करता है। वह उत्तेजना अथवा भय के समय प्रायः दो पैरों से दौडता है। इस प्राणी के जीवन में द्विपदगमन महत्वपूर्ण भूमिका रखता है, तथापि ये चिम्पैंजी के परिगमन (Locomotion) का एक स्वीकार्य रूप नहीं है यह विशेष परिस्थितियों में चुना जाता है। अतः अब कोई भी कारण नहीं है जिससे हम यह न माने कि माथोसीन युग के ड्रायोपिथेसिन (जो चिम्पैंजी सदृश जीवाश्म है) द्विपदगमन करने में कुछ कम उपयुक्त होंगे।



चित्र 12 : 119 जीवित उच्चस्तनियों की 'उत्पत्ति अवधि' का सम्बन्ध

इसी प्रकार चिड़ियाघर में पकड़े गये चिम्पैंजी के मानव सदृश व्यवहारों जैसे– उपकरण निर्माण, उपकरण प्रयोग आदि की पुष्टि **ओक्ले** द्वारा की गयी है। चिम्पैंजियों को उनके प्राकृतिक भूभाग में ही उपकरणों का प्रयोग करते हुए **गुडाल** द्वारा अवलोकित किया गया है। चिम्पैंजी में घोंसला निर्माण करने की प्रवृत्ति को उपकरण निर्माण की कोटि में माना जाता है। **गुडाल** ने एक शिशु चिम्पैंजी में घोसला निर्माण की कला अपनी माता चिम्पैंजी से सीखने की प्रवृत्ति को सूक्ष्मता से प्रेक्षित किया है। उन्होंने चिम्पैंजियों में विभिन्न विधियों से उपकरण निर्माण की प्रवृत्ति देखी है। चिम्पैंजियों के व्यावहारिक लक्षणों का वर्णन इसके पूर्व भी किया जा चुका है। अतः संक्षेप में गुडाल ने जिन चिम्पैंजियों के जटिल व्यवहारिक तथ्यों को अपने शोधपत्रों में उत्कीर्णित किया है उसके आधार पर अनेकों मानववैज्ञानिक इसको प्राग–सांस्कृतिक जन्तु (Pre--culfural Animal) की अपेक्षा आदि–सांस्कृतिक जन्तु (Proto–culfural Animal) में वर्गीकृत करते हैं (वर्डसेल, 1975)।

किसी कपि द्वारा इस प्रकार के व्यवहारों को आत्मसात करना, अनेकों विद्वानों के अनुसार, एक प्रभावशाली शुरुआत है जिसकी तुलना मायोसीन युग के ड्रायोपिथेसीन (लगभग 2 करोड़ वर्ष पूर्व जीवन व्यतीत कर रहे थे) से करके मानव उदविकास को ठीक से समझा जा सकता है।

मायोसीन युग के रामापिथेसीन का कोई भी आधुनिक जीवित प्रतिमान (Model) नहीं है जिसके आधार पर हम रामापिथेसीन के व्यवहारों को पुनर्निमित कर सकें। **वर्डसेल** ने रामापिथेसीन के व्यवहार प्रतिरूप को समझने के लिए 'कोष्ठक तकनीक' (Brackating Technique) को प्रस्तावित किया है क्योंकि दन्तीय साक्ष्यों के आधार पर यह ड्रायोपिथेकस की अपेक्षा मानवसम अधिक है।अतः इस "हामिनिड जीवाश्म" का स्थान, इनके समकालीन ड्रायोपिथेसीन एवं आस्ट्रेलोपिथेसीन जीवाश्म के मध्य है। चूंकि रामापिथेसीन एवं ड्रायोपिथेसीन दोनों जीवाश्म प्राचीन विश्व (पूर्वी अफ्रीका, यूरोप, चीन एवं उत्तरी भारत) में समकालीन भूस्तरों से प्राप्त किये गये हैं। "गौस के नियम" के अनुसार "प्रकृति में दो जातिया समान खाद्य आवश्यकताओं के साथ दीर्घकाल तक समान भूभाग में सह अस्तित्व नहीं बना सकती।" अतः ये दोनों जीवाश्म जन्तु निश्चित रूप से भिन्न–भिन्न खाद्य आदतों को कालान्तर में आत्मसात किया होगा।इस प्रकार रामापिथेसीन कन्दमूल फल आदि की अपेक्षा मांस अधिक खाता होगा।वर्तमान चिम्पैंजी की अपेक्षा अधिक सतर्कता से आखेट करता होगा। निस्संदेह इसका आखेट अधिकांशतया भाग्य अथवा अवसर तत्व पर आधारित होगा क्योंकि उपकरण –प्रयोग के कोई भी अवशेष प्राप्त नहीं हो सके है। यद्यपि लुइस लीकी ने मानव उपकरण प्रयोग के कतिपय साक्ष्यों को सूचित किया है जो विशेषका पूर्वी अफ्रीका के "फोर्ट टेर्नान" स्थान से प्राप्त किये गये है। जहाँ "रामापिथेसीन जबड़ा" मायोसीन कालीन स्तरों से खोजा गया था, तथापि उपकरण प्रयोग के ठोस प्रमाण के रूप में पूर्वी रुडोल्फ से 26 लाख वर्ष पुरानी प्लाइस्टोसीन कालीन एक सुविकसित संस्कृति प्राप्त की गयी है। (वर्डसेल, 1975)

इस प्रकार आधुनिक व्यवहार वैज्ञानिक अध्ययनों ने मानव एवं कपि को एक ही पूर्वज रेखा से सम्बद्ध होने की पुष्टि की है जिससे मानव की उत्पत्ति के स्रोत अधिक स्पष्ट हुए है।

आनुवंशिक पारिप्रेक्ष्य (Genetical Persective):

बीसवीं शताब्दी के लगभग छठे दशक में मानव के उद्‌भव को और अधिक गहराई से समझने के लिए जैव रासायनिक एवं आनुवांशिक अध्ययनों का श्री गणेश हुआ। ये समस्त साक्ष्य इंगित करते है कि मानव अन्य अमानव प्राइमेटों की अपेक्षा कपियों से अत्यधिक सादृष में रखता है। (सेठ एवं सेठ, 1985)

अत्याधुनिक शोध कार्यों के आधार पर क्रिटैशियस युग से लेकर वर्तमान समय के अन्तराल का प्राइमेट उदविकास एवं मानव के पूर्वज का उदविकास को एक वंशावली (Lineage) में अवलोकित किया जा सकता है जो विभिन्न जीन विकल्पों (Alleles) के साथ–साथ एक विराट जीन समष्टि (Gene pool)

रखता है। इस पर अनेक उदविकासीय वल जैसे– प्राकृतिक वरण आदि कार्यरत होते है जिसके फलस्वरूप एक जटिल आन्तरिक संगठन के साथ जातियाँ उत्पन्न होती है।यह वंशावली मानव की ओर उदविकसित होती हुई अनुकूलन के फलस्वरूप जातियाँ और अधिक भिन्न होती गयी। इस प्रकार के जीनी वितरण के एक 'जनांकिकी ज्ञान' (Demographic Knowledge) से अतीत एवं भविष्य के स्वरूप के 'प्रतिमान' (Model) विकसित हो गये है। आकारिकी एवं भौगोलिक विभिन्नताएँ विभिन्न विशाल भूआवासों में चरम सीमा में है जो शुष्क से ऊष्ण कटिबन्धीय प्राइमेटों के विभिन्न स्वरूपों में परिलक्षित होती है। प्रोटीन सम्बन्धी एण्टीजीनिक विशिष्टताओं के जातीय विचलन (Divergencies) यह स्पष्ट करते है कि टार्सियर अन्य प्रासीमियनों की अपेक्षा "एन्थ्रोपायडिया" के निकटस्थ है (गुडमैन, मूरे एवं बर्नेवस, 1974)। इसी प्रकार के परिणाम अन्य अध्ययनों से भी प्राप्त हुए हैं। (हिल, 1954)। लकेट (1974) ने अपरा (Placenta) एवं गर्भकाल (Gestation) जैसे लक्षणों के आधार पर समान परिणाम को प्राप्त किया है।

रुधिर वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Serological Perspective) :

मानव के समान ही ABO रुधिर वर्ग प्राइमेटों में भी दृष्टिगत किये गये है जो अपने वितरण में भौगोलिक विभेदों को दर्शाते हैं। ये रुधिर वर्ग अथवा इनके समवर्ती रूप मानव के अतिरिक्त कपियों में ही नहीं पाये जाते अपितु सरकोपिथेक्वायडिया (पुरानी दुनिथा के बानर), सिवाइडिया (नई दुनिया केबानर), असंख्यों स्तनधारी जातियों में, पक्षियों में, जीवाणुओं एवं पौधों में भी अपने प्राकृतिक एण्टीवाडीज एवं अन्य पदार्थ (लेक्टिन आदि) के साथ पाये जाते है। इनके साथ प्रायः तीन विलक्षणतायें एण्टी– 'A', एण्टी– 'B', एण्टी– 'H' दृष्टिगोचरण हुई है। उच्च कपियों में रुधिर वर्ग A एवं O चिम्पैंजी में देखा गया है।गिब्बन एवं ओरांगुटान में भी चिम्पैंजी एवं मानव के समान ही "आइसो एग्लूटिनेशन" (Iso agglutination) अर्थात् "सम समूहीकरण प्रतिक्रिया"पायी गयी है।दोनों मात्र A, B एवं AB रुधिर वर्ग प्रकट करते है। यह रोचक तथ्य है कि गिब्बन का B रुधिर वर्ग 'एण्टी– H (लेक्टिन)' से समूहीकरण प्रतिक्रिया (Agglutination) उसी अनुपात में करता है जिसमें यह 'एण्टीबाडी' मानव के O रुधिर वर्ग से मेल खाता है। इसी प्रकार गिब्बन, गोरिल्ला, चिम्पैंजी, ओरांगुटान स्रावक लक्षण (Secretor Status) का परीक्षण किया गया है। सम्पूर्ण परीक्षण में माल एक ओरांगुटान स्रावक (Secretor) नहीं पाया गया शेष समस्त कपि स्रावक लक्षण की विधमानता को प्रदर्शित करते हैं। एग्लूटिनेशन परीक्षण करने पर गोरिल्ला की लाल रक्त कणिकायें स्पष्ट प्रतिक्रिया नहीं करती है जिससे वह कपि एवं मानव की अपेक्षा बानरों के अधिक समान प्रतीत होता है। (वीनर, मूर– जैन्कॉस्की एवं गार्डन, 1963; 1966; मूर–जैन्कॉस्की एवं वीमर 1972)।

इसी प्रकार मानव के Rh एवं MNs रुधिर वर्ग के 'एण्टीजन' चिम्पैंजी के R C E F एवं V A B D रुधिर वर्ग के एण्टीजनों के 'एण्टीजनों' में समानता पायी गयी है (सोका एवं मूर–जेन्कॉस्की 1966; 1972)। इन वैज्ञानिकों ने पुनः 1978 में यह सिद्ध किया कि मानव का Rh – Hr रुधिर वर्ग प्रणाली एक विशिष्ट 'सीमियन' प्रकार का रुधिर वर्ग है जिसके आधार पर मानव सहित उच्च प्राइमेटों के मध्य वर्गीकरणात्मक सम्बन्धों को प्रदर्शित किया जा सकता है।

जैव रासायनिक परिप्रेक्ष्य (Biochemical Perspective) :

गत तीन दशकों में जैव रासायनिक लक्षण जैसे सीरम प्रोटीन (Serum Protein) लाल कोशिका इन्जाइम (Red Cell Engymes) सम्बन्धी अध्ययन प्राइमेटों पर किये जाने लगे हैं। हार्डी , वर्नीकॉट एवं आल्पर (1975) ने लंगूर बानरों के प्रोटीन बहुस्वरूपों (Protein Polymorphism) का अध्ययन किया है जो लंगूरों में पर्याप्त विषमता (Heterogeneity) को सूचित करते है। स्वदेश सेठ, पी० के० सेठ एवं वी० पी०

दीक्षित (1983) ने रहीसस बानर, वैबून एवं लंगूरों का लाल रक्त कोशिकीय इन्जाइमों का अध्ययन करके इनके एक स्वरूपों (Monomorphes) एवं बहुस्वरूपों (Polymorphes) का पता लगाया है। इनके अनुसार मात्र प्रेसबायटिस इण्टेलस (Presbytes Entellus) जाति के वानर C3, Gc ग्लायसिन प्रचुर –B ग्लायकोप्रोटीन a एण्टीट्रिप्सिन, P.G.M., 6–PGD, AK, सुपर आक्साइड डी सम्यूटेज, मैलेट डीहाइड्रोजिनेज एवं PHI जैव रासायनिक लक्षण के लिए बहुस्वरूपों को प्रकट करते है तथापि यह जाति Tf, Mb, PGM1, G–6–PD, एल्व्यूमिन आदि लक्षणों हेतु एक स्वरूपी है। इसके अतिरिक्त समस्त वैबून, लंगूर एवं रहीसस वानर अल्पमात्र ही विषमता प्रकट करते हैं।

अमानव प्राइमेटों एवं मनुष्य केसीरम – प्रोटीन केमिश्रण से उत्पन्न प्रतिक्रिया अभूतपूर्व साक्ष्य प्रस्तुत करती है (किटचिन एवं वियर्न, 1965)। इसके अनुसार Gc प्रोटीन प्राइमेट उदविकास की लम्बी अवधि में पर्याप्त रूप से रूपान्तरित हुआ जो अन्ततः मानव में एक जटिल बहुस्वरूपी विन्यास में विकसित हुआ।

अफ्रीका के कपियों का हीमोग्लोबिन अन्य स्थान के कपियों (एशिया) की अपेक्षा मनुष्य के हीमोग्लोबिन के अधिक समीपवर्ती पाया गया है। (गैरवर एवं तलमैग, 1975)। इसी प्रकार के परिणाम पहले ही सन् 1967 में सैरिच एवं विल्सन ने ट्रांसफेरिन, थाइरोग्लोव्यूलिन, सीरम एलब्यूलिन, लेंस प्रोटीन एवं डम्यूनोग्लोब्यूलिन आदि जैव रासायनिक लक्षणों केआधार पर अपने अभूतपूर्व शोध कार्य किया ।सैरिच ने अत्याधुनिक आणविक उदविकास की अवधारणा प्राइमेटों के एल्व्यूमिन उदविकास के आधार पर प्रस्तुत की है जिसका उल्लेख इसके पूर्व अध्याय 5 में कर चुके हैं।

अतः संक्षेप में, सैरिच (1971) ने इन प्रतिरक्षा वैज्ञानिक साक्ष्यों के आधार पर मानव, चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला को 50 लाख वर्ष पूर्व एक पूर्वज रेखा से पृथक होने का मत प्रतिपादित किया है।चिम्पैंजी मानव के अधिक समीपवर्ती है।इसी प्रकार के परिणाम उक्त वर्णित अध्ययनों में भी प्रदर्शित हुए है।

चिम्पैंजी हीमोग्लोबिन की अमीनो एसिड के अनुक्रम (Sequences) का अध्ययन व्यॉयर एवं उनके साथियों (1971) ने किया है जिन्होंने इन अनुक्रमों को मानव सम देखा है।गोरिल्ला हीमोग्लोबिन के अनुक्रम अपेक्षाकृत भिन्न है क्योंकि इनमें अमीनों एसिड के दो विस्थापन (Replacements) होते हैं, जैसे a23 Glu – Asp, एवं b104 Asp – lys निम्न कपियों में हीमोग्लोबिन–A की b श्रंखला में मानव की b– श्रंखला की अपेक्षा तीन विकल्प पहचाने गये हैं। (80 Asu – Asp, 87 Thr – 545, 125 Pro – Glu)।

इराइथ्रोसाइट इन्जाइम कार्बोनिक एनहाइड्रेज I के 133 सजातीय अवशेषों (Residues) में मानव एवं चिम्पैंजी मात्र एक स्थल पर भिन्नता प्रदर्शित करते हैं।ओरांगुटान चिम्पैंजी से तीन स्थलों में एवं मानव से 4 स्थलों में भिन्नता प्रकट करते है। ये हामिन्वायड पुरानी दुनिया के बानरों (Cereopithecoids) से 4–6 स्थलों में भिन्न पाये गये है। इस प्रकार यह स्पष्टतया इंगित करता है कि चिम्पैंजी एवं मानव दोनों अधिक निकटवर्ती हैं।

वर्तमान प्राइमेटों के गुणसूत्री लक्षणों का अध्ययन अनेक विद्वानों ने किया है, जिसमें सेठ, बोएर, सक्सेना एवं सेठ (1976) ने अन्वेषित किया है कि चिम्पैंजी का सैटलाइट A – DNA अनेक भौतिक तत्वों में मानव के सैटलाइट III – DNA के सदृश है। इसी प्रकार के परिणाम पियर्सन, गेराएट्स एवं लिन्डेन (1973) को भी गुणसूत्री अध्ययनों से प्राप्त हुए थे। इससे यह पुनः स्पष्ट होता है कि अन्य प्राइमेटों की अपेक्षा मानव एवं चिम्पैंजी के क्रोमैटिन अत्यधिक समवर्ती हैं।

इस प्रकार जैव रासायनिक एवं रुधिर वैज्ञानिक अध्ययनों से मानवोत्पत्ति स्रोत को हम अनेक आयामों से सरलतापूर्वक समझ सकते है। आज इन अध्ययनों से हम यह समझने में सक्षम हो गये है कि नवीन

परिस्थितकी के अनुकूलन मानव जनसमूह ही नहीं गैर–मानव प्राइमेट समूह भी अनुकूलनशील है जिससे उनमें भिन्न दिशाओं में परिवर्तन घटित होते हैं। उदविकास एवं आनुवंशिक विशिष्टताओं को व्यापक दृष्टिकोण से देख करके हम प्राइमेट उदविकास एवं मानवोत्पत्ति के जीव स्रोत का बोध सरलतापूर्वक कर सकते हैं। आज हमें ज्ञात है कि तीन प्रमुख रुधिर समूहों– ABO, MN एवं Rh के तत्व मानवसम कपियों (गोरिल्ला, चिम्पैंजी, ओरांग, गिब्बन) में भी होते है। जिसमें चिम्पैंजी में विशेष करके लगभग मानव सदृश ही MN एवं Rh रुधिर वर्ग बहुस्वरूपी होते हैं। लाल रक्त कोशिकीय विशिष्टता पुनः चिम्पैंजी को अन्य प्राइमेटों एवं कपियों की अपेक्षा मानव के निकट लाती है।प्रतिरक्षा वैज्ञानिक अध्ययनों के परिणाम जो मानव प्रोटीनों, रुधिर एवं सैटलाइट DNA पर आधारित है अफ्रीकी कपियों (चिम्पैंजी, गोरिल्ला) से अधिक सामीप्य प्रदर्शित करते हुए जीवाश्म वैज्ञानिक अनुमानों की अपेक्षा कुछ नवीन काल की वंश–विच्छेद को इंगित करते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आणविक उदविकास की दर आकारिकीय अथवा वाह्यशारीरिक उदविकास की दर से कुछ स्वतन्त्र है। बहुआयामी दृष्टिकोण को यदि आत्मसात करें तो हम इन प्रतिरक्षा वैज्ञानिक, DNA संकरण एवं इलेक्ट्रोफोरिटक तकनीकों का भूगर्भीय एवं जीवाश्म वैज्ञानिक तथ्यों के साथ प्रयोग करके प्राइमेटों में आनुवंशिक सामीप्य को प्रकाशित कर सकते है। इससे यह स्पष्ट होता है कि नयी दुनिया के बन्दर पुरानी दुनिया के बन्दरों, विशिष्ट उच्च प्राइमेटों के साथ एक लम्बे अर्से तक एक समान पूर्वजता को ग्रहण किये थे जिनका कालान्तर में आधुनिक 'प्रासीमियनों' से पृथककरण हुआ। इस परिणामों से यह भी स्पष्ट होता है कि ये दोनों पृथक दुनिया के समूह की आकारिक समानता जो इन्हें वानर की श्रेणी में वर्गीकृत करती है समानान्तरणवाद (Parallelisms) अथवा 'अन्तरणवाद' (Convergences) के फलस्वरूप आयी है अपितु एक समान पूर्वजता के फलस्वरूप आयी है। जिनके पूर्वज पहले से ही ऐसे लक्षणों के स्वामी थे। (सैरिच 1968, 1971; क्रानिन एवं सैरिच 1975, सेठ एवं सेठ 1985)

इसके अतिरिक्त फाइब्रिनोपेप्टाइड अमीनों एसिड अनुक्रमों के आंकडे यह इंगित करते है कि अफ्रीकी कपि अपेक्षाकृत मानव के अधिक समीप हैं। अनेकों प्रतिरक्षा वैज्ञानिक, रुधिर वैज्ञानिक एवं जैव रासायनिक तथ्य इसकों बार–बार सत्य सिद्ध करते है। हीमाग्लोबिन पर आधारित अनुसंधान मानव, चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला को 50 लाख वर्ष पूर्व एक पूर्वज स्रोत से पृथक होने का सुझाव देते है। इस प्रकार का रुधिर वैज्ञानिक एवं आणविक तथ्यों पर आधारित मानव एवं अफ्रीकी कपियों के मध्य निकट का सम्बन्ध उनके वर्गीकरणात्मक स्तरों में परवर्तित नहीं हो सका है क्योंकि मानव को 'हामिनिडी' परिवार का एकमात्र जीवित सदस्य माना जाता है। गुडमैन (1967) इन परिणामों के आधार पर चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला को भी 'हामिनिडी' परिवार के अन्तर्गत सम्मिलित होने के योग्य मानते हैं।

इस प्रकार मानव की उत्पत्ति के सन्दर्भ में शरीर रचनात्मक भूगर्भिक, जीवाश्मिक एवं व्यवहार वैज्ञानिक अनुसंधानों के समान ही अत्याधुनिक रासायनिक अनुसंधान यह पुनः प्रमाणित करते है कि प्रारम्भिक मानव के पूर्वज कपियों (विशेषकर चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला) से प्रत्यक्षतया सम्बन्धित थे।

आकारिकीय परिप्रेक्ष्य (Morphological Perspective) :

आकारिकीय साक्ष्य यह इंगित करते है कि गिब्बन के पूर्वज प्राइमेट से प्रारम्भिक काल में विभेदित होकर के मानव वंश वृक्ष से उच्च कपियों की अपेक्षा पूर्व ही पृथक हो गये। इनके विभेदन के काल का अनुमान 2 से 3 करोड़ वर्ष पूर्व किया गया है। प्रतिरक्षा वैज्ञानिक अध्ययनों ने अल्व्यूमिन विभेदन को समुचित माना है (सैरिच 1968)।इस जाति के पूर्व पृथक्करण को हीमोग्लोबिन पर आधारित शोध भी इंगित करते हैं (ग्रेवर एवं तलमैग, 1975)। इसके साथ ही 'हामिन्वायडिया' के 23 प्रोटीनों का **इलेक्ट्रोफोरेटिक** तकनीक से अध्ययन किया गया जो मानव, उच्चकपियों एवं निम्न कपियों के मध्य समान आनुवंशिकी विभेदों को प्रदर्शित करते हुए इन सभी की एक पूर्वजता को इंगित करते है। (किंग एवं विल्सन 1975, अयैला 1975, ब्रूस एवं अयैला 1979)।

इसी प्रकार सामान्य सेंट्रोमेरिक DNA अनुक्रम की उच्च प्राइमेटों एवं मानव में विद्यमानता यह संकेत करती है कि एक उदविकासीय क्रियाविधि का अस्तित्व अवश्य था जिसने उदविकास की अवधि में इन समूहों को तुलनात्मक रूप से सफल होने में सक्षम बनाया है। यदि प्राइमेटों को अन्य जातियों जैसे– रोडेंशिया से तुलना करें तो यह पाते हैं कि ये संरचनात्मक विषम क्रोमैटिन (Constitutive Heterohromatin) के अन्तर्गत कुछ निश्चित DNA परिवारों का सरक्षण हुआ। उदाहरण के लिए, DNA संकरणात्मक अध्ययन यह बताते है कि चिम्पैंजी एवं मानव का उदविकासीय विभेदन वास्तविक "सैटलाइट III अनुक्रम" की उत्पत्ति के पश्चात् हुआ।

जहाँ तक जीवाश्म साक्ष्यों का सम्बन्ध है वे आदि मानव, आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेंसिस (इथियोपिया की प्लायोसीन भूस्तरों से प्राप्त किया गया है) एवं करोड़ 40 लाख वर्ष पुराने मायोसीन युग के रामापिथेसीन (कीनियापिथेकस) को आस्ट्रेलोपिथेकस की पूर्वज रेखा के रूप में प्रदर्शित किये गये है (जोहांसन एवं ह्वाइट 1979)। इसके अतिरिक्त एक और हामिन्वायड अवशेष ड्रायोपिथेकस कपि जो कीनिया (अफ्रीका) से प्राप्त हुआ है एवं 1 करोड़ 80 लाख वर्ष प्राचीन है, गोरिल्ला का पूर्वज समझा जाता है। यह जीवाश्म कपि रामापिथेकस एवं मानव वंश रेखा से पृथक हुआ माना जाता है। आणविक उदविकास की जो अवधारणा प्रस्तुत की गयी है वह जीवाश्मिक दृष्टिकोण एवं प्रोटीन तथ्यों को अफ्रीकी कपि एवं प्रारम्भिक मानव के सम्बन्धों के सन्दर्भ में एक स्थान पर समाविष्ट करने की चेष्टा करती है। DNA सम्बन्धी आंकड़े भी इन सम्बन्धों को दर्शाते हैं (सैरिच 1971, गुडमैन, बर्नेबस, मसूदा एवं भूरे 1971, प्रॉसेर, माएेर, बॉब्रो एवं जोंस 1985)। DNA के तथ्य पुनः इस पर बल देते हैं कि प्राइमेटों में परिवर्धनशील जीवनकाल उदविकास को दर्शाने के लिए एक महत्वपूर्ण लक्षण हो सकता है जो 6 करोड़ 50 लाख वर्ष से उदविकसित हो रहे मानव वंश की प्रदर्शित करने की क्षमता रखता है।अधोहनु एवं दांतों के जीवाश्मिक अवशेष जो इथयोपिया में ओमो नदी घाटी से प्राप्त हुए है वे 'होमो', तथा 'आस्ट्रेलोपिथेकस' के प्रत्यक्ष पूर्वज प्रस्तावित किये गये है तथा इनकी भूगर्भिक आयु लगभग 40 लाख वर्ष प्राचीन आकलित की गयी है। (हावेल, 1969)। इस खोज का काल मापन आणविक उदविकास के द्वारा उदघोषित मानवोत्पत्ति के काल से मेल खाता है।

समकालीन ग्लोबिन एवं उनके पूर्वज अनुक्रमों के मध्य जो उत्परिवर्तन दूरियों (Mutation Distances) से सम्बन्धित अध्ययन किये गये है वे दर्शाते है कि हीमोग्लोबिन का उदविकास उच्च प्राइमेटों में, प्रासीमियन एवं स्तनधारियों की अपेक्षा, मन्थर गति से हुआ है। (बर्नाबस, गुडमैन एवं मूरे 1971; हैंके, प्रैगर एवं विल्सन 1973)। अत्याधुनिक अध्ययन यह भी प्रदर्शित करते है कि हीमोग्लोबिन, सीरम अल्ब्यूमिन एवं ट्रांसफेरिन का उदविकास कशेरुक प्राणियों की अपेक्षा पक्षियों में अति मंथर गति से हुआ है। इस प्रकार ये अध्ययन भी आणविक उदविकास की अवधारणा का समर्थन करते हैं।

इस प्रकार, संक्षेप में तुलनात्मक प्रतिरक्षा–प्रसार जीनी, गुणसूत्री एवं प्रतिरक्षा वैज्ञानिक के प्राइमेट अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि 'मानव' चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला की पूर्वज रेखा से गिब्बन एवं ओरांगुटान क्रमशः प्रारम्भ (प्लायोसीन काल) में पृथक हो गये। प्राइमेट **फाइब्रिनोपेप्टाइड** के वंशानुक्रम में जहाँ हामिन्वायड (चिम्पैंजी एवं मानव) एवं सरकोपिथेक्वायड भिन्न–भिन्न शाखाओं में अग्रसरित होते हैं। वहाँ गिब्बन सरकोपियेक्वायड के आधार बिन्दु से ही प्रथक होकर भिन्न वंश की तरह अग्रसर होता है। मानव एवं चिम्पैंजी की वंशरेखा का कोई भी पृथक्करण नहीं होता क्योंकि दोनों के फाइब्रिनोपेप्टाइड एक समान है। इस प्रकार का सम्बन्ध 'हामिन्वायडिया' वंश के उस वर्गीकरण व्यवस्था का समर्थन करता है जिसमें 'हामिनिडी' परिवार के अन्तर्गत मानव के साथ–साथ चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला को भी सम्मिलित किया जाता हो। यह चार्ल्स डार्विन के उस दृष्टिकोण का समर्थन करता है जब वह मानव को चिम्पैंजी एवं गोरिल्ला के समान एक ही पूर्वज स्रोत से उत्पन्न मानते है। दूसरी ओर मानव DNA आंकड़े ऐशियायी कपियों के अधिक समकक्ष पाये गये हैं, जो यह सुझाव देते है कि मानव कपियों से पृथक होने के पश्चात् अफ्रीका की अपेक्षा इनका प्रसार एशिया में त्वरित गति से हुआ (टोडैरो एवं बेनवेनिस्टे 1977)।

प्रोटीन एवं जैव रासायनिक तथ्यों के आधार पर गिब्बन पुरानी दुनिया के बंदरों की अपेक्षा मानव के अधिक करीब है। इसकी अन्य कई शरीर रचनात्मक, जीवाश्मिक, व्यावहारिक तथ्य भी पुष्टि करते है।

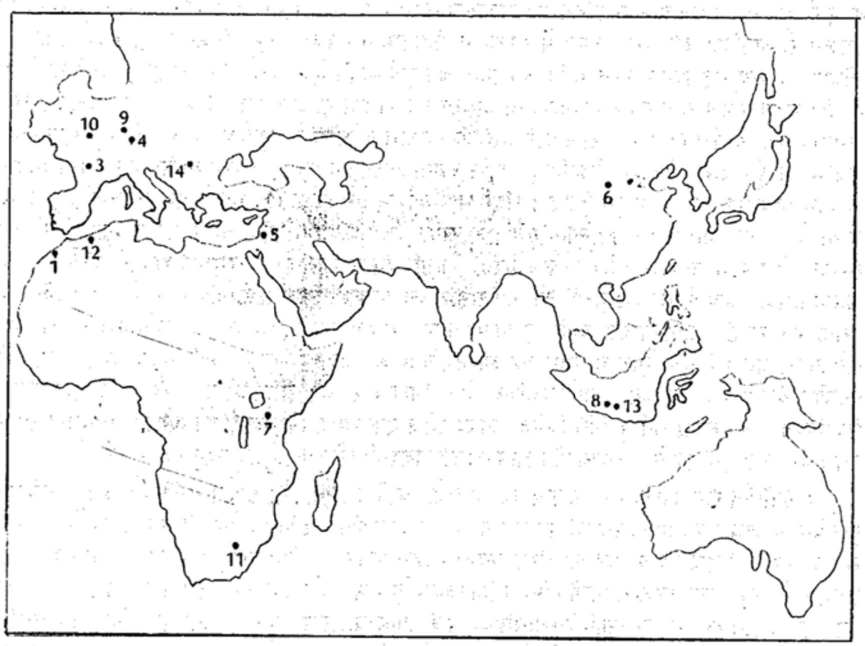
जब आणविक कालमापन की तुलना में जीवाश्म वैज्ञानिक साक्ष्य मानवोत्पत्ति को अधिक प्राचीन होने का मत प्रदर्शित करते है तो यह मत आणविक व्यवस्थाओं से भिन्न प्रतीत होता है। लेकिन द्विपदगमन के पूर्ण साक्ष्य न प्राप्त होने से सैरिच यह आंकलन करते है कि 10 से 30 लाख वर्ष के अन्तराल में एक पूर्वज स्वरूप से अफ्रीकी कपि की तुलना में मानव में द्विपदगमन व्यवहार पूर्ण विकसित हो गया होगा। कठोर जीवाश्म साक्ष्य यह इंगित करते है कि 50 लाख वर्ष पूर्व मानव एवं उच्च कपि एक ही पूर्वज रेखा से पृथक हुए है। इससे मानव उदविकास की आणविक अवधारणा का समर्थन जीवाश्म साक्ष्यों के द्वारा होता है। वैशवर्न (1971) एवं लेविस (1973) पराकपालीय तथ्यों– व्यवहार आदि के आधार पर आणविक कालमापन को वैध मानते है। कुछ जीवाश्म वैज्ञानिक, शरीर रचना वैज्ञानिक एवं जैव रसायनविद कपि तथा मानव का विभेदन मायोसीन युग में मानते है। इस संदर्भ में जोहांसन एवं ह्वाइट (1979) ने एक महत्वपूर्ण मत प्रस्तुत किया है। इसके आधार पर 50 लाख एवं 150 लाख वर्ष पूर्व के मध्य अन्तराल की घटनाओं को अधिक सरलता से समझा जा सकता है। इनके अनुसार 'रामापिथेकस' जीवाश्म के सम्पूर्ण अवशेष प्राप्त न होने के कारण इसकी सम्पूर्ण विशिष्टताओं को नहीं समझा जा सकता। फिर भी रामापिथेकस के मानवसम लक्षण उसके समकालीन हामिन्वायड वंशों (ड्रायोपिथेकस, सिवापिथेकस एवं जाइगैंटोपिथेकस) के लक्षणों की अपेक्षा विकसित है तथा साथ ही साथ यह आस्ट्रेलोपिथेकस अफारेंसिस के आदिम स्वरूप (लक्षण) को भी प्रदर्शित करता है। इस प्रकार के लाक्षणिक मेल मिलाप से यह इंगित होता है कि कपि एवं मानव का विलम्बित (50 लाख वर्ष पुरानी) विभेदन अवश्यमेव एक सम्भावना रखता है। अन्तिम समाधान 50 लाख एवं 150 लाख वर्ष पूर्व के मध्यकालीन हामिन्वायड अवशेषों की खोज से ही सम्भव हो सकता है।

इसी प्रकार आणविक कालमापक अथवा घड़ी (Molecular Clock) जो अल ब्यूमिन एवं ट्रांसफेरिन जैव रासायनिक साक्ष्यों पर आधारित है वह एन्थ्रोपॉयडिया एवं प्रासीमियन को अपने पूर्वज रेखा से 7 करोड़ वर्ष पूर्व पृथक होने को इंगित करती है।इस प्रकार का विभेदन पुनः 3 करोड़ 50 लाख वर्ष पूर्व हुआ, जब एक पूर्वज रेखा से प्राचीन एवं नवीन विश्व के बानर विलग हो गये। लगभग 2 करोड़ वर्ष पश्चात् एक पूर्वज रेखा से सरकोपिथेक्वॉयडिया एवं हामिन्वाइडिया पुनः पृथक हो गये।आकारिकी एवं जीवाश्मिक साक्ष्यों के आधार पर भी जो परिणाम प्राप्त किये गये है, वे भी आणविक कालमापन के संकतों के समान हैं। (हर्सकोविट्ज, 1970, हाफस्टेटर 1970, 1972, केन्रा 1969)।

मतभेदों का तृतीय बिन्दु मेधावी मानव (होमोसैपियंस) के उदविकास से सम्बनधित है। कुछ विद्वान होमोइरेक्टस को मेधावी मानव का पूर्वज मानते है जब कि कुछ अन्य पुरामानव वैज्ञानिक एवं जीवाश्मशास्त्री होमोइरेक्टस का उदविकास स्वतन्त्र रूप से मानते है। ऐसी अवस्था में नियन्डरथल मानव का स्थान भी विवादस्पद हो जाता है। जैसा कि गत अध्याय में मानव उदविकास को तीन चरणों के माध्यम से समझाया जा सका था क्योंकि नियन्डरथल मानव को अब सर्वसम्मति से होमोसैपियंस स्तर का माना जाने लगा है। वास्तव में विवादों से बचने का मार्ग जी० जी० सिम्पसन (1963) ने प्रशस्त किया। उन्होंने मानव उदविकासीय साक्ष्यों के अध्ययन के उद्देश्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। उनके शब्दों में–

"Classification is not intended to be an adequate expression of phylogeny but only to be consistent with conclusions as to evolutionary affinities."

अर्थात् "वर्गीकरण का अभिप्राय जैव उदविकास के इतिहास की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है लेकिन यह केवल उदविकासीय सम्बन्धों के परिणामों का समरूप है।" अतः हमें मतभेदों में अत्यधिक उलझना नहीं चाहिए, क्योंकि मानव उदविकासीय अध्ययनों का अन्तिम लक्ष्य हामिनिडों के मध्य उदविकासीय सम्बन्धों एवं अनुकूलन प्रतिरूपों को समझना है। मतभेदों को कम करने के लिए कई अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय गोष्ठियाँ



चित्र 12 : 120 एक लाख वर्ष पुराने जीवाश्मों के उत्खनन स्थल

1. कैसाब्लैंका (Casablanca)
2. चु-कोन्ती (Chou-kao-tien)
3. फांटेशिवाड (Fontechevade)
4. हाइडलवर्ग (Heidelberg)
5. इज़राइल (Issrel)
6. लैंटियन (Lantian)
7. ओल्डवाई गार्ज (Oldvai Gorge)
8. सैजीनरन (Sangiran)
9. स्टीहाइम (Steinheim)
10. स्वैंज काम्ब (Swanscombe)
11. स्वैर्टक्रांस (Swartkrans)
12. टर्नीफाइन (Ternifine)
13. ट्रिनिल (Trinil)
14. बर्टेसजॉलास (Verteszolos)

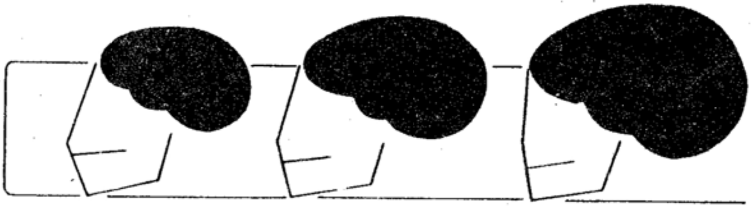
आयोजित की जाती रही हैं। उदविकासीय सम्बन्धों के आशय के महत्व को समझते हुए 1980 में रॉयल सोसाइटी एवं ब्रिटिश अकादमी के तत्वाधान में तृतीय संयुक्त बैठक आयोजित की गयी। जिसमें मानव उदविकास एवं उत्पत्ति विषय पर अनेकों विद्वानों ने विचार विमर्श किया। इसमें **मानवीकरण प्रक्रिया** (Hominisation Process) के क्षेत्र में हुई प्रगति के चिन्तन पर बल दिया गया जिससे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य ने अपना वर्तमान स्वरूप एवं स्तर कैसे प्राप्त किया है। इसमें मानवीकरण प्रक्रिया में आयी सम्भावित कठिनाइयों के ऊपर विशेष बल दिया गया।

मानवीकरण प्रक्रिया में तीन घटक अति महत्वपूर्ण रहे है : द्विपदगमन, उपकरण निर्माण एवं भाषा। उपकरण निर्माण एवं भाषा आस्ट्रेलोपिथेसीन के विशेषकर दो अंगों हाथ की परिग्राही क्षमता (विशेषकर अंगूठा) एवं मस्तिष्क के परिवर्धन के प्रतिफल है। मस्तिष्कीय रचना उत्तोत्तर जटिल एवं परिवर्धित हुई है। लेकिन मस्तिष्कीय रचना के उत्तरोत्तर वृद्धि करने से क्या उपकरण निर्माण की क्षमता एवं भाषा का उदविकास हुआ। इस सन्दर्भ में दो मत प्रचलित है है। कई जैविक मानव वैज्ञानिक मस्तिष्कीय आकार वृद्धि को उपकरण निर्माण एवं भाषा के विकास का आधार मानते है जब कि कई विद्वान इसके विपरीत अपने मत प्रस्तुत करते हैं। व्यूटनर जानुश के अनुसार कपालीय रचना का विस्तार इसकी धारिता से मापा जाता है... "जबकि इसके बात का कोई भी प्रमाण नहीं है कि इस तरह की 'उच्चतर' क्रियाओं जैसे उपकरण निर्माण अथवा संस्कृति के लिए कपालिक आयतन आवश्यक रूप से अधिक होना चाहिए।" लेकिन यह निसंदेह सत्य है कि मानवीकरण दिशा में कपालीय धारिता उत्तरोत्तर बढ़ी है :

जीवाश्म	अधिकतम—न्यूनतम (जीवनकाल) हजार वर्षों में	कपाल ऊँचाई	मस्तिष्क आकार का परिक्षेत्र (घन सेमी०)
होमो सैपियस सैपियंस	50—0	91.0	900—2,100
होमो सैपियंस नियन्डरथलेंसिस	150—40	77.7	1200—1500
होमो इरेक्टस	100—500	69.4	700—1200
आस्ट्रेलोपिथेसीन	2,000—600	—	300—600

हामिनिड प्रक्रिया में जो अन्य आकारिकी परिवर्तन हुए है जैसे भ्रूकटक, नेत्रगुहा, नासिकास्थि, अलव्योलर प्रवर्ध, उपरीजबड़ा, दन्तचाप, दन्तरचना, अधोहनु, श्रोणिमेखला उपांग अस्थियाँ सम्बन्धी आकारीय परिवर्तन इनका वर्णन विगत अध्याय में किया जा चुका है।इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन भ्रूकटक तथा आनन मण्डल का उत्तरोत्तर अपघटन है। होमोसैपियंस के उदविकास के दौरान जबड़े की रेखा उत्तरोत्तर पीछे की ओर खिसक गयी है तथा सिम्फीसियल के झुकाव का कोण उत्तरोत्तर परिवर्धित होता चला गया है। (कोइंग्सवाल्ड, 1962)

इस प्रकार मानवीकरण की जटिल प्रक्रिया में दो प्रकार के लक्षणों का उदविकास होता है **एक** तो वे लक्षण जो पूर्णतया आकारिकीय है, शारीरिक है तथा **दूसरे** वे लक्षण है जो परा कपालीय है व्यावहारिक अथवा सांस्कृतिक है। इस प्रक्रिया को सरलता पूर्वक तभी समझा जा सकता है जब हम 'होमो' वंश की सरल परिभाषा दे सकें। होमो वंश का उदविकास अथवा मानवीकरण प्रक्रिया को रामापिथेसीन से लेकर होमोसैपियंस सैपियंस तक के आकारिक एवं सांस्कृतिक लक्षणों के परिवर्तनों या विशिष्टताओं के आधार पर समझा जा सकता है। व्यूटनर जानुश इस काल के मध्य आये कपाल धारिता के परिवर्धन को 'होमो वंश' की विशेषता



चित्र 12 : 121 विभिन्न उद्विकासीय स्तरों पर मानव के सापेक्ष मस्तिष्क का आकार

में सम्मिलित नहीं करते जब कि लि ग्रॉ क्लार्कइस लक्षण को प्रमुख मानते हैं। कई विशेषज्ञों ने होमो वंश में दो उदविकासीय प्रवृत्तियों के ऊपर बल दिया है : मस्तिष्क का विकास एवं मुखमण्डल एवं रदनक दांत के आकार में कमी। वैसे इस वंश की पहचान पर सभी विद्वान एकमत नहीं है। व्यूटनर–जॉनुश (1969) 'होमो वंश' को विशेषताओं के आधार पर कुछ इस प्रकार की मान्यता दी है जो ली ग्रास क्लार्कके द्वारा दी गयी विशेषताओं पर आधारित है।

"श्रोणिमेखला तथा टांगों की संरचनाएँ सामान्य ऊर्ध्व–संस्थिति एवं द्विपाद प्रचलन के लिए अनुकूलित है।अग्रपाद पश्चपादों की अपेक्षा छोटे है। हाथ में एक सुविकसित अंगुष्ठ है जो पूर्णरूपेण अभिमुखचारी है। हाथ, शक्ति एवं सूक्ष्मतम पकड़ के योग्य है। उपकरण निर्माण क्षमता पर्याप्त रूप से इतनी विकसित है कि उपकरणों की निर्माण योजना, एक व्यक्ति से दूसरे में, तथा एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी में संकेतात्मकता के रूप में प्रसारित की जा सकती है।"

उक्त परिभाषा के आधार पर आस्ट्रेलोपिथेकस को होमो वंश के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है जिसे इसके पूर्व ली ग्रास क्लार्क(1964) ने सूचीबद्ध गुणों के आधार पर आस्ट्रेलोपिथेकस को होमो वंश की एक जाति के रूप में प्रस्तावित किया था।

वास्तव में मानवीकरण प्लाइस्टोसीन युग में हुआ है।यह गत 40 लाख वर्षों में बहुत तेजी से हुआ है। घटित यह दैहिक (Somatic) एवं दैहिकेतर (Extra Somatic) वंशागति से उत्तरोत्तर अग्रसर हुआ। गत 20 लाख वर्षों के पश्चात् दैहिकेतर विकास की गति तीव्रतम देखी गयी है। दैहिकेतर विकास अथवा सांस्कृतिक उदविकास मानवीकरण प्रक्रिया का अपरिहार्य तत्व है। सांस्कृतिक विभाजन के अनुसार आदि पुरापाषाण काल मध्य प्लाइस्टोसीन युग में आता है। मध्य पुरापाषाण काल उत्तर (अन्तिम) प्लाइस्टोसीन काल का लगभग तीन चौथाई भाग तक है तथा शेष एक चौथाई भाग में उत्तर पुरापाषाण कालीन संस्कृति का विकास हुआ है।

दैहिकेतर लक्षणों के प्रमाण आस्ट्रोलोपिथेसीन युगीन भूस्तरों से प्राप्त होने लगे है। चूंकि उपकरण निर्माण सांस्कृतिक ढंग से निश्चित किये गये व्यवहार का परिणाम है। अतः आदि प्लाइस्टोसीन काल के हामिनिडों से सम्बद्ध पुरातात्विक समूह में उपकरणों का विद्यमान होना इसका प्रमाण है। सांकेतिक संचार, शिक्षा और सांस्कृतिक परम्परा उन प्राणियों के द्वारा अर्जित की जा चुकी थी जिनकी जीवाश्म अस्थियाँ प्राप्त की गयी है। पाषाण उपकरणों की विद्यमानता आज एक सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है तथा अस्थि के ऊपर बने उपकरणों की यदि स्पष्ट व्याख्या की जाय तो यह एक महत्वपूर्ण भूगर्भीय प्रमाण है। (व्यूटनर जानुश 1969)

यंग(1971) ने उपकरण प्रकार के आधार पर आस्ट्रेलोपिथेकस की संस्कृति निम्न पुरापाषाण कालीन माना है जिस समय का हामिनिड चापर्स, स्क्रेपर्स आदि पाषाण उपकरणों के प्रयोग से आखेट करके जीवनयापन

करता होगा। ओल्डुवाय गार्ज से प्राप्त उपकरणों से यह ज्ञात होता है कि चापर उपकरणों का परिष्कार शनैः-शनैः हुआ उसके दोनों किनारों के फलकीकरण (Flaking) सम्पूर्ण उपकरण की सतह पर भी किये जाने से हस्त कुल्हाड़ियों (Handaxes) का जन्म हुआ। तदोपरान्त फलकीकरण की प्रविधियाँ भी विकसित होने लगी और हस्तकुल्हाडी की संस्कृति समृद्ध होती गयी।

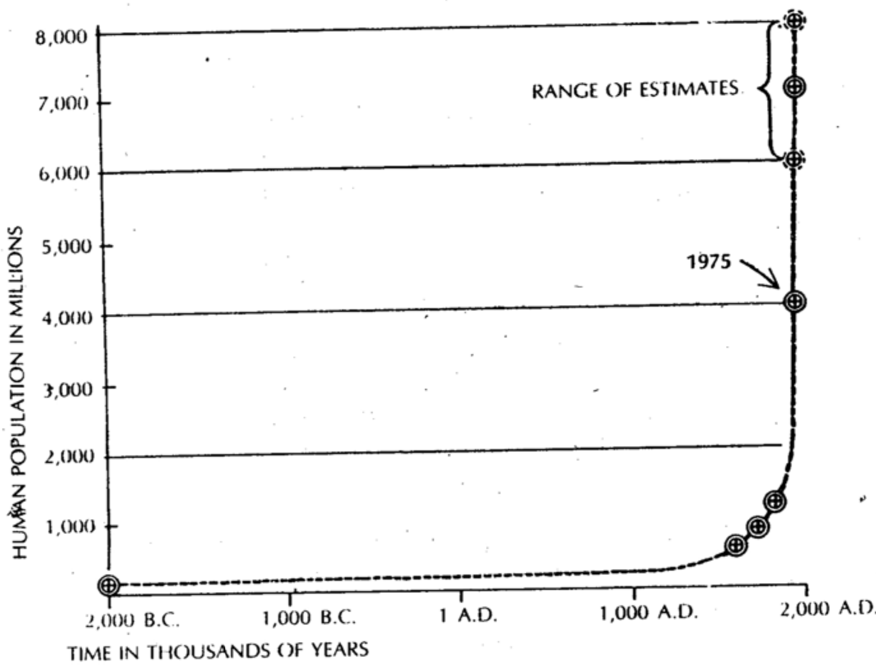
होमोइरेक्टस वंश की संस्कृति इनके अग्रगामियों से अति विकसित थी। कुछ विद्वान इस वंश को 'होमो सैपियंस' के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं (लि ग्रॉस क्लार्क 1964, ब्यूटनर-जानुश 1969)। ये पुरानी दुनिया के अधिकांश भागों में फैले थे।इनकी संस्कृति निम्न पुरापाषाणकालीन है। इस काल के उपकरण चीन के 'होमो पेकीनेंसिस' जीवाश्म के साथ क्लैक्टोनियन प्रकार के पाषाण उपकरण जैसे- अपरिष्कृत चापर, प्वांइट एवं स्क्रेपर आदि प्राप्त हुए हैं। कैसा ब्लैंका से प्राप्त अवशेष जो होमोइरेक्टस में सम्मिलित किया जाता है, उससे सम्बद्ध द्वितलीय हस्तकुल्हाड़ी प्राप्त हुई है जो यूरोप की समकालीन संस्कृति एश्यूलिसान के समकक्ष है यूरोपी की प्रारम्भिक सांस्कृतिक अश्यूलियन (शैलियन) से सम्बन्धित उपकरण यह इंगित करते है कि 'कु-द पुवां' (Coup-de-poing) सांस्कृतिक का विकास तीव्र गति से हुआ जिससे अनेकों फलकीकरण प्रविधियाँ कालान्तर में विकसित हुई। इस प्रकार होमोइरेक्टस अपने उपकरणों, बुद्धिमानी एवं सामाजिक संगठनों के आधार पर बड़े-बड़े जन्तुओं जैसे- हाथी, गैंडा, भैंस, सुवर, घोड़े, हिरन, बैबून एवं बन्दरों का आखेट करने में पूर्ण सक्षम था। हंगरी एवं चीन से अनेकों अग्नि की भट्टियों एवं जली हुई अस्थियों के साक्ष्य यह बताते हैं कि वह आग का प्रयोग करता था इसने भोजन पकाना आरम्भ कर दिया था तथा गुफा के मुहानों को आवास स्थल बना चुका था। अतः इस प्रकार के जटिल सांस्कृतिक मानव प्रक्रियायें यह स्पष्ट करती है कि होमोइरेक्टस अपनी संचार प्रणाली का विकास तीव्र गति से कर रहा था तथा अमूर्त संवेदनाओं को क्रियान्वित करने की क्षमता रखता था जो मानवीकरण की दिशा में एक मील का पत्थर साबित हुआ है।

इसको कई विद्वान वर्तमान मानव का प्रत्यक्ष पूर्वज मानते हैं जिसकी चर्चा गत अध्याय में की जा चुकी है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि होमो इरेक्टस का प्रसार विश्व के अधिकांश भाग में हुआ, जिससे विभिन्न वातावरण के अनुकूलन से इस जाति में कतिपय आकारिक विशेषतायें उदविकसित हुई। कुछ विद्वान ऐसा विश्वास करते है कि अफ्रीकी होमोइरेक्टस के किसी प्रकार से ही होमोसैपियंस नियन्डरथलेंसिस का विकास हुआ। नियन्डरथल मानव का एक समूह (पुरातन नियन्डरथल) यूरोप की अत्यधिक शीतकालीन जलवायु के अनुकूलन से अन्य नियन्डरथलों से पृथक हो गये जिनका कालान्तर में सम्भवतः मेधावी मानव में ही विलीनीकरण हो गया।इसका दूसरा समूह (प्रगतिशील नियन्डरथल) मेधावी मानव में उदविकसित हुए हैं। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि मेधावी मानवों (होमोसैपियंस सैपियंस) के जीवाश्म चूंकि यूरोप के अतिरिक्त पुरानी दुनिया के अन्य महाद्वीपों से भी प्राप्त हुए है, जो यह संकेत करते है कि मेधावी मानव का उदविकास यूरोप के अतिरिक्त अन्य भागों में भी हुआ है। सांस्कृतिक साक्ष्य यह स्पष्ट करते है कि इन होमो नियन्डरथल समूहों एवं प्राक-होमोसैपियंस में आदान-प्रदान की प्रणाली विकसित थी इनमें अपनी भाषा, सामाजिक रीति रिवाज तथा विचार करने की शक्ति विद्यमान थी जो इनके आधुनिक मानव कोटि के सुविकसित मस्तिष्क से इंगित होता है। नियन्डरथल मानव के दफनाये जाने का साक्ष्य 50 हजार वर्ष पूर्व के मानव संस्कारों को इंगित करते है।

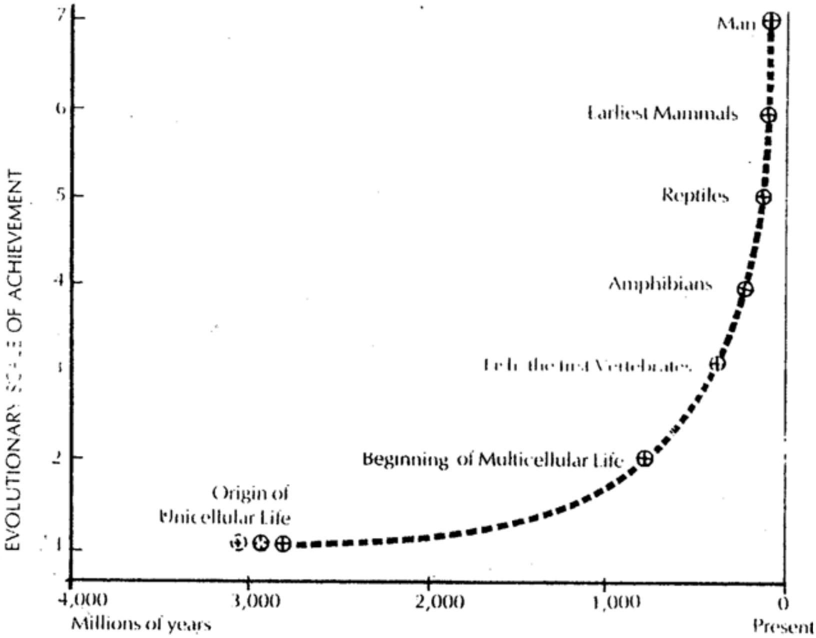
इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान स्टाइनहाइम आदि प्राक नियन्डरथलों को, जिसे कुछ विद्वान प्राक--सैपियंस भी कहते है, ही नियन्डरथलों एवं मेधावी मानव का जन्मदाता मानते है। कई विद्वान मेधावी मानव के प्रत्यक्ष पूर्वज माउन्टकार्मेल को मानते है।वाइनर (1958) जीवाश्म अवशेषों की विवेचना में वर्गीकरण के नियमों के पालन करने पर बल दिया है। उनके अनुसार होमो के सदस्यों में एक ही समय में तीन दिशाओं में प्रवृत्तिया विकसित हुई, एक समूह नियन्डरथल की दिशा में, दूसरा होमो सैपियंस की ओर तथा तीसरा अन्तरमध्यीय विशेषताओं की दिशा में अग्रसरित हुआ। ये विभिन्न दिशा की ओर जाने वाले

जीवाश्म मानव ही कालान्तर में मेधावी मानव में सुविकसित होकर के सम्पूर्ण पुरानी दुनिया में फैल गये। वाइनर के इस मत को "वर्णानुक्रम सिद्धान्त" (Spectrum Theory) के नाम से पुकारा जाता है।

इस प्रकार वाइनर के इस मौलिक मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही समय में विभिन्न भागों में छोटे–बड़े समूह अपनी थोड़ी बहुत स्थानीय विशेषताओं सहित जीवित रहें, लेकिन उनका उदविकास एक दूसरे से पृथक नहीं हुआ क्योंकि सांस्कृतिक साक्ष्य (मध्य तथा उत्तरी पुरापाषाण कालीन) इन समूहों के मध्य आदान प्रदान की विकसित प्रणाली को इंगित करते है। यह आदान–प्रदान मात्र यूरोपीय भूभाग में ही नहीं बल्कि पश्चिमी एवं मध्य एशियायी समूहों के अन्तर्गत भी था। क्योंकि प्राप्त सांस्कृतिक उपकरण यह स्पष्ट करते हैं। यह समानता जीनी आदान प्रदान का भी संकेत करते हैं। लेकिन सम्भवतः पश्चिमी यूरोपीय समूह शीत की भीषणता के कारण कुछ समय तक अवश्य पृथक रहे होंगे तथा इन्हें जीनी व सांस्कृतिक विनिमय का अवसर न प्राप्त हुआ होगा, तथापि उनके सांस्कृतिक उपकरणों से यह विदित होता है कि वे भी उस काल की होमोसैपियंस की मूल धारा (Main Stream) से विलग न थे। यूरोप के पूर्वी भाग में अधिक उपयुक्त वातावरण था। फलस्वरूप इनका सांस्कृतिक विकास एवं प्रसार तीव्रतम गति से हुआ। इससे पश्चिमी समूहों का पूर्वी समूहों से सम्पर्क पुनः स्थापित हुआ। कालान्तर में पश्चिमी समूह पूर्वी समूह में ही विलीन हो गया क्योंकि वे अपने प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में न्यूनतम संख्या में थे।



चित्र 12 : 122 गत 4,000 वर्षों में हुई मानव संख्या में वृद्धि (अनुमानित)



चित्र 12 : 123 उद्‌विकास की गति

इस प्रकार यहाँ पर अब यह स्पष्ट है कि उदविकास एक निश्चित गति से नहीं होता है।कोई एक सुनिश्चित धारा नहीं है और न ही कोई निश्चित दिशा। अपितु यह विभिन्न गतियों से अग्रसर होता है। इसमें विभिन्न धारायें मिलती और निकलती है जो अन्ततः मुख्य धारा में विलीन होती है। सम्भवतः इसी कारण लगभग आधी शताब्दी पूर्व सिम्पसन (1950) ने उदविकास प्रक्रिया को न तो पूर्णतया सुव्यवस्थित माना है और न ही पूर्णतया अव्यवस्थित; वरन इसे जीवन का वह इतिहास माना है जो निर्देशित, यादृच्छिक (Random) क्रमबद्ध एवं अक्रमबद्ध का एक विषम समिश्रण है। अतः यह निस्संदेह सत्य है कि मेधावी मानव का उदविकास पूर्णतया अवसरवादी है जिसे दैहिक एवं दैहिकेतर उदविकासीय प्रवित्तियों के आधार पर सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है।

***

भाग – 3

13

मानव आनुवंशिकी : परिभाषा एवं विषयवस्तु

विभेदों के स्रोत

जीवोत्पत्ति से लेकर आज तक उद्विकासीय इतिहास में विभेदों का स्थान अपरिहार्य है। ये उद्विकास के वास्तविक अस्तित्व का बोध कराते हैं। ये प्रायः दो प्रकार के होते हैं– सूक्ष्म एवं स्थूल। एक पीढ़ी से दूसरी पीढी में उत्पन्न होने वाले विभेदों को सूक्ष्म विभेद कहते हैं।इनके अध्ययन की इकाई जीन अथवा विकल्पी होती है जबकि स्थूल विभेद, वास्तव में सूक्ष्म विभेदों का ही संकुल है। ये उद्विकास की दिशा को सुनिश्चित करते हैं। इन विभेदों के स्रोत उद्विकासीय बल हैं, जिनका उल्लेख अध्याय–दो में किया जा चुका है। यहाँ पर स्मरणीय बात यह है कि ये विभेद (सूक्ष्म एवं स्थूल) जो उद्विकासीय बलों की अन्तक्रियाओं के परिणाम है उनकी क्रियाविधि आनुवांशिक होती है। इनके अध्ययन का मौलिक स्तर 'जीन' होता है। ये जीन ही संशोधित सूचनायें एक पीढी से दूसरी पीढी में हस्तान्तरित करते है जिनके माध्यम से विभेद उत्पन्न होते हैं।

विभेदों की जानकारी के प्रमुख स्रोत जीन एवं गुणसूत्र होते है। युग्मक जनन (Gamete formation) के समय कई घटनायें ऐसी सम्पन्न होती है। जैसे– अवियोजन (Crossing over), पुनसंयोजन (recombination) आदि। जिनके फलस्वरूप माता–पिता के एकरूप या समान (Identical) युग्म कतिपय जीनी परिवर्तन ले आते है। जब दो भिन्न माता–पिता के युग्म परस्पर संयोजित अथवा निषेचित होते है तो उनके गुणसूत्रों (Chromosomes) के संयोजन की शैली पूर्णतया यादृच्छिक (Random) होती है जिससे उत्पन्न सन्ततियाँ बिल्कुल मां अथवा पिता के समान नहीं होती यद्यपि वे माता–पिता की जीनी सम्पदा (endowment) को संजोये होती हैं।

यह जीनी संरचना उत्परिवर्तन का भी शिकार होती है जो अविरल गति से घटित होने वाली एक प्रक्रिया है। ये उत्परिवर्तन जीनी एवं गुणसूत्री होते हैं जो स्वतः एवं प्रेरक अभिकर्ताओं के प्रभावों से उत्पन्न होते हैं। इन उत्परिवर्तनों में लगभग 99 प्रतिशत स्वतःजात होते हैं। (रिचर्डसन एवं स्टबस, 1976)। अधिकांश स्वतःजात उत्परिवर्तन प्रत्येक पीढी में पुनरावर्ती होते हैं जो जीन कुण्ड (Gene pool) में या तो स्वीकार किये जाते हैं या अस्वीकार कर दिये जाते है। जीन कुण्ड में स्वीकार या अस्वीकार करने की यह प्रकृति सम्भवतः इस बात पर आधारित होती है कि क्या यह उत्परिवर्तन किसी दिये गये समय पर लाभकारी सिद्ध होगा अथवा नहीं ? उत्परिवर्तन के इस प्रकार के आग्रही अवतरण से विशेष जीव समूह अपने जीन कुण्ड की विविधता में सहसा अभिवृद्धि होती है, जिसके माध्यम से विकसित पर्यावरण के अनुकूलन हेतु कोई जीव समूह एक नवीन स्वैच्छिक आनुवंशिक योग्यता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार एक विशेष जीव समूह नवीन पर्यावरण का अनुकूलन सरलतापूर्वक करने में सक्षम हो जाता है तथा उत्परिवर्तन एक विशेष जीवसमूह के उदविकास में लाभकारी सिद्ध होता है।

जब अर्धसूत्री कोशिका विभाजन के दौरान जीनों अथवा समस्त क्रोमोसोमों (गुणसूत्रों) का मिश्रण अनेकों प्रकार के जीन प्ररूपों (Genotypes) में होता है तब पुनसंयोजन की उत्परिवर्तन से प्रतिद्वन्दता होती है।इससे ये दोनों विभेद संसाधन के रूप में साथ–साथ हुआ करते हैं। जहाँ उत्परिवर्तन जीनों के अस्तित्व में परिवर्तन उत्पन्न करता है वहीं - वहीं पर पुनर्संयोजन जीनों के अस्तित्व का पुनर्गठन करता है।

इसके अतिरिक्त पुनर्संयोजन प्राकृतिक चुनावी अभिकर्ता (Natural Selective Agent) एवं संकरण के रूप में विभेद उत्पन्न कर सकता है। इससे संकरण विभेदन की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि वह मानव की विभिन्न संस्कृतियों में भी प्रासांगिक है। एक प्रसिद्ध उदविकासविद् स्टेबिन्स ने इसे भिन्न–भिन्न अनुकूलनशील जीन समूहों को रखने वाली जन संख्याओं के मध्य अन्तर–वरण की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है। क्रम विकासीय तथ्य यह स्पष्ट करते हैं कि इस क्रियाविधि के परिणामस्वरूप आनुवंशिक अस्तित्व की अनुकूलन क्षमता में नवीन (पुनः) वृद्धि होती है जिससे संकर वर्ण (Hybrid) अपने उत्तरजीवी अस्तित्व की क्षमता विकसित करने में सक्षम होता है। (रिचर्डस एवं स्टबस, 1976)।

जब ऐसे जीन जो किसी जनसमूह एवं पर्यावरण के मध्य अनुकूली क्षमता के उच्चतम स्तर को प्रदर्शित करते है तो उनमें से प्रकृति के सर्वाधिक अनुकूल जीन प्ररूप बार–बार उत्पन्न होते है। इस क्रियाविधि के सतत रहने से कालान्तर में सूक्ष्म विभेदों के समूह उत्पन्न होते है, जो अन्ततः बृहद या स्थूल विभेदों का कारण बनते हैं। इसीप्रकार जीनी अपसरण (Genetic irift) एवं अन्तःप्रजनन (Inbreeding) की क्रिया भी सूक्ष्म विभेदों को प्रोत्साहित करती है।

आनुवंशिक एवं आकारीय विभेद

सूक्ष्म विभेद जो वृहद विभेदों की मौलिक इकाई माने जाते हैं, दो प्रकार के है।एक तो वे बिभेद हैं जिनकी जीन बारम्बारता (Gene frequencies) ज्ञात की जा सकती है तथा उनके लिए एक जीन उत्तरदायी होता है, उन्हें आनुवंशिक विभेद कहते हैं। इसके विपरीत दूसरे वे विभेद हैं, जिनकी जीन बारम्बारता ज्ञात नहीं की जा सकती है एवं उनके उत्तरदायी अनेक जीन होते है, इन्हें आकारिक विभेद (Morphological variation) कहते हैं।

इस प्रकार विभेदन जिन प्रक्रियाओं या क्रियाविधियों से उत्पन्न होता है वे मूलतः आनुवंशिक होती है। ये आनुवंशिक क्रियाविधियाँ ही उदविकास का मुख्य स्रोत है आनुवशिक क्रियाविधियों के अध्ययन के विज्ञान को मानव आनुवंशिकी या जैनेटिक्स (Genetics) के नाम से पुकारा जाता है। आनुवंशिकी की क्रियाविधियों को समझने के लिए आनुवंशिकी के बहुआयामी पहलुओं को समझना आवश्यक होगा। इसके आयाम तभी सरलता से समझे जा सकता है जब इसका सारगर्भित अर्थ समझ ले। अतः आनुवंशिकता की क्रियाविधि का वर्णन करने के पहले हम अब आनुवंशिकी का सरल अर्थ एवं विषय–क्षेत्र समझने का प्रयास करेंगे।

मानव आनुवंशिकी : अवधारणा

मानव आनुवंशिकी के अर्थ एवं विषय–क्षेत्र का वर्णन करने के पहले आनुवंशिकी को समझ लेना आवश्यक है। आनुवंशिकी जो आंग्ल भाषा में 'जेनेटिक्स' के नाम से जाना जाता है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग बेटसन (1906) ने किया था। यह शब्द् वास्तव में ग्रीक भाषा के 'जीन' (gen) से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'to become' या बनना तथा 'to grow into' अर्थात् 'विकसित होना' या 'अवतरित होना'। अतः आनुवंशिकी 'पूर्वस्थिति के समान विकसित' पदार्थ या जीव के ज्ञान से सम्बन्धित विज्ञान है।इसमें मात्र वंशागत कारकों का ही अध्ययन नहीं होता है वरन् उन विधियों का भी अध्ययन होता है जिसका अनुसरण करते हुए कोई लक्षण एक पीढी से दूसरी पीढी में हस्तान्तरित होता है तता इसमें उन वंशागत ईकाइयों का भी अध्ययन होता है जो किसी लक्षण को पीढी दर पीढी हस्तान्तरित करने हेतु नियन्त्रित करती है।

कर्टस्टर्न ने इसे अन्य शब्दों में परिभाषित किया है। इनके अनुसार वंशानुक्रमण के विज्ञान को आनुवंशिकी कहते हैं। चूंकि इसकी उत्पत्ति ग्रीक भाषा के मूल शब्द 'जिन' से हुई है जिसका अर्थ है "किसी

में विकसित होना जिससे यह प्रदर्शित होता है कि आनुवंशिकी न केवल वंशागत कारकों के पारगमन का अध्ययन करता है वरन् उन विधियों का भी अध्ययन करता है जिनमें वे अपने को किसी व्यक्ति के विकास तथा जीवनकाल में प्रकट करते हैं।"

"The science of inheritance is called genetics, a term derived from the greek root 'gen', which means to become or to grow into something. It signifies that genetics deals out only with the transmission of hereditary factors but also with the ways in which they express themselves during the development and life of the individuals."

उक्त परिभाषा में 'वंशागत कारकों के पारगमन' एवं इनकी 'विधियों' पर बल दिया गया। डाब्जाँस्की (Dobzhansky) ने आनुवंशिकी को उस परिभाषा से थोडा हटकर परिभाषित किया है वे परिभाषित करते हुए कहते हैं कि, "इसका कार्य उस क्रियाविधि को वर्णन करना है जो सन्ततियों को अपने जनको के समान बनाता है, जो एक ही और भिन्न स्पीसीज के व्यक्तियों को कुछ सन्दर्भों में एक–दूसरे के समानता तथा असमानता प्रदर्शित करता है और कुछ जीवों में उदविकासीय प्रक्रिया के दौरान समयानुसार परिवर्तन का कारण होता है।"

इस परिभाषा में डाब्जॉस्की ने आनुवंशिक क्रियाविधि पर बल दिया है जिसके माध्यम से सन्तति जनक के समान एवं अन्य व्यक्तियों से भिन्न रूप में विकसित होता है तथा यह क्रियाविधि कालान्तरण में उदविकासीय प्रक्रियाओं के प्रभाव से परिवर्तनों का कारण बनती है। इसी प्रकार जो० बी० हाल्डेन (J.B. Haldane) ने निम्नलिखित परिभाषा दी है–

"आनुवंशिकी जीवविज्ञान की वह शाखा है जो समान जीवों में निहित भिन्नताओं से सम्बन्धित है।"

"Genetics is that branch of Biology which is concerned with innate differnces between similar organisms."

ह्वाइटिंगहिल (Whitting Hill) ने आनुवंशिकी की परिभाषा इस प्रकार दी है। इनके अनुसार– "आनुवंशिकी विज्ञान व्यक्तियों के मध्य दृश्यमान भिन्नताओं का अध्ययन करता है और उनमें पाये गये जीनी या गुणसूत्रीय भिन्नताओं को सम्बन्धित करने की चेष्टा करता है।"

"The Science of genetics studies the phenotypic (Visible) differences between individuals and attempts to relate them to underlying genic or chromosomal differences."

इस प्रकार उक्त समस्त परिभाषाओं में यह स्पष्ट होता है कि आनुवंशिकी विज्ञान की वह शाखा है जिसमें (i) वंशागत तत्वों का अध्ययन होता है, (ii) वंशागत क्रिया विधियों का अध्ययन होता है, (iii) ईकाइयों का अध्ययन होता है जो एक पीढी से दूसरी पीढी में पारगमित होने वाले तत्वों का नियन्त्रण करती है, (iv) नातेदारों के मध्य वंशानुक्रमित भिन्नताओं का उद्विकासीय संदर्भ में अध्ययन होता है, (v) व्यक्तियों में फीनोटिपिक अर्थात् दृश्यमान भिन्नताओं का अध्ययन होता है जो जीनी एवं गुणसूत्रीय भिन्नताओं से अन्तर्सम्बन्धित होते हैं। संक्षेप में "आनुवंशिकी वंशागत क्रियाविधियों एवं उसके सम्बन्धित विषयों का अध्ययन है।"

मानव आनुवंशिकी की सीमायें

आनुवंशिक अध्ययन फल मक्खियों अथवा पौधों के ऊपर करना सरल है। प्रयोगशाला में उन सारी स्थितियों का सृजन किया जा सकता है जिनमें ये जीव भोजन, प्रकाश, ताप एवं अन्य प्राकृतिक परिस्थितियों को प्राप्त करने का बराबर–बराबर अवसर प्राप्त कर सकते है अथवा सभी को बराबर–बराबर मापित दबाव में रखा जा सकता है। एक प्रयोगशाला में एक प्रयोगकर्ता परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार

अपने प्रयोग पर नियन्त्रण रख सकता है। वह अपनी पूर्व योजना अथवा शोध योजना के अनुसार पौधों को 'स्व' अथवा 'पर' परागण करवा सकता है। वह अपनी शोध योजना के अनुसार नर एवं मादा में आनुपातिक पर परागण करा सकता है। उसकी शोध तकनीक त्रुटिपूर्ण अपने प्रयोग की पुनरावृत्ति एवं पुनःपरीक्षण कई बार कर सकता है। अन्य विद्वान भी उसके प्रयोगों की परीक्षण कर सकते हैं क्योंकि आनुवंशिकी में अन्य प्राकृतिक विज्ञानों के समान स्वतन्त्र परीक्षण किसी नियन्त्रणात्मक प्रयोग का एक महत्वपूर्ण पहलू है। इस प्रकार जब किसी पूर्व प्रयोग के परिणामों के समान तादात्म्य परिस्थिति में किये गये पुनः प्रयोगों के परिणामों की पुनरावृत्ति हो तो उस आगत 'परिणामों' की विश्वसनीयता में वृद्धि होती है।

इस प्रकार प्रयोगशाला में होने वाले प्रयोग मानव जनसमूहों में नहीं किये जा सकते है। जब मानव को एक आनुवंशिक अध्ययन की वस्तु के रूप में रखने की कोशिश करते है तो अनेक आपत्तियों एवं कठिनाइयों का सामना करना पडता है। क्योंकि सिद्धान्तरूप से आनुवंशिक प्रयोगकर्ता उन्हीं मानकीकृत जीव समूहों पर प्रयोग करते है जो आनुवंशिक रूप से पूर्णतः अथवा अंशतः समरूप होते है। उसे प्रजनन के द्वारा समान पर्यावरणिक परिस्थितियों में अनेकों सन्तति पीढियों की आवश्यकता होती है। मानव का आनुवंशिक अध्ययन करने में प्रमुखता निम्नलिखित कठिनाइयाँ होती है–

1. मानव जनसमूहों की आनुवंशिक विविधता अत्यधिक होती है जो प्रयोगकर्ता के नियन्त्रण से बाहर है।

2. मानव का जैविक वातावरण अत्यधिक विविधतायुक्त है क्योंकि वह विश्वव्यापी वातावरण का सरलता से अनुकूलन कर सकता है। उसकी संस्कृति एवं समाज अत्यधिक विविधता प्रदर्शित करती है। स्थान–स्थान में इसका स्वरूप रूपान्तरित अथवा पृथक् होता है जो किसी व्यक्ति के पर्यावरण का निर्माण करता है।

3. आनुवंशिकीविद के शोध का प्राथमिक उपकरण विभिन्न जीनी प्रारूपों का नियन्त्रणात्मक एवं प्रयोगात्मक प्रजनन करवाना होता है। मानव में किसी माता–पिता का जनन एक प्रायोगिक योजना के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकता।सामान्यतः आनुवंशिक अध्ययन अनेक श्रृंखलाबद्ध एवं क्रमिक पीढियों के ज्ञान पर आधारित होते हैं। फलस्वरूप आनुवंशिक अध्ययनों का समुचित प्रयोज्य (Subject) वही जीवरूप है जिनमें सन्ततियाँ जनक पीढी को सरलता एवं शीघ्रता से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए पौधे एवं लघुकाय स्तनधारी चूहे इस उद्देश्य को सरलता से पूर्ति करते हैं।

4. मक्खियाँ, फल मक्खियाँ, माल्ड एवं एक कोशिकीय जीवों का वैयक्तिक जीवनकाल छोटा होता है अतः इनका आनुवंशिक अध्ययन भी सरल है। इसके अतिरिक्त फलों अथवा जंगली वृक्षों अथवा घोडों अथवा पशुओं के आनुवंशिक अध्ययन में अधिक धैर्य की आवश्यकता पडती है। मनुष्यों में तो जीवनकाल प्रयोगशाला के जीवों की अपेक्षा अत्यधिक लम्बा होता है। इनमें प्रायः प्रयोगकर्ता एवं प्रयोज्य की आयु समान होती है अतः आगामी पीढ़ियों का क्रमिक ज्ञान सीमित होता है तथा एक ही समय में कई श्रृंखलाबद्ध पीढ़ियों के आंकड़े उपलब्ध नहीं हो सकते।

5. मनुष्य को एक प्रयोगकर्ता किसी निश्चित प्रयोगशाला की सीमा रेखा में अधिक समय तक नहीं रख सकता और न ही अपने शोध योजना की आवश्यकता के अनुरूप उससे प्रजनन करवा सकता है क्योंकि ये दोनों ही व्यावहारिक एवं सामाजिक गतिविधियाँ है।प्रत्येक समाज में जीवन साथी के चुनाव के पृथक–पृथक मान्य तरीके हैं जिनके अनुसार ही उस समाज के सदस्य सन्तोनोत्पत्ति कर सकते है। कौन मनुष्य कब एवं किस स्त्री का लैंगिक वरण करेगा यह पूर्व निश्चित नहीं है।अतः ऐसी स्थिति में प्रयोगकर्ता आनुवंशिक प्रयोगों हेतु यह प्रयास करता है कि उसकी शोध परियोजना इन प्रयोगों के अनुसार ही पूर्व निश्चित हो।

6. अन्ततः अनेको कारक वंशागत लक्षणों के हस्तान्तरण की विधियों को प्रभावित करते है। आज

हम जानते है कि इन लक्षणों के हस्तान्तरण सांख्यकीय नियमों का पालन करते हैं। इसके लिए विशाल संख्या में सन्ततियों की उपलब्धता उपयुक्त होती है। मनुष्यों में यह संख्या प्रायः छोटी होती है। बडी संख्या वाले परिवार भी प्रायः सांख्यकीय गणना में आकार में छोटे प्रतीत होते है।

इस प्रकार मानव जनसंख्याओं के अध्ययन में उक्त बाधाओं एवं कठिनाइयों को समझते हुए मानव आनुवंशिकीविद सावधानीपूर्वक उन्हीं समुदायों व परिवारों का चुनाव करता है जो एक समान पर्यावरण में पलपोष रहे हो तथा आनुवंशिक समानता को प्रदर्शित करते हो अर्थात् समजातीय समूह हो। इससे अनुसंधानकर्ता पर्यावरणिक एवं आनुवंशिक विविधताओं को नियन्त्रण करने की कोशिश करता है। यद्यपि वह मनुष्यों में अपनी शोधयोजना के अनुरूप लैंगिक वरण को व्यवस्थित नहीं कर सकता तथापि वह उन्हीं जनकों के सन्तति आंकडे संग्रहित कर सकता है जो उसकी शोधयोजना के उपयुक्त हो। तीसरे मनुष्य का जीवनकाल प्रयोगशाला के जीवों की अपेक्षा लम्बा होता है तथापि अध्ययनकर्ता विशिष्ट प्रविधियों का प्रयोग करके एक अथवा दो पीढियों की सूचनाएँ एकत्रित कर सकता है जिससे अपेक्षाकृत लम्बा श्रृंखलाबद्ध ज्ञान प्राप्त हो सकता है। चौथे, यद्यपि मानव परिवार संख्यात्मक दृष्टि से छोटे होते है लेकिन कई रक्त सम्बन्धी परिवारों के आंकडों को समायोजित करके सांख्यकीय विश्लेषण के लिए पर्याप्त सामग्री एकत्रित की जा सकती है। चूंकि मानव जनसमूह संख्या में विशाल होते है, इससे लाखों परिवारों के जननात्मक आंकड़े एक आनुवंशिकीविद के लिए पर्याप्त हो सकते है। वह इनमें से सर्वाधिक उपयुक्त आंकड़ों का आवश्यकतानुसार चुनाव.कर सकता है।

इस प्रकार मानव को समझने के लिए आनुवंशिकी विशिष्ट रूप से प्रासंगिक है। इसकी उत्पत्ति उन्नसवीं शताब्दी से पूर्व हुई थीं। परन्तु इस विज्ञान का विकास उन्नसवीं शताब्दी के आरम्भिक काल में हुआ। मानव आनुवंशिकी के क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण शोध किए गये है उन वैज्ञानिकों में से डलबर्ग (Dahlberg), गाल्टन (Galton), पेनरोज (Penrose), फिशर (Fisher), हाल्डेन (Haldane), ली (Li), डाब्जॉस्की (Dobzhansky), स्टर्न (Stern)_ आदि प्रमुख है। लेकिन प्रमुखतया मानव आनुवंशिकीय अध्ययन पशुओं एवं वनस्पतियों पर किये गये अध्ययनों से उद्‌धृत सामान्य आनुवंशिक सिद्धान्तों पर आधारित है। आनुवंशिकी के सामान्य सिद्धान्त मानव संदर्भ में आज भी उतने ही प्रासंगिक है जितने कि वे सरल रचनावाले एककोशिकीय एवं बहुकोशिकीय जीवों के संदर्भ में परिवेक्षित होते है।इन सामान्य आनुवंशिक नियमों को मानवेतर जीवों के सन्दर्भ में सरलतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है लेकिन मानव के संदर्भ में अनेक विघ्न उत्पन्न होते है। अतः पशु–पक्षियों एवं वनस्पतियों के ऊपर किये अध्ययनों से विकसित वंशानुक्रमण सिद्धान्त प्रायः मानव जनसमूह के संदर्भ में सहायक होते हैं।

मानव में वंशागति का ज्ञान हमें मेंडल के मटर के पौधे पर किये गये प्रयोगों के पश्चात् ही हो सका। जब निल्सन–इहले (Nilson–Ehle) तथा ईस्ट (East) ने कार्न बीज पर प्रयोग किया उसके पश्चात् ही शरीर का आकार, स्वरूप, मानव की बुद्धिमतता अंक आदि मानव के गणनात्मक लक्षणों का ज्ञान हो सका। मानव में वर्णान्धता के वंशानुक्रमण की जटिलता तभी जानी जा सकी जब पक्षियों, मथ तथा मक्खियों में लिंग सहलग्न (Sex linked) लक्षणों के पारगमन की प्रतिरूप का अनुसंधान किया गया। अत इससे सिद्ध होता है कि मानवेतर सजीवों पर किये गये प्रयोगों का महत्व मानव आनुवंशिकी में है।

मानव आनुवंशिकी उन आधारभूत सिद्धान्तों एवं उनकी उपयोगिता से सम्बन्धित है जो मानव जाति में निरन्तर एवं सार्वभौमिक है तथा वे परिवारों, वंशावलियों एवं जनसंख्या अध्ययनों से उदधृरित किये गये हैं। इसका सम्बन्ध उन नियमों तथा विधियों से भी है जो वंशानुगत लक्षणों के परिगमन को प्रगट करते हैं, तथा आनुवंशिकता के स्वभाव को प्रगट करते है। इसका सम्बन्ध मानव 'जीन' की प्रक्रिया एवं उसकी अभिव्यक्ति तथा उसको प्रभावित करने वाले पर्यावरण से भी है। यह लिंग भेद, आनुवंशिक स्वरूप एवं वंशानुगत नवीन विभेदों से भी सम्बन्धित है। अतः यह वंशानुक्रम विज्ञान मानव की उन वैयक्तिक, जन्मजात,

शारीरिक अथवा मानसिक तथा सामान्य अथवा असामान्य लक्षणों के वंशागति से है जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों से, मानव स्पीशीज को मानवेत्तर स्पीशीज से पृथक् करता है। स्वभावतः यह वंशानुगत समानताओं एवं असमानताओं से तथा इनकी पीढी दर पीढी हस्तान्तरिता से सम्बन्धित है। संक्षेप में यह एक मौलिक एवं व्यावहारिक विज्ञान की वह शाखा है जो मानव में, वंशानुक्रमण एवं उससे सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करता है। इसको इनसाइक्लोपीडिया विटानिका (Encyclopeadia Britanica) में निम्नांकित शब्दों में परिभाषित किया गया है–

"Human Genetics is especially concerned with the interplay of heredily and environmental factors in determining the physical characters of man, with the effects of heredity on disease, abnormalties and special abilities, and with the biological differentiation of interbreeding group of man, such as races or subgroups seperated by geographic or cultural factors such as language religion or tradition."

अर्थात् "मानव आनुवंशिकी विशेषतया, वंशागति एवं वातावरण की अन्तक्रिया से है जिसके द्वारा मनुष्य के शारीरिक लक्षणों को निर्धारित किया जाता है, रोग, विकृतियों तथा विशेष क्षमताओं पर वंशागति के प्रभाव से तथा मनुष्य के संकर प्रजाति या उपसमूह जो भौगोलिक अथवा सांस्कृतिक तत्वों या भाषा, धर्म परम्परा द्वारा एक–दूसरे से पृथक् हो, में जैविक विविधता से सम्ब्रन्धित है।"

विषयक्षेत्र

मानव आनुवंशिकी में विभिन्न प्रकार के लक्षणों से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन विभिन्न विधियों के द्वारा किया जाता है। असामान्य लक्षण की वंशागति का अध्ययन परिवार, वंश एवं रक्त सम्बन्धियों की वंशावली के माध्यम से किया जाता है। तत्पश्चात् आनुवंशिक परामर्शदाता प्रभावित स्थितियों के आधार पर प्रभावित व्यक्ति या चिकित्सक को उपयोगी परामर्श दे सकता है। मानव जनसंख्या में आनुवंशिकी के इस अमूल्य उपयोगिता के फलस्वरूप विभिन्न व्याधियों का निदान किया जाता है। चिकित्सा क्षेत्र में इसकी उपयोगिता के फलस्वरूप **"चिकित्सा आनुवंशिकी"** (Medical Genetics) विकसित हुई। इसके अन्तर्गत किसी भी प्रभावित स्थिति का आनुवंशिक कारकों से सम्बन्ध निर्धारित किया जाता है। दृष्टान्तस्वरूप कई लक्षणों से युक्त आनुवंशिकता की क्रियाविधि जटिल होती है। वह अनेक कारकों से नियन्त्रित होने के साथ–साथ मानव में अनेक प्रकार के रक्त समूह है। इन विभिन्न रुधिर वर्ग प्रणालियों से कई प्रकार की व्याधियाँ सम्बन्धित है जिनका ज्ञान चिकित्सकों को रोग निदान के लिए आवश्यक है। जैसे– 'A' रुधिर वर्ग सदस्यों के आमाशय (Stomuch) में कैंसर एवं मधुमेह जैसी व्याधियों की सम्भावना रहती है। इस प्रकार आनुवंशिक रोगों हेतु कई सरल उपाय आनुवंशिक परामर्शदाता बता सकता है लेकिन इनका निदान पूर्णरुपेण नहीं किया जा सकता क्योंकि गुणसूत्रों में विद्यमान अनेक जीन्सों के कारण विभिन्न प्रकार की स्थितियों की उत्पत्ति होती है। अतः उनका निदान भी कठिन समस्या है। एक जीन की विकृति से उत्पन्न परिस्थितियों के निदान में अनेक जीन्स से उत्पन्न विकृति की अपेक्षा सरल होती है। भविष्य में आनुवंशिकी का ज्ञान और भी अधिक व्यापक होने से यह कहा जा सकता है कि आयुर्विज्ञान में 'आनुवंशिक अभियान्त्रिकी' (Genetic Engineering), 'जीन चिकित्सा' (Gene Therapy), 'डी० एन० ए० फिंगर प्रिंटिग' (D.N.A. Finger Printing) एवं 'डी० एन० ए० प्रोफाइल' (D.N.A. Profile) जैसी प्रविधियाँ और अधिक विकसित हुई हैं।

मानव आनुवंशिकी में गुणसूत्र, जीन एवं न्यूक्लिक अम्लों की रासायनिकी एवं उससे सम्बन्धित विभिन्न प्रक्रमों की रासायनिकी का जीव रसायन (Biochemistry) की सहायता से अध्ययन किया जाता है। इसके बढते प्रभाव से तत्वों के जीव रासायनिक अध्ययन आरम्भ हो गया जिससे **'जीव रसायनिक आनुवंशिकी'** (BioChemical Genetics) का विकास हुआ।

आनुवंशिकी इकाई 'जीन' डी०एन०ए० के बने होते हैं। गुणसूत्र D.N.A. से विनिर्मित होते है जो कोशिका के केन्द्रक में पाये जाते हैं।अतः क्रमिक पीढ़ियों के मध्य जनन कोशिकाओं के केन्द्रक एक अविच्छित्र सेतु का कार्य करते है। केन्द्रक की संरचना एवं उसके घटक तथा न्यूक्लिक अम्लों की रचना एवं गुणों के ज्ञान के बिना आनुवंशिकी का ज्ञान अधूरा है। इसके समस्त पहलुओं को समझने हेतु कोशिका के विभिनन अंगों एवं उपांगों का अध्ययन किया जाता है। आनुवंशिकी के इस महत्वपूर्ण शाखा को **'कोशिकानुवंशिकी'** (Cytogenetics) के न ाम से जाना जाता है।

रुधिरवर्ग, Rh कारक, लिंग विभेदन एवं लिंग निर्धारण आदि शरीर क्रियात्मक लक्षणों का आनुवंशिकी के क्षेत्र में विशेष महत्व है। व्यक्ति का शारीरिक विकास एवं संवृद्धि के क्षेत्र में शरीर क्रिया विज्ञान एवं आनुवंशिकी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। इनके अतिरिक्त अनेकों जैविक क्रियाओं का आनुवंशिकी से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। मानव आनुवंशिकी में इन समस्याओं का अध्ययन **'शरीर क्रिया आनुवंशिकी'** (Physiological Genetics) के अन्तर्गत किया जाता है।

आनुवंशिकी के अन्तर्गत भ्रूण का अध्ययन किया जाता है। क्योंकि एक कोशिकीय युग्मन से विभिन्न अंगों एवं रचनाओं के एक निश्चित क्रम में विबेदन के फलस्वरूप एक जटिल रचनावाले जीव का परिवर्धन युग्मनज में स्थित जीनोटाइप के कारण ही सम्भव होता है। जीन्स ही भ्रूण के जीवन एवं विकास की गति का नियन्त्रण करते है। आनुवंशिकी के इस अध्ययन क्षेत्र को **"वैकासिक आनुवंशिकी"** (Developmental Genetics) से सम्बन्धित करते है।

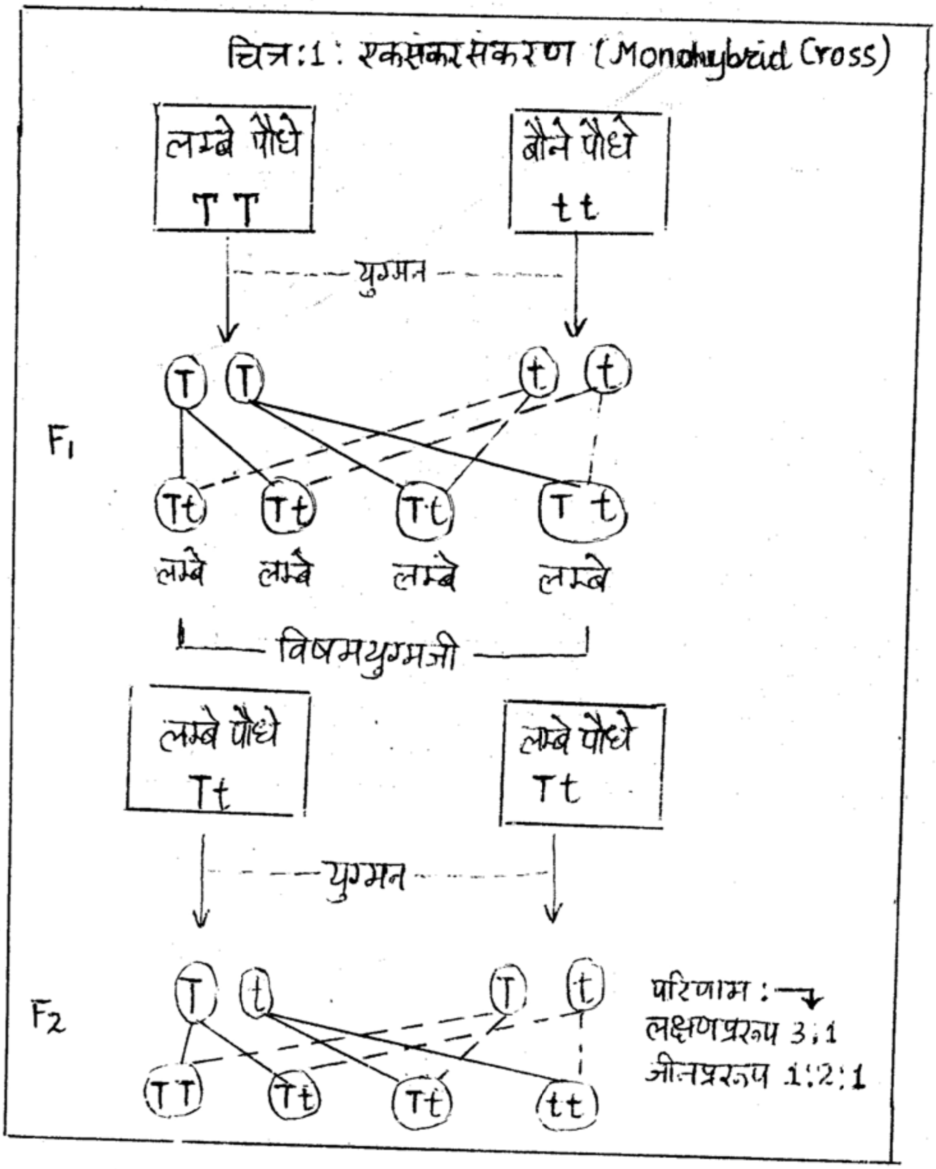
अनेकों व्यावहारिक लक्षण जैसे– जडबुद्धिता, दूरदर्शिता, हस्तकौशल आदि एक पीढी से दूसरी पीढी में वंशागतच होते है।' इनका अध्ययन मानव आनुवंशिकी के अन्तर्गत किया जाता है। जिससे यह ज्ञात हुआ है कि मानव के व्यवहार का नियन्त्रण जीनों द्वारा होता है। आनुवंशिकी में इस प्रकार के अध्ययन फलस्वरूप 'व्यवहार आनुवंशिकी' (Behavioral Genetics) का आविर्भाव हुआ है।

आनुवंशिकी ने प्रकृति में होने वाले क्रमिक विकास की क्रियाओं पर व्यापक प्रकाश डाला है। आनुवंशिकी के ज्ञान के बिना उदविकासीय प्रक्रियाओं को समझना सम्भव नहीं है। मानव उदविकास के अध्ययन के लिए आनुवंशिकी एक उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है क्योंकि उदविकास का आधार है जैविक विभिन्नतायें ।इन विभिन्नताओं का नियन्त्रण जीन के द्वारा होता है। आनुवंशिकता के विभिन्न सिद्धान्त मानव एवं अन्य जीवों पर समान रूप से प्रयुक्त होते है। वंशागति से सम्बन्धित समस्त विषयों का अध्ययन एक जनसमूह स्तर पर किया जाता है जिसे **"जनानुवंशिकी"** (Population Genetics) से सम्बोधित किया जाता है। इसका उद्देश्य जनसमूह के आनुवंशिक संगठन (Composition) को ज्ञात करना होता है तथा इस संगठन को निर्धारित करने वाले समस्त नियम एवं सिद्धान्त इसकी विषय–वस्तु है। इसके अन्तर्गत उन प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया जाता है जिससे उदविकास घटित होता है। इसमें विश्लेषणमात्रात्मक व्याख्या के लिए गणित, सांख्यकीय एवं पारिस्थितिकी के आधारभूत सिद्धान्तों का उपयोग अनिवार्य है।

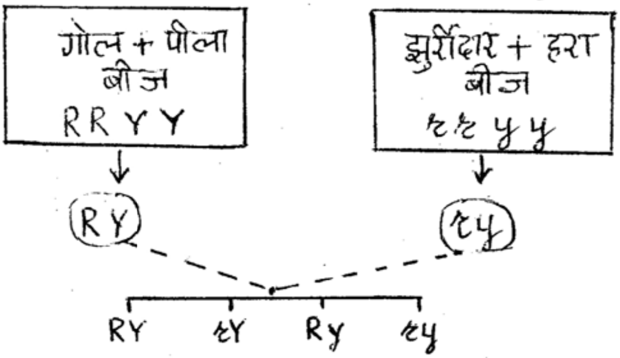
पारिस्थितकी (Ecology) से सम्बन्धित सिद्धान्तों के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि पर्यावरण का प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानव समूह पर पडता है। जिसके परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति या जनसमूह की जीनी आवृत्तियाँ संशोधित होती है। जीनों में आवृत्तिगत संशोधन का प्रभाव किस सीमा तक किसी भी जीनोटाइप में विविधता उत्पन्न कर सकता है जो कि परिवर्तित पर्यावरणिक परिस्थितियों के अनुकूल रहती है, यह पारिस्थितिकी एवं आनुवंशिकी के मध्य का प्रमुख बिन्दु है। वरण (Selection) पारिस्थितियों में प्रमुख रूप से सहायक होता है। अतः आनुवंशिकता प्रत्यक्ष रूप से पारिस्थितिकी अथवा पर्यावरण से सम्बन्धित है। **"पारिस्थितिकी आनुवंशिकी"** (Ecological Genetics) का यही अध्ययन विषय है।

मानव जाति की उन्नति एवं प्रगति के लिए आनुवंशिकी के विशेषज्ञ प्रयत्नशील है।यद्यपि जन्तुओं एवं पौधों पर किये गये प्रयोगों को मनुष्य पर सम्पूर्ण रूप से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता किन्तु इन प्रयोगों से उपलब्ध ज्ञान की सहायता से मानव जाति की उन्नति अवश्य ही की जा सकती है। आनुवंशिकी की सहायता से मानव जाति की नस्ल सुधारने से सम्बन्धित शाखा को **"सुजनन–विज्ञान"** (Eugenics) कहते हैं।

***


चित्र :1 : एकसंकर संकरण (Monohybrid Cross)
लम्बे पौधे
T T
बौने पौधे
t t
युग्मन
T
T
t
t
F1
Tt
Tt
Tt
T t
लम्बे
लम्बे
लम्बे
लम्बे
विषमयुग्मजी
लम्बे पौधे
Tt
लम्बे पौधे
Tt
युग्मन
T
t
T
t
F2
TT
Tt
Tt
tt
परिणाम :
लक्षणप्ररूप 3 : 1
जीनप्ररूप 1 : 2 : 1

चित्र : 2 : द्विसंकर संकरण (Dihybrid cross)



	RY	rY	Ry	ry
RY	RRYY	RrYY	RRYy	RrYy
rY	RrYY	rrYY	RrYy	rrYy
Ry	RRYy	RrYy	RRyy	Rryy
ry	RrYy	rrYy	Rryy	rryy

परिणाम : ↓

लक्षणप्ररूप 9 : 3 : 3 : 1

14

वंशागत के मौलिक सिद्धान्त

आधुनिक आनुवंशिकी की आधारशिला आस्ट्रिया देश के एक पादरी ग्रेगर जॉन मेंडेल (Gregor John Mendel, 1822–1884) ने रखी। इसी कारण उन्हें 'आनुवंशिकी का जनक' कहा जाता है। इसके पूर्व अनेकों जीवशास्त्रियों ने जीवों में वंशागति की क्रियाविधि को समझने की चेष्टा की। जर्मन वनस्पतिशास्त्री जोसेफ कोलरुटर (Joseph Kolreuter, 1766) तथा अंग्रेजी वनस्पतिवैज्ञानिक जॉन गोस (John Goss, 1822) ने पौधों में संकरण के अनेक प्रयोग किये। इन वैज्ञानिकों ने संकर पौधे को दो जनकों के मध्यवर्ती रूप को प्रतिनिधित्व करने वाला बताया। इसके अतिरिक्त गार्टनर (1772–1850), डार्विन (1809–1882) तथा नाडिन (1815–1899) ने भी इस दिशा में शोधकार्य किया, लेकिन उन्हें पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हो सकी।

मेंडलवाद (Mendelism)

मेंडेल ने जीवों में वंशागति की क्रियाविधि को समझने हेतु 'मटर' के पौधे का चुनाव किया, जिस पर अध्ययन 1857 में चर्च प्रांगण्ड की फुलवाड़ी में आरम्भ किया। आठ वर्ष की कठिन तपस्या के पश्चात् 1865 ई० में ब्रून की प्रकृति वैज्ञानिक सोसाइटी की बैठक में मेंडेल ने अपने शोधकार्य को प्रस्तुत किया। इनका शोध कार्य इस सोसाइटी की वार्षिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ जो सम्पूर्ण योरोपीय पुस्तकालयों में वितरित हुआ। उस समय वैज्ञानिकों का ध्यान इनके महत्वपूर्ण शोधकार्य की ओर आकृष्ट न हो सका और सन् 1884 में मेंडेल का देहावसान हो गया।

मेंडेल की मृत्यु के 18 वर्षों के पश्चात् 1902 में हालैण्ड के **डी ब्रीज** (DeVries), आस्ट्रिया के वॉन **शरमाक** (Van Teschermak) एवं जर्मनी के **कोरेंस** (Correns) ने पृथक्–पृथक् शोधकार्य किया तथा स्वतन्त्र अध्ययनों के आधार पर तीनों वैज्ञानिक एक ही निष्कर्ष पर पहुंचे। ये वही शोध निष्कर्ष थे जिन्हें मेंडेल ने 39 वर्ष पूर्व प्रतिपादित किया था। इसके पश्चात् मेंडेल के वंशागति के नियमों की पुष्टि हुई तथा इनके सिद्धान्तों को महत्व प्रदान किया गया। मेंडेल के ये मौलिक सिद्धान्त ही 'मेंडेलवाद' (Mendelism) नाम से सम्बोधित किए जाते हैं।

मेंडेल की सफलता का रहस्य उनकी दूरदर्शिता एवं विषय की मौलिक समझ थी। उन्होंने पूर्व वैज्ञानिकों की असफलता के कारणों का वास्तविक विश्लेषण कर लिया था। इसके अतिरिक्त गणित इनका प्रिय विषय था। अतः इसके मौलिक सिद्धान्तों की समझ मेंडेल को थी। यही कारण था कि उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों जैसी त्रुटियों की पुनरावृत्ति नहीं होने दिया। इनकी सफलता के निम्नांकित कारण थे–

1. मेंडेल ने आद्योपान्त प्रयोग योजनाबद्ध रूप से पूरा किया। उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों की असफलता का गहनतापूर्वक अध्ययन किया था तदोपरान्त अपनी शोध योजना सावधानीपूर्वक बनाई। अपने प्रयोगों के समुचित अभिलेख सावधानीपूर्वक गणितीय विधियों से तैयार किया।

2. मेंडेल ने मटर के पौधे का चयन गहन सोच-विचार के पश्चात् किया क्योंकि ये सरलतापूर्वक उगाये जा सकते है। यह एक वार्षिक पौधा है। इसका जीवन चक्र अल्पकालीन है। इसकी अनेकों पीढ़ियों का अध्ययन करना सरल है। यह एक द्विलिंगी पौधा है। इसका स्वपरागण सम्भव है। इसके अनेकों विपर्यासी लक्षण विद्यमान होते हैं जिन्हें सरलतापूर्वक पृथक्-पृथक् समूहों में विभक्त किया जा सकता है।

3. मेंडेल ने कुल सात लक्षणों का चुनाव किया। ये सभी विपर्यासी लक्षणों वाले थे अर्थात् प्रत्येक विशेषक के प्रायः दो विरोधाभासी रूप थे। उदाहरण के लिए तने की लम्बाई का 'लम्बा' एवं 'बौना' होना। सौभाग्य से चुना गया प्रत्येक लक्षण एक ही जीन द्वारा नियन्त्रित था तथा वे जीन पृथक्-पृथक् गुणसूत्रों पर स्थित थे। ये सभी लक्षण प्रभावी एवं अप्रभावी विपर्यासी लक्षणों को प्रदर्शित करते थे। इन विशेषकों को निम्नलिखित तालिका में प्रदर्शित किया गया है-

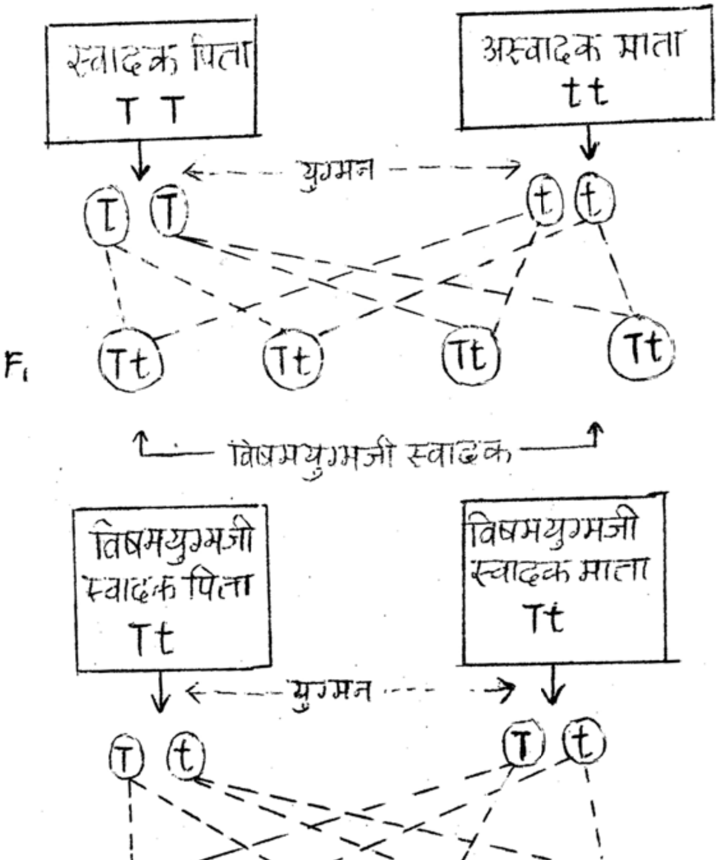
लक्षण (Character)	**विपर्यासी लक्षण**	
	प्रभावी	**अप्रभावी**
तने की लम्बाई	लम्बा (Tall)	बौना (Dawrf)
पुष्प विन्यास	अक्षीय (Axial)	अन्तस्थ (Terminal)
फली का रूप	फूला हुआ (Inflated)	संकुचित (Constricted)
फली का रंग	हरा (Green)	पीला (Yellow)
पुष्प रंग	भूरा (Grey)	सफेद (White)
बीजपत्र का रंग	पीला (Yellow)	हरा (Green)
बीज का आकार	गोल (Round)	झुर्रीदार(Wrinkled)

4. मेंडेल की संकरण तकनीक (Crossing Technique) अत्यन्त सूझबूझ की द्योतक है। उन्होंने एक समय में एक ही लक्षण का अध्ययन किया। तत्पश्चात् एक साथ दो लक्षणों का अध्ययन किया। एक लक्षण में भिन्नता पाये जाने वाले पौधों के सकंरण को एक संकर संकरण (Monohybrid Cross), दो लक्षणों में भिन्न पौधों के संकरण को द्विसंकर संकरण (Dihybrid Cross) तथा तीन लक्षणों में भिन्न पौधों के संकरण को त्रिसंकर संकरण (Trihybrid Cross) अथवा बहुसंकर संकरण (Polyhybrid Cross) नामों से सम्बोधित किया। स्वपरागण द्वारा निषेचन की सम्भावना को समाप्त करने के लिए उन्होंने बीज धारण करने वाले पौधों के पुष्पों से वर्तिकाग्र के परिपक्व होने से पूर्व ही परागकोशों को हटा लिया था। इसके विपरीत लक्षण वाले पौधों के पुष्पों के परिपक्व परागकोशों के पराग लेकर उसमें बीज धारण करने वाले पौधों के पुष्पों के वर्तिकाग्र पर रख दिया। जिससे पर-परागण (Cross Polienation) सम्भव हो सका।

मेंडलीय शब्दावली

1. **जीन** (Gene)- मेंडेल के अनुसार जीवो का प्रत्येक लक्षण उसकी दैहिक कोशिकाओं के कोशिकाद्रव्य में स्थित एक जोड़ी कारकों (Factors) अथवा निर्धारकों (Determinants) द्वारा निर्धारित होता है। मेंडलीय कारक या निर्धारक को जोहांसन ने 1906 में 'जीन' शब्द से सम्बोधित किया जिसे कालान्तर में व्यापक रूप से स्वीकार किया गया।

मेंडलीय सिद्धान्त का मानव पर प्रयोग •



जीनप्ररूप · 1 : 2 : 1

लक्षणप्ररूप · 3 : 1 (स्वादक : अस्वादक)

2. **युग्मविकल्पी अथवा एलीलोमार्फ** (Allele Or Allelomorph)– प्रत्येक लक्षण जो एक कारण द्वारा निर्धारित होता है, उसकी दो प्रतियाँ होती हैं। इन विकल्पी प्ररूपों को युग्म विकल्पी (Allele) कहते हैं। मेंडेलीय अवधारणा के अनुसार किसी लक्षण के दोनों विकल्पों के युगल जीन दो भिन्न–भिन्न गुणसूत्रों पर किन्तु संगत संस्थिति (Corresponding loci) पर स्थित होते हैं। उदाहरणस्वरूप Tt युग्मक में से T एक गुणसूत्र पर तथा t दूसरे गूणसूत्र पर स्थित होता है। इनमें से प्रत्येक दूसरे का युग्म विकल्पी (Allele) है। इस प्रकार एक ही लक्षण के दो विकल्पों को प्रदर्शित करने वाले तथा एक समान अथवा समजात (Homologous) गुणसूत्रों के संगत संस्थिति पर स्थित जीन के युगल को युग्मविकल्पी या एलीलोमार्फ (Allelomorph) कहते हैं।

3. **समयुग्मजी एवं विषमयुग्मजी** (Homozygous nad Heterzygous)– प्रत्येक दैहिक गुणसूत्रों में एक जीन की दो प्रतियाँ या युग्मविकल्पी (allele) उपस्तित होते हैं। जब किसी जीव में ये दोनों एलील या युग्मविकल्पी समरूप हों तो उसे लक्षण विशेष के लिए समयुग्मज (Homozygous) कहते है। परन्त् जब किसी पौधे या जीव में लक्षण विशेष के लिए जीन के दोनो युग्म विकल्पी भिन्न हो तो वह जीव इस लक्षण विशेष के लिए विषमयुग्मजी (Heterozygous) कहलाता है। उदाहरणस्वरूप, पौधे की लम्बाई के लिए यदि T संकेत का प्रयोग होता है समयुग्मजी स्थिति में दोनों युग्म विकल्पी **TT** होते है तथा बौनेपन लक्षण के लिए tt युग्मविकल्पी होते है। परन्तु विषमयुगम्जी स्थिति में विपरीत युग्मविकल्पनी वाला जीव होता है जैसे– Tt। इसमें सन्तति जीव मिश्रित लक्षण वाला होता है।

4. **जीनप्ररूप एवं लक्षणप्ररूप (Genotype and Phenotype)**– जीनी प्ररुप जीव की आनुवंशिक रचना को व्यक्त करता है तथा बाह्य प्रतीति को ध्यान नहीं दिया जाता है। इस प्रकार एक पौधे या जीव में किसी लक्षण के लिए उपस्थित जीनों एवं उसके युग्म विकल्पियों को उस जीव का जीनप्ररूप (Genotype) कहते हैं। इसके विपरीत जीव में किसी लक्षण की वाह्य प्रतीति अर्थात् आखों से दिखाई देने वाली रचना को जीव का लक्षण–प्ररूप कहते (Phenotype) कहते हैं। उदाहरण के लिए, मटर के पौधे के तने के आकार को तीन अनुवंशिक प्ररूप TT एवं Tt होते हैं। इनमें TT एवं **Tt** इसका जीनी प्ररूप है जबकि 'लम्बाई' लक्षणप्ररूप (Phenotype) है। बौनापन पौधे का लक्षण–प्ररूप है जबकि उसका जीन–प्ररूप :: है। इससे स्पष्ट होता है कि भिन्न जीनो–टाइप या जीनी–प्ररूप एक ही प्रकार का 'लक्षण–प्ररूप' व्यक्त कर सकता है। जीनी–प्ररूप एवं लक्षण–प्ररूप शब्दों का सर्वप्रथम प्रयोग जोहांसन (1911) ने किया था।

5. **प्रभावी एवं अप्रभावी** (Dominant and Recessive)– प्रत्येक विषमयुग्मज में दो विपर्यासी लक्षण होते हैं। इनमें से केवल एक ही स्वयं को अभिव्यक्त करता है तथा दूसरा अव्यक्त रहता है। व्यक्त लक्षण ही प्रभावी विकल्पी है तथा अव्यक्त लक्षण अप्रभावी विकल्पी होता है। उदाहरण के लिए 'Tt' जीनी प्ररूप में 'T' जीनी संकेत लम्बाई को व्यक्त करता है तथा 't' संकेत बौनेपन का द्योतक है। 'Tt' विषमयुग्मज में 'T' एक प्रभावी विकल्पी है क्योंकि यह लम्बापन लक्षण–प्ररूप को व्यक्त करता है इसके विपरीत 't' विकल्प अप्रभावी है यह अव्यक्त रहता है। लेकिन स्वयं को अभिव्यक्त न करने पर भी अप्रभावी जीन बिना किसी परिर्वतन के अगली पीढी में पारगमित हो जाता है।

मेंडल के प्रयोग

एक संकर संकरण (Monohybrid Cross)

मेंडेल ने सर्वप्रथम मटर के पौधों के एक लक्षण का अध्ययन किया। इसके लिए उन्होंने दो विपरीत लक्षणों वाले पौधों का चुनाव किया। एक पौधा लम्बे तने का था तथा दूसरा पौधा बौने तने का था। इन पौधों में आपस में संकरण कराया तथा फिर से उगाया। संकरण से प्राप्त बीजों से उत्पन्न हुए सभी पौधे लम्बे कद के थे। ये पौधे F1 पीढी का प्रतिनिधित्व करते थे। F_1 पीढी के सभी पौधों में स्वनिषेचन कराया तथा उनसे

उत्पन्न बीजों को एकत्रित कर लिया। इन बीजों से उत्पन्न सभी पौधे उगाये गये। ये पौधे F_2 पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते थे। इनमें 'तीन' पौधे लम्बे पाये गये तथा 'एक' बौने तने का पौधा पाया गया। तत्पश्चात् लम्बे तने वाले पौधों को बीज को एक बौने तने वाले पौधे के बीज को पृथक्-पृथक् उगाया गया। परिणामस्वरूप इनमें से 3/4 पौधे लम्बे तने वाले पाये गये तथा 1/4 पौधे बौने तने वाले प्राप्त किये गये। अगली पीढी में बौने पौधों में उनका यह लक्षण परम्परागत पाया गया। जबकि लम्बे पौधों में से 1/3 पौधे शुद्ध लम्बे तने वाले पीढी दर पीढ़ी बने रहे तथा उनमें शेष 2/3 पौधों में से 3:1 का अनुपात बना।

मेंडेल ने F1 पीढ़ी के अप्रभावी लक्षण वाले विषययुग्मनी जनक के साथ संकरण को 'परीक्षण संकरण' कहा तथा उसके पूर्व पूर्वज पौधों के संकरण को संकरपूर्वज संकरण (Bach Cross) कहा। मेंडेल को परीक्षण संकरण के द्वारा यह सिद्ध करना था कि प्रभावी एवं अप्रभावी जीन की आवृत्ति क्या पीढी दर पीढी समान रहती है या नहीं। इस प्रकार उन्होंने यह देखा कि लम्बे तने (T) एवं बौने तने (t) दोनों युग्मविकल्पी जब पृथक् होते हैं तो उनकी आवृत्ति समान रहती है।

मेंडेल ने उक्त प्रयोग को परिणामों के आधार पर निम्नलिखित आनुवंशिक नियमों का प्रतिपादन किया–

प्रभाविता का निमय (Law of Dominance)

मटर के पौधे पर परीक्षण करते समय मेंडेल ने यह देखा कि एक युगल विपर्यासी अर्थात् दो युग्म विकल्पी लक्षणों वाले पौधों में संकरण करने पर केवल एक ही लक्षण संकर पौधों में स्वयं को अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है। यह प्रभावी लक्षण होता है। दूसरा अव्यक्त लक्षण 'अप्रभावी' लक्षण होता है। इसके आधार पर मेंडेल ने आनुवंशिकता का प्रथम नियम प्रतिपादित किया। इसके अनुसार "एक या एक से अधिक विपर्यासी लक्षणों वाले जीवों में संकरण कराने पर F1 पीढी में प्रकट लक्षणों को 'प्रभावी लक्षण' कहते हैं अर्थात् प्रभावी लक्षण ही व्यक्त होते हैं तथा 'अप्रभावी' लक्षण प्रकट न होकरके भी छिपे रहते है। परन्तु F2 पीढी में दबा हुआ 'अप्रभावी लक्षण' पुनः 25% पौधों में अपने आपकों अभिव्यक्त करता है।"

पृथककरण का नियम (Law of Segregation)

इस नियम को 'युग्मको की शुद्धता का नियम' (Law of Purity of Gametes) से भी सम्बोधित किया जाता है। इस नियम के अनुसार F1 पीढी में आये युग्म विकल्पनी आपस में मिश्रित नहीं हो जाते। प्रभावी विकल्पों के साथ अप्रभावी विकल्पी भी अपना अस्तित्व बनाये उपस्थित रहता है तथा जब F2 पीढी के पौधे अपना युग्मक बनाते है तो यह युग्मविकल्पी एक-दूसरे से पृथक् हो जाते है। दोनों विकल्पियों के पृथक् हो जाने की क्रिया को पृथक्करण कहा जाता है।

पृथक्करण नियम के अनुसार विषययुग्मजी या संकर युग्मविकल्पी (Tt) के दोनों कारक या जीन पास-पास रहते हुए भी एक दूसरे से समिश्रित नहीं होते है। युग्मक निर्माण के समय दोनों विकल्पी एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं तथा प्रत्येक युग्मक में दोनों में से एक विकल्पी होता है। इसके फलस्वरूप विषय युग्मजी संकर से दो प्रकार के युग्मक बनते है जिनमें से 50% में T (लम्बे तने वाले पौधे) तथा 50 % में t (बौने तने वाले पौधे) जीन होता है। अतः यह युग्मक लम्बेपन अथवा बौनेपन के लिए शुद्ध होते है। इसीकारण पृथक्करण के नियम को 'युग्मकों की शुद्धता का नियम' भी कहते हैं।

द्विसंकर संकरण (Dihybrid Cross)

मेंडेल ने अपने द्विसरकर संकरण में मटर के पौधे के दो लक्षणों बीज के आकार (गोल एवं झुर्रीदार) एवं बीजपत्र के रंग (हरे व पीले) का एक साथ अध्ययन किया। इसके लिए मटर का एक पौधे का चुनाव किया गया जिसके बीज का आकार गोल तथा बीजपत्र का रंग पीला था। इसी प्रकार उन्होंने एक दूसरा पौधा लिया जिसका बीज झुर्रीदार एवं बीजपत्र का रंग हरा था। इन दोनों पौधों में परस्पर संकरण कराया। इसके परिणामस्वरूप प्राप्त F_1 पीढी के सभी पौधों में स्वपरागण होने दिया। इनसे प्राप्त बीजों को पुनः उगाया।

इसके फलस्वरूप F_2 पीढी के पौधों में चार प्रकार के लक्षण प्ररूप (Phenotype) 9:3:3:1 के अनुपात में पाए गये।

इस प्रकार मेंडेल ने द्विसंकर संकरण के प्रयोग के परिणाम के आधार पर एक और नियम का प्रतिपादन किया जिसे 'स्वतन्त्र अपव्यूहन का नियम' के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

स्वतन्त्र अपव्यूहन का नियम (Law of IndependentAssortment)

मेंडेल के इस तृतीय नियम के अनुसार विभिन्न लक्षणों के लिए उत्तरदायी जीन युग्मक के समय जब एक–दूसरे से पृथक् हो जाते है तो वे अगली पीढ़ी में जाने के लिए दोनों युग्मज एक–दूसरे के प्रति स्वतन्त्र होते है अर्थात् प्रत्येक लक्षण की वंशागति स्वतन्त्र रूप से होती है।वह किसी विशेष लक्षण विकल्पी के साथ–साथ वंशानुगमन नहीं करता। प्रत्येक लक्षण किसी अन्य लक्षण विकल्पी से प्रभावित हुए बिना ही अपव्यूहन करते है। ऐसा नहीं है कि पीला रंग सदैव गोले बीज के साथ या हरा बीज पत्र सदैव झुर्रीदार बीज के साथ–साथ पाया जाता है वरन् पौधे में उपस्थित लक्षण दूसरे पौधे में उपस्थित लक्षण के साथ स्वतन्त्र रूप से पीढी दर पीढी पारगमन करते है।

मानव में मेंडलीय नियमों की सार्वभौमिकता

मेंडेल के वंशागति के मूल नियम मटर के पौधों पर ही नहीं प्रयुक्त होते, वरन् ये नियम अन्य वनस्पतियों, जन्तुओं एवं मानव में सार्वभौमिक पाये गये है। मेंडेल के प्रथम दो नियमों का रूपानतरण मानव के आनुवंशिक लक्षणों के आधार पर किया जा सकता है। मानव में एक रासायनिक पदार्थ P.T.C. (Phenyl Thio Carbamide) को चखने की क्षमता आनुवंशिक लक्षण की परिचायक है। सभी मनुष्य इस रासायनिक पदार्थ को चखने में समर्थ नहीं होते है। वे जो इस रसायन को चखने में समर्थ होते है उन्हें स्वादक (Taster) कहा जाता है तथा शेष जो इसको चखने में असमर्थ है उन्हें अस्वादक (Non–Taster) कहा जाता है। स्वाद क्षमता को जीनी संकेत T से सम्बोधित किया जाता है तथा इसके विपर्यासी लक्षण स्वादविहीन को 't' से अंकित करते है। मनुष्यों में उसके लिए स्वाद क्षमता एक प्रभावी लक्षण है तथा स्वादविहीनता अप्रभावी लक्षण है।

इस लक्षण के अध्ययन से यह पता चलता है कि स्वादक जनक (TT) एवं अस्वादक जननी (tt) की सभी सन्ततियों का लक्षण प्ररूप स्वादक तथा जीनी प्ररूप –Tt अर्थात् विषययुग्मजी पाया गया है। इससे मेंडेल का प्रथम नियम पुष्ट होता है कि मानव में भी प्रभावी लक्षण F_1 पीढी में प्रकट होते है जबकि अप्रभावी लक्षण अव्यक्त होकर छिपे रहते है। जब F_2 पीढी में विषय युग्मजी जनक (Tt) एवं जननी (Tt) की सन्ततियों का स्वाद परीक्षण कियागया तो उसकी 3/4 सन्ततियाँ स्वादक (Taster) तथा 1/4 अस्वादक पायी गयी। इससे यह सिद्ध होता है कि अप्रभावी विकल्पी द्वितीय पीढी में पृथक् होकर के पुनः प्रकट होता है। स्वादक एवं अस्वादक के लक्षण प्ररूप का अनुपात 3:1 एवं जीनी प्ररूप का अनुपात 1:2:1 है तो मेंडेल के द्वितीय वंशागति के नियमों के समवर्ती परिणामों का प्रतिनिधित्व करता है। इसे सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

इस प्रकार उक्त तथ्य के आधार पर मेंडेल के प्रथम दोनों मौलिक नियम 'प्रभाविता का नियम' तथा 'प्रथक्करण का नियम' मानव जनसंख्या में भी पूर्णतः सत्य प्रतीत होते हैं। इस नियम को आधुनिक आनुवंशिकी के आधार पर भी समझा जा सकता है कि प्रत्येक आनुवंशिक लक्षण के लिए एक जीन t उत्तरदायी होता है। यह जीन अपने दो युग्म विकल्पी रखता है जिसका एक विकल्पी प्रभावी होता है एवं दूसरा अप्रभावी। जीन आनुवंशिकता की एक स्वतन्त्र इकाई है जो गुणसूत्रों पर स्थित होते है। प्रायः यह समजात गुणसूत्र पर उपस्थित अपने युग्मविकल्पी से प्रभावित नहीं होते है। युग्मक जनन के समय गुणसूत्र के समजात युग्म का प्रत्येक भाग पृथक् हो जाता है। जिनमें प्रत्येक दो युग्मविकल्पी में से एक विकल्पी स्थिति होता है। जीन वर्ण संकर मे फिर एक साथ आ जाते है।ये जीन एक दूसरे से मिल नहीं जाते बल्कि एक साथ रहते है। जब वर्ण संकर

युग्मक बनता है तो उस समय पृथक् हो जाते है। मेंडेल के आनुवंशिक लक्षणों को पारगमित करने वाले कारकों (Factors) को अब जीन के नाम से जाना जाता है।

मेंडेल का स्वतन्त्र अपव्यूहन का मूल आनुवंशिक नियम इस बात की व्याख्या करता है कि जीनों के युग्म जो दो या दो से अधिक लक्षणों के लिए उत्तरदायी होते हैं वे युग्मक निर्माण की अवस्था में पृथक् हो जाते है। वे ऐसे इसलिए होते हैं क्योंकि वे पूर्णतया स्वतन्त्र होते है तथा अपने साथी जीन के किसी भी प्रभाव में उपस्थित नहीं होते है। इनका पारगमन पीढी दर पीढी स्वतन्त्र रूप से होता है। मानव में इस मौलिक नियम की सार्वभौमिकता का परीक्षण सरलतापूर्वक एक दृष्टांत से किया जा सकता है जिसमें दो लक्षणों का वंशानुक्रमण एक साथ अवलोकित किया जा सकता है। ये दोनों आनुवंशिक लक्षण मानव में P.T.C. को चखने की क्षमता एवं जिव्हा के किनारे को मोडने की क्षमता है। पहले लक्षण के लिए उत्तरदायी जीन T होता है तथा दूसरे के प्रति R उत्तरदायी जीन होता है। इनका विपर्यासी विकल्पी क्रमशः t एवं r हैं। इस प्रकार प्रत्येक लक्षण के जीन के दो–दो विकल्पी हैं। जनक स्वादक एवं जिव्हा मोडने वाला है जो TTRR जीनी प्ररूप का प्रतिनिधित्व करता है जबकि माता पूर्णतः अस्वादक एवं जिव्हा मोडने में अक्षम है वह 'ttrr' जीनी प्ररूप का प्रतिनिधित्व करती है। ऐसी स्थिति में जनक के दो युग्मक निर्मित होते है– TR एवं TR तथा माता के दो युग्मक tr एवं tr। अतः F1 पीढ़ी में सभी सन्ततियाँ स्वादक एवं जिव्हा मोडने वाली है क्योंकि ये दोनों लक्षण प्रभावी विकल्पी युक्त है। इन सब का जीनी प्ररूप विषय युग्मजी Tt Rr पाया गया। F2 पीढी के लिए विषययुग्मजी जनक (TtRr) का विवाह भी विषययुग्मजी स्त्री से हुआ। जिससे इन दोनों माता एवं पिता के युग्मक एक जैसे प्राप्त हुए जो TR, tr, tR एवं Tr है। जब माता–पिता के चार–चार युग्मक आपस में निषेचित होते हैं तो 16 युग्मनज बनने की सम्भावना होती है। इनमें चार प्रकार के लक्षण प्ररूपों– (i) स्वादक एवं जीभ मोडने वाला, (ii) अस्वादक जीभ मोडने वाला, (iii)अस्वादक जीभ न मोडने वाला एवं (iv)अस्वादक जीभ न मोडने वाला का गणितीय अनुपात 9:3:3:1 का अनुपात पाया जाता है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि स्वादक लक्षण सदैव जीभ मोड़ने वाले लक्षण के साथ पारगमित नहीं है। ये दोनों लक्षण एक–दूसरे से प्रभावित हुए बिना पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होते है अर्थात् यह सिद्ध होता है कि मानव के आनुवंशिक लक्षण वंशानुक्रमण में स्वतन्त्र है।

लेकिन 16 या उससे अधिक सन्ततियाँ शायद ही किसी मानव दम्पत्ति हो जिसपर इस प्रकार का अध्ययन किया जा सके जिससे 9:3:3:1 के अनुपात में लक्षण प्ररूप प्राप्त किया जा सके। साथ ही साथ समयुग्मजता एवं विषमयुग्मजता को सिद्ध कर पाना भी मानव समाज में सरल कार्य नहीं है। अतःमानव में मेंडेल के "स्वतन्त्र अपव्यूहन के नियम" की पुष्टि कर पाना एक टेढी खीर प्रमाणित होती है। साथ ही साथ कई अवस्थाओं में इस मूल नियम को त्रुटिरहित पाना सम्भव नहीं है अर्थात् यह नियम पूर्णतः मानव में असार्वभौमिक है क्योंकि ज हम जानते ह कि 23 युग्म गुणसूत्रों का वंशानुक्रमण पूर्णतः पृथक्–पृथक् नहीं होता। प्रत्येक गुणसूत्र असंख्यों जीनों का वहन करता है।जीन जो एक ही गुण–सूत्र पर पाये जाते हैं विशेषकर उनमें वे जो एक–दूसरे के समीप होते है वे 'सहलग्न' (Linked) कहे जाते हैं। वे पूरे खण्ड के खण्ड पारगमित होते प्रतीत होते है। वे जीन–विनमय करते है। इसीप्रकार लिंग सहलग्न लक्षणों की वंशागति मेंडेल के 'स्वतन्त्र अपव्यूहन' का खण्डन करती है। मानव में लूथेरन रुधिरवर्ग (Lutheran Bloodgroup) एवं स्रावक स्तर (Secretor Status) की सहलग्नता मेंडेल के इस नियम की सार्वभौमिकता पर पुनः प्रश्नचिन्ह लगाती है। सर्वप्रथम इस नियम पर सन्देह वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही डब्लू० बेटसन (W. Bateson), आर० सी० पुनेट(R.C. Punnet)एवंटी० एच० मार्गन(T.H. Margon) आदि आनुवंशिक विशेषज्ञों ने व्यक्त किया था।

वंशानुक्रमण क्रियाविधि

मेंडेलीय आनुवंशिक मूल नियमों की सार्वभौमिकता की पुष्टि के लिए कई अनुवर्ती अध्ययन किए गये। जिनसे यह ज्ञात होता है कि अनेकों लक्षणों में मेंडेल द्वारा प्रतिपादित अनुपात खरे नहीं उतरते। मेंडेलीय

नियमों में 'प्रभाविता का नियम' वंशानुक्रमण की क्रियाविधि का द्योतक है जिससे यह ज्ञात होता है कि जीन के युग्मविकल्पी किस प्रकार क्रिया करते है।समयुग्मजी स्थिति में प्रबल तथा अप्रबल दोनों युग्मविकल्पी अभिव्यक्त होते है लेकिन विषमयुग्मयी स्थिति में केवल प्रबल विकल्पी ही प्रकट होने में समर्थ है। यह मेंडेल ने संकरण प्रयोगों द्वारा निष्कर्ष निकाला था कि पेड़-पौधे एवं जन्तुओं में प्रत्येक लक्षण एक कारक द्वारा नियन्त्रित होता है। लेकिन उसके पश्चात् आनुवंशिकविदों ने अन्य जीवों पर लक्षणों की वंशागति से सम्बन्धित परीक्षण किये तो उन्हें मेंडेलीय अनुपातों के विपरीत अनेकों विवादास्पद एवं परिवर्तित परिणाम देखने को मिले। इसके फलस्वरूप बेटसन (Bateson) ने 'कारक परिकल्पना' (Factor Hypothesis) नामक एक अवधारणा प्रस्तुत की।

इस अवधारणा के अनुसार "दो या दो से अधिक जीन अन्तक्रिया (Intera-action) द्वारा एक ही लक्षण को प्रभावित कर सकते है। वे विरोध या उत्क्रमण (reversal), योग (addition) या अपघटन (Substraction) अथवा रुपान्तरण (modifying) या सम्पूरकता (Supplimentation) द्वारा किसी लक्षण की वास्तविक अभिव्यक्ति को प्रभावित करते हैं।"

यह जीनों की अन्तर्किया प्रायः दो स्तरों पर होती है एक जीन के युग्म विकल्पियों के स्तर पर, दो जीन के स्तर पर। पहला अन्तर्विकल्पीय जीन अन्तर्किया (Inter Allelic gene interaction) तथा दूसरा अन्तर्विकल्पीरहित जीन-अन्तर्क्रिया (Non inter allelic gene Interation) कहा जाता है। अन्तर्विकलीय जीन अन्तक्रिया तो मेंडेल के प्रबल एवं अप्रबल वंशानुक्रमण क्रियाविधि से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। मानव में प्रबल एवं अप्रबल विकल्पी के आधार पर वंशानुक्रमण निम्नलिखित चार विधियों के द्वारा घटित होता है-

1. प्रबल वंशानुक्रमण : विषम युग्मजी अवस्था में एक विकल्पी प्रभाव दूसरे विकल्पी पर सदैव प्रभावी नहीं होता है। इसका प्रभावित मुख्यतः तीन प्रकार से पायी जाती है- (a) पूर्ण प्रभाविता, (b) अपूर्ण प्रभाविता एवं (c) सह प्रभाविता।

2. अप्रबल वंशानुक्रमण : विषम युग्मजी अवस्था में अप्रवत बिकल्पी प्रकट न होकर के छिपा रहता है। वह प्रभावी विकल्पी के साथ समिश्रित नहीं होता बल्कि F2 पीढी में पुनः प्रकट होता है। मानव में कई ऐसे लक्षण हैं जिनके वंशानुक्रम के लिए अप्रवल जीन उत्तरदायी होता है। जैसे- रंजक हीनता (Albinism)।

1. प्रबल वंशानुक्रमण

(Dominant Interitance)

यदि किसी लक्षण का एक विकल्पी समयुग्मजी एवं विषमयुग्मजी दोनों अवस्थाओं में समान लक्षण प्ररूप (Phenotype) रखता है तो इसे उस विकल्पी की प्रभाविता कहते है। जब यह प्रभावी विकल्पी किसी लक्षण के वंशानुक्रण के लिए उत्तरदायी होता है तो इसे हम प्रबल वंशानुक्रमण के नाम से पुकारते है। प्रबल वंशानुक्रम मुख्यतः तीन प्रकार से घटित होता है, जो इस प्रकार है-

(a) **पूर्ण प्रभाविता** (Complete Dominance)- जब प्रभावी विकल्पों का लक्षण प्ररूप समयुग्मजी एवं विषमयुग्मजी दोनों अवस्थाओं में समान रूप से पाया जाय तो इसे उस विकल्पी की पूर्ण प्रभाविता कहते हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य की 'फेनाइल थायोकार्बामाइड' (Phenyl-Thio-Carbomide) नामक रासायनिक पदार्थ की स्वादक क्षमता का परीक्षण किया जाता है, जिसका वर्णन इसके पूर्व किया जा चुका है। इसमें यह देखा गया कि स्वादक क्षमता के लिए एक प्रभावी विकल्पी T उत्तरदायी है। इस जीन का दूसरा विकल्पी (t) अप्रभावी होता है। यदि समयुग्मजी स्वादक पुरुष का विवाह किसी समयुग्मजी अस्वादक

स्त्री से हो जाय तो उनसे उत्पन्न प्रथम पीढी की सन्ततियाँ स्वादक क्षमता वाली पायी जाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वादक क्षमता विकल्पी दूसरे अस्वादक क्षमता वाले विकल्पी पर पूर्णरूप से प्रभावी है।

(b) **अपूर्ण प्रभाविता** (Incomplete Dominance)– जब किसी प्रभावी विकल्पी की अभिव्यक्ति विषययुग्मजी अवस्था में समानरूप से न हो अर्थात् समयुग्मजी से विषमयुग्मजी का लक्षण प्ररूप कुछ भिन्न हो तो प्रभावी विकल्पी की इस प्रकार की अभिव्यक्ति को अपूर्ण प्रभाविता कहते हैं। इसमें विषमयुग्मजी अवस्था में प्रभावी विकल्पी की अभिव्यक्ति समयुग्मजी अवस्था की अपेक्षा कम होती है। सामान्यता ऐसी स्थिति में विषमयुग्मजी अवस्था का लक्षण प्ररूप प्रभावी एवं अप्रभावी विकल्पी के लक्षण प्ररूप का मध्यवर्ती होता है। उदाहरणस्वरूप, मानव लाल रुधिर कणिकाओं में हंसियाकार कोशिकीय लक्षण (Sickle Cell Trait) पाया जाता है। यह लक्षण उन सन्ततियों में पाया जाता है जिनके जनकों में कोई एक समयुग्मजी प्रभावी विकल्पियों वाले (AA) होते है तथा दूसरे समयुग्मजी अप्रभावी विकल्पियों वाले (SS) होते है। प्रभावी युग्म विकल्पियों वाले जनक (AA) की सभी लाल रुधिर कणिकायें गोलाकार होती है जबकि इसके विपरीत अप्रभावी युग्म विकल्पी जननी (SS) की लाल रुधिर कणिकायें असामान्य होती है। इनका आकार हंसिया जैसा होता है। ये हीमोग्लोविन की पर्याप्त मात्रा का संचरण नहीं कर पाती। F1 पीढी में ऐसे जनकों की सभी सन्ततियों का लक्षण प्ररूप जनकों के लक्षण प्ररूप की मध्यवर्ती स्थिति का होता है अर्थात् विषमयुग्मजी (AS) अवस्था में कुछ लाल रुधिर कणिकायें गोलाकार तथा कुछ हंसियाकार होती है। मानव के लाल रक्त कणिकाओं की इस विशेषता को ही 'हंसियाकार कोशिकीय' लक्षण कहते हैं।

(c) **सह–प्रभाविता** (Condominance)– जब दोंनों युग्म विकल्पी विषमयुग्मजी स्थिति में एक–दूसरे के लिए प्रभावी एवं अप्रभावी न होकर साथ–साथ अपने प्रभाव को प्रदर्शित करते हो तो इस प्रकार की वंशागति को सहप्रभाविता (Codominance) कहते है। मनुष्यों में MN रुधिरवर्ग सहप्रभाविता का उदाहरण है। ऐसे व्यक्ति के माता–पिता में से किसी एक का M रुधिरवर्ग तथा दूसरे का N होता है जो F1 पीढ़ी विषययुग्मजी सन्तति का जन्म देते है। इसी प्रकार जब A रुधिरवर्ग (IA IA) का पुरुष B रुधिरवर्ग (IB IB) की स्त्री से विवाह करता है तो उसकी सन्ततियाँ AB रुधिरवर्ग (IA IB) की पायी जाती है क्योंकि माता एवं पिता दोनों के विकल्पी साथ–साथ अभिव्यक्त होते हैं।

2. अप्रवल वंशानुक्रमण

(Recessive Interitance)

यदि किसी लक्षण विशेष की वंशागति के लिए अप्रभावी विकल्पी उत्तरदायी हो तो इस प्रकार की क्रियाविधि को 'अप्रवल वंशानुक्रमण' कहते हैं। अप्रभावी विकल्पी विषमयुग्मज अवस्था में अभिव्यक्त नहीं होता। यह सदैव समयुग्मज अवस्था में प्रकट होता है। उदाहरणार्थ, अप्रभावी विकल्पी 1^{o} जब प्रथम पीढी में प्रभावी विकल्पी 1A से मिलता है विषम युग्मजी अवस्था में होता है जिससे यह प्रकट नहीं होता है तथा इसका प्रभावी विकल्पी अभिव्यक्त होता है जिससे उस विषमयुग्मजी व्यक्ति का रुधिरवर्ग A पाया जाता है। जब यह अप्रभावी विकल्पी द्वितीय पीढी में समयुग्मजी अवस्था में पुनः होता है तो यह प्रकट होता है एवं उस व्यक्ति का रुधिरवर्ग – O पाया जाता है। जब समयुग्मजी $1^{o}1^{o}$ का विवाह किसी समयुग्मजी स्त्री $1^{o}1^{o}$ से होता है तो उत्पन्न सन्ततियों के अप्रभावी विकल्पी प्रकट होते है। इस प्रकार O रुधिरवर्ग की वंशागति हेतुअप्रभावी विकल्पी 1^{o} उत्तरदायी है। अप्रभावी विकल्पी 1^{o} विषमयुग्मजी अवस्था में $1^{A}1^{o}$ प्रभावी विकल्पी के साथ मिश्रित नहीं होता न ही नष्ट होता है। इस अवस्था में इसका लक्षण प्ररूप A अप्रभावी विकल्पी का संवाहक (Carrier) होता है। इस प्रकार मानव में अप्रवल विकल्पी की निम्नांकित अनुपातों में वंशानुक्रमण होता है–

1. समयुग्मजी अप्रभावी विकल्पी ($1^{o}1^{o}$) वाले विवाह समयुग्मजी प्रभावी विकल्पी वाली स्त्री ($1^{A}1^{A}$) के साथ होने पर प्रथमपीढी में सभी सन्ततियाँ विषमयुग्मजी A रुधिरवर्ग ($1^{A}1^{o}$) रुधिर वर्ग की होती हैं।

2. विषमयुग्मजी (1^A1^o) का विवाह जब एक विषमयुग्मजी (1^A1^o) के साथ होता है तो उत्पन्न सन्ततियों का लक्षण प्ररूप एवं O रुधिर वर्ग का अनुपात 3:1 के अनुपात का होता है तथा जीनी प्ररुप 1:2:1 का पाया जाता है। इसमें एक समयुग्मजी A रुधिरवर्ग (1^A1^A), दो विषमयुग्मजी A रुधिरवर्ग (1^A1^o) तथा एक समयुग्मजी O रुधिरवर्ग (1^o1^o) का पाया जाता है।

3. समयुग्मजी (1^o1^o) का विवाह जब समयुग्मजी (1^o1^o) के साथ होने पर सभी सन्ततिया समयुग्मजी O रुधिरवर्ग की पायी जाती है।

4. जब विषमयुग्मजी (1^A1^o) का विवाह समयुग्मजी (1^o1^o) के साथ होता है तो उत्पन्न सन्ततियों के लक्षण प्ररूप 1:1 के अनुपात में पाये जाते है। इनमें 50 प्रतिशत सन्ततियाँ A रुधिरवर्ग वाली एवं 50 प्रतिशत सन्ततियाँ O रुधिरवर्ग की पायी जाती है।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि केवल तीन अवस्थाओं के घटित होने से 'अप्रभावी' लक्षण प्रकट होता है। अप्रभावी लक्षण कभी–कभी एक पीढी की सम्पूर्ण सन्ततियों में प्रकट नहीं होता। इस प्रकार वंशागति में अप्रवल लक्षण की आवृत्ति अत्यल्प होती है।

मानव जनसंख्या में अप्रवल वंशानुक्रमण के अनेकों महत्वपूर्ण उंदाहरण हैं। **'रंजकहीनता'** (Albinism) एक इसी प्रकार का लक्षण है। रजकहीन (Albine) मनुष्यों में त्वचा, बाल तथा ऑख में मिलैनिन (Melanin) नामक रंजक का अभाव पाया जाता है। परिणामस्वरूप 'एल्बिनों' (Albino) की त्वचा श्वेत होती है। वे उन पदार्थों का रूपान्तरण नहीं कर पाते जिससे मिलैनिन का निर्माण एक रंजक के समान होता है।एल्बिनो की त्वचा प्रकाश की किरणों के पड़ने पर अत्यधिक संवेदनशील हो जाता है। इनके बालों का रंग श्वेत के विभिन्न हल्के रूपों से युक्त होता है। इनकी ऑखों का रंग लाल होता क्योंकि परावर्तित प्रकाश लाल रुधिर कूपों से ऑखों में आता रहता है। समयुग्मजी अप्रभावी एल्बिनो विरले ही पाये जाते है। ऐसा अनुमान किया गया है कि अनेकों यूरोपीय राष्ट्रों में 20 हजार व्यक्तियों में से कहीं एक 'एल्बिनों' होता है। स्टर्न के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में कुल 9000 एल्बिनों व्यक्ति हैं। कुछ राष्ट्रों में इनकी संख्या अपेक्षाकृत अधिक है, जैसे लगभग 14292 नीग्रों में से 5 व्यक्ति एल्बिनों होते हैं। इसी प्रकार पनामा राज्य में 132 व्यक्तियों में से एक एल्बिनों हैं।

वंशावली विश्लेषण (Pedegree Analysis) से यह पाया गया है कि रंजकहीनता का लक्षण अनेकों पीढियों में प्रकट नहीं होता है। इसके लिए अप्रवल विकल्पी 'a' उत्तरदायी होता है। सामान्य व्यक्ति का जीनी प्ररूप 'AA' होता है। विषमयुग्मजी सामान्य व्यक्ति का जीनी प्ररूप 'Aa' होता है। यादच्छिक वरण (Random Mating) से 6 प्रकार के संयोग हो सकते है। पहले जब किसी सामान्य व्यक्ति (AA) का किसी सामान्य स्त्री (AA) विवाह होता है। इससे उत्पन्न सभी सन्ततियाँ सामान्य (AA) होती है। दूसरे, जब एक सामान्य व्यक्ति (AA) का विवाह किसी विषमयुग्मजी सामान्य (Aa) से होता है। इससे उसके 50 प्रतिशत बच्चे सामान्य समयुग्मजी (AA) होते है। 50 प्रतिशत सन्ततियाँ विषमयुग्मजी (Aa) होते है जो विकल्पी 'a' के वाहक होते है लेकिन वे स्वयं संजकहीनता के लक्षण से प्रभावित नहीं होते। तीसरे, सामान्य एवं समयुग्मजी (AA) व्यक्ति का विवाह किसी असामान्य समयुग्मजी (aa) अर्थात् एल्बिनों से होने पर उसके बच्चे सामान्य होतेहैं लेकिन सभी सन्ततियाँ विषमयुग्मजी रजकहीनता के लिए उत्तरदायी विकल्पों 'a' के वाहक होते है। चौथे, जब विषमयुग्मजी (Aa) का विवाह किसी विषमयुग्मजी (Aa) से होता है तो सामन्य एवं असामान्य स्थिति का अनुपात 3:1 (75 प्रतिशत सन्तति सामान्य एवं 25 प्रतिशत सन्ततियाँ एल्बिनों) होता है। सामान्य सन्ततियों में समयुग्मजी (AA) एक तिहाई एवं विषमयुग्मजी (Aa) दो तिहाई होते है जो रंजकहीनता के प्रति उत्तरदायी जीन का संवाहन करते हैं। पांचवें, जब विषमयुग्मजी एवं सामान्य व्यक्ति (Aa) का विवाह किसी एल्बिनों (aa) से होता है तो उनके 50 प्रतिशत सन्ततियाँ विषमयुग्मजी (Aa) एवं 50 प्रतिशत सन्ततियाँ एल्बिनों होतीहै। छठे, जब एल्बिनों का विवाह एक एल्बिनों (aa) से होता है तो सभी सन्ततियाँ एल्बिनों होती है।

उक्त तथ्यों के अतिरिक्त रंजकहीनता से सम्बन्धित एक नीग्रो वंशावली को ए० सी० पिपकिन एवं पिपकिन ने 'जरनल ऑफ हरेडिटी' के 33 भाग में 1942 में प्रकाशित किया जिसमें एक एल्बिनों का विवाह एक सामान्य स्त्री से होने पर उनकी एक पुत्री रंजकहीनता के गुण से प्रभावित थी। इससे कुछ वैज्ञानिकों ने इस लक्षण की अप्रबल वंशानुक्रण पर संदेह व्यक्त किया लेकिन इस वंशावली के सभी तथ्यों के सत्यापित न होने के कारण इस लक्षण की वंशागति पर संदेह व्यक्त करना निरर्थक प्रतीत होता है।

बहरा–गूंगापन (Deaf–mutism) लक्षण भी अप्रवल वंशानुक्रमण के नियमों का अनुसरण करता है। इसकी कई वंशावली प्रकाश में आयी है। जिससे स्पष्ट होता है कि अपवादों को छोडकर के 'बहरा गूंगापन' के प्रति एक अप्रभावी विकल्पी उत्तरदायी होता है। बहरापन का लक्षण जन्म के समय प्रकट होता है। कालान्तर में गूंगेपन का लक्षण प्रकट होने लगता है। यदि नवजात शिशु को बोलने की विशिष्ट प्रशिक्षिण प्रदान न किया जाय तो कई वाह्य कारक गूंगेपन लक्षण को जन्म देते है। यह सम्भवतः विषाणु के भ्रूण संक्रमण से उत्पन्न होता है जो उस माँ के भ्रूण को प्रभावित कर पाता है जो खसरे नामक रोग से कभी ग्रसित हुई हो। अब यह आनुवंशिक नियमों का अनुपालन करता है। आनुवंशिक बहरापन के कई प्रकार एक अप्रभावी विकल्पी जोडे समयुम्मजी अवस्था में पाये जाने से उत्पन्न होता है क्योंकि इनके माता–पिता इस रोग के उत्तरदायी जीन के वाहक होते है तथा उनका जीनी प्ररूप विषमयुग्मजी होता है। विषमयुग्मजी माता–पिता की सन्ततियों में बहरापन 3:1 के अनुपात में वंशानुगत होता है। दो बहरे–गूंगे जनक की सभी सन्ततियाँ गूंगी–बहरी होती है। इस आनुवंशिक रोग की कई वंशावलियाँ प्रकाशित हो चुकी है जिससे यह ज्ञात होता है कि यह लक्षण सामान्यतया अप्रवल वंशानुक्रमण की क्रियाविधि के द्वारा पीढ़ी दर पीढी पारगमित होता है।

फिनाइल कीटोन्यूरिया (Phenyl ketonuria) नामक लक्षण की पारिवारिक आवृत्ति एक अप्रबल विकल्पी की समयुग्मजी अवस्था में पायी गयी है। इस लक्षण से प्रभावित व्यक्ति में बुद्धिहीनता चयापचयी विकृति के कारण प्रकट होतीहै। प्रभावित व्यक्ति का मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों की प्रजनन क्षमता अत्यल्प होती है। वंशावली अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ है कि यह रोग भी 'अप्रवल वंशानुक्रमण' की विधियों से हस्तान्तरित होता है।

इसी प्रकार मायोक्लोनिक इपीलेप्सी (Myclonic Epilepsy), अलकाप्टोन्यूरिया (Alkaptonuria), गैलैक्टोसीमिया (Galacto semia) आदि रोगों की वंशागति अप्रवल युग्मविकल्पों पर आधारित होती है।

अन्तर्विकल्पी रहित अथवा अन्तर्जीनी पारस्परिक अभिक्रिया

(Non–allilic or Intergenic genetic Interaction)

अन्तर्विकल्पी अभिक्रिया का आधार एक जीन होता है जिसका वर्णन इसके पूर्व किया गया। इसे मेंडेल ने एक संकर संकरण (Monohybrid Cross) के प्रयोगों द्वारा स्पष्ट किया था। वास्तव में मेंडेल के परवर्ती अध्ययनों से यह सदैव सत्य सिद्ध नहीं हुआ है। एक लक्षण जिसके लिए एक जीन के दो विकल्पी उत्तरदायी होते है, उन्हीं की कुछ अभिक्रियायें मेंडेल के प्रतिपादित सिद्धान्तों से कुछ हटकर प्रतीत हुई है। जब सामान्य एक वंशानुक्रम (Simple Single inheritance) से हटकर दो अथवा बहुजीवी बहुकारकीय वंशानुक्रम का उल्लेख करते हैं तो एक जीन के युग्मविकल्पियों के मध्य क्रियाओं तक ही सीमित नहीं रहना पड़ता, वरन् दो अथवा उससे अधिक जीनों के मध्य क्रिया अध्ययन का मुख्य आकर्षण बनती है। मेंडेल ने इस प्रकार का अध्ययन द्वि संकरण अथवा बहुसंकर संकरण (Polyhybrid Cross) के द्वारा 9:3:3:1 का आनुवंशिक अनुपात की सार्वभौमिकता प्रस्तावित किया। यह आनुवंशिक अनुपात भी कालान्तर के अध्ययनों में सदैव सत्य सिद्ध न हो सका। पौधों एवं जीवों के ऊपर कई द्विसंकर संकरण प्रयोगों के परिणामस्वरूप आनुवंशिकी का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त **'प्रबलता का सिद्धान्त'** (Principle of Epistasis) प्रस्तावित किया गया, जिसका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है–

प्रबलता का सिद्धान्त

(Principle of Epistasis)

जब कभी एक गुणसूत्र पर भिन्न–भिन्न स्थान (Locus) पर स्थित एक जीन दूसरे की अभिव्यक्ति को प्रभावित करता है तो पहला जीन दूसरे पर अपनी प्रबलता प्रकट करता है। इस घटना को प्रबलता (Epistasis) कहते हैं। इसमें अलग–अलग स्थानों (loci) पर स्थित दो स्वतन्त्र जीन (जो एक–दूसरे के युग्मविकल्पी नहीं होते) जीव के एक लक्षण को इस प्रकार प्रभावित करते हैं कि एक जीन दूसरे की अभिव्यक्ति को छिपा देता है। जो जीन द् सरे को प्रभावित करता है उसे प्रबल कारक (Epistatic Factor or gene) तथा जिस जीन अभिव्यक्ति छिप जाती है उसे अप्रबल कारक या जीन (Hypostatic Factor or gene) कहते है।

वास्तव में 'प्रबलता' ग्रीक भाषा के Epistasis शब्द का रूपान्तरण है। यह ग्रीक भाषायी शब्द का अर्थ 'प्रतिरोध उत्पन्न करता हुआ' या 'रोकता हुआ' या 'छिपाव' या 'शमन' आदि होताहै। यह शब्द अर्थ बोध कराने में स्वयं समर्थ है। उदाहरणस्वरूप रंजकहीनता (Albinism) का जीन श्याम एवं घूसर रंग (Agauti) के जीनों के प्रति प्रबल हैं क्योंकि ये रंग बिल्कुल व्यक्त नहीं होते हैं जब रंजकहीनता के जीन समयुग्मजी अवस्था में पाये जाते हैं। ये जीन 'निरोधी जीन' (Inhibiting gene) है।निरोधी जीन वह जीन होते हैं जिसका किसी लक्षण विशेष परस्वयं का तो प्रभाव नहीं होता किन्तु प्रभावी रूप में उपस्थित होने पर यह उस लक्षण विशेष के स्वतन्त्र प्रभावी जीन की अभिव्यक्ति को रोकता है अथवा उसका निरोध करता है।

इस प्रकार 'प्रबलता' (Epistasis) भिन्न–भिन्न जीनों के मध्य घटित होने एक अभिक्रिया है जिसमें कम से कम भिन्न दो जीनं परस्पर सक्रिय होते है जब कि 'प्रभाविता' (Dominance) में एक ही जीन के युग्म विकल्पियों के मध्य होने वाली अभिक्रिया है जिसमें दो विकल्पी परस्पर सक्रिय रहते होते है। प्रबलता दो प्रकार का होता है– प्रभावी प्रबलता (Dominant epistasis) एवं अप्रभावी प्रबलता (Recessive epistasis)।

'प्रभावी प्रबलता' में एक जीन का प्रभावी विकल्पी (Dominant allele) दूसरे स्थान पर स्थित किसी जीन के युग्म के प्रभाव को छिपा अथवा रोक लेता है। 'अप्रभावी प्रबलता' में एक जीन का अप्रभावी युग्म विकल्पी (Recessive allele) दूसरे स्थान पर स्थित सामान्य जीन के प्रभाव को छिपा अथवा रोक लेता है।उदाहरणस्वरूप रंजकहीनता जिसके लिए एक अप्रभावी युग्मविकल्पी (aa) उत्तरदायी होते है वह समयुग्मजी अवस्था में दूसरे स्थान पर स्थित जीनों के प्रभाव को विकसित नहीं होने देता। एक एल्बिनों नीग्रों बच्चा जो अपने माता–पिता से नीग्रों रंजक ग्रहण करता है किन्तु रंजकहीनता के लिए उत्तरदायी युग्म विकल्पी की समयुग्मता की स्थिति में रंजकहीनता का जीन त्वचा, बाल एवं आँखों के रंगों के उत्तरदायी जीनों पर प्रबल होता है।

अमेंडलीय वंशागति

अभी तक मेंडलीय वंशागति के वर्णन में यह देखा गया कि मानव में प्रबल एवं अप्रबल वंशागति के नियम सामान्य स्थितियों में स्पष्टतः लागू होते हैं। लेकिन जब मेंडल का स्वतन्त्र अपव्यूहन के नियम की चर्चा की जा रही थी तो इसका संकेत दिया गया था कि मानव में स्पष्ट रूप से व्यवहरित नहीं होता है क्योंकि कुछ जीन या लक्षण ऐसे होते हैं जो किसी न किसी जीन से उस समय भी सम्बन्ध बनाये रहते है जब यह अगली पीढ़ी में पारगमित होते हैं। इस नियम के विपरीत इस प्रकार की क्रियाविधि को 'सहलग्नता' या सहलग्नवंशागति (Linkage or linked inheritance) कहते हैं।

सहलग्नता

(Linkage)

सहलग्नता का सिद्धान्त 1911 ई० में टी० एच० मार्गन (T.H. Morgan) ने प्रतिपादित किया था। इसके पूर्व संटन (Sutton, 1903) में विचार व्यक्त किया था कि प्रत्येक गुणसूत्र (Chromosomes) पर स्थित समस्त जीन एक साथ सन्ततियों में पारगमित होते हैं। बेट्सन एवं पुनेट (Bateson and Punnet,

1906) ने सर्वप्रथम मटर के पौधों पर प्रायोगिक अध्ययन किया और देखा कि एक ही जनक के युग्मविकल्पी (जीन) युग्मक में एकत्रित रहते हुए एक ही साथ संततियों में वंशागत होने की प्रवृत्ति रखते है, इसे उन्होंने युग्मन (Coupling) की संज्ञा दी। इसी प्रकार दो अलग–अलग जनको से आये जीन सन्ततियों में पृथक् रूप से वंशागत होते है। इसे उन्होंने 'विलग्नता' या 'प्रतिकर्षण' (Repulsion) की संज्ञा दी।

मार्गन ने 'युग्मन' एवं विलग्नता (प्रतिकर्षण) को एक ही प्रक्रिया के दो पहलू बताया है। इस प्रक्रिया को 'सहलग्नता' (Linkage) कहते हैं। उनके अनुसार, एक गुणसूत्र पर स्थित जीनों के सन्ततियों में साथ–साथ वंशागत होने की प्रवृत्ति को 'सहलग्नता' कहते हैं। इस सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषतायें हैं–

1. सहलग्नता की प्रवृत्ति रखने वाले जीन एक ही गुणसूत्र पर स्थित होते है।

2. सभी जीन रेखीय क्रम में एक गुणसूत्र पर स्थित होते हैं।

3. सहलग्न जीन के मध्य की दूरी सहलग्नता सामर्थ्य से सम्बन्धित होती है। अतः निकटस्थ जीन में सहलग्नता की शक्ति दूरस्थ जीनों की तुलना में अधिक होती है। दूरस्थ जीनों में विनिमय (Crossing Over) की सम्भावनायें अधिक होती है।

मार्गन एवं उनके सहयोगी कैसल (Castle) ने ड्रोसोफिला मक्खी (Drosophila–Fruint Fly) पर अध्ययन किया था। इनके सहलग्नता सिद्धान्त को कालान्तर में कोशिकीय अध्ययनों द्वारा व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ। यदि दो जीन एक ही गुणसूत्र पर सहलग्न होते हैं। स्पष्ट रूप से वे मीयासिस विभाजन के दौरान भी जीन साथ–साथ यात्रा करने की प्रवृत्ति रखते है। उस समय ज़ब जनको के युग्म निषेचित होते है तो पुनः वह सभी जीन अपनी सन्ततियों में उसी गुणसूत्र पर विन्यसित रहते हैं।

दूसरी ओर यदि गहरायी से अवलोकन किया जाये तो सहलग्न वंशागति मेंडल के स्वतन्त्र अपव्यूहन के सिद्धान्त की कोई विरोधी प्रक्रिया नहीं है क्योंकि मेंडलीय वंशागति के अनुसार यह उन दो भसहलग्न (Unlinked) जीन के अध्ययनों पर आधारित है जो पृथक् गुणसूत्रों पर स्थित होते हैं तथा युग्मजनन क्रियाविधियों में एक पीढी से दूसरी पीढी तक पृथक तवा स्वतन्त्र या असहलग्न रूप से पारगमित होते है। मेंडल ने सहलग्नता की जटिलताओं के ऊपर प्रहार कभी नहीं किया। वह भाग्यशाली इस बात के लिए अवश्य थे कि गुणसूत्र का ज्ञान न होने पर भी उन्होंने उन्हीं लक्षणों (जीन) का चुनाव किया जो अलग–अलग गुणसूत्र पर स्थित थे। इस प्रकार सहलग्नता का सिद्धान्त मेंडलीय वंशागति का उपहास नहीं करता अपितु वंशागति की क्रियाविधि का एक नवीन आयाम है।

यह सहलग्नता मानव के प्रत्येक गुणसूत्र से सम्बन्धित हो सकती है। चूंकि मानव के गुणसूत्रों को दो मुख्य संवर्गों में विभक्त करते है अलिंगसूत्री या कायिकसूत्री (Autosome) एवं लिंगसूत्र (Sex–chromosome), इसलिए जब कोई सहलग्न जीन कायिक सूत्रों पर पाये जाये तो उनकी सहलग्नता को 'अलिंग–सहलग्नता' (Autosomal Linkage) कहते है, दूसरी ओर, जब कोई जीन लिंग गुणसूत्रों पर सहलग्न हो तो इस सहलग्न वंशागति को लिंग–सहलग्नता (Sex–linkage) कहते है। लेकिन कभी दो सहलग्न जीन में से एक लिंगसूत्र पर स्थित होता है तथा दूसरा अलिंग सूत्रों पर, लेकिन वंशागति साथ–साथ (सहलग्न होकर) होती है। अलिंग सहलग्नता अध्ययन लिंग गुणसूत्रों पर अपेक्षाकृत अधिक हुआ।

लिंग–सहलग्नता (Sex-Linkage)

लिंग गुणसूत्रों –X एवं Y का मुख्य कार्य लिंग निर्धारण है। इन पर लिंग निर्धारक जीन उपस्थित होते है। अभी जल्दी ही एक खोज में 1995 में फॉस्टर एवं उनके सहयोगियों ने Y गुणसूत्र पर 'SRY' जीन का पता लगाया है। इसी गुणसूत्र पर 'SRY–9' लिंग निर्धारक एवं अस्थि निर्माण में भाग लेता है। पुरुषता हेतु उत्तरदायी जीन 'TDF' (Testies Determining Factor) का पता भी चला है जो Y गुणसूत्र की छोटी भुजा

पर स्थित है। यह DNA का एक छोटा अनुक्रम है जो कुल 35 Kb लम्बा जीन है। इस पुरुषता जीन की खोज 1995 में रैस्कों एवं डाउन्स (Rasko and Downes) ने की। इसी प्रकार स्त्री लक्षण के लिए उत्तरदायी 'XIST' जीन गुणसूत्र –X एवं Y पर होते है। ये जीन कुछ ऐसे दैहिक लक्षणों का नियन्त्रण करते हैं जिनका लिंग से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः उन दैहिक लक्षणों को जिनके लिए उत्तरदायी जीन लिंग गुणसूत्रों पर स्थित होते है तथा वे जीन उसी लिंग गुणसूत्र के साथ वंशागत होते है इस जीन की इस प्रकार की सहलग्न प्रवृत्ति को 'लिंग–सहलग्नता' (Sex–lindage) तथा इस प्रकार की वंशागति को 'लिंग सहलग्न वंशागति' (Sex–linked interitance) कहते हैं।

मानव में लिंग सहलग्नता की अभिव्यक्ति करने वाले लक्षण को लिंग सहलग्न लक्षण कहते हैं। ये लिंग सहलग्न लक्षण जिनके लिए लिंग सहल्गन जीन उत्तरदायी होते हैं, वे कभी–कभी पूर्णतः व्यक्त नहीं होते तथा या तो वे किसी एक लिंग में सीमित रहते है अथवा किसी एक लिंग से प्रभावित रहते हैं। इसलिए इन सभी लक्षणों को निम्न तीन श्रेणियों में क्रमबद्ध किया जाता है–

1. लिंग–सहलग्न (Sex–linked)
2. लिंग–सीमित (Sex–limited)
3. लिंग प्रभावित (Sex–influenced)

1. लिंग–सहलग्न (Sex–linked interitance)

लिंगसहलग्नता, जिसमें लिंग–सहलग्न जीन पूर्णतः व्यक्त होते , वे दो लिंग–गुणसूत्रों –XY के आधार पर दो भागों में विभक्त किये गये हैं :

(i) X – सहलग्नता

(ii) Y –सहलग्नता

(i) X–सहलग्नता

यदि किसी लक्षण के जीन X – गुणसूत्र पर स्थित होते है तथा वे एक पीढी से दूसरी पीढी तक इसी गुणसूत्र पर सहलग्न होकर वंशागत होते है तो उस लक्षण को 'X.– सहलग्न लक्षण' कहते है तथा इस प्रकार की आनुवंशिक क्रियाविधि को 'X – सहलग्नता' कहते है। अध्ययनों से पता चलता है कि मनुष्यों में 20 प्रतिशत लक्षण लिंग–सहलग्न होते हैं। इन लक्षणों की वंशागति के आधार पर इस आनुवंशिक क्रियाविधि को अधिक समझा जा सकता है।

वर्णान्धता (Colour–blindness)

कुछ मनुष्यों में लाल एवं हरे रंग का इसके समकक्षी रंगों से भेद स्थापित करने की सामर्थ्य नहीं होती, ऐसे पुरुष 'वर्णान्ध' (Colourblind) कहे जाते है। इनका यह लक्षण जिसकी अभिव्यक्ति एक विशेष प्रकार के जीन के कारण हुई, इसे 'वर्णान्धता' (Colour blindness) कहते हैं। लाल रंग से सम्बन्धित वर्णान्धता को प्रोटोनोपिया (Protonopia) कहते हैं जबकि ड्यूटेरैनोपिया (Deuteranopia) उस वर्णान्धता को कहते है जो हरे रंग से सम्बन्धित होती है। प्रथम वर्णान्धता प्रकार में मनुष्य (रोगी) लाल रंग को नारंगी एवं इससे मिलते–जुलते रंगों से पृथक नहीं कर पाता, जबकि दूसरी ओर द्वितीय प्रकार की वर्णान्धता से ग्रसित मनुष्य हरे रंग को नीले रंग से अलग करने में असमर्थ होता है।

अध्ययनों से यह पता चला है कि वर्णान्धता के लिए उत्तरदायी जीन (विकल्पी) अप्रभावी होता है। यह समयुग्मजी (Homozygosity) की अवस्था में प्रकट होता है। चूंकि पुरुषों में X– गुणसूत्र एक ही होता है अतः यह अप्रभावी विकल्पी सदैव व्यक्त होता है। इस प्रकार की वंशागति को 'X – सहलग्नअप्रवल वंशागति'

कहते है। इसे एक उदाहरण से समझ सकते हैं। एक दम्पति जिनमें स्त्री सामान्य (XX) एवं पुरुष वर्णान्ध (XY) है। पुरुष वर्णान्ध इसलिए होती है क्योंकि उसके इकलौते गुणसूत्र से वर्णान्धता का 'अपबल जीन' सहलग्न है। दोनों के सहवासों से उनके दोनों बच्चे (पुत्र एवं पुत्री) सामान्य है क्योंकि उनके पुत्र ने पिता से Y गुणसूत्र एवं मां से सामान्य X गुणसूत्र प्राप्त किया। जबकि उनकी पुत्री जिसने पिता से वर्णान्ध जीन युक्त X – गुणसूत्र एवं मां से सामान्य X गुणसूत्र प्राप्त किया है। सामान्य एवं असामान्य X – गुणसूत्र के संयोग से भी उनकी पुत्री वर्णान्ध नहीं है क्योंकि विषमयुग्मजी पुत्री जिसको सामान्य X – गुणसूत्र मां से प्राप्त हुआ है वह 'वर्णान्धता जीन वाले X गुणसूत्र, के ऊपर प्रभावी है जिससे पिता से आया जीन व्यक्त नहीं हो सका क्योंकि वह अप्रभावी (Recessive) है। उन दम्पत्तियों की वाहक (Carrier) है जो अपने 50 प्रतिशत बच्चों को यही असामान्य जीन विकल्पी प्रदान कर सकती है।यदि इसका विवाह एक वर्णान्ध पुरुष से हो जाये तो इनकी आधी (50%) बेटिया एवं आधे (50%) बेटे वर्णान्ध होंगे, तथा दूसरी ओर शेष आधी बेटिया (Rest 50%) जीन की वाहक (Carrier) तथा शेष आधे बेटे (Rest 50%) सामान्य होंगे। दूसरे शब्दों में कुल बेटों में आधे बेटे वर्णान्ध होंगे तथा कुल बेटियों में आधी बेटियाँ वर्णान्ध होंगी। यह बेटियाँ वर्णान्ध इसीलिए होंगी क्योंकि वह समयुग्मजी अवस्था में दोनों अप्रबल युग्म विकल्पियों को अपनी मां एवं पिता के असामान्य X– गुणसूत्रों (XX) को प्राप्त करती है। इसी प्रकार यदि एक वर्णान्ध स्त्री एक सामान्य पुरुष से विवाह करती है तो उसके सभी बेटे वर्णान्ध एवं सभी बेटियाँ वाहक (Carrier) होगी।

हीमोफीलिया

(Haemophilia)

हीमोफीलिया उस विकृति को कहते है जब घाव या जखम हो जाने पर रक्त स्राव तब तक सरलता से बन्द नहीं होता जब तक उस व्यक्ति के शरीर में रुधिर शेष रहता है। इसके फलस्वरूप उस रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। सामान्य व्यक्तियों में जख्म हो जाने पर 3 – 8 मिनट में घाव पर रुधिर का थक्का (Clot) बन जाता है जिससे रक्त स्राव बंद हो जाता है। रक्त का थक्का बनना उस व्यक्ति के रुधिर में स्थित प्लेटलेट एवं अन्य इसके अभिकारकों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होता है। इस क्रिया से उत्पन्न प्रोटीन को 'एण्टी हीमोफीलिक ग्लोब्यूलिन' कहते हैं। दूसरे थ्रम्बोप्लास्टीन की कमी होने से भी हीमाफीलिया हो जाती है। हीमोफीलिया के इन दोनों रूपों को क्रमशः हीमोफीलिया A एवं B कहा जाता है। यह रोग उस समय आकर्षण का केन्द्र अधिक बना जब यूरोप के राजघरानों के कई सदस्य इससे प्रभावित हुए। आदिकाल से ही इसके अनेकों उदाहरण उपलब्ध है।

हीमोफीलिया एक लिंग सहलग्न अप्रभावी जीन के कारण होता है जो X – गुणसूत्र पर पाया जाता है। इसमें भी यदि स्त्रियों में दोनों गुणसूत्रों पर स्थित होता है तो स्त्रियों में यह लक्षण व्यक्त होता है अन्यथा एक X–गुणसूत्र पर ही हीमोफीलिया के लिए उत्तरदायी जीन स्थित होने से स्त्रियों में यह अव्यक्त रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहे कि समयुग्मजी अवस्था में यह लक्षण व्यक्त होता है जबकि असमयुग्मजी अवस्था में अव्यक्त ही रहता है तथा असमयुग्मजी स्त्रियाँ इस जीन की केवल वाहक होती है। पुरुषों में चूंकि X गुणसूत्र एक ही होता है, अतः उनमें इस जीन के होने के लक्षण प्रकट होता है।

दाँतों के भूरे एनैमेल

(Brown Enamel of Teath)

एनैमेल (दन्त आवरण) के विकृत होने से दांतों का रंग भूरा पीता हो जाता है। यह एक आनुवंशिक लक्षण है। इस लक्षण के लिए एक जीन उत्तरदायी होता है। अध्ययनों से यह विदित होता है कि यह जीन, वर्णान्धता एवं हीमोफीलिया से भिन्न एक प्रबल जीन है। यह जीन X गुणसूत्र से सहलग्न होता है।

इस लक्षण की वंशगति को स्पष्ट करने के लिए हाल्डेन (Haldane) ने 1937 में एक वंशावली (Pedigree) प्रकाशित किया। इस वंशावली में यह लक्षण प्रभावित व्यक्ति (पुरुष) का सभी पुत्रियों में देखा जाता है क्योंकि जो X – गुणसूत्र पिता से प्राप्त होता है वह विकृत दन्त आवरण (Enamel) से सहलग्न होता है तथा जो X – गुणसूभ मां से प्राप्त करती है वह इस जीन से सहलग्न नहीं होता। मां से प्राप्त X – गुणसूत्र इस जीन से युक्त नहीं है, यह इस बात से प्रमाणित हो जाता है क्योंकि इन दम्पत्तियों के सभी पुत्र बिना भूरे दांतों के है जो केवल मां से ही X – गुणसूत्र प्राप्त करते है।

इसी प्रकार X – सहलग्न प्रभावी वंशागति के अन्य उदाहरण भी प्रकाश में आये हैं, जैसे 'रुधिर में फास्फोरस का अभाव' (Phosphorus deficiency in Blood), पेशीय विकलांगता (Mascular destrophy) आदि। इनमें पेशीय विकलांगता प्रबल व अप्रबल दोनों प्रकार से वंशागत होता है।

(ii) Y– सहलग्नता

Y – सहलग्नता, उन जीन के द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी वंशागत देखी जाती है जो Y – गुणसूत्र से सहलग्न होते है। इनकी वंशागति सरल होतीहै क्योंकि Y – गुणसूत्र पुरुषों में ही पाया जाता है। अतः Y – सहलग्न वंशागति पुरुषों में ही घटित होती है क्योंकि यह गुणसूत्र स्त्रियों में अनुपस्थित होता है। इसीलिए यह लक्षण पिता से पुत्र में तथा पुत्र से पौत्र में वंशानुगत होता है। Y – सहलग्न वंशागति को Y – सहलग्न लक्षणों के माध्यम से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

हाइपरट्राइकोसिस

(Hypertrichosis)

हाइपरट्राइकोसिस एक ऐसा लक्षण है जिसकी उपस्थिति से पुरुषों के कानों पर लम्बे बाल पाये जाते है। यह लक्षण सर्वप्रथम उस समय प्रकाश में आया जब टॉमैसी (Tomoasi) ने 1907 में एक ऐसे इटलीवासी परिवार का उल्लेख किया जिसमें पुरुषों के कान पर लम्बे बाल थे। काकयने (Cockayne, 1933) ने बताया कि इस लक्षण के लिए एक प्रबल जीन उत्तरदायी होता है जो Y – गुणसूत्र से सहलग्न होता है। इस विषय में कर्टस्टर्न (Curstern) एवं गेट्स (Gates) में मतभेद है क्योंकि इस लक्षण के Y – सहलग्नता पर संदेह व्यक्त करते हैं, जब कि गेट्स ने इसकी y – सहलग्नता का समर्थन करके कुछ दृष्टान्त भी प्रस्तुत किया हैं।

पॉरक्यूपाइन मनुष्य

(Porcupine Men)

इंग्लैण्डवासी एक दम्पत्ति के 1716 में एक ऐसा पुत्र हुआ जिसके 6 माह के अन्तर्गत शरीर में हथेली, तलवे, सिर व मुखमण्डल के अतिरिक्त शेष सभी त्वचीय भागों पर खुरदरे, शूकमय शल्क (Bristly Scales) एव शूक (Bristle) के सदृश लगभग 1 इंच के बाल उत्पन्न हुए। कालान्तर में इस प्रकार के बच्चे को 'पॉरक्यूपाइन मनुष्य' के नाम से जाना गया। जब इस प्रकार के मनुष्य का विवाह एक सामान्य स्त्री से हुआ तो इससे उत्पन्न सभी 6 बेटों में यह लक्षण उपस्थित था।यह सामान्य रूप से देखा गया कि यह लक्षण पुरुषों में प्रकट होता है लेकिन स्त्रियों में नहीं। अतः यह लक्षण उस प्रभावी जीन से नियन्त्रित है जो Y गुणसूत्र से सहलग्न है। चूंकि इस लक्षण की आवृत्ति अत्यधिक नहीं है, इसलिए इसकी सहलग्न वंशागति अत्यधिक सरल एवं स्पष्ट नहीं है।

पादजाल

(Webbed Toe)

अमेरिका में एक शोफील्ड (Schofied) कुटुम्ब के 14 पुरुषों में एक लक्षण देखा गया। इसमें पैर की द्वितीय तथा तृतीय अंगूठे के मध्य एक जाल की आकृति पायी जाती है। इसे 'पादजाल' (Webbed) कहते हैं। वंशावली अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इस कुटुम्ब की स्त्रियों में यह रचना पूर्णतः अनुपस्थित होती है।

यह लक्षण कुछ और परिवारों में भी अध्ययन किया गया है। लेकिन यह लक्षण स्त्री तथा पुरुषों दोनों में व्यक्त देखा गया है यद्यपि पुरुषों में इसकी आवृत्ति अधिक है।

अतः यह लक्षण अनुमानतः एक उस जीन के द्वारा नियन्त्रित होता है जो Y गुणसूत्र से सहलग्न है लेकिन इसकी सत्यता की जाँच तभी हो सकती है जब इस लक्षण की आवृत्ति जनसमूहों में अत्यन्त हो।

इस प्रकार उपरोक्त उदाहरणों के माध्यम से सहलग्नता दोनों लिंग गुणसूत्रों में उद्धृत की गयी। लेकिन Y सहलग्नता के प्रामाणिक दृष्टान्तों के अभाव में यह कह पाना कि जीन दोनों लिंग सूत्रों से X एवं Y सहलग्न होते हैं, अक्षरशः सत्य प्रतीत नहीं होता। मानव में सहलग्न जीनों की X – गुणसूत्र में उपस्थिति के अनेकों साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनकी चर्चा पूर्व पृष्ठों पर की गयी। लेकिन Y – सहलग्न वंशागति का अस्तित्व तभी साकार हो सकेगा जब भविष्य इसके ठोस साक्ष्य प्रस्तुत करे।

2. लिंग सीमित लक्षण

(Sex–Limited Trait)

कुछ लक्षण ऐसे होते है जिनके जीन लिंग एवं अलिंगसूत्र (Sex Chromosomes and Autosomes) दोनों पर स्थित होते हैं लेकिन वे किसी एक लिंग (स्त्री अथवा पुरुष) में ही व्यक्त होते है, ऐसे लक्षणों को लिंग सीमित लक्षण कहा जाता है। इन लक्षणों की वंशागति विविध प्रकार की होती है। इनकी अभिव्यक्ति काफी सीमा तक उस व्यक्ति में पायी जाने वाले 'लिंग हारमोन' (Sex–Hormone) पर निर्भर करती है। यह मानना कि यह लक्षण पूर्ण–रूपेण लिंग सीमित होते हैं, सत्य प्रतीत नहीं होता, यद्यपि पूर्ण लिंग सीमितता के कुछ दृष्टान्त अवश्य है।

स्त्रियों में **'रजोधर्मता'** (Menstruation) पूर्ण लिंग सीमितता का उदाहरण है, क्योंकि यह लक्षण पुरुषों में पूर्णतः अनुपस्थित होता है। इसी प्रकार स्त्रियों में **स्तनों का विकास**, मधुर एवं पतली आवाज (Voice), **दुग्ध ग्रंथियों की उपस्थिति** आदि लक्षण लिंग सीमित हैं जिनकी उपस्थिति पुरुषों में कदापि नहीं होती। कुछ ऐसे भी लक्षण है जो पुरुषों में पाये जाते हैं लेकिन वे स्त्रियों में पूर्णतः प्रकट नहीं होते। यदा–कदा अपूर्ण एवं आंशिक रूप में स्त्रियों में यह प्रकट होते हैं। इस प्रकार के लक्षणों को अपूर्ण लिंग सीमित लक्षणों की कोटि में सम्मिलित करते है। उदाहरणस्वरूप, **पुरुषों में दाढ़ी तथा मूंछे** पायी जाती है जबकि स्त्रियों में नहीं। लेकिन यदा–कदा ये अपूर्ण एवं अंशतः कुछ स्त्रियों में पायी जाती हैं लेकिन वे अल्पविकसित होती है।

गंजापन (Baldness) भी लिंग सीमितता को व्यक्त करता है। यह लक्षण पुरुषों में तो पूर्णतः व्यक्त होता है लेकिन स्त्रियों में नहीं। स्त्रियों में यह आंशिक रूप से तो देखा जाता है लेकिन स्त्रियों में पूर्ण–गंजापन किसी विकृति या अन्य रोग के फलस्वरूप ही होता है। अनुसंधानों से यह पता चला है कि कुछ पुरुषों में रोमकूप अथवा बालों की जडों (Hair foclicle) से सम्बन्धित किसी विकास के फलस्वरूप भी गंजापन का लक्षण उत्पन्न हो जाता है अन्यथा पुरुषों में गंजेपन का लक्षण उसी समय प्रकट होता है जब इसके लिए उत्तरदायी जीन उशके लिंग अथवा अलिंग सूत्रों पर विद्यमान हो। गंजे पुरुष दम्पत्तियों के अध्ययनों से भी स्पष्ट होता है कि गंजापन पुरुषों में ही पूर्णतः प्रकट होता है।

2. लिंग प्रभावी लक्षण

(Sex–influenced Traits)

लिंग प्रभावी लक्षण, लिंग सीमित तथा लिंग सहलग्न लक्षणों से भिन्न होते हैं। ये वे लक्षण है जिनके उत्तरदायी जीन किसी अलिंग सूत्र (Autosome) पर स्थित होते हैं। लेकिन इनकी अभिव्यक्ति एक लिंग के मनुष्यों में तो 'प्रबल' रूप में होती है जबकि दूसरे लिंग के मनुष्यों में यह अप्रबल जीन के कारण व्यक्त होता है।

लिंग प्रभावी लक्षणों की लिंग सीमित लक्षणों से भिन्नता इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि लिंग प्रभावी लक्षण के लिए उत्तरदायी जीन एक 'अलिंगसूत्र' पर पाया जाता है जबकि लिंग सीमित लक्षणों के लिए उत्तरदायी जीन 'लिंग तथा अलिंग सूत्र' अर्थात् दोनों प्रकार के गुणसूत्रों पर पाया जाता है। लिंग सीमित लक्षण मनुष्य के एक ही लिंग में सीमित होता है जबकि विरोधी लिंग में अप्रकट। दूसरी ओर लिंग प्रभावी लक्षण दोनों लिंगों में प्रकट होता है, एक में प्रभावी रूप में तथा दूसरे में अप्राभावी रूप से व्यक्त होता है। इसी प्रकार लिंग प्रभावी तथा लिंग सीमित लक्षण लिंग–सहलग्न लक्षणों से भिन्न होते है क्योंकि लिंग सहलग्न लक्षण केवल लिंग गुणसूत्र (X अथवा Y) पर ही पाये जाते है तथा उक्त दोनों लक्षणों के समान अलिंग सूत्रों पर ये लिंग सहलग्न लक्षण कदापि उपस्थित नहीं होते।

लिंग प्रभावी लक्षण पुरुष तथा स्त्रियों में समान रूप से वंशानुगत होते है। प्रायः ये लक्षण मनुष्यों में अधिक पाये जाते हैं। इसका एक दृष्टान्त 1917 में होम्स तथा शोफील्ड (Holmes and Schofield) ने प्रकाशित किया। इस लक्षण को इन वैज्ञानिकों ने 'श्वेत अग्रकेश' (White Forelock) कहा। इसमें सिर के केशों में एक सफेद 'बालों का गुच्छा' होता है। इस लक्षण की एक वंशावली 'जनरल ऑफ हरेडिटी' (Journal of Heredity) के 28वें अंक में 1937 छपी। इसके विश्लेषण से यह पता चलता है कि यह अग्रकेशी लक्षण पुत्र में तथा पौत्रों में समान रूप से व्यक्त होता है लेकिन स्त्रियों में यह लक्षण तीसरी एवं चौथी पीढी में व्यक्त हो पाता है। यह घटना यह इंगित करती है कि अग्रकेश लक्षण पुरुषों में प्रबल एवं स्त्रियों में अप्रबल रूप व्यक्त होता है।

इसके अतिरिक्त अन्य लक्षण जैसे– उच्च एवं बाहरी कृतक दांत की अनुपस्थिति, इक्थियॉसिस या त्वचा का शल्कीकरण (Ichthyosis or Skin Scaling), हबर्डेन की ग्रंथि (Hberden's nodes) आदि लिंग प्रभावी लक्षणों की श्रेणी के लक्षण माने जाते है। इन लक्षणों की अभिव्यक्ति पुरुषों में ही प्रबल रूप से हो, यह आवश्यक नहीं है।

***

15

आनुवंशिकी के भौतिक आधार

मानव अथवा किसी भी जीवन के लक्षण उसके माता–पिता से वंशागत होने वाले लक्षणों (Genes) पर निर्भर करते हैं। ये हजारों लक्षण रेकीय क्रम में गुणसूत्रों (Chromosomes) पर स्थित होते है। ये गुणसूत्र मानव अथवा उस जीव की कोशिका (Cell) में पाये जाते हैं। ये लक्षण कोशिका विभाजन एवं जनन द्वारा माता–पिता से उसकी संतति में पारगमित होते हैं।

कोशिका

(Cell)

कोशिका जीव संरचना की एक मौलिक इकाई है। यह प्रोटोप्लास्म का अर्ध तरल, चिपचिपा अनियमित पिण्ड है। इसक्रे अन्तः भाग में (लाल रक्त की कणिकाओं के अतिरिक्त) केन्द्रक पाया जाता है। कोशिका अध्ययन का प्रारम्भ सत्रहवीं शताब्दी में हुआ। इसकी खोज एक अंग्रेजी जीव वैज्ञानिक राबर्ट हुक (Robert Hooke) ने 1665 में की। हुक ने कार्क(Cork) की पतले काटे (Section) गये खण्ड में मधुमक्खी के छत्ते जैसी रचना को देखा जो छोटे–छोटे कोष्ठकों (Chambers) में विभक्त था। प्रत्येक कोष्ठक के चारों ओर दीवार थी। इन्हीं कोष्ठकों को कालान्तर में कोशिका के नाम से पुकारा जाने लगा। इन कोशिकाओं में सर्वप्रथम राबर्ट ब्राउन (Robert Brown) ने एक बडा गोलाकार सघन पिण्ड देखा। इन्होंने इसका नाम 'केन्द्र' रखा। फ्लेमिंग (Fleming) ने 1882 में कोशिका विभाजन के दौरान एक रेखीय क्रम से नियोजित रचना को देखा जो आनुवंशिक पदार्थ को रखती है। इन्होंने इसका नाम क्रोमैटिन (Chromatin) रखा। वालडेयर (Waldyer, 1888) ने इस रचना के लिए 'क्रोमोसोम' (Chromosome) या गुणसूत्र प्रस्तावित किया। वान वेनेडन (Von Beneden) एवं ह्यूसर (Heuser) ने एक कोशिका के आधे गुणसूत्रों को संतति कोशिका (Daughter Cell) में जाते हुए सर्वप्रथम देखा। बॉन बेनेडन (1884) ने यह भी पता लगाया कि किस प्रकार एक युग्मनज (Zygote) माता एवं पिता से गुणसूत्रों की समान संख्या को प्राप्त करता है। इस प्रकार आज यही अध्ययन आनुवंशिकी में मील के पत्थर साबित हुए है। आज यह ज्ञात है कि एक कोशिका (Zygote) से जीवन यात्रा आरम्भ करने वाला मानव जन्म के समय लगभग 200 करोड़ कोशिकाओं का स्वामी बन जाता है तथा प्रौढ़ावस्था में यह कोशिकाएँ बढकर लगभग 65,000 करोड़ हो जाती है।

कोशिका–आकार

कोशिका का आकार अनियमित होता है। यह त्रिकोणात्मक, बेलनाकार, अण्डाकार, गोल, घनाकार, रेखाकार एवं लम्बा होता है। तथा बहुआयामी इसका आकार क्रिया अनुकूलन, सतही तनाव, कोशिका भित्ति की दृढता एवं प्रोटोप्लाज्म के चिपचिपाहट के द्वारा प्रभावित होता है। अलग–अलग इसके आकार भिन्न होते है।यह भिन्नता जीव के अंगों के अनुसार भी पायी जाती है। एक ही अंग की कोशिकाओं में भी विविधतायें

पायी जाती है। साधारणतया इसके आकार तथा आकृत्ति उसके कार्यों से सम्बद्ध पायी गयी है। इसीलिए मांसपेशियों की कोशिकायें लम्बी शरीर के भीतरी भाग की कोशिकायें चपटी एवं गोल होती है।

कोशिका की आकृति 1 m से लेकर 5 सेमी० तक भिन्न–भिन्न हो सकती है। व्यास में सबसे बडी कोशिका शुतुर्मुर्ग (Ostrich) का अण्डा होता है। तम्त्रिका–कोशिकायें 3.0 से लेकर 3.5 फिट तक लम्बी होती है, जो सबसे अधिक अधिक लम्बी कोशिकायें है।

कोशिका के प्रकार

कोशिकायें दो प्रकार की होती है प्रोकैरियाटिक एवं युकैरियाटिक।इनकी आन्तरिक संरचना अत्यन्त सरल होती है। ये जीवाणुओं एवं नीलहरित शैवालों (Bluegreen algae) में पायी जाती है। अन्य कोशिकाओं की भाँति इनमें कोशिकांग नहीं होते। इसीलिए इस आदिम रचना वाली कोशिका को 'प्रोकैरियटिक' (Prokaryotic) कहते हैं। इसके विपरीत 'युकैरियाटिक' (Eukaryotic) कोशिका विकसित प्रकार की होती है जो अन्य समस्त वनस्पति एवं जीवों में पायी जाती है। इसमें केन्द्रक सुस्पष्ट एक कलावद्ध होता है। इसके चयापचमी कार्य कोशिकांगों द्वारा सम्पन्न होते हैं। इन कोशिकाओं में अर्धसूत्री कोशिका विभाजन भी घटित होता है। इन दोनों प्रकार की कोशिकाओं में प्रमुख अन्तर निम्न तालिका में दर्शाया गया है–

लक्षण (Character)	प्रोकैरियाट (Prokaryote)	यूकैरियाट (Eukaryote)
विस्तार	वैक्टीरिया एवं नीलहरित शैवाल में	सभी उच्च जीवों एवं पौधों में
औसत व्यास	1μ	20μ
केन्द्रक पदार्थ	साइटोप्लास्म से केन्द्रक–कला के द्वारा अपृथक	कलावद्ध एवं सुस्पष्ट
डी.एन.ए.	वृत्ताकार एवं एक सहलग्न समूह वाला	रेखीय एवं कई गुणसूत्रों में विभक्त
न्यूक्लियोलस	अनुपस्थित	उपस्थित
कोशिका विभाजन	एमियाटिक	सामान्यता माइटॉसिस एवं मीयॉसिस
लैंगिकता	अनुपस्थित	स्त्री एवं पुरुष प्रति रूप
रिक्तिकायें	अनुपस्थित	उपस्थित
प्लैस्टिड	अनुपस्थित	उपस्थित
राइबोसोम	छोटा (70S)	बडा(80S)
इण्डोप्लामिक जालिका	अनुपस्थित	उपस्थित
गोल्की काय	अनुपस्थित	उपस्थित

युकैरियाटिक कोशिकायें दो प्रकार की होती है– प्राणि एवं वनस्पति कोशिकायें। प्राणि कोशिकायें (Animal Cell) रचना में वनस्पति कोशिकाओं (Plant Cell) से भिन्न होती है। प्राणि कोशिका का बाहरी झिल्ली (Plasmamembrane) सूक्ष्म महीन तन्तुओं (Microvilli) से पड़ोसी कोशिका के सम्पर्क में रहती है जबकि वनस्पति कोशिका भित्ति (Cell Wall) से घिरी हुई होती है।चूंकि पड़ोसी कोशिका भी भित्ती से घिरी होती है इसलिए दो कोशिकाओं के मध्य दो भित्तियाँ होती है।इन भित्तियों के मध्य 'लैमेला' (Lamella) स्थित होता है। प्राणिकोशिकाओं में रिक्तिकायें छोटी एवं खोखली पायी जाती है जबकि वनस्पति कोशिकाओं में ये अपेक्षाकृत बड़े आकार की होती है। वनस्पति कोशिका की रिक्तिकायें प्रायः केन्द्रीय भाग के पास होती है जबकि प्राणिकोशिकायें केन्द्रीय क्षेत्र (केन्द्रक) से कुछ हटकर कोशिका–झिल्ली (Membrane) के निकट होती है।

प्राणि कोशिका रचना

प्राणि कोशिका कई सुपरिभाषित कोशिकांगों एवं उपभागों से मिल करके बनी हुई होती है। ये सभी कोशिकांग एवं उपभाग परस्पर अन्तर्सम्बन्धित होते है। एक कोशिका दो भागों में विभक्त होती है केन्द्रक एवं साइटोप्लाज्म। केन्द्र कोशिका के केन्द्रीय भाग में होता है जबकि साइटोप्लाज्म कोशिका के बाहरी भाग में होता है।

1. केन्द्रक
(Nucleus)

केन्द्रक एक कोशिका के वंशागत गुणों (DNA) का केन्द्र है। यह केन्द्रक की द्विसतही कला से घिरा हुआ होता है। यह प्रोटोप्लाजम का एक सघन पिण्ड सामान्यतः 5–10 u के व्यास वाला होता है। यह कोशिका के विकास का मार्गदर्शन एवं नियन्त्रण करता है। कोशिका की समस्त चयापचयी कार्यों का प्रेरक एवं नियन्त्रक यही केन्द्रक होता हैं। इसकी आकृत्ति प्रत्येक कोशिकाओं में एक जैसी नहीं होती। यह गुणसूत्रों की संख्या एवं मात्रा तथा साइटोप्लाज्म पर निर्भर करती है। यह सामान्यतः गोलाकार होता है लेकिन इपीथिलयम कोशिका में लम्बा तथा मांसपेशीय कोशिकाओं में तश्तरी के आकार जैसा होता है। इसके मुख्य अंगक निम्न है–

(1) केन्द्रक–कला (Nucleur Membrane)
(2) केन्द्रक द्रव्य (Necleur sap or Nuclioplasm)
(3) क्रोमैटिन तन्तु (Clromatin Fibres)
(4) न्यूक्लियोलस (Nucleolus)

1. **केन्द्रक कला–** केन्द्रक के चारों ओर द्विसतही झिल्ली या कला होती है। इन कलाओं के मध्य एक अन्तर कला अवकाश पाया जाता है इसे 'परिकेन्द्रक अवकाश' (peri nucleur space) कहते है। बाहरी केन्द्रक कला खुरदरी होती है क्योंकि यह साइटोप्लाजम के अन्तः द्रव्यीय जालिका गोल्गी काय, माइटोकाण्ड्रिया के सम्पर्कमें होती है। एक निश्चित बिंदु पर अन्तः एवं वाह्य केन्द्रक कला एक में मिल जाती है। जिससे छोटा रन्ध्र उत्पन्न होता है। प्रत्येक छोटे रन्ध्र पर 'डायाफ्राम' जैसी आकृत्ति ऐनुलस (Anulus) स्थित होता है जिससे केन्द्रक के पदार्थों का स्वतन्त्र आवागमन नहीं हो पाता।इस प्रकार केन्द्रकला केन्द्रक को घेरकर इसे एक निश्चित आकृति प्रदान करता है।इसके पदार्थों के आवागमन का नियन्त्रयण करता है। यह माइटोकान्ड्रिया के निर्माण में भी सहायक होता है।

2. **केन्द्रक द्रव्य**– इसे 'न्यूक्लियोप्लाज्म' कहते है। यह केन्द्रक का तरल भाग है। इसे 'कैरयोलिम्फ' (Karyolymph) भी कहते हैं। यह केन्द्रक कला एवं न्यूक्लियस (केन्द्रक) के खाली भाग को भरता है। यह पारदर्शी अर्धतरल दानेदार एवं हल्का एसिडोफिलिक भाग होता है। इसमें न्यूक्लियो प्रोटीन, न्यूक्लियो हिस्टोन, न्यूक्लिक अम्ल, एंजाइम, लिपिड तथा विभिन्न खनिज होते हैं।

3. **न्यूक्लियोलाई**– न्यूक्लियोलाई केन्द्रक के अन्दर विद्यमान एक प्रकार के पिण्ड (Bodies) है जो एक या एक से अधिक होते है। इनकी आकृत्ति गोल गुम्बद जैसी (Spherical) होती है। ये प्रोटीन, आर.एन.ए. (RNA) लिपिड तथा अल्प मात्रा में स्थित डीएनए से होते हैं। यह किसी झिल्ली से घिरे नहीं होते। ऐसा माना जाता है कि ये r – RNA (राइबोसोमल आर एन.ए.) के संश्लेषण के लिए एक स्थल प्रदान करता है। यह प्रोटीन से मिलकर केन्द्र से साइटोप्लाज्म में चले जाते हैं जहाँ पर राइबोसोम से संघटित होते हैं।

4. **क्रोमैटिन तन्तु**– यह आनुवंशिक पदार्थ है जो कोशिका–विभाजन के समय सुस्पष्ट रूप से दिखाई पडता है। कोशिका विभाजन के दौरान यह आनुवंशिक पदार्थ क्रोमैटिन तन्तुओं एवं कणों (जिसमें डीएनए (DNA) एवं प्रोटीन होता है) के रूप में प्रकट होता है। विभाजन की सक्रिय अवधि में जो क्रोमैटिन के तन्तु द्विगुणित हो कुण्डलित हो जाते हैं इन्हें 'क्रोमोसोम' या 'गुणसूत्र' के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक क्रोमैटिन तन्तु हल्के एवं गहरे रंजक क्षेत्र को प्रदर्शित करते हैं इन्हें 'युक्रोमैटिन' (Euchromatin) एवं 'हेट्रोक्रोमैटिन' (Heterochreomatin) कहते हैं। हेट्रोक्रोमैटिन डीएनए की मात्रा रखते है।

प्रत्येक क्रोमोसोम या गुणसूत्र में इनके मैट्रिक्स से घिरे दो पतले एवं कुण्डलित अक्षीय सूत्र (fitament) दिखाई देते हैं जिनहें 'क्रोमोनिमाटा' (Chromonemata) कहते है। इन सूत्रों पर युग्मों में सुव्यवस्थित सूक्ष्म कण उभरे होते है इन्हें 'क्रोमोमियर' (Chromomeres) कहते है। विभाजन की अवस्थाओं गुणसूत्र एक स्थान पर अत्यन्त पतला होकर दो भुजाओं को प्रकट करता है, यो दोनों उस स्थान पर जुडते प्रतीत होते है।इस कणीय बिन्दु को सेंट्रोमियर कहते हैं। इस समय इनकी लम्बाई 25u से 50u तक होती है। मनुष्य में इनकी संख्या 46 होती है। इसमें 22 जोड़े अलिंग गुणसूत्र एवं 1 जोडी लिंग गुणसूत्र होते हैं। ये गुणसूत्रों डीएनए एवं विशेष प्रकार की प्रोटीन–हिस्टोन से बने हुए हैं। चूंकि ये गुणसूत्र एवं डीएनए वंशागति के नियामक है, अतः इनका विस्तृत वर्णन इसके आगे किया जायेगा।

2. साइटोप्लाज्म या कोशिकाद्रव्य

कोशिका द्रव्य कोशिका के बाहरी भाग को कहते है। यह केन्द्रक कला एवं कोशिका कला के मध्य स्थित होता है। उसका अर्धतरल भाग केन्द्रक की अपेक्षा अधिक तरल होता है। गुणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लगभग सभी कोशिकीय चयापचयी क्रियायें (न्यूक्लिक अम्ल संश्लेषण के अतिरिक्त) जैसे–प्रोटीन लिपिड, कार्बोहाइड्रेट संश्लेषण, उर्जा चयापचयी कार्य आदि इसी के अन्तर्गत सम्पन्न होती है।इस भाग के निम्नलिखित अंगक एवं उपभाग है–

(i) कोशिका कला (Plasma Membrane)

(ii) कोशिका द्रव्यीय मैट्रिक्स (Cytoplasmic Matrix)

(iii) माइटोकांड्रिया (Mitochondria)

(iv) गाल्गी काय (Golgibodies)

(v) अन्तः द्रव्यीय जालिका (Endoplasmic Reticulum)

(vi) राइबोसोम (Ribosome)

(vii) लाइसोसोम (Lysosome)

(viii) सूक्ष्म नलिकाये (Microtubules)

(ix) रिक्तिकायें (Vacuoles)

(x) सेन्ट्रोसोम (Centrosomes)

(xi) प्रोटीन रेशे या फिलामेंट

(i) **कोशिका कला**– प्रत्येक बाहरी वातावरण से एक कला (Membrane) के द्वारा पृथक होती है जो मुख्यतः फास्फोलिपिड एवं प्रोटीन से बनी होती है। इस जटिल कला की मोटाई 70 से 75० A के मध्य होती है। यह अत्यधिक पतली, लचीली, रन्ध्रयुक्त एवं अर्धपारभासी होती है। इससे होकर जल एवं इसमें घुले पदार्थ कोशिका में प्रवेश करते रहते हैं। इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी से देखने पर यह त्रिपटलीय प्रतीत होती है (Denicelli and Davson 1955)। बाहरी परत फास्फोलिपिड एवं आन्तरिक परत प्रोटीन की होती है।

इसके मुख्य कार्य कोशिका के द्रव्य को पडोसी कोशिका में जाने से रोकना, बाहरी क्षति से बचाना, वृद्धि में लचीलेपन के कारण बाधक न होना, कोशिका द्रव्यों के मध्य नियमित विनिमय को बनाये रखना आदि है।

(ii) **कोशिका द्रव्यीय मैट्रिक्स**– कोशिका कला एवं केन्द्रक के मध्य एक आकृतिहीन पारदर्शी तथा समांग तरल भरा होता है। इस पदार्थ को 'मैट्रिक्स' कहते है। इसमें प्रमुखतः जल पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सोडियम, पोटैशियम, धातु लवण, विभिन्न कार्वनिक यौगिक जैसे लिपिड, न्यूक्लियो प्रोटीन, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेड, न्युक्लिक अम्ल, एन्जाइम आदि इस मैट्रिक्स के मुख्य संगठन है।

(iii) **माइटोकॉड्रिया**– कोशिकीय रासायनिक क्रियाओं का नियन्त्रण अधिक संख्या में द्रव्य में तैरते रहते है। इनका आकार एवं रचना भिन्न प्रदर्शित करता है। इसका व्यास 0.2 u से 2.0 u तक तथा लम्बाई 0.3 u से 4.0 u तक होता है। यह लाइपो प्रोटीन की दो कलाओं द्वारा चारों ओर से घिरी होती है। इन कलाओं के मध्य $60 - 80\ A^\circ$ की मोटाई का खाली स्थान पाया जाता है। आन्तरिक कला खुरदरी अनेक प्रकार से मुडकर क्रिस्टी (Critae) को विनिर्मित करती है। आन्तरिक कला के मध्य के भाग को 'मैट्रिक्स' कहते है। 'क्रिस्टी' पर विभिन्न प्रकार के एजाइम पाये जाते है। मैट्रिक्स में क्रिस्टी के निकट डीएनए के अणु रेखाबद्ध होकर स्थित होते है। माइटोकांड्रिया कार्यानुसार फूलती एवं संकुचित होती रहती है। यह कोशिका के श्वसन का केन्द्र है जहाँ शर्करा एवं नसा के अनुणों का विखण्डन होता है जिससे आणविक ऊर्जा उत्पन्न होती है। ये अन्ततः ATP के अणुओं में संग्रहीत होती है तथा इसे कोशिका के लिए 'ऊर्जा का घर' (Power House) भी कहते है।

(iv) **गॉल्गी काय**-- कैमिलो गाल्गी (Camilo Golgi 1898) ने इस कोशिकांगक को सर्वप्रथम देखा था इसीलिए इसका नाम 'गॉल्गी काय' पडा। गॉल्गी काय नलिकाओं का एक समूह होता है जो प्रायः केन्द्रक के पास स्थित होता है। इन नलिकाओं को सिस्टर्नी (Cisternae) कहा जाता है। इनकी आकृति परिवर्तनशील होती है। इनकी रचनाओं में वसा (lipid) की मात्रा अधिक होती है इस कारण से इन्हें लिपोकांड्रिया (Lipochondria) भी कहा जाता है।

इनका मुख्य कार्य कोशिका के बाहर पदार्थों के आवागमन में तथा लिपिड संश्लेषण में सहायता करना है।

(v) **अन्तःद्रव्यीय जालिका**– समस्त कोशिका द्रव्य में कुण्डिकान्वित, पुटिकान्वित, शाखान्वित तथा पतली दोहरी कलायुक्त नलिकाओं का समूह होता है, इन्हें अन्तःद्रव्यीय जालिका कहा जाता है। इस जाल की नलिकाओं में प्रायः तरल द्रव्य भरा रहता है। इससे यह प्रतीत होता है कि ये जालिका केन्द्रक एवं कोशिका द्रव्य के मध्य तथा कोशिका द्रव्य एवं बाहरी द्रव्यों के मध्य पदार्थों के परिसंचरण (Circulation) एवं परिवहन (Transportation) का कार्य करती है। इस कोशिकांगक के तीन उपांग – कुण्डिका, पुटिका तथा नलिका होते हैं। कुंडिकाये बडी चपटी व 40–50 mu मोटी, पुटिकायें गोलाकार जिनका व्यास 25–500 mu होता है। जालिकायें की दो कलाओं में एक कला जो खुरदरी होती है, इस पर राइबोसोम चिपके रहते हैं।

(vi) **राइबोसोम**– यह 60 % राइहबोन्युक्लिक अम्ल (RNA) एवं 40 % प्रोटीन से बनी संरचना है। इनका आकार गोल होता है। ये प्रायः अन्तर्द्रव्यीय जालिका की खुरदरी कला पर स्थित होते हैं। इसके अतिरिक्त ये कोशिकाद्रव्य में स्वतन्त्र रूप से तैरते रहते हैं।कभी–कभी इनके विखण्डित टुकड़ेदिखाई देते हैं जिन्हें 'माइक्रोसोम' कहा जाता है।

इनका प्रमुख कार्य केन्द्रक के आये हुए आर एन ए. से मिलकर तथा पुनः कोशिका द्रव्य से अमीनो अम्लों को संयोजित करके 'आर एन ए.' के अनुरूप प्रोटीन का संश्लेषण करना है प्रोटीन संश्लेषण के कार्य में अन्तर्दव्यीय जालिका भी सहायता करती है।

(vii) **लाइसोसोम**– यो गोल तथा अण्डाकार कोशिकांगक है।ये माइटोकाण्ड्रिया से कुछ छोटा कलाबद्ध थैलिया होती है।इनमें उपस्थित एन्जाइम मुख्य रूप से वसा, प्रोटीन, न्यूक्लिक अम्लों के बड़े अणुओं को छोटे अणुओं में तोड़ने का कार्य करते है।इसके अतिरिक्त जो बाहरी पदार्थ किसी कार्यों के उपयोग में नहीं आता, उसे ये अंगक गला देता है।

(viii) **सूक्ष्म नलिकायें**– ये सीधी एवं लम्बी नलिकायें एक गुच्छे के समान समूह में एकत्रित होती है। ये अत्यन्त बारीक एवं महीन होती है। इनका मुख्य कार्य जल आयनों तथा छोटे अणुओं के आवागमन में सहायता करना है। इसके अतिरिक्त कोशिका विभाजन के दौरान तन्तुओं (Spindles) एवं एस्टरों का निर्माण करना है।

(ix) **रिक्तिकाये**– इनका आकार गोल होता है। रिक्तिका का द्रव्य जल के सदृश होता है। इनमें लवण वर्णक, शर्करा एवं विभिन्न रासायनिक पदार्थ घुले रहते हैं। इनका मुख्य कार्य जल के दबाव को नियन्त्रित करना है। इसके अतिरिक्त ये कोशिका के अनावश्यक पदार्थों के एकत्रित होने का स्थान प्रदान करना है।

(x) **सेंट्रोसोम**– ये केन्द्रक के पास स्थित होते है। इनके अन्दर का द्रव्य पदार्थ कोशिका द्रव्य से गाढा होता है। कोशिका विभाजन के समय इनमें दो शलाकायें उत्पन्न हो जाती है इन्हें 'सेंट्रियोल' (Centriole) कहते है। प्रत्येक सेंट्रियोल में नौ तन्तु होते हैं तथा इन प्रत्येक तन्तु में तीन सूक्ष्म नलिकायें होती है। इन्हीं सूक्ष्म नलिकाओं के 'स्पिंडल' (Spindle) बनते हैं।

इन कोशिकाओं का मुख्य कार्य कोशिका विभाजन की शुरुवात करना तथा इसका नियन्त्रण करना है। ये विभाजन के अन्तिम अवस्थाओं के समय गुणसूत्रों का पृथक्करण एवं इसकी गति में सहायता भी करते हैं।

(xi) **प्रोटीन रेशे या फिलामेंट**– ये रचनायें प्रोटीन के अणुओं की बनी होती है। इनकी लम्बाई अनियमित होती है। ये लम्बे धागे के सदृश होती है। अभी तक इनके कार्यों का निश्चित ज्ञान नहीं हो सका है। सम्भवतः ये कोशिका द्रव्य को मजबूती प्रदान करते है।

इस प्रकार कोशिका की उपरोक्त रचनायें कार्य एवं परिस्थिति के अनुसार यदाकदा विविधितायें प्रदर्शित करती है। साथ–साथ केन्द्रक का कोशिका द्रव्य से व सम्पूर्ण कोशिका का बाहरी परिवेश से सम्बन्ध

स्थापित करने में सहायक होते हैं। m RNA के द्वारा केन्द्रक एवं कोशिका द्रव्य प्रत्यक्ष रूप से अन्तः सम्बन्धित होते है। जो आनुवंशिक सूचना पारगमन हेतु इस पर अंकित (Transeribed) होती है उसे यह केन्द्रक से कोशिकाद्रव्य में लाता है जहाँ पर प्रोटीन संश्लेषण के रूप में यह अनुदित होती है। इसके बाद ही उस आनुवंशिक पदार्थ का अनुलिपीकरण हो पाता है। कोशिका अपने विकास एवं सवृद्धि के लिए आवश्यक जैविक पदार्थों को बाहरी परिवेश से ग्रहण करती है। इससे इसके द्रव्य में बृद्धि हो जाती है। फलस्वरूप केन्द्र द्रव्य सूचकांक अथवा केरियोप्लाज्मिक सूचकांक (Karyoplasmic Index) में संतुलन बिगड जाता है। केन्द्र के परिणाम एवं कोशिका द्रव्य की मात्रा का पूर्ववत् अनुपात बनाये रखने हेतु उस कोशिका में विभाजन आवश्यक हो जाता है।

कोशिकीय जीवन चक्र

(Cell Life Cycle)

कोशिकाओं की संवृद्धि एवं विकास चक्र की भाँति सदैव गतिमान रहता है। जब कोई कोशिका अत्यधिक संर्वधित हो जाती है तो उसमें विभाजन की क्रिया आरम्भ हो जाती है। इसे कोशिका चक्र (Cell Cycle) कहते है। इस प्रकार कोशिका संवृद्धि कोशिका विभाजनों के मध्य की अवस्था है जिसे अन्तरावस्था कहते है। इसी अवस्था अर्थात् कोशिका सवृद्धि काल में कोशिकांगकों की अनुलिपियाँ विकसित हो जाती है। जीनों का अनुलिपीकरण होता है। गुणसूत्र जो कोशिका केन्द्रक भाग में स्थित होते है। उनमें धागे के समान एक 'क्रोमोनेमाटा' होता है जिस पर रेखिक क्रम में जीन लगे रहते हैं। प्रत्येक जीन एक अति जटिल दुहरे रज्जुकी पदार्थ– डी एन ए के दोनों रज्जुक पृथक् हो जाते है। प्रत्येक रज्जुक 'न्यूक्लियोप्लाज्म' में से न्यूक्लियोटिडों का चुनाव करके अपने सम्पूरक रज्जुक का निर्माण कर लेता है। इस प्रकार एक जीन की दो अनुलिपियाँ बनती है तथा एक जीन से दो पृथक् जीन बनते है।

प्रणियों में शरीर कोशिका का जीवन चक्र निम्न चार चरणों में पूर्ण होता है–

(i) G1 अवस्था (G1 Period)

(ii) S अवस्था (S Period)

(iii) G2 अवस्था (G2 Period)

(iv) M अवस्था (M Period)

(i) **G1 अवस्था–** G1 अवस्था कोशिका का प्रारम्भिक वृद्धिकाल है। इस काल में कोशिका DNA संश्लेषण के लिए आवश्यक पदार्थों का संग्रह करती है तथा प्रारम्भिक कणों जैसे– प्रोटीन का संश्लेषण करती है। इस अवस्था में कोशिका के जीवन चक्र का लगभग 8 घंटे का समय व्यतीत होता है। कोशिका में घटित होने वाले सूक्ष्म विभेदन इसी काल में प्रस्फुटित होते हैं।

(ii) **S अवस्था–** इस अवस्था को 'DNA संश्लेषण काल' भी कहते है। यह लम्बी अवधिवाली कोशिका अवस्था है जिससे लगभग 6 घंटे का समय लगता है। इस काल में गुणसूत्रों की अनुलिपियाँ DNA संश्लेषण के उपरान्त बनती है।

(iii) **G2 अवस्था–** यह द्वितीय वृद्धिकाल है। इस समंय कोशिका आवश्यक प्रोटीन एवं RNA का संश्लेषण कर स्वयं के विभाजित करने हेतु तैयार करती है। इस कार्य में कोशिका अपने जीवन चक्र का लगभग 4 या 5 घंटे लेती है।

(iv) **M अवस्था या कोशिका विभाजन–** इस अवस्था में कोशिका दो सन्तति कोशिकाओं में विभाजित हो जाती है। इन दोनों सन्तति कोशिकाओं (Daughter Cells) में गुणसूत्रों, जीनो, डीएनए आदि की मात्रा इनके पूर्वज कोशिकाओं के समान ही होती है। कोशिका के इस विभाजन को सूत्री विभाजन या माइटोसिस कोशिका विभाजन कहते है। इस कारण से इस काल को M अवस्था या (M Period) कहा

जाता है। इस अवस्था में कोशिका के जीवन चक्र का न्यूनाधिक समय लगता है तथा जिस कोशिका की संवृद्धि में लगभग 19 घंटे लगते है, उसका विभाजन मात्र 60 मिनट में सम्पन्न हो जाता है और विभाजित हुई कोशिका पुनः अपनी जीवन यात्रा आरम्भ कर देती है जो कुल 20 घंटे की होती है।

उपरोक्त कोशिका विभाजन मानव शरीर की समस्त कोशिकाओं में घटित नहीं होता। यह विभाजन केवल दैहिक कोशिकाओं (Somatic Cell) में होता है। ज्ञातव्य हो कि अंग एवं स्थान वितरण के आधार पर कोशिकाएँ दो प्रकार की होती है– **दैहिक** एवं **जनन**। दैहिक कोशिकायें सम्पूर्ण शरीर के विकास एवं वृद्धि के लिए उत्तरदायी होती है। ये पूरे शरीर में होती है।इनका विभाजन मुख्यतः अप्रत्यक्ष रूप से (माइटासिस या सूत्री विभाजन) एवं प्रत्यक्ष रूप से (अमाइटॉसिस) होता है। मानव शरीर कोशिकाओं का विभाजन मुख्यतः माइटॉसिस प्रक्रिया होता है। दूसरी ओर जनदों (Genital Organs) में जनन कोशिकायें (GermCells) होती है जिनमें विभाजन में **अर्धसूत्री** या **मीयॉसिस** प्रक्रिया घटित होती है। इससे युग्मों–शुक्राणु एवं अण्डाणु का निर्माण होता है जिनसे एक युग्मनज (Zygote) उत्पन्न होता है। इस युग्मनज की संवृद्धि एवं विकास पुनः सूत्री विभाजन प्रक्रिया से होता है जिसके फलस्वरूप मानव–भ्रूण जन्म लेता है।

इस प्रकार मानव कोशिकाओं का विभाजन मुख्यतः दो भिन्न प्रक्रियाओं से होता है–

(i) क्षैतिज प्रक्रिया : सामान्यता इसे माइटॉसिस या सूत्री विभाजन कहते हैं।

(ii) रेखीय प्रक्रिया : इसे मीयॉसिस या अर्धसूत्री विभाजन कहा जाता है।

माइटॉसिस या सूत्री विभाजन

सूत्री कोशिका विभाजन (Mitosis) समस्त यूकैरियाट दैहिक कोशिकाओं में होता है। इसके परिणामस्वरूप एक पूर्वज कोशिका दो सन्तति कोशिकाओं में विभक्त हो जाती है। ये आकार एवं संरचना में अपने जनक कोशिका के समान होती है। इनमें डी एन ए. जीन एवं गुणसूत्र संख्या एवं रूप में भी अपनी पितृ कोशिका के सदृश होते हैं। सूत्री कोशिका विभाजन घटनाक्रमों की एक अविरल प्रक्रिया है जिसके कारण ही ऊतकों, अंगों का निरन्तर विकास व इनकी क्षतिपूर्ति होती रहती है। इसीलिए इसे क्षैतिज प्रक्रिया भी कहते है। यह प्रक्रिया निम्न अवस्थाओं में पूर्ण होती है–

1. कैरियॉकाइनेसिस या केन्द्रक विभाजन

2. साइटोकाइनेसिस या कोशिका द्रव्य विभाजन

1. कैरियोकाइनेसिस या केन्द्रक विभाजन

(Karyokinasis)

प्रत्येक दैहिक कोशिका के सूत्री विभाजन की प्रक्रिया मुख्यतः दो चरणों में पूर्ण होती है। प्रथम चरण में कोशिका के केन्द्रक के अन्दर विभाजन की कई क्रियायें तेजी से होती है। यह दूसरे चरण के विभाजन से जटिल है। केन्द्रक का विभाजन जब हो चुका है तो कोशिका विभाजन का द्वितीय एवं अन्तिम चरण आरम्भ होता है। इसमें कोशिका द्रव्य विभाजित होता है। केन्द्र विभाजन की प्रक्रिया निम्न अवस्थाओं में परिपूर्ण होती है–

(i) पूर्वावस्था या प्रॉफेज (Prophase),

(ii) मध्यावस्था या मेटाफेज (Metaphase),

(iii) पश्चावस्था या एनॉफेज (Anaphase)

(iv) अन्त्यावस्था या टीलॉफेज (Telophase)

(i) **पूर्वावस्था**– इस अवस्था में जल का क्षरण होता है जिसके स्पष्ट धागों के रूप में दृष्टिगोचर होते है। शनैः इनकी लम्बाई सीमित होती है तथा मोटाई बढती जाती है। ये तन्तु स्प्रिंग की भाँति कुण्डलित होकर

लम्बाई घटाते है तता मोटाई में वृद्धि करते हैं। इस अवस्था के अर्धकाल तक एक गुणसूत्र की आधी संरचना स्पष्ट हो जाती है। प्रत्येक गुणसूत्र में डी एन ए के अनुलिपीकृत होने से दो क्रोमैटिड (Chromatid) दिखाई पड़ने लगते है। तारक केन्द्रक या सेंट्रियाल अपने विभाजन के लिए उद्यत हो जाते है। यह सभी घटनायें पूर्वावस्था के प्रथम काल में सम्पूर्ण होती है।

पूर्वावस्था के अन्तिम उपावस्था में सेंट्रियाल दो सन्तंति सेंट्रियालों में विभक्त हो जाते है। इसके पश्चात् दो सन्तति सेंट्रियाल विरोधी ध्रुवों में दूर खिसकने लगते है तथा इनसे एस्ट्रल रश्मियाँ विकसित हो जाती है। इन सन्तति सेंट्रियालों (ये सेंट्रोसोम के रूप हैं) की सहायता के लिए सूक्ष्म नलिकायें (Microtubules) आ जाती है जो इन ऐस्ट्रल रश्मियों के विकास में सहायता करती है। विरोधी ध्रुवों में स्थित सन्तति सेंट्रियालों के मध्य ये सूक्ष्म नलिकायें तुर्क (Spindle) बनाती है। केन्द्रक कला का विलोपीकरण धीरे–धीरे आरम्भ हो जाता है। गुणसूत्र तर्कु के मध्यरेखाओं पर खिसकने लगते है। अन्त में न्यूक्लियोलास पूर्णतः विलुप्त हो जाता है।

(ii) **मध्यावस्था–** प्रारम्भ में तर्कु पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाते है। केन्द्रक कला लगभग विलुप्त होने लगती है। गुणसूत्र तर्कु के इन्वेटर या विषुवतरेखीय तल (Equator) पर पहुंच जाते है। वहाँ इनके सेन्ट्रोमियर (Centromere) तर्कु के इक्वेटर पर स्थित हो जाते है तथा गुणसूत्र की भुजायें (Chromatids) ध्रुवों की ओर उन्मुख हो जाते हैं जो तर्कु इक्वेटर से बाहर जाती हुई प्रतीत होती है। इस अवस्था के अन्तिम चरण में केन्द्रक कला पूर्णतः विलुप्त हो जाती ह । गुणसूत्र और अधिक कुण्डलित, सघन व छोटे हो जाते है।

(iii) **पश्चावस्था–** यह एक निर्णायक अवस्था है क्योंकि इसी अवस्था में एक गुणसूत्र दो सन्तति गुणसूत्रों में विभाजित होते है।प्रारम्भ में तर्कु तन्तुओं में तनाव उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप गुणस ूत्रों पर विरोधी तनाव पडता है और इसका सेंट्रोमियर दो भागों में विखण्डित हो जाता है जिससे गुणसूत्र के दोनों क्रोमैटिड (सन्तति गुणसूत्र) पृथक हो जाते है।इससे ये दोनों पृथक् सन्तति गुणसूत्र एक स्वतन्त्र गुणसूत्र के रूप में तर्कु के विपरीत ध्रुवों की ओर गतिमान होते हैं। इस क्रिया में सर्वप्रथम तर्कु तन्तुओं से सम्बद्ध सन्तति कोशिका के सेंट्रोमियर विरोधी ध्रुवों की ओर अग्रसरित हो जाते हैं। साथ ही क्रोमैटिड भी खिसकने लगते है। इस अवस्था के अन्तिम क्षणों में सन्तति गुणसूत्र ध्रुवों के निकट स्थित हो जाते है। ये गुणसूत्र जो एकहरे गुच्छे के समान प्रतीत होते हैं इनका आकार सेंट्रोमियर की स्थिति के अनुरूप V, J अथवा L अक्षरों के सदृश हो जाते हैं।

(vi) **अन्त्यावस्था–** यह केन्द्रक विभाजन की अन्तिम अवस्था है। इसमें गुणसूत्र (संतति) लम्बे एवं पतले हो जाते है तथा ये क्रोमैटिन जाल का रूप ग्रहण करने लगते है इनके चारों ओर केन्द्रक कला (Membrane) विकसित होने लगती है। तर्कु तन्तु की रश्मियाँ विलुप्त होने लगती है। इस प्रकार तर्कु के प्रत्येक ध्रुव पर एक सन्तति केन्द्रक उत्पन्न हो जाता है जिनमें गुणसूत्रों की संख्या पितृ केन्द्रक के बराबर होती है। गुणसूत्रों के तर्कु ध्रुवों पर स्थित होने तथा सन्तति केन्द्रक के बनने के फलस्वरूप कोशिका के मध्य वृत्तीय रेखा (Equator) पर खांच (Furrow) विकसित होने लगते है जो कोशिका द्रव्य विभाजन (Cytokinosis) का संकेत देते हैं।

2. कोशिका द्रव्य विभाजन

(Cytokinosis)

केन्द्रक विभाजन के पश्चात् कोशिका के बाहरी भाग कोशिका द्रव्य में तनाव प्रारम्भ हो जाता है। कोशिका द्रव्य में यह तनाव मध्य में आता है जहाँ केन्द्रक विभाजन में तर्कु तन्तुओं का इक्वेटर होता है। कोशिका का यह मध्यवृत्तरेखीय भाग गुणसूत्रों के न रहने से जब खाली होने लगता है तब कोशिका द्रव्य में इस सीमा पर विरोधी ध्रुवों पर स्थित सन्तति केन्द्रकों का सर्वाधिक विरोधी बल लगता है। इस विरोधी बल के फलस्वरूप कोशिका के इस भाग पर संकीर्णन आरम्भ हो जाता है। इससे कोशिका द्रव्य की बाहरी

कला तेजी से फैलती एवं संकुचित होती जाती है। अन्ततः दो सन्तति कोशिकाओं में यह कोशिका द्रव्य विभक्त हो जाता है। ये सन्तति कोशिकायें जो जनक या पूर्वज कोशिकाओं के समान रूप और रचना में होती हैं इनमें गुणसूत्रों की संख्या एवं कोशिकांगों की मात्रा बराबर–बराबर होती है।

सूत्री विभाजन का महत्व

बहुकोशीय प्राणियों में सूत्री कोशा विभाजन का विशेष महत्व है। इस विभाजन के फलस्वरूप इसके शरीर की प्रत्येक कोशिकाये (सन्तति) अपने पूर्वज या पितृ कोशिकाओं के समान रहती है। कोशाओं के संख्या (मात्रा) एवं आकार की इस समानता के फलस्वरूप शरीर के लक्षण वंशागत हो पाते है। उस जीन के प्रत्येक ऊतक एवं अंग अपने जनक के गुणों एवं आकार के समान होता है। चूंकि इन कोशाओं के आकार में कार्य एवं परिस्थिति के अनुसार विभेद उत्पन्न होते है। इसलिए इन सूक्ष्म विभेदों के एकल हो जाने से इनके सन्तति ऊतकों में भी विभेद परिलक्षित होते है। इन नवीन ऊतकों के निर्माण से शरीर का विकास एवं वृद्धि होती रहती है। इसकाल में उत्पन्न क्षति की पूर्ति यही सन्तति कोशिकायें करती रहती है। जिससे शरीर की संवृद्धि एवं विकास युवावस्था तक चिरन्तन होता रहता है। इस समय यह विभाजन तेजी से होता है। युवावस्था के बाद यह विभाजन मंद होता है लेकिन जीवन पर्यन्त यह विभाजन घटित होता रहता है क्योंकि इस समय कार्य एवं पर्यावरण के प्रभाव से ऊतकों की क्षति होती रहती है जिनका तुरन्त निर्माण यही नवीन कोशिकायें करती हैं।

बहुकोशीय जीवों के युग्मनज (Zygote) इसी कोशाविभाजन के फलस्वरूप भ्रूण में विकसित हो पाता है। इस भ्रूण की परिपक्वता तथा संवृद्धि इसी विभाजन पर निर्भर करती है। इसके समस्त तन्त्रों (मांसपेशी, अस्थि, तंत्रिका, रुधिर संचरण, श्वसन आदि) का विकास सम्भव हो पाता है। विकास एवं संवृद्धि से सम्बन्धित विसंगतियाँ इन विभाजन की घटनाओं एवं पर्यावरण की विसंगतियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। अनेकों शारीरिक विकास भी इन विभाजनों से वंशागत हो जाते है। अतः यह सूत्री विभाजन जीवनदायी होते है जो अन्तिम क्षणों तक उस जीव के विशिष्ट लक्षणों ने 46 गुणसूत्र की संख्या बनाये रखने के साथ–साथ सूक्ष्म विभेद भी उत्पन्न करते रहते हैं जिससे उस जीव को अनुकूलन क्षमता प्राप्त होती है।

मीयॉसिस या अर्धसूत्री कोशा विभाजन

अर्धसूत्री कोशा विभाजन एक अत्यन्त जटिल व विशिष्ट आनुवंशिक प्रक्रिया है जिससे मानव में प्रजनन (Coupulation) के समय जनदों (genitals) में जनन कोशिकाओं के शुक्राणु एवं अण्डाणु उत्पन्न होते है। इन जनन कोशाओं के अणुगति युग्म (Gamete) उत्पन्न होते है जिनके संयुक्त होने से एक युग्मनज (Zygote) का निर्माण होता है। इन जनन कोशिकाओं का अगुणन अथवा अर्धसूत्री विभाजन निम्न दो चरणों मीयॉसिस – I एवं मीयॉसिस – II में पूर्ण होता है।

(A) मीयॉसिस – I

(B) मीयासिस– II

A. मीयासिस – I या न्यून

यह न्यूनकारी विभाजन होता है। इस चरण में जनन कोशिकाओं के गुणसूत्र की संख्या आधी हो जाती है। यह निम्न अवस्थाओं में पूर्ण होता है–

(1) पूर्वावस्था – I (Prophase I)

(2) मध्यावस्था – I (Metaphase – I)

(3) पश्चावस्था – I (Anaphase – I)

(4) अन्त्यावस्था – I (Telophase – I)

1. **पूर्वावस्था – I** – मियासिस – I की यह प्रावस्था सर्वाधिक जटिल एवं लम्बी अवधि की होती है। यह अवस्था स्त्रियों में और अधिक लम्बी होती है। इनमें जन्म के समय अण्डाशय का प्रत्येक अण्डक (Docyte) इस अवस्था में प्रवेश कर लेता है। ये अण्डक लगभग 12 – 15 वर्षों तक इसी अवस्था में रहते है। इनमें से कुछ अण्डक तो कई और वर्षों तक इसी अवस्था में आसन्न रहते हैं। इसमें प्रमुख घटनाएँ गुणसूत्रों का संघटन, विनिमय, केयाज्मा तथा गुणसूत्रों का युग्मन आदि हैं। यह अवस्था निम्न पाँच उपावस्थाओं में विभक्त की गयी है–

(i) लेप्टीन (Leptene)

(ii) जाइगोटीन (Zypotene)

(iii) पैकीटीन (Pachytene)

(iv) डिप्लेटीन (Diptotene)

(v) डाइकाइनेसिस (Diakinesis)

(i) **लेप्टोटीन–** इसे ल्पेटोनीमा (Leptonema) भी कहते हैं। यह उपावस्था अर्धसूत्री कोशा विभाजन का प्रारम्भ है। इसमें केन्द्रक के क्रोमैटिन संघनित होकर पतले, लम्बे व कुण्डलित तन्तुओं के समकक्ष ग ुणसूत्र बन जाते है। इन गुणसूत्रों की अनुलिपियाँ उत्पन्न हो जाते है। इनके क्रोमैटिड इतने अधिक संघनित होते है तथा एक–दूसरे के चारों ओर घनिष्ठ होकर इस प्रकार लिपटे होते है कि उन्हें पृथक्–पृथक् पहचाना नहीं जा सकता। प्रत्येक गुणसूत्रों में सूक्ष्म क्रोमेमियर होते है। RNA संश्लेषण से केन्द्रक के आयतन में वृद्धि होती है तथा सेंट्रियाल टूटकर विपरीत ध्रुवों की ओर अग्रसरित हो जाते है।

(ii) **जाइगोटीन**– इसे जाइगोनीमा (Zygonema) भी कहते है। इसमें समजात गुणसूत्रों के मध्य उत्पन्न हुई आकर्षण शक्ति के फलस्वरूप गुणसूत्र अपने समजात के साथ लिपट जाता हैं तथा कहीं–कहीं पे संयोजित भी हो जाते हैं। इस स्थिति को साइनैप्सिस (Synapsis) कहते है। इस क्रिया को **युग्मन** (Pairing) तथा गुणसूत्र की प्रत्येक युग्म को युगल या बाइवैलेंट (Bivalent) कहते हैं।

(iii) **पैकीटीन**– इसे पैकीनीमा (Pachynema) भी कहा जाता है। समजात गुणसूत्रों के युग्मन साइनैसिस के पश्चात् प्रत्येक युगल आंकुचित एवं कुण्डलित होकर छोटे एवं मोटे हो जाते है। प्रत्येक गुणसूक्ष दो क्रोमैटिडों में विभक्त हो जाता है। इससे युगल (Bivalent) चार स्पष्ट अर्धसूत्रों अथवा क्रोमैटिड में विकसित हो जाता है। इसे टेट्राड अथवा टेट्रावैलेंट (Tetrod or Tetravalent) कहते हैं।

समजात गुणसूत्रों के दोनों क्रोमैडिट आपस में और अधिक लिपटकर कुण्डलित हो जाते है। फलस्वरूप समजात गुणसूत्रों में तनाव उत्पन्न होता है जिससे दुर्बल क्रोमैटिड अनेक स्थानों पर खण्डित हो जाते है और विजातीय (Non–sister) क्रोमैटिडों में टूटे हुए खण्डों का विनिमय हो जाता है। विनिमयन एवं विसंयोजन की इस प्रक्रिया को 'क्रसिंग ओवर' (Crossing Over) कहते हैं। न्यूक्लियोलस इस उपावस्था तक बने रहते हैं।

(iv) **डिप्लोटीन–** इस उपावस्था में क्रोमैटिडों के टूट जाने से समजात गुणसूत्रों के मध्य आकर्षण बल के स्थान पर प्रतिकर्षण या विकर्षण (Repulsion) बल उत्पन्न हो जाता है तथा समजातीय गुणसूत्र पृथक् हो जाते है। विनिमय अथवा 'क्रासिंग ओवर' वाले स्थल पर ये एक–दूसरे के सम्पर्कमें रहते हैं। इन स्थलों को 'क्रियाज्मौटा' (Chiasmata) कहते हैं। इन स्थल बिंदुओं पर गुणसूत्र कुण्डलित होकर मोटा हो जाता है। अन्त में भुजाओं के मध्य में स्थित 'क्रियाज्मैटा' शनैः–शनैः गुणसूत्र के सिरे (Terminus) की ओर अग्रसरित हो जाता है। इस क्रिया को 'टर्मिनलाइजेशन' (Terminalization) कहते है।

(v) **डाइकाइनेसिस–** यह पूर्वावस्था I की अन्तिम उपावस्था है। इसमें सेंट्रियाल विपरीत ध्रुवों में स्थित हो जाते है। केन्द्रक कला भंग हो जाती है। तर्कु तन्तु स्पष्ट होने लगते है। वाइवैलेट आंकुचित होकर और अधिक मोटे हो जाते हैं। गुणसूत्र गहरे रजित कायों में दृष्टिगत होता है।

2. मध्यावस्था – I

इस अवस्था में केन्द्रक कला पूर्णतः विलुप्त हो जाती है। विपरीत ध्रुवों में स्थित सेंट्रियालों के मध्य तर्कु तन्तु अधिक स्पष्ट हो जाते है। इनके मध्यवृत्तीय रेखा या इक्वेटर पर गुणसूत्र इस प्रकार से स्थित हो जाते है जिससे इनका सेन्ट्रोमियर तर्कु–तन्तु से जुड़ कर ध्रुवों की ओर अभिमुख हो जाते है तथा गुणसूत्रों की भुजायें तर्कु तन्तु (Spindle) के बाहर होती है।

3. पश्चावस्था – I

इसमें गुणसूत्रों के सेंट्रोमियर ध्रुवों की ओर खिसक जाते है। समजात गुणसूत्रों (Bivalent) जो जाइगोटीन अवस्था में उत्पन्न हुए थे, वे पृथक् होकर विरोधी ध्रुवों में चले जाते है। पृथक् हुए इस आधे गुणसूत्र के दोनों क्रोमैटिड (भुजायें) संट्रोमियर से जुडे रहते हैं।

4. अन्त्यावस्था – I

यह मियॉसिस I की अन्तिम अवस्था है। इसमें गुणसूत्रों के विरोधी ध्रुवों में होने से तर्कु तन्तु प्रत्येक ध्रुवों को चारों ओर से घेरे रहते है। इससे केन्द्रक कला उत्पन्न होती है तथा न्यूक्लियोलस स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने लगता है। केन्द्रक कला के अन्दर स्थित गुणसूत्र पतले एवं लम्बे होने लगते है।इनमें गुणसूत्रों की संख्या मातृज अथवा पितृज जनन कोशिकाओं की आधी (Haploid) हो जाती है। इसके पश्चात् कोशिका द्रव्य को विभाजन (Cytokinesis) की क्रिया होने से दो युग्मक विकसित हो जाती है।

B. मीयॉसिस II

मियासिस II कोशा विभाजन समसूत्री विभाजन है। इसके अन्तर्गत दोनों अगुणित कोशिकायें (युग्मक) स्वतन्त्र रूप से एवं साथ–साथ विभाजित होती हैं जिसके फलस्वरूप प्रत्येक अगुणित सन्तति कोशिकाओं के पुनः दो–दो (युग्मक) उत्पन्न होते है। इन युग्मकों में गुणसूत्रों की संख्या अगुणित कोशिकाओं के समान ही रहती है। यह द्वितीय अर्धसूत्री विभाजन निम्न अवस्थाओं में घटित होता है–

1. पूर्वावस्था II (Prophase II)
2. मध्यावस्था II (Metaphase II)
3. पश्चावस्था II (Anaphase II)
4. अन्त्मावस्था II (Telophase II)

पूर्वावस्था II

इस अवस्था में सेंट्रियाल विभाजित होकर विपरीत ध्रुवों में खिसक जाता है। इनके चारों ओर एस्टरिक रश्मियाँ स्पष्ट होने लगती है। न्यूक्लियोलस विलुप्त हो जाता है। गुणसूत्र कुण्डलित होकर के स्थूलित होने लगते है। केन्द्रक कला का विलोपन प्रारम्भ हो जाता है।

मध्यावस्था II

इस अवस्था में तर्कु तन्तु पूर्णतः विकसित हो जाते है। तर्कतन्तु मध्यवृत्त रेखा (Equator) पर गुणसूत्र इस प्रकार स्थित होते है जिससे इनके सेंट्रोमियर तर्कु पर एवं गुणसूत्रों की भुजायें इनके बाहर होती है। गुणसूत्रों का सेंट्रोमियर विरोधी ध्रुवों की ओर अभिमुख होता है।

पश्चावस्था II

इस समय गुणसूत्र का सेंट्रोमियर विभक्त होकर विरोधी ध्रुवों की ओर चला जाता है। इसके साथ क्रोमैटिड भी पृथक होकर सन्तति गुणसूत्र (अर्ध) विरोधी ध्रुवों पर स्थित हो जाते है। इस स्थिति में सेंट्रोमियर लगभग ध्रुव पर स्थित होता है जबकि सन्तति गुणसूत्र (अर्ध) के क्रोमैटिड इक्वेटर की ओर अभिमुख होते है।

अन्त्यावस्था II

मीयॉसिस या अर्धकोशाविभाजन की यह अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में प्रत्येक गुणसूत्र अर्धकुण्डलित होकर के लम्बे हो जाते है। इनके चारों ओर तर्कु तन्तुओं का आवरण होता है। इसके पश्चात् केन्द्रक कला विकसित हो जाती है। केन्द्रक विभाजन के पश्चात् कोशिका विभाजन (Cytokinosis) की प्रक्रिया आरम्भ होती है। जिसके फलस्वरूप पुनः दो सन्तति जनन कोशिकायें उत्पन्न होते है। इन चारों कोशिकाओं में गुणसूत्रों की संख्या अगुणित होती है अर्थात् मानव की इन प्रत्येक अगुणित कोशिकाओं (युग्मकों) में गुणसूत्रों की संख्या 23 होती है।

मीयासिस का महत्व

लैंगिक जनन वाले जीवों जैसे स्तनियों, प्राइमेटों मनुष्यों में यह विभाजन अद्वितीय है क्योंकि इसके फलस्वरूप सन्ततियों में पीढी दर पीढी गुणसूभों की संख्या बराबर रहती है। जिससे उस जीव के विशिष्ट जैविक लक्षण जीव के वंशजों में वंशागत होते रहते हैं। उदाहरण स्वरूप मानव की कोशिकाओं में 46 गुणसूत्र उपस्थित होते हैं। इन गुणसूत्रों पर असंख्यों जीन रेखीय क्रम में स्थित होते हैं जो मानव के समस्त जैविक लक्षणों के लिए उत्तरदायी होते है। सन्तानों की कोशिकाओं में भी गुणसूत्रों एवं जीनों की संख्या माता–पिता के समान ही रहती है क्योंकि इनके जनदों में स्थित जनन कोशाओं का विभाजन इसी के द्वारा होता है जिसके फलस्वरूप इनकी सन्तति कोशिकाओं में (युग्मकों) में गुणसूत्रों एवं जीनों की संख्या आधी हो जाती है अर्थात् एक अगुणित सन्तति कोशिका के अन्तर्गत केवल 23 गुणसूत्र रह जाते है। वे (पिता युग्मक के 23 एवं माता युग्मक के 23 गुणसूत्रों) जबं परस्पर संलयित अथवा निषेचित होते है तो पुनः युग्मनज (Zygote) में गुणसूत्रों की संख्या 46 हो जाती है। इस प्रकार मानव जाति के जैविक लक्षण अपने वंशजों में चिरन्तन बने रहते है। यदि यह प्रक्रिया घटित न होती तो सन्ततियों की कोशिकाओं में गुणसूत्रों की संख्या माता–पिता के दो गुनी होती। अतः यह विभाजन गुणसूत्रों की संख्या वृद्धि को रोकता है तथा मानव के जैविक लक्षणों को एक पीढी से दूसरी पीढी में पारगमित करता है।

इस विभाजन के फलस्वरूप जीनों के नये–नये संयोग उत्पन्न होते है। क्रसिंग ओवर एवं पुनः संयोजन प्रक्रियाओं के फलस्वरूप गुणसूत्रों के क्रोमैटिडों में विनिमय एवं विस्थापन होता है। इससे माता एवं पिता के जैविक लक्षणों के परिष्कृत रूप अर्थात् नये संयोग घटित होते है। फलस्वरूप सन्ततियों में सूक्ष्म विभेद उत्पन्न होते है जो मानव जाति के सूक्ष्म उदविकास का नेतृत्व करते है।

भाइटॉसिस एवं मीयॉसिस विभाजनों में भेद

(Destinction between Mitosis & Meiosis Cell division)

पूर्वक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि ये दोनों कोशा विभाजन की प्रक्रियें विविधतायें प्रदर्शित करती है।इसके बावजूद कि दोनों ही कोशिका विभाजन की जटिल प्रक्रियायें है, दोनों ही कई अवस्थाओं में पूर्ण होती हैं। इनकी प्रमुख विविधतायें निम्न हैं–

1. माइटॉसिस विभाजन समस्त दैहिक कोशिकाओं में घटित होता है जबकि मीयॉसिस विभाजन जनन कोशिकाओं में होता है।

2. प्रथम विभाजन प्रक्रिया में गुणसूत्रों की संख्या द्विगुणित होकर के दो सन्तति कोशाओं में इनकी संख्या समान रहती है जबकि द्वितीय में, न्यूनकारी (Seduction) विभाजन होता है जिससे सन्तति कोशाओं में गुणसूत्रों की संख्या अगुणित (Haploid) होकर पूर्वज कोशाओं की तुलना में आधी हो जाती है।

3. विभाजन की सम्पूर्ण क्रिया, प्रथम विभाजन के प्रक्रिया में, क्रमवार सम्पन्न होती है जबकि द्वितीय प्रक्रिया और अधिक जटिल है क्योंकि ये दो चरणों– मीयॉसिस I एवं मीयॉसिस II में सम्पन्न होती है। पहले चरण में न्यूनकारी विभाजन होता है तथा दूसरे चरण में समसूत्री विभाजन होता है।

4. पूर्व विभाजन प्रक्रिया मुख्यतः चार अवस्थाओं में पूर्ण होती है जबकि पश्च विभाजन (मीयॉसिस) आठ अवस्थाओं में घटित होती है।

माइटासिस	मीयॉसिस	
पूर्वावस्था	पूर्वावस्था I	पूर्वावस्था II
मध्यावस्था	मध्यावस्था I	मध्यावस्था II
पश्चावस्था	पश्चावस्था I	पश्चावस्था II
अन्त्यावस्था	अन्त्यावस्था I	अन्त्यावस्था II

5. माइटॉसिस में पूर्वावस्था अपेक्षाकृत अल्प अवधि में घटित हो जाती है तथा इनमें उपावस्थायें नहीं पायी जाती; जबकि दूसरी ओर, मीयॉसिस एक लम्बी अवधि वाली अवस्था है जो स्त्रियों में कई वर्षों तक चलती है। यह पाँच उपावस्थाओं – लेप्टीन, जाइगोटीन, पैकीटीन, डिप्लोटीन एवं डाइकाइनेसिस में पूर्ण होती है।

6. माइटॉसिस में पूर्वावस्था के प्रारम्भ में ही गुणसूत्र के क्रोमैटिड पतले धागों के समान दृष्टिगत होने लगते हैं जबकि मीयॉसिस में यह प्राफेज – I के प्रारम्भ में दिखाई नहीं पडते।

7. प्रथम विभाजन प्रक्रिया के पूर्वावस्था में गुणसूत्र युग्म या जोडे नहीं बनाते, जबकि मीयॉसिस में समजात गुणसूत्र निकटस्थ होकर के युग्म (Bivalent) बना लेते हैं।

8. क्रोमैटिड के मध्य विनिमय (Crossing Over) माइटॉसिस में घटित नहीं होता जबकि मीयॉसिस में यह प्राफेज – I की पैकीटीन उपावस्था की एक प्रमुख घटना है।

9. माइटासिस की पूर्वावस्था में 'साइनाप्सिस' (Synopsis) की स्थिति नहीं पायी जाती जबकि मीयॉसिस में पूर्वावस्था I के जाइगोटीन उपावस्था में घटित होती है।

10. माइटॉसिस में 'कियाज्मैटा' स्थल इसकी किसी भी अवस्था में नहीं दिखता और न ही इसका उपान्तीकरण (Terminalization) होता जबकि दूसरी ओर मीयॉसिस की पूर्वावस्था I के डिप्लोटीन उपावस्था में 'कियाज्माटा' दृष्टिगोचर होता है जो कालान्तर में उपान्तीकृत (Terminalized) हो जाते हैं।

11. माइटॉसिस की मध्यावस्था में दो क्रोमैटिड होते है जिससे गुणसूत्र द्वयी होते है जबकि मीयॉसिस की मध्यावस्था I में चार क्रोमैटिड विकसित होते है जिन्हें टेट्राड (Tetrod) कहते हैं।

12. प्रथम कोशिका विभाजन की मध्यावस्था में सेट्रोमियर इक्वेटर पर स्थित होते हैं और भुजाएँ बाहर की ओर होती हैं। जबकि द्वितीय कोशिका विभाजन अर्थात् मीयॉसिस की मध्यावस्था I में सेट्रोमियर ध्रुवों की ओर उन्मुख होते है तथा क्रोमैटिड इक्वेटर पर होते हैं।

12. माइटॉसिस की इस अवस्था में सेट्रोमियर दो खण्डों में विभक्त होकर के द्वयी (दो क्रोमैटिड) पृथक् हो जाते है जबकि मीयॉसिस में इस समय समजात गुणसूत्र पृथक् होते है तथा सेंट्रोमियर विखण्डित नहीं होते।

14. माइटॉसिस की पश्चावस्था में गुणसूत्र एकल होते है जबकि मीयॉसिस के इस समय (पश्चावस्था I) युगल होते हैं।

15. माइटासिस में उक्त अवस्था में लम्बे तथा कुछ पतले होतेहै जबकि इस समय मीयॉसिस में छोटे तथा अपेक्षाकृत स्थूलित होते है।

16. माइटॉसिस विभाजन में 'अन्त्यावस्था' अवश्य घटित होती है जबकि मीयॉसिस में यह अवस्था (अन्त्यावस्था – I) का घटित होना निश्चित नहीं है क्योंकि कभी–कभी इस प्रकार के विभाजन में यहा अवस्था घटित नहीं होती तथा मध्यावस्था I के तुरन्त बाद II आरम्भ हो जाती है।

17. माइटासिस विभाजन के फलस्वरूप दो सन्तति कोशिकायें उत्पन्न होती है जबकि मीयॉसिस के घटने से चार संतति कोशिकायें बनती है।

18. माइटासिस में सन्तति कोशायें जनक कोशाओं के लगभग समान होती है जबकि मीयॉसिस की प्रक्रिया से अत्यन्त सन्तति कोशाये हूबहू एक जैसी नहीं होती अर्थात् गुणों में भिन्न होती है तथा इनमें गुणसूत्रों की संख्या भी जनकों (माता–पिता) की जनन कोशिकाओं की आधी रहती है।

19. माइटॉसिस विभाजन शारीरिक सवृद्धि एवं विकास का आधारभूत क्षैतिजिक आनुवंशिक प्रक्रिया है लेकिन मीयॉसिस मानव जाति के वंश–वद्धि की रेखीय आनुवंशिक प्रक्रिया है।

20. माइटॉसिस के फलस्वरूप शरीर की सभी कोशिकाओं में गुणसूत्रों की संख्या समान रहती है जबकि मीयॉसिस के घटने से माता–पिता के सन्तानों की सभी कोशिकाओं में गुणसूत्रों की संख्या समान रहती है।

मानव में युग्मक जनन

(Gametogenesis)

मानव में जनदों की जनन इपीथिलियम की द्विगुणित कोशिकाओं से अगुणित जनन कोशिकाओं अर्थात् युग्मक के परिपक्वन को 'युग्मक जनन' (Gametogenesis) कहते है। यह प्रक्रिया स्त्री एवं पुरुषों में भिन्न रूप से घटित होती हैं। जब यह प्रक्रिया पुरुषों में घटित होती है तो उसे 'शुक्र जनन' (Spermatogenesis) कहते हैं। इसके फलस्वरूप पुरुष युग्मक शुक्राणु (Spermatozoon or Sperms) उत्पन्न होते है।

दूसरी ओर जब यह जनन प्रक्रिया स्त्रियों में घटित होती है तो इसे 'अण्डजनन' (Orgenesis) कहते है। इस प्रक्रिया के सम्पन्न होने से स्त्री–युग्मक–अण्डाणु (Ovum) बनता है। इन दोनों जनन प्रक्रियाओं वर्णन निम्न है–

1. शुक्र जनन

(Spermatogenesis)

मनुष्यों में पुरुषों के वृषण कोश (Testes) जनन कोशिकाओं की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी होते हैं। ये जनन कोशिकायें 'जनन इपीथिलयम' (Germinal epithilium) के नाम से पुकारी जाती है। यह जनन इपीथिलियम कोशिकायें मानव वृषण के शुक्रजनक नलिकाओं (Seminiferous Tubules) में स्थित होती है जो अन्त में शुक्राणु के रूप में विकसित होती है। इस प्रक्रिया की प्रमुख घटनायें निम्न चित्र में क्रमबद्ध किया है–

जनन इपीथिलियम (Germinal Epithelium) → स्पर्मैटोगोनिया (Spermatogonia) → प्राथमिक स्पर्मैटोसाइट (primary Spermatocyte) → द्वितीयक स्पर्मैटोसाइट (Secondary Spermatocyte) → स्पर्मैटिडस (Spermatids) → शुक्राणु (Spermatogoon)

उक्त घटनायें मुख्यतः दो प्रावस्थाओं में सम्पन्न होती हैं– (i) संवृद्धि प्रावस्था और (ii) परिपक्वन प्रावस्था।

(i) संवृद्धि प्रावस्था (Growth Phase)

इस प्रावस्था में प्राथमिक स्पर्मैटोसाइटों का विकास होता है। स्पर्मैटोसाइटों का विकास निम्न दो अवस्थाओं में पूर्ण हो पाता है–

पूर्व–संवृद्धि काल (Pre–growth Period) एवं

पश्च–संवृद्धि काल (Post–growth Period)

पूर्व संवृद्धि काल– यह अवस्था शुक्रजनन की प्रारम्भिक अवस्था है। इस समय सर्वप्रथम वृषणों की शुक्रजनक नलिकाओं (Seminiferous Tubules) की इपीथिलयम कोशिका आकार में वृद्धि करती है। ये कोशिकायें प्राथमिक जनन कोशिकायें हैं, जो आकार एवं संरचना में अन्य दैहिक कोशिकाओं के समान होती है। इनमें गुणसूत्रों की संख्या द्विगुणित अर्थात् 46 होती है। यह प्राथमिक जनन कोशिकाये मानव जाति के लक्षणों को ही व्यक्त करती हैं। जब इनमें शुक्रजनन की प्रक्रिया आरम्भ होती हैं तो इन कोशिकाओं का सूत्री विभाजन (Mitosis Cell division) होता है जिससे ये विकसित कोशिकायें द्विगुणित हो जाती है। इनका द्विगुणन कई बार होता है। अन्ततः यही कोशिकायें विभाजित होकर 'शुक्रजनन कोशिका' (Spermatogonia) में विकसित होती हैं इनमें गुणसूत्र द्विगुणित (46) होते हैं।

पश्चवृद्धिकाल– इस काल में शुक्रजनन कोशिका तेजी से अपने आकार का वर्धन सूत्री विभाजन एवं पोषक पदार्थों के संग्रहण से करती है। जब इन कोशिकाओं का आकार और अधिक वृद्धि को प्राप्त कर लेता है, तो इन्हें "प्राथमिक स्पर्मैटोसाइट" कहते है। ये प्राथमिक स्पर्मैटोसाइट द्विगुणन विभाजन एवं कोशीय पदार्थों के संचयन पूर्णरूप से विकसित होते है। शुक्रजनन की इस अवस्था तक सूत्री विभाजन की प्रक्रिया घटित होती है। इन प्रत्येक प्राथमिक स्पर्मैटोसाइट में 44 आटोसोम अथवा अलिंग गुणसूत्र एवं X तथा Y दो लिंग गुणसूत्र (Sex Chromsomes) होते है।

(ii) परिपक्वन प्रावस्था (Muturation Phase)

यह प्रावस्था अपेक्षाकृत जटिल प्रावस्था है। इस चरण में शुक्राणु परिपक्व होते हैं। इस प्रावस्था में कोशिकाओं का न्यूनकारी विभाजन (reduction division) होता है। यह प्रावस्था भी दो उप–अवस्थाओं में पूर्ण होती है– पूर्व परिपक्वन (Pre – maturation) एवं पश्च परिपक्वन (Post – maturation)।

पूर्व परिपक्वन– पूर्व परिपक्वन काल में प्राथमिक स्पर्मैटोसाइटों (Primary Spermatoeytes) का अर्धसूत्री विभाजन होता है। इस काल में सर्वप्रथम एक 'प्राथमिक स्पर्मैटोसाइट' का न्यूनकारी विभाजन होने से इसकी दो अगुणित कोशिकाओं (Haploid Cells) उत्पन्न होती हैं। इनमें 22 अलिंग गुणसूत्र एवं एक लिंग गुणसूत्र (X अथवा Y) होता है। इस प्रकार इन कोशिकाओं में प्राथमिक स्पर्मैटोसाइट की अपेक्षा गुणसूत्रों की संख्या आधी रह जाती है। इन अगुणित सन्तति जनन कोशिकाओं को 'द्वितीयक स्पर्मैटोसाइट' (Secondary spermatocyte) कहते हैं। अन्त में, इस द्वितीयक स्पर्मैटोसाइटों का पुनः सूत्री विभाजन (Mitotic Division) होता है जिससे चार अगुणित जनन कोशिकाओं की उत्पत्ति होती है। इन चारों सन्तति जनन कोशिकाओं अर्थात् युग्मकों (gametes) में 22 अंलिग सूत्र एवं लिंग सूत्र (X अथवा Y) होते हैं। इन चारों अगुणित जनन कोशिकाओं को 'स्पर्मैटिडस' (Spermatids) कहा जाता है।

पश्च–परिपक्वन– इस अवस्था में स्पर्मैटिडों से शुक्राणुओं की उत्पत्ति होती है। ये चारों स्पर्मैटिडों के आकार गोल अथवा अण्डाकार अथवा वृत्ताकार होते हैं। इन्हीं गोल कोशिकाओं से शुक्राणु उत्पन्न होते है। प्रत्येक शुक्राणु में निम्न प्रमुख तीन भाग होते हैं–

(i) सिर (Head)

(ii) मध्य भाग (Middle Piece)

(iii) पूंछ (Tail)

आकार में सिर लगभग त्रिकोणात्मक होता है जो कोशिका के केन्द्रक से बना हुआ होता है।शुक्राणु का यह भाग मार्मिक एवं निर्णायक भाग है। यह भाग ही 22 अलिंग एवं एक लिंग (X अथवा Y) गुणसूत्रों को रखता है जो स्त्री–युग्मक–अण्डाणु से संयोजित होकर के एक युग्मनज बनाता है। इसका आकार लगभग भाले (Spear) के समान होता है लेकिन यदि सामने से देखे तो यह लगभग गोल प्रतीत होता है। मध्य भाग (Middle piece) कोशिका द्रव्य के सेंट्रियोल से बनता है जिसमें तन्तुओं का गुच्छा होता है जो एक पतली नलिका के सदृश होते हैं। सिर से जुडी हुई यह नलिका दूसरी नलिका से अधिक मोटी होती है। कोशिका द्रव्य के अन्य भाग से इसकी पूंछ बनती है।

स्टर्न (1961) के अनुसार इन तीनों भागों की लम्बाई तथा मोटाई निम्न तालिका में दर्शायी गयी है–

भाग (Parts)	लम्बाई (Leanth)	मोटाई (Thikness)
सिर	3.5 u	2.3 u सामने से (Face View) 1.8 u पार्श्व से (Sike view)
मध्यभाग (middle place)	3.6 u	1 u
पूंछ (Tail)	30–50 u	1 u से कम

अण्डाणु से मिलने (Fusion) के समय उक्त तीनों भाग में सिर ही प्रविष्ट होता है। शेष भाग बाहर ही नष्ट हो जाता है।

एक 'शुक्राणु' अथवा 'स्पर्मैटोजून' (Sperm or Spermatzoon) एक स्पर्मैटिड से आठ क्रमिक उपावस्थाओं के पश्चात् विकसित होते है। जो निम्न हैं–

1. प्रथम अवस्था में स्पर्मैटिड कोशिका का कोशिका द्रव्य संकुचित होता है। सेंट्रियाल दो भागों में दिखाई पडते है। केन्द्रक के गुणसूत्र पतले एवं लम्बे होते हैं। इनकी केन्द्रिकायें अधिक संघनित हो जाती है। इस अवस्था में भी यह कोशिका आकार में अण्डे के सदृश होती है।

2. द्वितीय अवस्था में स्पर्मैटिड का आकार लगभग चौकोर हो जाता है। सेंट्रियोल के दोनों भाग कोशिका कला के पास स्थित होते है। समीपस्थ सेंट्रियाल (Proximal centriote) कोशिका द्रव्य के किनारे तथा दूरस्थ सेंट्रियाल (Terminal Distal Centriole) कोशिका कला पर स्थित होता है। केन्द्रक सेंट्रियाल की ओर अधिक बढने से हल्का लम्बा हो जाता है।

3. तृतीय अवस्था में केन्द्रक के पानी की अतिरिक्त मात्रा का क्षरण होने से यह संघनित हो गहरे रंग का हो जाता है। इसका आयतन संकुचित हो जाता है तथा लम्बाई में वृद्धि होती है। चौडाई और कम हो जाती है। यह कोशिका द्रव्य के सेंट्रियाल के विरोधी किनारे पर आ जाता है। सेंट्रियालों से जुडी हुई पूंछ और अधिक स्पष्ट हो जाती है जो कोशिका कला के आर–पार होती है।

4. चतुर्थ अवस्था में केन्द्रक के अग्र भाग पर एक्रोसोम (Acrosome) गोल्गी काय (Golgi

Complex) के द्वारा उत्पन्न किये जाते है। इन एक्रोसोमों में लाइटिक उत्प्रेरण (Lytic Enyme) होते है जो भेदन क्षमता अधिक रखते हैं। इस अवस्था में केन्द्रक और अधिक संघनित होकर के भाले (Spear) के सदृश हो जाता है। इसके पश्चभाग पर सेंट्रियाल माइट्रोकाड्रिया की सहायता से मध्य भाग को बनाते हैं। मध्य भाग से जुडी एक लम्बी पूंछ विकसित हो जाती है जो केन्द्रक के पश्च भाग में स्थित होता हैं जिसमें अनावश्यक पानी का क्षरण आरम्भ हो जाता है।

5. पानी के क्षरण से केन्द्रक संकुचित होता है जिससे इसकी लम्बाई एवं मोटाई और अधिक कम हो जाती है। शुक्राणु का सिर स्पष्ट होने लगता है। कोशिका द्रव्य लम्बवत हो जाता है जो केन्द्रक के पश्चभाग पर स्थित सेंट्रियाल एवं पूंछ के पार्श्व में स्थित हो जाता है। इस समय स्पर्मैटिड कोशिका नीम की पत्ती (Lief) के सदृस प्रतीत होती है।

6. केन्द्रक लम्बाई में वृद्धि करके एक भाले (Spear Head) के सदृश हो जाता है। लम्बवत् कोशिका द्रव्य क्षरित होने लगती है। पूंछ का विकास और तेजी से होता है।

7. सातवीं अवस्था में कोशिका द्रव्य पूंछ के साथ--साथ और अधिक लम्बी हो जाती है जो केन्द्रक के पश्चभाग पर पूर्णतः पाया जाता है। इस अवस्था में यह द्रव्य पूंछ की वृद्धि में अधिक सहायता करता है।

8. अन्तिम अवस्था में कोशिका कला खण्डित हो जाती है।पूंछ की लम्बाई के लिए आवश्यक पदार्थों को प्रदान करके कोशिका द्रव्य पूर्णतः नष्ट हो जाता है। अन्ततः स्पर्मैटिड तीन भागों– सिर (Head), मध्यभाग (Middle piece) एवं पूंछ (Tail) में विलीन हो जाता है जिसे शुक्राणु कहते है। इस प्रकार स्पर्मैटोगोनियां से एक परिपक्व शुक्राणु के मध्य की यात्रा 72 दिनों में पूर्ण होती है। इस प्रकार मानव में प्रतिदिन लाखों शुक्राणु विकसित होते हैं।

2. अण्डजननं

(Oogenesis)

स्त्रियों के अण्डाशय (Ovary) से अण्डाणु (Ovum) उत्पन्न होता है। अण्डाशय अनेकों जनन इपीथिलयम कोशाओं से मिर्मित होता है। इन्हीं जनन इपीथीलियम कोशिकाओं स्त्री युग्मक अण्डाणु के निर्माण को 'अण्ड जनन' (Oogenesis) कहते है। यह प्रक्रिया में निम्नलिखित प्रमुख घटनायें क्रमवार घटित होती है जिन्हें निम्न रेखाचित्र में दर्शाया गया है–

प्राथमिक अण्डक (Primary Oocyte) ——→ ——→ प्राथमिक अण्डक (Oocyte Primary)

प्राथमिक अण्डक (Primary Oocyte)	प्राथमिक अण्डक (Oocyte Primary)
ऊगोनियम (Oogonium)	द्वितीयक अण्डक (Secondary Oocyte)
जनन इपीथीलियम (Germinalepithilium)	अण्डाणु (Ovum)

इस प्रक्रिया की उक्त प्रमुख घटनाएँ निम्न दो प्रावस्थाओं में घटित होती हैं–

(i) संवृद्धि काल (Growth Period)

(ii) परिपक्वन कालं (Muturation Period)

(i) संवृद्धि काल (Growth Period)

इस प्रावस्था में अण्डाशय की इपीथीलियम कोशिका प्राथमिक अण्डक में विकसित होती है। इन जनन कोशिकाओं का विकास समसूत्री विभाजन से होता है। इस प्रावस्था को दो उप अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है– पूर्व–संवृद्धि काल (Pre–growth Period) एवं पश्च–संवृद्धि काल (Past–growth period)।

पूर्व–संवृद्धि काल– यह काल अण्डजनन की प्रारम्भिक अवस्था है। इस काल में सर्वप्रथम अण्डाशय की प्रत्येक डिम्ब कोशिका (Eggcell) पुटक कोशिकाओं (Follcular Cell) की भित्ति से घिरी रहती है। प्रत्येक पुटक जिसमें एक कोशिका निहित होती है, उसे अण्डजननी (Oogonium) कहते हैं। मानव में जन्म के समय प्रत्येक अण्डाशय में 150–500 हजार अण्डजननी उपस्थित रहती है। प्रत्येक एक कोशिका समूह से घिरी रहती है जो एक प्राथमिक पुटक (Follicle) बनाती है। यह यौवनागम के पश्चात् प्रति 28 दिनों पर क्रमशः दोनों अण्डाशयों में विकसित होती है। इन कोशिकाओं की रचना शरीर की अन्य दैहिक कोशिकाओं के पूर्णतः समान नहीं होती है लेकिन इनमें गुणसूत्रों की संख्या 46 होती है जिसमें 44 अलिंग सूत्री एवं दो लिंग सूत्री (XX) गुणसूत्र होते हैं। इन कोशिकाओं (अण्डजननी) की वृद्धि समसूत्री विभाजन के फलस्वरूप होता है। ये कोशिकायें विभाजित होकर के अन्त में छोटे–छोटे समूह बना लेती है। प्राथमिक जनन कोशिकाओं (इपीथीलियम) के इन समूहों को अण्डक (Oocyte) कहते है। चूंकि ये समूह अण्डक के प्रारम्भिक रूप है इसीलिए इनको प्राथमिक अण्डक (Primary Oocyte) कहते है।

पश्च–संवृद्धि काल– इस काल में प्राथमिक अण्डक की पुनः संवृद्धि होती है। ज्ञातव्य हो यह प्राथमिक अण्डक कोशिका में 46 गुणसूत्र होते है जिनमें 44 अलिंगसूत्री एवं दो लिंग सूत्री (XX) है। इन कोशिकाओं की संवृद्धि कोशिकीय पदार्थों के संग्रह से होती है जो पदार्थ कोशिका बाहरी पर्यावरण से प्राप्त करती है। यह संवृद्धि अवस्था काफी लम्बी होती है जिसमें कुछ दिनों से कुछ वर्षों तक का समय लगता है। अन्त में यह प्राथमिक अण्डक के कोशिका द्रव्य का आयतन अपेक्षाकृत बड़ा हो जाता है जिससे यह प्रारम्भिक अण्डक की तुलना में कुछ बड़ी दिखती है।

(ii) परिपक्वन काल (Muturation Period)

इस निर्णायक काल में प्राथमिक अण्डक एक अण्डाणु का रूप लेता है। यह प्राथमिक अण्डक का परिपक्वन, न्यूनकारी विभाजन दो उप अवस्थाओं में होता है : पूर्व–परिपक्वन काल एवं पश्च–परिपक्वन काल।

पूर्व–परिपक्वन काल– यह काल अण्डजनन प्रक्रिया में लम्बी परिपक्वन अवस्थाहै। इस अवस्था में 'प्राथमिक अण्डक' अर्धसूत्री कोशिका विभाजन के प्रथम चरण अर्थात् मीयॉसिस – I में प्रवेश करता है। यह प्राथमिक अण्डक मीयॉसिस – I की पूर्वावस्था I में यौवनागम (Puberty) तक रहता है। इसके पश्चात् प्रत्येक माह में इसका न्यूनकारी विभाजन होता है। इस प्राथमिक अण्डक कोशिका का शेष परिपक्वन विभाजन अण्डाशय में नहीं होता। यह प्राथमिक अण्डक प्रत्येक माह अण्डाशय से विर्मुक्त हो जाता है। इसका प्रथम अर्धसूत्री विभाजन 'ओवीडक्ट' (Oviduct) में होता है। यहीं पर दो अगुणित (Haploid) कोशिकाओं में विभाजित हो जाता है। यद्यपि इस विभाजन से कोशिका द्रव्य बराबर–बराबर विभाजित नहीं होता है।

वह लघु कोशिका जिसमें कोशिका द्रव्य की मात्रा कम होती है लेकिन गुणसूत्रों की आधी संख्या रहती है, उसे प्रथम ध्रुव काय (First Polar body) कहते है। दूसरी बडी कोशिका जिसमें कोशिका द्रव्य की मात्रा अधिक होती है तथा गुणसूत्रों की संख्या आधी (22 अलिंगसूत्री तथा 1 लिंग सूत्री X) होती है, इसे द्वितीयक अण्डक (Secondary Oocyte) कहते हैं। इस प्रकार प्राथमिक अण्डक अपेक्षाकृत एक बडे आकार वाली अगुणित कोशिका – द्वितीयक अण्डक को विकसित करता है।

पश्च परिपक्वन काल– इस काल में द्वितीय अण्डक (Oocyte) एक अण्डाणु का रूप धारण करता है। इस अवस्था में द्वितीयक अण्डक (Oocyte) का मीमॉसिस II विभाजन तुरन्त आरम्भ होता है। इससे लेकिन यह विभाजन मध्यावस्था में पहुंचते ही स्थिर हो जाता है। विभाजन की यह अवस्था तब तक पूर्ण नहीं होती जब तक यह अण्डक (Secondary Ocyte) निषेचित न हो जाये। यदि इसका निषेचन (Fertilization) पूर्ण हो जाता है तो मीयासिस II की शेष अवस्थायें शीघ्रता से पूर्ण हो जाती हैं। इसके फलस्वरूप एक परिपक्व अण्डाणु एवं द्वितीय ध्रुव काय उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार नवीन अनुसंधानों से यह ज्ञात हुआ है कि जब शुक्राणु अण्डानलिका (Oviduct) में स्थित द्वितीयक अण्डक पूर्णतः प्रवेश कर लेता है उसके पश्चात् ही मीयासिस II को विभाजन की शेष अवस्थायें- मध्यावस्था II, पश्चावस्था II एवं

अन्त्यावस्था II घटित होती हैं, अन्यथा में अघटित रहती है तथा यह अण्डक माहवारी चक्र में हो जाता है। अन्त्यावस्था II के संय यह निषेचित अण्डक दो भागों में विभाजित हो जाता है। एक अण्डाणु जिसमें कोशिका द्रव्य की मात्रा अधिक तथा दो केन्द्रक,(शुक्राणु केन्द्र + अण्डाणु केन्द्रक) स्थित होते हैं। दूसरा, ध्रुवकाय जो आकार में लघु लेकिन गुणसूत्रों की संख्या द्वितीयक अण्डक के समान ही होती है। अन्त्यावस्था II के अन्तिम क्षणों में दोनों केन्द्रकों के एक-दूसरे के डीएनए. की अनुलिपियाँ बनती है। दोनों केन्द्रकों के एक-दूसरे की ओर बढने से परस्पर संयुक्त हो जाते हैं। जिससे पूर्ण द्विगुणित गुणसूत्र के स्वरूप साकार हो उठते है।

इसके पश्चात् निषेचित अण्डाणु तुरन्त समसूत्री विभाजन की पूर्वावस्था में प्रविष्ट करता है। इस समय यह युग्मनज (Zygote) फैलोपियन नलिका (Fallopian Tube) में प्रवेश करती है जो चार-पाँच दिनों में गर्भाशय (Uterus) में पहुंचता है। यहाँ पर यह गर्भभित्ति में चिपककर स्तरीकृत होने लगता है। सम्भवतः प्रथम ध्रुवकाय का भी मीयासिस II विभाजन होता है जिससे उससे दो सन्तति ध्रुवकाय (Ranghter Polar Bodies) उत्पन्न होती है। यह सभी ध्रुवकाय अन्ततः नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार अण्डजनन प्रक्रिया ऊपर सिंहावलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि इस प्रक्रिया के फलस्वरूप प्राप्त चारों युग्मक आकार एवं कार्य में समानता नहीं रखते। इनमें मात्र एक सक्षम एवं परिपक्व युग्मक - अण्डाणु (Ovum) प्राप्त होता है जबकि शेष तीन युग्मक प्रथम तथा द्वितीयक ध्रुवकाय (Polarbodies) पूर्णतः अक्षम होता हैं जो अन्ततः नष्ट हो जाते हैं। अण्डाणु में अन्य तीनों ध्रुवकायों की अपेक्षा कोशिका द्रव्य की मात्रा अधिकाधिक होती है। इस प्रकार कोशिका द्रव्य की अतिरिक्त मात्रा अण्डाणु से स्थित होती है। कोशिका द्रव्य की यही मात्रा अण्डाणु के निषेचन में सहायक होती है। यह कोशिका द्रव्य युग्मनज (Zygote) के विकास एवं वृद्धि में भी सहायक होता है।

***

16

आनुवंशिकी के संरचनात्मक तथा रासायनिक आधार

गुणसूत्र
(Chromosome)

गुणसूत्र आनुवंशिक पदार्थ की एक स्थूल इकाई है।आनुवंशिक पदार्थ का पारगमन पीढी दर पीढी यही गुणसूत्र करते हैं। इस आधार पर इन्हें आनुवंशिक माध्यम (Hereditary Vehicle) भी कहा जाता है। ये कोशिका के केन्द्रक (Nucleus) में स्थित होते हैं। इनकी आनुवंशिकता का सिद्धान्त 1900 में वाल्टर एस० सटन Walter S. Sutton) ने प्रस्तुत किया था।

गुणसूत्र अलग-अलग एवं स्पष्ट रूप से कोशिका विभाजन के दौरान दिखाई पडते है। कोशिका विभाजन की 'मध्यावस्था' में गुणसूत्र स्पष्ट रूप से तर्कु तन्तुओं के इक्वेटर या भूमध्यरेखा या मध्यवृत्तीय रेखा (Equator) पर पृथक-पृथक स्थित होते है। इसके पूर्व ये पतले लम्बे एवं महीन धागे के रूप में होते हैं। मध्यावस्था में प्रवेश करते-करते ये छोटे, मोटे व कुण्डलित हो जाते है। अन्त्यावस्था में पुनः पतले धागे के सदृश हो जाते है तथा 'अन्तरावस्था' (Interphase – Growth Phase) में लगभग अदृश्य हो जाते है। इनके इस प्रकार के आकार में परिवर्तन संघनन एवं कुण्डलन का फलस्वरूप होता है अन्यथा यह पतले एवं लम्बे धागे अथवा 'सूत्र' के समान होते हैं।

ये गुणसूत्र सभी जीव कोशिकाओं में पाये जाते है। लेकिन संरचनात्मक आधार पर सभी जीवों में समान गुणसूत्र नहीं होते उदाहरणस्वरूप विषाणुओं का गुणसूत्र DNA एवं RNA के रज्जुकों अथवा सूत्रों से बना होता है। पादय विषाणुओं के गुणसूत्र RNA के अणुओं से एक सूत्र का जबकि प्राणि विषाणुओं के गुणसूत्र DNA अणुओं से दो सूत्रों (रज्जुकों) के होते है। जीवाणुओं के गुणसूत्र द्विरज्जुकी (Double stranded) DNA के अणुओं के होते है। पादपों तथा पशुओं के गुणसूत्र भी DNA अणु के द्विरज्जुकों से बने होते हैं।

प्रत्येक जाति के जीव में गुणसूत्रों की संख्या निश्चित होती है। भिन्न-भिन्न जातियों में इनकी संख्या अलग-अलग होती है। अतः वर्गीकरण विज्ञान (Taxonomy) में गुणसूत्रों की संख्या के आधार पर विभिन्न जातियों का निर्धारण एवं इनकी उदविकासीय वंशावली बनाना अत्यधिक सरल है।प्रत्येक जीव के युग्मकों में गुणसूत्र की संख्या उसकी दैहिक या कायिक कोशिकाओं में गुणसूत्रों की संख्या की तुलना में आधी होती है। युग्मकों (Gametes) में गुणसूत्रों की संख्या को अगुणित (Haploid) तथा कायिक कोशिकाओं में इनकी संख्या को द्विगुणित (Diploid) कहते है। कुछ जन्तुओं में गुणसूत्रों की संख्या निम्न तालिका में दर्शाया गया है-

जीव (प्राणि)	द्विगुणित गुणसूत्र संख्या
एसकैरिस यूनीवैलेंस (परजीवी वर्ग)	2
ड्रोसोफिला मेलैनॉगैस्टर (फलमक्खी)	8
एम्बिसंटोमा (टाइगर)	28
सुवर	38
बुलफ्राग	26
मधुमक्खी	32

चूहा (Mouse)	40
क्रेफिश	200
रहीसस वानर	42
सिव्वाइडिया :	
साइमरी स्मूरिया	44
एटलिस पेनिस्कस	34
लोगोथ्रिक्स अवेरिकोला	62
कैलिसिवस कयूप्रियस	46
पुरानी दुनिया के वानर :	
(Cereopithecoidea)	
सरकोपिथकेस मिटिस	72
सरकोपिथकेस मोना	66
सरकोसिबस गलेरिटस	42
मकाका मुलाट्टा	44
होमीन्वाइडिया	
हाइलोवैट्स	44
पागोपिग्मियस	48
पान गोरिल्ला	48
होमोसैपियंस (मानव)	46

1954 के पूर्व तक मानव में गुणसूत्रों की द्विगुणित संख्या 48 मानी जाती रही। मानव युग्मकों की अगुणित संख्या 24 मानी जाती थी। इनमें 46 दैहिक गुणसूत्र तथा X एवं Y लिंग सूत्र माने जाते थे। लेकिन ये संख्यायें तब विवादों से परे नहीं थी। 1956 में स्वीडन के वैज्ञानिकों ने एक गुणसूत्र संख्या की खोज किया जो निर्विवाद रूप से आज भी सत्य है। इन जीवशास्त्रियों– तीजो एवं लेवान (Tijo & Levan) ने मृत मानव भ्रूणों के फेफडे के ऊतकों का निरीक्षण किया। इनकी कोशिकाओं की जब इन कोशिकाविदों ने उपयोगी यन्त्रों से देखा तो इनकी संख्या स्पष्ट रूप से 45 थी। इसी वर्ष कुछ महीने पश्चात् इगलैण्ड के फोर्ड एवं हैमर्टन (Ford and Hamerton) ने पुरुष जनदों से प्राप्त शुक्राणुओं का इलेक्ट्रानिक सूक्ष्मदर्शी से निरीक्षण किया। इन्होंने इसके आधार पर कई पुरुषों में गुणसूत्रों की अगुणित संख्या – 23 बताया। इन अनुसंधानों के पश्चात् भिन्न–भिन्न अंगों की कोशिकाओं का विस्तृत अध्ययन किया गया और सभी में 46 गुणसूत्र द्विगुणित रूप में पाये गये।

जापान में कोडानी (Kodani) ने अनेकों पुरुष रोगियों के जनन कोशिकाओं का अद्ययन करके यह बताया कि अधिकांश पुरुषों में 46 गुणसूत्र उपस्थित है लेकिन कुछ में 48 एवं एक में 47 हैं। लेकिन सामान्य रूप से मानव कोशिकाओं में 46 गुणसूत्र स्थित होते है, यह बार–बार अनेकों प्रयोगों से सिद्ध हुआ है। स्टर्न के अनुसार, यह संख्या में परिवर्तन स्पष्ट रूप से त्रुटियुक्त प्रयोगविधि एवं भ्रामक विवेचना के परिणामस्वरूप होता है।

आकारिकी

(Morphology)

गुणसूत्रों का रूप एवं आकृति कोशिका विभाजन के विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होती रहती है। ये अति सूक्ष्मदर्शी रचनायें 1 u–30 u तक लम्बी तथा 0.2 u–2u तक चौडी होती है। इनकी आकृति एवं

आकारिकी प्रायः इसके सेंट्रोमियर की स्थिति, पर निर्भर करती है। इनकी आकृत्ति विभिन्न जीवों तथा विभिन्न जातियों को पहचानने में सहायक होती है।

गुणसूत्र दो बराबर सर्पिलाकार अनुक्रमों में कुण्डलित 'क्रोमोनेमाटा' (ग्रीक शब्द क्रोम = रंग या वर्णक, नेमा = सूत्र या तन्तु) से बना होता है। दोनों क्रोमोनेमाटा की मोटाई लगभग 800 A° होती है। दोनों क्रोमोनेमाटा इस प्रकार से कुण्डलित होते है जिससे वह एक इकाई का रूप ले लेते है। प्रत्येक क्रोमोनेमाटा (एक वचन – क्रोमोनेमा) 8 माइक्रोफाइब्रिल होते हैं। इन सभी की मोटाई 60–100 A° होती है। ये माइक्रोफाइब्रिल डीएनए के द्विरज्जुकों से निर्मित होते है। प्रोटीन श्रंखलाओं से युक्त डीएनए बलयक लगभग 35 – 49 A° मोटे तथा प्रोटीन श्रंखला विहीन डीएनए बलयक 20 A° मोटे होते है। संयुक्त डीएनए बलयकों के मध्य 25 A° की दूरी रहती है। कोशिका विभाजन की पूर्वावस्था के प्रारम्भ में प्रत्येक क्रोमोनेमा पर असंख्यों गहरे रंग की कणिकायें होती है इन्हें वल्वियानी तथा फिजर (Balbiani and Pffizer – 1876 and 1991) क्रोमोमियर (Chromere) शब्द से पुकारा। संयुक्त क्रोमोमियर के मध्य अल्प रंजित भाग को "अन्तरक्रोमोमियर' कहा । एक समान क्रोमोनेमाटा पर ये कणिकायें सदैव पायी जाती है। इन कणिकाओं (क्रोमोमियर) में कुण्डलित होकर संघनित क्रोमोटिन पदार्थ– डीएनए स्थित होता है।

सामान्यतया गुणसूत्र क्रोमैटिड सेंट्रोमियर, सेटेलाइट, टीलोमियर आदि भागों से मिर्मित होता है। ये सभी भाग मध्यावस्था में अधिक स्पष्ट होते है।

1. **क्रोमैटिड** (Chromatid)– सामान्यतः गुणसूत्र लम्बाई में दो समान रूप वाले भागों में विभक्त होते है।इन्हें 'क्रोमैटिड' अथवा भुजायें कहते हैं। ये दोनों समरूपी भाग एक बिन्दु पर संयुक्त होते है।जिसे 'सेंट्रोमियर' (Centromere) कहते हैं। इन दोनों भुजाओं के विपरीत दो और भुजायें (क्रोमैटिड) होती हैं जो इन्हीं भुजाओं के सेंट्रोमियर से सम्बद्ध होती है इन्हें 'भगिनी – क्रोमैटिड' (Sister chromatid) कहते हैं। कोशिका विभाजन की पश्चावस्था में ये दोनों क्रोमैटिड एक–दूसरे से पृथक होकर विरोधी ध्रुवों की ओर गतिशील हो चले जाते है। इसलिए अन्त्यावस्था में प्रत्येक ध्रुव में इनकी एक प्रति शेष रहती है जिससे एक नवीन प्रति बनती है जो सेंट्रोमियर से सयुक्त हो जाती है।

2. **सेंट्रोमियर** (Centromere)– गुणसूत्र का वह भाग जहाँ पर क्रोमैटिड जुड़ते हैं उसे सेंट्रोमियर कहते है। गुणसूत्र का यह भाग संकीर्ण होता है। गुणसूत्र के इस भाग का अभिरंजन प्रायः अधिक होता है। कभी–कभी यह भाग अभिरंजित नहीं होता जिससे यह एक रिक्त भाग के रूप में दृष्टिगोचर होता है।इसकी उपस्थिति गुणसूत्रों में अलग–अलग होती है। इसके स्थिति के आधार पर गुणसूत्रों की पहचान करना सरल होता है। सेंट्रोमियर स्थिति के आधार पर गुणसूत्र निम्न चार प्रकार के होते हैं–

(i) मध्यकेन्द्री (Metacentric)

(ii) उपमध्यकेन्द्री (Submetacentric)

(iii) अग्रकेन्द्री (Acrocentric)

(iv) अन्तःकेन्द्री (Telocentric)

(i) **मध्यकेन्द्री–** मध्यकेन्द्री उन गुणसूत्रों को कहते हैं जिसमें दोनों भुजायें (क्रोमैटिड) की लम्बाई समान होती है तथा सेन्ट्रोमियर गुणसूत्र के मध्य में स्थित होता है।

(ii) **उपमध्य केन्द्री–** उपमध्यकेन्द्री वे गुणसूत्र हैं जिनमें दोनों भुजायें असमान होती हैं तथा सेन्ट्रोमियर गुणसूत्र के ठीक मध्य से कुछ हटा हुआ स्थित होता है।

(iii) **अग्रकेन्द्री–** अग्रकेन्द्री गुणसूत्रों में एक भुजा अपेक्षाकृत अत्यन्त छोटी तथा दूसरी भुजा बड़ी होती है। सेंट्रोमियर गुणसूत्र के एक छोर (Terminus) के निकट स्थित होता है।

(iv) **अन्तःकेन्द्री–** अन्तःकेन्द्री गुणसूत्र वे गुणसूत्र है जिनमें केवल एक ही भुजा पाई जाती है । सेंट्रोमियर गुणसूत्र की भुजा के सिरे या छोर पर स्थित होता है।

सामान्यता सेन्ट्रोमियर गुणसूत्र का एक स्थायी भाग है। प्रायः एक गुणसूत्र में एक या दो सेन्ट्रोमियर स्थित होते है लेकिन इसकी यह स्थिति विविधतापूर्ण है। गुणसूत्रों में कभी–कभी सेंट्रोमियर एक से अधिक होते है। सेंट्रोमियर की संख्या के आधार पर भी गुणसूत्र निम्न चार प्रकार के होते हैं–

(i) एक केन्द्री (Monocentric)

(ii) द्विकेन्द्री (Dicentric)

(iii) बहुकेन्द्री (Polycentric)

(iv) अकेन्द्री (Acentric)

एक केन्द्री गुणसूत्रों में एक सेंट्रोमियर, द्विकेन्द्री में दो, बहुकेन्द्री में दो से अधिक तथा अकेन्द्री में गुणसूत्रों में सेन्ट्रोमियर पूर्णतः अनुपस्थित होता है। अकेन्द्रित गुणसूत्र अस्थायई होते है जो प्रायः दूसरे गुणसूत्रों के टूटे सिरों से सम्बद्ध हो जाते हैं।

3. **द्वितीयक संकीर्णन** (Secondary Constriction)– इसे 'न्यूक्लियोलर संगठक' (Nucleolar Organiser) भी कहा जाता है। सेंट्रोमियर जिस भाग पर स्थित होता है, उसे प्राथमिक संकीर्णक भी कहते हैं। सामान्यता गुणसूत्रों में प्राथमिक संकीर्णक पाया जाता है लेकिन कुछ गुणसूत्रों में प्राथमिक संकीर्णक के अतिरिक्त इनकी एक या दोनों भुजाओं में अतिरिक्त संकीर्णक भी पाये जाते है। इनकी स्थिति निश्चित होती है। इसलिए इनकी स्थिति से गुणसूत्र पहचान में सहायता मिलती है।

4. **सैटलाइट** (Satellite)– वे गुणसूत्र जिनमें द्वितीयक संकीर्णक पाये जाते है, उनमें इस संकीर्णक से आगे का भाग सैटेलाइट कहलाता है। यह आकार में गोल, लम्बा तथा घुण्डी के सदृश होता है। यह क्रोमैटिन के एक पतले तन्तु द्वारा गुणसूत्र से सम्बद्ध होता है। जिन गुणसूत्रों में यह भाग पाया जाता है उन्हें SAT गुणसूत्र भी कहते है। जैसे– मानव में गुणसूत्र 13,14,15,21 एवं 22 SAT गुणसूत्र हैं।

5. **टीलोमियर** (Telomere)– ये गुणसूत्र के वे भाग है जो उनके दोनों सिरे पर स्थित होते हैं। सामान्यता ये स्थायी रूप से पाये जाते है तथा दूसरे गुणसूत्रों के 'टीलोमियर' या अन्तःखण्डों से संयुक्त नहीं होते है। इससे गुणसूत्र अन्य गुणसूत्र से संलग्न नहीं होता तथा इसका संगठनात्मक स्थायित्व बना रहता है। लेकिन गुणसूत्र का टूटा हुआ भाग दूसरे गुणसूत्र के खण्डित भाग से सरलतापूर्वक संलग्न हो जाता है।

गुणसूत्रों का निर्माण करने वाला पदार्थ क्रोमैटिन (Chromating) होता है। यह पदार्थ आकार एवं वितरण के आधार पर गुणसूत्रों में भिन्न–भिन्न रूप से पाया जाता है। जब कोशिका विभाजन के दौरान यह पदार्थ गहरे वर्ण का होता है तथा अन्तरावस्था में हल्के तथा इस प्रकार के क्रोमैटिन से बने गुणसूत्र को 'यूक्रोमैटिनिक' (Euchromatinic) कहते है। इसके विपरीत, जब विभाजन के समय यह पदार्थ हल्के वर्ण का तथा अन्तरावस्था में अन्तरावस्था में गहरे वर्ण का पाया जाये, तो इस प्रकार के पदार्थ से निर्मित गुणसूत्र को हेटरो क्रोमैटिनिक (Heterochromatinic) कहते हैं।

रासायनिक संरचना

(Chemical Composition)

रासायनिक रूप से मुख्यतः गुणसूत्र डीएनए, आरएनए तथा प्रोटीन से निर्मित होते है। मध्यावस्था में गुणसूत्र अनुमानतया 15–20 प्रतिशत डीएनए तथा 65–75 प्रतिशत आरएनए एवं प्रोटीन को रखते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अवशिष्ट प्रोटीन भी होते है। गुणसूत्रों के रासायनिक संगठन में डी आक्सी राइबो न्यूक्लियो प्रोटीन (Deoxy ribon ucleporotein) एक प्रमुख घटक है क्योंकि यह गुणसूत्र का 90 प्रतिशत भाग होता है। इसमें 45 प्रतिशत भाग डीएनए का तथा 55 प्रतिशत भाग हिस्टोन (प्रोटीन) का है। गुणसूत्र का शेष 10 प्रतिशत भाग अवशिष्ट प्रोटीनों (Residual Proteins) का है। इन अवशिष्ट प्रोटीनों में 12–14 प्रतिशत आरएनए, 2–3 प्रतिशत डीएनए एवं 83–86 प्रतिशत अवशिष्ट प्रोटीन होते है। वस्तुतः प्रोटीन ही इन गुणसूत्रों का ढांचा बनाते हैं तथा इसी से न्यूक्लिक अम्ल संलग्न रहते हैं। ये डीएनए तथा प्रोटीन के अणु आयनिक या लवण (Ionic Or Salt) बन्धनों (Linkages) द्वारा परस्पर श्रृंखलाबद्ध रहते हैं।

डी एन ए (DNA)

डी आक्सीराइबो न्यूक्लिक एसिड (Deoxyribonuclic Acid) अर्थात् डीएनए गुणसूत्रों में पाया जाने वाला महत्वपूर्ण जीव रासायनिक यौगिक है। मानव की जैव क्रियाओं के संदेश इसी में 'कोडित' या उद्घृत (Coded) होते है जो पीढी दर पीढी संचरित होते रहते हैं।यह एक पीढी से दूसरी पीढी के मध्य एक क डी या पुल(Link or Bridge) का कार्य करता है। इसी आधार पर इसे 'संदेशों से निहित टेप' भी कहते हैं।

इसकी मात्रा प्रत्येक जाति में निश्चित होती है। दैहिक कोशिकाओं की तुलना में उस जीव में युग्मकों (Gametes) में इसकी मात्रा आधी रहती है। मानव कोशिकाओं के केन्द्रक में डीएनए लम्बा तथा सर्पिल रूप से कुण्डलित सूत्र (धागे) के रूप में पाया जाता है। DNA अणुओं की संख्या उस जीव की कोशिका में स्थित

गुणसूत्रों की संख्या के बराबर होती है। डीएनए के अणु प्रोटीन के अणुओं से संयोग करके न्यूक्लिओ प्रोटीन बनाते है जो केन्द्रक में क्रोमैटिन पदार्थ के रूप में पाया जाता है।

डीएनए अति उच्च आण्विक भार वाला अणु है जो नवीनतम आकलन के अनुसार कई लाख आण्विक भार अर्थात् 10^6-10^7 डाल्टन के मध्य आण्विक भार है।

यह निम्न तीन प्रकार के रासायनिक यौगिकों से बना है–

(i) पेंटोज शर्करा–डी आक्सी राइवोज (Deoxyribose)

(ii) फास्फोरिक एसिड (Phosphoric Acid)

(iii) नाइट्रोजन क्षार (Nitrogen Bases)

नाइट्रोजन क्षार चार प्रकार के होते हैं– एडीनीन (Adinine) –A, थाइमीन (Thymine) –T, साइटोसीन (Cytosine) –C तथा ग्वानीन (Guanine)–G। ये सभी नाइट्रोजन रिंग वाले कार्बनिक यौगिक हैं। इन चारों क्षारकों को दो समूहों में विभक्त किया जाता है– प्यूरीन (Purines) एवं पिरीमिडीन (Pyrimidine)। इनमें प्रथम समूह दो रिंग वाला होता है। इनमें एडीनीन एवं ग्वानीन डीएनए में मिलने वाले प्यूरीन है। द्वितीय समूह के रिंग वाले यौगिकों में साइटोसीन तथा थाइमीन सम्मिलित होता है। इन रासायनिक क्षारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि– (i) डीएनए अणु में प्यूरीन एवं पिरीमिडीन की मात्रा सदैव बराबर होती है, (ii) एडीनीन की मात्रा थाइमीन के तथा साइटोसीन की ग्वानीन के बराबर होती है (iii) प्रत्येक जीव के डीएनए तथा A + T/G + C का क्षार अनुपात निश्चित होता है। इसकी यह विशेषता वर्गीकरण विज्ञान में अधिक उपयोगी हो सकती है। मानव में यह क्षार अनुपात 1:53 है। इस अनुपात को विसमित अनुपात (Dissymmetry Ration) कहते हैं।

आण्विक संरचना– 1953 में वाट्सन एवं क्रिक (Watson & Crick) ने DNA की आण्विक रचना का मॉडल प्रस्तुत किया, जो सर्वमान्य है। इनके अनुसार जब नाइट्रोजन क्षारकों के साथ एक 'डीआक्सी राइबोज' का अणु संयुक्त होता है तो इसे न्यूक्लिओसाइड (Nucleoside) कहते हैं। ये एडीनीन, थाइमीन, साइटोसीन एवं ग्वानीन क्षारकों के आधार पर क्रमशः चार न्यूक्लियो साइड– एडीनोसाइन (Adenosine) – A + डी आक्सी राइबोज, थाइमिडीन (Thymidine) – T + डी आक्सी राइबोज, साइटीडीन (Cytidine) – C + डी आक्सी राइबोज तथा ग्वानोसीन (Guanosine)– G + डी आक्सी राइबोज है।

इन्हीं चार क्षारकों से चार प्रकार के न्यूक्लियोटाइड (Nucleotide) निर्मित होते हैं। प्रत्येक न्यूक्लियोटाइड में एक अणु डी आक्सी राइबोज का, एक अणु फास्फोरिक एसिड का, तथा एक अणु प्रत्येक नाइट्रोजन क्षारक का होता है। चूंकि नाइट्रोजन क्षारक चार प्रकार के होते है इनसे अन्य दोनों अणु (फास्फोरिक एसिड एवं डी आक्सी राइबोज) सामान्य रूप से सम्बद्ध होते है, अतः न्यूक्लियोटाइड भी चार प्रकार के होते हैं– एडीनिलिक एसिड (Adinilic Acid = A + Deoxyriboze + Phosphoric Acid), थाइमिडिक एसिड (Thymidic Acid = T + Deoxyribose + Phosphoric Acid), साइटिडिलिक एसिड (Cytidilic Acid = C + Deoxyriboze + Phosphoric Acid), एवं ग्वानिलिक एसिड (Guanilic Acid = G + Deoxyribose + Phosphoric Acid)। डीएनए अणुओं में यही न्यूक्लियोटाइड हजारों की संख्या में एक निश्चित क्रम में संयुक्त होते है। इस प्रकार की बनी हुई श्रृंखला या अनुक्रम को 'पॉली न्यूक्लियोटाइड' श्रृंखला (Polynucleotide Chain) कहते हैं। प्रत्येक न्यूक्लियोटाइड को 'एकलक' (Monomere) कहते है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि DNA एक बहुलक (Polymere) है क्योंकि वह अनेकों न्यूक्लियोटाइडों से बनता है।

डीएनए अणुओं में न्यूक्लियोटाइडों के विशिष्ट बन्धन (Linkage) से 'पाली न्यूक्लि पोटाइडों' या बहुलकों की श्रृंखला सीधी न होकर एक सर्पिल आकार की होतीं है। प्रत्येक न्यूक्लियोटाइड फास्फेट अणु (फास्फोरिक अम्ल – P) एस्टर बन्धता (Easter Linkage) द्वारा डी आक्सी राइबोज के 5वें कार्बन परमाणु से जुड़ता है। संलग्न न्यूक्लियोटाइड अन्य से संयुक्त होकर शर्करा–फास्फेट (SCP) श्रृंखला बनाते हैं जिसमें ये दोनों अणु एकान्तरित क्रम में जुड़े रहते है।जब यह न्यूक्लियोटाइड अगले न्यूक्लियोटाइड से जुड़ता

है तो फास्फेट का अणु (P) उस न्यूक्लियोटाइड के शर्करा अणु (S – deoxyribose) के तीसरे कार्बन परमाणु से जुड़ता है। ये क्षारक अणु पाली न्यूक्लियोटाइड श्रृंखला के अनुदैर्ध्य अक्ष (Longitudinal Axis) के समकोण बनते हुए एक–दूसरे के समानान्तर स्थित होते है। इस प्रकार पाली न्यूक्लियोटाइड श्रृंखला के एक छोर पर स्थित शर्करा का तीसरा कार्बन परमाणु तथा दूसरे छोर का पाँचवा कार्बन परमाणु किसी अन्य न्यूक्लियोटाइड से नहीं बन्धता है। इस क्रम को 3 व 5 छोर कहते है। इन्हीं छोरों के फलस्वरूप पाली न्यूक्लियोटाइड की श्रृंखला सीधी न होकर के **सर्पिलाकार** होती है।

डीएनए द्विरज्जुकी इसलिए प्रतीत होता है क्योंकि इसके अणु में एक सीढी को दो डण्डों के सदृश समानान्तर दो पाली न्यूक्लियोटाइड श्रृंखलायें होती हैं। यह एक–दूसरे के विमुख होकर इस प्रकार से जुडी होती हैं कि एक श्रृंखला का 3 – सिरा दूसरे के 5 – सिरे के साथ स्थित होता है। इन श्रृंखलाओं के प्रत्येक न्यूक्लिटाइडों के अणु, शर्करा अणु के बाहर की ओर तथा क्षारक अणु अन्दर की ओर स्थित होते हैं। दोनों समानान्तर श्रृंखलाओं के क्षारक एक दूसरे से कमजोर हाइड्रोजन बंधनों से बन्धते हैं। इन क्षारों के युग्मन विशेष प्रकार से होते है–

1. प्यूरीन (एडीनीन एवं ग्वानीन) पिरिमिडीन (साइटोसीन तथा थाइमीन) से युग्म बनाता है।
2. एडीनीन, थाइमीन से तथा साइटोसीन, ग्वानीन से जोड़ा बनाता है।

अतः इन क्षारकों के विशेष युग्मन के फलस्वरूप दोनों रज्जुक या स्ट्रैंड एक दूसरे के पूरक होते हैं। उदाहरणस्वरूप, यदि एक श्रृंखला के किसी क्षेत्र में इन नाइट्रोजन क्षारों का अनुक्रम एडीनीन–थाइमीन–साइटोसीन – ग्वानीन – एडीनीन (A T C G T) है तो पूरक श्रृंखला के सम्बन्धित क्षेत्र में क्षार अनुक्रम थाइमीन– एडीनीन – ग्वानीन–साइटोसीन–थाइमीन (T A G C A) होगा। इन दोनों रज्जुकों के शर्करा अणुओं के मध्य की दूरी 11.1 A^{O} होती है तथा शर्करा के C–1 परमाणु का नाइट्रोजन क्षारों के बंधने से दोनों का बंधन कोण 51° होता है।

दोनों पूरक श्रृंखलाये एक दूसरे के चारों ओर कुण्डलित होती है। कुण्डिलनी का प्रत्येक घुमाव 34 A_{o} की दूरी होती है। प्रत्येक कुण्डलन में 3–4 A° के निश्चित अन्तरालों पर 10 न्यूक्लियोटाइडों के युग्म होते है। कुण्डलिनी का व्यास लगभग 90 A° होता है। डीएनए कुण्डलिनी की सम्पूर्ण लम्बाई एक संकीर्ण खांच (Narrow Grove) तथा एक चौडी खांच होती है। कुण्डलिनी से बनी इन्हीं खाचों की क्रमबद्धता से भी डीएनए बहुलकों में सर्पिल आकार प्रदर्शित होता है। संकीर्ण खांच युग्मित अणुओं के मध्य की दूरी को एक चौडी खांच सर्पिल रूप से कुण्डलित दोनों रज्जुकों के मोड (Turn) की दूरी को प्रदर्शित करती हैं।

इस प्रकार डीएनए की संरचना से उसके विशिष्ट कार्य जैसे– स्वतः द्विगुणन (Selfduplication) संदेशों का संप्रेषण (Transmission of information) एवं क्षतिग्रस्त डीएनए अणुओं की मरम्मत (repair of DNA) सरलता से समझे जा सकते हैं। डीएनए की दोहरी कुण्डलिनी के प्रत्येक रज्जुक अपना प्रतिरूप बनाने में सक्षम होते हैं। डीएनए की द्विकुण्डलिनी (Double Helix) संरचना के आधार पर वाट्सन एवं क्रिक ने इसकी पुनरावृत्ति के तरीके की व्याख्या की। इनके अनुसार DNA की पुनरावृत्ति के समय न्यूक्लियोटाइडों के क्षारकों के मध्य के हाइड्रोजन बन्धन टूटने से DNA की दोनों पूरक श्रृंखलायें (पाली न्यूक्लियोटाइड) एक दूसरे से पृथक हो जाती है। क्षार युग्मन की विशिष्टता के कारण पृथक हुई दोनों श्रृंखलाओं का प्रत्येक न्यूक्लियोटाइड कोशिका द्रव्य में से अपने पूरक न्यूक्लियोटाइडों को आकृष्ट करता है। एक बार जब न्यूक्लियोटाइड अपने हाइड्रोजन बंधों द्वारा अपने सामने स्थित न्यूक्लियोटाइड से संयुक्त हो जाता है तो इनके शर्करा अणु भी फास्फेट अणुओं से पूर्ववत जुड़ जाते है। इस प्रकार से एक नवीन पालीन्यूक्लियोटाइड श्रृंखला का निर्माण पूर्ण हो जाता है तथा DNA द्विकुण्डलिनी की प्रत्येक श्रृंखला एक सांचे की भाँति पूरक श्रृंखला का निर्माण करती है।कोशिका संवृद्धि के दौरान DNA संश्लेषण में मुख्यतः

दो एन्जाइम DNA पाली मरेज तथा DNA लाइगेज सहायक होते हैं। DNA संश्लेषण मुख्यतः कोशिका विभाजन के अन्तरावस्था में होता है। इस अवस्था में DNA की मात्रा बढकर दो गुनी हो जाती है। लेकिन अन्त्यावस्था में बने संतति केन्द्रकों में DNA की मात्रा कम होकर आधी रह जाती है इसके पश्चात् ही प्रत्येक श्रृंखलाओं को अपनी पूरक श्रृंखलाओं का निर्माण करना पडता है।

डीएनए संदेशों का प्रेषण भली--भाँति करता है। इसके लिए संदेश उसके नाइट्रोजन क्षारों के अनुक्रम के रूप में कोडित (Coded) रहते हैं। इस अनुक्रम को अन्य अणु – m RNA पर कोडित करके प्रोटीन संश्लेषण स्थल पर लाया जाता है। इस प्रकार DNA अणु के दो में से एक रज्जुक m RNA के नवीन रज्जुक का निर्माण करता है। यही m RNA का रज्जुक नवनिर्मित प्रोटीन श्रृंखला में अमीनों अम्लों के उचित विन्यास का नियन्त्रण करता है। आनुवंशिक सूचना संप्रेषण की इस अविरल प्राणाली को आनुवंशिक कूट (Genetic Code) कहते हैं।

आर एन ए (RNA)

गूणसूभ में डीएनए तथा प्रोटीन की तुलना में RNA की मात्रा अत्यल्प होती है। सम्भवतः गुणसूत्र के भार का लगभग 5 प्रतिशत एक विशेष प्रकार का RNA गुणसूत्र RNA होता है। इसके एक अणु में 40–60 नाइट्रोजन क्षार पाया जाता है।

RNA के अणु, DNA अणुओं के समान तीन प्रकार के अणुओं फास्फेट, पेंटोज, शर्करा एवं नाइट्रोजन क्षारक से बनते है। इनमें शर्करा के अणु 'राइबोज शर्करा' के रूप में होता है तथा DNA अणु से कुछ भिन्न निम्न प्रकार के नाइट्रोजन क्षारक (Nitrogenic Bases) होते है–

(i) एडीनीन (Adenine)

(ii) ग्वानीन (Guanine)

(iii) साइटोसीन (Cytocine)

(iv) यूरेसिल (Uracil)

सामान्य रूप से RNA, न्यूक्लियोटाइडों से बनी एक रज्जुक की रचना है, जो स्वयं बलित होकर कुण्डलिनी सदृश आकार बनाती है। इसके न्यूक्लियोटाइड भी DNA की भाँति एक रोबिक क्रम में 3–5 फास्फोडीस्टर बंधो द्वारा एक दूसरे से जुडे रहते है। RNA के न्यूक्लियोटाइडों में राइबोज (Ribose) शर्करा होती है इसलिए इनके न्यूक्लियोटाइडो को 'राइबोन्यूक्लियोटाइड' या 'राइबोटाइड' (Ribonucleotide or Ribotide) कहा जाता है।

गुणसूत्रों से संयुक्त RNA का अधिकांश तथा r RNA m RNA एवं t RNA होते हैं। इन तीनों प्रकार के RNA गुण एवं कार्यों के आधार पर विविधता रखते है। r RNA राइबोसोमी होते है इनमें ग्वानीन एवं साइटोसीन क्षारों की मात्रा अधिक होती है। सम्भवतया यह RNA बडे राइबोसोमल उपईकाई (Sub unit) आर एन ए में m RNA को मुक्त करता है। m RNA केन्द्रक में DNA के एक पूरक श्रृंखला (रज्जुक) के रूप में संश्लेषित होता है तथा प्रोटीन संश्लेषण केलिए गुणसूत्री DNA से कोशिका द्रव्य में आनुवंशिकी संदेशों का प्रेषण करता है। इसी आधार पर जैकब तथा मोनॉड (Jacob & Monad, 1961) ने इसे दूत RNA (Messenger RNA) अर्थात् m RNA कहा। t RNA छोटे आकार के होते है। ये लगभग 60 प्रकार के राइबोन्यूक्लिक अम्लों कासमूह होता है जो m RNA पर स्थित कोडॉन को अनुलेखित करते हैं, 20 सक्रिय अमीनो अम्लों के प्रति अत्यधिक आकर्षण प्रदर्शित करते हुए उनसे संलग्न होकर उन्हें प्रोटीन संश्लेषण वाले स्थान तक पहुंचाते हैं।

आर एन ए, डी एन ए से कुछ मुख्य लक्षणों के आधार पर भिन्नता प्रदर्शित करते है जिन्हें निम्न तालिका में दर्शाया गया है–

लक्षण	डी एन ए	आर एन ए
• शर्करा अणु (Suger Molicule)	डी आक्सी राइबोज	राइबोज
• नाइट्रोजन क्षार (Nitrogen Bases)	एडीनीन, थाइमीन, साइटोसीन तथा ग्वानीन	एडीनीन, साइटोसीन, ग्वानीन तथा यूरेसिल
• रज्जुक (Strand)	द्विरज्जुक	सामान्यता एक रज्जुकी
• उत्पत्ति (Origin)	पूर्ववर्ती DNA अणु की प्रतिकृति से	डी एन ए के अनुलेखन से 'या' RNA पालीमरेज एन्जाइम के द्वारा RNA की प्रतिकृति से
• प्रकार्य (Function)	आनुवंशिक सूचनाओं को कोडित करके पीढी दर पीढी पारगमित करना, डी एन ए की पुनरावृत्ति करना तथा डी एन ए की क्षति पूर्ति करना।	कुछ विषाणुओं का आनुवंशिक द्रव्य तथा प्रोटीन संश्लेषण में भाग लेना

प्रोटीन
(Protein)

प्रोटीन एक दीर्घ कण है जिनका मानव की जीव रासायनिक क्रियाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ये उत्प्रेरकों (Enzymes) के रूप में शरीर में होने वाली जैव – रासायनिक क्रियाओं का नियमन करते है तथा साथ ही साथ ये समलक्षणी विशेषकों की अभिव्यक्ति (Expression) को भी नियन्त्रित करते है।

रासायनिक रूप में प्रोटीन अमीनो अम्लों के बहुलक हैं। गुणसूत्रों में उपस्थित प्रोटीन मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं– क्षारीय एवं अम्लीय। गुणसूत्रों में प्रोटीन का 80 % भाग क्षारीय होता है। इसे 'हिस्टोन' (Histone) कहा जाता है। ये हिस्टोन कई प्रकार के होते हैं– H_1H_2A, H_2B, H_3 एवं H_4। ये गुणसूत्रों के प्रारम्भिक संगठन एवं कुण्डलित क्रोमैटिन तन्तुओं को स्थायी रूप देने में सहायक होते हैं। शेष 20 % गुणसूत्री प्रोटीन अम्लीय होता है जो गुणसूत्री RNA से संयोजित होकर के हिस्टोनों (क्षारीय प्रोटीन) को DNA से बाँधता है। इनमें DNA पग्लीमरेज, एवं RNA पालीमरेज उत्प्रेरक भी सम्मिलित किये जाते हैं जो क्रमशः इन दोनों अणुओं (DNA एवं RNA) की अनुलिपीकरण (Replication) में सहायक होते है। इस प्रकार प्रोटीन संश्लेषण DNA की पुनरावृत्ति के लिए अनिवार्य क्रिया है जो DNA के द्वारा m RNA के पर कोडित सूचना संप्रेषण के फलस्वरूप घटित होती है। यदि यह प्रोटीन संश्लेषण अचानक रुक जाये तो आनुवंशिक सूचनाओं का सम्प्रेषण (डी एन ए पुनरावृत्ति) अवरुद्ध हो जायेगी। प्रोटीन के इसी महत्वपूर्ण कार्य हेतु बैरी कॉम्नर (Barry Commoner) ने 1968 में सूचनाओं का वृत्तीय प्रक्रम (Grcular Flow of Information) प्रस्तुत की। इनके अनुसार, DNA, RNA (mRNA, tRNA आदि) का अनुलेखन करता

है, RNA प्रोटीन के रूप में इन सूचनाओं का अनुबाद करता है, प्रोटीन RNA संश्लेषण का निर्देशन करता है तथा अन्ततः RNA, DNA संश्लेषण का अनुलेखन करता है।

जीन
(Genes)

गुणसूत्रों के वे भाग जो किसी एक विशेष लक्षण के लिए उत्तरदायी होते हैं तथा उन्हें एक पीढी से दूसरी पीढ़ी में पारगमित करते हैं, 'जीन' कहलाते हैं। मेंडल ने इन वंशागत लक्षणों के लिए 'कारक' शब्द का उपयोग किया था। इन 'कारकों' के लिए 'जीन' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम जोहान्सन (Johannsen) ने 1909 में किया था। इसकी अवधारणा का प्रतिपादन सटन (Sutton), मार्गन (Morgan), ब्रिजिस (Bridges), मूलर (Muller), वाटसन एवं क्रिक (Watson and Crick), विलीकंस (Wilkins) आदि जीवशास्त्रियों ने किया।

आधुनिक अवधारणा के अनुसार जीन, DNA के एक खण्ड का बना होता है जिसमें एक विशेष उत्प्रेरक (Enzyme) का एक पालीपेप्टाइड श्रृंखला नाइट्रोजन क्षारों (न्यूक्लियोटाइड) के रूप में संदेश उद्धृत (Coded) रहता है। इन DNA खण्ड में न्यूक्लियोटाइडों का अनुक्रम पालीपेप्टाइड श्रृंखला में अमीनों अम्लों के अनुक्रमों को निर्धारित करता है जैसे– जेनेटिक कोड।तीन न्यूक्लियोटाइडों का एक अनुक्रम एक विशेष अमीनों अम्लों का अनुक्रम होता है। इन्हें कोडॉन (Codon) कहते है। इस प्रकार गुणसूत्रों में ये एक रेखिक क्रम में विन्यसित होते है।

जीन के उत्प्रेरकों के माध्यम से स्व–अभिव्यक्ति करता है। ये उत्प्रेरक प्रोटीन के बने होते हैं।यह एक विशेष प्रोटीन का संश्लेषण करता है जो उत्प्रेरक के रूप में एक विशिष्ट प्रतिक्रिया हेतु उत्तरदायी होता है। जीन पुनरावृत्ति करते रहते हैं फलस्वरूप गुणसूत्रों का द्विगुणन होता है। प्रत्येक जीन में दो या दो से अधिक विकल्पी (Allele) होते है जिनमें सामान्यता एक प्रभावी दूसरा अप्रभावी अथवा दोनों प्रभावी अथवा दोनों अप्रभावी होते है। प्रत्येक जीन गुणसूत्रों में एक विशेष स्थान पर स्थित होते है इसे 'लोकस' या 'बिंदु–पथ' (Locus) कहते है। सभी जीवों में गुणसूत्रों की संख्या की तुलना में जीनों की संख्या बहुत अधिक होती है। मनुष्य के 46 गुणसूत्रों पर लगभग 40,000 जीन स्थित होते है। यही जीन जीवों के भौतिक एवं शरीर क्रियात्मक लक्षणों का निर्धारण करते हैं।

आण्विक संरचना– जीन, DNA से बना होता है। लेकिन आज तक DNA का कितना भाग एक जीन को निरुपित करता है, यह कह पाना कठिन है। 1962 में बैनजर (Bazer) ने जीन्सों को तीन भागों में बाँटा–

(i) रिकान (Recon)

(ii) म्यूटान (Muton)

(iii) सिस्ट्रान (Cistron)

(i) **रिकान**– ये पुनः संयोग की सूक्ष्मतम इकाई है जो डी एन ए अणु के न्यूक्लियोटाइटों के मध्य की दूरी इनकी सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति है। यह सूक्ष्मतम रूप में एक युगल न्यूक्लियोटाइडों द्वारा व्यक्त हो सकता है।

(ii) **म्यूटॉन**– यह डी एन ए का वह भाग है जिसमें उत्परिवर्तन की क्षमता होती है। न्यूक्लियोटाइड के एक युगल में घटित परिवर्तन इसकी न्यूनतम अभिव्यक्ति को प्रदर्शित करता है। तीन न्यूक्लियोटाइड द्वारा बने त्रिक (Triplet) के किसी एक क्षारक में घटित होने वाले कोई भी परिवर्तन 'कोडॉन' द्वारा ले जा रहे संदेश को बदल सकता है जिसके फलस्वरूप नवीन अमीनो अम्ल की उत्पत्ति होती है, जैसे-

जैसे– Hb – A के निर्माण में छठा त्रिक GAA–CTT तथा Hb–S में यह GAT–CAT होता है। इस विन्यास में भिन्नता आ जाती है इससे "सिकिल–सेल–एनीमिया" रोग उत्पन्न होता है।

(iii) **सिस्ट्रान–** यह डी एन ए० का एक बडा भाग है, जो क्रियात्मक इकाई का निरूपण करता है।

जीन के इन प्रस्तावित भागों के अतिरिक्त जीन की तीन और इकाईयों का प्रस्ताव कुछ विद्वानों द्वारा किया गया जिन्हें निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है–

जीनोम	आनुवंशिक प्रकार्य की इकाई	डी एन ए से सम्बन्ध	प्रोटीन
1. रिकॉन (Recon)	पुनः संयोग	न्यूक्लियोटाइडो के मध्य की दूरी	––
2. म्यूटान (Muton)	उत्परिवर्तन	न्यूक्लियोटाइड युगल	––
3. कोडॉन (Codon)	स्थानान्तरण	RNA का त्रिक या DNA का त्रिक	अमीनो अम्ल
4. सिस्ट्रान (Cistron)	आंशिक कार्य	डी एन ए का खण्ड	पालीपेप्टाइड
5. कम्प्लान (Complon)	अनुपूरण (Complimentation)	डी एन ए का खण्ड	पालीपेप्टाइड
6. ओपेरान (Operon)	क्रियाये (Function)	डी एन ए का खण्ड	अनेक सम्बद्ध उत्प्रेरक
7. रेप्लिकॉन (Replicon)	पुनरावृत्ति	सम्भवतः एक डी एन ए अणु या गुणसूत्र का कुछ भाग	उत्प्रेरकों का समूह
8. जीन (Gene)	क्रिया	गुणसूत्र क्षेत्र	प्रोटीन

इस प्रकार जीन का तुलनात्मक अध्ययन जब जीन के अन्य प्रस्तावित भागों के साथ करते है जो यह स्पष्ट होता है कि जीन गुणसूत्र का एक क्षेत्र है जिसके दो विकल्पी समानान्तर रूप से गुणसूत्र के दोनों छोरों पर स्थित होते हैं। यह एक विशिष्ट उत्प्रेरक का निर्माण करके किसी विशेष लक्षण को व्यक्त करता है। इसमें आनुवंशिकी क्षेत्र के मुख्य कार्यों– पुनः संयोजन, उत्परिवर्तन स्थानान्तरण, पुनरावृत्ति, आदि की क्षमता होती है क्योंकि गुणसूत्र के उस क्षेत्र पर यह सभी प्रस्तावित नवीन भाग होते हैं जो इन विशेष आनुवंशिक कार्यों की इकाई है। अतः यह कहा जा सकता है कि जीन की सूक्ष्म इकाई डी एन ए अणु है।इसको रिकॉन,

म्यूटॉन, कोडॉन आदि में विभाजित किया जा सकता है। यह गुणसूत्र के एक एक आनुवंशिक इकाई हैं जो एक दीर्घ अणु के रूप में गुणसूत्रों की क्रोमोनेमा (Chromonema) में एक निश्चित क्रम में स्थित रहते हैं। मानवजाति के यदि समस्त जीन को मिला दिया जाये तो मानव जीनों की इस समष्टि को 'जीनोम' (Genome) कहा जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'जीनोम' किसी एक जीव के 'जीन का जाल' है।

गुणसूत्र-वर्गीकरण : कैरियोटाइप

(Karyotype)

सामान्य रूप से सभी गुणसूत्र एक-दूसरे के समान प्रतीत होते हैं। लेकिन कोशिका विशेषज्ञ एवं जीवशास्त्री किसी विशेष गुणसूत्र को अन्य गुणसूत्रों से सरलतापूर्वक पृथक् कर लेते है। यह पहचान विशएषज्ञ आकारिकी एवं भौतिक गुणों के आधार पर क्रर पाते है। अतः गुणसूत्रों की वह वर्गीकरण विधि जिसमें इनकी आकारिकी एवं भौतिक लक्षणो को आधार बनाया जाये, **कैरियो टाइप** (Karyotype) कहते है। दूसरे शब्दों में **कैरियोटाइप** गुणसूत्रों में पायी जाने वाली आकारिकी विविधता है जिसमें निम्न लिक्षण मुख्य रूप से विचारणीय होते हैं-

(i) गुणसूत्रों की संख्या

(ii) युग्मित गुणसूत्रों की संख्या

(iii) आपेक्षिक लम्बाई तथा चौडाई

(iv) सेन्ट्रोमियर की स्थिति

(v) द्वितीयक आकुंचन (सैटेलाइट)

अतः प्रत्येक स्पीशीज (जाति) का कैरियोटाइप कोशिका में गुणसूत्रों की संख्या एवं प्रकार में विशिष्ट होता है। केवल गुणसूत्र की संख्या ही कैरियोटाइप को विशिष्ट नहीं बनाती, अपितु उस कैरियोटाइप में गुणसूत्रों की संख्या, उनके आकार एवं प्रकार भी विशेष है। उस जाति के जीनोम से कैरियोटाइप घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होता है। जब किसी एक जीव का कैरियोटाइप गुणसूत्र संख्या अथवा आकार में परिवर्तित होता है, तो उस जीव के आनुवंशिक पदार्थ पुनर्व्यवस्थित होते है। साधारणतया प्रत्येक स्पीशीज का केवल एक कैरियोटाइप होता है।

सन् 1956 के पश्चात् मानव कैरियोटाइप से यह ज्ञात हुआ है कि इस जाति में सामान्य रूप से 46 गुणसूत्र (द्विगुणित) होते हैं। इनमें से 22 जोडे अंलिग सूत्री (Autosomes) तथा X एवं Y अर्थात् एक युग्म लिंग सूत्री (Sex-Chromosome) हैं। दैहिक कोशाओं में गुणसूत्रों की संख्या 46 होती है जबकि मानव युग्मकों परिपक्व जनन कोशिकाओं में इनकी संख्या 23 (N) होती है। पुरुषों में लिंग गुणसूत्र X एवं Y होता है जबकि स्त्रियों में ये लिंगसूत्र X एवं X होते हैं।

मानव गुणसूत्रों (सामान्य) को उनके आकार की विभिन्नता एवं सेंट्रोमियर की स्थिति के आधार पर निम्न सात समूहों में विभक्त किया गया है-

(i) समूह-A : गुणसूत्र 1-3

(ii) समूह-B : गुणसूत्र 4-5

(iii) समूह-C : गुणसूत्र 6-12 एवं X

(iv) समूह-D : गुणसूत्र 13-15

(v) समूह-E : गुणसूत्र 16-18

(vi) समूह-F : गुणसूत्र 19-20

(vii) समूह-G : गुणसूत्र 21-22 एवं Y

समूह–A : ये गुणसूत्र आकार में सर्वाधिक बडे हैं। इनकी भुजाओं के मध्य में सेन्ट्रोमियर स्थित होता है, अतः यह मध्य केन्द्री गुणसूत्र हैं।

समूह–B : ये गुणसूत्र–4 एवं 5, समूह–A के गुणसूत्रों की तुलना में छोटे हैं यद्यपि इनका आकार अन्य गुणसूत्रों से बडा होता है। सेंट्रोमियर गुणसूत्रों की भुजाओं के ठीक मध्य में कुछ हटकर होता है। इन गुणसूत्रों को उपमध्य केन्द्री कहा जाता है।

समूह–C : यह बहुसंख्यक गुणसूत्र समूह है जिसमें गुणसूत्र 6–12 होते हैं। ये मध्य केन्द्री प्रकार के गुणसूत्र है लेकिन आकार में पूर्ववर्ती समूह (B) की अपेक्षा छोटे होते हैं। इसी में लिंगसूत्र– XX भी सम्मिलित किये जाते है। पुरुषों में X लिंगसूत्र मात्र एक होता है। कुछ विशेषज्ञ इस लिंगसूत्र को समूह B में सम्मिलित करते है। लेकिन इस लिंगसूत्र का आकार छठे गुणसूत्र से अधिक समान है।

समूह–D : इस समूह में गुणसूत्र 13–15 सम्मिलित किये गये हैं। इनमें सेंट्रोमियर लगभग एक छोर के निकट स्थित होता है। ये अग्रकेन्द्री गुणसूत्र हैं। इनमें सैटेलाइट छोटी भुजा पर स्थित होता है।

समूह–E : यह आकार में समूह–D से छोटे होते हैं। इनकी भुजाओं के मध्य अथवा मध्य के निकट सेंट्रोमियर स्थित होता है। इससे इन गुणसूत्रों को मध्यकेन्द्री–उपमध्यकेन्द्री के बीच में रखा जाता है।

समूह–F : गुणसूत्र 19 एवं 20 इस समूह के सदस्य है। ये आकार में छोटे होते हैं। सेन्ट्रोमियर दोनों भुजाओं के मध्य स्थित होता है अतः ये मध्यकेन्द्री गुणसूत्र है।

समूह–G : इस समूह में गुणसूत्र 21 एवं 22 सम्मिलित होते हैं। इनके अतिरिक्त लिंगसूत्र – Y को भी इसी वर्ग में रखा जाता है। इनमें सेन्ट्रोमियरQ भुजा के अग्रभाग पर स्थित होता है इसलिए इन्हें अग्रकेन्द्री गुणसूत्र कहते है। स्त्रियों में यह लिंगसूत्र नहीं होता है। इन गुणसूत्रों में छोटी भुजा के आगे सैटेलाइट स्थित है।

मुख्यतया कैरियोटाइप के विश्लेषण के लिए कोशिका विभाजन की मध्यावस्था में कोशिकाओं को प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी के प्रकाशीय व्यवस्था से युक्त कैमरे के द्वारा छायाचित्रित किया जाता है। चूंकि ये कोशिकाओं के गुणसूत्र मोटे एवं स्पष्ट होते है अतः स्पष्ट क्रोमैटिड से इन्हें भलीभाँति पहचान सकते हैं। इन छायाचित्रों को आवश्यकतानुसार परिवर्द्धित कर लिया जाता है तथा गुणसूत्र को काटकर एक कागज पर क्रमबद्ध कर लिया जाता है। इस क्रम में सबसे अधिक बडा पहले तथा सर्वाधिक छोटे को सबसे अन्त में रखते हैं। यदि गुणसूत्र बराबर लम्बाई के होते हैं तो मध्यकेन्द्री (M) को पहले तथा अग्रेकन्द्री (A) को बाद में रखते है। 46 मानव गुणसूत्रों को जिन 7 समूहों में रखा गया है उसे डेनवर वर्गीकरण (Denever Classification) भी कहते हैं क्योंकि 1960 में कोलोरैडो स्थित डेनवर में प्रमुख कोशिका अध्ययन कर्ताओं में सहमति हुई थी। गुणसूत्रों के वर्ग, आकारिकी एवं मापों को निम्न तालिका में प्रदर्शित किया जा रहा हैं–

समूह (Group)	गुणसूत्र संख्या	भुजा की लम्बाईयों का अनुपात (लम्बाई : छोटाई)	आकारिक वर्गीकरण (सेंट्रोमियर की स्थिति)
A–	1	1:1	M (मध्यकेन्द्री)
	2	1:5 या 1:6	M(मध्यकेन्द्री)
	3	1:2	M(मध्यकेन्द्री)
B–	4	2.6:2.9	उपमध्यकेन्द्री (S)
	5	2.4:3.2	उपमध्यकेन्द्री (S)
C–	X	1.6:2.8	मध्यकेन्द्री (M) अथवा उपमध्यकेन्द्री (S)
	6	1.6:1.8	मध्यकेन्द्री (M)
	7	1.3:1.9	मध्यकेन्द्री (M)
	8	1.5:2.4	उपमध्यकेन्द्री (S)

	9	1.8:2.4	उपमध्यकेन्द्री (S)
	10	1.9:2.6	उपमध्यकेन्द्री (S)
	11	1.5:2.8	उपमध्यकेन्द्री (S)
	12	1.7:3.1	उपमध्यकेन्द्री (S)
D–	13	4.8:9.7	अग्रकेन्द्री (A)
	14	4.3:9.5	अग्रकेन्द्री (A)
	15	3.8:11.9	अग्रकेन्द्री (A)
E–	16	1.4:1.8	मध्यकेन्द्री (M)
	17	1.8:3.1	उपमध्यकेन्द्री (S)
	18	2.4:4.2	उपमध्यकेन्द्री (S)
F–	19	1.2:1.9	मध्यकेन्द्री (M)
	20	1.2:1.3	मध्यकेन्द्री (M)
G–	21	2.3:6.8	अग्रकेन्द्री (A)
	22	2.0:6.0	अग्रकेन्द्री (A)
	Y	2.9 –a (5.9)3	अग्रकेन्द्री (A)

जल्दी ही गुणसूत्र वर्गीकरण विकसित तकनीकों से किया जाने लगा। इसमें गुणसूत्रों की 'पट्टियों के प्रारूपों' (Band Pattern) का अध्ययन किया जाता है। इसके लिए कुछ अभिरंजकों (Fluorescentdyes) जैसे– क्वीनाक्रीन (Quinacrine) का प्रयोग करके पट्टियों का निरीक्षण प्रदीप्त सूक्ष्मदर्शियों से किया जाता है। इस तकनीक को **'G– पट्टी तकनीक'** कहते है। इसमें गुणसूत्र की बड़ी भुजा को Q भुजा तथा तुलनात्मक रूप से छोटी भुजा को p भुजा कहते हैं।इसके अतिरिक्त G-पट्टी तकनीक का प्रयोग भी पट्टियों के प्रारूपों का अध्ययन किया जाता है। इसमें 'जिस्सा' अभिरंजक (Giemsa dije) का प्रयोग करते है। इन पट्टी प्रतिरूपों को सामान्य सूक्ष्मदर्शियों से भी देखा जा सकता है। 'G-पट्टीप्रारूप', Q पट्टी प्रारूप का विधि के विपरीत है। इसमें Q चमकीली पट्टियाँ, G – गहरी पट्टियाँ प्रतीत होती हैं। पट्टियों की संख्यायें विभाजन के समय गुणसूत्रों के संघनन (Condensation) पर निर्भर करता है।मानव गुणसूत्रों के कम से कम संघनति होने पर 2000 पट्टियों एवं सबसे अधिक संघनित होने पर लगभगं 300 पट्टियों को प्रदर्शित किया जा सकता है।

सन् 1971 में पेरिस सम्मेलन में कई कोशिकाविद एकत्रित हुए, जिसमें मानव कैरियोटाइप एवं उसकी पट्टियों हेतु 'मानक शब्दावली' (Standard Nonenclature) पर आम सहमति हुई। इसके अनुसार अलिंगसूत्री गुणसूत्रों को आकृति के आधार पर क्रमबद्ध (1 – 22) किया गया तथा X एवं Y लिंग गुणसूत्रों को पृथक नाम दिये गये। गुणसूत्र–भुजाओं को P (छोटी भुजा फ्रांसीसी शब्द peri = छोटा के आधार पर) 01| q (बडी भुजा) अक्षरों से सम्बोधित किये गये। पट्टियों की गणना सेन्ट्रोमियर बिन्दु से बाहरी छोर की ओर की जाने लगी। इसके अतिरिक्त अनेकों संरचनात्मक त्रुटियों पर विचार किया गया है।

***

17

गुणसूत्र–विसंगतिया एवं विपथन

सामान्य जीन के स्वरूप में विभेद उत्पन्न होने से अनेकों आनुवंशिक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती है। एक विशेष प्रकार्य से डी एन ए (जीन) में तनाव आ सकता है जिससे वह किसी भी प्रकार से परिवर्तित हो सकता है तथा एक और विकल्पी की उत्पत्ति हो सकती है। इस प्रकार का परिवर्तन 'कोडॉन' (तीन न्यूक्लियोटाइड के 'कोड' शब्दों) पर प्रदर्शित हो सकता है। जिससे भिन्न अमीनों अम्ल एक विशिष्ट प्रोटीन को प्रतिस्थापित कर सकते हैं। इस प्रकार डी एन ए स्तर पर आये परिवर्तनों को 'जीन उत्परिवर्तन' कहते हैं। यही जीन उत्परिवर्तन आनुवंशिक विकृतियों के लिए उत्तरदायी होते है। उदाहरणस्वरूप 'फिनाइल कीटोनूरिया' (Phenylketonuria), सिकिल सेल एनीमिया (Sickle Cell Anemia), एलकैप्टोनूरिया (Alkaptonuria) आदि विकृतियाँ प्रत्येक स्थिति में सामान्य अथवा मानक विकल्पियों के विशिष्ट परिवर्तनों के फलस्वरूप अविर्भूत हुए हैं। इसी प्रकार 'बहुजीनी विकृतियों' में अनेकों 'जीनी संस्थिति' पर विद्यमान जीनों में ऐसे परिवर्तन घटित हो जाया करते हैं तथा कुछ विशेष विकल्पी संयोगों से एक विशिष्ट विकृति उत्पन्न हो सकती है।

लेकिन कई आनुवंशिक विकृतियाँ एक विशिष्ट उत्परिवर्तित जीन अथवा कई संस्थियों के उत्परिवर्तित जीन के फलस्वरूप व्युत्पन्न नहीं होते हैं तथा उनमें से कई विकृतियाँ आनुवंशिक भी नहीं होती हैं। इस श्रेणी की विकृतियाँ, आनुवंशिक पदार्थों के मौलिक विभेदों के फलस्वरूप घटित होती हैं अर्थात् एक या सम्पूर्ण गुणसूत्र की कमी अथवा वृद्धि तथा गुणसूत्र के आकार एवं रचना में परिवर्तन होने से ये विकृतियाँ परिलक्षित होती हैं। इन स्थितियों में कई जीनी संस्थियों में उत्परिवर्तन घटित होते हैं सम्पूर्ण गुणसूत्र की वृद्धि हो अथवा इसकी कमी हो। कैसे भी हो इस स्थिति में कई उत्परिवर्तित जीन इन विकृतियों के लिए उत्तरदायी नहीं होते तथा साथ–साथ सामान्य जीनों की वृद्धि अथवा कमी भी हो सकती है लेकिन इन समस्त अवस्थाओं में परिवर्तनों में अभिवृद्धि अवश्य होती है। यद्यपि इस प्रकार के विभेद आनुवंशिक पदार्थों में उत्पन्न होते रहते है लेकिन यह आवश्यक नहीं कि ये सभी वंशागत हो जाये लेकिन अवस्था में जब ये विभेद मानव युग्मों (शुक्राणु एवं अण्डाणु) में घटित हो जाते है तो वे निश्चित रूप से सन्ततियों में पारगमित होते हैं। इस प्रकार के विभेद की इकाई चूंकि गुणसूत्र होते हैं इसलिए इन विभेदों को **'गुणसूत्री विपथन' (Chromosomal Aberration)** तथा विकृतियों को **'गुणसूत्री विसंगतियाँ' (Chromosomal Anomalies)** कहते हैं। आनुवंशिक अनुसंधानों से यह ज्ञात होता है कि लगभग 5 प्रतिशत उत्पन्न सभी बच्चों में ये गुणसूत्री विकृतियाँ जन्म से ही होती है। लगभग एक चौथाई भ्रूण इन विकृतियों के फलस्वरूप जन्म नहीं ले पाते तथा स्वतः गर्भपात होने वाले भ्रूणों में ये विकृतियाँ उच्च स्तर पर होती है। अधिकांश जन्मजात विसंगतियों के लिए यही गुणसूत्री विपथन उत्तरदायी होते है। उत्तरी राज्य अमेरिका के कुल गर्भधारक माताओं में 20 प्रतिशत स्वतः गर्भपात हो जाते हैं तथा प्रतिवर्ष 20,000 शिशु इन्हीं गुणसूत्री विपथन के शिकार होने से जन्मजात विकृति (Congenital defects) वाले होते हैं।

गुणसूत्री विपथन से मुख्यतः निम्न दो प्रकार की हो सकती है–

(A) संख्यात्मक गुणसूत्र विपथन एवं विसंगतियाँ

(B) संरचनात्मक गुणसूत्र विपथन एवं विसंगतियाँ

(A) संख्यात्मक गुणसूत्र विपथन एवं विसंगतियाँ

गुणसूत्र की संख्याओं से सम्बन्धित विकृतियाँ मानव के सामान्य द्विगुणित गुणसूत्री समूह में विचलन के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। सामान्यतयाँ जन्मे शिशुओं में 23 गुणसूत्र मां से तथा 23 गुणसूत्र पिता से आते हैं जिससे उनकी कोशिकाओं में द्विगुणित समूह (diploid set) होता है। लेकिन जब युग्मजनन प्रक्रिया के अर्धसूत्री एवं सूत्री विभाजन में कोई अनहोनी घटना घटित हो जाये तो उस जन्मे या अजन्मे शिशु में सामान्य द्विगुणित समूह नहीं होता है। यह घटना उस जन्में अथवा अजन्में गर्भ के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध होती है। इस प्रकार की निंम्न तीन प्रकार की विसंगतियाँ घटित हो सकती है।

1. द्विगुणन (Aneuploidy)
2. बहुगुणन (Polyploidy)
3. अगुणन (Haploidy)

1. द्विगुणन अथवा ऐन्यूप्लायडी (Aneuploidy)

यदि मानव के कुल गुणसूत्र या द्विगुणित गुणसूत्र समूह (2N) के स्तर पर कोई असामान्य विभेद घटित होंते हैं तो उन्हें द्विगुणन या 'ऐन्यूप्लायडी' कहते हैं। मानव में गुणसूत्री द्विगुणित समूहों (2N) से सम्बन्धित निम्न तीन प्रकार की विसंगतियाँ देखी गयी हैं–

(i) एकल द्विगुणन या मोनोसोमिक्स (Monosomics)

(ii) बहुल द्विगुणन या पॉलीसोमिक्स (Polysomics)

(iii) अपघटत द्विगुणन या नलीसोमिक्स (Nullisomics)

एकल द्विगुणन

एकल द्विगुणन मोनोसोमिक्स, गुणसूत्र विपथन की उस अवस्था को कहते हैं जब एक सम्पूर्ण गुणसूत्र समूहों से कोई एक गुणसूत्र अपघटित हो जाये। ऐसी स्थिति में मानव के द्विगुणित गुणसूत्रों की संख्या सामान्य नहीं रहती। इस प्रकार की विसंगति से प्रायः प्रत्येक कोशिकाओं में 45 गुणसूत्र (2N − 1) रहते हैं। इस प्रकार के गुणसूत्री विपथन के फलस्वरूप स्त्रियों में प्रायः एक लिंगसूत्र (X) अपघटित हो जाता है। इस विकृति को 'टर्नर सिंड्रोम' (Turner Syndrome) कहते है।

टर्नर सिंड्रोम (Turner Syndrome)

यह एक लिंग गुणसूत्री आनुवंशिक विकृति है इसमें स्त्रियों का कैरियोटाइप साधारण रूप से '45' रहता है क्योंकि इनमें लिंग गुणसूत्र– XO होता है। यह रोग का वर्णन सर्वप्रथम टर्नर ने 1938 में किया। इस रोग से प्रभावित स्त्रियाँ वन्ध्यापन या बांझपन (Sterility) का शिकार होती हैं। इनपे अण्डाशय (Ovaries) सामान्य नहीं होती। इनका कद छोटा (135 सेमी० औसत) होता है। इनका गला झिल्लीदार (Webbed) होता है। इनका वक्षस्थल चौडा लेकिन स्तन अविकसित होते हैं। इन स्त्रियों को श्वसन एवं हृदयरोग (Cardia–vascular) विकृति होती है। ये मानसिक रूप से विक्षिप्त होते है। इस प्रकार के रोगियों का जन्म औसतन प्रति 2,500 मादा शिशु जन्म है। कुल स्वतः गर्भपात में इन आनुवंशिक विसंगति की कुल दर 5 प्रतिशत है। अनुसंधानों से यह ज्ञात हुआ है कि 72 प्रतिशत घटनाओं में मातायें अपने जन्मे अथवा अजन्मे गर्भ को एक लिंगसूत्र (X) कम देती हैं। इस प्रकार का गुणसूत्री असंयोग पिता के शुक्राणुओं में भी हो जाता है। जब

मीयोसिस विभाजन के दौरान उनके दोनों लिंगसूत्र (XY) किसी एक युग्मक में चले जाते है फलस्वरूप दूसरे युग्मक में दोनों लिंगसूत्र – X एवं Y अनुपस्थित रहता है। यह विसंगति आयु से प्रभावित नहीं होती।

(ii) बहुल द्विगुणन (Polysomy)

जब किसी मानव में द्विगुणित गुणसूत्र समूह (2N) से कुछ अधिक गुणसूत्र हों तो इस प्रकार की विसंगति 'पालीसोमी' कहलाती है। यह विकृतिं दो प्रकार की होती है– ट्राइसोमी एवं टेट्रासोमी। ट्राइसोमी उस विकृति को कहते है जब किसी गर्भस्था शिशु को एक द्विगुणित समूह से एक गुणसूत्र अधिक हो। दूसरे, जब एक द्विगुणित समूह में दो गुणसूत्र बढ जाये अर्थात् 2N + 2 या 48 हो तो इसे 'टेट्रासोमी' कहा जाता है।

ये घटनाएँ दोनों प्रकार के गुणसूत्रों– अलिंगसूत्री एवं लिंगसूत्री में निरीक्षित की गयी है। लिंगसूत्र से सम्बन्धित गुणसूत्र वृद्धि प्रायः पुरुषों में देखा गया है। स्त्रियों में लिंगसूत्र वृद्धि के दृष्टान्त विरले ही है। इस प्रकार की गुणसूत्री विकृति को 'क्लिनेफिल्टर सिन्ड्रोम' (Klinefilter Syndrome) कहते हैं। 'अलिंग सूत्री पालीसोमीं' की घटनायें मुख्यतः गुणसूत्र 13, 18 एवं 21 से सम्बन्धित पायी गयी है। इन विकृतियों को क्रमशः निम्नलिखित नामों से पुकारा जाता है–

(i) पैटो सिंड्रोम (Patau's Syndrome)

(ii) एडवर्ड सिंड्रोम (Edward's Syndrome)

(iii) डाउन सिंड्रोम (Down's Syndrome)

इन दोनों प्रकार की गुणसूत्री (लिंग एवं अलिंगसूत्री) विकृतियों में अलिंगसूत्री विकृति अत्यधिक घातक है क्योंकि इन असामान्य द्विगुणित समूह के घटित हो जाने के परिणाम स्वरूप भ्रूण अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाते। यहाँ इन समस्त विकृतियं का विस्तार से वर्णन किया जा रहा है–

किल्नेफिल्टर सिंड्रोम
(Klinefelter Syndrome)

मानवों में पुरुष सामान्यतः एक X एवं एक Y लिंगसूत्री गुणसूत्र रखते हैं जिससे उनमें गुणसूत्रों की संख्या 46 (XY) होती है। असामान्य स्थिति में X गुणसूत्र की विद्यमानता बदल जाती है। जब यह X–गुणसूत्र पुरुषों में एक से अधिक हो, तो ऐसे आनुवंशिक विकृति को 'क्लिनेफेल्टर सिंड्राम' कहते हैं। जैसे–जैसे X गुणसूत्र की वृद्धि होती जाती है वैसे–वैसे इस विकृति के अन्य स्वरूप भी प्रकट होते है। जब एक X – गुणसूत्र किसी पुरुष में अतिरिक्त पाया जाता है तो उसे मोनोसोमी या 'डाइसोमी क्लिनेफेल्टर सिंड्रोम' (47 XXY) कहते हैं। यदि कुल X – गुणसूत्रों की अतिरिक्त दो संख्या और हो जाती है जिससे तीन X गुणसूत्र एक साथ प्रकट होते है, तो इस प्रकार की विकृति 'ट्राइसोमिक क्लिनेफेल्टर सिंड्रोम' (48 XXXY) कहते है। इसके अतिरिक्त उस स्थिति में जब तीन अतिरिक्त X गुणसूत्रों के एकत्रित होने से पुरुषों में कुल X – गुणसूत्रों की संख्या चार हो जाती है तो इसे 'टेट्रासोमिक क्लिनेफेल्टर सिंड्रोम' (49 XXXXY) कहते है। अतः क्लाइनफेल्टर या क्लिनफेल्टर सिंड्रोम विकृतियों को तीन वर्गों में सम्मिलित कर सकते हैं,

(1) क्लिनेफेल्टर सिंड्रोम I (डाईसोमी – 47, XXY)

(2) क्लिनेफेल्टर सिंड्रोम II (ट्राईसोमी – 48, XXXY)

(3) क्लिनेफेल्टर सिंड्रोम III (टेट्रासोमी – 49, XXXXY)

इस प्रकार की गुणसूत्री रचना वाले भ्रूण प्रायः सामान्य होते है। लेकिन जब वह परिपक्व होने लगताहै अथवा जन्मा शिशु युवावस्था की ओर अग्रसर होता है तो अनेकों शरीर रचनात्मक विकृतियाँ प्रकट होने लगती है यह विकृति निश्चित रूप से पुरुषों में पायी जाती है। इन व्यक्तियों के अण्डकोश या जननकोश तथा शिश्न छोटा होता है। शरीर पर बालों का वितरण अत्यन्त विरल होता है। इनके स्तनाग्र अपेक्षाकृत

विकसित होते है जिसे 'गाईनेकोमैस्टिया' (Gynaecomastia) कहते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा दोनों भुजायें एवं टांगे लम्बी होती है। ये पुरुष प्रायः सन्तानोतपत्ति की क्षमता नहीं रखते क्योंकि इनके जनद के असामान्य होने से इनमें शुक्राणुजनन (Spermatogeness) प्रक्रिया घटित नहीं हो पाती। इनमें कुछ मानसिक विक्षिप्त होते हैं।

क्लिनफेल्टर सिंड्रोम (47, XXY) सर्वेक्षणों के अनुसार प्रति 700 जीवित पुरुष जन्मों में होता है। इससे यह संकेत मिलता है कि इस विकृति की बारम्बारता अपेक्षाकृत अधिक है। यह विकृति जनकों की युग्मजनन प्रक्रिया में मीयॉसिस विभाजन के द्रौसन असामान्य गुणसूत्र असंयोजन (Non disjunction) के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। X – लिंग सहलग्न लक्षणों से सम्बन्धित अध्ययन इंगित करते हैं कि लगभग 60 प्रतिशत स्थितियों में यह विकृति 'स्त्री युग्मजनन' या अण्डजनन (Oogenesis) के माध्यम से उत्पन्न होती है अर्थात् माता अपने शिशुओं को अतिरिक्त X–गुणसूत्र, पिता की तुलना में अधिक देती है। हीमोफीलिया रोग के लिए वंशावली अध्ययनों से भी इसी प्रकार के परिणाम प्राप्त हुए हैं।

'क्लिनेफिलेटर सिंड्रोम' के अन्य रूप भी लगभग 'क्लिनेफिल्टर डाइसोमी' (47 XXY) से समानता रखते है। क्लिनेफिल्टर II (ट्राइसोमी 48, XXXY) विकृति में मानसिक विक्षिप्तता, पूर्व की तुलना में बढ जाती है। इसके साथ उद्गतहनुता, निम्न अंगुलि रेखा गणन, टेस्टीकुलर एट्रॉफी आदि लक्षण उस व्यक्ति में विद्यमान पाये गये हैं। क्लिनेफिल्टर III (टेट्रासोमी 49, XXXXY) के उत्पन्न होने पर भी प्रमुख लक्षण पूर्ववत् होते है।लेकिन मानसिक विक्षिप्तता, अधिक पायी जाती है तथा उद्गतहनुता क्लिनेफिल्टर सिड्रोम II की तुलना में भी अधिक विद्यमान होती है।

क्लिनेफिल्टर सिड्रोम के अन्य गुणसूत्री संयोग भी प्रकाश में आये हैं जब अतिरिक्त X गुणसूत्र के साथ–साथ इन पुरुषों में Y गुणसूत्र की अतिरिक्त विद्यमानता होती है। उदाहरणस्वरूप XXYY (48) एवं XXXYY (49 गुणसूत्र) आदि। इनमें मानसिक विक्षिप्तता के साथ–साथ अन्य विशिष्ट लक्षण भी अपने उच्च मानदण्ड पर होते हैं।

2. पैटो सिंड्रोम

(Patau's Syndrome)

इस अलिंग सूत्री गुणसूत्र विकृति की खोज पैटो एवं उनके सहयोगियों ने 1960 में की थी। यह विसंगति, गुणसूत्र – B की एक अतिरिक्त प्रति की विद्यमानता के फलस्वरूप घटित होती है।

पैटो सिंड्रोम (गुणसूत्र – 13 की तीन प्रतियाँ, 47) के घटित होने से उस रोगी में शारीरिक विकृतियाँ उत्पन्न होती देखी गयी है। ऐसे व्यक्तियों के तालु (Palate) एवं होंठ भग्न एवं दरार युक्त होते हैं ।अगुंलियाँ एक–दूसरे पर चढी हुई होती है तथा हथेली में मोंड़ो के चिन्ह भी असामान्य होते है। इनकी ऑखे विकृत होती है। इनके हृदय में रोग, बहुअंगुलिता (Polydoctyly) तथा हीमोग्लोबिन सम्बन्धी विकार साधारणतया देखे गये है।हीमोग्लोबिन – F की अधिकता एवं हीमोग्लोबिन A2 का संघनन कम होता है।इनके मस्तिष्क का आकार बड़ा एवं मानसिक रूप से यह व्यक्ति विक्षिप्त होता है।

इस विकृति से प्रभावित व्यक्ति का जीवनकाल अत्यन्त छोटा होता है। ये रोगी अधिकाधिक औसतन 131–3 दिन (3–4 माह) तक जीवित रह पाते है। इनकी जन्मदर प्रति 2,200 जीवित जन्म है। इन गर्भों को धारण करने वाली स्त्रियों की औसत आयु 32–34 वर्ष है। इससे संकेत मिलता है कि इस रोग की अवृत्ति पर आयु का कुछ प्रभाव पडता है। यद्यपि मीयॉसिस के समय गुणसूत्र परस्थानीकरण (Translocation) की घटना पर आयु का प्रभाव कम देखा गया है।

3. एडवर्ड सिंड्रोम
(Edward's Syndrome)

यह गुणसूत्री विकृति भी 'अलिंगसूत्री ट्राइसोमी' (47 गुणसूत्र) विसंगति है जो अलिंग गुणसूत्र – 18 की समजानि तीन प्रतियों के उपस्थित होने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इसकी खोज एडवर्ड एवं उनके सहयोगियों ने 1960 में किया।

एडवर्ड सिंड्रोम (गुणसूत्र – 18 की तीन प्रतियाँ, 'ट्राइसोमी- 18, 47) से ग्रसित रोगी में दो निर्णायक एवं आधारभूत लक्षण उपस्थित होते हैं– (i) छोटा व त्रिकोणात्मक मुख एवं (ii) अत्यधिक लुंजपुंज अंगुलियाँ। अन्य पहचान – लक्षणों में नीचे लटका हुआ विकृत कान, जन्मजात हृदय–विकास, असामान्य पश्चकपाल (Occiput) आदि हैं। इनकी अगुंलियों में चाप की आवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक (6 अंगुलियों से भी अधिक) होती है।

इनका जीवनकाल अत्यन्त छोटा होता है। यह जन्मे रोगी औसत रूप से लगभग 102 दिन तक ही जीवित रह पाते है। अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि समस्त जन्म एडवर्ड सिंड्रोम रोगियों में आधे 2 माह तक, एक तिहाई 3 माह तक केवल 1 – 2 प्रतिशत रोगी ही जन्म से 10 वर्ष तक जीवित रह पाते हैं।

विकास एवं संवृद्धि अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि इसकी घटना दर प्रति 4500 जन्म है। इसकी आवृत्ति पैटोसिंड्रोम की अपेक्षा कम है। इन गर्भ को धारण करने वाली माताओं की औसत आयु 32.8 वर्ष है जो यह इंगित करता है कि इस जन्मजात रोग पर मां की आयु का प्रभाव पडता है।

4. डाउन सिंड्रोम
(Down's Syndrome)

इस गुणसूत्री विकृति को **'मंगोलिज्म'** (Mongolism) भी कहते हैं क्योंकि मंगोलायड के विशिष्ट लक्षण जैसे– इपीकेंथिक मोड़ आदि भी साथ–साथ विकसित देखे गये है। इससे इन रोगियों का आकार प्रकार, मंगोलॉयड के समान प्रतीत होता है। यह एक अलिसूत्री ट्राइसोमी विकृति है जो गुणसूत्र – 21 की तीन प्रतियों की उपस्थिति के फलस्वरूप घटित होती है।

इस घातक गुणसूत्री विकृति के शिकार रोगियों के विशेष लक्षणों में से नेत्र वलन, चपटा मुखमण्डल, छोटे कान तथा छोटा कद है। इन रोगियों के आन्तरिक अंगों में भी असामान्यता पायी जाती है जैसे– हृदय विकार, विकृत पिट्यूटरी एवं थाइराइड ग्रंथि एवं विक्षिप्त मस्तिष्क। डरमैटोग्लिफिक अध्ययनों (Dermatoglyphic Studies) से इस रोग अन्य सहचरी लक्षण ज्ञात हुए हैं। इनकी हथेली में एक सीमियन मोड़ (Simian Fold) (चार अंगुलियों तक हथेली के मध्य क्षैतिज मोड है) पाया जाता है जो सामान्य व्यक्तियों में नहीं पाया जाता। अधिकतम atd कोण 80 प्रतिशत डाउन व्यक्तियों में पाया जाता है। इसकोण का मान इन सभी व्यक्तियों में 57 अंश से ऊँचा होता है। इस प्रकार की उच्च अवस्था का यह कोण सामान्य व्यक्ति में विरले (7–9 प्रतिशत) ही पाये जाते है (पेनरोज, 1959)।

इन रोगियों की हथेली में ट्राइरेडियस केन्द्रीय क्षेत्र में पाये जाते हैं। थिनर क्षेत्र पर कोई भी प्रतिरूप नहीं पाये जाते। हथेली के अगुलि क्षेत्र III एवं IV के मध्य शंख प्रायः स्थित होते है। इनका रुधिर–संचरण दबाव अत्यधिक कम होता है।

डाउन सिंड्रोम (ट्राइसोमी 21, 21, 47) विकृति की आवृत्ति दर प्रति 500 – 700 जन्म है। यह जन्मदर पैटो सिंड्रोम एवं एडवर्ड सिंड्रोम की तुलना में बहुत अधिक है। इस रोग की आवृत्ति कॉक्सायड प्रजाति में सर्वाधिक (3/200) है। अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के संस्थाओं में जितने व्यक्तियो में मानसिक विक्षिप्तता (Mental dificiency or retardedness) पायी जाती है उनमें से 15 प्रतिशत रोगी 'डाउन सिंड्रोम रोग से प्रभावित होते है। यह रोग लुकीमिया (Leukaemia) से सहलग्न पाया गया है।

इस रोग से प्रभावित शिशुओं का जीवनकाल छोटा होता है। यह रोगी अधिक से अधिक यौवनारम्भ (Puberty) के पश्चात् तक जीवित रह पाते हैं। इससे प्रभावित स्त्रियाँ संतानोत्पत्ति की क्षमता रखती है। इनमें कुछ स्त्रियों के बच्चे भी उत्पन्न हुए है जिनमें 50 प्रतिशत बच्चे इस विकृति से प्रभावित पाये गये है, जो अनुमानतः वे भी असामान्य अर्धसूत्री विभाजन के फलस्वरूप प्रकट होते हैं। चूंकि गुणसूत्र −21 की असामान्य तीन प्रतियाँ होती है जो मीयॉसिस विभाजन I में प्रकट होती है। पश्चावस्था में इनमें से दो समजात गुणसूत्र एक केन्द्रक में चले जाते हैं तथा शेष एक दूसरे केन्द्रक में जाता है। इससे पुनः एक केन्द्रक में गुणसूत्र 21 की दो प्रतियाँ पायी जाती है जो ट्राइसोमी −21 वाले रोगी बच्चे के जन्म का कारण बनती है।

'डाउन सिंड्रोम' विकृति अलिंग गुणसूत्र −21 की एक अतिरिक्त उपस्थित होने के फलस्वरूप व्युत्पन्न होती है, इसका पता 1959 के लेंज्यून (Lejeune) ने लगाया। इसके पश्चात् ही इस रोग को एक जन्मजात गुणसूत्री विकृति माना जाने लगा। यह गुणसूत्र, मानव गुणसूत्रों में सर्वाधिक छोटा होता है जो समूह − G का एक सदस्य है। इस समूह में दो गुणसूत्र −21 एवं 22 होते हैं इन्हें सामान्य लक्षणों के आधार पर पहचानना कठिन होता है। इसे गुणसूत्र रंजक तकनीक (पट्टी प्रतिरूप) के आधार पर पहचाना गया। इसकी पहचान से सम्बन्धित संशयो के फलस्वरूप यद्यपि कुछ विद्वान इस अतिरिक्त गुणसूत्र को 22वाँ गुणसूत्र मानकर इस रोग को 'ट्राइसोमी 22' भी कहते है, लेकिन अधिकांश कोशिका विशेषज्ञ, आनुवंशिकीविद एवं चिकित्सक इसे 'ट्राइसोमी 21' कहते है।

डाउन सिंड्रोम या ट्राइसोमी−21 (47) का प्रमुख आनुवंशिक कारण युग्मजनन की प्रक्रिया में घटित होने वाली अपृथकता (Non−disjunction) घटना तथा परस्थानीकरण (Translocation) है। जब मीयॉसिस I विभाजन में गुणसूत्र पृथक् नहीं हो पाते, तो उस गुणसूत्र की अतिरिक्त प्रति युग्म के द्वारा युग्मनज (Zygote) में पहुंच जाती है। युग्मनज का समय से पहले शीघ्रता से द्विखण्डन विभाजन (Cleavage division) के फलस्वरूप भी 'डाउन सिंड्रोम' रोग की उत्पत्ति होती है। द्विखण्डन विभाजन निम्नलिखित चित्र में दर्शाया गया है−

सामान्य शुक्राणु (23) + सामान्य अण्डाणु (23)

क्रियाविधि

सामान्य युग्मनज (46)

गुणसूत्र −21 की एक प्रति वाली कोशिका | गुणसूत्र −21 की दो प्रति वाली कोशिका

परिणाम :→ शीघ्र नष्ट हो जाती है | द्विगुणित होकर के संवृद्ध होती है।

उपरोक्त क्रियाविधि के अतिरिक्त, परस्थानीकरण से भी 'डाउन सिंड्रोम' रोग उत्पन्न हो जाता है। इस क्रिया में किसी गुणसूत्र का एक अंश अथवा सम्पूर्ण भाग किसी 'विषमजाती गुणसूत्र' से संयुक्त हो जाता है। इस प्रकार का संयोग गुणसूत्र 21, 14 अथवा 15 के मध्य देखा गया है जिससे एक अतिरिक्त प्रति उत्पन्न हुई प्रतीत होती है।

नवीन अनुसंधानों से यह पता चला है कि यह रोग मां की आयु से प्रभावित है। इसकी आवृत्ति गर्भवती मां की आयु के साथ−साथ वृद्धि करती है। पिता की आयु से यह रोग प्रभावित नहीं होता।40 वर्ष की अधिक आयु की महिलायें डाउन सिंड्रोम बच्चों को अधिकाधिक जन्म देती है। अधिक आयु की महिलाओं के कुल

जन्में बच्चों का औसतन 4 प्रतिशत डाउन सिंड्रोम से ग्रसित होते है लेकिन 40 वर्ष से अधिक आयु की माताओं के कुल जन्मे बच्चों में 40 प्रतिशत बच्चे डाउन सिंड्रोम के शिकार होते हैं। इसकी दर कम आयु की अर्थात् 20 वर्ष की माताओं में प्रति 3000 जन्मे बच्चे है जबकि अधिक आयु की माताओं (45 वर्ष आयु समूह) के जन्मे 40 बच्चों में एक बच्चा डाउन सिंड्रोम से ग्रसित होता है।

इस प्रकार बहुलद्विगुणन (Polysomy) लिंगसूत्र एवं अलिंगसूत्र, दोनों प्रकार के गुणसूत्रों से सम्बन्धित विसंगति है जिसके प्रमुख उदाहरणों (रोगों) का उल्लेख किया गया और यह पाया गया कि अलिंगसूत्री पालीसोमी या बहुलद्विगुणन लिंग सूत्री बहुलद्विगुणन के कई दृष्टान्त (केस) अधिकांशतया इतने असामान्य या विकृति प्रतीत नहीं होते। उदाहरणस्वरूप स्त्रियों में X–गुणसूत्र की 'एक या दो' अतिरिक्त प्रतियों की विधमानता से भी ये जीवित रहने में सफल होती हैं यद्यपि ये मानसिक रूप से विक्षिप्त होती हैं।सम्भवतः ये स्त्रियाँ इसलिए जीवित रहती हैं क्योंकि अतिरिक्त लिंगसूत्र संघनित होकर के अक्रिय हो जाते हैं। लेकिन यह सम्भावना पुरुषों में सर्वथा खरी नहीं उतरती क्योंकि जब किसी पुरुष में Y गुणसूत्र की 'अतिरिक्त' प्रति विद्यमान होती है तो उन पुरुषों (XYY) की अतिरिक्त Y गुणसूत्र के फलस्वरूप उनका शारीरिक कद औसत से काफी अधिक होता है।

(iii) अपघटित द्विगुणन (Nullisomy or Nullisomics)

यह गुणसूत्र विकृति उस समय घटित होती है जब किसी मनुष्य के द्विगुणित समूह (2N) के किसी गुणसूत्र के 'दोनों युग्म' (Pair) शुक्राणुजनन अथवा अण्डजनन क्रियाविधियों के सम्पन्न होने पर अपघटित हो जाये। इस स्थिति में उस व्यक्ति में गुणसूत्रों की संख्या –44 होती है।

2. बहुगुणन

(Polyploidy)

बहुगुणन या पॉलीप्लॉयडी, गुणसूत्र विकृति की वह अवस्था है जिस समय भ्रूण में गुणसूत्रों के द्विगुणित समूह (2N) से एक गुना (N) या एक से भी अधिक गुना अतिरिक्त होते है। इससे इन भ्रूणों या व्यक्तियों में त्रिगुणित समूह (3N) अथवा चतुर्गुणित (4N) अथवा पंचगुणित (5N) गुणसूत्रों के संयोग बन जाते है, जिन्हें क्रमशः त्रिगुणन (Triploidy – 69), चतुर्गुणन (Tetraploidy – 92) एवं पंचगुणन (Pentaploidy – 115) गुणसूत्र विकार कहते हैं। यह सभी विकृतियाँ अन्यूनकारी युग्म के निर्माण से उत्पन्न होती है जो अर्धसूत्री कोशाविभाजन (Meosis I) के पूर्णतः असफल होने के फलस्वरूप घटित होती है।

यह विकृतियाँ पादप जातियों में अधिकांशतया पायी जाती है। स्तनधारियों में यह विकृति घातक प्रभाव दर्शाती है। मानव में इस प्रकार की विसंगतियाँ अल्प संख्या में घटित पायी गयी। कुछ घटनाओं में त्रिगुणित शिशुओं (Triploidy – 69) ने जन्म लिया, जो कुछ घंटों तक ही जीवित रह सके। जन्म के समय इन शिशुओं के शरीर गम्भीर रूप से विकृत देखे गये। अभी तक कोई भी चतुर्गुणित (Tetraploidy – 92) या पंचगुणित (Pentaploidy – 115) शिशुओं का जन्म प्रकाश में नहीं आया है क्योंकि चतुर्गुणित शिशुओं में मृत्यु की सम्भावनायें (Killing effect) त्रिगुणित शिशुओं की अपेक्षा अधिक है तथा इस चतुर्गुणित से भी अधिक मृत्यु की सम्भावना पंचगुणित शिशुओं में होती है।इसीलिए स्वतः गर्भपात हुए भ्रूणों में चतुर्गुणित गुणसूत्र समूह वाले भ्रूणों की आवृत्ति अत्यल्प है। आज तक कोई भी पूर्ण विकसित या परिपक्व भ्रूण चतुर्गुणित गुणसूत्र रचना वाला नहीं पाया गया।

3. अगुणन

(Haploidy)

यह गुणसूत्र विकार उस समय घटित हो जाता है जब अजन्में भ्रूण में गुणसूत्रों के समजात युग्म पूर्णतया अनुपस्थित होते हैं। इसके फलस्वरूप उस भ्रूण में अगुणित गुणसूत्र संख्या (N 23) होती है। इस विकृति का

शिकार भ्रूण जल्दी ही नष्ट हो जाता है। ये विकास, सूत्री एवं अर्धसूत्री दोनों प्रकार के विभाजनों के असफल होने से उत्पन्न होते हैं। ज्ञातव्य हो कि ये दोनों विभाजन प्रक्रियायें युग्मजनन में घटित होती है। अगुणन का कारण युग्मजन का द्विखण्डन विभाजन (Cleavage or Split Division) भी होता है।

B. संरचनात्मक गुणसूत्र विपथन एवं विसंगतियाँ

संरचनात्मक गुणसूत्र विकृतियाँ गुणसूत्र की मौलिक जीन के स्तर पर घटित होती है। इसमें एक गुणसूत्र के जीन संस्थियों की संख्या में तथा उन जीन की रचना अथवा विन्यास में विचलन हो जाता है। इसमें यह विचलित स्थिति माता–पिता एवं पूर्वजों से भिन्न लगती है। इस प्रकार की जीनी विपथन गुणसूत्री विसंगति का कारण बनता है। ये विसंगतियाँ निम्न चार प्रकार की होती है–

1. अपघटन (Deficiency or deletion)
2. द्विगुणन या वृद्धि (Duplication)
3. परस्थानीकरण (Translocation)
4. विलोमन (Inversion)

1. अपघटन या विलोपन

जब गुणसूत्र में से एक खण्ड अथवा भुजा टूटकर विलुप्त हो जाती है तो गुणसूत्री खण्ड की इस क्षति को अपघटन या विलोपन कहते हैं। खण्डित भाग सेंट्रोमियर के न होने पर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार की गुणसूत्री खण्ड की इस क्षति को **अपघटन** या **विलोपन** कहते हैं। खण्डित भाग सेंट्रोमियर के न होने पर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार की गुणसूत्री क्षति दो विधियों से होती है। एक तो जब गुणसूत्र का अग्रीय भाग (Terminus) का विलोपन होता है। इसमें गुणसूत्र का विखंडन एक ही बिंदु पर होता है तथा खण्डित भाग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। दूसरे, गुणसूत्र का अन्तर्क्षेतीय भाग दो बिंदुओं से खण्डित होता है। यह दोनों ही स्थितियाँ अर्धसूत्री विभाजन की पूर्वावस्था I के पैकीनेमा (Pachy nema) में घटित होती है। इसका कारण स्वतः अथवा प्रेरित उत्परिवर्तन हो सकता है।

मानव में विलोपन से गुणसूत्री विकृति जन्म लेती है।विलोपन की यह स्थिति गुणसूत्र – 5 में देखी गयी है। इसके प्रभाव से गुणसूत्र – 5 की एक लम्बी भुजा का विलोपन हो गया। इस विकृति को **'क्राई – ड्यू – चैट सिंडोम'** (Cry – du – chat Syndrome) कहा जाता है।

'क्राई – ड्यू – चैट सिंडोम' की खोज जेरॉम लेज्यून (Jerome Lejeune) ने 1963 में किया था। इस विकृति से प्रभावित व्यक्ति का चेहरा गोल तथा चंद्रमा के समान होता है। यह मानसिक रूप से विक्षिप्त होता है। इस विकृति का नाम इसके एक विशेष लक्षण पर पड़ा।जिससे इस रोग का शिकार बच्चा मंद आवाज में बिल्ली के समान चिल्लाता है। इनका सिर छोटा होता है।आँखे मुखमण्डल में अपेक्षाकृत बडे आकार की होती हैं।

'क्राई – ड्यू – चैट सिंडोम' गुणसूत्री विकार से ग्रसित बच्चे अधिक से अधिक 30 वर्ष की आयु तक जीवित रह सके हैं। अतः इससे प्रभावित रोगी का जीवनकाल अपेक्षाकृत कम होता है।

इसी प्रकार 21वें गुणसूत्र में विलोपन के कारण 'ल्यूकीमिया' (Leukaemia) नामक एक प्रकार की गम्भीर कैंसरपरक गुणसूत्री विकृति उत्पन्न हो जाती है। इसकी आवृत्ति दर कुल उत्पन्न बच्चों की 5 प्रतिशत है। गुणसूत्र–22 के कुछ भाग का विलोपन 'ल्यूकीमिया' विकृति से सहसम्बन्ध है। इस प्रकार का अध्ययन पीटर नावेल एवं डी.ए. हांगरफोर्ड (Peter Nowell and D.A., HongerFord) ने 1960 में फिलाडेल्फिया नगर में किया था। अतः इस प्रकार के रोग को 'फिलाडेल्फिया सिंड्रोम' (Philadelphia

Syndrome) के नाम से जाना जाता है। यह रोग व्यक्ति के श्वेत रक्त कणिकाओं (Leukocytes) में 'मिलॉयड ल्यूकीमिया' (Myeloid Leukaemia) के साथ पाया गया है।

2. द्विगुणन

जब गुणसूत्र में किसी बिंदु या स्थान पर सामान्य अगुणित जीन विन्यास के अतिरिक्त जीन का एक संकुल और होता है तो इस अवस्था को द्विगुणन (Duplication) कहते है। यह अतिरिक्त जीन संकुल किसी गुणसूत्र से विखण्डित हो कोशिका द्रव्य में नष्ट नहीं होता, अपितु माइटॉसिस विभाजन की प्रक्रिया में पुनः प्रकट होकर के समजात गुणसूत्र से संयुक्त हो जाता है। मानव में इस क्रियाविधि से प्रमुख गुणसूत्री विकार अभी प्रकाश में नहीं आये हैं।

3. परस्थानीकरण या स्थानान्तरण

गुणसूत्र स्थानान्तरण मीयॉसिस I एवं II में घटित होता है। इसमें गुणसूत्र का कोई एक खण्ड टूटकर किसी अन्य विषमजाती गुणसूत्र में संयुक्त हो जाता है। गुणसूत्र की रचना का स्थानान्तरण प्रायः पारस्परिक (Reciprcal) होता है जिसके परिणामस्वरूप यह दो विषमजातीय गुणसूत्रों के खण्डों में स्थानान्तरण हो जाता है। इस प्रकार की घटना की उत्पत्ति विषमजातीय गुणसूत्रों के खण्डों में विनमय से होता है लेकिन जीन विनिमय (Crossing Over) के समान समजातीय गुणसूत्रों में विनिमय नहीं होता।

मानव गुणसूत्रों में स्थानान्तरण की विभिन्न घटनायें देखी गयी हैं। उदाहरणस्वरूप गुणसूत्र – 15 एवं गुणसूत्र – 21 के युग्मों के मध्य का स्थानान्तरण इसी कोटि का है। गुणसूत्र 15 की छोटी भुजा सेंट्रोमियर बिंदु से खण्डित होने से गुणसूत्र – 21 की लम्बी भुजा (जो इसके निकटस्थ है) में विखण्डन हुआ।इन विषम जातीय गुणसूत्रों के इस परस्पर विनिमय से गुणसूत्र – 21 का बहुत सा भाग गुणसूत्र –15 में संयोजित हो जाता है। इस प्रकार एक गुणसूत्र (15) का आकार असामान्य रूप से वर्धित होने से दूसरे (21) का छोटा हो जाता है।

इस प्रकार का परस्पर जीनी विनिमय अर्थात् स्थानान्तरण शुक्राणु एवं अण्डाणु में घटित हो सकता है जिससे एक युग्मनज में साधारण रूप से इन्हीं गुणसूत्रों –15 एवं 21 की दो–दो प्रतियाँ होती है। लेकिन असामान्य रूप से छोटा होने के फलस्वरूप इनका एक गुणसूत्र (21) विलुप्त प्रतीत होता है जिससे इस बच्चे में गुणसूत्रों की संख्या 45 लगती है। इस एक गुणसूत्र (21) की कमी से यह लक्षण 'डाउन सिंड्रोम' के सदृश दिखने लगता है। यदि डाउन सिंड्रोम का ठीक से निरीक्षण न हो तो इन दोनों में भेद स्थापित करना एक कठिन कार्य है। यह स्थानान्तरण गुणसूत्र –5 एवं 7 में भी गुणसूत्री विकृति उत्पन्न करता है।

4. विलोमन

जब गुणसूत्र की जीनी संख्या में परिवर्तन न होकर के उसकी रचना में परिवर्तन आये, जिसमें किसी जीन समूह के 180° अंश पर उलट जाने से जीनों का क्रम परिवर्तित हो जाता है, उदाहरणस्वरूप यदि किसी गुणसूत्र खण्ड पर जीन क्रम 'ABCDEFGH' है। यदि यह B एवं G से टूट करके 180० पर उलट जाये तो पुनर्निर्मित जीन समूह का क्रम 'ABFEDCGH' हो जायेगा, इस प्रक्रिया को विलोमन कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है– पैरासेंट्रिक (Paracentric) एवं पेरीसेंट्रिक (Pericentric)।

प्रथम प्रकार के विलोमन गुणसूत्र सेंट्रोमियर के केवल एक ही ओर से दो स्थानों पर विखण्डित होता है अर्थात् गुणसूत्र के विलोमन खण्ड में सेंट्रोमियर अनुपस्थित होता है। जबकि दूसरे प्रकार के विलोमन (पेरीसेंट्रिक) में गुणसूत्र खण्ड में सेंट्रोमियर होता है। अतः इसमें सेंट्रोमियर सहित उस खण्ड का विलोमन होता है।

समान विलोमन वाला गुणसूत्र युगल अर्धसूत्री विभाजन के समय सामान्य रूप से प्रकट होता है लेकिन यह युग्मकों के बनने के समय घटित होता है। पेरीसेंट्रिक विलोमन जीनी विनिमय (Crossing Over) के

उपरान्त घटित होता है जब गुणसूत्रों अथवा जीनों में द्विगुणन अथवा कमी होती है। जीन की कमी वाले युग्मक कालान्तर में नष्ट हो जाते है जबकि द्विगुणित युग्मक जीवित रहते है।

पैरासेंट्रिक विलोमन से उत्पन्न मानव विकार अभी तक नहीं देखे गये है लेकिन पेरीसेट्रिक विलोमन के फलस्वरूप एक महिला ने एक जन्मजात असामान्य बच्चे को जन्म दिया।अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि गुणसूत्र – 10 के पेरीसेंट्रिक विलोमन के फलस्वरूप यह विकृति उत्पन्न हुई है (राथवेल, Rothwell, 1978)।

अन्य आनुवंशिक विकृतियाँ

यदाकदा उपरोक्त क्रियाविधियों के अतिरिक्त किसी अज्ञात आनुवंशिक कारण से भिन्न–भिन्न प्रकार के जीनी रचना वाली विकृतिया उत्पन्न होती है, जो इस जटिलता के फलस्वरूप 'मोजेसिज्म' (Mosaicism) के नाम से जानी जाती है। ये व्यक्ति भिन्न जीनी रचना वाली शारीरिक कोशिकाओं वाला होता है।

एक मोजैइक (Mosaic) व्यक्ति प्रायः एक 'हर्माफ्रोडाइट' (Hermaph rodite) होता है। हर्माफ्रोडाइट उस व्यक्ति को कहते हैं जो जैविक रूप से शुक्राणु एवं अण्डाणु दोनों निर्मित कर सके। यद्यपि यह लक्षण मानव में विशिष्ट रूप से तो नहीं पाये जाते जैसे कि केचुए में, लेकिन प्रायः उन मानवों को इसके अन्तर्गत रखते है जो इसके बीच की स्थिति को दर्शाते हैं। कुछ हर्मेडाइट इन मानवों की कुछ कोशिकाओं में XY लिंगसूत्र होते है जबकि कुछ में XO लिंग सूत्र पाये जाते है। इस प्रकार की जीनी रचना वाले व्यक्ति जिन्हें मोजैइक कहते है, इनमें एक कोशिकीय रेखा (Unicell line) के स्थान पर दो कोशिकीय रेखायें (Dicell line) होती है। इस प्रकार की दो कोशिका रेखीय गुणसूत्रों की उत्पत्ति सम्भवतः भ्रूण के सूत्री विभाजुन में हुई त्रुटि के फलस्वरूप होती है। सूत्री विभाजन में यदि एक कोशिका के 'Y' गुणसूत्र की क्षति हो जाये तो उससे द्विगुणित कोशिकायें 'XO' लिंगसूत्रों की रेखा का वर्धन करेंगी तथा दूसरी ओर 'XY' लिंगसूत्र वाली रेखा की वृद्धि होगी। इस प्रकार कुछ कोशिकाओं में Y गुणसूत्र की उपस्थिति तथा कुछ में अनुपस्थिति से भिन्न प्रकार के ऊतक व अंगों का निर्माण होता है जो विरोधाभासी जननांगों का निर्माण करते हैं। XX एवं XO लिंगसूत्री मोजैइक व्यक्ति 'टर्नर सिंड्रोम' के लक्षणों को व्यक्त करता है जबकि XXY एवं XX लिंगसूत्री मोजैइक व्यक्ति 'क्लिनेफिल्टर सिंड्रोम' के लक्षणों को प्रकट करता है।

इसके अतिरिक्त कुछ और अस्वाभाविक तथा जटिल आनुवंशिक विकृतियाँ जीन उत्परिवर्तन तथा गुणसूत्र विपथन के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं, उदाहरणस्वरूप 'फैंकानी एनीमिया' (Fanconi's Anemia), 'ब्लूम सिंड्रोम' (Bloom Syndrome) तथा 'लुइस–बार सिंड्रोम' (Locis–Bar Syndrome)। ये सभी विकृतियाँ मेंडलीय अप्रवल अलिंगसूत्री वंशागति विधि से पीढी दर पीढी पारगमित होती हैं। इनके निश्चित जीनी प्ररूप एवं लक्षण प्ररूप अब भी अज्ञात हैं।

***

18

आनुवंशिक अध्ययन की विधियाँ

गत अध्याय 12 में उन परिसीमाओं एवं बाधाओं का उल्लेख किया था जो मानव के आनुवंशिक अध्ययन से सम्बद्ध हैं। इन सीमाओं के फलस्वरूप ही मानव में वंशागति का अध्ययन वर्तमान शताब्दी के दूसरे दशक में आरम्भ हो सका। व्यवस्थित रूप से ये अध्ययन तभी आरम्भ हो सके जब 1920 में हाल्डेन (Haldane), फिशर (Fischer) एवं राइट (Wright) ने आनुवंशिकी के सामान्य विचारधाराओं का मानव जनसंख्या के सन्दर्भ में विश्लेषण करके इसकी मानव–विकास में उपयोगिता को समझाया। इसके पूर्व मार्गन (1926), वर्नसटीन (1924) एवं हार्डी–वीनवर्ग (1908) ने मानव आनुवंशिकी के आधारभूत पहलुओं को प्रकाश में ला चुके थे। इसके उपरान्त मानव की वंशागति के अध्ययन 1950 तक होते गये तथा नई–नई आनुवंशिक अध्ययनों की बाधाओं का समाधान तलाशा जाता रहा।इन अध्ययनों की पूर्व विधियाँ भी संशोधित होती गयी, तथा दूसरी ओर 1950 के पश्चात् मानव के आनुवंशिक अध्ययन की कुछ नवीन विधियाँ प्रकाश में आने लगे, तथा प्रकृति एवं पर्यावरण, वातावरण एवं वंशागति आदि मनव आनुवंशिकी की मौलिक समस्याओं के निदान खोजे जाने लगे।

इस प्रकार मानव का अध्ययन जो 1930 के पूर्व असम्भव प्रतीत होता था, वह उसी मानव के अथक प्रयासों से सम्भव हो गया। इसके लिए आनुवंशिकविदों को मानव समाज एवं अध्ययन–प्रयोगशाला के मध्य की दूरी को कम करना पड़ा। मानव समाज को ही प्रयोगशाला का एक हिस्सा मानना पडा। अतः जिन विधियों से मानव–वंशागति के अध्ययन की समझ सुदृढ हुई हैं, जिनके प्रयोग से मानव का आनुवंशिक विश्लेषण करना आज सुगम हो सका है, वे विधियाँ या आनुवंशिक आंकड़ें संग्रह करने के तरीके निम्नवत हैं–

1– वंशावली विधि (Geneological or Pedigree Method)

2– यमज विधि (Twin Method)

3– पारिवारिक विधि (Family Method)

4– फॉस्टर–चाइल्ड विधि (Foster–Child Method)

5– अनाथ बालक अध्ययन विधि (Orphan child Study Method)

6– जैव–रासायनिक विधि (Bio–Chemical Method)

7– प्रतिरक्षा वैज्ञानिक विधि (Immunological Method)

8– गुणसूत्र–विश्लेषण विधि (Chromosomal Analysis)

9– गुणसूत्र–पुनर्संयोजन या रिकम्बिनेंट तकनीक (Recombinant DNA – Techinque)

1. वंशावली विधि

(Geneological or Pedigree Method)

मानव समाज से आनुवंशिक आंकड़े एकत्रित करने की एक सरल विधि है। इस विधि से वंशानुगत लक्षणों की अभिव्यक्ति को सरलता से अंकित कर लेते है। इन आंकड़ों का अंकन एक वंश की कई पीढियों तक किया जा सकता है। इस तकनीक से दो वंशों, जनसंख्याओं, प्रजातियों के मध्य किसी लक्षण का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है। एक ही लक्षण की भिन्न–भिन्न वातावरण में अभिव्यक्ति एक

वंशावली में तुलनात्मक रूप से अंकित की जा सकती है। वातावरण का आनुवंशिकी पर पड़े प्रभाव सम्बन्धी आंकड़ों को वंशावली के माध्यम से सुगमतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है। एक ही वंश के दो भिन्न या विभिन्न पर्यावरण में रह रहे परिवारों की वंशावली बनाई जा सकती है तथा साथ ही साथ इसके विपरीत दो भिन्न या विभिन्न वंशों जो एक ही वातावरण में रह रहे है, उनके वंशागत लक्षणों को एक वंशावली में तुलनात्मक रूप से अंकित किया जा सकता है। विभिन्न रोगों की विभिन्न वातावरण एवं विभिन्न वंशों में हुई अभिव्यक्ति को वंशावलियों में लिपिबद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार फ्रांसिस गाल्टन (Francis Galton) के द्वारा सुझाई यह विधि किसी लक्षण की वंशागति का अध्ययन करती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी पारगमित होती है। चूंकि किसी प्रयोग की आवश्यकता के अनुरूप दो स्त्री–पुरुष में लैंगिक सम्बन्धित स्थापित नहीं कराये जा सकते, अतः वंशावली तकनीक की आनुवंशिक लक्षणों का अध्ययन की उत्तम विधि है।

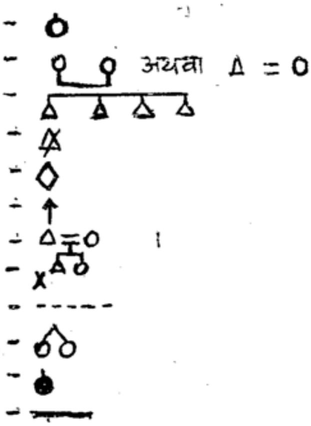
मानव लक्षणों के आंकड़े उस वंश के व्यक्तियों से एकत्रित किये जाते है। उन व्यक्तियों में से किसी को सूचनादाता (Informant) मान लिया जाता है। इन सूचनाओं की विश्वसनीयता को गम्भीरता से जाँचा जाता है। इसके लिए उस समाज के किसी विश्वसनीय एवं जानकार व्यक्ति से इनकी पुनर्जांच की ज़ाती है। इस पद्धति से आंकडे संग्रहति करने के लिए निम्नांकित पद्धति से वंशावली बनाई जाती है–

1. जिसकी वंशावली बनानी हो, उस व्यक्ति का नाम एवं स्थायी पता, उम्र, जाति, उपजाति, धर्म, व्यवसाय आदि सबसे ऊपर गहरे रंग अथवा लाल रंग से लिख लेना चाहिए।

2. परिवार या वंश की सूचनाओं को जिससे ग्रहण कर रहे है, उस सूचनादाता को इगो (Ego) से सम्बोधित करना चाहिए। इसे उस वंशावली का केन्द्रीय व्यक्ति मानना चाहिए।

3. वंशावली में एकत्रित आंकड़ों की वस्तुनिष्ठिता, विश्वसनीयता तथा गोपनीयता बनाये रखने के लिए निम्नलिखित प्रतीकों (Symbols) का प्रयोग किया जाता है–

- पुरुष (Male) =
- स्त्री (Female) =
- विवाह सम्बन्ध =
- सहोदर =
- मृत व्यक्ति =
- अज्ञात =
- इगो (Ego) =
- माता–पिता तथा बच्चे =
- अज्ञात संख्या एवं लिंग =
- अवैध सम्बन्ध =
- यमज =
- लक्षण से प्रभावित व्यक्ति =
- एक पीढ़ी =



4. इगों की व्यक्तिगत पहचान को निर्धारित प्रतीक से प्रदर्शित करना चाहिए।

5. इगो की पत्नी को दाये दर्शाना चाहिए। उसके बच्चों की नीचे एक क्षैतिज रेखा से दर्शाना चाहिए। पुत्र एवं पुत्रियों को आयु के आधार पर दाये से बायें रखना चाहिए। सबसे बडी आयु के पुत्र–पुत्रियों को बायें तथा सबसे छोटी सन्तति को पूर्णतः दायें रखें। इनके लिए निर्धारित प्रतीकों को एक ऊर्ध्व रेखा से पीढी रेखा (–––––) से मिलायें। अन्त में, इस क्षैतिज रेखा के मध्य बिन्दु को ऊपर स्थित माता–पिता के वैवाहिक प्रतीक (ळ अथवा) से मिला देना चाहिए।

6. पीढी के क्रम को रोमन संख्यायें– I, II, III – – – – – तथा व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय संख्यायें– 1, 2, 3, – – – – – से दर्शाना चाहिए।

7. प्रत्येक परवर्ती पीढी को नीचे की ओर, पूर्ववर्ती पीढी को ऊपर की ओर प्रदर्शित करना चाहिए तथा एक पीढी के समस्त सदस्यों को एक ही स्तर पर रखना चाहिए।

8. इगो (Ego) के भाई एवं बहनों के आयु के आधार पर दायें एवं बायें दर्शाना चाहिए।

9. इगों के माता एवं पिता को उससे उच्च स्तरीय पीढी में रखना चाहिए तथा इगो के प्रतीक/चिन्ह को उसके माता–पिता के वैवाहिक चिन्ह (=) से संयुक्त कर देना चाहिए।

10. प्रथम विवाह के लिए प्रयुक्त चिन्ह, '=' है तथा द्वितीय, तृतीय विवाह के लिए प्रयुक्त चिन्ह है। इसे सदैव नीचे से जोडना चाहिए।

11. रोग या विशिष्ट लक्षण के लिए किसी रंग का प्रयोग करना चाहिए। भिन्न लक्षण के लिए भिन्न रंग का प्रयोग करना चाहिए। इन रंगों से त्रिकोण (Δ) अथवा वृत्त (O) को भर देना चाहिए। सम्भव हो तो प्रत्येक लक्षण हेतु भिन्न वंशावली बनानी चाहिए। विषम युग्मजी अथवा लक्षण वाहक व्यक्तियों के चिन्ह को डॉट से दर्शाना चाहिए।

12. व्यक्तियों के सभी सम्बन्धों को निर्धारित मापदण्डों से ही प्रदर्शित करना चाहिए।

इस प्रकार उक्त वर्णित वंशावली विधि से अनेको अध्ययन किये गये।उदाहरणस्वरूप, हीमोफीलिया रोग हेतु ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया के वंश की वंशावली बनाई गयी, जिससे हीमोफीलिया के लिये उत्तरदायी जीन की वंशागति को समझने में सहायता मिली। इसी प्रकार अमेरिका के पाक्यूपाइन मनुष्य स्विटजरलैण्ड का जीरो परिवार, न्यूयार्क के ज्यूक्स आदि महत्वपूर्ण एवं ख्यातिलब्ध वंशावली है जिनके आधार पर आनुवंशिकी की विविध क्रियाविधियों को समझा जा सकता है। अतः वंशावली तकनीक से वर्षों से अध्ययन किया जा रहा है लेकिन यह अध्ययन विधि कुछ सीमाओं से भी बंधी है। यदि किसी लक्षण या विकृति की जाँच परख तथा साक्षात्कार करने का जनप्रिय तरीका अपनाया जाये तथा अन्य विधियों के साथ–साथ प्रयोग की जाये, तो यह विधि एक पूर्ण विधि है।

2. यमज विधि
(Twin Method)

यमज विधि का प्रस्ताव सर्वप्रथम फ्रांसिस गाल्टन ने 1875–76 में वंशागति एवं पर्यावरण की समस्याओं के निदान के लिए किया। गाल्टन, जो चार्ल्स डार्विन के चचेरे भाई थे, उन्होंने अपने ग्रंथ 'इन्क्वायरीज इन्टू दि ह्यूमन फैकल्टी' (Enquiries into the Human Faculty) में इस विधा का विस्तृत उल्लेख करते हुए तत्कालीन **प्रकृति** एवं **पर्यावरण** (Nature and Nurture) समस्या के हलों को खोजने का प्रयास किया। इसके पश्चात् अन्य विद्वानों ने भी इसका उपयोग किया। सन् 1924 में सिमेन्स (Simmens) ने इसके अध्ययन के कई आयामों पर बल दिया तथा इसे आनुवंशिक अध्ययन के एक ठोस विधि के रूप में स्थापित किया। इनके अथक प्रयासों से सामान्य विविधताओं के अध्ययन सम्भव हो सका। इन्होंने युग्मनज की पहचान हेतु एक विश्वसनीय विधि खोजी तथा एक युग्मनज तथा द्वियुग्मनज यमजों के मध्य अन्तर स्थापित करने की चेष्टा की।

सिमेन्स के अनुसार यमज विधि इस तथ्य पर आधारित है कि एक युग्मनज यमजों की जैविक विशिष्टता कि वे 'एक ही युग्मनज' के विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न होते है, जिससे उनका आनुवंशिक स्वरूप एकरूप (Identical) होता है। यदि उनके लक्षण प्ररूप (Phenotype) में कोई भी अन्तर उत्पन्न होता है तो वे पर्यावरणीय बलों के कारण उत्पन्न हुए है। इस दृष्टिकोण से एकलक्षण के जीनी प्ररूप का स्तर तथा पर्यावरणीय बलों के कारण उत्पन्न विभेद दोनों ही **एकयुग्मनज यमज** (Monozygotic Twins, MZ

twins) की समानताओं पर निर्भर करता है। दूसरी ओर द्वियुग्मनज यमज (Dizygotic Twins) जिसके आधे जीन एक जैसे है, वे इस अध्ययन हेतु एक नियन्त्रक (Control) की भूमिका का निर्वहन करते है।

यमजों के प्रकार

(Types of Twins)

यमज दो प्रकार के होते हैं– **एक युग्मनज** (Monozygotic) एवं **द्वियुग्मनज** (Dizygotic)। **एक युग्मनज यमज** (MZ) वे यमज है जो एक युग्मनज (Zygote) से उत्पन्न होते है। भ्रूण कोशिकायें जब पूर्व अवस्था में दो खण्डों में विभक्त हो जाती है तो प्रत्येक विभक्त भ्रूण (एक युग्मनज यमज) के पृथक अम्नियॉन (Amnion) एवं कोरियान (Korion) झिल्ली होती है। यदि यह विभाजन विलम्ब से होता है तो यह पृथक् अम्नियॉन तो रखता है लेकिन कोरियान झिल्ली एक ही होती है। यदि इससे भी और विलम्ब से विभाजन हो तो दोनों यमज एक ही अम्नियॉन में जन्म तक रह सकते हैं। इस प्रकार के एक युग्मनज यमज प्रायः पशुओं में जन्म लेते है। सामान्यतः एकयुग्मनज यमज विकास की आरम्भावस्था में पृथक हो जाते है।यदि इनमें विभाजन कार्य अधिक विलम्ब से आरम्भ हो तो यह विभाजन प्रायः अपूर्ण रह जाता है तथा जुड़े हुए यमज जन्म लेते हैं जिन्हें 'साइमीज' (Siamese) कहते हैं। इस प्रकार के दृष्टान्त अत्यल्प हैं। ये जन्म के पश्चात् सामान्य व्यक्तियों की तरह जीवन व्यतीत नहीं कर पाते। कुछ ही समय पश्चात् प्रायः मृत हो जाते हैं।इन्हें शल्य चिकित्सा से भी पृथक् किया जा सकता है। सर्वाधिक चर्चित साइमीज सन् 1811 में थाइलैण्ड में जन्मे। इनके नाम चैंग.तथा इंग थे। जंन्म के पश्चात् इनकी मां ने शल्य चिकित्सा के चिकित्सकों के अनुरोध को अस्वीकार कर दिया था।इनके माता–पिता चीन के मूल निवासी थे।ये दोनों यमज एक ऊतक से स्टर्नम के निम्न भाग एवं नाभि के मध्य से जु ड़े हुए थे। इन यमजों में कुछ जैविक विविधतायें थी।चैंग प्रौढावस्था तक इंग से1 इंच छोटा था। कुछ सीमा तक बहरा था तथा उग्र व्यवहार का था। दूसरे ओर इंग लम्बा, स्वस्थ एवं शान्त स्वभाव का था। 18 वर्ष की आयु पर वे संयुक्त राज्य अमेरिका चले आये। लगभग 42 वर्ष की आयु पर दोनों ने दो स्त्रियों से विवाह किया। इससे 22 बच्चे जन्मे। इनमें 12 इंग के तथा 10 चैंग से उत्पन्न हुए थे। ये अन्ततः कैरोलिनास में बस गये जहाँ तम्बाकू की खेती करते थे।एक बार इनकी पत्नियों ने झगडा किया जिससे दोनों परिवार बिखर गये। ऐसी परिस्थिति में तीन दिन एक घर में तीन दिन दूसरे घर में क्रमवार व्यतीत करते थे। इन दोनों में कभी भी लडाई–झगडा नहीं होता था। लेकिन एक दिन दोनों में झगडा चेंग के अधिक मदिरा **पान कर लेने** से हुआ।63 वर्ष की आयु पर चेंग की न्यूमोनिया (Pneumonia) होने से मृत्यु हो गयी। उसके केवल दो घंटे पश्चात् इंग भी जीवित न रह सका तथा तुरन्त अधिक कमजोर हो गया और मृत्यु हो गयी। ऐसा माना जाता है कि इंग की मृत्यु सद्‌मा एवं गहरी शंका से हुई। मरणोपरान्त 'पोस्टमार्टम' से यह देखा गया कि वे 10 सेमी० चौडी एक 'लीवर' ऊतक की पट्टी से स्टर्नम एवं नाभि के मध्य जु ड़े थे।

द्वियुग्मनज यमज दो अण्डाणु एवं दो शुक्राणु से निषेचित पृथक् दो युग्मनज (Zygote) के विकसित होने से उत्पन्न होते हैं। ये दो अण्डाणु कभी–कभी एक ही समय दोनों अण्डाशयों से निर्गत हो जाते है, जो दो शुक्राणुओं से संयुक्त होकर के पृथक्–पृथक् युग्मनज का निर्माण करते हैं। कभी–कभी बहुत अण्डाणुओं के निर्गत होने से त्रियुग्मनज तथा चतुर्युग्मनज जुड़वा बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं। कभी–कभी इस प्रकार के यमज दो भिन्न–भिन्न पुरुषों के शुक्राणुओं से उत्पन्न हो जाते है। गेयर (Gayer) ने 1940 में एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया इनमें ये द्वियुग्मनज यमज या भातृज यमज जो एक नाजी आस्ट्रिया के निवासी यहूदी पिता तथा गैर–यहूदी मां की सन्तान थे। मां के लैंगिक सम्बन्ध किसी अन्य पुरुष से भी थे। न्यायिक जाँच होने पर पता चला कि यमज पुत्र वास्तविक (सामाजिक) पुता से उत्पन्न शुक्राणु से जन्मा जबकि यमज पुत्री मां के सम्भाव्य प्रेमी से उत्पन्न हुई। इसकी जांच के लिए रुधिर वर्गों ABO, Rh तथा MN साक्ष्यों का उपयोग किया गया।

इस प्रकार युग्मनज या भातृज यमजों में आनुवंशिक सम्बन्ध भाई–बहन (Sibs) के समान होता है

क्योंकि ये भी भिन्न–भिन्न अण्डाणु एवं शुक्राणु द्वारा निषेचित युग्मनज से उत्पन्न होते है। द्वियुग्मनज यमज सदैव अम्नियॉन तथा कोरियान झिल्ली तथा प्लासेंटा पृथक् रखते हैं।

यमज जनन की आवृत्तियाँ

Frequencies of Twins)

संसार के विभिन्न मानव समूहों में यमजों (Twins) की आवृत्तियों में विविधता पायी जाती है। साधारणतया यमज सर्वाधिक अल्प संख्या में दक्षिण अमेरिका तथा मंगोलॉयड प्रजातियों में (0.8 %) तथा सबसे अधिक बेल्जियम के निवासियों में (1.78 %) पाये जाते हैं। लेकिन एफ॰ वॉगैल एवं ए॰ जी॰ मॉटूल्स्की (F. Vogel & A.G. Motulsky) ने प्रापिंग तथा क्रूगर (1976) के अध्ययन को 1979 में अपनी पुस्तक "ह्यूमन जेनेटिक्स प्राब्लम एण्ड अप्रोचेज़" मेंप्रकाशित किया। इसे निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है–

राष्ट्र समूह (जनसंख्या)	एक युग्मनज (प्रति 1,000 जन्म)	द्वियुग्मनज (प्रति 1,000 जन्म)
1. संयुक्त राज्य अमेरिकाई श्वेत	3.85	7.44
2. संयुक्त राज्य अमेरिकाई नीग्रो	4.08	10.01
3. संयुक्त राज्य अमेरिकाई चीनी	4.80	2.20
4. इंग्लैण्ड(वेल्स)	3.6	8.90
5. इटली	3.70	8.60
6. आस्ट्रिया	3.40	7.50
7. फ्रांस	3.70	7.10
8. स्विटजरलैण्ड	3.60	8.10
9. स्पेन	3.20	5.90
10. पुर्तगाल	3.60	5.60
11. जर्मनी	3.30	8.20
12. स्वीडन	3.20	8.60

चूंकि द्वियुग्मनज यमजों में कुछ यमज समान लिंग के भी होते हैं अतः दोनों प्रकार के यमजों की आवृत्ति पृथक् करना सरल नहीं है। यमजों की आवृत्ति को ज्ञात करने के लिए वाइनबर्ग (Weinberg) ने एक सूत्र सुझाया जिसमें उन्होंने द्वियुग्मनज एवं एक युग्मनज यमजों के मध्य किसी समूह में क्या अनुपात होगा, इसे समझाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इस आधार पर यह विधि स्थापित की कि एक युग्मनज यमज सदैव एक लिंग के होते है जबकि द्वियुंग्मनज बच्चों में से लगभग आधे यमज एक लिंग के तथा आधे असमान लिंग के होते है। इसलिए उनके अनुसार इस तथ्य को सूत्र बद्ध करते हुए एक जनसंख्या के कुल यमजों में एक युग्मनज तथा द्वियुग्मनज यमजों की समानुपातिक आवृत्ति को निम्न सूत्रों से ज्ञात किया जा सकता है–

1. द्वियुग्मनज की आवृत्ति = 2 x DZ एक लिंग वाले

2. एक युग्मनज की आवृत्ति = कुल यमजों की आवृत्ति − DZ

लेकिन द्वियुग्मनज यमज आवृत्ति मां की आयु से प्रभावित होती है क्योंकि आयु की वृद्धि से हारमोन का स्तर भी बढता है जिससे कई अण्डाणु एक साथ उत्पन्न हो जाते है। सन्तानोपत्ति अवस्था के अन्तिम वर्षों

में जिन द्वियुग्मनज यमजों के जन्म में अत्यधिक अपघटन होता हैं इसका प्रत्यक्ष कारण FSH हारमोन का गिरा हुआ स्तर है। इसके अतिरिक्त यमज आवृत्ति को जन्म क्रमांक (Birth Order) भी प्रभावित करता है। मध्यवर्ती जन्मक्रमांक द्वियुग्मनजों की वृद्धि को दर्शाते है जबकि उच्चतम जन्मक्रमांक इन यमजों की आवृत्ति की सम्भावना को कम करता है। वाइनवर्ग के अनुसार द्वियुग्मनज की आवृत्ति आनुवंशिक कारकों से भी प्रभावित होती है। यदि किसी स्त्री के जनकों में एक समय में बहुल अण्डजनन की क्षमता रही है तो उसमें भी यह क्षमता अन्य स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होती है।

यमज परीक्षण

(Twin Diagnosis)

वस्तुतः यह पहचान करना अत्यन्त कठिन है कि एक लिंग के यमज जो समान लक्षण वाले प्रतीत होते हैं, उनमें एक युग्मज यमज कौन हैं तथा द्वियुग्मनज यँमज कौन है। इस मयजों के 'युग्मनजता की परीक्षण' (Diagnosis of Zygosity) विश्वसनीय तकनीकों से करना आवश्यक होता है, अन्यथा यमज विधि एक भ्रामक परिणाम दे सकती है। युग्मनजता के परीक्षण की निम्नांकित प्रचलित तकनीके हैं--

(i) अपरा परीक्षण (Placenta Diagnosis)

(ii) समरूपता परीक्षण (Similarity Diagnosis)

(iii) सांख्यकीय तकनीक (Statistical Technique)

(iv) डी एन ए फिंगर प्रिंटिग (DNA Finger Printing)

(i) **अपरा परीक्षण** (Placenta Diagnosis)– अपरा (Placenta) एवं भ्रूण झिल्ली (Foetal Membrane) का वितरण, युग्मनजता परीक्षण में कुछ सीमा तक सहायता कर सकते है, यद्यपि इसकी सम्पूर्ण पहचान करना एक कठिन कार्य है। विकासशील युग्मनज दो झिल्लियों से युक्त होता है– आन्तरिक कला या झिल्ली – आम्नियॉन (Annion) तथा बाहरी कला या झिल्ली – कोरियान (Chorion)। द्वियुग्मनज यमज की स्थिति में, दोनों यमज, पृथक्–पृथक् झिल्ली रखते हैं, जैसे कि पूर्व वर्णित किया जा चुका है। लेकिन इनके अपरा कभी–कभी तो पृथक् लेकिन कुछ स्थितियों में मिले हुए होते हैं।

एकयुग्मनज यमजों में भ्रूणीय झिल्ली का वितरण परिवर्तनीय है। प्रायः एकयुग्मनज यमजों में अपरा की चार स्थितियाँ हो सकती है। एक, युग्मनज पहले ही द्विखण्डित हो जाता है जिससे पृथक् कोरियान झिल्लियाँ विकसित हो जाती है। दो, द्विखण्डन (Cleavage division) से पृथक् आम्नियॉन झिल्ली भी एक कोरियान के द्वारा घिर जाती है। तीन, यह युग्मनज विभाजन विलम्ब से हो तथा अपरा का पृथक्करण न हो जिससे समस्त अन्नियॉन तथा कोरियान झिल्ली हों। चार, युग्मनज का विकास पूर्ण हो जाये तथा उसका विभाजन अन्तिम अवस्था तक पूर्ण न हो पाये, जिसके फलस्वरूप परस्पर जुड़े बच्चे– साइमीज उत्पन्न हो। इन चारों स्थितियों में लगभग 70 प्रतिशत घटनाओं में एक युग्मनज यमजों में एक ही 'कोरियान' पाया जाता है। अतः शेष अन्य 30 प्रतिशत घटनाओं में यह विधि उपयुक्त नहीं है।

(ii) **समरूपता परीक्षण** (Similarity Diagnosis)– इस विधि का वर्णन सर्वप्रथम सिमेन्स तथा वॉन वर्शेवर (Simens and Von verschver) ने किया। इस विधि में (i) जन्म झिल्ली (Birth membrane) का अध्ययन किया जाता है, (ii) यमजों के आकारीय लक्षणों का अध्ययन करके समानता या सुसंगिता (Concordance) तथा असमानता या विसंगतिता (Discordance) ज्ञात करनी चाहिए, (iii) आनुवंशिक लक्षणों का अध्ययन करके सुसंगिता तथा विसंगितता ज्ञात की जानी चाहिए। आनुवंशिक लक्षणों में रुधिर वर्ग, सीरभ प्रोटीन एंजाइम, आइसोएन्जाइम, HL – A प्रणाली, आदि (iv) आकार आनुवंशिक लक्षण जैसे– अंगुलि एवं हथेली प्रतिरूपों, रिजगणना आदि का अध्ययन करके सुसंगिता व विसंगितता को ज्ञात करना चाहिए। एक युग्मनज यमज आनुवंशिक तथा आकार आनुवंशिक लक्षणों में

एकरूपता (Identicality) प्रदर्शित करते है। लेकिन वे आकारिक लक्षणों में द्विरूपता प्रदर्शित कर सकते हैं क्योंकि पर्यावरण का प्रभाव पड सकता है। दूसरी ओर, द्वियुग्मनज आनुवंशिक एवं अन्य सभी लक्षणों में अपेक्षाकृत विसंगितता (Discondance) अधिक प्रदर्शित करते हैं।

(iii) **सांख्यकीय विधि** (Statistical Technique)– यदि किसी जनक के वंशानुगत लक्षणों का जीनी प्ररूप ज्ञात हो तो उसके आधार पर उसके यमजों की युग्मनजता के जीनी प्ररूप की सम्भावना ज्ञात की जा सकती है। यदि उस जनसंख्या में यमजों की आवृत्ति का ज्ञान हो तो DZ तथा MZ की सम्भावना का आंकलन किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, इंग्लैण्ड में MZ तथा DZ की आवृत्ति क्रमशः 0.35 तथा 0.30 है। इसलिए एक लिंग के DZ की सम्भावना भी 0.35 है।यदि जनकों केप्रारूप A20 x OO हों तो A20 रुधिर के DZ की सम्भावना 50 प्रतिशत अर्थात् 0.50 होगी। इसी प्रकार MsNs X MsMS जीनी मेल में MsMs की 0.50, P_1P_2 x P_1P_2 की 0.25, CDc/cde X CDe/cde जीनी मेल में CDe/cde की 0.25 तथा Kk X Kk जीनी मेल में KK की सम्भावना 0.25 है। यदि इन सभी सम्भावित जीनी प्ररूपों को एक में मिला दे तो कुल सम्भावना पृथक् सम्भावना के गुणांक (Product) के बराबर होगी जो 0.00034 है। दूसरी ओर इन सभी जीनी प्ररूप के मिलापों (Mating) की M2 के लिए पृथक् सम्भावना 1.0 है। इन सभी पृथक् सम्भावनाओं का कुल गुणांक 0.30 है। इस आंकलन के आधार पर इसके पश्चात् की एक युग्मनजता की सम्भावना 0.30/0.30 + 0.00034 = 0.9989 होगी। जबकि द्वियुग्मनज की सम्भावना 0.00034/0.30 + 0.00034 = 0.0011 है।

(iv) **डी एन ए फिंगर प्रिंटिग** (DNA Finger Printing)– डी एन ए के न्यूक्लियोटाइडों में 'प्रतिबंध इण्डोन्यूक्लीज' एक स्थान विशेष पर प्रकट होते है जो कई प्रतिबन्धी एन्जाइम के प्रयोग या सक्रिय करने से DNA रज्जुक के निश्चित लम्बाई के खण्ड बन जाते है। यह एक आनुवंशिक लक्षण है। यह 'प्रतिबन्ध इण्डोन्यूक्लीज' अथवा डी एन ए खण्ड एक व्यक्ति की अपनी आनुवंशिक विशिष्टता है। इस प्रकार कई प्रकार के एन्जाइम का प्रयोग करके डी एन ए के विशिष्ट खण्ड या जीनी लक्षण RFLP2 (Restriction Fragment Length Polymorphism's) प्राप्त किये जा सकते हैं। यह युग्मनज यमजों (MZ) का RFLP मानचित्र (Map) पूर्णतः एकरूप होता है जबकि द्वियुग्मनज यमजों का यह विशेष RFLP मानचित्र पृथक होता है। इसी प्रकार DNA के अन्य लक्षणों VNTR (Variable Number Tendem Repeat), CA अनुक्रम आदि का मानचित्रीकरण करके युग्मनजता का परीक्षण किया जा सकता है। यह विधि सर्वाधिक विश्वसनीय एवं आधुनिक तकनीक है।

यमज एवं वंशागतता अनुमान

(Twins & Heritability Estimates)

वंशागतता, किसी जनसंख्या में लक्षण प्ररूपों तथा विविधता का वह अनुपात है जो उस जनसंख्या के आनुवंशिक लक्षणों में परिलक्षित होता है। लक्षण प्ररूप के इस अनुपात को मानव जनसंख्या मापना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि यह कई विधियों से मापा जाता है। कुछ मानव विकृतियों की वंशागतता जो कई जीन पर निर्भर करती है वह स्थूल रूप से अनुमानित कर ली जाती है। इसके लिए निकटस्थ सम्बन्धियों घटित दर से ज्ञात कर ली जाती है, इसके पश्चात् उसकी तुलना सम्पूर्ण जनसंख्या से की जाती है जैसे मस्तिष्क में पानी का अनुपात 0.4 (40 प्रतिशत) है। मिर्गी (Epilepsi) की वंशागतता का अनुपात 0.5 (50 प्रतिशत) है। हेयरलिप (Hairlip) की वंशागतता का अनुपात लगभग 0.7 (70 प्रतिशत) है आदि।

एक युग्मनज यमज वंशागतता के अनुमान हेतु एक विशिष्ट अवसर प्रदान करते है क्योंकि जो MZ यमज एक ही शुक्राणु एवं अण्डाणु से उत्पन्न होते है, वे एक ही समान जीनी समूह को रखते है। यदि इनमें कोई विविधता पायी जाती है तो वह वातावरण के प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। अधिकांशतया MZ यमज

एक ही समान परिवेश में रहते है इस स्थिति में वे शारीरिक एवं व्यवहारों के स्वरूप में एक दूसरे से अत्यधिक समानता रखते है। लेकिन उस समय जब MZ यमज भिन्न–भिन्न परिवेश में रखे जाते हैं इन यमजों पर जब अध्ययन किया जाता है तो वह आनुवंशिक एवं पर्यावरणीय कारकों के प्रभाव को एक लक्षण विशेष के सन्दर्भ में एक उपयुक्त अनुमान प्रस्तुत करता है। यदि दोनों MZ यमज किसी विशिष्ट लक्षण के आधार पर सुसंगतता (Concordance) प्रस्तुत करते हों तो वह एक किसी विशेष परिस्थितियों से में प्रभावित हुआ व्यक्त लक्षण प्ररूप का अनुपात है जो आनुवंशिक लक्षणों की सुसंगमता में परिलक्षित होता है।

इस प्रकार दो प्रकार के यमजों की वंशागतता अध्ययन हेतु तुलना की जा सकती है चाहे वेकिसी स्वरूप के लिए सुसंगतता या विसंगतता प्रदर्शित करेअथवा नहीं, उदाहरणस्वरूप पोलियों एवं रिकेट की सुसंगतना दर MZ यमजों में अपेक्षाकृत बहुत अधिक है जो इस बीमारी की आनुवंशिक प्रभावशीलता को इंगित करता है। यदि एक बार दो जनसमूहों के MZ एवं DZ यमजों की सुसंगतता एवं सिसंगतता की दरों में विभेद ज्ञात हो जाये तो सहसम्बन्ध का गुणांक (Coefficient of Correlation) निम्न सूत्र से आंका जा सकता है–

$$\frac{Vf - Vi}{Vf}$$

यहाँ पर संकेताक्षर Vf का तात्पर्य द्वियुग्मनज यमज (Fraternal tarins) का अन्तर्युग्म विभेद (Pair Variance) है, जबकि Vc एक युग्मनज यमज (Identical Twins) का अन्तर्युग्म विभेद (Within Pair Variance) है। जो लक्षण आनुवंशिक आधार अत्यधिक रखता है उसके एक युग्मनज यमजों का अन्तःयुग्म विभेद अत्यल्प होता है तथा द्वियुग्मनज का अधिक होता है जिससे सहसम्बन्ध का गुणांक लगभग 1 होता है।

जब एक लक्षण के आनुवंशिक एवं पर्यावरणीय घटक ज्ञात हो जाये, तो वंशागतता मापी जा सकती है जिसके लिए सूत्र निम्न है–

$$H = \frac{VG}{V_t} = \frac{VG}{VG + VE}$$

यहाँ संकेताक्षर VG का तात्पर्य आनुवंशिक घटक है। V_t का तात्पर्य कुल व्यक्त लक्षण प्ररूप में भेद है, तथा V_E का तात्पर्य पर्यावरणीय घटक है।

इस प्रकार यमज मानव लक्षणों के विश्लेषण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। अनेकों व्यवहारिक तथा बौद्धिक आंकडें इन्हीं यमज अध्ययनों से ही सम्बन्धित है।

आनुवंशिकी के क्षेत्र में यमजों का विस्तृत अध्ययन न्यूमैन, फ्रीमैन तथा होलजंगर ने सन् 1937 में प्रकाशित किया। ये विद्वान क्रमशः आनुवंशिकी, मनोविज्ञान एवं साख्यकी के क्षेत्र से सम्बद्ध थे। इस टीम ने 50 युग्म MZ यमज, 50 युग्म DZ यमज। 19 युग्म MZ यमज जिनका पालन पोषण पूर्व अवस्था में ही पृथक्–पृथक् हुआ तथा 52 सगे भाई (Sibs) का अध्ययन किया। इसके प्रमुख परिणामों के निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है जो विभिन्न लक्षणों पर आधारित हैं–

MZ तथा DZ यमजों में औसत विविधता

लक्षण	MZ यमज (एक साथ पालन–पोषण)	MZ यमज (पृथक)	DZ (एक साथ)	भाई–भाई (Siblings) (एक साथ)
शारीरिक कद (सेमी०)	1.7	1.8	4.4	4.5
भार (1bs)	4.1	9.9	10.0	10.4
सिर की लम्बाई (mm)	2.9	2.2	6.2	––
सिर की चौडाई (mm)	2.8	2.9	4.2	––
IQ	3.1	6.0	8.5	9.8

उक्त तालिका से यह प्रदर्शित होता है कि MZ यमज कद, सिर की लम्बाई, चौडाई में DZ यमज की अपेक्षा सर्वाधिक एकरूप है। चाहे उनका पालन–पोषण पृथक–पृथक हुआ हो या एक साथ। दोनों विधियों से यही प्रवृत्ति प्रदर्शित होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वे आकारिक लक्षण जिसके आधार पर व्यक्तियों की पहचान की जाती है जैसे– मुखमण्डलीय आकार, स्वरूप,. वे वंशागत विविधताओं से अधिक प्रभावित होते है जब कि पर्यावरणीय विविधताओं का प्रभाव वंशागत विविधताओं की तुलना में कम पडता है।

यदि शारीरिक भार को देखे तो यह इंगित करता है कि वे MZ यमज जिनका पालन पोषण साथ–साथ हुआ है उनमें इस लक्षण के आधार पर DZ की अपेक्षा समानता अधिक है। लेकिन जब MZ यमजों का पालन पोषण पृथक्–पृथक् होता है तो औसत विविधता बहुत अधिक है जो यह संकेत देता है कि इस पर आनुवंशिक विविधता का प्रभाव पर्यावरणीय विविधता की तुलना में अत्यल्प है। अतः भार पर पर्यावरणीय कारक का प्रभाव अधिक है। इसी प्रकार IQ के आधार पर भी वंशागत विविधता का प्रभाव पर्यावरण विविधता के प्रभाव की तुलना में कम है।

इस प्रकार उपरोक्त दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि मानव शरीर में तीन प्रकार के लक्षण हैं, एक वे हैं जो वंशानुगत विविधता से अधिक प्रभावित होते हैं, दूसरे वे लक्षण है, जिन पर पर्यावरण का अधिक प्रभाव पडता है, तथा तीसरे वे लक्षण हैं जिन पर पर्यावरण एवं आनुवंशिक दोनों का ही प्रभाव पडता है। यदि दो DZ यमज के आकार प्रकार में MZ यमज की तुलना में विविधता अधिक है तो वह वंशानुगत घटकों के फलस्वरूप अपेक्षाकृत अधिक है क्योंकि उनमें आधे जीन ही एक समान है शेष असमान। इस प्रकार की विविधता MZ यमजों में उस समय भी प्रदर्शित नहीं होती भले ही वे भिन्न–भिन्न परिवेश में पले–पोषे क्यों न हो। इससे यह ज्ञात होता है कि वंशानुगत विविधता पर्यावरणीय विविधता से अधिकांशतः अधिक होती है।

यमज विधि की परिसीमायें

यमज के अध्ययनों के आधार पर अन्तिम निर्णय तुरन्त नहीं लिया जा सकता क्योंकि यमजों की आवृत्ति अल्प है जिससे अध्ययन के परिणाम भ्रामक हो सकते है। उदाहरणस्वरूप न्यूमैन, फ्रीमैन होलजंगर के अध्ययन के आधार पर एक प्रवृत्ति अवश्य देखी जाती है लेकिन अध्ययन का प्रतिदर्श (Sample) आकार अपर्याप्त है। इसी प्रकार जिन MZ यमजों का पालन पोषण समान पर्यावरण में हो रहा है, यह आवश्यक नहीं है कि उन पर भिन्न रूप से पर्यावरण का प्रभाव नहीं पड़ रहा हो जैसे- कुछ MZ यमज साधारण पर्यावरणीय विभेदों के प्रति अधिक प्रतिक्रिया व्यक्त करते है, कुछ MZ यमज ऐसी परिस्थिति में अधिक उदासीन

होते हैं। इसके अतिरिक्त पर्यावरण भी स्थूल रूप से दो प्रकार का होता है– जन्म पूर्व (Prenatal) एवं जन्मोपरान्त (Postnatal)। अतः भ्रूण विकास की अवस्था में भी पर्यावरण का प्रभाव DZ यमजों पर MZ की तुलना में अधिक होता है, जो DZ के आकारिक लक्षणों को प्रभावित कर सकता है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि DZ यमज जो एक–साथ पलते हैं उनमें वंशानुगत विविधता के घटक पर्यावरणीय विविधताओं से कुछ अधिक हैं। MZ यमज विविध रूप से भिन्न संवेदन–दबाव से ग्रसित हो सकते है यदि उनका पालन–पोषण पृथक्–पृथक् हो जिसके फलस्वरूप लक्षण प्ररूपों में विविधता बढ सकती है। साथ–साथ यमजों में कौन MZ है तथा कौन DZ यमज है यह कहना कठिन होता है। यद्यपि युग्मनजता परीक्षण की आधुनिक विधि DNA फिंगर प्रिंटिग आदि हैं, लेकिन अल्प त्रुटि भी भ्रामक परिणाम प्रस्तुत कर सकती है।

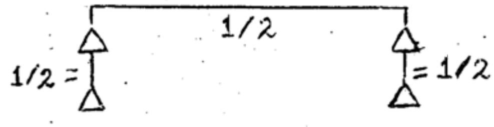
3. पारिवारिक विधि

(Family Method)

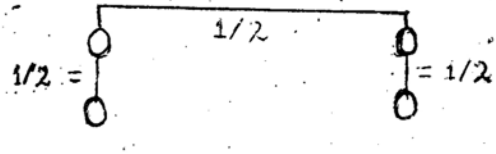
प्रत्येक जनन के 50 प्रतिशत जीन सन्ततियों में पारगमित होते है जिससे सन्तति एवं जनकों के आधे जीन एक समान होते है। जनक एवं सन्तति के इस सम्बन्ध को सांख्यकीय शब्दों में 'सम्बद्धता का गुणांक' (Coefficient of Relationship) कहते हैं। इसी प्रकार सगे भाई–बहन भी आधे 'सम्बद्धता के गुणांक' को प्रदर्शित करते हैं।यह गुणांक इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी स्थिर रहता है तथा बढ़ते हुए रेखीय सम्बन्धों (longitudinal Relations) में परिवर्तनशील रहता है। उदाहरण के लिए, जनक तथा सन्तति में जब यह गुणांक 1/2 है तो दादा/दादी (Grand parents) एवं पौत्र/पौत्री (Grand Son) में इस गुणांक का दो गुना हो जायेगा, अर्थात् 1/2 X 1/2 = 1/4 होगा। दूसरे शब्दों में, जनकों की सन्ततियाँ तथा उनके माता–पिता (Grand parents) के एक–चौथाई जीन एक समान होते है। अतः यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति के जीन उसके पिता के 1/2 जीन, दादा/दादी के 1/4 जीन, परदादा/दादी के 1/8 जीन के समरूप होते है। साथ ही साथ उसके जीन उसकी मां के 1/2 जीन, नाना/नानी के 1/4 जीन, परनाना/नानी के 1/8 जीन के भी समरूप होते है। यह गुणांक इसी तरह से रेखीय सम्बद्ध के वृद्धि के साथ–साथ घटता रहता है तथा जीनी समरूपता भी क्रमवार घटती रहती है।

सम्बद्धता का यह गुणांक चचेरे भाई बहिनों/मौसेरे भाई बहनों/ ममेरे भाई बहनों (Cousin brother/sister) में भी पाया जाता है। उस समय यह गुणांक 1/2 X 1/2 X 1/2 अर्थात् 1/8 होगा। इस सम्बद्धता गुणांक को निम्न रेखाचित्र में दर्शाया गया है–

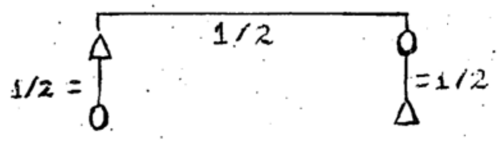
स्थिति– I (चचेरे भाई–बहिन)–



स्थिति– II (मौसेर भाई–बहिन)–



स्थिति– III (ममेरे भाई–बहिन)–



इसी प्रकार सभी सम्बन्धियों का यह गुणांक बनाया जा सकता है। यदि किसी जनसंख्या के सभी सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात हो तो उस जनसंख्या का गुणांक समष्टि बनाई जा सकती है जो उस जनसंख्या के जीन समष्टि (Genepool) के समान होगी। एक व्यक्ति के 1/2 जीन उसके माता/पिता के समान, 1/4 भाग जीन उसके दादा/दादी/नाना/नानी के समान, 1/4 भाग जीन उसके चाचा/बुआ या फूफू/मामा/मौसी के समान तथा 1/8 भाग जीन उसके चचेरे/फुफेरे/ममेरे/मैसेरे भाई–बहिनों के समान होते है।

अतः वंशागति का पारिवारिक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण आनुवंशिक अनुमानों को प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर यदि अध्ययन किया जाये तो पर्यावरणीय एवं अन्य उद्विकासीय घटकों के प्रभाव की माप की जा सकती है। सम्बद्धता के गुणांकों का उपयोग आनुवंशिक परामर्श (Genetic Counseling) में किया जाता है जिससे रोगी के सगे सम्बन्धी तथा उनकी सन्ततियों में वंशानुगत होने वाले रोगों से बचा जा सकता है। जन–आनुवंशिकी अध्ययनों में जिसमें जनसंख्या में स्थित जीन के व्यवहारों का अध्ययन किया ज़ाता है, इन गुणांकों का विशेष महत्व है। इसके ज्ञात होने से प्रतिदर्श त्रुटियों (Sampling Error) से बचा जा सकता है तथाकिसी लक्षण प्ररूप की त्रुटिरहित जीनी–आवृत्ति (Gene frequencies) आंकलित की जा सकती है।

4. दत्तक बालक अध्ययन विधि
(Foster Children Study Method)

दत्तक (Foster) शब्द का तात्पर्य उन बालकों से होता है, जो वैधानिक रूप से किसी अन्य दम्पत्ति के द्वारा गोद लिये जाते है। इन दत्तक पुत्रों के अध्ययन इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि भिन्न जीनी संरचना के बालक किसी भिन्न वातावरण में पलते–पोषते हैं। इससे वातावरण एवं वंशागति के प्रभावों का अध्ययन किया सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

इसविधि में इन बच्चों के कई समूह बनाये जाते हैं। समूहों का आधार इनके नवीन माता–पिता का सामाजिक–आर्थिक स्तर होता है। इन आर्थिक तथा सामाजिक लक्षणो के आधार पर इन बच्चों को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है–

1. उत्तम घर (Good Homes)
2. औसत घर (Average Homes)
3. निर्धन घर (Poor Homes)

अध्ययन के लिए इन घरों के बच्चों का चुनाव यादृच्छिक रूप से (Randomly) किया जाता है। इसके आधार पर यह ज्ञात किया जाता है कि वे बच्चे जो किसी भिन्न परिवेश से उत्तम गृहों में गोद ले लिये जाते है उनका विकास पर्यावरणीय घटकों से कितना प्रभावित होता है, यह अध्ययन किया जा सकता है। वे बच्चे जो औसत एवं निर्धन गृहों में पलते हैं उन पर पर्यावरणीय कारकों का कितना एवं कैसा प्रभाव पडता है। इसके तुलनात्मक अध्ययन से वंशागति एवं पर्यावरण के घटकों की पृथक्–पृथक् माप की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप शिकांगो (USA) में इस विधि से मानव के बौद्धिक अंक (IQ) का अध्ययन किया गया। परिणामों से विदित हुआ कि IQ का स्तर दत्तक गृहों के स्तर से सम्बन्धित होता है। इनके बौद्धिक अंक के औसत इस प्रकार पाये गये–

1. उत्तम गृह– 48 दत्तक पुत्रों ने औसत बैद्धिक अंक 112 प्वाइंट प्राप्त किये
2. औसत गृह– 39 दत्तक पुत्रों ने औसत बैद्धिक अंक 105 प्वाइंट प्राप्त किये
3. निर्धन गृह– 27 दत्तक पुत्रों ने औसत बैद्धिक अंक 96 प्वाइंट प्राप्त किये।

इस प्रकार यह अध्ययन इंगित करता है कि पर्यावरण का प्रभाव बच्चे के बौद्धिक विकास पर पर्याप्त रूप से पडता है। लेकिन यह अध्ययन प्रायः त्रुटियुक्त तथा प्रतिदर्श चुनाव पक्षपाती हो जाते हैं, इससे इस विधि को एक विश्वसनीय विधि नहीं माना जाता है।

5. अनाथ बच्चों की अध्ययन विधि
(Orphan Children Method)

अनाथ बच्चे उन बच्चों को कहते हैं जिन्हें उनके जैविक माता–पिता जन्मोपरान्त अवैध सम्बन्धों के कारण गोपनीय ढंग से त्याग देते है या उन्हें अनाथालयों में भेज देते हैं। इन अनाथालयों में इन बालकों का एक समान पालन–पोषण होता है। इन सभी बच्चों का जैविक स्वरूप भिन्न–भिन्न होता है। भिन्न–भिन्न आनुवंशिकता वाले बालकों का जीनी प्ररूप भी भिन्न होता है। यदि इन बच्चों के पूर्व जीनी प्ररूप एवं शारीरिक लक्षण ज्ञात हो जायें जब इनका अनाथालय में प्रवेश होता है। इसके पश्चात् प्रत्येक माह, वर्ष यदि इनका अध्ययन किया जाय, तो पर्यावरणीय कारकों के प्रभावों को समझा जा सकता है।

इस विधि से इंग्लैण्ड में अनाथ बच्चों का अध्ययन किया गया। इस अध्ययन में उन बच्चों को समाविष्ट किया गया जो औसत 6 माह से 1 वर्ष के मध्य अपने जैविक माता–पिता के द्वारा विशिष्ट गृह–अनाथालय (Orphanage) में डाल दिये गये। ये बच्चे लगभग 10 वर्षों तक साथ–साथ रहे तथा विद्यालयों में विद्यार्जन किया। इनका पालन–पोषण, शिक्षा–दीक्षा, व्याधि उपचार आदि इनके वास्तविक माता–पिता से भिन्न हुआ। चूंकि इनके माता–पिता के व्यवसाय ज्ञात नहीं थे। इसलिए इनकी IQ क्षमता की तुलनात्मक अध्ययन नहीं हो सका। लेकिन भिन्न–भिन्न व्यवसाय के माता–पिता के IQ अंक को प्रयुक्त किया गया।इससे सम्बन्धित अन्य अध्ययनों से यह संकेत मिला है कि सामान्यता उच्च स्तर के माता–पिता वाले बच्चों का IQ अंक अधिक एवं निम्नस्तर के माता–पिता का यह बौद्धिक अंक निम्न होता है। अतः IQ अंक आनुवंशिक पदार्थों से नियन्त्रित होता है, यह तथ्य अनाथ बच्चों के अध्ययनों से प्रकाश में आया। यद्यपि इस लक्षण से अन्य पर्यावरणीय कारक सहसम्भ्धित होते हैं (जो दत्तक पुत्र तथा यमजों के अध्ययन बताते है) फिर भी इस अध्ययन के परिणामों का खण्डन नहीं किया जा सकता।

6. जैव–रासायनिक विधि
(Bio–chemical Method)

मानव जनसंख्या में एक संस्थिति पर पाये जाने वाले जीन के जीनी प्ररूप एक जैसे नहीं होते। कभी–कभी एक लक्षण के लिए उत्तरदायी जीन 'एकरूपी' (Monomorphic), कभी 'द्विरुपी' (Dimorphic) तथा कभी–कभी बहुरूपी (Polymorphic) होते हैं। जीन के ये भिन्न–भिन्न जीनी स्वरूप उदविकासीय प्रक्रियाओं जैसे– उत्परिवर्तन, वरण आदि के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। मानव जनसंख्या में जीन के इस बदलते व्यवहारों का अध्ययन अनेकों आनुवंशिक लक्षणों के माध्यम से किया जाता है। गत दशकों में जैव रासायनिक लक्षणों का प्रयोग, जीन के इस व्यवहार के अध्ययन में किया जाने लगा। इससे जीन के व्यवहार को गहनता से समझने में और मदद मिली।

प्रोटीन, एन्जाइम जैसे जैव रासायनिक पदार्थों को पृथक् करने के विविध विधियों तथा प्रोटीन की रनचा की पहचान हेतु विश्लेषण विधियों के विकास से जैव रासायनिक अध्ययनों में एक क्रान्ति की लहर आ गयी। प्रोटीन का पृथक्करण तथा पहचान निम्नलिखित तीन विधियों से किया जाने लगा–

1. जेल–फिल्ट्रेशन (Gel Filtration)
2. ऑयन–विनिमय क्रोमैटोग्राफी (Ion–Exchange Chromatography)
3. इलेक्ट्रोफोरेसिस

जेल–फिल्ट्रेशन– इस तकनीक से प्रोटीन के आणविक भार के आधार पर उसे पृथक् किया जाता है। इसमें 'सेफाडेक्स' (Sephadex) से भरे हुए स्तम्भों से प्रोटीन मिश्रण को पार कराया जाता है। 'सेफाडेक्स', पॉलीसैक्राइड के कई स्तरों को कहते है। इन स्तरों में पाँच रन्ध्र होते हैं। वह प्रोटीन जो उच्च आणविक भार की होती है वह सेफाडेक्स स्तर में प्रवेश नहीं करती तथा वह स्तम्भों (Column) के बाहर पहले ही आ जाती है।

आयन–विनिमय क्रोमैटोग्राफी– यह वह तकनीक है जो आयन आवेश (Gharge) के आधार पर प्रोटीन को पृथक करती है। DEAE – ग्लूकोज से एक स्तम्भ को भर दिया जाता है जो धनावेश का होता है। इस स्तम्भ में, तत्पश्चात् प्रोटीन मिश्रण भर दिया जाता है। जब प्रोटीन DEAE ग्लूकोज के द्वारा आकर्षित किये जाते है तो ऋणावेशी प्रोटीन इनसे अपेक्षाकृत अधिक बंध जाते हैं। इसके पश्चात् यह मिश्रण भिन्न–भिन्न Ph वाले बफर घोलों से धुला जाता है। Ph विविधता से प्रोटीन के बंधों के आवेश बदलने से ये भिन्न गति से छूट जाते हैं।

इलेक्ट्रोफोरेसिस– जब प्रोटीन मिश्रण को एक विद्युत परिपथ पर संचलित कराया जाता है तो वे आणविक भार तथा आवेश के आधार पर पृथक हो जाते हैं। ये परिपथ पर संचलित कराये जाते है। जब प्रोटीन को विद्युत आवेश दिया जाता है तो वे धनावेश से ऋणावेश ध्रुव की ओर संचलित होते है। जब प्रोटीन का आवेश अधिक हो तथा आणविक भार कम हो, तो वह प्रति इकाई समय में अपेक्षाकृत अधिक दूरी तक संचलित होगा।

इस प्रकार जब प्रोटीन/एन्जाइम पृथक् कर लिये जाये तो अमीनो अम्ल के अनुक्रम के लिए विश्लेषित किये जा सकते हैं। इसके लिए विधियाँ जैसे– 'एडमैन डिग्रेडेशन विधि' (Edman degradation method) का प्रयोग किया जाता है। यदि प्रोटीन का विश्लेषण के लिए 'फिनाइलीसोथियोसाइनेट' (Phenylisothiocynate) एवं मध्यम अम्ल का प्रयोग करते हैं तो बाहरी दिशा के अमीनों अम्ल (aminoterminal) पृथक हो जाते है जिसका विश्लेषण इसी विधि से किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रोटीन के पृथक्करण एवं विश्लेषण के अतिरिक्त दो अन्य आधुनिक तकनीकों से जैविक अणुओं जैसे– DNA एवं RNA का विश्लेषम भी किया जाता है।इनका विश्लेषण निम्नलिखित दो विधियों से किया जाता है–

(i) मैक्सम–गिलबर्ट विधि (Maxum Gilbert Method)

(ii) सदर्न, नार्दर्न एवं वेस्टर्न ब्लाटिंग विधि (Southern, Northern and Western Blothing Technique)

मैक्सम–गिलबर्ट विधि– इस विधि DNA अणु की अनुक्रमणिका (Sequencing of DNA) बना ली जाती है। डी एन ए, चार प्रतिबन्धी एन्जाइमों से द्विखण्डित करवा लिये जाते है जिससे DNA भिन्न–भिन्न क्षार से कट जाते हैं। इससे चार प्रकार के DNA अनुक्रम समूह प्राप्त कर लिये जाते है। इनमें से प्रत्येक खण्ड की लम्बाई एक समान नहीं होती जो क्षारों की स्थिति का प्रतिनिधित्व करते हैं। अन्त में इन चारों प्रकार के प्रतिदर्शों को चार समानान्तर जेल में विद्युत परिपथ में आवेशित किया जाता है जिससे क्षार की पृथक्–पृथक् स्थिति प्रदर्शित होने लगती है।

सदर्न, नार्दर्न एवं वेस्टर्न ब्लाटिग विधि– यह तकनीक क्रमशः DNA, RNA तथा प्रोटीन की उपस्थिति को स्पष्ट करती है। DNA के लिए सन्दर्भ ने एक तकनीक को बताया जिससे DNA की विद्यमानता प्रदर्शित हो जाती है इसलिए इसे सदर्न ब्लाटिंग कहते हैं। इस विधि में DNA, प्रतिबन्धी एन्जाइमों से द्विखण्डित किया जाता है तथा इसके खण्डों को जेल इलेक्ट्रोफोरेसिस से पृथक् करते हैं। इसके पश्चात् वे DNA खण्ड 'नाइट्रोसेलूलोज फिल्टर पेपर पर' रख दिये जाते है। इससे DNA के स्थल प्राप्त किये जा सकते है जिन्हें वाद में विश्लेषित किया जा सकता है। इसी विधि RNA के अणुओं का स्थल ज्ञान किया जाता है। इस RNA विश्लेषण विधि का सर्वप्रथम वर्णन, नार्दर्न (Northern) ने किया था।

वेस्टर्न ने ब्लाटिंग तकनीक ही से प्रोटीन की स्थिति पता लगाया। इसके लिए सर्वप्रथम प्रोटीन को विद्युत परिपथ पर पृथक कर लिया जाता है फिर उन्हें नाइट्रोसिलूलोज फिल्टर पेपर पर रखकर सोखा दिया जाता है। इसके बाद प्रतिपिण्ड (Antibody) रख दिये जाते है, इससे एण्डीजन–एण्डीबाडी काम्पलेम बन जाता है, जिसके आटो डायग्राफी से लगे हुए समतलित प्रतिपिण्ड पहचाने जा सकते हैं।

7. प्रतिरक्षा वैज्ञानिक विधि

(Immunological Method)

ये विधियाँ प्रतिजन–प्रतिपिण्ड प्रतिक्रियाओं पर आधारित होती हैं। प्रतिपिण्ड एक प्रकार के बडे प्रोटीन अणु है इन्हें पाँच वर्गों में विभक्त किया जाता है–

(i) IgA

(ii) IgG

(iii) IgD

(iv) IgE

(v) IgM

ये प्रतिपिण्ड प्रोटीन की चार श्रृंखलाओं से बने होते है जिनमें दो अधिक आणविक भार की होती है जबकि दो कम भार वाली होती है। दो हल्की भार वाली श्रृँखलायें 'कॉपा' (K) तथा 'लैम्बडा' (λ) कही जाती है तथा भारी दो–दो श्रृंखलायें इन सभी प्रतिपिण्डों में भिन्न–भिन्न होती हैं जैसे IgG में 'गामा' (γ), IgM में 'क्यूटा', IgA में 'अल्फा' (α), IgD में 'डेल्टा' (δ), IgE में 'एप्सीलॉन' (ε)। कम भार वाली दोनों प्रोटीन श्रृंखलायें एक साथ एक प्रतिपिण्ड अणु में नहीं होती।

प्रतिपिण्डों की श्रृंखलायें दो क्षेत्रों में विभक्त होती है एक क्षेत्र सदैव स्थित रहता है तथा दूसरा क्षेत्र सदैव परिवर्तित होता रहता है। इनके इन गुणों के आधार पर ये 'स्थायी' परिवर्तनीय क्षेत्र कहे जाते हैं।

ये सभी प्रोटीन प्रतिपिण्ड सभी व्यक्तियों में होते है लेकिन इनमें आनुवंशिक भिन्नता पायी जाती हैं। इस विविधता को 'इम्युनो ग्लोब्यूलिन एलोटाइप्स' कहा जाता है। 'एलोटाइप्स' का निर्माण प्रतिपिण्डों के 'स्थायी क्षेत्र' में परिवर्तन के फलस्वरूप होता है। ये परिवर्तन हल्की तथा भारी दोनों प्रतिपिण्ड श्रृंखलाओं में देखा गया है। भारी श्रृंखलाओं में दो प्रकार के परिवर्तन पाये गये हैं–

(i) Gm प्रणाली– भारी श्रृंखला IgG से सम्बन्धित विभेद

(ii) Am प्रणाली– भारी श्रृंखला IgA से सम्बन्धित विभेद

इसके अतिरिक्त हल्की श्रृंखलाओं में निम्न विभेद देखे गये हैं–

(i) Inv प्रणाली– हल्की श्रृंखला 'कापा' से सम्बन्धित विभेद

(ii) Oz प्रणाली– हल्की श्रृंखला 'लैम्बडा' (λ) से सम्बन्धित विभेद।

उक्त अधिकांश विभेद एक ही जीनी संस्थिति (locus) पर विद्यमान बहुएलीलो (Multiple alleles) अथवा निकटस्थ सहलग्न जीन – संस्थिति की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इन 'एलीलों' अथवा 'विकल्पी' की आवृत्ति भिन्न–भिन्न मानव समुदायों में भिन्न होती है। प्रतिपिण्डों के ये विभेद मानव के प्रतिरक्षा वैज्ञानिक अध्ययनों में प्रयोग किये जाने लगे हैं। कुछ प्रतिजन मानव शरीर में प्रविष्ट कराने पर प्राप्त प्रतिपिण्डों को पृथक् करके परिशुद्ध किया जा सकता है। इन प्रतिपिण्डों का विद्युत परिपथ से (Electrophoretically) भी अध्ययन किया गया है। जिसके इनके 'अमीनो अम्ल संगठन' पहचाने गयें हैं। अध्ययनों से यह विदित हुआ है कि भिन्न–भिन्न व्यक्तियों से पृथक् किया गया प्रतिपिण्ड विभिन्न श्रंखलाओं के अमीनो अम्ल के संगठनों में विविधता प्रदर्शित करते हैं। उदाहरणस्वरूप, Rh रुधिर समूह के कारकों को इसी सिद्धान्त के आधार पर खोजा गया है जो रहीसस बानर से 'ऐण्टी सीरम' प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार यदि मानव प्रतिपिण्ड को 'खरगोश' के शरीर में प्रविष्ट कराया जाये तो वे खरगोश में प्रतिजन के समान क्रिया करके 'मानव प्रतिपिण्ड' के विरुद्ध उनकी प्रतिपिण्ड का निर्माण करते है। इस प्रकार खरगोश का 'एण्टी सीरा' प्राप्त करके इससे भिन्न–भिन्न मनुष्यों के 'रुधिर प्रतिदर्श' विश्लेषित किये जा सकते हैं। सभी प्रतिदर्श चूंकि विविधता प्रदर्शित करते हैं। अतः विभिन्न समुदायों के विभेदों को उजागर किया जा सकता है।

8. गुणसूत्र-विश्लेषण विधि

(Chromosomal analysis Technique)

मानव में वंशागति के अध्ययन हेतु गुणसूत्रों का विश्लेषण किया जाता है। गत अध्याय −15 में मानव गुणसूत्रों के विश्लेषण की विस्तृत चर्चा की गयी थी जिससे गुणसूत्रों की आकारिकी, आणविक तथा रासायनिक संरचना के विभिन्न आयाम प्रकाश में आये। यद्यपि वहाँ पर मानव के गुणसूत्रों को सात समूहों में विशिष्ट लक्षणों के आधार पर विभक्त किया गया था, लेकिन ये गुणसूत्र स्पीशीज, सवस्पीशीज की भिन्नता ही नहीं रखते बल्कि मानव स्पीशीज (जाति) के अन्तर्गत भी सूक्ष्म विभेदों को भी प्रदर्शित करते है अर्थात् ये गुणसूत्र एक जनसमूह केस्तर पर भी विशिष्टतायें दर्शाते हैं। इन विशिष्टताओं को अध्ययन करने के लिए मुख्यतः निम्न तीन तकनीकों का प्रयोग किया जाता है−

(i) गुणसूत्री पट्टीकरण (Chromosomal Banding)

(ii) प्रवाहन कोशिका भित्ती (Flow Cytometry)

(iii) दैहिक कोशिका संकरण (Somatic Cell Hybridization)

गुणसूत्री पट्टीकरण

जैसा कि अध्याय −15 में उल्लेख किया गया था कि गुणसूत्र सूत्री विभाजन की मध्यावस्था में स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते है। इसलिए पट्टीकरण के लिए कोशिका या तो ऊतकों से एकत्र की जाये जो अस्थि मज्जा (Bone Marrow) के समान सक्रिय रूप से विभक्त होती रहती हैं या तो 'कल्चर' या 'संवर्धन प्रयोग' (Culture) में इन्हें विभक्त होने के लिए उत्प्रेरित किया जाय। 'किडनी−बीन' (Kidney−beans) से निकाला गया एक प्रोटीन अंश −'फाइटोहीमोग्लुटिनिन' (Phytohaemoglutinin) से डी एन ए संश्लेषण एवं कोशिका विभाजन को उत्प्रेरित करता हुआ पाया गया है। यह संश्लेषण एवं विभाजन, लिम्फोसाइट कोशिका के संवर्धन में घटित हुआ। गुणसूत्र विश्लेषण के लिए यह आवश्यक होता है कि उसे मध्यावस्था में स्थिर रखा जाये इसलिए यह कार्य 'कॉल्चीसाइन' (Colchicine) को मिश्रित करने से पूर्ण हो जाता है। काल्चीसाइन तर्कु−तन्तुओं का विकास अवरुद्ध हो जाता है जो कोशिका विभाजन के साधक प्रतीत होता है। इसके बाद इन कोशिकाओं पर लवण घोल फैला दिया जाता है जिससे गुणसूत्र फूल करके बिखर जाते हैं। इसके बाद इन कोशिकाओं को उपयुक्त पदार्थों से स्थिर कर दिया जाता है। तत्पश्चात् इन बिखरी कोशिकाओं को स्लाइड पर छोड देते है। इसे वायु में सुखा करके पट्टी प्रतिरूपों को देखने के लिए अभिरंजित कर दिया जाता है। इन स्लाइड को अभिरंजित करने के लिए निम्न चार अभिरंजकों वाली तकनीके प्रचलित है−

(a) Q पट्टीकरण

(b) G पट्टीकरण

(c) C पट्टीकरण

(d) R पट्टीकरण

(a) **Q−पट्टीकरण−** इस तकनीक में क्वीनाक्राइन (Quinacrine) अभिरंजक का प्रयोग किया जाता है। निश्चित गुणसूत्र के उद्दीपक क्षेत्रों पर पट्टियाँ प्रकट होती है जिसे उद्दीप्त सूक्ष्मदर्शी से प्रेक्षित किया जाता है। ये पट्टियाँ A−T क्षारों को अधिक दर्शाती हैं।

(b) **C−पट्टीकरण−** इस तकनीक में जिम्सा (Giemsa) अभिरंजक का प्रयोग किया जाता है जिससे गहरे अभिरंजक जैसी पटि्टयाँ प्रकट होती हैं।

(c) **C−पट्टीकरण−** इसमें जिम्सा अभिरंजन के पूर्व विरल अम्ल तत्पश्चात् संगठित भार क्षार तथा गर्म सलाइन का प्रयोग स्लाइड पर करते हैं। इससे हिस्टोन प्रोटीन स्थान से हट जाते हैं। इस स्थिति में सेंट्रोमियर क्षेत्र, विशेषकर गुणसूत्र− 1, 9, 16 तथा Y का तीव्रतापूर्ण अभिरंजित हो जाता है। सैटलाइट के

सघन क्षेत्र अथवा डी एन ए अनुलिपि, C – पट्टी के रूप में प्रकट होते हैं। इसके आधार पर वैयक्तिक विविधताओं का अध्ययन किया जा सकता है।

(c) **R–पट्टीकरण–** इस तकनीक में जिम्सा अभिरंजन के पूर्व इसे सलाइन से गर्म किया जाता है। यह G– तकनीक के विपरीत पट्टीकरण विधि है। इसमें गुणसूत्री प्रोटीन के भिन्न गति से नष्ट होने की प्रतिक्रिया से पट्टी प्रारूप विकसित हो जाते है। इन पट्टियों के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के अलग–अलग गुणसूत्रों की तुलना की जा सकती है। ये संरचनात्मक बहुरूपता 'विषमरूपता' (Heteromorphism) को कहते हैं। यह 'विषमरूपता' साधारण मेंडलीय विधि से वंशानुगत होती है। इसके आधार पर गुणसूत्री वंशानुगता का भी अध्ययन किया जा सकता है।

(ii) प्रवाहन कोशिकामिति

यह गुणसूत्र विश्लेषण की एक आधुनिक विधि है। इसमें कोशिकाओं को विखण्डित कर दिया जाता है। उद्दीपक अभिरंजकों से अभिरंजित कियाजाता है।चयनित विधि से इस प्रकार गुणसूत्र रंग जाते हैं। तत्पश्चात एक लेजर बीम में प्रवाहक चैम्बर से होते हुए गुणसूत्रों को पतले जेट के समान आगे बढाया जाता है। इससे गुणसूत्र उद्दीप्त होते हैं जिन्हें जांच उपकरण से माप लिया जाता है। चूंकि उद्दीपन की मात्रा, गुणसूत्र के आकार पर आधारित होती है अतः इस तकनीक से त्वरित कैरियोटाइप करना सम्भव होता है।

(iii) दैहिक कोशिका संकरण

गुणसूत्री तकनीके इतनी विकसित हो गयी हैं कि दो भिन्न जीवों की कोशिकाओं का संकरण कराना एक सरल तरीका प्रतीत होता है। इस तकनीक से मानव की कोशिकाओं का संकरण अन्य जीवों से कराया जाता है। उदाहरणस्वरूप चूहे एवं मानव की दैहिक कोशिका की संकर कोशिका विकसित की गयी है। इन संकर कोशिकाओं में मानव गुणसूत्र दूर कर दिये जाते है जब एक संकर कोशिका विभाजित होती है। इनमें कुछ गुणसूत्र प्राप्त किये जाते है। इससे गुणसूत्रों के कुछ विशिष्ट प्रोटीनों का अध्ययन सरलता से कर सकते हैं।

9. गुणसूत्र पुनर्संयोजन अथवा रिकाम्बिनेंट तकनीक

(Recombinant Technique)

प्रायः इस तकनीक का प्रयोग जीन संरचना के विश्लेषण, आनुवंशिक विकारों का परीक्षण, आणविक बहुरूपता का निरीक्षण तथा भ्रूण के लिंग निर्धारण में किया जाता है। इस तकनीक में मुख्यतः 'प्रतिबंधी इण्डोन्यूक्लीज़ेज' का प्रयोग करके DNA खण्डों की उत्पत्ति की जाती है। इन खण्डों का सम्मिलन यथोचित वेक्टरों (प्लास्मिड, फेज अथवा कॉस्मिड) में किया जाता है। इन वेक्टरों को एक मेजबान जीवों (प्रायः जीवाणु E – कॉली) में प्रविष्ट कराया जाता है। परिणामस्वरूप एक विशिष्ट डी एन ए अनुक्रम को लिये हुए क्लोनों का अगला चुनाव सम्भव होता है। यहाँ इन प्रमुख ये तकनीकों का वर्णन किया जा रहा है–

1. **प्रतिबन्धी–इण्डोन्यूक्लीज–** वह प्रोटीन जो एक विशेष कार्य में संलग्न रहते है, उस कार्य की पूर्णता को उत्प्रेरित करते हैं, उन्हें उत्प्रेरक या 'एन्जाइम' कहा जाता है। कुछ 'एन्जाइम' पानी के साथ रासायनिक प्रतिक्रिया करके 'न्यूक्लीज' (Nuclease) कहा जाता है। वह न्यूक्लीज जो किसी जैविक पदार्थ जैसे– डी एन ए, आर एन ए आदि के आन्तरिक क्षेत्र में ही क्रिया सम्पन्न करे 'इन्डोन्यूक्लीज' के नाम से जाना जाता है। चूंकि ये 'इन्डोन्यूक्लीज', DNA, RNA जैसे जैविक पदार्थों के आन्तरिक क्षेत्र के 'न्यूक्लिक अम्ल' में 'हाइड्रोलिसिस' क्रियापूर्ण करता है जिससे ये न्यूक्लिक अम्ल विघटित हो जाते, इसके फलस्वरूप डी एन ए/आर एन ए की 'पालीन्यूक्लियोटाइट/राइबोटाइट श्रृंखला टूट जाती है। इस टूटन या खण्डन क्रिया से डी एन ए/आर एन ए की श्रृंखलायें परिसीमित या प्रतिबंधित हो जाती है। डी एन ए/आर एन ए जैविक पदार्थ की श्रृंखलाओं को परिसीमित या प्रतिबनधित करने वाले प्रोटीन उत्प्रेरकों या एन्जाइमों को ही 'प्रतिबन्धी

प्रतिबन्धी इण्डोन्यूक्लीज चार प्रकार के होते हैं–

(i) EcoR I

(ii) Hha I

(iii) Bal I

(iv) Hae III

इन चारों प्रतिबन्धों इण्डोन्यूक्लीजों के नाम 'जातीय' (Generic) एवं 'तनाव' सम्बन्धी(Strain अथवा to streatch tightly) होता है। इनके नामों के पहले अक्षर जातीय पहले दो अक्षर इस जाति के विशिष्ट नामों के होते हैं। इसका चौथा अक्षर उस जाति के विशिष्ट तनाव से लिया जाता है। इनकी रोमन अंक किसी जीवाणु से इनके पृथक होने का क्रम होता है। उदाहरणस्वरूप 'Eco RI' प्रतिबन्धी इण्डोन्यूक्लीज 'इस्चेरीशिया कॉली' (Escherichia Coli) जीवाणु से प्राप्त एन्जाइम है। इसके नाम का पहला अक्षर– 'E' 'इस्चेरीशिया' से, अक्षर– 'Co' इस जीवाणु के विशेष नाम 'Coli से, चौथा– अक्षर 'R' इस जीवाणु के विशिष्ट तनाव या स्ट्रेन 'RYB' से लिया गया है। इस प्रतिबन्धी इण्डोन्यूक्लीज का रोम अंक – I 'इस्चेरीशिया कॉली' जीवाणु से इसके पृथक् होने का क्रम है।इसी प्रकार अन्य प्रतिबन्धी इण्डोन्यूक्लीजो के नामकरण क्रमशः हैक्मॉफाइलस हीमोलाइटिकस (Hacmophylus Haemolyticus), बेवीवैक्टीरियम एल्बिडम (Brevibactirium – albidum), हीमोफाइलम एजिप्टिकस (Haemophylum aegypticus) जीवाणउओं के प्रथम नाम, विशिष्ट नाम, उनके तनाव तथा पृथक्ता क्रम पर आधारित है। इन प्रतिबन्धी इण्डोन्यूक्लीज उत्प्रेरकों को 'प्रतिबन्धी इण्डोन्यूक्लीड' (Restriction Endonuclead) भी कहते हैं ये डी एन ए में पाली न्यूक्लियोटाइड के विशिष्ट भाग (चार से छः अवशेषों – Residues का लम्बा क्षेत्र) को पहचान जाते हैं जिसके फलस्वरूप DNA के इन्हीं स्थलों को खण्डित कर देते हैं। इनके जीवाणुओं में इस प्रकार के कार्यों के आधार पर ही इनको 'प्रतिबन्धी एन्जाइम' कहते है। ये एन्जाइम DNA के विशेष स्थल पर अवगुण्ठन करके बाहर से आने वाली पालीन्यूक्लियोटाइड के अवशेषों या क्षारों को उसी स्थल पर प्रतिबन्धित कर देते है अर्थात् रोक देते हैं। प्रतिबन्धन के इस बिन्दु को 'प्रतिबन्धन स्थल' (Restriction Site) कहते हैं। जब डी एन ए के साथ 'मिथाइल समूह' होता है तो प्रतिबंधी इण्डोन्यूक्लीज डी एन ए के खण्ड कर सकने में सक्षम नहीं होते क्योंकि मिथाइल समूह डी एन ए को ऐसे समय सुरक्षा प्रदान करता है।

प्रतिबन्धी इण्डोन्यूक्लीज के कई वर्ग खोजे जा चुके है। वर्ग – I प्रतिबन्धी इण्डोन्यूक्लीज DNA की विशिष्ट श्रृंखला एवं अनुक्रम को पहचान तो लेते है लेकिन DNA का अवगुण्ठन उस विशेष स्थल पर नहीं कर पाते। वर्ग – II के प्रतिबन्धी इण्डोन्यूक्लीज DNA के विशेष अनुक्रम को भी पहचान लेते है तथा इसे प्रतिबन्धी स्थल के अन्तर्गत ही अवगुण्ठित करके खण्डित कर देते हैं। इसके फलस्वरूप सुपरिभाषित DNA के खण्ड प्राप्त हो जाते हैं। इनका उपयोग 'आनुवंशिक अभियान्त्रिकी' के लिए 'आणविक क्लोनिंग' में किया जाता है।

यह पाया गया है कि कुछ **प्रतिबन्धी** एन्जाइम 4 क्षार समूहों की पहचान करते हैं तथा कुछ 5 अथवा 6 क्षार–समूह को पहचान पाते है। चारों **प्रतिबन्धी** एन्जाइम के 'पहचान–अनुक्रम' को यहाँ तालिका में दर्शाया जा रहा है–

Sl.no	प्रतिबन्धी इण्डोन्यूक्लीज	पहचान अनुक्रम
1	EcoR I	5 G°A A T T C3 3 C T T A A°G S
2	Hha I	5 G C G°C3 3 C°G C G5
3	Bal i	5 T G G°C C A3 3 A C C°G G T5
4	Hae III	5 G G°C C3 3 C C°G G5

नोट- गहरे बिंदु वे खण्ड स्थल हैं जहाँ प्रदर्शित प्रतिबन्धी एन्जाइम डी एन ए की पाली न्यूक्लियोटाइड श्रृंखला को काट देते हैं।

2. **डी एन ए -लाइगेज** (DNA Ligase)- डी एन ए लाइगेज एक प्रकार का प्रोटीन एंजाइम है। यह डी एन ए के फास्फोडाइस्टर बन्धों को पुनर्निमित करता है। इससे एकल रज्जुकी खण्डों के मध्य अवशिष्ट स्थल बंद हो जाता है। इस एन्जाइम की उस समय आवश्यकता होती है जब डी एन ए की पुनरावृत्ति, पुनर्संयोजन तथा इसकी क्षति का पुनः निर्माण हो रहा होता है।अतः डी एन ए-लाइगेज डी एन ए खण्ड को जोड़ने वाले एन्जाइम है।

3. **क्लोनिंग वेक्टर** (Cloning Vectors)- आनुवंशिकविद् यदि प्रतिबन्धी एन्जाइम के द्वारा डी एन ए की खण्डन विधि जानता है, तथा वह यदि लाइगेज एन्जाइम के डी एन ए को दूसरे खण्डों से जोड़ना जानता है, तो वह कीमेरी कणों (Chimaeric Molecules) का सृजन कर सकता है। लोक मान्यताओं के अनुसार कीमेस एक क्रूर बन्य पशु अथवा मनुष्य था जिसका शेर का सिर, बकरे का शरीर तथा सांप की पूंछ थी।

जिस जैविक पदार्थ के साथ डी एन ए श्रृंखलायें पुनः जुड़ती है उसे 'वेक्टर' कहते है। वेक्टर में परिणाम एवं दिशा तय करने की क्षमता स्वतः होती है। दूसरे शब्दों में वेक्टर एक प्रकार के आणविक वाहन है जो प्रस्तावित डी एन ए खण्ड को कोशिकाओं (Host Cells) में ले जा करके प्रवेश करा देते हैं। ये कोशिकायें प्रायः जीवाणु कोशिकायें होती है। वही इनकी पुनरावृत्ति होती है जिससे इनकी असंख्यों प्रतियाँ बन जाती है। इसे 'जीन क्लोनिंग' कहते हैं।

इस प्रकार एक वेक्टर में पुनरावृत्ति का गुण होता जिससे प्रविष्ट डी एन ए की वृद्धि होकर के मेजवान कोशिका बन जाता है। विशिष्ट प्रतिजैविकों से प्रतिरोध करने की क्षमता होती है जिससे कि वे जीवाणु जो किसी विशेष प्रतिजैविकों के लिए हुए होते हैं उनका चुनाव हो सके। यह कई प्रतिबन्धी स्थलों को अपने साथ ले जाता है जिससे विधिध प्रकार के 'बाहरी' डी एन ए अनुक्रम किसी विशेष डी एन ए श्रृंखला में प्रविष्ट हो जाये। यह वेक्टर मुख्यतः तीन प्रकार के अन्वेषित हो चुके है-

(i) प्लास्मिड (Plasmids)

(ii) बैक्टीरियोफेज (Bacterioplhages)

(iii) कॉस्मिड (Cosmids)

प्लास्मिड– कई जीवाणु अतिरिक्त गुणसूत्री, छोटा वृत्ताकार तथा द्विरज्जुकी डी एन ए रखते है जिससे उनकी सामान्य वृद्धि नहीं हो पाती।यदि परावैंगनी विकीर्णन अथवा अन्य रासायनिक विधियों से यह प्लास्मिड दूर हटा दिया जाये, तो कोशिका सामान्य रूप से पुनः वृद्धि करती है। यह प्लास्मिड प्रायः वृत्ताकार होता है लेकिन कभी–कभी रेखीय भी होता है जैसे स्ट्रेप्टोकॉसी (Streptococci)। ये प्लास्मिड जीवाणु गुणसूत्र से संगठित हो सकते है तथा इन्हें किसी जीवाणु की अन्य कोशिका में स्वतन्त्र रूप से स्थानान्तरित किया जा सकता है। ये जीवाणु कोशिका में एक विशिष्ट लक्षण उत्पन्न करते है। वे प्लास्मिड जो रासायनिक पदार्थों के क्षरण को प्रेरित करने के लए जीन के वाहक होते हैं, उन्हें क्षरणकारी प्लास्मिड कहते है। ये प्लास्मिड जटिल चयापचयी प्रतिक्रियाओं हेतु जीन को ले जाते है। इस प्रकार प्लास्मिड कई प्रकार की क्रियायें कर सकने में समर्थ होते है। आनुवंशिक अभियान्त्रिकी में इनका प्रयोग वेक्टर की तरह से किया जाता है जो बाहरी DNA के सुयोग्य वाहक की भूमिका निभाते है।

वैक्टीरियो फेज– इन्हें 'फेज' भी कहा जाता है। विषाणु, जीवाणुओं में संक्रमण करके प्रोटीन से DNA को रख लेता है।जब जीवाणु में संक्रमण काल होता है तो वे अपना DNA जीवाणु में प्रविष्ट कर लेते है। जिससे डी एन ए की बार–बार पुनरावृत्ति से जीवाणु फट जाता है। यही डी एन ए की सैकडों अनुलिपियाँ बन जाती है। इस प्रकार विषाणुओं के डी एन ए को प्रतिबन्धी एन्जाइमों से खण्डित कर के बाहरी डी एन ए इसमें प्रविष्ट कराया जा सकता है। इनमें डी एन ए की 10 Kb मात्रा होती है। इन विषाणु का वेक्टर के समान प्रयोग किया जा सकता है।

कॉस्मिड वेक्टर– जीन स्थानान्तरण के लिए यह तीसरे प्रकार के वेक्टर है। इनका विकास 1978 में बारबेरा होम्स (Barbera Homs) तथा जॉन कालिन्स (John Collins) ने किया। ये वे वेक्टर है जो विषाणु (Phase) के CoS स्थल से प्राप्त किये गये है, जैसे जीवाणुओं से प्लास्मिड एवं लैम्बडा प्राप्त किये गये है।

4. डी एन ए संग्रह
(DNA Library)

डी एन ए लाइब्रेरी या संग्रह जीवाणुओं के बढ़े हुए वेक्टरों का संग्रह है। जो एक प्रदत्त जाति के जीनोम के कुल DNA के अनुक्रमों की कम से कम एक प्रति अवश्य रखता है। DNA लाइब्रेरी के निर्माण में कई तैयारी करनी पडती है। इन तैयारियों में प्रतिबन्धी एन्जाइम के द्वारा किसी जीनोमी DNA का पाचन, इसका पृथक्करण, इनका वेक्टर से बन्धन (जो उन्हीं प्रतिबन्धी एन्जाइम से काटे जाते है) वेक्टर का जीवाणु अथवा यीस्ट में स्थानान्तरण इन जीवाणुओं का पोषकों युक्त एगर जेल पर **प्लेटों** या किसी **डिशों** में संवर्धित कर लिया जाता है। ये जीवाणु एक उपनिवेश या समूह- घर बनाते है। एक समूह घर के सभी बैक्टीरिया एक समान वेक्टर DNA रखते है।

डी एन ए अनुक्रमों DNA अनुक्रमों हेतु जिस लाइब्रेरी के निर्माण हेतु खोज की जाती है वह कई कार्यों हेतु मुख्यतः तीन विधियाँ अपनायी जाती है। आनुवंशिक, प्रतिरक्षावैज्ञानिक एवं आणविक संकरण। इन तीन विधियों के द्वारा क्रमशः जीन, अनुक्रण प्रतिपिण्ड अनुक्रम एवं आणविक संकरण हेतु वेक्टर संरक्षित तथा संवर्धित किये जाते हैं।

5. प्रतिबन्धी मानचित्रण
(Restriction Mapping)

डी एन ए खण्डों को एक–दूसरे पर रखकर निरीक्षण करने हेतु प्राप्त खण्डों के समूहों का उत्पादन तत्पश्चात् उनकी क्रमबद्धता मानचित्रण में की जाती है। इस प्रकार एक DNA के अनुक्रमण करने के लिए सबसे पहले क्रमबद्धता मानचित्रण आवश्यक होता है। दो प्रतिबन्धी एन्जाइम के द्वारा स्वतन्त्ररूप से डी एन ए का पाचन किया जाता है, उनके पृथक् टुकडे पुनः आपसी समझौते से इन्हीं एन्जाइमों के द्वारा पाचित कर

लिए जाते है अर्थात् वह खण्ड जो पहले एन्जाइम के द्वारा बनाया जाता है वह दूसरे एन्जाइम के द्वारा बनाये गये खण्ड के शेष टुकडे को पचाता है।

6. डी एन ए अनुक्रमण

जीन क्लोनिंग का मुख्य उद्देश्य डी एन ए में न्यूक्लियोटाइडों के अनुक्रम का निर्धारण करना है। अनुक्रम निर्धारण के दो तरीके है। इन दोनों प्रकारों से केवल कुछ सौ क्षारों के लम्बे DNA का अनुक्रमण किया जाता है।

पहली 'मैक्सम एवं गिलबर्ट' (Maxum and Gilbert) विधि में डी एन ए कण के खण्ड किये जाते है। यह खण्ड विशिष्ट क्षारों C, G, A तथा T पर किये जाते है तथा इन्हें पालीन्यूक्लियोटाइड काइनेज एन्जाइम से 5 पर अंकित कर लिया जाता है। इन चारों पृथक् प्रतिदर्शों प्रतिक्रियायें उत्पन्न की जाती है तथा इन DNA को विद्युत परिपथ पर एक ही जेल में एक–दूसरे के समानान्तर रखा जाता है। तत्पश्चात् आटोरेडियोग्रैफी से इन इलेक्टोफोरेटिक पट्टियों के अनुक्रम को पढ़ लिया जाता है। दूसरी विधि में जिस डी एन ए का अनुक्रमण करना है उसे पहले एक रज्जुकी विषाणु DNA में समाविष्ट कर लेते है। इसमें प्रतिबन्धी मानचित्रण करते है। यह विभिन्न प्रतिबन्धी एन्जाइमों के कार्य स्थलों की सूचना देती है। ये प्रतिबन्धी एन्जाइम का प्रयोग छोटे तथा आपस में लिपटे DNA खण्डों को बनाने के लिए किया जाता है जिसे **मैक्सम गिलबर्ट** से अनुक्रमित कर लेते हैं।

डी एन ए तकनीक के उपयोग

(Uses of DNA Technique)

मानव के अध्ययनों में डी एन ए तकनीकों के प्रमुख उपयोग निम्नलिखित हैं–

(i) जीन संरचना का विश्लेषण (Analysis of Gene Structure)

(ii) आनुवंशिक विकारों का परीक्षण (Diagnosis of Genetic Disorders)

(iii) RFLP हैप्लोटाइप (RFLP Haplotypes)

(iv) VNTR लक्षण (VNTR)

(v) CA आवृत्ति (CA Repeat)

(vi) भ्रूण डी एन ए परीक्षण (Foetal DNA Diagnosis)

(i) जीन रचना का विश्लेषण

प्रतिबन्धी मानचित्रण से यह सम्भव हो गया कि डी एन ए खण्ड के क्षेत्र में कौन से जीन है तथा उनका क्रम विन्यास क्या है। यह ज्ञान बीटा ग्लोबिन जीन क्षेत्र के अध्ययन से हुआ। इस क्षेत्र में 7 जीन पाये गये हैं। इनमें दो सूडो जीन तथा E, Gy, Ay, a एवं p हैं। इसके समकक्षी विन्यांस के 5 प्रकार्यात्मक जीन गोरिल्ला, चिम्पैंजी तथा पुरानी दुनिया के बानरों में पाये गये हैं। इनमें से एक प्रकार्यात्मक जीन नई दुनिया के बानरों में नहीं पाया गया है, इससे इनके पूर्व पृथक्करण का संकेत मिलता है। प्रत्येक ग्लोबिन जीन लगभग 1.5 Kb (Kilobase, 1 Kb = 1000 base pairs) लम्बाई का है। इस जीन–समूह लगभग 60 Kb लम्बाई को रखता है। यथोचित 'प्रोब' (Probes) के प्रयोग से एक स्थल पर 'प्रोब' का संकरण करा करके एक विशेष गुणसूत्र के विशिष्ट क्षेत्र पर जीन की स्थिति जानी जा सकती है। उदाहरणस्वरूप इस तकनीक के प्रयोग से यह जानना सम्भव हुआ है कि गुणसूत्र – II की छोटी भुजा के सेंट्रोमियर के निकट p– ग्लोबिन जीन स्थित है।

इस प्रकार पुनर्संयोजन डी एन ए तकनीक में D N A प्रोब एक महत्वपूर्ण साधन है। किसी भी जीव के जीनोम में एक समान डी एन ए की स्थिति को जानने के लिए डी एन ए 'प्रोब' का प्रयोग किया जा सकता है। यह डी एन ए प्रोब (खण्ड) समान अनुक्रम से संकरण कर सकता है तथा इसकी रेडियोधर्मिता इसकी उपस्थित

का संकेत देती है। ये डी एन ए 'प्रोब' विविध प्रकार के कार्य करते हैं। एक, ये किसी भी सूक्ष्म जीवी या विषाणु के डी एन ए को पहचान सकते हैं। दो, यदि पूर्ण रूप से संकरण न हुआ हों तो उससे उत्पन्न जीन में परिवर्तन या उत्परिवर्तन को ये पहचान सकते हैं। तीन, ये 'प्रोब' डी एन ए फिंगर प्रिंटिंग के प्रयोग में लाये जा सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का डी एन ए विशिष्ट एवं अत्यधिक परिवर्तनीय क्षेत्रों से युक्त होता है जिसमें क्षारों के छोटे–छोटे खण्ड विशिष्ट रूप से अनुलिपित होते है। यदि यह डी एन ए प्रोब (परीक्षण) डी एन ए की उपलब्ध पट्टियों के आधार पर किया गया तो कुछ व्यक्तियों में इसके समान अनुक्रमित होने वाली श्रृंखलाये खोजी जा सकती है जैसे अपराध संज्ञान में इसका प्रयोग किया जाता है। यदि कभी – कभी डी एन ए परीक्षणों का प्रयोग करते हुए यह पाया गया है कि निर्धारित डी एन ए की पर्याप्त मात्रा नहीं है जिससे कि इन तकनीकों का प्रोयग किया जा सके, तो P C R तकनीक (Polymerase Chain Reaction) बहुत ही उपयोगी है जिससे एक जीन की कई हजार प्रतियाँ बनाई जा सकती है।

(ii) आनुवंशिक विकृतियों के परीक्षण

आनुवंशिक विकृतियों के परीक्षण दो विधियों से किये जाते हैं–

(i) प्रत्यक्ष तकनीक

(ii) अप्रत्यक्ष तकनीक

प्रत्यक्ष तकनीक– सर्वप्रथम सामान्य जीन के लिए डी एन ए प्रोब निर्मित किये जाते है। ये 'प्रोब' एक विशेष डी एन ए तकनीक 'प्रोबिंग तकनीक' से बनाये जाते है। इन्हें दो विशेष वर्ग के डी एन ए के संकरण से बनाया जाता है। एक तो उस व्यक्ति का डी एन ए जिसे कोई विकृति है तथा दूसरे सामान्य व्यक्ति के DNA को परस्पर संकरण कराये जाते है। इनसे प्राप्त विशेष अनुक्रम, जिन्हें अंकित कर लिया जाता है, 'प्रोब' के नाम से जाने जाते हैं। सबसे बाद में असामान्य जीन के लिए इनका प्रयोग किया जाता है । इस विधि से कॉनर एवं उनके सहयोगियों ने 1983 में सिकेल– सेल जीन का निर्धारण किया। इन लोगों ने सामान्य b ग्लोबिन जीन एवं सिकेल–सेल जीन के लिए DNA प्रोब का संश्लेषण किया। तत्पश्चात् केवल सामान्य व्यक्ति के DNA को सामान्य ग्लोबिन जीन के लिए संश्लेषित DNA प्रोब के साथ संकरित किया। जो DNA प्रोब सिकिल जीन के लिए संश्लेषित किया गया है उसे किसी सिकिल सेल जीन से प्रभावित व्यक्ति से संकरित करवाया। यह विधि प्रत्यक्ष इसलिए कही जाती है क्योंकि DNA का विश्लेषण प्रतिबन्धी इन्जाइमों के प्रयोग के बिना किया जाता है। यह विधि इस तथ्य पर आधारित है कि यदि जीन किसी एक डी एन ए अणु अथवा डी एन ए के क्षार के कारण विकृत है तो DNA संकरण से पहचान लिया जा सकता है।

प्रत्यक्ष विधि की कुछ सीमायें हैं क्योंकि उसी समय प्रयोग किया जा सकता है जब सामान्य प्रोटीन के विषय में ज्ञान हो। इसके mRNA तथा डी एन ए के न्यूक्लियोटाइड के विषय में भी जानकारी हो। तत्पश्चात् ही इस सूचनाओं के आधार पर विकृत DNA का पता लगाया जा सकता है। इस दृष्टिकोण को अग्रगामी आनुवंशिकी भी कहते हैं क्योंकि प्राप्त सूचनाओं के आधार पर विकारों की खोज की जाती हैं।

अप्रत्यक्ष विधि

जब कोई ऐसा आनुवंशिक विकार हो जिसमें mRNA का ज्ञान न हो, ऐसी स्थिति में DNA स्वरूप में उत्पन्न परिवर्तन का पता लगाया जाता है, तत्पश्चात् विकृत प्रोटीन को खोजा जाता है। चूंकि यह विधि, प्रत्यक्ष विधि के ठीक विपरीत है, इसलिए इसे अप्रत्यक्ष विधि कहते है एवं उपयोग किया गया दृष्टिकोण प्रतिगामी आनुवंशिकी कहा जाता है।

इस विधि से DNA में स्थिति विविधता का अध्ययन किया जाता है। तत्पश्चात् DNA की इस विविधता के सम्बन्ध में निर्दिष्ट रोग से स्थापित किये जाते हैं। यह सम्बन्ध कुछ इस प्रकार से स्थापित किया जाता है जैसे उदाहरणस्वरूप यदि विविधता K, रोग1 से सम्बन्धित किया जाता है तो यह ज्ञात होता

है कि एक व्यक्ति में K स्थित है जिसके साथ रोग I भी उपस्थित है। इस दृष्टिकोण से DNA के प्रतिबन्धी एन्जाइमों के द्वारा खण्ड बनाये जाते हैं। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति 200 क्षारों के बाद हरबार वैषम्य प्रदर्शित करते है तथा प्रतिबन्धी एन्जाइम इन्हें एक निश्चित स्थल पर खण्डित कर देते है। इन सभी में विविधता पाई जाती हैं। इन विविधता को प्रदर्शित करने वाले खण्डों को RFLP (Restriction Fragment Length Polymorphism) कहते हैं। इन बहुरूपता के लिए अनुमान किया जाता है कि 'प्वाइंट म्यूटेशन' या बिन्दु उत्परिवर्तन विलोपन, अभिवृद्धि आदि के कारण उत्पन्न हुई होगी। कैसे भी हो, इन खण्डों को जोल इलेक्ट्रोफोरेसिस या जेल विद्युत परिपथ से पहचाना जा सकता है। ये जब विद्युत परिपथ परसंचलित होते है तो संचलन की गति इनके आकार एवं लम्बाई पर निर्भर करती है। इस परिवर्तन संचलन से इन्हें पहचान लिया जाता है। RFLP अध्ययनों को चार भागों में बाँटा गया है–

1. विलोपन निर्धारक RFLP
2. विकल्पी सहलग्न RFLP
3. संस्थिति सहलग्न RFLP
4. उत्परिवर्तन विशष RFLP

विलोपन निर्धारक RFLP– प्रतिक्रमणी ट्रांसक्रिप्टेज एन्जाइम के प्रयोग के द्वारा mRNA के DNA का संश्लेषम किया जाता है। ग्लोबिन प्रोटीन हेतु एक विशेष प्रकार की रुधिर कोशिका–रेटीकुलोसाइट से प्राप्त किया जा सकता है तथा ग्लोबिन DNA को इसी कोशइका से संश्लेषित कर सकते हैं। इस प्रकार के DNA को cDNA या कॉपी DNA कहते है। ये cDNA के प्रोब थैलासीमिया रोग से सम्बनधित विलोपन में प्रयोग किये जा सकते है। इससे सम्बन्धित भ्रूण के रोगों का भी पता लगाया जा सकता है। भ्रूण DNA का विश्लेषण प्रतिबन्धी एन्जाइम से तथा प्रतिबन्धी खण्डों का पृथक्करण एवं प्रोब निर्माण cDNA से किया जा सकता है।

विकल्पी सहलग्न RFLP– अध्ययनों से यह पाया गया कि अफ्रीकी नीग्रों (कैरीबियन) में Hpa I प्रतिबन्धी एन्जाइम के प्रयोग से 7.0 Kb एवं 7.6 Kb लम्बे खण्ड उत्पन्न हुए जो p – ग्लोबिन जीन से सम्बन्धित होते है। इस समुदाय में इसकी आवृत्ति अत्यधिक कम (3%) है। जबकि सिकेल सेल ग्लोबिन के जीन के खण्ड 13.0 Kb लम्बे पाये गये। इस रोग से सम्बन्धित जीन के प्रतिबन्धी खण्डों की आवृत्ति लगभग 90 प्रतिशत पायी गयी। ये विशेष प्रकार के DNA खण्ड विकल्पी सहलग्न RFlP कहे जाते है।

संस्थिति सहलग्न RFLP– इस प्रकार के अध्ययन DNA प्रोब विधि से किये गये जिसके वंशावली अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि एक RFLP किसी विशेष विकृति से सम्बन्धित है। अन्य परिवारों में इस प्रकार का RFLP पाया-गया लेकिन सभी परिवारों में इसकी आवृत्ति नहीं मिली, जिससे यह संकेत मिलता है कि यह RFLP केवल एक संस्थिति से सहलग्न है न कि एक विकल्पी अथवा जीन से। जिन रोगों मे यह सहलग्न पाया गया है उनमें से प्रमुख थैलासीमिया, ड्यूकीनिन मांसपेशी बहुरूपता, हटिंगटन कोरिया आदि है।

उत्परिवर्तन विशेष RFLP –क्षारों का उत्परिवर्तन प्रतिबन्धी स्थलों में परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है जिससे RFLP में विविधता की और वृद्धि होगी। सिकिल सेल एनीमिया जीन में हुए GAG से GTG का उत्परिवर्तन एक प्रतिबंधी स्थल को दूर हटा सकता है जो स्थल एन्जाइम DdeI (CTNAG) अथवा एन्जाइम mst II (CCTNAGG) के लिए अति महत्वपूर्ण है जहाँ पर आवश्यकतानुसार ये कार्य करते हैं। इस प्रकार प्रतिबंधी एन्जाइम के प्रयोग से उत्परिवर्तन का निर्धारण किया जा सका। इसके निर्धारण के लिए सामान्य DNA तथा पाचित DNA का ग्लोविन DNA प्रोब के क्लोन से सदर्न ब्लाट संकरण विधि का प्रयोग किया जाता है। यह दृष्टिकोण वहाँ उपयुक्त हो सकता है जहाँ एक प्रतिबंधी संथल पर कोई विलोपन देखा जाये। यह P थैलासीमिया में प्रयुक्त नहीं हो सकता। मानव में अभी तक जो 5000 एकल जीन

विकृतियाँ पहचानी गयी है उनमें लगभग 1500 विकृतियाँ क्लोन के प्रयोग वाली पुनर्संयोजन DNA तकनीक प्रयोग की गयी है। इनमें से प्रमुख विकृतियों को यहाँ एक तालिका में दर्शाया जा रहा है–

S.No.	विकृति (Disorder)	आणविक विकृति का स्वरूप	वंशागति
X–सहलग्न :			
1.	हीमोफीलिया – A	जीन उत्परिवर्तन, विलोपन, प्रवेशन	X– सहलग्न अप्रवल
2.	हीमोफीलिया – B	जीन उत्परिवर्तन, विलोपन	”
3.	ड्यूकीन/वेकर मांसपेसी विकलांगता (Becker Mascular dystrophy)	विलोपन	”
4.	क्रानिक ग्रैन्यूलोमैशन रोग विलोपन	”	
अलिंगसूत्री :			
1.	अल्फा –1 एण्टीट्रिप्सिन डिफीसियेंसी	जीन उत्परिवर्तन	अलिंगसूत्री अप्रबल
2.	एण्टी थ्राम्बिक III डिफीसियेंसी	विलोपन	अलिंगसूत्री प्रबल
3.	कांजीनिटल एड्रीनल हापर प्लेसिया ड्यू टु 21 – हाइड्रोजाइलेज डिफीसियेंसी	जीन उत्परिवर्तन	अलिंगसूत्री अप्रबल
4.	सिस्टिक फाइब्रोसिस विलोपन	अलिंगसूत्री अप्रबल	
5.	सबृद्धि हारमोन डिफीसियेंसी (दुर्लभ फेमिलाफार्म, GH एण्टीवाडीज़ के साथ)	विलोपन	अलिंगसूत्री अप्रबल
6.	न्यीरोफाइब्रोमैटॉसिस टाइप I (वॉन रेकलिंघौसेन रोग)	विलोपन	अलिंगसूत्री अप्रबल
7.	आस्टियोजेनेसिस इम्परफेक्टा (टाइप लीथल – नवजातो में)	जीन उत्परिवर्तन, कोलैजन जीन में आंशिक विलोपन	अलिंगसूत्री प्रबल
8.	फिनाइलकीटोनूरिया	जीन उत्परिवर्तन, विलोपन	अलिंगसूत्री अप्रबल
9.	टै–सैक्स रोग	विलोपन, जीन उत्परिवर्तन	अलिंगसूत्री अप्रबल

(iii) RFLP हैप्लोटाइप

यद्यपि एक विशेष प्रतिबन्धी के एक ही स्थल पर डी एन ए के खण्ड किये या नहीं, यह सरलता से पहचाना जा सकता हैं, लेकिन अनेकों विविध प्रकार के एन्जाइमों के प्रयोग से अतिरिक्त विविधता दर्शायी जा सकती है। ये एन्जाइम डी एन ए को कुछ विशेष स्थलों पर अवगुण्ठित करके अपेक्षाकृत निकटवर्ती सहलग्न स्थलों पर खण्डन कर सकते है जिससे हैप्लोटाइप उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक हो सकती है।

आणविक आनुवंशिकी में हेप्लोटाइप प्रतिबन्धी खण्ड स्थलों का वह समूह है जो एक–दूसरे से निकटवर्ती सहलग्नता प्रदर्शित करें तथा किसी जीन से सानिध्य दर्शाये। इस प्रकार RFLP के अतिरिक्त अन्य विविधतायें भी मानव जीनों में खोजी जा चुकी है जो डी एन ए स्तर पर असंख्यों बहुरूपताओं के अस्तित्व की ओर संकेत करता है।

(iv) वैरियेबल नम्बर टेण्डेम रिपीट (VNTR)

(Variable Number Tandem Repeat)

यह आणविक लक्षण सर्वाधिक विविधता प्रदर्शित करता है जिसका कारण एक छोटे DNA अनुक्रम के टैण्डम आवृत्ति की परिवर्तनीय संख्या है। यह परिवर्तनीय संख्या मेंडलीय सिद्धान्तानुसार वंशानुगत होती है। इनकी लम्बाई के विभेद सम्भवतः मीयॉसिस के पुनर्संयोजन अथवा माइटॉसिस विभाजन के समजात क्रोमैटिडों के विनिमय के फलस्वरूप उत्पन्न होते है। ये विभेद डी एन ए पुनरावृत्ति के दौरान रज्जुकी के एक–दूसरे पर लिपटकर फिसलने के कारण भी उत्पन्न हो सकते हैं। यदि आवृत्ति इकाई के DNA अनुक्रम के अन्तर्गत कोई उपयुक्त प्रतिबन्धी एन्जाइम खण्डन न करे तो इनके उपयोग से VNTR के अधिकाधिक विभेदों का अध्ययन किया जा सकता है। ये लक्षण RFLP से बहुत अधिक परिवर्तनीय होते है। मानव में इस प्रकार के कई VNTR पाये गये हैं। उदाहरणस्वरूप ये मानव इंसुलिन जीन के निकटस्थ तथा उल्फा ग्लोबिन संस्थिति पर देखे गये हैं। इनकी अल्फा ग्लोबिन संस्थिति से सहलग्नता एक उस संस्थिति की सहलग्नता का सूचक है जिससे पॉली सिस्टिक किडनी रोग का सम्बन्ध देखा गया है। इस प्रकार इस ज्ञान के आधार पर प्रभावित परिवार में इस रोग की सम्भावना का पता लगाया जा सकता है। मानव के ये अधिकांधिक परिवर्तनीय क्षेत्र सम्पूर्ण जीनोम में विस्तृत हैं। ये लगभग 10–15 क्षार युग्म के मूलानुक्रम (Coresequence) हैं। यदि इन मूलानुक्रमों का 'प्रोब' तैयार कर लिया जाये तथा उनका उपयोग किया जाये, तो इन अधिकाधिक परिवर्तनीय DNA खण्डों के प्रारूप पहचाने जा सकते हैं। यह तकनीक जो जेफरेज के द्वारा विकसित की गयी है वह अनूठी है तथा किसी भी व्यक्ति को पहचानने में विशिष्ट है इसका नाम "फिंगर प्रिंटिग" (Finger Printing) भी है।

विशिष्ट DNA अनुक्रम को तुरन्त पहचानने के लिए 'मिनीसैटलाइट' में इनके पार्श्व में चारों ओर (दाग) देने से इनमें मिनी सैटलाइट में चमक उत्पन्न हो जातीहै जिससे मानव जीनोम में इनकी स्थिति को पहचान लिया जाता है।

मिनी सैटेलाइट, डी एन ए छोटे सूक्ष्म खण्ड हैं जिनकी अनुक्रम की आवृत्ति हजारों होती है। इसलिए ये सूक्ष्म खण्ड अत्यधिक परिवर्तनीय है। ये निकटवर्ती सम्बन्धियों में समानता तथा गैर सम्बन्धियों में पूर्णतः भिन्न होते हैं। इनकी आवृत्ति संख्या की यह भिन्नता, उत्परिवर्तन के द्वारा इनके अनुक्रम आवृत्ति के विलोपन अथवा वृद्धि से उत्पन्न होती है। इसके फलस्वरूप इस बहुरूपता का वैकल्पिक नाम "टैण्डम आवृत्ति की परिवर्तनीय संख्या" या "वैरियेबल नम्बर टैण्डम रिपीट" (Variable Number Tandem Repeat–VNTR) रखा गया है। चूंकि एक या एक से अधिक समान पूर्वज अनुक्रमों से अनेकों आवृत्ति अनुक्रम (Repeated sequences) विकसित होते हैं, अतः प्रत्येक अतिपरिवर्तनीय संस्थिति अन्य संस्थितियों से भी कुछ अनुक्रम समानता रखते है। यह तथ्य तब प्रदर्शित किया जा सकता है जब इन समान संस्थियों का "एक प्रोब" के समान उपयोग करके पहचाने जाने वाले अनुक्रमों के साथ संकरण कराये। जेफरेज एवं उनके सहयोगियों ने 1985 में 'बहुसंस्थिति प्रोब' (Multi–locus probes) का वर्णन किया। ये प्रोब मायोग्लोबिन जीन के इन्ट्रान (Intron of Myoglobingene) तथा अन्य अलिंगसूत्री जीन के संकरण से उत्पन्न किये गये। फाउलर एवं उनके सहयोगियों ने 1988 में उपयुक्त प्रोब को इसुलिन तथा (α) ग्लोबिन से उत्पन्न किये। ये चूंकि गैर–सम्बन्धी इस प्रकार की संख्या आवृत्ति में भिन्नता रखते थे, इसलिए डी एन ए खण्ड जो व्यक्तियों के डी एन ए से उत्पन्न किये जाते हैं, वह भी असमान लम्बाई के होंगे। ये जेल इलेक्ट्रोफोरेसिस से पृथक

किये जा सकते हैं। इन संख्या आवृत्ति में विभिन्नता के कारण दोनों DNA पूर्णतः भिन्न प्रारूप देंगे। इसके विपरीत यदि दोनों सगे सम्बन्धी हों, तो DNA प्रोफाइल अत्यधिक समान होंगे। डी एन ए प्रारूपों की समानता का स्तर सम्बन्धों की निकटता पर निर्भर करती है। DNA प्रारूपों की यह समानता तथा विषमता सदर्न ब्लाटिंग तकनीक से निर्धारित की जा सकती है। इस प्रकार प्राप्त DNA फिंगर प्रिंट के अभिलेख किसी अपराधी या वैयक्तिक पहचान हेतु सुरक्षित रखे जा सकते हैं। DNA प्रोफाइल का इसके अतिरिक्त भी कई क्षेत्रों में उपयोग किया जा सकता है।

(v) CA आवृत्तियाँ

अत्याधुनिक अनुसंधानों से यह ज्ञात हुआ है कि मानव जीनोम में लगभग 50.1 लाख टैण्डम आवृत्तियों की परिवर्तनीय संख्याओं के समूह स्थित हैं। यह समूह डाई न्यूक्लियोटाइड – CA : GT के सूक्ष्म टैण्डम आवृत्तियाँ हैं। इन्हें 'CA आवृत्तियाँ' के नाम से जाना जाता है। इन आवृत्तियों की विशेषता यह है कि एक युग्मनज यमजों के अतिरिक्त किन्हीं भी दो व्यक्तियों में एक समान नहीं होती। वंशावली अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि ये आवृत्तियाँ मेण्डलीय सिद्धान्तों के अनुसार ही वंशानुगत होती है। अध्ययनों से यह भी ज्ञात हुआ है कि ये आवृत्तियाँ मानव रोगों की अनुमानित संस्थिति से भी सह–सम्बन्ध रखती है।

(vi) भ्रूण डी एन ए परीक्षण
(Foctal DNA Diagnosis)

पुनर्संयोजन डी एन ए तकनीक में युवाओं/प्रौढ़ों के DNA उनकी रुधिर कोशिकाओं, ब्यूकल स्मियर आदि से प्राप्त किया जाता है। लेकिन जन्मपूर्व परीक्षण हेतु भ्रूण का DNA प्राप्त करना पडता है। इसे एम्नियोसेंटेसिस (Amniocentesis) विधि से निकाला जाता है। लेकिन यह विधि पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि इस विधि से गर्भ धारण की पूर्व अवस्था में DNA प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसकी वैकल्पिक तकनीक कोरियानिक विली (Chorianic Villi) की 'वायोप्सी' (Biopsies) है। इस तकनीक से प्रथम तीन माह में गर्भ DNA प्राप्त किया जा सकता है। इस तकनीक में एक इण्डोस्कोपी उपकरण को गर्भाशय में प्रवेश करा करके कोरियानिक बिली की बयोप्सी प्राप्त कर ली जाती है। शुद्ध भ्रूण का लगभग 100 ug डी एन ए गर्भधारण के छठे अथवा दसवें माह में प्राप्त कर सकते है। इस तकनीक की सफलता के लिए PCR या पालीमरेज चेन रिएक्सन विधि का अनूठा योगदान है। जिसके फलस्वरूप कम से कम मात्रा में प्राप्त डी एन ए का विश्लेषण सम्भव हो सकता है। वुगावन एवं उनके सहयोगियों ने 1988 में भ्रूण परीक्षण द्वारा यह सिद्ध किया कि डी एन ए विश्लेषण के लिए भ्रूण कोशिकाओं का संवर्धन (Culture) आवश्यक नहीं है। कोगन एवं उनके सहयोगियों (1987) ने DNA शुद्धीकरण को अनावश्यक बताते हुए भ्रूण के डी एन ए खण्डों को Y–गुणसूत्र के लिए पहचानने में सफल हुए। इससे भ्रूण परीक्षण त्वरित गति से सम्भव हो गया है।

***

19

जन–आनुवंशिकी की अवधारणा

किसी लक्षण की वंशागति के क्रियाविधि का अध्ययन आनुवंशिकी में किया जाता है। जब किसी लक्षण अथवा अनेकों लक्षण की वंशागति की क्रियाविधियों का अध्ययन जनसंख्या या जनसमुदाय के स्तर पर किया जाये तो इस अध्ययन शाखा को 'जन–आनुवंशिकी' (Population Genetics) कहा जाता है। इसमें जब किसी जनसंख्या में किसी एक लक्षण का पता चलता है तो प्रायः कुछ प्रश्नों का समाधान खोजा जाता है यह लक्षण कैसे उदविकसित हुआ ।जनसंख्या में इसकी कितनी आवृत्ति है ।यह आवृत्ति किसी एक जनसंख्या में अधिक तथा दूसरी में कम क्यों है ।क्या यह लक्षण भविष्य में भी अस्तित्ववान रहेगा। अथवा नहीं ।यह जनसंख्या में घटता बढता कैसे है आदि।दूसरे शब्दों में जन–आनुवंशिकी का उद्देश्य किसी जन–समुदाय की जीनी संरचना, तथा उससे सम्बन्धित नियम तथा सिद्धान्तों का अध्ययन करना है जो उस संरचना का नियन्त्रण एवं स्वरूप प्रदान करते हैं।

प्रत्येक जनसमुदाय विभिन्न जीन प्ररूपों से बने होते है। ये जीन प्ररूप एक समुदाय में अपनी निश्चित आवृत्ति रखते हैं। लेकिन जन–आनुवंशिक अध्ययन की आधारभूत इकाई एक 'जीन' है न कि 'जीनप्ररूप'। वस्तुतः जीनप्ररूप किसी जीन का आनुवंशिक स्वरूप होता है। वह जीन का एक भाग है। जीन के दूसरे भाग को लक्षण प्ररूप (Phenotype) कहते हैं। किसी भी जीन का व्यक्त रूप लक्षण प्ररूप कहलाता है तथा जीनी स्वरूप 'जीन–प्ररूप' कहा जाता है। प्रत्येक जनसमुदाय इन्हीं जीनी प्ररूपों के विशिष्ट समूहों द्वारा पहचाना जाता है। अतः किसी जनसमुदाय की आनुवंशिकी को समझने के लिए जीन आवृत्ति के आंकडे एक आवश्यक तथा प्राथमिक आवश्यकता है।

कॉवली स्फोर्जा एवं बाडमर (Cavalli–sforza and Bodmer 1971) के शब्दों में "जन आनुवंशिकी वंशानुगत लक्षणों की विविधताओं के स्रोत एवं स्वभाव से सम्बन्धित हैं। इसमें जनसमुदाय के किसी लक्षण हेतु उत्तरदायी जीन की असृप्ति के परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। उन परिस्थितियों का भी अध्ययन किया जाता है जिसमें आनुवंशिक संतुलन उदविकासीय बलों से प्रभावित होते हैं।"

इस प्रकार यह इंगित होता है कि जन–आनुवंशिकी, आनुवंशिकी की वह शाखा है जो एक जनसंख्या में होने वाले आनुवंशिक तथा उदविकासीय बलों के प्रभावों का अध्ययन करता है। इसके अध्ययन की विधियाँ प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित आनुवंशिकी सिद्धान्तों तथा मानव जनसंख्या की सीमा रेखा से सम्बद्ध होती है। इसमें जनसंख्या का विशेष महत्व होता है। यह तब तक अध्ययन के योग्य नहीं होती जब यह सुनिश्चित न हो जाये कि प्रस्तावित जनसंख्या एक मेंडलीय जनसंख्या है। अतः "मेंडलीय जनसंख्या" जन–आनुवंशिकी की मौलिक आवश्यकता है। इसे डाब्जान्सकी (Dobzhansky) ने इस प्रकार परिभाषित किया है–

"यह अन्तर्जनित व्यक्तियों का वह प्रजननात्मक समुदाय है जिसका जीनपूल एक ही होता है।"

किसी मेण्डलीय जनसंख्या में अनेक छोटे–छोटे उप मेंडलीय जनसमूह हो सकते है। स्पीसीज (Species) एक सर्वाधिक बडा जनसमूह है। प्रत्येक स्पीसीज एक दूसरे से भिन्न इस लिये होते है क्योंकि प्रत्येक जनसमुदाय के जीनपूल में भिन्नता पायी जाती है। 'जीनपूल' या जीन समष्टि किसी प्रजननशील जनमसूह के सभी जीनों का समूह होता है। मानव प्रजातियाँ, मेंडलीय जनसंख्या के जीवन्त दृष्टान्त हैं। ये मानव प्रजातियाँ जीनपूल की भिन्नता के कारण एक दूसरे से भिन्न होती हैं। ये भिन्नतायें सामान्यता लक्षण प्ररूप में ही परिलक्षित होती है। लेकिन इन जनसंख्याओं के मध्य जीन विनिमय निरन्तर रूप से होता है जिससे जीनपूलों में सम्भावित एवं वास्तविक जीन प्रवाह होता रहता है।

मेण्डलीय समुदाय की महत्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि इनका प्रजनन पृथक् होता है। इसके सदस्य अपने वैवाहिक सम्बन्ध उसी समूह में करते है। साधारणतया प्रजननशील पृथक् समूह जनांकिकी के आधार पर अत्यन्त छोटा होता है। इनकी प्रजनन पृथकता कई कारकों पर निर्भर करती है। इन कारकों में भौगोलिक अवरोध अत्यन्त सुस्पष्ट कारक है। इसके अतिरिक्त धार्मिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक कारक होते हैं। भौगोलिक बाधाओं के कारण पृथक् प्रजनन के अनेकों उदाहरण है जैसे– ग्रीन लैण्ड के एस्कीमों, प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र के पिटकैर्न, बंगाल की खाडी में अण्डमानीज आदि। धार्मिक तथा सांस्कृतिक अवरोध के कारण फिलिस्तीन के समारिटन तथा भारत स्थित कोचीन के यहूदी मिल नहीं पाते। वे जनसमुदाय जो फ्रेंच, जर्मन, इटालियन, रसियन आदि भाषायें बोलते है, अन्य किसी जनसमूह से विवाह करना उचित नहीं मानते।

एक **मेण्डलीय समूह** में सन्तानजनन हेतु सक्षम एवं सुयोग्य युगल होते है फलस्वरूप दूसरे समस्त सदस्य वैवाहिक, पितृजता अथवा समान वंशजता के बन्धनों से संयुक्त होते है। मेन्डलीय समूह का जीवन्त दृष्टान्त स्वयं मानव जाति है। जिसकी जनसंख्या विशाल है। इससे छोटी मेंडलीय जनसंख्या– वर्तमान मानव प्रजातियाँ हैं। मानव प्रजातियाँ पुनः और छोटे मेंडलीय समूहों में विभक्त होती हैं जैसे– भाषाई, धार्मिक, राष्ट्रीय, आर्थिक, आदि। अतः भाषाई, धार्मिक, राष्ट्रीय, आर्थिक आदि समूह मेण्डलीय समूह हो सकते है यदि उस समूह के समस्त सदस्य परस्पर वैवाहिक या रक्त सम्बन्धों से जुडे हों। भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) मेण्डलीय जनसंख्यायें हैं। प्रत्येक जातियाँ तथा जनजातियाँ अन्तर्विवाही होती हैं, ये सभी विशिष्ट मेण्डलीय जनसंख्यायें हैं। इन जातियों में भी वैवाहिक पृथकता पायीजाती है जिससे एक जाति में ही कई मेण्डलीय समूह पाये जाते हैं उदाहरणस्वरूप ब्राह्मण जाति में कान्यकुब्ज, सरयूपारी, सनाढ्य आदि पृथक्–पृथक् अन्तर्विवाही समूह हैं। ये समूह दूसरे ब्राह्मण समूहों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। इन समूहों में अपने समूह के सदस्यों में ही विवाह–सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति पायी जाती है।ये सभी समूह मेण्डलीय जनसंख्यायें है। क्षत्रियों या राजपूतों में वैवाहिक परम्परा भिन्न होती है। इनमें अनेकों वंश होते हैं। सभी वंश बहिर्विवाही है। लेकिन क्षेत्रीयता के आधार पर इस जाति में कई उपसमूह दृष्टिगत होते है जैसे– मैदानी भाग (गंगा–यमुना मैदानी क्षेत्र) के राजपुत हिमालयवर्ती पहाड़ी क्षेत्रों के राजपूतों में विवाह की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। राजपूताना क्षेत्र (राजस्थान) के क्षत्रिय पश्चिमी बंगाल, उडीसा के कथित क्षत्रियों में विवाह नहीं करते। अन्य शब्दों में क्षत्रिय जाति में भौगोलिक बाधाओं, क्षेत्रीयता आदि के आधार पर कई समूह एवं उपसमूह होते हैं, जिन्हें मेण्डलीय समूह कह सकते हैं। इसी प्रकार वैश्य एवं शूद्रों में असंख्यों मेण्डलीय समूह हैं। ये सभी समूह पृथक् एवं विशिष्ट जीनपूल या जीन–समष्टि को प्रदर्शित करते है जिसके फलस्वरूप इन समूहों में आकारिक एवं आनुवंशिक भिन्नतायें पाई जाती है जैसे राजपूताना के क्षत्रिय लम्बे, श्वेतांग, लम्बी एवं ऊँची नासिक वाले होते हैं जबकि बंगाल क्षेत्र के कथित क्षत्रिय मध्यम कद, श्यामल तथा छोटी एवं दबी नाक आदि लक्षणों को प्रदर्शित करते हैं। मैदानी क्षेत्र के क्षत्रिय मध्यम कद, श्वेत–श्याम त्वचीय रंग के होते है जबकि हिमालय क्षेत्रीय कथित क्षत्रिय छोटे कद, श्वेतपीत त्वचीय रंग के लक्षणों को प्रदर्शित करते हैं। ये सभी आकारिक भिन्नतायें इनके विशेष 'जीनपूल' के कारण प्रदर्शित होती हैं। इनका यह जीनपूल सदैव स्थायी नहीं रहता। अपितु इसमें कई आनुवंशिक एवं पर्यावरणिक कारणों से परिवर्तन होता रहता है।

यह स्पष्ट है कि मेण्डलीय जंनसंख्या, जन–आनुवंशिकी की एक खुली प्रयोगशाला है। आनुवंशिक प्रयोगशाला में जिस प्रकार एक अनुसंधानकर्ता अपनी इच्छानुसार पौधों में जन्तुओं में मिलन करवाता है। अपने प्रयोग को संचालित तथा नियन्त्रित करता है, वे प्रयोग मानव जनसंख्या में सम्भव नहीं है। इसमें प्रयोगशाला अनुसंधानकर्ता न तो संचालन कर सकता है और न ही नियन्त्रिण कर सकता है। ये प्रयोगशाला स्वतः संचालित होती है। उस समुदाय के वैवाहिक रीति–रिवाजों से संचालित होती है तथा सांस्कृतिक एवं सामाजिक संरचना के नियमों के अनुसार नियन्त्रित होती है। अतः मेण्डलीय जनसंख्या का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व विवाह या मिलन–प्रतिरूप है। किसी भी मानव समुदाय का मिलन प्रतिरूप उसके जीनपूल

के स्थायित्व अथवा परिवर्तन का नियन्त्रण करता है। जिस प्रकार जन–आनुवंशिकी के अस्तित्व की कल्पना मण्डलीय जनसंख्या के बिना नहीं की जा सकती है उसी प्रकार मिलन–प्रारूप (अन्तर्विवाह) के बिना मेण्डलीय जनसंख्या की कल्पना मात्र भी नहीं की जा सकती है।

जैसा कि यह बताया जा चुका है कि मेण्डलीय जनसंख्या के जीनपूल, उस जनसंख्या की समस्त जीनी आवृत्तियों का योग है। दूसरे शब्दों में किसी जनसंख्या के प्रजननशील समूह की सभी प्रकार की 'जीन–आवृत्तियों' का संकुल 'जीन–पूल' या 'जीन–समष्टि' कहा जाता है, इसलिए 'जीन–पूल' को समझने के लिए 'जीन–आवृत्ति' (gene frequency) को जान लेना आवश्यक होगा।

जीन आवृत्ति
(Gene Frequency)

इसके पूर्व यह स्पष्ट किया गया था कि मनव समूह में पाये जाने वाले प्रत्येक आनुवंशिक लक्षण किसी न किसी 'जीन' से सम्बद्ध होते हैं। वे लक्षण जो आकारिक हैं, किसी न किसी जीन समूह से सम्बद्ध होते हैं। आकारिक लक्षण के लिए कितने जीन सम्बद्ध होते हैं, इसका अनुमान करना अत्यन्त कठिन तथा विवादग्रस्त है। आनुबंशिक लक्षण, चूंकि किसी एक जीन से नियन्त्रित होते हैं इसलिए इसका लक्षण प्ररूप (Phenotype) तथा जीन–प्ररूप (Genotype) सरलता से ज्ञात किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप कुछ मानवों में 'फिनाइल–थायो–कार्बामाइड घोल' (Phenyl–Thio–Carbamide Solution) की स्वादक क्षमता होती है, कुछ व्यक्ति इस रसायन घोल को चखने में पूर्णतः अक्षम होते हैं। यह स्वादक क्षमता के लिए उत्तरदायी जीन को 'T' से सम्बोधित किया जाता है। इस जीन के दो विकल्पी –T एवं t होते हैं। T– विकल्पी, प्रभावी तथा अप्रभावी विकल्पी –t होता है। इस जीन के दो लक्षण प्ररूप– स्वादन एवं अस्वादन क्षमता है जबकि तीन इनके जीन प्ररूप TT, tt तथा Tt होते हैं।

आनुवंशिक लक्षणों के लक्षण प्ररूप को ज्ञात करना सरल है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष रूप से पता लगाया जा सकता है लेकिन प्रत्यक्ष रूप से जीन प्ररूप का ज्ञान विरले ही हो पाता है क्योंकि यह सुनिश्चित करना अत्यन्त कठिन है कि कौन सा युग्म किन–किन जीनों को समावेश किये हुए है। ऐसी स्थिति में एक जीन के अवलोकित लक्षण प्ररूप की आवृत्ति से निष्कर्ष निकाला जाता है। यदि अप्रभावी समयुग्मजी के लक्षण प्ररूप की आवृत्ति ज्ञात होती है, तो इसके आधार पर इसके जीन–प्ररूप की आवृत्ति ज्ञात की जा सकती है।

यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जनसंख्या आनुवंशिकी में दो प्रकार की आवृत्तियों की अवधारणा प्रस्तुत की गयी है– पूर्ण आवृत्ति (Absolute Frequency) तथा सापेक्ष आवृत्ति (Relative Frequency)। उदाहरण के लिए यदि हम एक द्विगुणित जनसंख्या में एक जीन के दो विकल्पी –A तथा a मान लें तो इसके जीनी प्ररूप AA, Aa तथा aa होंगे। इनकी दोनों आवृत्तियाँ इस प्रकार होंगी–

जीन प्ररूप	पूर्ण आवृत्ति	सापेक्ष आवृत्ति
AA	N1	P11 = N1/N
Aa	N2	P12 = N2/N
aa	N3	P22 = N3/N
योग	**N**	**1**

इस तालिका में तीनों जीन प्ररूपों की पूर्ण आवृत्ति क्रमशः N1, N2 तथा N3 है जबकि सापेक्ष आवृत्ति P11, P12 तथा P23 है। यहाँ पर यदि A जीन (विकल्पी) की आवृत्ति 'p' है तथा q a जीन (विकल्पी) की आवृत्ति है तो–

$p = p11 + 1/2P12$ एवं $q = P22 + 1/2P12$ है

जहाँ $p + q = 1$ हैं।

एक मेण्डलीय जनसंख्या में जीन प्ररूपों की सापेक्ष आवृत्तियाँ परिवर्तित हो सकती हैय ह आवृत्ति परिवर्तन या तो किसी विशेष जीन आवृत्ति के परिवर्तन से होता है या उस जनसंख्या के किसी विशेष मिलन प्रारूप को स्वीकार लेने से होता है। किसी एक विशाल मेण्डलीय जनसमुदाय की जीन आवृत्ति में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी तीन प्रमुख उदविकासीय बल– उत्परिवर्तन, वरण एवं प्रसरण होते हैं। अन्तः प्रजनन, अयादृच्छिक मिलन आदि सामाजिक मिलन व्यवस्थायें प्रत्यक्ष रूप से जीन–प्ररूप की आवृत्ति को परिवर्तित करते हैं भले ही जीन अपसरण, पृथक्करण तथा संकरण उदविकासीय बल हैं जो किसी भी मेण्डलीय जनसंख्या की जीन आवृत्ति में परिवर्तन ला सकते हैं। इनमें जीन अपसरण उस समय अधिक सक्रिय होता है जब किसी मेण्डलीय समूह की जनांकिसी छोटी हो।

जीन आवृत्ति का आंकलन हार्डी वीनवर्ग सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक जनसंख्या की जीन आवृत्तियाँ पीठी दर पीढ़ी स्थायी रहती है यदि उन पर उद्विकासीय बलों का प्रभाव न हो। इस सिद्धान्त की सर्वसम्मत मान्यता से एक जनसंख्या की जीन आवृत्तियाँ की कुछ विधियाँ प्रस्तावित की गयीं।इन विधियों में 'बर्नस्टीन पद्धति' (Bernstien Method) अत्यधिक सरल एवं प्रत्यक्ष साख्यकीय विश्लेषणों पर आधारित है। इस विधि में हागवेन, हाल्डेन, फिशर, राइट्स आदि प्रख्यात जन–आनुवंशिकी के प्रणेताओं ने संशोधन किये। इस प्रकार इस विधि का अनुसरण करते हुए किसी जनसंख्या में जीन आवृत्ति का आंकलन करना चाहें, तो आनुवंशिकी के सांख्यकीय अनुपातों को आधार मानना होगा। इस सांख्यकीय सम्भावना के अनुसार अप्रभावी समयुग्मजी का अनुपात 1/4 होता है। इस प्रकार यदि अप्रभावी समयुग्मजी जीन की पूर्ण आवृत्ति ज्ञात कर ली जाय, तो उसकी सापेक्ष आवृत्ति सरलता से आंकलित की जा सकती है क्योंकि यदि–

यदि $p + q = 1$

तो $(p + q)^2 = 1 = p2 - 2pq + q2 = 1$

$p2 = 1 - q2 - 2pq$

एवं $q2 = 1 - p2 - 2pq$

उदाहरणस्वरूप विहार की उरांव जनजाति में स्वादक 65 प्रतिशत एवं अस्वादक 35 प्रतिशत है। अप्रभावी समयुग्मजी जीन की आवृत्ति निम्न प्रपकार से आंकलित की जायेगी।

यदि $tt = (1 - q)2$

$= :35$

$t = .35$

$= 0.59$

चूंकि स्वादक जीन के दो विकल्पी होते है तो प्रभावी विकल्पी की दर इस प्रकार ज्ञात की जा सकती है–

$p2 = (0.41)2$

$= 1 .59$

$= 0.41$

उक्त प्रभावी विकल्पी की आवृत्ति के आधार पर प्रभावी समयुग्मजी TT की आवृत्ति ज्ञात कर सकते हैं–

$p2 = (0.41)2$

$= .1681$

फिर विषम युग्मजी Tt की आवृत्ति इस प्रकार होगी–

$2\,pq = 1 - p2 - q2$

$= 1 - .1681 - .3500$

अतः $= 0.4819$

इस प्रकार उक्त वर्नस्टीन पद्धति का अनुसरण करते हुए किसी भी जीन आवृत्तियों को ज्ञात किया जा सकता है। यदि किसी जीन को ज्ञात विकल्पी दो से अधिक हैं जैसे– बहुविकल्पी ABO, Rh आदि। तो उसकी आवृत्ति के आंकलन का मान निम्न प्रकार से निकाला जा सकता है–

$p + q + r + \text{———————} = 1$

हार्डी–वीनबर्ग सिद्धान्त

जन–आनुवंशिकी के क्षेत्र में सन् 1908 में दो वैज्ञानिकों ने अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान किया। दोनों व्यक्तियों ने स्वतन्त्र रूप जनसंख्या में जीन आवृत्तियों के विश्लेषण की सरल गणितीय विधि विकसित की। ये दोनों महान विशेषज्ञ क्रमशः इंग्लैण्ड एवं जर्मनी के थे। ये दोनों जी. एच. हार्डी (G.H. Hardy) इंग्लैण्ड के एक सुयोग्य गणितज्ञ थे तथा विलहेम बीनबर्ग (Eilhelm Weinberg) जर्मनी के एक प्रसिद्ध चिकित्साविद थे। यद्यपि उस समय इनका यह महान योगदान मेंडलीय आनुवंशिक सिद्धान्तों पर कार्य करने वाले आनुवंशिकविदों के द्वारा नहीं जाना गया, लेकिन कालान्तर में बीसवीं शदी के तीसरे दशक के पश्चात् जनसंख्याओं में जीन वितरण से सम्बन्धित अध्ययनों का महत्वपूर्ण भाग बन गया।

इस सिद्धान्त के अनुसार एक जनसंख्या में विकल्पी एक–दूसरे से सम्बन्धत स्थापित करते हुए एक सन्तुलन (Equalibrium) स्थापित करते हैं। उदाहरणस्वरूप यदि दो विकल्पी किसी विशाल एवं पृथक् जनसंख्या में समान अनुपात में घटित होते हैं उनमें से एक का वरण दूसरे की अपेक्षा अधिक न हो, उनमें से एक विकल्पी दूसरे की भाँति प्रायः उत्परिवर्तित न हो, तो सिद्धान्त की अपेक्षानुसार पीढ़ी दर पीढ़ी ये विकल्पी समान अनुपात में बने रहेंगे। इनमें से चाहे कोई विकल्पी प्रभावी हो तथा दूसरा अप्रभावी या दोनों सह–प्रभावी हों, इसका प्रभाव इस जीनी सन्तुलन (genetic equalibrium) पर नहीं पड़ेगा। चूंकि यह सत्य है कि हम जन–आनुवंशिक अध्ययनों में किसी विशाल एवं पृथक् जनसंख्या का 'प्रतिदर्श समूह' (Sample population) का ही अध्ययन कर पाते है, सम्पूर्ण जनसंख्या का नहीं, फिर भी यह जीनी सन्तुलन इन अध्ययनों मे व्यावहारिक एवं उपयोगी हैं क्योंकि एक प्रतिदर्श समूह पूर्ण रूप से एक विशाल जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता है। अतः प्रतिदर्श समूह चयन गणितीय विधि सम्मत अध्ययन की तकनीक है।

संक्षेप में, यह सिद्धान्त अत्यन्त वस्तुनिष्ठ एवं सन्तुलित है, यदि निम्न अवधारणायें साकार हो–

(i) जीनी आवृत्ति में उत्परिवर्तन, वरण एवं प्रसरण के कारण से कोई परिवर्तन न आयें,

(ii) जनसमूह संख्या में विशाल हो, तथा

(iii) एक जीन प्ररूप के प्रत्येक सदस्य को किसी दूसरे जीन–प्ररूप के प्रत्येक सदस्य से मिलन सम्बन्ध स्थापित करने में उन्हें समान अवसर प्राप्त हो।

उक्त अवधारणाओं के घटित होने पर जनसंख्या की जीन–आवृत्ति पीढ़ी दर पीढ़ी स्थिर हो जायेगी। लेकिन प्राकृतिक मानव–जनसंख्याओं में उक्त अवधारणा विरले ही साकार हो पाती है। उक्त में से निम्न दोनों अवधारणायें परस्पर विरोधाभासी हैं क्योंकि (i) विशाल जनसंख्या में प्रत्येक जीन आवृत्ति के प्रत्येक सदस्य कभी भी एक विशेष व्यक्ति से मिलन सम्बन्ध स्थापित करने के समान अवसर कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते (ii) मिलन व्यवस्था पर भौगोलिक विस्तार, बाधाओं एवं सामाजिक–सांस्कृतिक तथा आर्थिक प्रतिमानों का प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है।

यदि हार्डी वीनवर्ग सिद्धान्त का प्रयोग जीन आवृत्ति की गणना में करे तो द्विनामी सन्तुलन (Binomial equation) के अनुसार दो विकल्पी (A, a) वाले जीन की आवृत्ति p तथा q है तो इसके जीन प्ररूप की आवृत्ति में संख्यात्मक अनुपात निम्न प्रकार का होगा–

p + q – 1 (A + a = 1)

चूं कि प्रत्येक जीन के जीन प्ररूप में दो विकल्पियों की संहति होती है। इनका विकल्पी स्वरूप प्रभावी (AA) तथा अप्रभावी (aa) होता है। इन भिन्न विकल्पी संहति वाले दो स्त्री–पुरुष जब सहवास करते हैं तो इनसे तीसरी पीढी में तीन प्रकार के विकल्पी रूप प्राप्त होते हैं, प्रभावी समयुग्मजी (AA) अप्रभावी समयुग्मजी (aa) विषमयुग्मजी (Aa)। इस प्रकार जनसंख्या में यह तीन विकल्पी रूप पाये जा सकते हैं। उस जनसंख्या में इनके तीन प्ररूपों की आवृत्ति इस प्रकार होगी–

जीन प्ररूप	AA	Aa	aa	= 1
आवृत्ति	p2	2pq	q2	=1

हार्डी–वीनबर्ग के सिद्धान्त के अनुसार उक्त विकल्पियों के मिलन अगली पीढी में भी स्थायी होंगे। इनके मिलन प्रारूप निम्न तालिका में प्रदर्शित किये जा रहे हैं–

दिभिन्न प्रकार के मिल (संगमों) की आवृत्तियाँ

		AA	Aa	aa
		p2	2pq	q2
AA	p2	p4	2p3q	p2q2
Aa	2pq	2p3q	4p2q2	2pq3
aa	q2	p2q2	2pq3	q4

उक्त तालिका से प्राप्त मिलन आवृत्तियों के आधार पर जब सन्ततियों में निर्दिष्ट जीन की आवृत्ति देखी जाती है तो उसमें कोई परिवर्तन नहीं पाया गया।इसके अनुपात को निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है–

मिलन प्रकार तथा सन्ततियों के जीन प्ररूप

माता/पिता	मिलन प्ररूप (आवृत्तियाँ)	सन्ततियाँ आवृत्तियाँ		
		AA	**Aa**	**aa**
AA x AA	p4	p4	--	--
Aa x AA	4p3q	2p3q	2p3q1	--
Aa x Aa	4p2q2	p2q2	2p2q2	p2q1
aa x Aa	4pq3	--	2pq3	2pq3
aa x aa	q4	--	--	q4
Total	$(1)^2$ =	$(p^2$	2pq	$q^2)^2$

इस प्रकार उक्त तालिका से यह प्रमाणित होता है कि पीढी दर पीढी (सन्ततियों) में भी जीन-प्ररूपों की आवृत्ति उसी अनुपात में स्थिर रहती हैं जिस अनुपात में यह जनकों में पायी जाती है। इस सिद्धान्त का उपयोग बहुविकल्पियों- ABO, Rh, MNs आदि में भी किया जा सकता है।

हाडी वीनबर्ग सिद्धान्त तथा यादृच्छिक मिलन

(Hardy Weinberg Law and Random Mating)

हार्डी वीनबर्ग सिद्धान्त मुख्य रूप से तभी सत्य प्रमाणित हो सकता है जब किसी जनसंख्या में यादृच्छिक मिलन व्यवस्था (Random mating) हो, जब किसी जनसंख्या में यादृच्छिक लैंगिक मिलन की व्यवस्था उस समुदाय की एक परम्परा है तथा उदविकासीय बलों का प्रभाव शून्य हो तो इस सिद्धान्त के अनुसार जीन आवृत्तियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी स्थिर रहेंगी। लेकिन मिलन व्यवस्था के अनेकों रूप ऐसे हैं जो यादृच्छिक प्रकार से विचलित या भिन्न होते हैं। ये मिलन, जो पूर्णतः यादृच्छिक नहीं हैं, इन्हें आयादृच्छिक मिलन कहते हैं। अयादृच्छिक मिलन, यादृच्छिक मिलन के विपरीत मिलन व्यवस्था है। चूंकि वर्तमान मानव जनसंख्याओं में यादृच्छिक मिलन व्यवस्था का प्रचलन विरले ही घटित होती है अतः इससे यह संकेत मिलता है कि मिलन व्यवस्था के विचलक (अयादृच्छिक मिलन) आनुवंशिक संतुलन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।

अयादृच्छिक मिलन

(Non-rendom Mating)

चाहे मनुष्य जिस कारण से भी विवाह या लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करता हो, इन सम्बन्धों के अनेकों कारण होते है जिन्हें उल्लिखित करना कठिन है। हो सकता है किसी पुरुष को किसी युवती के बाल अच्छे लगते हो, किसी को उसकी मुस्कान, किसी को जंघाये, किसी को वक्षस्थल आदि अनेकानेक कारण हो सकते हैं जिसके फलस्वरूप एक युवक किसी से लैंगिक सम्बन्ध या विवाह करने के लिए अथक प्रयास करता है। इसके विपरीत एक युवती भी अपने मनपंसद वर या युवक के साथ सहवास करने की इच्छा रख सकती है।. लेकिन युवक एवं युवती के मध्य लैंगिक सम्बन्धों को सामाजिक वैधता विवाह के द्वारा ही प्रदान की जाती है। कभी-कभी ये लैंगिक सम्बन्ध विवाहेतर सम्बन्धों की श्रेणी में आते हैं जब युवक एवं युवती विवाह के पूर्व अथवा पश्चात् भी लैंगिक सम्बनध बनाये रखते हैं। कभी-कभी कोई समुदाय इन सम्बन्धों को मान्यता देता है, कभी-कभी इन सम्बन्धों के प्रति कठोर बर्ताव किया जाता है। कुछ ऐसे भी मानव समाज है, जो वैवाहिक नियमों को कठोरता से व्यावहारिक बनाते हैं तथा युवक/युवती अपनी स्वेक्षा प्रकट नहीं करते। कुल मिलाकर इन सभी वैवाहिक/लैंगिक सम्बन्धों को पूर्वाग्रह एवं परम्परायें ही नियन्त्रित एवं संचालित करती हैं। ये सभी मिलन- सम्बन्ध, अयाच्छिक मिलन कहलाते हैं।

अयादृच्छिक मिलन मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं-

(i) चयनित मिलन (Assortative Mating)

(ii) अन्तः प्रजनन (Inbreeding)

(i) चयनित मिलन

चयनित मिलन का तात्पर्य उन विवाहों/लैंगिक सम्बन्धों से है जिसके लिए वह समुदाय समान या

असमान लक्षणों वाले व्यक्तियों के विवाह/सहवास के लिए प्राथमिकता प्रदान करता है। जब चयनित लैंगिक मिलन समान वाह्य शारीरिक लक्षणों में हों, तो ऐसी मिलन व्यवस्था को **भावात्मक चयनित मिलन (Positive Assortative Mating)** कहते हैं। उदाहरणस्वरूप अनेक अध्ययनों से यह पता चला है कि औपचारिक शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों में यह प्रवृत्ति होती है कि वे औपचारिक शिक्षा प्राप्त वर/वधु या युवक/युवती से वरण करना चाहते है। शिक्षित युवती, किसी अशिक्षित पति की इच्छा नहीं करती है। इसी प्रकार लम्बी युवतियाँ लम्बे युवकों से विवाह करना उचित मानती है। छोटे कद के पुरुष निश्चित रूप से छोटे कद की स्त्रियों को चाहते हैं जिससे वे उस पर प्रभावी हो सके। विवाह के पूर्व माता–पिता एवं अन्य सगे सम्बन्धी इन समान लक्षणों का विशेष ध्यान रखते हैं।

इस प्रकार के अनेक भावात्मक मिलन प्रकारों के परिणामों का गणितीय आंकलन किया जा सकता है। सेवल राइट (Sewal Wright, 1921) ने इस क्षेत्र में विशेष रूप से योगदान किया है। हार्डी–वीनबर्ग सन्तुलन इन चयनात्मक विवाहों से कितना प्रभावित होता है, इसका आंकलन सरलता से किया जा सकता है।चूंकि भावात्मक चयन विवाह में समान लक्षणों का वरण तेजी से होता है, फलस्वरूप अगली पीढियों में समयुग्मजता की वृद्धि तथा विषमयुग्मजा का अपघटन होगा।यदि विषमयुग्मजा का आगामी पीढियों में ह्रास होगा तो निम्नलिखित हार्डी–वीनबर्ग सन्तुलन में परिवर्तन अपरिहार्य होगा–

$(A + B)^2 = (1)^2$

$A^2 + 2AB + B^2 = 1$

या, $1/4\,A^2 + 1/2\,AB + 1/4\,B^2 = 1$

यदि हम इसे 100 से गुणा करें–

तो, 25 % A2 + 50% AB + 25 % B2 = 100 %

लेकिन भावात्मक चयन विवाहों के पश्चात् सन्तति पीढियों में यह सन्तुलन भिन्न होगा। यदि 10 पीढ़ियों तक विषमयुग्मजा मात्र 1.0 प्रतिशत अपघटित होती रहे, तो बहुत भारी परिणाम दृष्टिगत होंगे। बर्डसेल (1976) के अनुसार जनसंख्या में जीन आवृत्तियों का सन्तुलन निम्नलिखित हो जायेगा–

49.5 A2 + 1.0 AB + 49.5 B2 = 100 %

इस प्रकार का लैंगिक/वैवाहिक चयन प्रारूप बहुत छोटी अवधि अन्तराल में किसी भी मानव जनसंख्या के विषमयुग्मजी जीन प्ररूपों का विलोपीकरण कर देंगी। लेकिन यदि हम उक्त सम्भावना को और जटिल बनाये तो वैवाहिक चयन प्रारूप इतनी त्वरित गति से परिवर्तन नहीं ला सकेंगे। ज्ञातव्य हो वैवाहिक सम्बन्धों में अनेकों जीन–प्ररूप क्रियाशील होते हैं ऐसी स्थिति में मान ले कि दूसरे जीन प्ररूप की विषमयुग्मजता बढ़कर 8.8 प्रतिशत हो गयी है, तीसरे जन प्ररूप में विषमयुग्मजता 23.3 प्रतिशत तक ही हो। अतः जीन प्ररूपों के संयोग से किसी जनसंख्या में विषमयुग्मजता की अपघटन दर अधिक नहीं होगी। समान वैवाहिक सम्बन्धों से जितने अधिक जीन प्ररूप क्रियाशील होंगे, सन्तति पीढ़ियों में उतनी ही विषमयुग्मजता कम होगी।

विषमयुग्मजा ह्रास के उक्त मॉडल आंकलन में शत प्रतिशत भावात्मक चयन विवाह माने गये है। लेकिन किसी भी जनसंख्या में ये चयन विवाह शत प्रतिशत नहीं होते। यदि हम इस प्रकार के 50 प्रतिशत विवाह माने तो गणना के अनुसार विषमयुग्मजता 33.3 प्रतिशत हो जायेगी। इस परिस्थिति में भी यह चार जीन–प्ररूपों की संयुक्त विषमयुग्मजा (43.1) के लगभग समान ही है। लेकिन क्या 50 प्रतिशत विवाह यथार्थ रूप से भावात्मक चयन द्वारा सम्पन्न हो पाते है ? वस्तुतः कुल विवाहों/लैङ्गिक सम्बन्धों की अल्प

संख्या ही इस विधि से पूर्ण हो पाती है। ऐसी स्थिति में विषमयुग्मजता पुनः वृद्धि करती है। फिर भी किसी भी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रणाली से एक जनसंख्या में समयुग्मजा वृद्धि नहीं करती अथवा जनसंख्या सन्तुलन परिवर्तित नहीं होती।

यहाँ वर्तमान मानव समूह के एक क्षेत्रीय अध्ययन का दृष्टान्त प्रस्तुत करना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। जेम्स स्प्यूहलर (James Spuhler, 1962) ने मिशीगन के ऐन अरबर (Ann Arbor) की जनसंख्या का अध्ययन किया इस अध्ययन में 1000 व्यक्तियों का चयन किया। इनमें 3/4 विवाहित युगल थे। इन्होंने इन समान लक्षणों वाले युगलों के शरीर के 43 भिन्न–भिन्न पहलुओं का चयन किया इनमें शरीर की विभिन्न मापे भी समाविष्ट हैं। कुल प्रेक्षणों में 14 लक्षण अर्थात् 42.6 प्रतिशत लक्षण भावात्मक चयन विवाह के लिए साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करते। शेष 57.4 प्रतिशत विवाहों में भावात्मक साक्ष्य पाये गये। इन 29 लक्षणों में 5 लक्षण सांख्यकीय रूप से महत्वहीन है लेकिन 24 लक्षण अर्थात् 55.8 प्रतिशत लक्षण स्पष्टतः भावात्मक चयन विवाह के पक्ष में साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। स्प्यूहलर ने यह भी अलोकित किया कि ये सभी लक्षण एक–दूसरे से अत्यधिक सहसम्बद्ध है। इनकी पृथक जैविक वंशागति नहीं होती जैसे– शारीरिक लम्बाई, भार, चौडाई, परिधि आदि। संक्षेप में 'ऐन अरबर' के लोगों में समान शारीरिक गठन वाले युवक/युवतियों में विवाह की प्रवृत्ति पायी जाती है, जिसके फलस्वरूप जनसंख्या सन्तुलन में विभेद उत्पन्न हुए हैं।

यदि चयनात्मक मिलन प्रारूप के प्राप्त आंकडों के सन्दर्भ में अतीतकालीन मानव समाजों (प्रातिनूतन काल) का विश्लेषण करें तो इन तथ्यों में संशोधन करना पडेगा। प्रातिनूतन कालीन मानव का अधिकांश समय खाद्य सामग्री एकत्रित करने, आखेट करने वन्य प्राणियों से आत्मरक्षा करने में ही व्यतीत हो जाता होगा। दूसरे स्त्रियों की संख्या कम होने के कारण चयनात्मक विवाह की पद्धति व्यावहारिक नहीं होगी। इन प्राचीन समाजों में स्त्रियों का आदान–प्रदान (विनिमय) की प्रथा प्रचलित होने से चयनात्मक मिलन प्रारूप जनसंख्या के आनुवंशिक परिवर्तन महत्वपूर्ण प्रमाणित नहीं होते।

वर्तमान मानव प्रजातियों के निर्माण में इन विवाहों की विशिष्ट भूमिका रही है। अधिकांशतया आदिम समुदायों में प्राथमिकताओं के आधार पर विवाहों की परम्परा पायी जाती है। यह प्राथमिकतायें प्रायः समान लक्षणों वाले जीवनसाथी के चुनावों में देखी गयी है।

(ii) नकारात्मक चयन मिलन या विवाह

नकारात्मक चयन विवाह या लैंगिक सम्बन्ध वे जैविक सम्बन्ध है जिसके द्वारा किसी एक जनसंख्या में युवक अथवा युवतियों में विषम लक्षणों के प्रति आकर्षण देखा जाता है। इसमें किन्हीं दो भिन्न वाह्य शारीरिक लक्षण वाले युगलों में विवाह या लैंगिक सम्बन्ध की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव हार्डी वीनबर्ग के जनसंख्या सन्तुलन सिद्धान्त पर पडता है। इसके सामाजिक प्रक्रियायें प्रभावों का गणितीय आकलन भी सिवल राइट (Sewall Wright, 1921) ने किया है। इनके गणितीय मॉडल से यह भविष्यवाणी की गयी थी कि नकारात्मक चयन मिलन प्रारूप से समयुग्मजता घटती है तथा विषमयुग्मजता की पुनः वृद्धि होती है। राइट के अनुसार एक जनसंख्या में दस सन्तत्ति पीढियों में विषमयुग्मजता 50 प्रतिशत से बढकर 66.7 प्रतिशत हो जायेगी।दस सन्तति पीढ़ियों के पश्चात् 16.7 प्रतिशत अतिरिक्त बढ़ी हुई विषमयुग्मजता किन्हीं कारणों से और अधिक वृद्धि नहीं कर पाती। जब इस सन्दर्भ में चार जीन प्ररूपों की गणना एक साथ की गयी तो विषमयुग्मजता 50 प्रतिशत से बढकर 53.3 प्रतिशत तक ही रह सकी। इस प्रकार यह सूचनार्थ कहा जा सकता है कि इस प्रकार के चयनात्मक विवाह से जनसंख्या सन्तुलन अपेक्षाकृत कम प्रभावित होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यदि सभी व्यक्ति अथवा स्त्री अपने विपरीत शारीरिक लक्षणों की युवती अथवा युवक के साथ विवाह या लैंगिक सम्बन्ध स्थापित न करे, तो उन सम्बन्धों के फलस्वरूप बढ़ी विषमयुग्मजता जनसंख्या स्तर पर महत्वपूर्ण नहीं है।

कर्टस्टर्न (1973) ने इस सन्दर्भ में एक उदाहरण का उल्लेख किया है। इनके अनुसार यूरोपीय लोगों

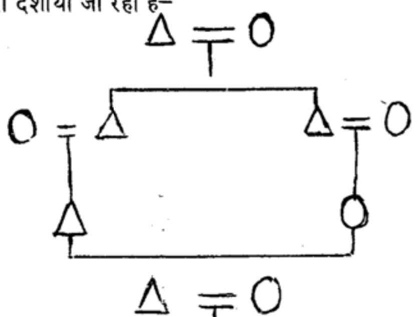
में लाल रंग के सिर के बाल के प्रति विपरीत लिंग आकर्षण पाया गया है। भूरे एवं गहरे बाल के स्त्री अथवा पुरुष लाल रंग के पुरुष अथवा स्त्री से विवाह या लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति रखते है। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया महाद्वीप के दक्षिणी तट पर बसी हुई वीरांगु जनजाति में जनक एवं जननी अपने गहरे रंग वाले पुत्र का विवाह, किसी हल्के अथवा पूर्णतः रंजक विहीन– ब्लांड पुत्री से करते है। इसके फलस्वरूप नकारात्मक चयन विवाहों में वृद्धि होती है।

भारत में उत्तरप्रदेश की भोक्सा जनजाति का अध्ययन वर्तमान लेखक ने किया। इस जनजाति में यह अवलोकित किया गया कि गहरे तथा श्यामल त्वचीय रंग के पुरुष में गौर वर्ण एवं सुन्दर गठन की लडकी के साथ साथ विवाह एवं लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति होती है। इसके फलस्वरूप संततियों में व विषमयुग्मजता की वृद्धि देखी गयी है। प्रायः बिहार की निम्न जातियों की स्त्रियों में उच्च जाति के पुरुषों के प्रति आकर्षण की प्रवृत्ति पायी जाती है। इसके फलस्वरूप प्रायः ग्रामीण उच्च जातीय पुरुष के साथ निम्न जातीय स्त्री के साथ लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करती है। प्रेक्षणों से यह ज्ञात होता है कि इनकी सन्तति जनसंख्या में विषमयुग्मजता की वृद्धि हुई है। भारतीय महानगरियों में भी छोटे कद की लडकियों में बडे कद के युवक के साथ विवाह करने की प्रवृत्ति देखी गयी है। लेकिन इसके दृष्टान्त अति अल्प हैं।

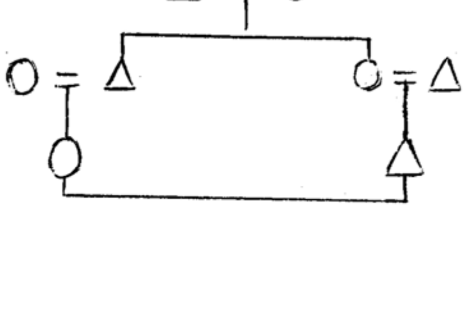
अन्तः प्रजनन
(Inbreeding)

जब किसी जनसमूह के व्यक्तियों में अपने सम्बन्धियों से ही विवाह या लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति हो, तो इस मिलन प्रारूप को **अन्तः प्रजनन** कहते है। अन्तः प्रजनन को अन्य शब्दों में आनुवंशिक समरक्तता के रूप में जाना जा सकता है। समरक्तता या अन्तः प्रजनन सामान्यता सभी जनसमूहों या प्रजातियों या जनसंख्याओं में नहीं पायी जाती, लेकिन कुछ जनसमुदायों में इसकी आवृत्ति सर्वाधिक होती है।अनेक जनसमुदायों में ऐसे नियम है जो कि विवाह के लिए इच्छुक दो व्यक्तियों के मध्य अनुमत सम्बन्धों का नियन्त्रण करते हैं। अनेक जनसमूहों में चाचा, चाची, भतीजे तथा चचेरे भाई–बहनों आदि सम्बन्धों में वैवाहिक अनुमति प्रदान नहीं की जाती। लेकिन अनेक जनसमुदायों में जैसे– भारतीय मुसलमान, दक्षिण भारत की जातियाँ, भारतीय जनजातियाँ आदि में चचेरे/ममेरे/मौसेरे भाई–बहनों में विवाह की प्रवृत्ति पाई जाती है। इन विवाह–प्रतिरूपों को निम्न चित्रों के द्वारा दर्शाया जा रहा है–

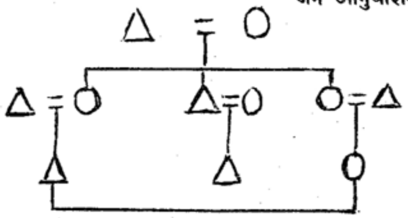
I चचेरे भाई–बहिन :



II ममेरे–फुफेरे भाई–बहिन :

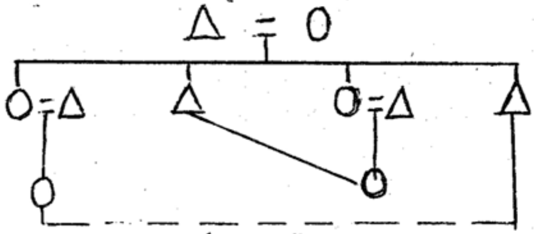


III मौसेरे भाई-बहिन

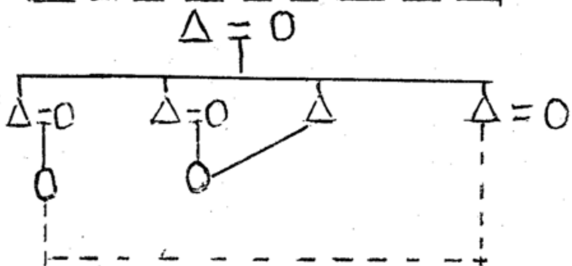


उक्त अन्तः प्रजनन या समरक्त विवाहों के अतिरिक्त कुछ समुदायों में चाचा-भतीजी, मामा-भाँजी तथा बुआ-भतीजा में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति होती है। इन्हें निम्नांकित चित्रों से दर्शाया जा रहा है-

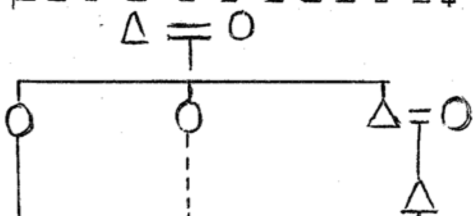
I चाचा-भतीजी विवाह :



II मामा-भाँजी विवाह :



III बुआ-भतीजा विवाह :



उल्लिखित विवाह कई सरल समाजों में वर्जित है लेकिन ऐसे प्रायः उदाहरण चर्चा में आते हैं जब इन समाजों में निकट रक्त सम्बन्धी जैसे- मामा, चाचा, चचेरा/ममेरा/फुफेरा/मौसेरा भाई अपने तत्सम्बन्धी अर्थात् क्रमशः भाँजी, भतीजी एवं चचेरी/ममेरी/फुफेरी/मौसेरी बहन से वर्जित लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इन अवैध लैंगिक सम्बन्धों के फलस्वरूप कई घटनाओं में सन्तति जनन भी देखा गया है। चित्रों में इन अवैध लैंगिक सम्बन्धों को बिन्दुश्रृंखला से दर्शाया गया है।

अन्तः प्रजनन की उच्चसीमा समरक्तता या सगोत्रता (Consanguinity) कही जाती है। अन्तः प्रजनन हार्डी वीनबर्ग जनसंख्या सन्तुलन को कितना प्रभावित करता है, इसका अनुमान स्वतः निषेचित पौधों पर हुए अध्ययनों से किया जा सकता है। इस प्रकार प्रजनन के फलस्वरूप समयुग्मजता की त्वरित वृद्धि तथा विषमयुग्मजता का ह्रास होता है। स्वतः निषेचित पौधों पर हुए अध्ययन को निम्न तालिका में दर्शाया जा

रहा है जिससे यह ज्ञात होता है कि पाँचवी क्रमिक सन्तति पीढी में विषम युग्मजता 100 प्रतिशत से शून्य एवं समयुग्मजता बढकर 100 प्रतिशत हो जाती है–

पीढी क्रम	प्रभावी समयुग्मजता	विषम युग्मजता	अप्रभावी समयुग्मजता	कुल समयुग्मजता
F1	0.0	1.0	0.0	0.0
F2	0.25	0.50	0.25	0.50
F3	0.375	0.25	0.375	0.75
F4	0.4375	0.125	0.4375	0.875
F5	0.5	0.0	0.5	1.0

सेवल राइट (Sewall Wright) ने अन्तः प्रजनन का कई विधियों से अध्ययन किया। इन्होंने समयुग्मजता की पहचान 4 स्तरों पर की। ये चारों स्तर स्वतः निषेचन, भाई–बहन, प्रथम चचेरे/फुफेर–ममेरे/मौसेरे भाई–बहन विवाह तथा द्वितीय चचेरे – ममेरे – मौसेरे भाई बहन विवाह हैं। इनके अध्ययन के परिणाम निम्नतालिका में दर्शाये जा रहे हैं–

विभिन्न अन्तःप्रजननों के प्रभाव एवं विषमयुग्मजता का ह्रास

पीढी क्रम	स्वतः निषेचन	भाई–बहन प्रजनन	एकल प्रथम चचेरे/ममेरे मौसेरे भाई–बहन	एकल द्वितीय चचेरे/ममेरे मौसेरे भाई–बहन
F0	.500	.500	.500	.500
F1	.250	.375	.469	.491
F2	.125	.312	.453	.491
F3	.062	.250	.439	.491
F4	.031	.203	.427	.491
F5	.016	.164	.416	.491
F10	.000	.057	.374	.491
F15	.000	.020	.344	.491

यद्यपि उक्त स्वतः निषेचन मात्र पौधों एवं वनस्पतियों में ही सम्भव हैं, भाई–बहन विवाह मानवों में पूर्णतः वर्जित है जिसे निकटाभिगमन या अगम्यागमन (Incest) कहते हैं। शेष दोनों प्रजनन की आवृत्तियाँ भी प्रत्येक जनसंख्याओं में परिवर्तित होती रहती हैं। लेकिन उक्त विषमयुग्मजता के क्रमिक ह्रास के परिणामों से यह अवश्य ज्ञात होता है कि निकटवर्ती अन्तः प्रजनन (Consanguinity) से समयुग्मजता की क्रमिक वृद्धि एवं विषमयुग्मजता का क्रमिक ह्रास होता है।

अन्तः प्रजनन गुणांक (Coefficient of Inreeding)

राइट के द्वारा प्रतिपादित अन्तः प्रजनन का गणितीय मॉडल यद्यपि वर्तमान मानव समूहों में पूर्णतः व्यावहारिक नहीं होता जिससे विषमयुग्मजता का क्रमिक ह्रास देखा जा सके। लेकिन इस गणितीय मॉडल का उपयोग वर्तमान जनसमूहों के परिप्रेक्ष्य में अवश्य किया जा सकता है। दूसरे यह मॉडल इस प्रकार से विनिर्मित किया गया है जैसे दूसरे उदविकासीय बलों के इसकी कार्य परिधि से बाहर हो। लेकिन उदविकासीय बलों की अन्तक्रियाओं को इस गणितीय मॉडल के कार्य–क्षेत्र के बाहर रखना एक गणितीय कल्पना हो सकती है, यथार्थ रूप नहीं।

ऐसी स्थिति में राइट के अन्तः प्रजनन मॉडल का मानव जनसंख्याओं से प्राप्त आंकडों द्वारा परीक्षण किया जा सकता है। इस मॉडल की सहायता से वर्तमान जनसमूहों की सगोत्रता का अध्ययन किया जा सकता है।राइट का इस गणितीय मॉडल से अन्तःप्रजनन के गुणांक (Coefficient of Inbreeding or Consanguinity) को ज्ञात किया जा सकता है।

अन्तः प्रजनन के गुणांक से अन्तः प्रजनन एवं जनसमूह के सम्बन्धों का अनुमान लगाया जाता है। अन्तः प्रजनन को निम्न विधि से ज्ञात किया जा सकता है।

अन्तः प्रजनन के गुणांक से अन्तः प्रजनन एवं जनसमूह के सम्बन्धों का अनुमान लगाया जाता है। अन्तः प्रजनन को निम्न विधि से ज्ञात किया जा सकता है–

मान लें कि एक ऐसा समुदाय है जिसमें सभी व्यक्तियों की संख्या N है। इसमें दो ऐसे विषमयुग्मजी व्यक्ति है जिनमें एक जीन के दो विकल्पी हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी युग्मनज में वंशागति के मूलभूत नियमों से दो समरूप विकल्पियों के एक ही स्थान पर आने की सम्भावना 1/2N होगी। यह 1/2N की सम्भावना, जो यादृच्छिक रूप से मिलने वाले युग्मकों के संयुक्त होने से बनती है, जिसके सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या N है, एक पीढ़ी के अन्तः–प्रजनन का गुणांक कहलाता है। अन्तः प्रजनन का यह गुणांक प्रत्येक अग्रिम पीढी के साथ बढ़ता जाता है।

अगली पीढ़ी में भी यह गुणांक ज्ञात किया जा सकता है। चूंकि अगली पीढी में भी नये जनकों द्वारा भिन्न–भिन्न प्रकार के युग्म उत्पन्न होंगे तथा अन्तःप्रजनन की सम्भावना पुनः 1/2N होगी।इस पीढ़ी में विषमयुग्मजी व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न किये गये समरूप युग्मों के अतिरिक्त भी कुछ समरूप युग्म समयुग्मजियों के द्वारा उत्पन्न होंगे। इस पीढ़ी में यह बढा हुआ अतिरिक्त अनुपात नये समयुग्मजियों की सम्भावना की अतिरिक्त वृद्धि करेगा जिससे उस पीढी के समयुग्मजा की सम्भावना (1/2N) में अतिरिक्त समयुग्मजियों द्वारा प्राप्त समरूप युग्म की सम्भावना (1−1/2N) जुड जायेगी। अतः दूसरी पीढ़ी का अन्त प्रजनन गुणांक निम्न होगा।

$$F2 = (1/2N) + (1 - 1/2N)\, F1$$

अतः प्रत्येक अग्रिम पीढी के गुणांक की गणना इस प्रकार की जा सकती हैं–

$$F0 = 0$$

$$F1 = 1/2\, n$$

$$F2 = 1/2N + (1 - 1/2N)\, F1$$

$$F3 = 1/2N + (1 - 1/2N)\, F2$$

अर्थात् वह जनसमूह जिसमें पीढियों का मान N है उसमें अन्तः – प्रजनन का गुणांक निम्नलिखित होगा–

$$FN = 1/2N + (1 - 1/2\, N)\, FN - 1$$

मानव समूहों में अन्तः प्रजनन की आवृत्ति

सभी मानव समूहों में अन्तः प्रजनन पूर्णतः नहीं होता लेकिन आंशिक रूप से लगभग सभी समुदायों में समाज स्वीकृत अथवा अस्वीकृत प्रजनन अवश्य होते हैं। मानव के प्राचीन इतिहास में अन्तः प्रजनन अत्यधिक परिमाण में हुआ है, लेकिन प्रत्यक्ष अन्तः प्रजनन की दर मानव सभ्यता के साथ-साथ घटी है। सीमित एवं ग्रामीण जनसमूहों में औद्योगिक एवं महानगरीय जन समूहों की अपेक्षा अन्तः प्रजनन की सम्भावना अधिक होती है। फिर भी संसार के नगरीय केन्द्रों में अंन्तः प्रजनन की प्रवृत्ति होती है। अन्तः-प्रजनन की आवृत्ति का अनुमान विवाहों की संख्या से किया जाता है।

कुछ देशों के जनसमूहों में अन्तः प्रजनन की आवृत्ति को निम्न अंकित तालिका में दर्शाया जा रहा हैं-

जनसमूह	अवधि	विवाहों की सम्पूर्ण संख्या	प्रथम सहोदर सन्तति विवाह
संयुक्त राज्य अमेरिका			
बाल्टी मोर	1935-50	8000	0.0005
वाटका काउन्टी	1830-1949	299	0.0408
उटाह	1870-1929	26,325	0.0007
उटाह	1930-50	15,306	0.0004
आस्ट्रिया			
वियानी कथोलिक	1929-1930	31,823	0.0053
फ्रांस			
सम्पूर्ण देश	1876-1880	1,410,889	0.01.03
सम्पूर्ण देश	1914-1919	1,350,683	0.0095
तवायर एत्सर	1944-1953	19,867	0.003
जर्मनी			
वायेरियन पारिस	1898-1922	5,193	0.0067
बावेरिया	1926-1933	4,74,268	0.0020
स्वीडन			
यजोला-यारिश	1890-1949	843	0.0095
मोनियोना लुस्टा पारिश	1890-1949	191	0.0680
डेनमार्क			
सम्पूर्ण देश	1900-1920	498	0.012
स्विटजर लैण्ड			
एल्पाइन	1880-1933	77	0.039
एल्पाइन	1885-1932	139	0.007
ओबरमैट	1890-1932	52	0.115

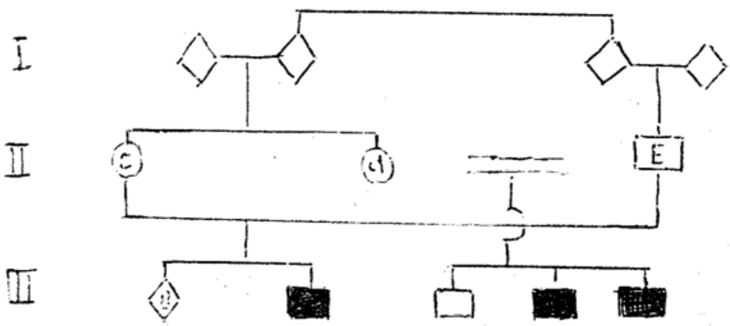
इंग्लैण्ड			
रोगी (चिकित्सालय)	1880−1925	49,315	0.0061
आयरलैण्ड			
काउन्टी टाइरान	1954	3,000	0.0020
काउन्टीलण्डनडेरी	1954	717	0.0139
भारत			
पारसी (बम्बई)	1950	512	0.129
मराठा (बम्बई)	1950	137	0.117
जापान			
हिरोशिमा	1949−1950	16,681	0.0503
नागासाकी	1948−1949	10,547	0.0371
स्यूजेन	— 1948	776	0.124
फिजी द्वीप समूह	1850−1895	448	0.297

संसार के अनेक देशों में अनेकों कारणों से अन्तः प्रजनन की दर में गिरावट आती जा रही है। आधुनिक सभ्यता की अनेक विशेषताओं के कारण अन्तः प्रजनन के अनेकों जनसमूहों की सीमायें भंग हो रही है। इसके अनेकों कारण है जैसे− विश्व युद्ध, यूरोपीय युद्ध, चीन, भारत, पाकिस्तान आदि अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध, गृह युद्ध, राजनैतिक सीमाओं के बाहर वृहद् रूप से लोगों के प्रवसन, कुशल परिवहन एवं संचार व्यवस्था, शिक्षा, व्यवसायिक परिवर्तन, औद्योगिक विकास आदि जैसे−जैसे प्रजननशील पृथक् समूह की बाहरी सीमायें भंग होती जा रही है वैसे−वैसे होमोसैपियंस सैपियन्स की जीनपूल में परिवर्तन आते जा रहे हैं। अन्तः प्रजनन की आवृत्ति कम होने से इन मेण्डलीय जनसंख्याओं में विषमयुग्मजता की वृद्धि हुई है।

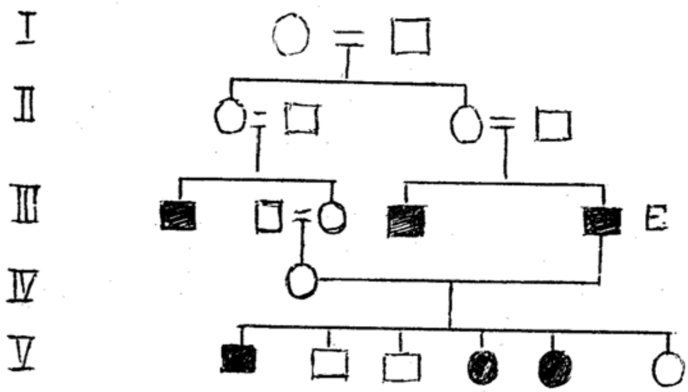
समयुग्मजता ; वृद्धि एवं खतरे

अन्तः प्रजनन से समयुग्मजता की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। यह वृद्धि दो प्रकार की होती है− प्रभावी समयुग्मजता (AA) एवं अप्रभावी समयुग्मजता (aa)। इनमें प्रभावी समयुग्मजता आनुवंशिक रूप से उतना घातक नहीं होती जितना कि अप्रबल समयुग्मजता। आनुवंशिक व्याधियाँ प्रायः अप्रबल समयुगमजता से सम्बन्धित होती हैं। गत अध्यायों में कई ऐसे आनुवंशिक व्याधियों का उल्लेख किया है जो या तो अप्रबल अलिंगसूत्री अथवा लिंग−सहलग्न गुणों वाली हैं जैसे वर्णान्धता, हीमोफिलिया, सिक्लीमिया, थैलासीमियाँ आदि।

अनेकों वंशावलियों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि रक्त सम्बन्धी माता−पिता की सन्ततियाँ आनुवंशिक व्याधियों के शिकार होते है। पियरसन, नेटलशिप एवं यूशर (1946) ने रंजकहीनता (Albinism) को अनेकों अन्तःप्रजनित परिवार में अवलोकित किया, इन्होंने रंजकहीनता (गत अध्यायों में वर्णन किया जा चुका है) की आवृत्ति को निम्न वंशावली के द्वारा प्रदर्शित किया है−



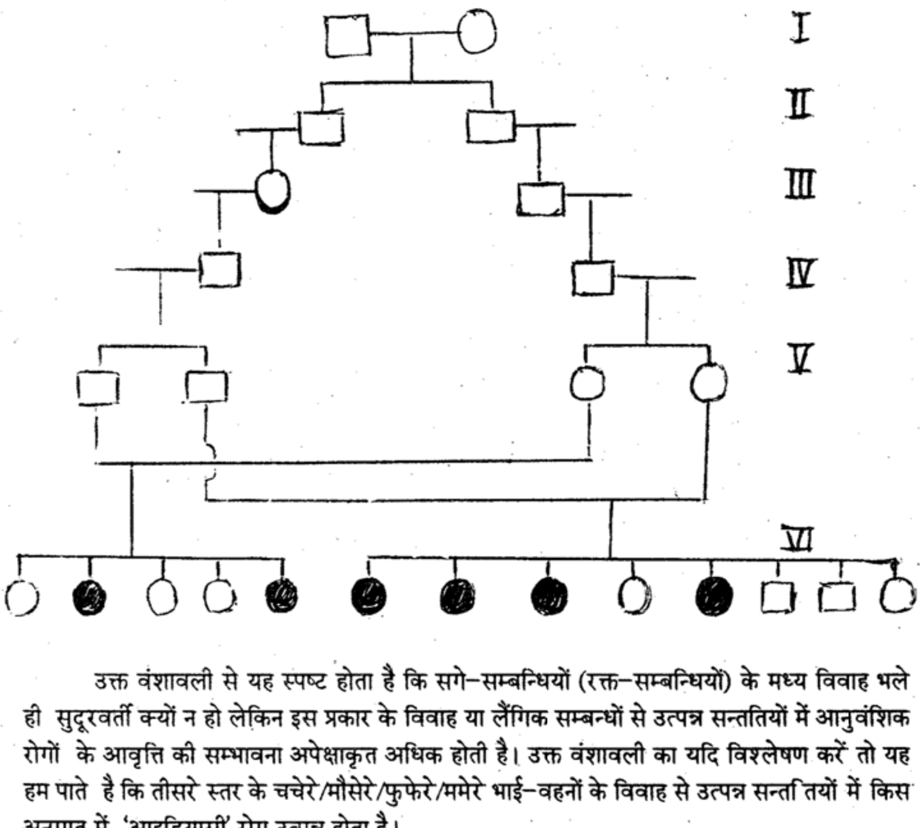
उक्त वंशावली में एक व्यक्ति (E) दो विवाह करता है। इसकी दोनों पत्नियाँ चचेरी या मौसेरी बहनें है। एक पत्नी (c) 9 बच्चे जन्मते हैं जिनमें 1 रंजकहीन होता है। दूसरी ओर दूसरी पत्नी (d) के तीन बच्चों में दो बच्चे रंजकहीन होते हैं। गेट्स (1946) ने अन्तः प्रजनन से उत्पन्न व्याधियं की ओर ध्यान आकर्षित किया। इन्होंने अप्रबल X – सहलंग्न इक्थायोसिस वलगेरिस (Ichthoysis Valgaris) नामक रोग की वंशावली प्रस्तुत की, जो निम्न हैं–



उक्त वंशावली में त्वचीय रोग या इक्थोयोसिस वलगैरिस के वितरण को गहरे रंग से दर्शाया गया है। उस रोग का शिकार प्रथम पीढ़ी के जनक (पुरुष) है। चूंकि इस पीढी में उसकी पत्नी सामान्य है अतः दूसरी पीढ़ी में अप्रबल विकल्पी जो इश रोग का नियन्त्रण करते है, विषमयुग्मजता की स्थिति में प्रकट नहीं हो पाते। लेकिन तृतीय पीढ़ी में समयुग्मजा की स्थिति में चार मौसेर भाई बहनों में से तीन में यह रोग पुनः प्रकट हो जाता है। उस समय इस रोग की आवृत्ति और बढ़ जाती है जब एक व्यक्ति अपनी मौसेरी बहन

की बेटी से विवाह करता है। इस प्रकार के अन्तःप्रजनन या समरक्त विवाह से पाँचवीं पीढी की आधी सन्तानें इस भयानक रोग का शिकार हो जाते है।

इसी प्रकार स्वीडन में जोग्रेन (Sjogren) ने अध्ययनों की वंशावली मैकमिलन ने प्रकाशित किया। इन अध्ययनों के परिणाम ऊपर वर्णित वंशावलियों से हटकर तीसरे चचेरे भाई बहनों (3rd Cousins) के विवाहों से उत्पन्न खतरों को उजागर करते हैं। जोग्रेन ने 'जुवेनाइल एमैयूराटिक आइडियॉसी' (Juvenile Amaurotic Idiocy) रोग की वंशावली प्रस्तुत की। इस प्राणघातक रोग का शिकार बालक सर्वप्रथम 4 वर्ष से 7 वर्ष तक अंधा हो जाता है। तत्पश्चात् स्मृति शक्ति, तन्त्रिकातन्त्र, ज्ञानेन्द्रियों शरीर में पंगुता आने लगती है। अन्त में 12 वर्ष तक की आयु में बालक मृत्यु का शिकार होता है। इस रोग से प्रभावित बच्चे यौवन अथवा सन्तानोत्पत्ति आयु को कभी भी प्राप्त नहीं कर पाते। जोग्रेन ने इस रोग के आवृत्ति सम्भावना को निम्न वंशावली के माध्यम से प्रस्तुत किया–



उक्त वंशावली से यह स्पष्ट होता है कि सगे–सम्बन्धियों (रक्त–सम्बन्धियों) के मध्य विवाह भले ही सुदूरवर्ती क्यों न हो लेकिन इस प्रकार के विवाह या लैंगिक सम्बन्धों से उत्पन्न सन्ततियों में आनुवंशिक रोगों के आवृत्ति की सम्भावना अपेक्षाकृत अधिक होती है। उक्त वंशावली का यदि विश्लेषण करें तो यह हम पाते है कि तीसरे स्तर के चचेरे/मौसेरे/फुफेरे/ममेरे भाई–वहनों के विवाह से उत्पन्न सन्ततियों में किस अनुपात में 'आइडियासी' रोग उत्पन्न होता है।

नील एवं उनके सहयोगियों (Neel et/al) ने चचेरे/ममेरे/फुफेरे/मौसेरे भाई–बहनों के मध्य वैवाहिक

सम्बन्धों से उत्पन्न सन्ततियों में पायी जाने वाली आनुवंशिक व्याधियों का अध्ययन किया है। इनके अध्ययनों के परिणाम निम्न तालिका में दर्शाये जा रहे हैं–

क्रम	लक्षण (आनुवंशिक विकृति)	श्वेत	जापानी
1.	रंजकहीनता	18–24	37–39
2.	टे–सैक्स रोग	27–33	55–85
3.	इक्थायोसिस (त्वचीय रोग)	30–40	67–93
4.	पूर्ण रक्त वर्णान्धता	11–21	39–51
5.	जीरोडर्मा रंजकता	20–26	37–43

उक्त तालिका में प्रदर्शित परिणामों से ज्ञात होता है अन्तः प्रजनन के परिणाम अपेक्षाकृत जापानी लोगों में अत्यधिक घातक है। इस अध्ययन से यह भी संकेत मिलता है कि अन्य रोगों की अपेक्षा त्वचीय रोगों के आवृत्ति की सम्भावना अधिक होती है।

डहेलबर्ग (Dahlberg, 1929) ने जन–समूह के आकार का सह–सम्बन्ध अन्तःप्रजनन से स्थापित किया। इन्होंने यह मत व्यक्त किया कि अन्तः प्रजनन की आवृत्ति किसी पृथक् समूह के आकार के साथ घटती–बढ़ती है। यदि किसी पृथक् समूह की जनांकिकी छोटी है, तो अन्तः प्रजनन की आवृत्ति अधिक होती है। इसके विपरीत अन्तः प्रजनन के आवृत्ति में कमी आती है यदि उस जनसमूह की जनांकिकी विशाल हो। अन्तः प्रजनन की आवृत्ति के बढ़ने से आनुवंशिक व्याधियों की आवृत्ति में भी वृद्धि होती है।

अन्तः प्रजनन का सम्बन्ध शिशु एवं बाल–मृत्यु दर से पाया गया है। कई अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि गर्भपात एवं मृत भ्रूण–जन्म की वृद्धि प्रथम स्तर के चचेरे भाई–बहन विवाहों के फलस्वरूप अधिक होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका एवं फ्रांस में किये गये सर्वेक्षणों से यह संकेत मिलता है कि शिशु, बाल एवं वयस्क मृत्यु दर अन्तः प्रजनन समूहों में अन्तर प्रजनित समूहों (Outbreeding group : Marriage between unrelated person) की अपेक्षा अधिक होती है। इसीप्रकार व्याधियाँ शारीरिक एवं मानसिक विकलांगता की आवृत्ति दर अपेक्षाकृत अन्तः प्रजनित जनसमूहों में अधित होती है। (सैटर एवं तैवाह, स्कल 1958, बुक 1956, रीस एवं होयेन 1958, बर्डसेल1976)

इस प्रकार अयादृच्छिक मिलन–प्रारूप (Non–random–mating) जनसंख्या संतुलन में अन्तः प्रजनन के फलस्वरूप परिवर्तित एवं संशोधित होता है। जीनी विषमयुग्मजता जिस अनुपात में अपघटित होती है, उसी अनुपात में समयुग्मजता की वृद्धि होती है। समयुग्मजता की वृद्धि दो रूपों में होती है : प्रबल एवं अप्रबल। अप्रबल समयुग्मजता की वृद्धि से आनुवंशिक विकृतियों की सम्भावना बढ जाती है। लेकिन प्राकृतिकवरण के क्रियाशील होने के फलस्वरूप घातक एवं अर्धघातक अप्रभावी समयुग्मज जीन लुप्त होते रहते है जिससे जीन प्ररूपों एवं जीन की आवृत्तियों में परिवर्तन होता है। यदि इस स्थिति में वरण क्रियाशील न हो, तो जनसमूह के अस्तित्व के लिए एक संकट उत्पन्न हो सकता है। वैसे सदियों से अन्तः प्रजनन करते जनसमुदायों के अस्तित्व को विशेष खतरा नहीं होता (प्राकृतिक वरण की क्रिया के कारण) लेकिन यदि कोई जनसमूह अन्तः प्रजनन को तत्काल आत्मसात कर ले, तो समयुग्मजता के त्वरित बृद्धि से उसके अस्तित्व का खतरा उत्पन्न हो सकता है। यदि ऐसे जनसमूह का आकार (जनांकिकी) छोटा हो, तो खतरे की स्थिति और भी अधिक घातक हो जायेगी।

जीन आवृत्तियों में परिवर्तन के कारक

(Factor of Change in Gene Frequency)

हार्डी वीनबर्ग का आनुवंशिक सन्तुलन जब–जब टूटता है तब तब किसी जनसंख्या को परिवर्तन के मार्ग से गुजरना पड़ता है। वैसे भी इस सन्तुलन के स्थायी अस्तित्व की कल्पना एक प्राकृतिक जनसंख्या में करना एक अनुमानित तथा आदर्श माडल ही हो सकता है, कोई यथार्थ मॉडल नहीं हो सकता है। इसीलिए हार्डी वीनबर्ग ने बड़ी चतुराई से आनुवंशिक सन्तुलन को बनाये रखने के लिए कुछ विशेष परिस्थितियों को अपने सिद्धान्त का अनिवार्य भाग माना। इस आनुवंशिक सन्तुलन की विशेष परिस्थितियों में से एक– अर्थात् 'यादृच्छिक मिलन' की परिचर्चा पूर्व पृष्ठों पर की जा चुकी है। जिससे यह स्पष्ट हो गया कि आनुवंशिक सन्तुलन में परिवर्तन की इकाई जीन–प्ररूप एवं विकल्पी आवृत्तियाँ हैं। किसी जनसंख्या की ये आवृत्तियाँ यदि परिवर्तित हुई तो जनसंख्या सन्तुलन में शीघ्र ही प्रतिस्थापन एवं संशोधन होता है जिसके फलस्वरूप विभेद उत्पन्न होता है। जो एकत्र होकर कालान्तर में नवीन जनसंख्या या प्रजाति का निर्माण करते हैं। जनसंख्या सन्तुलन अथवा जीन–आवृत्तियों को परिवर्तन लाने वाले प्रमुख कारक निम्न हैं–

(i) उत्परिवर्तन (Mutation)

(ii) प्रवसन एवं संकरण (Migration and Hybridization)

(iii) प्राकृतिक वरण (Natural Selection)

(iv) जीन अपसरण (Genetic drift)

(v) पृथक्करण (Isolation)

उत्परिवर्तन (Mutation)

उत्परिवर्तन मौलिक आनुवंशिक पदार्थ में एक ऐसा परिवर्तन है जिससे डी एन ए अणु में न्यूक्लियोटाइडों का सहसा प्रवेश अथवा निष्कासन होता है। न्यूक्लियोटाइडों के क्रम में सहसा इस परिवर्तन से नवीन वंशानुक्रमी लक्षण प्ररूप उत्पन्न होते हैं। इसे जीन उत्परिवर्तन (Gene or Point Mutation) कहते हैं। जब कोई सामान्य जीन (विकल्पी) उत्परिवर्ती विकल्पी में बदलता है तो उसे **'अग्र उत्परिवर्तन'** कहते हैं। इसके विपरीत, यदि उत्परिवर्ती विकल्पी सामान्य विकल्पी में बदलता है तो उसे प्रतिलोम उत्परिवर्तन कहते हैं। इसी प्रकार यदि उत्परिवर्ती विकल्पी सामान्य विकल्पी पर प्रभावी होता है तो इसे **प्रभावी** उत्परिवर्तन कहते है जबकि दूसरी ओर, यदि उत्परिवर्ती विकल्पी सामान्य विकल्पी पर अप्रभावी हो तो **अप्रबल उत्परिवर्तन** कहते हैं।

विभिन्न जीवों पर किये गये प्रयोगशाला अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि स्वतः उत्परिवर्तन के अतिरिक्त भौतिक एवं रासायनिक कारकों के फलस्वरूप भी उत्पन्न होते हैं। इन्हें **प्रेरित उत्परिवर्तन** कहा जाता है। प्रेरित उत्परिवर्तन के भौतिक कारक निम्नवत् हैं–

(i) अल्फा किरण

(ii) बीटा किरण — कणीय विकिरण

(iii) न्यूट्रान (तीव्र)

(iv) न्यूट्रान (तापीय)

(v) एक्स किरणें

(vi) गामा किरणें — अकणीय विकिरण

(vii) पराबैंगनी किरणें

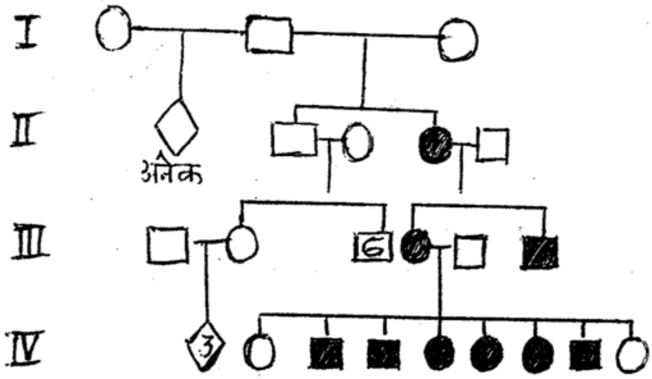
इसके अतिरिक्त रासायनिक उत्परिवर्तकों की क्रिया के परिणामस्वरूप भी उत्परिवर्तन (प्रेरित) सम्भव हैं। रासायनिक उत्परिवर्तन निम्नलिखित हैं–

(i) मस्टर्ड गैस	
(ii) इथाइल मिथेन सल्फोनेट	एल्काइलेटिंग कारक
(iii) मिथाइल मिथेन सल्फोनेट	
(iv) 5 – ब्रोमोयूरेसिल	
(v) 2 – एमिनोप्यूरीन	क्षारक
(vi) एक्रिफ्लेविन	
(vii) प्रोफ्लेविन	एक्रिडीन
(viii) इथीडियम ब्रोमाइड	
(ix) नाइट्रस अम्ल	विएमिनीकरण कारक
(x) हाइड्राक्सिल अम्ल	अन्य उत्परिवर्तन
सोडियम एजाइड	

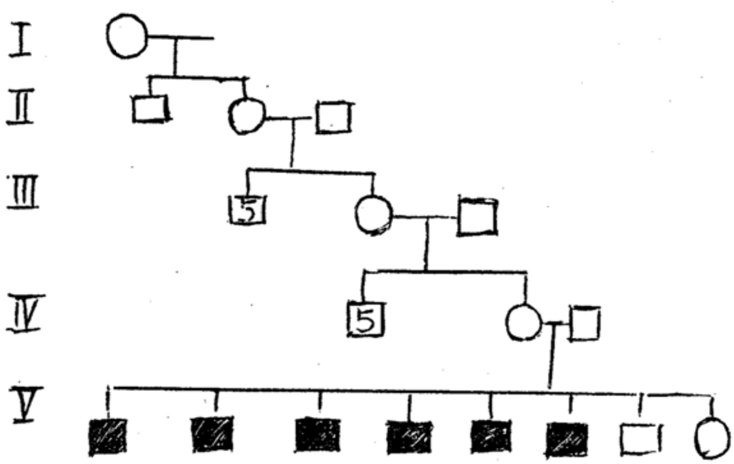
ज्ञात उत्परिवर्तकों में विकिरण (Radiation) एक योग्य उत्परिवर्तक है जिसका मानव पर सरलता से प्रभाव पडंता है। यदि किसी ज्ञात लक्षण में सहसा परिवर्तन होता है तो सामान्यतया वह उत्परिवर्तन की कोटि में सम्मिलित किया जाता है। मानव में अप्रभावी उत्परिवर्तनों का पता लगाना अत्यन्त कठिन है यद्यपि प्रभावी उत्परिवर्तनों को ज्ञात किया जा सकता है। प्रोटीन एवं एन्जाइमों के उत्परिवर्तन 'इलेक्ट्रोफोरेसिस तकनीक' से ज्ञात किये जा सकते है। इस तकनीक से एन्जाइमों को एक विद्युत परिक्षेत्र में संचलित किया जाता है यदि एन्जाइम के अमीनों अम्लों के क्रम में कोई परिवर्तन दिखाई देता है तो यह समझा जाता है कि यह परिवर्तन उत्परिवर्तन की क्रिया के परिणामस्वरूप हुआ। इस विधि से किसी भी विशेष प्रटीन के लिए सूक्ष्म विभिन्नताओं को भी ज्ञात किया जा सकता है यद्यपि मानव की आकृति या व्यवहार में इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

चूंकि युग्मनज उत्परिवर्तन दो प्रकार के होत है– अलिंगसूत्री एवं लिंगसूत्री। इनमें लिंगसूत्री उत्परिवर्तन दो लिंग गुणसूत्र– X एवं Y से सम्बद्ध होते है अतः इन्हें लिंग सहलग्न उत्परिवर्तन भी कहते हैं। ये उत्परिवर्तन भी प्रबल एवं अप्रबल जीन से सम्बन्धित होते हैं। अलिंगसूत्री उत्परिवर्तनों में प्रबल एवं अप्रबल जीन उत्परिवर्तन होते हैं। उदाहरण के लिए रेटिनाब्लास्टोमा (Ratinablastoma) एक प्रबल अलिंगसूत्री उत्परिवर्तन है जबकि फिनाइलकीटोनूरिया (Phenyl ketonuria) अप्रबल अलिंगसूत्री उत्परिवर्तन है। इसी प्रकार क्रमशः हीमोफीलिया (Hemophelia) X– सहलग्न उत्परिवर्तन है जबकि पादजाल (Webble Toe) Y–सहलग्न लिंगसूत्री उत्परिवर्तन का उदाहरण है।

उदाहरण–1 : डैनफोर्थ (Danforth, 1914) में प्रभावी उत्परिवर्तन की वंशावली अमेरिकी शोध पत्रिका (Am journal of Ophthal mol. 31) में प्रकाशित करवाया। इसमें अप्रभावित जनकों के दो सन्ततियों में से एक (पुत्री) की आँख में सहसा मोतियाबिंद (Cataract) रोग प्रकट हुआ। अब इस पुत्री का विवाह एक सामान्य पुरुष से हुआ तो उससे दो पुत्र एवं एक पुत्री उत्पन्न हुए जिनकी आँखों में भी मोतियाबिंद था। अगली पीढी में यह रोग पुनः कई सन्ततियों में पाया गया–



उदाहरण-2 : बाग्स (Boggs, 1934) ने अमेरिका पत्रिका – Am. J. Med. Sci. (188) में हीमोफीलिया रोग की एक वंशावली प्रकाशित की। जिससे यह पाया गया कि सामान्य व्यक्तियों के वंश में यह रोग सहसा पाँचवीं पीढी में सामान्य माता–पिता के 8 सन्ततियों में से 6 में दृष्टिगोचर हुआ। यह वंशावली निम्न हैं–



उत्परिवर्तन आवृत्ति का निर्धारण

उत्परिवर्तन की आवृत्ति का निर्धारण निम्न दो विधियों से किया जाता है– (i) प्रत्यक्ष विधि एवं (ii) अप्रत्यक्ष विधि।

(i) **प्रत्यक्ष विधि–** यह विधि प्रभावी उत्परिवर्तन के निर्धारण हेतु उपयुक्त है। यह मुख्यतः प्रमुख

प्रभावी विशेषकों के सर्वेक्षण पर आधारित होती है जो सन्ततियों में तो दृष्टिगत होते हैं जबकि जनकों में पूर्णतयाँ अनुपस्थित होते हैं। यह विधि चार अनुमानों पर निर्भर करती है कि–

(i) जीन की अभिव्यक्ति (Penetrance) पूर्ण है,

(ii) लक्षण किसी अप्रभावी विकल्पियों से उत्पन्न नहीं है,

(iii) लक्षण किन्हीं अ–आनुवंशिक अभिकारकों के द्वारा कभी भी उत्पन्न नहीं होता है तथा,

(iv) केवल एक ही जीन संस्थिति (Locus) के प्रभावी विकल्पी उस लक्षण को उत्पन्न करते हैं।

इन चारों अनुमानों में प्रथम दो कई वंशावलियों के द्वारा प्रमाणित हुए है लेकिन शेष दो अनुमान विवादास्पद है। यदि इनमें से एक भी अनुमान भ्रामक एवं असत्य होता है तो एकल संस्थिति पर जीन के परिवर्तन के रूप में उत्परिवर्तन की दर का अनुमान अधिक हो जायेगा। उदाहरण के लिए यदि किसी 'फीनोकापी' या 'लक्षण प्रति' (Phenocopy) अथवा अप्रबल जीन की 'समयुग्मजता' को भ्रमवश प्रभावी उत्परिवर्तन के रूप में समझ लिया जाये, तो किसी भी जनसंख्या में इसकी आवृत्ति वास्तविकता से कहीं अधिक होगी। इसी प्रकार यदि एक उत्परिवर्तित लक्षण के लिए कई संस्थियों पर पाये गये परिवर्तित विकल्पी उत्तरदायी है, तो भी उत्परिवर्तन दर का अनुमान अधिक होगा क्योंकि भिन्न संस्थियों पर पायी जाने वाले विकल्पियों की उत्परिवर्तन दर भिन्न होती है जो एक साथ सम्मिलित करने पर स्वतः अधिक हो जाती है। अतः उत्परिवर्तन आवृत्ति के प्रत्यक्ष अनुमान में निरीक्षण, पुनर्निरीक्षण अत्यावश्यक है।

उदाहरण–1 : कर्टस्टर्न ने कापेनहैगेन चिकित्सालय के 94,075 बच्चों के जन्म के अभिलेख को प्रस्तुत किया। इतने जन्मों में 10 बच्चे 'कांड्रोडिस्ट्राफिक डार्फिज्म' (Chondodystrophic dawrphism) या असामान्य बौनेपन का शिकार हुए। इनमें दो बच्चे प्रभावित माता–पिता से जन्मे लेकिन शेष 8 बच्चे के माता–पिता एवं उनके पूर्वज पूर्णतः सामान्य थे। इस आंकड़े के आधार पर यह पाया गया कि लगभग 12,000 जन्म में असामान्य बौना बच्चा उत्परिवर्तन की क्रिया का परिणाम है। चूंकि डेनमार्क में इस लक्षण की वंशावलियाँ एक साधारण प्रभावी लक्षण वंशागति के नियमों को व्यक्त करती है। अतः इस लक्षण को उत्परिवर्तन का साक्ष्य माना गया।

इसकी दर का आंकलन इस प्रकार से किया गया। 12,000 जन्मों में 1 बौना बच्चा उत्परिवर्तित जीन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि 12,000 जन्मों के द्विगुणित युग्मक 12,000 x2 = 24,000 हुए। अतः असामान्य बौनापन के लिए 1 उत्परिवर्तित जीन 24,000 युग्मक या जन्मों में सम्भाय है। तो 1 जन्म में इस लक्षण के लिए उत्परिवर्तन की सम्भावना निम्न होगी–

24,000 युग्मक/जन्म	=	1 उत्परिवर्तन
1	=	1/24,000
या	=	.000041
अतः दर	=	4.1^{-5}

उदाहरण–2 : 'रेटिनाब्लैस्टोमा' (Retinablastoma) रोग आँखों के रेटिना से सम्बन्धित विकृति आँखों के रेटिना से सम्बन्धित विकृति है। इस रोगी की रेटिना में गिल्टी (Tumour) विकसित हो जाती है। यह बचपन में विकसित होता है तथा यदि शल्य चिकित्सा से आँखे बाहर न निकाल दी जाये तो रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। यह असामान्य लक्षण उत्परिवर्तन की क्रिया परिणामस्वरूप उत्पन्न पाया गया है। यह विशेषक प्रभावी उत्परिवर्तन की कोटि में सम्मिलित किया गया है। सर्वेक्षण के अनुसार

मिशीगन में 1936–45 के मध्य सामान्य माता–पिता के 1,054,985 बच्चों में 49 रेटिनाब्लैस्टोमा विशेषक वाले देखे गये। इस आंकडे से नील एवं फाल्स (Neel and Falls) ने इस लक्षण के लिए उत्परिवर्तन की दर 2.3 −5 निकाली।

अप्रत्यक्ष विधि– यह विधि डैनफोर्थ ने सुझाई। कालान्तर में हाल्डेन एवं गन्थर व पेनरोज ने स्वतन्त्र रूप से इस विधि को विकसित किया। यह जनसंख्या आनुवंशिकी के सिद्धान्तों पर आधारित है। इस विधि को एक उदाहरण से विधिवत् समझ सकते हैं।

कांड्रोडिस्ट्रॉफिक बौनापन की आवृत्ति यदि अप्रत्यक्ष विधि से ज्ञात करें तो निम्न प्रकार की निगमन प्रणाली (Deduction system) का अनुसरण करना होगा।

डेनमार्कमें हुए सर्वक्षण के अनुसार कुल जीवित एवं मृत 108 असामान्य बौने बच्चे उत्पन्न हुए। इनसे केवल 27 सन्ततियाँ पायी गयी जिनमें अनुमानतः लगभग आधी असामान्य बौनेपन की शिकार होंगी। अतः बौनेपन के लिए उत्तरदायी 108 विकल्पियों में मात्र 27 x 1/2 = 13.5 विकल्पी सन्ततियों में वंशागत हुए। इसलिए एक पीढ़ी के बाद असामान्य विकल्पी का अनुपात 13.5 : 108 = 0.125 रहा। असामान्य बौने की सापेक्ष पुनरुत्पादन योग्यता (Relative reproductive lifness) का पता इनके भाई–बहनों (Sibs) की पुनरूत्पादक क्षमता की सहायता से ज्ञात किया जा सकता है। इनके 457 सामान्य भाई–बहनों से 582 बच्चे उत्पन्न हुए। इसका तात्पर्य 457 x2 सामान्य युग्मक अर्थात् 914 युग्मक, 457 सामान्य भाई–बहनों से बने जिनसे केवल 582/914 अर्थात् 0.6368 भाग युग्मकों से बच्चे उत्पन्न हुए। अतः असामान्य बौनेपन की सापेक्ष पुनरुत्पादक क्षमता f = 0.125/0.6368 = 0.1963 होगी।

दूसरे शब्दों में सामान्य विकल्पियों के सापेक्ष में केवल 19.6 प्रतिशत असामान्य विकल्पी एक पीढी में पारगमित होंगे जो अगली पीढी में अर्थात् 100 − 19.6 = 84.4 (या I − f) प्रतिशत का विलोपन हो गया।

असामान्य की आवृत्ति का सबसे अच्छा अनुमान चिकित्सालय आंकड़ों से प्राप्त होता है जिसका वर्णन प्रत्यक्ष विधि में किया गया। वहाँ पर 94,075 जन्मों में 10 बौनों की दर का अनुमान किया गया था,

$$x = \frac{10}{94,075}$$

इसे यदि सूत्र (1) में रखें तो I − f तथा x का मान निम्न होगा–

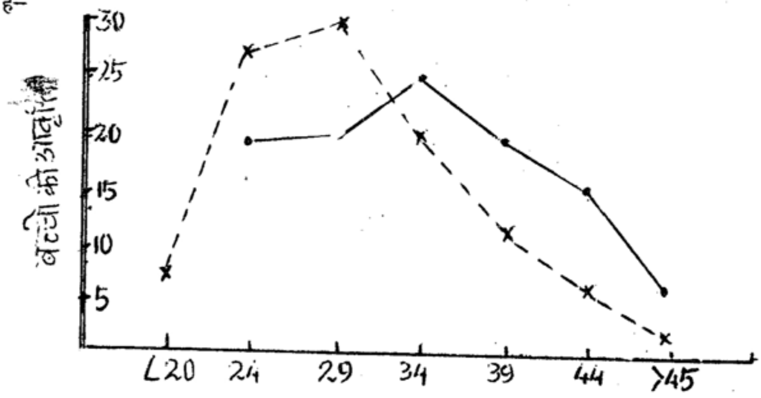
$$u = 1/2\,(1 - 0.1963)\,10/94,075 = 0.0000427$$

यह उत्परिवर्तन दर का अनुमान अप्रत्यक्ष विधि से ज्ञात किया गया। अतः 10,0000 में 4.27 युग्मक (4.27×10^{-5} अथवा 23,400 में 1 उत्परिवर्तन जो प्रत्यक्ष विधि के समकक्षीय मान (24,000 में 1) है। लेकिन इस सहमति को अधिक महत्व नहीं देना चाहिए क्योंकि अप्रत्यक्ष विधि पूर्णतया विवादमुक्त नहीं है।

नील (1957) ने नेचुरल अकादमिक साइस पत्रिका (43) में अनेकों विशेषकों की उत्परिवर्तन दर को प्रकाशित किया जो हर अनेकों विद्वानों के द्वारा आंकलित की गयी थीं, इसे निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है–

विशेषक अलिंग सूत्री प्रभावी	उत्परिवर्तन दर प्रति 1 लाख युग्मक
1. हटिंगटन कोरिया	<0.1
2. रेटिना व्लेस्टोसिस	0.4
3. वार्डेनबर्ग सिंड्रोम (असामान्य नेत्ररंजक, वधिरपन आदि)	0.4
4. एनीरिडिया (नेत्र तारिका का अभाव)	0.5
5. माइकाफ्थैल्मस (छोटी आँखे)	0.5
6. मैरियन सिंड्रोम	0.5
7. मस्कुलर डिस्ट्राफी (मांसपेशी विकृति)	0.8
8. इपीलोइपा (मस्तिष्क गिल्टी)	0.8–1.2
9. लम्बी आंत का बहु पॉलीपॉसिस	1.3
10. पेल्जर न्यूक्लियर विकृति (श्वेत रक्त कणिका के केन्द्रक का असामान्य आकार)	2.7
11. कान्ड्रीडिस्ट्राफी (बौनापन)	1–14
12. न्यूरोफाइब्रोमेइटॉसिस (केन्द्रीय तंत्रिका के ऊतक की गिल्टी)	10
X– सहलग्न अप्रबल :	
1. हीमोफीलिया (संयुक्त)	2–32
2. ड्यूचीन–मस्कुलर डिस्ट्राफी	4.9

अप्रत्यक्ष विधि से प्राप्त उत्परिवर्तन दर से स्त्री एवं पुरुष युग्मकों की सम्भाव्य दर का अनुमान नहीं हो पाता। चूंकि उत्परिवर्तन दर आयु एवं लिंग से प्रभावित होता है (जैसे पेड़–पौधों एवं जीवों पर हुए प्रयोगों से ज्ञात होता है) अतः यदि दर का अनुमान प्रत्यक्ष विधि से करें तो अधिक उपयुक्त माना गया है। मॉर्च (Morch) ने काड्राडिस्ट्राफी का सम्बन्ध सामान्य स्त्री की मध्यवर्ती आयु के साथ देखा। इसे निम्न चित्र में दर्शाया गया है–



स्वतः एवं प्रेरित उत्परिवर्तन की दरें भिन्नता प्रदर्शित करती है। यह दरें $4x10^{-6}$ से $1x10^{-3}$ उत्परिवर्तन प्रति जीन प्रति पीढ़ी तक होती हैं। चूंकि अभी तक इन दरों का आंकलन विकृत लक्षणों के लिए ही किया गया है, अतः वास्तव में हम यह नहीं जानते कि इस प्रकार की उत्परिवर्तन दरें सामान्य मानव जीन में किस प्रकार प्रतिनिधित्व करेंगी।

(ii) प्रवसन एवं संकरण (Migration and Hybridization)

प्रवसन वह प्रक्रिया है जब कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह अपने मूल निवास स्थान को किसी भी कारण से त्याग करके अन्य स्थान पर निवास करता है। जबकि संकरण प्रक्रिया से किसी एक जनसंख्या के जीनपूल में किसी अन्य (Foreign) जनसंख्या के जीन प्रवेश करते हैं। संकरण से किसी नवीन जीन की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि एक जीन का दूसरे स्थान पर प्रवाह होने से जीन आवृत्ति में परिवर्तन होता है।अतः प्रवसन एवं संकरण एक दूसरे के पूरक है। प्रवसन की परिणति संकरण होती है जबकि संकरण का साधन प्रवसन होता है। ये दोनों एक ही प्रक्रिया की दो प्रावस्थायें हैं।

यह प्रक्रिया नये जीन उत्पन्न तो नहीं करती, वरन् जनसमुदाय की जीनी संरचना को व्यापक रूप से प्रभावित करती है। प्रवसन का आंकलन संकर वंशज समूह के दो पूर्वज जनसमुदायों में हुए जीन मिश्रण की मात्रा से किया जाता है। इसकी गणना तीनों सम्बन्धित जनसमुदायों– (i) संकर समुदाय, (ii) पूर्वज समुदाय (iii) वह जनसमुदाय जिससे प्रवाहित जीन आते हों। इसे निम्न सूत्र से ज्ञात कर सकते हैं–

$$m = \frac{q1 - q2}{q3 - q3}$$

यहाँ q1, q2 एवं q3 क्रमशः वह समुदाय जिससे जीन प्रवाहित हो, पूर्वज समुदाय एवं वह समुदाय जिसमें प्रवाहित जीन प्रवेश किये हों। मिश्रण के परिणाम (Magnitude) की गणना अनेकों समुदायों में की गयी है। उदाहरण के तौर पर यूरोपीय उत्पत्ति वाले अमेरिकी जनसमुदाय एवं अफ्रीकी लोगों के मध्य मिश्रण गणनायें निम्न तालिका में दर्शायी जा रही हैं–

युग्म विकल्पी	पूर्वज जन समुदाय	जीन आवृत्ति	अमेरिकी अफ्रीकी	जीन आवृत्ति	अमेरिकी यूरोपीय	जीन आवृत्ति	m
Rh+/Rh–	ईव–I	0.547	वल्टीमोर	0.446	न्यूयार्कI	0.0028	0.195
(Ro)	ईव–II	0.480	"	0.446	न्यूयार्कI	0.0028	0.075
	ईव–II	0.480	वाशिंगटन	0.449	"	0.028	0.669
	द० पञ्नाइजीरिया	0.602	वल्टीमोर	0.446	"	0.028	0.272
	उ० नाइजीरिया	0.539	"	0.446	"	0.028	0.182
MNS	द० पञ्नाइजीरिया	0.124	न्यूयार्कI	0.166	न्यूयार्कIII	0.337	0.169
	द० नाइजीरिया	0.139	"	0.160	"	0.337	0.106
Jkb	अफ्रीका I प०	0.217	न्यूयार्कII	0.269	वोस्नल	0.447	0.200
PTC (T)	प० अफ्रीकाII	0.813	ओहियो	0.697	ओहियो	0.455	0.324

जीन मिश्रण की गणना करते समय तीन तथ्यों कों मान्यता प्रदान की जाती है– (i) जीनों का प्रवसन पूर्णरूप से एक जनसमूह से दूसरे जनसमूह में होता है। (ii) विचारणीय युग्म विकल्पी से सम्बन्धित चयनात्मक विवाह (Assortative Mating) नहीं होती। (iii) दो भिन्न जनसमुदायों के मध्य मिश्रण के

फलस्वरूप उत्पन्न युग्मनज प्रजननशील होते हैं। यदि ये प्रजननशील न हो तो किसी भी जीन का प्रवसन या संकरण न होता। लेकिन इसमें पूर्वज जनसमूह का निर्धारण करना कठिन होता है। मिश्रण के परिणाम का आंकलन तीनों में से प्रत्येक जनसमूह में किसी विशेष युग्म विकल्पी की आवृत्ति पर आधारित होता है। यदि पूर्वज समूह का चुनाव करने में त्रुटि हो जाये तो मिश्रण के परिणाम के आंकलन में त्रुटि की सम्भावना होती है।

कभी–कभी यह निर्धारित करना कठिन होता है कि जीन परिवर्तन क्या प्रवसन अथवा संकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही हुआ है ? ऐसा इसलिए क्योंकि जीन अप्रसरण की क्रिया भी इसी प्रकार का जीन परिवर्तन करती है। कभी–कभी इन दोनों विरोधी प्रक्रियाओं के परिणाम एक समान होते हैं। ऐसी स्थिति में एतिहासिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अध्ययनों की सहायता से यह पता लगाया जाता है कि किसी विशेष जनसमुदाय में प्रवसन के फलस्वरूप अन्तर–विवाह या बहिर्विवाह की घटनायें हुई है अथवा उस समुदाय में प्रवासियों के द्वारा लैंगिक सम्बन्ध स्थापित होने से विवाहेत्तर सम्बन्धों की आवृत्ति में वर्धन तो नहीं हुआ है ? यह ज्ञात हो जाने पर प्रवसन एवं जीन अपसरण की क्रियाओं में भेद करना सरल हो जाता है। उदाहरण के लिए यूरोपीय मूल के अमेरिकी निवासी कोलम्बस की खोज के बाद इस महाद्वीप पर तेजी से फैल गये। बंजर भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए अत्यधिक श्रम की आवश्यकता होती थी इसलिये ये लोग अफ्रीकियों को श्रमिक एवं गुलामों के समान प्रयोग करने के लिए ले गये। धीरे–धीरे अफ्रीकी मूल के निवासियों की संख्या भी बढती गयी। कालान्तर में इन दोनों जनसमूहों के मिश्रण का तेजी से हुआ यह ऐतिहासिक एवं सामाजिक अभिलेखों द्वारा प्रमाणित होता है। अतः यूरोपीय मूल के अमेरिकी निवासियों में जीन परिवर्तन संकरण अथवा प्रवसन के फलस्वरूप हुआ। यह ज्ञात हो जाने पर तीनों प्रकार के जनसमुदायों की जीन आवृत्तियों से मिश्रण की दर ज्ञात की जा सकती है।

कभी–कभी विभिन्न ऐतिहासिक अभिलेखों की सत्यता एवं विश्वसनीयता भी भिन्न होती है। वर्तमान समय में अफ्रीकी भागों में रहने वाले अधिकांश जनसमूहों की जीन संरचना वही नहीं है, जो कि 17वीं से 19वीं शताब्दी के मध्य में थी। आधुनिक अफ्रीका में जो जीन संरचना हम आज देखते हैं वह 10 पीढ़ियों पूर्व ऐसी नहीं होगी क्योंकि 17वीं शताब्दी के पश्चात् अफ्रीका में लोगों का स्थानान्तरण हुआ है तथा यह सम्भावना है कि उसकी जीन आवृत्तियों पर प्राकृतिक वरण का कुछ प्रभाव हो। इसलिए किसी जनसमूहों के ऐतिहासिक एवं सामाजिक अभिलेखों का समय एवं स्थान के संदर्भ में विश्लेषण भी आवश्यक है। राबर्टस एवं हिम्पोर्स (1962) ने तीन अमेरिकी जनसमुदायों, – अफ्रीकी – यूरोपीय – भारतीय, के मध्य मिश्रण का अनुमान लगाया जो आठ रुधिर वर्गों पर आधारित हैं। इसे निम्न तालिका में प्रदर्शित किया जा रहा है–

प्रवसन या जीन प्रवाह		
से (From)	को (To)	m
अफ्रीकी	यूरोपीय	0.054
यूरोपीय	अफ्रीकी	0.306
अफ्रीकी	भारतीय	0.048
भारतीय	अफ्रीकी	0
यूरोपीय	भारतीय	0.042
भारतीय	यूरोपीय	0.300

वर्कमैन, ब्लूमबर्ग तथा कूपर (1963) ने संयुक्त राज्य अमेरिका के ग्रामीण जनसमूहों में यूरोपीय मूल के अमेरिकाई एवं अफ्रीकी मूल के अमेरिकाइयों के मध्य जीन प्रवसन का आंकलन किया। इसके लिए अमेरिकी – अफ्रीकी तथा अमेरिकी यूरोपीय मूल की जनसंख्या का प्रतिचयन (Sample) जार्जिया क्षेत्र से लिया। इन्होंने रुधिरवर्गों तथा प्रमुख प्रोटीन एवं एन्जाइमों के आधार पर अपना अध्ययन पूर्ण किया। इनके अनुमान निम्न तालिका में दर्शाये जा रहे हैं–

जीन	युग्म विकल्पी	m
ABo रुधिर वर्ग	A	0.107
" "	B	0.218
Rh "	Ro	0.113
" "	Ri	0.095
" "	r	0.129
BNs "	S	0.143
किड "	JK^a	0.167
P "	P	0.094
डफी रुधिरवर्ग	Fya	0.109
PTC स्वादन क्षमता	T	0.466
सीरम हैप्टोम्लोबिन	Hp1	0.42–0.70
हीमोग्लोबिन	Hb1	0.46–0.69
G–6–PD	G.6.PD	0.34–0.44
ट्रांसफेरिन	TfD1	0.50

इसी प्रकार अम्डमान द्वीपसमूह में रहने वाले पिग्मी तथा कुछ ओशिनियाई द्वीप समूहों जैसे– पापुआ के मिश्रण का अनुमान ब्वायड ने लगाया। चूंकि विश्व के अधिकांश भूभागों में मिश्रण हुआ है, जैसे– आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, ओशीनिया, थाइलैण्ड, भारत आदि। इसलिए इन भूभागों पर रह रही मिश्रित जनसंख्याओं में संकरण का अनुमान किया जा चुका है। कतिपय क्षेत्रों जहाँ पर आज भी प्रवसन एवं संकरण हो रहा हैं, उन जनसमूहों का अध्ययन तेजी से किया जा रहा है। लेकिन जीन प्रवाह की गतिशीलता आजकल शिक्षा में प्रसार, परिवहन के नये साधनों का विकास, संचार व्यवस्था का आधुनिकीकरण आदि के कारण काफी बढ़ गयी है।इसके फलस्वरूप मूल जनसंख्याओं की जीन संरचनायें भी तेजी से परिवर्तित हो रही हैं।

(iii) प्राकृतिक वरण (Natural Selection):

प्रकृतिक वरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कुछ जीनप्ररूप (Genotype) जनन एवं जीवन क्षमता में अन्यों की तुलना में श्रेष्ठता प्राप्त कर लेते है। यह जीव के जीवन चक्र की विभिन्न अवस्थाओं पर क्रिया करता है। जीवों में विकास की क्रिया को प्रेरित करता है। जो जीन प्ररूप परिवर्तित वातावरण के प्रति दक्षता आनुकूलन के उच्चतम स्तर को प्रदर्शित करते है, उन्हें सतत् रूप से प्रोत्साहित करता है। जो जीन परिवर्तित वातावरण के अनुकूलन में श्रेष्ठ नहीं हो पाते, वे कालान्तर में नष्ट हो जाते हैं। अतः कई या दो या दो से अधिक

जीन प्ररूप के उपस्थित होने पर प्राकृतिक वरण पर्यावरण के सर्वाधिक अनुकूल जीन प्ररूप को ही पुनरुत्पादन के लिए प्रेरित करता है। उदाहरण के लिए यदि किसी जीन स्थिति पर दो जीन विकल्पी हों, तो तीन सम्भावित जीन प्ररूप (Genotype) होते हैं, PTC स्वादन क्षमता के जीन संस्थिति पर दो विकल्प (T एवं t) होते हैं तथा इसके तीन जीन प्ररूप (TT, Tt एवं tt) होते है। इसी प्रकार ABO रुधिर प्रणाली के जीन स्थिति (Geneloci) पर तीन विकल्पी– A, B एवं O होते है जिससे सम्भावित 6 जीन प्ररूप– AA, AO, BO, BB, AB एवं OO उत्पन्न होते हैं। इनमें इन जीन प्ररूपों में जो किसी वातावरण के सर्वाधिक अनुकूल होता है प्राकृतिकवरण उसी जीन प्ररूप को पुनरुत्पादन के लिए प्रेरित करती है जैसे– अफ्रीकी जनसमूहों में ABO रुधिर वर्गों में B विकल्पी का वरण होने से BO, BB एवं AB जीन प्ररूपों की आवृत्ति सर्वाधिक है। किसी जीनी संस्थिति पर निश्चित जीन विकल्पियों की संख्या निम्न सूत्र से सरलतापूर्वक ज्ञात की जा सकती है–

$$N = \frac{n(n+1)}{2}$$

यहाँ N जीन प्ररूपों की संख्या हैं तथा n का तात्पर्य जीन विकल्पियों की कुल संख्या से है। चूंकि मानव जीनो (Genome) में दो या तीन से अधिक युग्म विकल्पियों वाली असंख्यों जीन स्थितियाँ (Gene loci) हैं, अतः सम्भावित जीन प्ररूपों की संख्या अनन्त है। जितना बड़ा जनसमूह (मेंडलीय) होगा, उतना ही सम्भावित वृहद् जीन भण्डार होगा जिस पर प्राकृतिक वरण सदैव क्रियायें करता रहता है।

प्रायः ऐसे कई जीनोटाइप होते हैं जो बदलते वातावरण में अपनी जीवन क्षमता खो देते हैं लेकिन उस समुदाय के जीनपूल (Gene Pool) में भिन्न–भिन्न जीन प्ररूप उत्पन्न करने की क्षमता होती है जिसके फलस्वरूप उस समूह में जीन विकल्पियों में पुनसंयोजन (Recombination) होने से परिष्कृत जीन प्ररूप उत्पन्न होते है जो वातावरण के अनुकूल होने पर उनका चयन बार–बार होता रहता है। इस प्रकार प्राकृतिक वरण किसी एक व्यक्ति के जीन विकल्पियों पर क्रियाशील नहीं होता, अपितु सम्पूर्ण समुदाय के जीनपूल पर क्रिया करता है। परिवर्तित वातावरण के अनुकूल होने के लिए सम्पूर्ण जनसमुदाय प्रतिक्रिया करता है। अतः अनुकूलन, जो प्राकृतिक वरण की आवश्यकता इकाई है वह बदले वातावरण के प्रति एक व्यक्ति की नहीं बल्कि सम्पूर्ण जनसमूह की प्रतिक्रिया है।

यहि कोई ऐसा जीन प्ररूप है जो वातावरण के अनुकूल होने में पूर्णतः अक्षम है, धीरे–धीरे अपनी प्रजनन क्षमता खो देता है। फलस्वरूप कालान्तर में जीन प्ररूप का विलोपन हो जाता है। वे जीन प्ररूप जो **घातक** (lethal) एवं **अर्धघातक** (Sublethal) होते है, किसी वातावरण में जीवन के लिए लाभप्रद न होने के कारण उनका नकारात्मक वरण होता है क्योंकि जिन व्यक्तियों में ये हानिकारक लक्षण पाये जाते है, उस व्यक्ति की प्रजनन शक्ति (Reproductive Potency) क्षीण कर देते हैं, इससे इन जीन–प्ररूपों का पुनरुत्पादन नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए वर्णान्धता (Colourblindness) एवं रतौंधी (nightblindness) हानिकारक लक्षण है। थारु जनजाति में इन लक्षणों की आवृत्ति अत्यल्प है। उत्तरी भारत की यह जनजाति प्रायः जंगली कंद–मूल आखेट एवं खाद्य सामग्री एकत्रित करके अपना भरण–पोषण करती है। यदि इन हानिकारक विशेषकों का वरण होता तो इनकी आवृत्ति बढ़ने से सम्पूर्ण जनसंख्या पर नकारात्मक प्रभाव पडता क्योंकि जंगली खाद्य पदार्थों के एकत्र करने में अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पडता है। यदि इन नेत्र विकारों की अधिकता होती तो प्रायः बनीय कीड़ों, जानवरों एवं सांपों के काटने से मृत्युदर की वृद्धि होती, जिससे थारु जनसंख्या की वृद्धि या तो शून्य होती या नकारात्मक होती। इसलिए यह स्पष्ट होता है कि इन रोगों के लिए उत्तरदायी जीनप्ररूपों का प्राकृतिक वरण न होने से जिन व्यक्तियों में ये जीन प्ररूप (विशेषक) विद्यमान थे, उनकी प्रजनन क्षमता क्षीण हो गयी। वरण की क्रिया के फलस्वरूप इन जीन प्ररूपों की आवृत्ति अत्यल्प है (सिंह, 1994)।

इसी प्रकार प्रकृतिवरण की क्रिया के बहुआयामी प्रभाव को एक अन्य उदाहरण से भी समझा जा सकता है।हीमोग्लोबिन – S (Hb–S) एक हानिकारक लक्षण है। इससे रक्तल्पता का रोग (Anaemia) होने से पीडित व्यक्ति की मृत्यु भी हो जाया करती है। लेकिन ये हानिकारक लक्षण थारु आदिवासियों में लाभप्रद सिद्ध होता है क्योंकि थारुओं को मलेरिया (Maleria) महामारी से लड़ने की क्षमता प्रदान करता है। इसलिए मलेरिया युक्त वातावरण में जीवनोपयोगी होने से इस हानिकारक लक्षम Hb–S का सकारात्मक वरण होता है।

वरण सिद्धान्त के अनुसार जीन आवृत्तियों के अन्तर वरण क्रिया के परिणाम है। किन्हीं दो जनसमुदायों में एक ही जीन प्ररूप की दो आवृत्तियाँ– भिन्न आपेक्षिक योग्यतायें (Relative Fitness) हैं। इन्हें आकारिक (Morphological) एवं आनुवंशिक लक्षणों में खोज सकते हैं। इसमें किसी एक जीन की अन्य युग्मविकल्पियों पर श्रेष्ठता का पता लगाया जा सकता है क्योंकि जीन प्ररूप अपनी श्रेष्ठता को अन्य जीन प्ररूपों की अपेक्षा संवर्धित प्रजनन एवं संतति की जीवनक्षमता के रूप में व्यक्ति करते हैं।

आगामी सन्तति पीढ़ी में किसी जीन–प्ररूप के बढ़े हुए अनुपात को 'डार्विनी योग्यता' (Darwinean Fitness), या वरणात्मक मूल्य (Selection Value) कहते हैं। अन्य शब्दों में इस प्रकार की आपेक्षिक वृद्धि को अनुकूली मूल्य (Adaptive Value) कहते है। इसमें वरणप्रभाव किसी विशेष युग्मविकल्प (Pair of Allele) पर कार्य करता है।

यदि किसी समुदायं में दो जीन प्ररूपों में से कोई एक औसत 100 संतति उत्पन्न करता है जबकि दूसरे जीन प्ररूप वाला व्यक्ति 90 संतति उत्पन्न करता है तो पहले की डार्विनी योग्यता या अनुकूली मूल्य 1.00 तथा दूसरे की .90 होगी। इससे यह स्पष्ट होता है कि दूसरा जीन प्ररूप 0.10 प्रतिशत अंक से पिछड़ जाता है या अयोग्य प्रमाणित होता है। इस 0.10 प्रतिशत अक्षमता को 'वरण का गुणांक' (Coefficent of Selection) या वरणांक – S (Selective Coefficient) कहते हैं। आपेक्षिक योग्यता – RF (Relative Fitness) को 1 – s सूत्र से ज्ञात किया जाता है इस सूत्र का निरुपण इसलिए ऐसे किया जाता है क्योंकि s दोनों में से एक जीन प्ररूप का विपरीत या नकारात्मक वरण गुणांक है।

चूंकि वरण का प्रभाव किसी जन समूह के सम्पूर्ण 'जीनोम' (Genome) पर होता है इसलिए वरण का गुणांक अधिक से अधिक जीन प्ररूपों एवं जीन विकल्पियों के समूहों का एकसाथ ज्ञात करना चाहिए, लेकिन एक समय में अनेकों युग्मविकल्पियों के संयोगों का गुणांक कुशलतापूर्वक ज्ञात नहीं किया जा सका है। अतः प्रत्येक युग्म विकल्पी के संयोगों की योग्यता का अध्ययन स्वतन्त्र युग्म विकल्पी के संयोगों की योग्यता का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से प्रायः किया जाता है। शारीरिक मानव विज्ञान में, विषमयुग्मजता (Heterozygosity) पर वरण के अनुकूल प्रभाव होने के कारण निम्न वरण गुणांक की आंकलन पद्धति अत्यन्त लोकप्रिय है क्योंकि ऐसी स्थिति में वरण समयुग्मज के पक्ष में होता है जिससे जनसमूह की आवृत्ति किसी मध्यमूल्य (विषमयुग्मजी) पर सन्तुलित होती है। प्रभावी एवं अप्रभावी विकल्पियों के अध्ययन में वरण–गुणांक को ज्ञात करने हेतु निम्नांकित सूत्र का उपयोग किया जाता है–

$$\Delta = \frac{pq\,(s1p - s2\,q)}{1 - s1\,p^2 - s^2\,q^2}$$

यहाँ p तथा q आवृत्तियों वाले युग्मविकल्पियों के वरण गुणांक क्रमशः s1 एवं s2 p + q – 1 है। Aq एक पीढी के बाद जीन आवृत्ति में परिवर्तन है जहाँ पर वरण क्रिया s1 तथा s2 के परिणाम (Magnitude) में कार्य करेगी।

(iv) जीन अपसरण (Genetic Drift)

इसे 'प्रतिचयन त्रुटि' (Sampling Error) के नाम से भी जाना जाता है। इस कारक खोज सीवेल एवं राइट (Sewall तथा Wright) ने किया था। इस कारण से इसे 'सीवेल–राइट प्रभाव' (Sewall – Wright Effect) भी कहते हैं।

प्रतिचयन् त्रुटि गणित एवं सांख्यकी की गूढ़तम अवधारणा है जो किसी जनसंख्या के छोटे आकार में निरुपित होती है। बडे आकार वाली जनसंख्या में इस कारक के प्रभाव की सम्भावना अत्यल्प होती है जबकि अत्यधिक लघु जनसमुदाय में यह जीन परिवर्तन में अत्यन्त प्रभावशाली होता है। सिद्धान्ततः प्रतिचय त्रुटि तब अधिक प्रभावशाली कारक है जब–

(i) किसी जनसमूह में वांछित युग्मविकल्प की आवृत्ति अत्यल्प हो,

(ii) उस समुदाय से व्यक्तियों का निरन्तर बहिर्गमन (Outmigration) हो, तथा

(iii) विभेदी जनन क्षमता (Fertility–differential) एक समुचित अनुपात में हो।

वस्तुतः जीन अपसरण कोई आनुवंशिक प्रक्रिया नहीं है यह दुर्घटनाओं पर आधारित एक संयोग की प्रक्रिया है। जिसके फलस्वरूप एक अत्यन्त लघु जनसमुदाय में घातक दुर्घटनाओं का कम आवृत्ति वाले युग्म विकल्पी पर निर्णायक प्रभाव पड़ सकता है तथा उस जमसमूह से उस युग्मविकल्पी का विलोपन भी सम्भव हो सकता है। इस प्रक्रिया की व्याख्या एक उदाहरण से की जा सकती है। किसी 200 व्यक्ति वाले एक जनसमूह में 190 रुधिरवर्ग O के है तथा 10 रुधिरवर्ग A के है। यहाँ इस स्थिति की सम्भावना हो सकती है कि 10 व्यक्ति जिनका रुधिरA है इनकी आवृत्ति O की अपेक्षा अत्यल्प है।विभिन्न दुर्घटनाओं से पारस्परिक समागम करके सन्ततियाँ उत्पन्न न कर पाये और यह युग्मविकल्पी विलोपित हो जाये। कोई भी घटना जो इन युग्म विकल्पियों के समागम (Mating) को रोकती है जैसे– दुर्घटना रोग, उपयुक्त पति अथवा पत्नी का अभाव आदि, वह जनसमूह में A युग्म विकल्पी की आवृत्ति को कम करेगी। अतः ये घटनायें जो प्रत्यक्ष रूप से जीन–क्रियाओं से तो सम्बन्धित नहीं है लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से किसी युग्मविकल्पी के विलुप्त होने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती हैं जिसके फलस्वरूप जीन–परिवर्तन होता है।

लघु जनसमूहों में जीन–अपसरण द्वारा प्रायः स्थितिकरण उत्पन्न हो जाता है या कोई विकल्पी लुप्त हो जाता है। इससे एक जनसमूह में कोई एक विकल्पी स्थिर हो जाता है। जैसा कि उक्त उदाहरण में यह इंगित किया गया है कि A रुधिरवर्ग के केवल 10 व्यक्ति है। यदि इस युग्मविकल्पी का समागम अपसरण के फलस्वरूप न हो तो आगामी पीढियों में इस विकल्पी का विलोपन होता जायेगा तथा O विकल्पी का स्थिरीकरण हो जायेगा।

जीन–अपसरण के परिमाण का निर्धारण किसी जनसमूह के प्रजननशील समूह (Reproductive group) जिसे 'प्रभावशील जनसंख्या' (Effective Population) भी कहते हैं इसके अध्ययन से किया जा सकता है। प्रभावशील जनसंख्या का आकार वास्तविक जनसंख्या से कम होता है। इसमें वे सभी विवाहित व्यक्ति सम्मिलित किये जाते है जिनकी आयु 15–45 वर्ष के मध्य होती है।

प्रभावशील जनसंख्या को ज्ञात करने की सरल विधि नेई (Nei, 1965) ने बतायी है जिसमें t किसी जनसंख्या में प्रजनन की औसत आयु तथा Nm प्रतिवर्ष प्रजननशील आयु में पहुंचने वाले व्यक्तियों की संख्या है। यह सूत्र निम्न हैं–

$$Ne = t\,Nm$$

कॉवली एवं स्फोर्जा (Cavalli – Sforza, 1971) ने स्त्री–पुरुषों की प्रभावशील जनसंख्या का आंकलन पृथकरूप से करने का सुझाव दिया। उसके पश्चात् एक जनसमूह की सम्पूर्ण प्रभावशील जनसंख्या निम्नांकित सूत्र से ज्ञात किया जा सकता है–

$$Ne = \frac{4\,Ne\,(m)\,Ne\,(f)}{Ne\,(m) + Ne\,(f)}$$

यहाँ Ne कुल प्रभावशील जनसंख्या है जबकि Ne (m) तथा Ne (f) क्रमशः पुरुष एवं स्त्रियों की प्रभावशील संख्या है।

प्रभावशील जनसंख्या का आकार ज्ञात होने पर जीन अपसरण का आंकलन निम्नलिखित सूत्र से किया जा सकता है–

$$\sigma \Delta q2 = \frac{q(1-q)}{2Ne}$$

यहाँ δ एवं q उस युग्मविकल्पी की आवृत्ति है जिसके लिए आनुवंशिक अपसरण ($\sigma \Delta q2$) की गणना की जा रही है। इस प्रकार उक्त सूत्रों का प्रयोग करके हम किसी जनसमूह की प्रभावशाली जनसंख्या तथा जीन अपसरण का मान ज्ञात कर सकते है। तथा इन संकेताक्षरों में राशियों का प्रयोग करते हुए किसी भी युग्मविकल्पी की आवृत्ति के लिए जीन–अपसरण निर्धारित किया जा सकता है।

(v) प्रथक्करण (Isolation)

यह कारक अन्य आनुवंशिक कारको के साथ अन्तक्रियायें करके किसी जनसंख्या में जीन या विकल्पी परिवर्तन लाता है। कोई जनसमूह जो अपने पूर्वज समूह से भौगोलिक या पर्यावरणीय या प्रवसन आदि कारकों के फलस्वरूप प्रथक हो जाता है वह यदि पृथक हो करके जनन करता रहे तो अपने पूर्वज समूह से भिन्न जीन संरचना को प्रदर्शित करने लगता है। यदि इस विलग समूह पुनः पूर्वज समूह से लैंगिक रूप से मिश्रित हो जाये तो ये भिन्नतायें समानताओं में विलीन हो जाती है। अतः पृथक्करण के लिए यह आवश्यक है कि सन्तति जनसंख्या पूर्वज समूह से भिन्न मिलन प्रारूप (Mating pattern) को अपनाये।

पृथक्करण के दो मूल तत्व हैं– स्थान एवं मिलन प्रारूप। इनमें मिलन प्रारूप किसी समुदाय की समाजिक व सांस्कृतिक मान्यताओं तथा भौगोलिक परिस्थितियों से नियन्त्रित होता है। यह मिलन प्रारूप एक निश्चित 'स्थान' (सीमा रेखा) तक प्रभाशाली होता है। इनकी अन्तक्रियाओं के फलस्वरूप एक विशाल एवं विस्तृत जनसंख्या में कुछ पीढियों उपरान्त 'स्थानीय जनसंख्यायें' (Local Population) उत्पन्न होने लगती हैं। दूसरे शब्दों में स्थानीय जनसंख्यायें 'प्रजनन पृथकता' (Breeding isolation) तथा भौगोलिक दशाओं की क्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है।

चूंकि भूतल पर परिवर्तन अबाधगति से होते रहते हैं, इससे अफ्रीका के कई जनसमूह पूर्वज समुदाय से पृथक हुए हैं या स्वेक्षा से अन्य प्रदेशों में प्रवास किया है। इन घटनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न पृथकता न विश्व के अनेकों जमसमूहों की आवृत्ति को परिवर्तित किया है जिसके साक्ष्य अमेरिकी एवं अफ्रीकी जनसमूहों से एकत्रित किये जा सकते हैं। लेकिन पृथक्करण विरले ही स्वतन्त्र रूप से किसी जनसमूह की जीनी आवृत्ति में परिवर्तन ला पाता है क्योंकि यह अन्य सहगामी कारकों जैसे– वरण, संकरण, प्रवसन, अपसरण आदि के साथ अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है।

जीनी बहुरूपता एवं वरण

(Genetic Polymorphism & Selection)

जीन बहुरूपता को 'किसी अनुवंशिक लक्षण के विभिन्न जीन प्ररूप' के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। सरल शब्दों में जीन बहुरूपता किसी एक विशिष्ट जीन भिन्न–भिन्न रूप हैं जो एक ही जनसंख्या के विभिन्न व्यक्तियों में व्यक्त होते हैं। विभिन्न व्यक्तियों में उस जीन के एक में अधिक विकल्पी, अपने भिन्न–भिन्न युग्म बनाते हैं। इन युग्म विकल्पियों के अनेकों जीन प्ररूप उस जनसंख्या में पाये जाते हैं। इन जीन प्ररूपों की आवृत्तियाँ विविधता को प्रदर्शित करती है। इन युग्मविकल्पियों के आवृत्तियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी बदलती रहती है, जो युग्मविकल्पी बदलते वातावरण में अनुकूलन स्थापित कर सकने में सक्षम होता है उसकी प्रजननशीलता एवं जननक्षमता उसी जीन संस्थिति (Locus) पर स्थित दूसरे युग्मविकल्पी से अधिक होती है। फलस्वरूप एक ही लक्षण के ये विशेष जीन प्ररूप प्रकृति के अनुकूल होने के कारण बार–बार पुनरुत्पादित होते हैं।

यदि उत्परिवर्तन इन आनुवंशिक बहुरूपताओं का अन्तिम स्रोत है, लेकिन बहुरूपी लक्षणों की आवृत्तियाँ सदैव 1 प्रतिशत या उससे कुछ अधिक ($p + q = 1$) रहती है। यदि इन बहुरूपताओं की कुल आवृत्ति 1 प्रतिशत से कम आये, तो यह मान लिया जाता है कि यह उत्परिवर्तन के कारण हुआ तथा उसके उपर वरण क्रियाशील है। उत्परिवर्तन किसी जनसंख्या में नये जीन उत्पन्न करता है, लेकिन फिर भी जनसंख्या की बहुरूपतायें उत्परिवर्तन की क्रिया पर निर्भर नहीं करती। चूंकि उत्परिवर्तन की दर प्रत्येक

पीढ़ी में प्रति 1,00,0000 संस्थिति है, अतः उत्परिवर्तन इतना सूक्ष्म दर एक जनसंख्या की विशाल बहुरूपताओं को उत्पन्न नहीं कर सकती। इन बहुरूपताओं के आकार-वर्धन में प्रमुख भूमिका 'वरण' की होती है क्योंकि वरण की क्रिया से कई पीढ़ियों पश्चात् अनेकों आनुवंशिक संयोग बनने से जीनी बहुरूपता में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त प्रवसन एवं संकरण से नवीन जीन प्रवेश करते हैं। इन नये जीन विकल्पियों से उस जनसंख्या में बहुरूपता पुनः वृद्धि करती है। पुनर्संयोजन (Gene Recombination) भी बहुरूपता को उत्पन्न करता है। इस प्रकार इन सभी प्रक्रियाओं के साथ वरण अन्तर्किया करता है जो अन्य प्रक्रियाओं के साथ-साथ कार्य करता हुआ जीन विकल्पियों के नये-नये संयोगों को एक दिशा प्रदान करता है।

जीनी बहुरूपताओं की आवृत्तियाँ वीनबर्ग सन्तुलन से प्रायः स्थिर रहती है। लेकिन इन बहुरूपताओं में संशोधन वरण के प्रभाव से पीढ़ी दर पीढ़ी होते रहते हैं। चूंकि वरण कई स्तरों पर क्रियाशील होता है अतः बहुरूपताओं की आवृत्तियों में विभेदन का नेतृत्व वरण के द्वारा ही किया जाता है लेकिन युग्मविकल्पियों की आवृत्तियाँ सदैव सन्तुलित रहती है अर्थात् p एवं q (दो विकल्पी व्यवस्था) में दोनों का कुल मान 1 ही रहता है। यदि p की आवृत्ति वरण या अन्य प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बढ़ती है तो q का मान स्वतः कम हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि किसी जनसंख्या में स्वादक (T) जीन के व्यक्ति 85 प्रतिशत (0.85) हैं तो शेष 15 प्रतिशत (0.15) अस्वादक जीन के होंगे। यदि वरण की क्रिया के फलस्वरूप स्वादक जीन की पुनरुत्पादन एवं जनन शक्ति अस्वादक की अपेक्षा अधिक हुई तो अगली पीढियों में स्वादक जीन की आवृत्ति बढती रहेगी तथा दूसरी ओर अस्वादक जीन की, प्राकृतिक वरण का विपरीत प्रभाव पडने से, जनन एवं पुनरुत्पादन क्षमता क्षीण होती जायेगी परिणामस्वरूप अस्वादक जीन की आवृत्ति कम या विलुप्त होती जायेगी। इससे स्वादक एवं अस्वादक जीन की आवृत्ति में पारस्परिक संशोधन अवश्य होगा लेकिन आनुवंशिक सन्तुलन (Genetic Equalibrium $= p + q = 1$) सदैव बना रहेगा।

कभी-कभी p एवं q की आवृत्तियों में योगांक (Sum) में सन्तुलन होने के साथ-साथ विकल्पियों की आवृत्तियाँ भी कई पीढियों तक स्थिर हो जाती है। एक जीन की इस बहुरूपता को 'सन्तुलित बहुरूपता' (Balanced Polymorphism) के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार की बहुरूपता उस स्थिति में विकसित होती है जब किसी जनसंख्या के स्तर पर उदविकासीय कारक तटस्थ या अक्रिय हो जाते हैं।

जब किसी जीन बहुरूपता के लिए एक युग्मविकल्पी की आवृत्ति दूसरे युग्म विकल्पी की आवृत्ति के मूल्य पर ब ढ़ रही हो अर्थात् दूसरे युग्म विकल्पी पर वरण के नकारात्मक प्रभाव से उसकी आवृत्ति में आयी गिरावट का लाभ पहला युग्मविकल्पी प्राप्त करे तथा उसकी आवृत्ति में वृद्धि हो तो इस प्रकार की जीन बहुरूपता को 'क्षणिक बहुरूपता' (Transient polymorphism) कहते हैं। क्षणिक बहुरूपता कई पीढियों तक स्थाई नहीं होती क्योंकि इस अवस्था में वरण तथा अन्य प्रक्रियायें (उत्परिवर्तन आदि) सक्रिय होते हैं।

आनुवंशिक बहुरूपता को जीन अभिव्यक्ति के आधार पर दो भागों में बाँटी जा सकती है। जीन बहुरूपता (Genetypic Polymorphism) एवं व्यक्त बहुरूपता (phenotypic polymorphism)। जीन बहुरूपता का वर्णन अभी किया जा चुका है। संक्षेप में यह वह आनुवंशिक बहुरूपता है जो 'युग्म विकल्पियों' के विभिन्न रूपों में प्रदर्शित होती है जैसे- TT, Tt एवं tt। जबकि व्यक्त बहुरूपता इससे भिन्न है यह जीन अभिव्यक्ति पर आधारित बहुरूपता है। उदाहरण के लिए TT एवं Tt क्रमशः समयुग्मजी एवं विषमयुग्मजी विकल्पी बहुरूपता हैं लेकिन यहसंयोग एक जीन के दो विकल्पियों पर आधारित है। इनमें एक प्रभावी (T) तथा दूसरा अप्रभावी विकल्पी (t) है। विषमयुग्मजी स्थिति में प्रभावी विकल्पी ही व्यक्त हो पाता है तथा अप्रभावी अप्रकट रहता है। अतः TT एवं Tt का व्यक्त रूप 'स्वादन क्षमता' है और इस आनुवंशिक लक्षण की व्यक्त बहुरूपता स्वादन एवं अस्वादन क्षमता है। चार्ल्स डार्विन अपने सर्वेक्षण के दिनों में इन्हीं बहुरूपता का अवलोकन करके उत्साहित हुए थे, जबकि इन बहुरूपताओं के मूल स्वरूप (जीन बहुरूपता) का ज्ञान मेण्डल के उपरान्त हो सका।

यह आनुवंशिक बहुरूपता एक जीन के स्तर पर ही नहीं दृष्टिगोचर होती है बल्कि यह बहुरूपता एक कोशिकीय गुणसूत्र, प्रोटीन एवं डी एन ए स्तर पर भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। कोशिकीय स्तर की बहुरूपतायें लाल रक्त कोशिकाओं (RBO) में देखी जा सकती है। इन कोशिकाओं का आकार प्रायः गोल एवं टिकिया जैसा होता है जिसमें हीमोग्लोबिन विद्यमान होता है लेकिन इसका आकार परिवर्तनशील होता है ये कभी-कभी हंसियाकार भी होता है। इस कोशिकीय लक्षण की बहुरूपता SS, Ss एवं ss जीन प्ररूप से व्यक्त किया जाता है। इसी लाल रक्त कोशिका के स्तर पर A, B, AB, तथा O रुधिरवर्ग पाये जाते है जो

विकल्पियों A, B एवं O से नियन्त्रित होते हैं। गुणसूत्र – 1 पर स्थित जीन यह इंगित करता है कि 'ट्रांसफरेजउत्प्रेरक(Transferase enjyme) वर्ग –A के प्रोटीन विशिष्ट शर्करा– 'एसीटाइल गैलैक्टोसीमाइन' (Acetyle Galactoseamine) की वृद्धि करता है। रुधिर वर्ग –B में गैलैक्टोज' Galactors) की वृद्धि होती है। रुधिर वर्ग – O के पदार्थ में कोई भी अतिरिक्त पदार्थ संयुक्त नहीं होता। इस प्रकार जैव रासायनिक पदार्थों की विद्यमानता से एक जनसंख्या के व्यक्तियों में RBC के आनुवंशिक स्वरूप में बहुरूपता प्रदर्शित होती है।

गुणसूत्र संरचना का विन्यास (arrangement) परिवर्तित होता रहता है इससे एक जनसमूह में गुणसूत्र विविध विन्यासों तथा पुनर्विन्यासों के देखे गये हैं। एक जनसंख्या के गुणसूत्री क्रम विन्यास में परिवर्तन होने से बहुरूपता उत्पन्न हुई है। एक जनसंख्या में गुणसूत्री विन्यास के स्तर पर आयी बहुरूपता विपथन के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।जिसकी विस्तृत परिचर्चा अध्याय – 5 में कर चुके हैं।

प्रोटीन एवं एन्जाइम के स्तर पर अनेकों विशेषकों की आनुवंशिक बहुरूपतायें 'जेल–इलेक्ट्रोफोरेसिस' (Gel–Electrophoresis) विधि से ज्ञात की गयी हैं, जैसे– हीमोग्लोबिन (Hb), हैम्टोग्लोबिन (Hp), ट्रांसफेरिन (Tf), इस्टरेज– D (Er– D), पी एम जी (PMG), ग्लूकोज – 6– डीहाइड्रोजिनेज (G–6–PD) आदि विशेषकों की बहुरूपतायें। इसी प्रकार मानव जनसमूहों में DNA बहुरूपता अनेकों विधियों से ज्ञात की गयी है जिसका उल्लेख अध्याय –6 एवं –10 में किया गया है।

इस प्रकार आनुवंशिक बहुरूपता एक जनसंख्या को एक ही लक्षण के विविध समूह प्रदान करती है जिससे वह जनसंख्या बदले वातावरण में अनुकूलन स्थापित करने में सक्षम होती है।

बहुविकल्पी एवं बहुल जीन
(Multiple Allele & Polygenes)

1. बहुविकल्पी (Multiple Alleles)

जैसा कि इसके पूर्व भी कहा गया है कि मानव के विभिन्न लक्षण जीनों द्वारा निर्धारित होते हैं। इनमें से कुछ ऐसे लक्षण होते है जो विशिष्ट एकल जीन द्वारा नियन्त्रित होते है। एक जीन द्वारा नियन्त्रित होने वाले लक्षणों के वैकल्पिक रूप से उस जीन के विकल्पी (allele) द्वारा निर्धारित होते हैं जैसे– P.T.C. स्वादन क्षमता एवं अक्षमता दो पृथक् विकल्पी T एवं t द्वारा निर्धारित होती है। प्रत्येक मनुष्य में ये विकल्पी युग्म रूप में पाये जाते है, जैसे– TT, tt, Tt आदि। इन युग्म विकल्पियों में एक विकल्पी माता से तथा दूसरा पिता से आता है। एक जनसंख्या में प्रायः आनुवंशिक लक्षणों की दो विकल्पी व्यवस्थायें देखी जाती है लेकिन कुछ ऐसे भी जीन होते है जो तीन अथवा अधिक उत्परिवर्ती (विकल्पी) रखते है। इन्हें सामूहिक रूप से 'बहुविकल्पी' (Multiple Allele) की संज्ञा दी जाती है। उदाहरण के लिए मानव के रुधिर वर्ग– ABO, Rh, MNs, Hb आदि। ABO रुधिर वर्गों का निर्धारण 3 विकल्पियों– A, B एवं O के द्वारा, Rh रुधिर वर्ग में आठ विकल्पी– RZ, RT, R2, RO, r, r1, r2 एवं ry; MNs में तीन विकल्पी– M, N एवं S तथा हीमोग्लोबिन में Hb–A, Hb A2, Hb–F, Hb–S आदि विकल्पी इन लक्षणों के विभिन्न रूपों का निर्धारण करते हैं।

बहुविकल्पियों की प्रमुख विशिष्टतायें निम्नलिखित हैं–

1. बहु विकल्पी सजातीय गुणसूत्रों (Homologous Chromosoms) पर सदैव एक ही जीन–स्थल (locus) पर स्थित होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि युग्म विकल्पियों जैसे– AA, में से एक विकल्पी केवल एक गुणसूत्र के निश्चित स्थल पर स्थित होता है जबकि दूसरा विकल्पी दूसरे सजातीय गुणसूत्र के उसी स्थल पर विद्यमान होता है।

2. ये सदैव एक ही लक्षण को निर्धारित करते है लेकिन उस लक्षम के कई वैकल्पिक रूपों को नियन्त्रित करने में सक्षम होते हैं।

3. इन बहुविकल्पियों की वंशागति मुख्यतः मेण्डलीय पद्धति से होती है। इनमें से कुछ विकल्पी

प्रभावी तथा कुछ अप्रभावी होते है। कभी–कभी इन बहुविकल्पियों की वंशागति मेण्डलीय नियमों से भिन्न होती है जैसे ABC रुधिर वर्ग में A तथा B दोनों प्रभावी विकल्पी है इनकी वंशागति 'सहप्रभावी' (Co-dominance) रूप से होती है।

4. इनमें सामान्य विकल्पी सदैव प्रबल होते है लेकिन उत्परिवर्ती बहुविकल्पी आपस में पूर्ण एवं अपूर्ण प्रभाविता प्रदर्शित करते हैं।

5. बहुविकल्पी स्वभाव से बहुरूपता को प्रदर्शित करते हैं। किसी जनसमूह में इन विकल्पियों से प्रदर्शित बहुरूपता अन्य आनुवंशिक लक्षणों की बहुरूपता से सर्वथा अधिक होती है।

6. सभी बहुविकल्पी बहुरूपता को प्रदर्शित करते है लेकिन समस्त आनुवंशिक बहुरूपतायें (Polymorphism) सदैव बहुविकल्पी की देन नहीं होती।

2. बहुल जीन (Polygenes)

मानव जनसंख्या में व्यावहारिक महत्व के अनेकों लक्षण होते हैं जिनसे एक जनसंख्या के व्यक्तियों के शारीरिक एवं आकारिक रचना का अनुमान किया जाता है, जैसे– शारीरिक कद, भार, शरीर की विभिन्न मानवमितीय मापें, मानवीक्षिक लक्षण (Somltoscopic Character) आदि। चूंकि इन लक्षणों को लम्बाई, भार, चौडाई, समय, माप–इकाई व संख्या द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, अतः इसी परिमाणात्मक अभिव्यक्ति के फलस्वरूप इन लक्षणों को 'मात्रात्मक लक्षण' (Quantitative Character) भी कहा जाता है।

इन 'मात्रात्मक लक्षणों' या 'आकारिक लक्षणों' (Morphological Characters) का नियन्त्रण 'बहुजीन'(Polygenes या multiple genes) करते हैं। इन लक्षणों की वंशागति की सर्वप्रथम व्याख्या स्वीडन के आनुवंशिक विद निल्सन–इहले (Nilson Ehle) ने किया। इनके अनुसार– "बहुजीन उस श्रेणी के जीनों को कहते हैं जब किसी एक लक्षण की अभिव्यक्ति हेतु दो या दो से अधिक जीन स्वतन्त्र रूप से उत्तरदायी हो।" इन जीनों के प्रभाव संवर्धनशील या योग्य (Additive) अवश्य होने चाहिए।

ये जीन (बहुजीन) किसी लक्षण को एक निश्चित मात्रा तक प्रभावित करते है। किसी लक्षण विशेष पर जीनों का वास्तविक प्रभाव जीनों की मात्रा पर निर्भर करता हैं। अतः एक जीन का प्रभाव कम, दो जीन का प्रभाव उससे अधिक, तीन जीनों का प्रभाव उससे भी अधिक होता है। इसी प्रकार जितनी जीनों की संख्या बढ़ेगी, उतना जीन प्रभाव बढ़ता जायेगा। उदाहरण स्वरूप मानव जनसंख्या में त्वचा का रंग बहुजीनों द्वारा नियन्त्रित होता है। यदि एक काले नीग्रों का विवाह किसी श्वेत काकेसॉयड स्त्री से हो तो सन्तान की त्वचा का रंग मध्यवर्ती होता है क्योंकि नीग्रों की त्वचा में रंजक तत्व सघन रूप में पाये जाते है जबकि श्वेत काकेसॉयड में विरल रूप से पाये जाते है। इन तत्वों का नियन्त्रण जीनों के द्वारा होने से इन दोनों माता–पिता की सन्ततियाँ मध्यवर्ती जीनों की मात्रा तथा उसके प्रभाव को प्रदर्शित करती हैं। इन लक्षणों की वंशागति मेण्डलीय पद्धति से भिन्न होती है। इन लक्षणों में जीन–प्रवाह उनकी मात्रा पर आधारित होता है। दूसरे शब्दों में यदि यह मान लें कि नीग्रों की त्वचा का गाढ़ा रंग जीनों के द्वारा नियन्त्रित होता है जबकि कॉकेसायड की त्वचा का श्वेत रंग दो जीन द्वारा नियन्त्रित होता है, तो नीग्रों की त्वचा का गाढ़ा रंग प्रभावी जीन (अधिक जीन) तथा श्वेत रंग अप्रभावी जीन (कम जीन) के द्वारा नियन्त्रित होंगे। माता–पिता के युग्मकों के आधे–आधे जीन पारगमित होने से सन्ततियों में मध्यवर्ती स्थिति उत्पन्न होती हैं।

***

20

मानव आनुवंशिकी के उपयोग

विगत् कई वर्षों से मानव आनुवंशिकी के सिद्धआन्तों, भौतिक रासायनिक एवं आणविक तथ्यों का मानव समाज के व्यवाहारिक जीवन में उपयोग किया जाता रहा है। इस अवधि में असंख्यों कठिनाइयों का सामाना किया गया तथा इसके निवारण के अनेकों उपाय भी खोजे गये। वाट्सन एवं क्रिक की खोज ने इस क्षेत्र में एक नवीन लहर पैदा कर दी, जिससे जीवन के प्रत्येक धरातल पर इस अधनातन ज्ञान का उपयोग किया जाने लगा। मानव समुदाय की अटूट मान्यतायें, यद्यपि आनुवंशिक अध्ययनों में बाधक सिद्ध होती है, लेकिन रासायनिक एवं आणविक क्षेत्र के प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि मानव समाज के उत्थान में आनुवंशिकी के उपयोग की सम्भावनायें बहुत हैं। अभी तक जिन क्षेत्रों में मानव के आनुवंशिक ज्ञान का उपयोग हुआ हैं, उनमें प्रमुख क्षेत्र हैं : पितृजता (पितृत्व/मातृत्व) या चिकित्सा विधिक उपयोग (Parentage (Paternity/Maternity) Determination or Medico-legal Applications), आनुवंशिक परामर्श (Genetic Counseling), जीन उपचार (Gene Therapy), आनुवंशिक अभियान्त्रिकी (Genetic Engineering) कुछ प्रमुख क्षेत्रों का वर्णन यहाँ कियां जा रहा है।

1. पितृजता (पितृत्व/मातृत्व) निर्धारण

(Parentage-Paternity/Maternity Determination)

मानव जीवन अनेकों विपदाओं एवं बाधाओं से घिरा हुआ होता है। इन आपदाओं का शिकार होने पर कई-कई गाँव, नगर एवं प्रदेश के निवासी पल भर में छिन्न-भिन्न हो जाते है। इससे वह मानव समुदाय एवं उसकी संस्कृति विखण्डित हो जाती है। उस समुदाय के कई-कई परिवार बिखर जाते है। पति, पत्नी से बच्चे, माता-पिता से अथवा सन्ततियाँ अपने सगे-सम्बन्धियों से बिछुड जाते हैं। इन दुर्घटनाओं में असंख्यों बच्चे माता-पिता बिछुड़ जाने से अनाथ हो जाते हैं। कभी-कभी सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध सम्बन्धों से उत्पन्न अवैध बच्चे सामुदायिक तथा वैधानिक दण्डों या लोग-लाज के भय से त्याग दिये जाते है। इन अवैध बच्चों के जन्म की दर खुले समाजों जैसे- यूरोपीय देशों, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि में अपेक्षाकृत अधिक देखी गयी है। एक अनुमान से यह कहा जा सकता है कि 1000 जीवित जन्मों में 40 बच्चे अवैध पाये जाते हैं। 1956 के आंकड़े के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में कुल 41,63,090 जीवित जन्मों में 1,93,500 अवैध बच्चों ने जन्म लिया। अनुमानतः भारत में भी प्रतिदिन कई अवैध बच्चे जन्म लेते है। यदि विवाहेतर सम्बन्धों (Extra-Marital relations) के फलस्वरूप जन्में बच्चों की संखया इसमें और जोडे, तो ये आंकड़ें और बढ़ जायेंगे।

पितृत्व- इससे सम्बन्धित प्रायः कुछ प्रश्न उठते हैं कि पितृत्व क्या है ? इसके निर्धारण की आवश्यकता क्यों है? जिस मानव ने अपने जीवन को सुगम बनाने के लिए, समाज, संस्कृति, सभ्यता नियम कानून आदि का सृजन किया, वह क्या इन अवैध शिशुओं की सामाजिक समस्या के सन्दर्भ में मौन रहा ? यदि लैंगिक सम्बन्धों के फलस्वरूप उत्पन्न बच्चों को सुरक्षा प्रदान करने हेतु 'विवाह संस्था' के माध्यम से सामाजिक वैधता प्रदान की गयी, तो क्या इसके पश्चात् भी उत्पन्न अवैध शिशुओं की सामाजिक सुरक्षा हेतु प्रयास हुए ? इन प्रश्नों के उत्तर सरलता से प्राप्त हो जाते है, जब हम मानव सभ्यता के इतिहास का सिंहावलोकन

करे। इसके अभिलेख स्पष्ट करते है कि मनव आदिम काल से ही इन समस्याओं का समाधान करता रहा है। प्राकृतिक आपदाओं से निपटने हेतु आश्रम, अनाथालय, सेवा–प्रतिष्ठान आदि बनवाये गये। जिससे बिछुड़े सगे–संम्बन्धी पुनः मिल सकें। इसके अतिरिक्त माता–पिता की बिछुड़ी सन्ततियों के मिलन से उपजे विवादों को समाप्त करने हेतु अनेकों वैधानिक तथा साक्ष्य आधारित तरीके अपनाये जाते रहे। इन साक्ष्यों का महत्व तब और बढ़ जब बच्चे के पालन–पोषण का उत्तरदायित्व संदिग्ध माता–पिता से नहीं लिया अथवा सम्पत्ति–हस्तान्तरण, राष्ट्रीयता आदि अधिकार माता–पिता से पुत्र को प्राप्त नहीं हुए। ऐसी स्थिति में उस समुदाय या राष्ट्र को उस अवैध सन्तान को सामाजिक एवं राष्ट्रीय वैधता प्रदान करने हेतु अनेकों प्रावधान करने होते हैं। इनमें सरल प्रावधान अवैध या परित्यक्त बच्चों के वस्तविक माता–पिता का निर्धारण है। यदि अवैध बच्चे एवं उनके संदिग्ध माता–पिता का आनुवंशिक अध्ययन कर लिया जाये तो इस सन्दर्भ में सम्भावित मातृत्व अथवा पितृत्व का निर्धारण सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

भारत में पितृत्व या मातृत्व निर्धारण की न्यायिक मांग अत्यल्प ह। कभी–कभी प्रसूति–गृह या महिला अस्पतालों में नवजात शिशु बदलने की घटनायें प्रकाश में आती हैं।लेकिन अवैध बच्चों का पंजीकरण नहीं होता है और न ही कोई स्त्री अपने बच्चे के लिए किसी पुरुष से पालन–पोषण का भुगतान न्यायालय द्वारा मांगने का साहस करती है। कभी–कभी कोई व्यक्ति अपनी पत्नी के चरित्र पर संदेह करके उससे विवाह विच्छेद करने की अपील न्यायालय से करता है। विवाह विच्छेद या बलात्कार की घटनाएँ न्यायालय तक आती है।दूसरे यहाँ दो तिहाई जनता गांव में रहती है जो निरक्षरता एवं गरीबी की रेखा के नीचे है यह जनता इन विवादों का निस्तारण गांव स्तर पर पर कर लेती है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में चूंकि अनेकों राष्ट्रों में सम्पत्ति का हस्तान्तरण पिता से पुत्र एवं पुत्री को होता है तथा सन्ततियों के पालन–पोषण का उत्तदायित्व पिता का होता है, इसलिये पितृत्व–विवाहों की आवृत्ति मातृत्व–विवादों की तुलना में अधिक होती है। ये दोनों प्रकार के विवाद प्रायः न्यायालयों के सम्मुख आते है उस समय न्यायलाय अनेक बहुआयामी साक्ष्यों के प्रकाश में अपना निर्णय देता है जो दोनों पक्षों को अन्ततः स्वीकारना होता है।

पितृत्व या मातृत्व विश्लेषण का उद्देश्य

पितृत्व विश्लेषण की आवश्यकता उसी समय होती है जब कोई पक्ष किसी स्त्री या पुरुष पर यह संदेह व्यक्त करे कि अमुक सन्तान उसकी नहीं है तथा यह आरोप लगाये कि यह एक अवैध सन्तान है, या वह पक्ष यह दावा करे कि अमुक सन्तान उसकी ही है। ऐसी स्थिति में प्रायः एक पक्ष (वादी) न्यायालय की शरण में जाता है तथा न्यायालय उचित कदम ले करके द्वितीय पक्ष (प्रतिवादी) के मत का निरीक्षण करते हुए कार्यवाही आरम्भ करता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि पितृत्व या मातृत्व या दोनों पितृत्व के (Parentage) विश्लेषण की आवश्यकता उसी समय होती है जब वादी या प्रतिवादी में से कोई एक किसी विशेष परीक्षण की मांग करे या न्यायालय मामले की पेचीदगी को समझते हुए संदिग्ध पितृजता का सामाजिक जैविक तथा आनुवंशिक परीक्षण करने का आदेश दे।

विश्व के कुछ न्यायालय आज भी संदिग्ध पितृजता का परीक्षण केवल सामाजिक–सांस्कृतिक साक्ष्यों के आधार पर करते हैं। कुछ आदिम समाज इस प्रकार के विवादों को सामुदायिक स्तर की समितियों के माध्यम से सुलझा लेते हैं। लेकिन विकसित एवं विकासशील देशों में अधिकांश न्यायालय इन समस्याओं का निस्तारण सामाजिक एवं जैविक साक्ष्यों के आधार पर करते हैं।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में शिशुओं एवं माता–पिता के वाह्य शारीरिक लक्षणों के आधार पर पितृजता का अनुमान किया जाता रहा है। यूरोपीय न्यायालयों मे मानवमितीय मापों के आधार पर वैयक्तिक पहचान की विधि अत्यन्त लोकप्रिय रही है जिसे 'बर्टिलानेज तकनीक' (Bertilanage Technique) कहा जाता

था। इसके पश्चात् गाल्टन तकनीक (Galton Technique) ने इसे प्रतिस्थापित कर दिया जिसमें त्वचा प्रारूपों (अंगुली) को साक्ष्यों के रूप में प्रयोग किया जाता था। लेकिन संदिग्ध पितृजता हेतु इन मानवमितिक (Anthropmetric), मानवीक्षिक (Somatoscopic) एवं त्वाचा प्रारूपशास्त्रीय (Dermatoglyphic) लक्षणों के तुलनात्मक अध्ययन से अवैध शिशु, माता एवं लक्षणों में अधिक समानता होने पर न्यायालय द्वारा यह आदेश कि उस बच्चे की पितृजता स्वीकार करे। कैसे भी हो ऐसी स्थिति में यह पूर्णतः प्रमाणित करना कठिन होता था कि अमुक व्यक्ति ही एक बच्चे का पिता या माता है क्योंकि ये आकारवीक्षिक (Morphological), आकारमितिक (Morphometric) तथा अंगुली त्वचा प्रारूपीय लक्षणों की पूर्ण समानता या पूर्ण विषमता की सम्भावना कभी भी नहीं होती। एक शिशु में चूंकि मां एवं पिता दोनों के लक्षण संयुक्त रूप से व्यक्त होते हैं इसलिए कालान्तर में इन तुलनात्मक अध्ययनों में सांख्यकीय नियमों की की सहायता ली गयी। इससे यह स्पष्ट हुआ कि किसी भी व्यक्ति (माता या पिता) की पितृजता केवल 50 प्रतिशत ही होती है। अतः 20वीं शदी के उत्तरार्ध में यह अनुभव किया गया कि पितृजता का आंकलन मात्र उक्त लक्षणों से ही नहीं अपितु इसके लिए अधिक उत्तम एवं विश्वसनीय कोटि के जैविक सामाजिक व नृजातीय साक्ष्यों का उपयोग होना चाहिए।

जैविक साक्ष्यों की विश्वसनीयता का परीक्षण निम्न प्रमुख आनुवंशिक नियमों की सहायता से किया जा सकता है–

1. सभी जैविक लक्षण एक या एक से अधिक (बहुजीनी) जीनों के द्वारा नियन्त्रित होते है। चूंकि जीन के दो यो दो से अधिक विकल्पी होते हैं इसलिए प्रायः ये लक्षण बहुरूपता (Polymorphism) को प्रदर्शित करते हैं। ऐसी स्थिति में इन लक्षणों की वंशागति स्पष्ट रूप से ज्ञात होना चाहिए कि अमुक लक्षण किस प्रकार के आनुवंशिक क्रियाविधि– प्रभावी, अप्रभावी, सहप्रभावी, लिंग सहलग्न आदि का अनुसरण करता है।

2. लक्षण सरल एवं सामान्य रूप से वंशानुगत हो ताकि उसकी वंशागति से सम्बन्धित कोई विवाद न हो।

3. विवादित लक्षण का पितृजन आंकलन में उपयोग नहीं होना चाहिए।

4. अधिकांशतः उन्हीं लक्षणों का उपयोग हो जो एक जीन से नियन्त्रित होते हैं क्योंकि इनके जीन प्ररूप एवं व्यक्त प्ररूप की सांख्यकीय सम्भावना को ज्ञात करना सरल एवं स्पष्ट होता है।

5. बहुविकल्पी, जैवरासायनिक, प्रतिरक्षा वैज्ञानिक, गुणसूत्री एवं आणविक लक्षणों का उपयोग उत्तम होता है क्योंकि इनकी वंशागति सरल विवादों से परे है।

6. प्रयुक्त लक्षण की जीन अभिव्यक्ति मे विवाद नहीं होना चाहिए, तथा उन्हीं लक्षणों कि चयन करना चाहिए जो अपेक्षाकृत सामान्य रूप से व्यक्त हो।

7. जिन लक्षणों की आवृत्ति किसी जनसंख्या में सर्वाधिक है तथा वह सामान्य रूप से लगभग सभी में पाया जाता है, उस लक्षण का चयन नहीं करना चाहिए।

8. उन्हीं लक्षण का चयन होना चाहिए जो जन्म से मृत्यु पर्यन्त स्थायी हो।

9. उन विरले एवं विशिष्ट नृजातीय (Ethnological) लक्षणों का चयन अवश्य करना चाहिए। जो आनुवंशिकता प्रमाणित करने में सहायक हो, भले ही वे अनानुवंशिक साक्ष्यों के रूप में मान्य हो।

चूंकि प्रत्येक वंशानुगत लक्षण के सन्तति में पारगमन होने की सम्भावना का 50 प्रतिशत से अधिक नहीं होती। अतः पितृजता निर्धारण के लिए अधिक से अधिक लक्षणों का प्रयोग करना चाहिए जिससे प्रत्येक लक्षण की सांख्यकीय सम्भावना से सम्भावना गुणांक (Coefficient of Probability) का पता किया जा सके। सम्भावना गुणांक को निम्न सूत्र से ज्ञात किया जा सकता है–

COP = Σ i

(Coefficient of Probability) ळ (Sum of Probability of each Character)

उक्त गुणांक का मान जितना अधिक होगा, पितृजता (मातृत्व या पितृत्व) का निर्धारण उतना ही सटीक तथा संगत होगा लेकिन प्रत्येक न्यायालय इन परिणामों को स्वीकारने या अस्वीकारने में स्वतन्त्र है। यह भी सम्भव है कि वह इन साक्ष्यों की तुलना में अन्य साक्ष्यों को अधिक महत्व दे या इन मानव वैज्ञानिक (आनुवंशिक) मतों को आमन्त्रित किये बिना अपना निर्णय दे दे।विश्व के अधिकांश न्यायालय जिन मानव आनुवंशिक लक्षणों को पितृजता निर्धारण में प्रायः स्वीकार करती है, वे इस प्रकार है–रुधिर वैज्ञानिक (ABO, Rh, MNs etc), प्रतिरक्षा वैज्ञानिक (HAL, lg, etc) जैव रासायनिक (Hb, Hp, Tf, G–6 PD etc), आणविक (DNA फिंगर प्रिंट, PCR etc) अन्य आनुवंशिक लक्षण (PTC, वर्णान्धता, हीमोफीलिया, हाइपरट्राइकॉसिस) त्वचा प्रारूपीय (Dermatoghyphic) तथा आकारिक लक्षण (सिर प्रकार, नासिका, कर्णपल्लव, नेत्र, होंठ, भौंह, त्वचा वर्ण आदि)।

क्या सकारोक्ति पितृजता (पितृत्व) सम्भव है ?

(Is Possitice Inclusion of Parentage Possible)

मॉर (Mohr 1960) ने नार्वे की न्यायालय का एक निर्मय उद्‌धृत किया जिसमें एक सामान्य माता के लघु व गठीले आकार की अंगुलि वाले (Brachy phalangic) बच्चे के सम्भावित पिता का निर्धारण किया गया था। सर्वप्रथम तो सम्भावित पिता ने तथाकथित बच्चे के पितृत्व को अस्वीकार किया लेकिन जब न्यायालय ने उससे उंगली दिखाने के लिए कहा तो वह लघु–अंगुली वाला पाया गया। इस लक्षण के आधार पर न्यायालय ने उस संदिग्ध व्यक्ति को बच्चे का पिता निर्धारित किया तथा बच्चे की सुरक्षा व पालन पोषण हेतु उसे आदेश दिया।

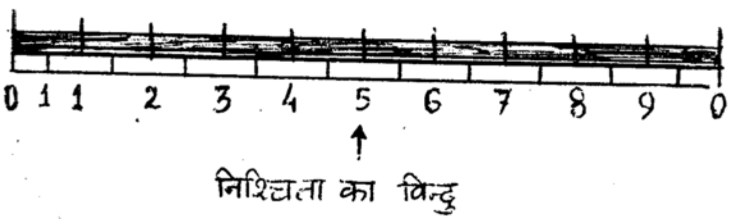
यह निर्धारण छोटी एवं गठीले आकार की उंगली सरीके आनुवंशिक लक्षण के आधार पर किया गया। यह एक प्रभावी जीन के द्वारा नियन्त्रित होता है। इसकी आवृत्ति अत्यल्प है। किसी अन्य व्यक्ति के पिता होने की सम्भावना अल्प थी क्योंकि यदि वह व्यक्ति समयुग्मजी जीन–प्ररूप का होता तो शत–प्रतिशत बच्चे गठीली उगंली के होते। अन्य स्थिति में यदि वह व्यक्ति विषमयुग्मजी जीन प्ररूप का था तो भी उसके 50 प्रतिशत बच्चों में यह लक्षण व्यक्त अवश्य होता। शेष 50 प्रतिशत सम्भावना सामान्य बच्चे के उत्पन्न होने की होती। यदि लघु एवं गठीली उगंली वाला बच्चा नहीं भी होता तथा वह सामान्य होता तो भी वह व्यक्ति पितृत्व से पूर्णतः मुक्त न हो पाता क्योंकि उस व्यक्ति में 50 प्रतिशत सामान्य बच्चे होने की सम्भावना बनी रहती। इस स्थिति में पितृत्व निर्धारण अनिर्णीत रहता जब तक कोई अन्य लक्षण सामने न आते।

सकारोक्ति पितृजता सम्बन्धी एक उदाहरण को कर्ट स्टर्न (1960) ने भी उद्‌धृत किया है।यह निर्धारण Rh रुधिर वर्ग के एक विशिष्ट प्ररूप ry पर आधारित है। इस लक्षण की आवृत्ति भी अत्यधिक कम होती है। अनुमानतः यह प्रति 1000 व्यक्ति में पाया जाता है। यह एक विकल्पी– ry द्वारा नियन्त्रित होता है। यह विकल्पी माता के रुधिर में अनुपस्थित था लेकिन पुत्र के रुधिर में विषयमयुग्मजी स्थिति में वर्तमान था। इस पुत्र का पिता होने का संदेह जिस व्यक्ति पर किया जाता था, उसके रुधिर वर्ग की जांच करने पर यह पता चला कि यह विकल्पी– yr उसके रुधिर में वर्तमान है। अतः अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा उस संदिग्ध व्यक्ति के पिता होने की सम्भावना सर्वाधिक है।यह भी सम्भव है कि बड़े आकार वाले जनसमूह में अन्य लोगों भी ry विकल्पी वाले रुधिर के हो, फिर भी संदिग्ध व्यक्ति के पिता होने की सम्भावना सबसे अधिक

है क्योंकि 'सकारोक्ति पितृजता निर्धारण' (Possitive Assignment of Paternity) मात्र यथोचित जीन प्ररूप पर ही निर्भर नहीं होता बल्कि यह 'अनानुवंशिक साक्ष्यों' की शक्ति पर भी आधारित होता है जिसे पितृजता निर्धारण सरल एवं स्पष्ट हो जाता है।

यह सकारात्मक सम्भावना उस समय और अधिक बढ जाती है यदि कोई अवैध बच्चा कई दुर्लक्ष एवं विरल विकल्पियों का वाहक होता है जो सभी किसी संदिग्ध व्यक्ति में तो पाये जाते हैं लेकिन उसकी माता इन लक्षणों को व्यक्त नहीं करती। ऐसी स्थिति में अनानुवंशिक साक्ष्यों की अनदेखी भी की जा सकती है क्योंकि आनुवंशिक साक्ष्य वास्तविकता के अत्यधिक निकट हैं।

जर्मनी के न्यायालय भी जैविक एवं अन–आनुवंशिक साक्ष्यों के आधार पर पितृजता (पितृत्व या मातृत्व) का सकारात्मक निर्धारण प्रायः करते हैं। ये न्यायालय 'सम्भावना के उच्च मान' (High Degree of Probability) को अधिक विश्वसनीय मानते है। इन न्यायालयों में पितृत्व निर्धारण हेतु अधिक सम्भावना एवं अत्यधिक असम्भाव्य की सीमा रेखा निर्धारित की जाती है। इसे एक रेखाचित्र से दर्शाया जा सकता है।



चूंकि बच्चे (अवैध) एवं संदिग्ध पिता के लक्षणों को दो श्रेणी में रखा जा सकता है : समान लक्षण एवं असमान लक्षण। वे लक्षण जो इन दोनों के मध्य है उनकी समानता व असमानता का अनुपात ज्ञात करके यथासंगत श्रेणी के गुणांक में सम्मिलित किया जा सकता है। इसके पश्चात् क्रमवार समान लक्षणों से सम्भावना को तथा असमान लक्षणों से असम्भावना के अंकों को निकाला जाता है। उक्त सम्भावना मापक में 1–5 तथा 5–9 क्रमशः सम्भव, –3 है। तो सम्भव, –4 है तो अधिक सम्भव, तथा –5 है तो यह मान निश्चितता के बिंदु तक सम्भव है।इसके विपरीत असम्भाव्य–पितृत्व का निर्धारण भी इस मानक में दर्शाया गया है जिसे 5–9 वे बिंदुओं के मध्य देखा जा सकता है। यह बच्चे तथा संदिग्ध पिता के लक्षणों में निम्नतम विषमता का तो 6वें बिंदु पर तथा उच्चतम विषमता को 9वें बिंदु पर देखा जा सकता है। इसमें यदि विषमता का मान–6 है तो नहीं की अपेक्षा असम्भव अधिक, –7 है तो असम्भव, 8 है तो अधिक असम्भव तथा यदि 9 है तो अनिश्चितता की सीमा तक असम्भव या पूर्ण असम्भव है।

लेकिन उक्त सम्भावना मापक के परिणाम आनुवंशिक संरचना के मौलिक ज्ञान पर आधारित नहीं है। यह मापक शारीरिक लक्षणों की समानता तथा विषमता के आदार पर बनाया जाता है । लेकिन पितृजता की निर्धारण जिन शारीरिक लक्षणों से किया जाता है वे प्रायः मुखमण्डलीय तथा अन्य शारीरिक लक्षण होते है। ये प्रायः बहुजीनों द्वारा नियन्त्रित होते है। इनके आधार पर यदि सन्तति एवं संदिग्ध पिता के शारीरिक लक्षणों में मानता अधिक है तो संदिग्ध पिता को 'अत्यधिक सम्भव पिता' मान लिया जायेगा तथा न्यायालय 'संदिग्ध पिता' को एक अवैध बच्चे का 'वास्तविक पिता' होने की घोषणा करती है।

सकारात्मक पितृजता की सीमाये

वस्तुतः यहाँ पर आनुवंशिक संरचना के सैद्धान्तिक सत्यता की अवहेलना होती है। इन साक्ष्यों की विश्वसनीयता का उचित ढंग से अनुमान नहीं किया जाता। शारीरिक लक्षणों में भी यद्यपि ऐसे कई लक्षण है जो एक जीन द्वारा नियन्त्रित भी होते है, इनकी आनुवंशिक क्रियाविधि भी सरल एवं स्पष्ट है लेकिन कई

ऐसे दुर्लभ एवं अनूठे आनुवंशिक लक्षण हैं जो शरीर के बाहरी आवरण पर व्यक्त नहीं होते तथा इनकी विश्वसनीयता भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। ये प्रायः एक जीन द्वारा नियन्त्रित होते हैं। ये जीवनपर्यन्त एक समान रहते हैं। इन पर वातावरण का प्रभाव नहीं होता।

दूसरे क्या शारीरिक लक्षणों (आकार, गठन, बनावट आदि) के आधार पर एक या एक से अधिक संदिग्ध व्यक्तियों में से वास्तविक पिता निर्धारित किया जा सकता है ? क्या इस प्रकार का निर्धारण त्रुटियों से परे है ? यह ज्ञात होने पर भी कि सभी जैविक लक्षणों का आनुवंशिक पारगमन एक जैसा नहीं होता, आनुवंशिक लक्षण की वंशागति की सम्भावना केवल 50 प्रतिशत या इससे भी कम होती है, तो क्या सकारात्मक रूप से किसी संदिग्ध व्यक्ति को 'एक सम्भव पिता' कहना तर्कसंगत होगा ? यदि इस प्रकार सम्भव नहीं है, तो इसका विकल्प क्या है ? वास्तव में यह सत्य है कि यदि सकारोक्ति पितृत्व निर्धारण विधि पर गहरायी से विचार करें तो इस विधि पर कई प्रश्न चिन्ह लग सकते हैं जिसके द्वारा निर्दोष व्यक्ति भी न्यायालय द्वारा किसी अवैध बच्चे का पिता ठहराया जा सकता है। यह सम्भव है कि जो व्यक्ति न्यायालय द्वारा एक अवैध बच्चे का पिता माना गया है, वह पिता न होकर के उस बच्चे का चाचा (Uncle) हो, भाई या बहन (Brother or Sister) हो या कोई निकटवर्ती जैविक सम्बन्धी हो तथा उस बच्चे का वास्तविक पिता क्रमशः उसका भाई (brother) पिता (father) या कोई अन्य जैविक सम्बन्धी जैसे– चचेरा/ममेरे/फुफेरे/मौसेरे भाई (Cousin brother) हो। अतः सकारात्मक पितृत्व निर्धारण में इस प्रकार की त्रुटियाँ इस लिए सम्भव है क्योंकि एक परिवार का कोई भी व्यक्ति दूसरे परिवार के व्यक्तियों की अपेक्षा जैविक निकटता अधिक रखता है। सिद्धान्तः पिता तथा पुत्र में आनुवंशिक समानता की सम्भावना 50 प्रतिशत, भाई–बहनों में 25 प्रतिशत तथा चचेचे/ममेरे/फुफेरे/मौसेरे भाई–बहनों में 12.5 प्रतिशत होती है। आनुवंशिक भागीदारी के ये तथ्य सकारात्मक पितृत्व निर्धारण में अभूतपूर्व मोड़ लाते है जिसस सकारात्मक निर्धारण की निष्पक्षता प्रमाणित नहीं होती।

पितृजता की नकारोक्ति

(Exclusion of Parentage)

पितृजता (पितृत्व/मातृत्व) की सकारोक्ति सर्वथा निर्णायक नहीं होती। इससे प्रायः भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है। यदि आनुवंशिक लक्षण परिणामदायक भी हो, तो भी किसी एक व्यक्ति की वास्तविक पितृजता (जैविक) को भी पूर्णतः प्रमाणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक विशिष्ट जीन प्ररुप को उस जनसंख्या के अन्य व्यक्ति भी रख सकते है जिसका उल्लेख इसके पूर्व किया गया। दूसरी ओर अनिश्चय की इस स्थिति में इन जीन प्ररुपों/लक्षणों के आधार पर यह निश्चित करना सरल एवं आशंकाओं से परे है कि "एक विशिष्ट या जीन प्ररुप लक्षण जो बच्चे में विद्यमान है वह मां एवं संदिग्ध व्यक्ति में अनुपस्थित है अतः संदिग्ध व्यक्ति उस बच्चे का पिता नहीं हो सकता।" पितृजता निर्धारण की इस विधि को "नकारोक्ति पितृजता" (Exclusion of Parentage) कहा जाता है। यह एक प्रामाणिक विधि है जिसके आधार पर विश्व के कई न्यायालय विवादास्पद पितृजता निर्धारित करते है। इस नकारोक्ति विधि की अन्य चिकित्सा विधिक उपयोगितायें (MedicoLegal Applications) भी है जैसे– बलात्कार, व्यभिचार, हत्या जैसी घटनाओं से प्राप्त जैविक साक्ष्यों के विश्लेषण आदि।

पितृजता के नकारात्मक निर्धारण में यदि अन–आनुवंशिक जैसे– सामाजिक साक्ष्यों का भी अभूतपूर्व सहयोग होता है। उदाहरणस्वरूप यदि एक व्यक्ति अपनी पत्नी के बच्चे की पितृजता पर संदेह करता है, उस पर चरित्रहीन होने का आरोप लगाता है तथा उसके बच्चे का पिता होने का आरोप किसी अन्य व्यक्ति पर लगाता है जिससे उसकी पत्नी के कथित सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में यदि आनुवंशिक साक्ष्य संदिग्ध व्यक्ति की 'नकारोक्ति' प्रदर्शित करते हैं तो न्यायालय पति को ही उस बच्चे का वास्तविक पिता कहती है। अतः यह निर्णय इस तथ्य पर आधारित है कि दो व्यक्तियों (पति तथा संदिग्ध पुरुष) में से कौन

बच्चे का जैविक पिता नहीं है। इस प्रकार के देशों में जहाँ न्यायालय को आनुवंशिक साक्ष्य स्वीकार्य हैं वहाँ न्यायालय की कार्यवाही में 'पितृजता की नकारोक्ति' विधि को उपयुक्त माना जाता है।

पितृजता नकारोक्ति की विधियाँ

(Approaches to Exclusion of Parentage)

पितृजता की नकारोक्ति कई विधियों से की जाती है। यह मनुष्य के उस जैविक अस्तित्व पर आधारित है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पारगमित होता है। जैसा कि इसके पूर्व भी कहा गया था कि माता–पिता तथा सन्ततियों के मध्य लाक्षणिक समानता के आधार पर जर्मनी के न्यायालयों में आकारिक विशेषकों (Morphological Trait) का उपयोग चिकित्सा विधिक निर्णयों में किया गया। 20वीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में जब मेण्डल के आनुवंशिक नियमों की सार्वभौमिकता सिद्ध हुई तो आनुवंशिक विशेषकों का प्रयोग पितृजता निर्धारण में किया जाने लगा। इन विशेषकों में रुधिर वर्गों से सम्बन्धित विशेषतों का अधिक प्रचलन रहा। 1950 के पश्चात् जैव रासायनों के विस्तार से अध्ययन हुआ जिससे प्रोटीन, एन्जाइम, अमीनो अम्ल तथा डी एन ए अणु आदि आनुवंशिक विशेष प्रकाश में आये। आज इन सभी विशेषकों का यथानुरूप प्रयोग पितृजता निर्धारण में किया जाता है।

इस प्रकार विभिन्न विशेषकों के प्रयोग से पितृजता नकारोक्ति के भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण विकसित हुए है। चूंकि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आधुनिक तकनीक अधिक लोकप्रिय है, अतः यहाँ विशेषकों के महत्व एवं प्राथमिकता के आधार पर पितृकजता निर्धारण की विधियों का पृथक्–पृथक् वर्णन किया जा रहा है। मुख्य विधियाँ निम्नवत् हैं–

1. आकारिक विश्लेषण–विधि (Morphological Approach)
2. त्वचाप्रारूप विश्लेषण–विधि (Dermatoglyphic Approach)
3. आनुवंशिक विश्लेषण–विधि (Genetical Approach)
   - (i) रुधिर वैज्ञानिक विश्लेषण
   - (ii) जैव – रासायनिक विश्लेषण
   - (iii) प्रतिरक्षा वैज्ञानिक विश्लेषण
   - (iv) अन्य आनुवंशिक साक्ष्य–विश्लेषण
4. गुणसूत्र–विश्लेषण विधि (Chromosomal Approach)
5. आणविक–विश्लेषण विधि (Molecular Approach)

1. आकारिक – विश्लेषण विधि

(Morphological Approach)

पितृजता निर्धारण हेतु आकारिक विश्लेषण पद्धति प्राचीनतम विधि है। यह विधि सर्वप्रथम उस समय प्रकाश में आयी जब 1926 में रिची (Reche) ने वियाना में एक न्यायालय हेतु इस विधि का पितृजता निर्धारण में प्रयोग किया। बर्लिन में भी इसी वर्ष वर्सच्योर (Verscheur) ने विवादास्पद पितृजता का निर्धारण किया। इसके पश्चात् पितृत्व निर्धारण में इस विधि के साथ–साथ आनुवंशिक विशेषकों का प्रयोग भी किया जाने लगा। इस क्षेत्र में यूजीन फिशर (Eugene Fischer), हीनरिच स्काडे (Heinrich Schade) आदि विद्वानों ने महत्वपूर्ण योगदान किया। जिससे यथोचित संयुक्त विधि विकसित हुए।

आकारिक पद्धति में उन शारीरिक लक्षणों को सम्मिलित किया जाता है जो शरीर के बाहरी सतह पर स्थिति होते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि ये सभी लक्षण वंशानुगत होते हैं, लेकिन इनकी आनुवंशिक क्रियाविधि स्पष्ट नहीं होती। इनकी जीनी बारम्बारता (Gene frequency) आंकलित नहीं

की जा सकती क्योंकि ये बहुजीनों के द्वारा नियन्त्रित होते है। इन शारीरिक लक्षणों में दो वर्गों में रखा जा सकता है– आकारवीक्षिक (Morpho–scopic) तथा आकारमितिक (Morphometric)।

आकार मितिक लक्षणों में मुख्यतः सिर, मुखमण्डल, नासिका, मुंह कान, हाथ तथा पैर की विभिन्न मापें ली जाती है। इन मापों पर आधारित कई सूचकांकों (Indices) आंकलित की जाती है, जैसे सिर सूचकांक (Head Index), मुखमण्डल सूचकांक (Facial Index), नासिका सूचकांक (Nasal Index) आदि। इन मापों एवं सूचकांकों हेतु मार्टिन, मार्टिन एवं सैलर, स्काडे आदि द्वारा प्रतिपादित विधियों को प्रयोग में लाया जाता हैं।

आकारवीक्षिक लक्षणों में से वे लक्षण सम्मिलित होते हैं जिनकी प्रत्यक्षरूप से माप नहीं की जा सकती। इन्हें अवलोकन विधि से श्रेणीबद्ध किया जाता है। इन विशेषकों में सिर के बाल– आकार, रंग, संरचना, सीमा, मात्रा, ललाट (Forehead), ऊँचाई, चौडाई, ढलान, आँख, क्षेत्र– भौंह, नेत्र खुलान, नेत्र मोड, नासिका– जड, सेतु, अग्र बिन्दु, नासिका–पट (wing), सेप्टम (Septum), होंठ– ऊपरी होठ, निम्न होंठ, लटकाव (Eversion), चिबुक (Chin)– आकार, उभार, एलव्योलर उद्‌गतहनुता, मुखमण्डलीय उद्‌गतहनुता, कान–कर्ण–खण्ड (lobe), डार्विन–बिंदु आदि सम्मिलित किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त हाथ, पांव, नाखून आदि के गठन का प्रेक्षण भी किया जाता है। इन लक्षणों के विश्लेषण हेतु मार्टिन, बाइल्डर, वीनर एवं लारी, हूटन मांटेगू आदि की विधियों को प्रयुक्त किया जाता है। इन लक्षणों की विस्तृत परिचर्चा 'प्रजातीय–वर्गीकरण के आधार' अध्याय में किया जायेगा। यहाँ पर यह कहना उचित होगा कि चूंकि ये लक्षण माता–पिता तथा उनके बच्चों में अन्य लोगों की अपेक्षा समानता अधिक प्रदर्शित करते हैं, इसलिए पितृत्व निर्धारण के लिए 'प्रथम साक्ष्य' के रूप में इन आकारवीक्षिक एवं आकारमितिक लक्षणों को आज भी न्यायिक कार्यवाही में प्रयुक्त किया जाता है।

2. त्वचीयप्रारूप विश्लेषण विधि

(Dermatoglyphic Approach)

त्वचीय प्रारूप मानव की हथेली, अंगुलियों, तलवों एवं पैर के अंगूठों में पाये जाते हैं। इनका विस्तृत वर्णन अगले अध्याय– प्रजाति वर्गीकरण के आधार में किया जायेगा। यहाँ पर इनके आनुवंशिक महत्व एवं पितृजता निर्धारण में इनकी भूमिका का उल्लेख करना उचित होगा।

त्वचीय प्रारूप पूर्णतः आनुवंशिक होते हैं। इन पर पर्यावरण का प्रभाव नहीं पड़ता।ये प्रतिरूप जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त एक समान रहते हैं। अपनी इन विशेषताओं के कारण ये पितृजता निर्धारण मे अनूठी भूमिका अदा करते हैं। चूंकि ये बहुजीनों द्वारा नियन्त्रित होते,हैं, इसलिए इन्हें जीनी–प्ररूप में विश्लेषित नहीं किया जा सकता। इन बहुजीनों के व्यक्त–प्ररूपों (त्वचीय प्रारूपों) के आधार पर पितृजता निर्धारण करना विश्व के कई न्यायालयों में एक मान्य विधि है। इस विधि में जिन त्वचीय प्रारूपों (Dermatoglyphic Patterns) का उपयोग किया जाता है वे इस प्रकार हैं– अंगुलि प्रारूप (Finger Patterns), अंगुलि प्रारूप सूचकांक– डैंकमीजर (Dankmeijer), फरुहाटा (Furuhata), तथा पैटर्न इंटेसिटी सूचकांक (Pattern Intensity Index), अंगुलि रिज गणना (Finger Ridge Count)– a–b गणना, b–c गणना, c–d गणना, a–d गणना, आदि। यदि ये त्वचीय प्रारूप शास्त्रीय लक्षण अवैध सन्तान तथा संदिग्ध व्यक्ति से अधिकांशतः नहीं मिलते तो यह पितृजता नकारोक्ति में एक सशक्त भूमिका अदा कर सकता है।

3. आनुवंशिक – विश्लेषण विधि

(Genetical Approach)

विवादास्पद पितृत्व तथा मातृत्व के निर्धारण मुख्यतः कुछ विशेष जीन–प्ररूपों (Genotypes) की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति पर निर्भर करता है। ये लक्षण चूंकि एक जीन द्वारा नियन्त्रित होते हैं, अतः इनकी जीनी–बारम्बारता सरलतापूर्वक आंकलित की जा सकती है। इनके जीन प्ररूप एक जीन के दो या दो से

अधिक विकल्पी से बने होते हैं। ये पीढ़ी–दर–पीढ़ी पारगमित होते रहते हैं। इनका आनुवंशिक पारगमन प्रायः मेण्डलीय नियमों से होता है। विवादास्पद पितृजता की वास्तविक पहचान स्पष्ट रूप से की जाती है क्योंकि पितृजता नकारोक्ति (ERxclusion of Paternity) अनेकों जीनी विशेषक प्रयुक्त किये जा सकते हैं। एक उत्तम तथा पूर्णतः विश्वसनीय विधि है जो विश्व के अधिकांश न्यायालयों में मान्य हैं। यह विधि निम्न आनुवंशिक व्यवस्थाओं पर आधारित हैं–

(i) रुधिर वैज्ञानिक विश्लेषण

(ii) जैव–रासायनिक विश्लेषण

(iii) प्रतिरक्षा वैज्ञानिक विश्लेषण – HLA आदि

(iv) अन्य आनुवंशइक साक्ष्य – विश्लेषण

1. रुधिर वैज्ञानिक विश्लेषण

(Serological Analysis)

प्रतिजन (Antigen) एवं प्रतिपिण्ड (Antibodies) की प्रतिक्रियायें रुधिर सरिम में वर्ष 1875 में लैडॉयस के द्वारा अवलोकित की गयी थी लेकिन मानव(एक ही स्पीशीज में) के रुधिर में प्रतिजन तथा प्रतिपिण्ड की प्रतिक्रियाओं को सर्वप्रथम लैण्डस्टाइनर (Land Steiner) ने 1900 में देखा। प्रतिजन तथा प्रतिपिण्ड की प्रतिक्रिया को समूहीकरण (Clumping or Agglunation) कहते हैं। इस प्रतिक्रिया के आधार पर इन्होंने 4 रुधिर वर्ग– A, B, O एवं AB की खोज की। इसके पश्चात् आज तक एक दर्जन से अधिक रुधिर वर्गों की खोज किया जा चुका है।

ये रुधिर वर्ग एक जीन द्वारा नियन्त्रित होने वाले लक्षण हैं। इनकी आनुवंशिक क्रियाविधि अत्यन्त सरल होती है। ये प्रायः मेण्डलीय पद्धति के द्वारा पीढी दर पीढी पारगमित होते हैं। इन रुधिर वर्गों के प्रतिजन समूह एक जीन के बहुविकल्पियों की अन्तक्रियाओं के परिणाम हैं। इनमें से कुछ उच्च बहुरूपता (Polymorphism) प्रदर्शित करते है जैसे– ABO, Rh, MNs, आदि जो पितृजता निर्धारण में अत्यधिक उपयोगी विशेषक है।

ABO रुधिरवर्ग प्रणाली

ABO रुधिर वर्ग का संदिग्ध पितृजता के अधिकांश मामलों में विस्तृत रूप से उपयोग किया जाता है। यह समूह तीन विकल्पियों– A, B, O द्वारा नियन्त्रित होते है। इनमें दो विकल्पी प्रभावी (A तथा B) एवं एक विकल्पी (O) अप्रभावी होता है। जब दोनों प्रभावी विकल्पी एक साथ होते है तो ये सहप्रभावी (Codominant) होते है। इनसे बने युग्मविकल्पियों के जीन प्ररूप एवं लक्षण प्ररूप निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है–

रुधिर वर्ग	व्यक्त–प्ररुप (Phenotype)	जीन–प्ररूप (Genotype)
A	A	I^AI^A, I^AI^O
B	B	I^BI^B, I^BI^O
AB	AB	I^AI^B
O	O	I^OI^O

इन रुधिर वर्गों के प्रतिजन एवं प्रतिपिण्डों के संयोगों को निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा हैं–

रुधिर वर्ग	प्रतिजन	प्रतिपिण्ड	समूहीकरण
A	A	anti–B	anti–A सीरम से
B	B	anti–A	anti–B सीरम से
AB	AB	--	anti–A तथा anti–B सीरम से
O	--	anti–A anti–B	किसी भी सीरम से नहीं

रुधिर वर्ग–A के दो उपसमूह होते हैं जिन्हें anti–A, सीरम से ज्ञात किया जाता है। ये दोनों उपसमूह A_1 एवं A_2 के नाम से पुकारे जाते है। इसी प्रकार रुधिर वर्ग AB के दो उपसमूह होते है– A_1 B, तथा A_2B_1B तथा O वर्गों के कोई उपसमूह नहीं होते है। इन रुधिर वर्गों के जीन प्ररूप किसी भी संदिग्ध व्यक्ति में दो रूपों– समयुग्मजी (Honogygous) तथा विषमयुग्मजी (Heterogygous) में पाये जाते हैं। समान विकल्पी वाले युग्मनज– समयुग्मज तथा असमान विकल्पी वाले– विषमयुग्मनज कहलाते हैं। इन्हें निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा हैं–

रुधिर वर्ग	समयुग्मजी	विषमयुग्मजी
A	A_1A_1, A_2A_2	A_1A_2, A_1O A_2O
B	BB	BO
AB	—	A_1B, A_2B
O	OO	—

लेकिन यदि उक्त तालिका पर दृष्टिपात करें तो इससे संकेत मिलता है कि यदि संदिग्ध व्यक्ति का रुधिरवर्ग A अथवा B है, तो यह कैसे ज्ञात किया जायेगा कि वह व्यक्ति समयुग्मजी है अथवा विषम युग्मजी और जब तक यह स्पष्ट नहीं होगा तब तक इस विशेषक के आधार पर पितृत्व निर्धारण सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। विशेषक का प्रयोग करने से निम्न कठिनाइयाँ सामने आ सकती हैं–

1. जब किसी विवाद में सन्तति एवं संदिग्ध पिता के रुधिर वर्ग समान हों तथा मां का रुधिर वर्ग उनसे भिन्न हों, तो सदैव शंका की स्थिति बनी रहती है। उदाहरणस्वरूप यदि एक O माता के पुत्र का रुधिर वर्ग B संदिग्ध पिता का रुधिर वर्ग ज्ञात करने पर 'B' पाया गया। लेकिन जब तक अन्य साक्ष्य उपलब्ध न हो, तब तक उस व्यक्ति को उस पुत्र का वास्तविक पिता नहीं कहा जा सकता और न ही उस व्यक्ति की पितृत्व को नकारोक्त की जा सकती है। ऐसा इसलिए क्योंकि 'B' रुधिर वर्ग के संदिग्ध पिता के दो प्रकार के युग्मज– समयुग्मजी 1^B1^B एवं विषमयुग्मजी 1^B1^O हो सकते है जिससे B तथा O दोनो प्रकार की सन्ताने होना सम्भव है।

2. यदि माता संदिग्ध पिता तथा बच्चे तीनों के रुधिर समान हो, तो पितृत्व अथवा मातृत्व निर्धारण

करना कठिन है। उंदाहरण के लिए एक A माता की पुत्री A रुधिर वर्ग की है। उस स्त्री के पति का रुधिर वर्ग भी 'A' है लेकिन वह किसी अन्य व्यक्ति को उस पुत्री का पिता होने का संदेह करता है जिसका रुधिर वर्ग O है। इस स्थिति में माता, पिता तथा पुत्री के रुधिरवर्गों के जीन प्ररूप AA तथा AO हो सकते हैं। इनसे A तथा O रुधिर वर्ग की सन्ततियाँ उत्पन्न हो सकती है। दूसरे माता तथा संदिग्ध व्यक्ति के जीन प्ररूप क्रमशः A AA, AO तथा OO हैं जिनसे भी दो वर्गों– A तथा O की सन्ततियाँ सम्भाव्य है। अतः इन दोनों व्यक्तियों (उस स्त्री का पति एवं सदिग्ध व्यक्ति) में से किसी के पितृत्व को नकारा नहीं जा सकता और न ही केवल इसी साक्ष्य के आधार पर किसी एक को पितृत्व की स्वीकारोक्ति की जा सकती है।

3. जब माता तथा बच्चे का रुधिर वर्ग A अथवा B है लेकिन इन दोनों के वर्ग समान है। तथा संदिग्ध व्यक्तियों का का रुधिर वर्ग AB तथा O हो, तो दोनों व्यक्तियों के पितृत्व की सम्भावना बराबर–बराबर है। ऐसी परिस्थिति में मात्र ABO रुधिर वर्ग के आधार पर पितृत्व पर निर्धारण कठिन है। यहाँ कर्टस्टर्न (Curt Stern, 1960) के द्वारा उद्घृत दृष्टान्त का उल्लेख समीचीन है। एक स्त्री जिसका रुधिर वर्ग A था उसके A रुधिर वर्ग का बच्चा हुआ। उस स्त्री ने AB रुधिर वर्ग के व्यक्ति को उसके जैविक पिता होने का दावा किया। लेकिन उस सम्भावित व्यक्ति ने इसके प्रत्युत्तर में O रुधिरवर्ग के व्यक्ति को उस बच्चे के पिता होने का संदेह किया। ऐसी स्थिति में जब इन लोगों के ABO रुधर वर्ग का विश्लेषण किया गया तो यह ज्ञात हुआ कि ये दोनों व्यक्ति A रुधिर वर्ग की सन्तति को उत्पन्न कर सकते हैं, अतः इस साक्ष्य से दोनों में से किसी एक पितृत्व के निर्धारण हेतु अन्य आनुवंशिक साक्ष्यों की सहायता लेनी पड़ी।

इसी प्रकार एक अन्य विवाद गत दशक में लखनऊ के एक न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत हुआ। लखनऊ की निवासी रमा देवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। कुछ महीनों बाद राधेश्याम वर्मा (रमादेवी के पति) ने रमादेवी से विवाह–विच्छेद (Divorce) चाहिए, जिसके लिए न्यायालय में याचिका दायर की।

न्यायालय के विवाह–विच्छेद का कारण पूछने पर राधेश्याम वर्मा ने रमादेवी के चरित्र पर संदेह व्यक्त किया तथा उसके लैंगिक सम्बन्ध एक अन्य व्यक्ति (शंकर– रमादेवी के मामा) से बताया। उस नवजात शिशु का वास्तविक पिता होने का संदेह भी शंकर पर किया। जब इस विवाह के निस्तारण हेतु इन सभी के A B O रुधिर वर्ग का परीक्षण किया गया तो उस बच्चे के वास्तविक पिता होने की सम्भावना राधेश्याम एवं शंकर दोनों की बराबर–बराबर पायी गयी। इसके लिए अन्य रुधिर विशेषकों तथा अन–आनुवंशिक साक्ष्यों की सहायता अनिवार्य हो गयी। इन व्यक्तियों, मां तथा पुत्र के रुधिर वर्गों का विश्लेषण निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा हैं–

व्यक्ति	रुधिरवर्ग	सम्भव जीनप्ररूप	सम्भव मिलन सम्भव माता राधेश्याम एवं शंकर	बच्चे के जीन प्ररूप
रमादेवी (पत्नी)	B	$1^B1^B, 1^B1^B$	(i) 1^B1^B x 1^A1^B (राधेश्याम)	$1^A1^A, 1^B1^B$
पुत्र	A	$1^B1^B, 1^B1^O$	(ii) 1^B1^B x 1^A1^B (राधेश्याम)	$1^A1^A, 1^B1^B, 1^A1^O, 1^B1^O$
राधेश्याम (पति)	AB	1^A1^B	(iii) 1^B1^B x 1^O1^O (शंकर)	1^B1^O
शंकर (संदिग्ध व्यक्ति)	O	1^O1^O	(iv) 1^B1^O x 1^O1^O (शंकर)	$1^B1^B, 1^O1^O$

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि राधेश्याम (पति) एवं शंकर संदिग्ध व्यक्ति दोनों से B वर्ग का बच्चा उत्पन्न हो सकता है। अतः राधेश्याम एवं शंकर दोनों के पितृत्व को इस साक्ष्य के आधार पर नकारा नहीं जा सकता।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि ABO रुधिर वर्ग का उपयोग पितृजता निर्धारण में यद्यपि विस्तृत रूप से किया जाता है लेकिन किन्हीं-किन्हीं स्थितियों में यह साक्ष्य पूर्ण रूप से निर्णायक सिद्ध नहीं होता। पितृजता निर्धारण में ABO रुधिर वर्ग का विश्लेषण निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है। इसमें सम्भावित जीन-प्ररूपों के मिलन से उत्पन्न सन्ततियों के जीन-प्ररूप एवं लक्षण प्ररूपों की सम्भावना का वर्णन किया गया है-

सम्भावित मिलन		सम्भावित सन्ततियाँ		असम्भावित सन्ततियाँ
लक्षण-प्ररूप (Phonotype)	जीन प्ररूप (Genotype)	जीन प्ररूप	लक्षण प्ररूप	लक्षण-प्ररूप
AxA	$1^{A}1^{A}$ x $1^{A}1^{A}$	$1^{A}1^{A}$	A	B, AB
	$1^{A}1^{A}$ x $1^{A}1^{0}$	$1^{A}1^{A}$, $1^{A}1^{0}$	A	
	$1^{A}1^{A}$ x $1^{A}1^{0}$	$1^{A}1^{A}$, $1^{A}1^{0}$, $1^{0}1^{0}$	A,O	
AxB	$1^{A}1^{A}$ x $1^{B}1^{B}$	$1^{A}1^{B}$	AB	
	$1^{A}1^{A}$ x $1^{B}1^{0}$	$1^{A}1^{B}$, $1^{A}1^{0}$	A, AB	
	$1^{A}1^{0}$ x $1^{B}1^{B}$	$1^{A}1^{B}$, $1^{B}1^{0}$,	B, AB	
	$1^{A}1^{0}$ x $1^{B}1^{0}$	$1^{A}1^{B}$, $1^{A}1^{0}$, $1^{B}1^{0}$, $1^{0}1^{0}$	A, B, AB, O	
AxAB	$1^{A}1^{A}$ x $1^{A}1^{B}$	$1^{A}1^{A}$, $1^{A}1^{B}$	A, AB	O
	$1^{A}1^{0}$ x $1^{A}1^{B}$	$1^{A}1^{A}$, $1^{A}1^{B}$, $1^{A}1^{0}$, $1^{B}1^{0}$	A, B, AB	
AxO	$1^{A}1^{A}$ x $1^{0}1^{0}$	$1^{A}1^{0}$,	A	B, AB
	$1^{A}1^{0}$ x $1^{0}1^{0}$	$1^{A}1^{0}$, $1^{0}1^{0}$	A, O	
BxB	$1^{B}1^{B}$ x $1^{B}1^{B}$	$1^{B}1^{B}$,	B	
	$1^{B}1^{B}$ x $1^{B}1^{0}$	$1^{B}1^{B}$, $1^{B}1^{0}$,	B	A, AB
	$1^{B}1^{B}$ x $1^{B}1^{0}$	$1^{B}1^{B}$, $1^{B}1^{0}$, $1^{0}1^{0}$	B, O	
BxAB	$1^{B}1^{B}$ x $1^{A}1^{B}$	$1^{A}1^{B}$, $1^{B}1^{B}$,	B, AB	
	$1^{B}1^{0}$ x $1^{A}1^{B}$	$1^{A}1^{B}$, $1^{B}1^{0}$,	B, AB	A, O
BxO	$1^{B}1^{B}$ x $1^{0}1^{0}$	$1^{B}1^{0}$,	B	
	$1^{B}1^{0}$ x $1^{0}1^{0}$	$1^{B}1^{0}$, $1^{0}1^{0}$,	B, O	A, AB
ABxAB	$1^{A}1^{B}$ x $1^{A}1^{B}$	$1^{A}1^{A}$, $1^{A}1^{B}$, $1^{B}1^{B}$	A, B, AB	O
ABxO	$1^{A}1^{B}$ x $1^{0}1^{0}$	$1^{A}1^{0}$, $1^{B}1^{0}$	A, B	AB, O
OxO	$1^{0}1^{0}$ x $1^{0}1^{0}$	$1^{0}1^{0}$,	O	A, B, AB

MNSs रुधिर प्रणाली

MNS रुधिर वर्ग चार विकल्पी M, N, S तथा s के द्वारा नियन्त्रित होते है। इस प्रणाली में MN रुधिर वर्ग की खोज लैण्डस्टाइनर ने किया था। ये विकल्पी दो प्रतिजन M एवं N के द्वारा व्यक्ति होते हैं। क्रमशः सीरम- anti-M एवं anti-N से पहचाने जाते हैं। इनके तीन जीन प्ररूप होते हैं- M M, M N एवं

N N। इसके अतिरिक्त अत्यन्त कम आवृत्ति विकल्पी N_2 तथा भी पाये गये हैं जो विशिष्ट तथा विरल प्रतिजन N_2 एवं Mg से पहचाने गये। ये प्रतिजन सीरम anti–M तथा anti–N से प्रतिक्रिया नहीं करते। जनसंख्या आंकडों से यह ज्ञात होता है कि विषमयुग्मजी अवस्था में प्रायः व्यक्त होता है।जीन प्ररूप Mg, Mg अत्यन्त विरल आवृत्ति रखता है। MN वर्ग श्रृंखला के ये दो अत्यन्त कम आवृत्ति वाले विकल्पी पितृत्व निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

सन् 1947 में MN वर्ग प्रणाली में और वृद्धि हुई। अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि Ss विकल्पी श्रृंखला भी MN वर्ग के साथ पायी जाती है। इससे ज्ञात हुआ कि यह रुधिर प्रणाली बहुविकल्पी व्यवस्था का अनुसरण करती है। इसके चार विकल्पियों में से विकल्पी MS तथा Ns अन्य युग्मविकल्पियों Ms तथा Ns की तुलना में अधिक आवृत्ति होते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि MN एवं Ss दो भिन्न–भिन्न जीन संस्थितियों (Gene loci) पर होते हैं, इनकी साथ–साथ वंशागति सहलग्नता (Linkage) के फलस्वरूप देखी जाती है।

संक्षेप में, इन चारों विकल्पियों के सभी जीन प्ररूपों का विश्लेषण करके पितृजता को सरलतापूर्वक निर्धारित कर सकते हैं। इस प्रणाली में दोनों उपश्रृंखलाओं (MN एवं Ss) के संयोग पितृजता विवाद के निस्तारण में अपेक्षाकृत सराहनीय अवसर प्रदान करते हैं।

Rh रुधिर वर्ग प्रणाली

Rh प्रतिजन को 1940 में लैण्डस्टाइनर एवं वीनर ने खोजा। आरम्भ में इसके दो लक्षण प्ररूप– Rh +ve तथा Rh –ve पहचाने गये जो दो विकल्पी D एवं d के द्वारा नियन्त्रित होते हैं। इनमें D प्रभावी तथा d अप्रभावी होता है। जब अप्रबल विकल्पी समयुग्मजी (rh rh) होता है तो यह Rh प्रतिजन की उत्पत्ति को बाधित करता है अर्थात् Rh –ve लक्षण प्ररूप वाले व्यक्ति के रुधिर Rh प्रतिजन अनुपस्थित होते हैं। उन व्यक्तियों में जिनमें प्रभावी विकल्पी समयुग्मजी (Rh Rh) या विषमयुग्मजी (Rh rh) के रूप में पाये जाते है, Rh प्रतिजन उपस्थिति होता है। इस रुधिर वर्ग में प्रतिपिण्ड प्राकृतिक नहीं होते, वे Rh प्रतिजन की उपस्थिति में ही प्रकट होते हैं। इस रुधिर वर्ग में रुधइर–आदान (Transfusion) एवं गर्भ–धारण में विशेष महत्व होता है जिसका उल्लेख हम अध्याय– प्रजाति वर्गीकरण के आधार में करेंगे। लेकिन यहाँ पर इसके उन उप–विभेदकों का उल्लेख करना उचित होगा जो कालान्तर में खोजे गये।

सन् 1940 के पश्चात् अनुसंधानों में Rh रुधिरवर्ग के कुल पाँच एण्टी–सीरम विकसित हुए– एण्टी–D, –C, –E, –c, तथा एण्टी –e। इनमें एण्टी –D पहले ही खोजा जा चुका था। जिसके दो विकल्पियों (D एवं d) का पता चला था। लेकिन कालान्तर में शेष चार एण्टी सीरमों से चार अतिरिक्त विकल्पी पाये गये। इसके आधार पर फिशर (Fisher, R.A.) ने इनके सभी 6 विकल्पियों– C, D, E, c, d, एवं e को विभिन्न विकल्पी–समूहों में रखा, जिस प्रणाली में तीन विकल्पी एक साथ होते हैं–

	फिशर – रेस व्यवस्था	वैकल्पिक चिन्ह
(i)	CDE	Rz
(ii)	CDE	Ri
(iii)	cDE	R2
(iv)	cDe	Ro
(v)	Cde	Ri
(vi)	cdE	Ry
(vii)	cdE	R11
(viii)	cde	r

फिशर के अनुसार ये Rh वर्ग के विकल्पी तीन भिन्न जीन संस्थिति (loci) पर स्थित होते है जो एक दूसरे से सहलग्न होने के कारण एक साथ वंशानुगत होते है। इनमें प्रथम तीन विकल्पी CDE प्रभावी तथा शेष तीन विकल्पी cde अप्रभावी होते हैं। इनके आठों विकल्पी समूहों (Allele–Complexes) से कुल 36 जीन प्ररूप प्रकट हो सकते हैं। यदि इन विकल्पियों के प्रयोग से पितृत्व निर्धारण किया जाये, तो यह एक विश्वसनीय साक्ष्य के रूप में कार्य करता है।

अन्य रुधिर वर्ग प्रणालियाँ

पितृजता निर्धारण में इसके पूर्व वर्णित रुधिर वर्गों ABO, MNSs तथा Rh के प्रयोग अत्यधिक प्रचलित हैं क्योंकि विश्लेषण के लिए इनके यथोचित एण्टी सीरम सुगमता से उपलब्ध हो जाते है। लेकिन अब तक रुधिर से सम्बन्धित अन्य की समूह प्रणालियों की भी खोज हो चुकी है जिनके सीरम अत्यधिक कठिनाई से प्राप्त हो पाते है। ये प्रणालियाँ निम्न हैं–

वर्ग प्रणाली का नाम	मुख्य विकल्पी	आवृत्ति
(i) P	P1, P2, p	p अत्यल्प
(ii) Kell	K, k	अत्यल्प
(iii) Duffy	Fy a, Fy b Fy	Fy अत्यल्प
(iv) Lewis	Le, le	--
(v) Diego	Dia, Dib	केवलमंगोलॉयड तथा अमेरिंडियन में देखा गया।
(vi) Kidd	Jka, JKb	अत्यल्प
(vii) Xg	Xga Xg	अत्यल्प
(viii) Lutherian	Lua, Lub	अत्यल्प

उक्त रुधिर प्रणालियाँ विरल आवृत्ति पितृजता निर्धारण में महत्वपूर्ण साक्ष्य के रूप में प्रयोग की जाती हैं। ये रुधिर वर्ग सम्बन्धी साक्ष्यों में कभी–कभी प्रामाणिक एवं निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

(ii) जैव–रासायनिक विश्लेषण

जैव–रासायनिक विशेषक इस तथ्य पर आधारित होते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन के लिए आवश्यक मौलिक रसायनों को रखता है। अपनी वैयक्तिक विशिष्टता को प्रदर्शित करते हैं। ये विशिष्ट प्रकार के जैव रसायन– प्रोटीन, एन्जाइम आदि माता–पिता से सन्ततियों में पारगमित होते हैं। इनका आनुवंशिक पारगमन प्रा:Rh मेण्डलीय नियमों के अनुसार होता है।

इन विशेषकों की पहचान के लिए जैव – रासायनिक विधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं। इनमें क्रोमैटोग्राफी (Chromatography), 'विद्युत पथ परिभ्रमण' या इलेक्ट्रोफोरेसिस (Electrophoresis) आदि तकनीके अत्यधिक प्रचलित हैं। इलेक्ट्रोफोरेसिस तकनीक आदि प्रमुख तकनीकों का उल्लेख गत अध्याय– "आनुवंशिक अध्ययन की विधियाँ" में किया गया था। इन तकनीकों से ज्ञात किये गये प्रमुख विशेषकों जैसे– हीमोग्लोबिन (Hb), हैप्टोग्लोबिन (Hp), ट्रांसफेरिन (Tf), पी जी एम (PGM), जी सी (Gc) जी

एल ओ (GLO), इस्टरेज–D (EsD), जी–6 पीडी (G–6PD) आदि की परिचर्चा 'प्रजातिवर्गीकरण के आधार' में किया जायेगा। यहाँ पर विशेषकों के विकल्पी, लक्षण प्ररूप तथा ज्ञात जीन–प्ररूपों का संक्षिप्त उल्लेख किया निम्न तालिका में जा रहा है–

लक्षण (Trait)	लक्षण प्ररूप (Phenotype)	जीन–प्ररूप (Genotype)
1. हीमोग्लोबिन (Hemoglobin)	HbA, HbS, Hbc, HbD HbE (HbA प्रभावी, शेष अप्रभावी)	HbA HbA, HbA HbS HbA HbC, HbA HbD, HBA HbE HbS HbS, HbC HbC, HbD HbD, HbE HbE.
2. हैप्टोग्लोबिन (Haptoglobin)	Hp1 Hp2 (दोनों प्रभावी, सहप्रभावी)	Hp1 Hp1, Hp2 Hp2 Hp1 Hp2.
3. ट्रांसफेरिन (Transferrims)	TfB, TfC, TfD सह प्रभावी, प्रभावी) उपसमूह B1, B2, B1 BO D : D_3, D_2, D_1 एवं D_0	TfB TfB, TfC TfC, TfD TfD, TfC TfB, TfB TfD, तथा TfB TfC
4. फास्फोग्लूकोमुटेज	PGM1, PGM2	PGM 1–1, PGM 2–2
5. एस्टरेज–D	EsD1, EsD2	EsD1–1, EsD2–2, EsD 1–2
6. जी एल ओ I	GLO1, GLO2	GLO1–1, GLO 2–2, GLO 1–2
7. ADA	ADA1, ADA2	ADA1–1, ADA2–2, ADA1–2
8. लैक्टेट डिहाइड्रोजिनेज (Lactate Dhydrogenase)	LDH–1, LDH–2 LDH–3, LDH–4 LDH–5	LDH^{h}, LDH^{call} एवं अन्य जिनकी आवृत्ति अत्यल्प है।
9. EAP	A, B	AA, BB, AB
10. एसिड फास्फटेज– AcP (Acid Phosphatase)	AcPA, AcpB, Acpc	AA, AB, BB, Bc
11. सेरुलोप्लास्मिन CP (Ceruloplasmin)	CPA, CPb	AA, BB, AB
12. 6–फास्फोग्लूकोमुटेज डिहाइड्रोजिनेज (6–PGD)	PdA, PbB, Pbc	AA, AC, AB

लक्षण (Trait)	लक्षण प्ररूप (Phenotype)	जीन-प्ररूप (Genotype)
13. एडीनाइलेट काइनेज- AK (Adenylate Kinase)	AK^1, Ak^2, (AK^4)	AK1–1, AK2–2 AK1−2
14. एडिनोसिन डीमिनेज-ADA (Adenosine Deaminase)	ADA1, ADA2	ADA1–1, ADA2–2 ADA1−2
15. डाइफोरेज-DIA (Diashorase)	DIA1, DIA2, DIA4	DIA1−1, DIA2−1 DIA4−1
16. सूडोकॉलीनेस्टिरेज C5, E2 Locus (Pseudocholinesterase)	C5, E2	(i) C5 + C5 + C5− C5− C5 + − (ii) E2 + +, E2— E2 + −
17. सीरम एल्कालाइन फास्फटेज- Alk. Ph Serum Alkaline Phosphatase	Po, P +, P + +	PoP +, PoPo, P + P +, PoP + +, P + P + +.
18. मैलेट डिहाड्रोजिनेट-MDH (Malate Dehydrogenase)	MDH − normal MDH − Varient	MDH n−n, MDH v−v MDH n−v
19. पेप्टीडेज-A (Peptidasi − A)	PepA1, PepA2−1 PepA3−1, PepA 4−1	PepA1−1 शेषपूर्ववत) PepA5−1, PepA 6−1
20. पेप्टीडेज-B (Peptidase-B)	PepB1, PepB2−1 PepB3−1, PepB4−1	PepB1−1, PepB2−1 PepB3−1, PepB4−1
21. फास्फोहिक्जोज आइसोमरेज -PHI (Phosphohexose Isomerase)	PHI1, PHI2−1 PHI3−1, PHI4−1 PHI5−1, PHI7−1 PHI8−1, PHI9−1	PHI1−1 एवं पूर्ववत्। इनमें 3−1, 5−1, एवं 9−1 की आवृत्ति अल्पतम नहीं है।
22. Gc (Group specefic Component)	Gc1, Gc2, Gc2−1	Gc1−1, Gc2−2 Gc2−1

रुधिर वर्ग एवं जैव रासायनिक विशेषकों से पितृत्व निर्धारण

रुधिर वर्ग तथा जैव रासायनिक विशेषक (प्रोटीन एन्जाइम) का विश्लेषण रुधिर प्रतिदर्श (Sample) से किया जाता है रुधिर के इन आनुवंशिक लक्षणों से पितृत्व विवादों का निर्धारण भारत की कुछ अदालतों में हुआ है। इन आनुवंशिक साक्ष्यों का प्रयोग करके हरियाणा (भारत) में दो विवाद सुलझाये गये (कुशवाहा, 1992)। यहाँ इनका संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है–

उदाहरण–

जिला न्यायालय नरनौल में धारा 12, हिन्दू विवाह अधिनियम के आधीन एक व्यक्ति ने अपनी पत्नी से तलाक प्राप्त करने की याचिका दायर की। याचिका में यह आरोप लगाया कि उसकी पत्नी का नव जन्मा बच्चा उसका नहीं है क्योंकि उसके विवाह के मात्र 172 दिन (5 महीना 22 दिन) हुए है। इसलिए नवजन्मा शिशु एक अवैध सन्तान है। दूसरी ओर पत्नी ने पति पर यह आरोप लगाया कि वह अधिक दहेज की मांग कर रहा है तथा उसके अन्य व्यक्ति के साथ लैंगिक सम्बन्ध विवाह के पूर्व नहीं हुए।अतः नवजन्मा बच्चे का वास्तविक पिता उसका पति है न्यायालय यदि उचित समझे तो इसके पितृत्व की रुधिर जांच अवश्य करवाये। अन्ततः दोनों पक्ष तथा बच्चे का रुधिर प्रतिदर्श 'फारेंसिक साइस लैबोरेटरी, मधुबन (हरियाणा) में लिया गया जिसका विश्लेषण के.पी.एस. कुशवाहा (1992) ने किया। इसके परिणाम निम्न तालिका में दिये जा रहे हैं–

रुधिर लक्षण (Blood Markers)	पिता	माता	पुत्र	पितृत्व
ABO	AI	AI	O	सम्भावित
Rh	CcDe	cDe	CcDe	सम्भावित
MN	M	M	M	सम्भावित
Hp	2–2	2–1	2–1	सम्भावित
PGM	2–2	2–1	2–1	सम्भावित
EsD	2–1	2–1	2–1	सम्भावित
GLOI	2–1	2–1	2–1	सम्भावित
ADA	2–1	1–1	1–1	सम्भावित
EAP	BB	BB	BA	असम्भावित
AK	1–1	1–1	2–1	असम्भावित

उक्त तालिका में दिये गये परिणामों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि EAP तथा AK विशेषकों के आधार पर उक्त पति एवं पत्नी के संयोग से नवजन्मा बच्चा सम्भव नहीं है क्योंकि पति तथा पत्नी दोनों के लक्षण प्ररूप AK विशेषक के लिए 1–1, तथा EAP विशेषक के लिए दोनों के BB है जबकि बच्चे के दोनों विशेषक के लक्षण प्ररूप क्रमशः 2–1 एवं BA है।

इस प्रकार उक्त मत के आधार पर अर्थात् AK विशेषक के लिए 'प्ररूप–2" तथा EPA विशेषक हेतु प्ररूप 'A' की पति एवं पत्नी दोनों के रुधिर में अनुपस्थिति होने के कारण न्यायालय ने पत्नी को जैविक

माता माना लेकिन पति को उस नवजन्मा बच्चे के पितृत्व के असम्भव मानते हुए उसे आरोप मुक्त किया तथा उसे नवविवाहिता पत्नी से तलाक की अनुमति दे दी।

(iii) प्रतिरक्षा वैज्ञानिक विश्लेषण (Immunological Analysis)

प्रतिरक्षा वैज्ञानिक लक्षण रुधिर के वे विशेषक (marker) है जो प्रतिजन (antigen) तथा प्रतिपिण्ड (antibody) के प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप देखे गये हैं। जैसे– Gm, Am, Inv, Oz प्रणालियाँ। इन लक्षणों का उल्लेख पूर्व ही अध्याय **'आनुवंशिक अध्ययन की विधियाँ'** में किया जा चुका है। यहाँ पर कुछ महत्वपूर्ण विशेषक जैसे– HLA प्रणाली का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे, क्योंकि यह पितृजता विवाद में अपेक्षाकृत विश्वसनीय साक्ष्य है।

HLA– ह्यूमन लूकोसाइट ऐण्टीजन (Human Leuocyte Antigen) 1958 में डॉसेट (Dausset) के द्वारा खोजा गया। इस एण्टजीन को 'Mac' कहा गया जो आज HLA–A2 के समकक्ष है। यह एक बहुल रुधिर रुधिर आधानित (Multitrnsefusred) रोगी के रुधिर में देखा गया। सन् 1963 के पश्चात् वॉन राड तथा वॉन लीवुन (Von Rod तथा von Leeuwun) ने HLA– प्रणाली के दो अन्य विकल्पी खोजे। आज इसके कई विकल्पी समूह देखे जा चुके है। यह लक्षम बहुरूपता को अत्यधिक प्रदर्शित करता है। इसके जीन, छठे गुणसूत्र की छोटी भुजा पर स्थित होते हैं। वर्तमान समय में इसके 6 सहप्रभावी विकल्पी समूह है– HLA–A, B, C, D, DR (D सम्बद्ध), MT (MB) तथा SB। इनमें HLA– A, B, C श्रृंखला, DR तथा MT से भिन्न होती हैं। शेष दो विकल्पी समूह– MT तथा SB सुपरिभाषित प्रणालियाँ नहीं है। HLA–A, B तथा C मानव शरीर की रुधिर कोशिकाओं के अतिरिक्त लगभग समस्त ऊतकों में विस्तृत होता है जबकि HLA– D तथा DR श्रृंखला सभी ऊतकों में स्थित नहीं होता है। HLA–MT (MB) एवं SB का विस्तृत अध्ययन न होने से इसके विस्तार के बारे में स्पष्ट सूचना उपलब्ध नहीं है।

ये प्रतिजन सरल मेण्डलीय विधि से पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होते हैं। एक गुणसूत्र पर स्थित होने वाले HLA प्रतिजन 'हैप्लोटाइप' (Haplotype) के नाम से पुकारे जाते है। प्रत्येक व्यक्ति में हैप्लोटाइप होते हैं जिनमें से वह एक माता तथा दूसरा पिता से प्राप्त करता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि HLA जीन उच्च प्रकार की सहलग्नता रखते हैं जिसके कारण ही वे एक खण्ड सहित वंशागत होते है। यह इतनी बहुरूपता प्रदर्शित करते है कि इनके जीन संयोगों की अनुमानित संख्या 200x106 से भी अधिक सम्भव है। यह अंगों के प्रत्यारोपण में मुख्य भूमिका निभाते हैं क्योंकि समान HLA– वर्ग अंग प्रत्यारोपण के लिए अनिवार्य है तथा कोई भी विकृति प्रकट हो सकती है। इनका किसी व्यक्ति विशेष की प्रतिरोधी शक्तियों के अध्ययन एवं पितृजता निर्धारण मे भी अध्यधिक महत्वपूर्ण है।

अत्यधिक बहुरूपी होने के कारण HLA विकल्प समूह पितृत्व विवादों में अहम भूमिका रखते है। इनके प्रत्येक विकल्पी के अनेकों विकल्पियों का समूह होता है जैसे– HLA – A विकल्पी समूह में कम से कम 20 विकल्पी, HLA– B में 40, HLA– C में 8, HLA– D में 12, HLA– DR में 10 विकल्पी होते है। इन विकल्पी संकुल में अधिकांश विकल्पी कम आवृत्ति वाले होते है। इन अल्पतम आवृत्ति वाले विकल्पियों की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति प्रायः पितृत्व विवादों में निर्णायक प्रमाणित होते है।

उदाहरण– एक पितृत्व विवाद का निस्तारण अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली के विशेषज्ञों ने HLA प्रणाली साक्ष्य के आधार पर किया ।यह विवाद उस समय सामने आया जब एक दम्पति ने 14 वर्षीय पुत्री के वास्तविक माता–पिता होने का दावा किया तथा पालन–पोषण करने वाले व्यक्तियों को दोषी ठहराया, यह कहते हुए कि उनकी पुत्री 1970 से लापता है। सम्भवतः इन व्यक्तियों को 14 वर्ष पूर्व उठा ले गये थे। रुधिर वर्गों के विश्लेषण से दोनों दम्पति की पितृजता सम्भव प्रतीत हुई। यह विवाद चिकित्सा–विधिक संस्थान भोपाल में भेजा गया था जहाँ पर Rh प्रणाली, पारिवारिक इतिहास,

बच्चों के जन्म का क्रम, आकारिक तथा मानवशास्त्रीय साक्ष्यों के आधार पर विश्लेषण किया गया। अन्ततः यह अनुभव किया गया कि इन पाँचों व्यक्तियों का HLA– विश्लेषण किया जाना चाहिए जिसे 'कोशिकीय प्रतिरक्षा वैज्ञानिक प्रयोगशाला, अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली में अध्ययन किया गया।

HLA प्रणाली के साक्ष्यों के आधार पर यह पाया गया कि वह 14 वर्षीय पुत्री के वास्तविक माता–पिता याचिका को दायर करने वाले दम्पत्ति नहीं है। न्यायालय ने इन दम्पत्तियों की पितृजता की नकारोक्ति (Exclusion) करते हुए पालन–पोषण करने वाले व्यक्तियों को उस पुत्री का जैविक पिता माना।

(iv) अन्य आनुवंशिक साक्ष्यों का विश्लेषण (Other Genetical Evidence Analysis)

पितृजता–निर्धारण में अन्य कई आनुवंशिक साक्ष्यों का प्रयोग किया जाता है जैसे पी.टी.सी. स्वाद परीक्षण (P.T.C. Tasting), वर्णान्धता (Colourblindness), स्रावक स्तर (Secretor Status), कर्ण खण्ड (Ear lobe), डार्वीनियन बिंदु (Dorwin's Tubercle), हाइपर ट्राइकॉसिस (Hypertrichosis), मध्यवर्ती अंगुलि बाल (Mid–Phalangeal Hair), अंगुलियों की लघुता (Brachyphangy), सिर की भंवर (Occipital Whorl) आदि। इन लक्षणों की वंशागति अत्यन्त स्पष्ट है। इनकी जीनी बारम्बारता का आंकलन करना भी अपेक्षाकृत सरल है क्योंकि ये प्रायः दो विकल्पियों द्वारा वंशागत होते हैं जिनकी वंशागति प्रभावी तथा अप्रभावी प्रक्रिया या जीन सहलग्न प्रक्रियाओं के अनुसार होती है। चूंकि इनमें अधिकांश लक्षणों का वर्णन अन्य अध्यायों में किया गया है, अतः यह इनके विवरण की पुनरावृत्ति उचित नहीं है। लेकिन यहाँ यह कहना प्रासंगिक होगा कि पितृजता सम्बन्धी विवादों के निस्तारण में इन साक्ष्यों की अभूतपूर्व भूमिका है। इनका प्रयोग अब प्रायः रुधिर तथा जैव रासायनिक विशेषकों के साथ किया जाता है। जर्मनी, डेनमार्क, नार्वे आदि यूरोपीय देशों में इन साक्ष्यों के आधार पर कई विवादों में पितृत्व को स्वीकार किया जाता है, जिसका उल्लेख इसके पूर्व किया जा चुका है।

भारत में न्यायालय ने उक्त साक्ष्यों के आधार पर अनेकों अपराधिक क्षेत्र के विवाद तथा पितृजता सम्बन्धी समस्याओं का निस्तारण किया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के मानव विज्ञान विभाग में उक्त आनुवंशिक लक्षणों तथा शारीरिक विशेषकों की सहायता से एक लापता बच्चे से सम्बन्धित विवाद कुछ वर्षों पूर्व सुलझाया गया।

उदाहरण– सन् 1992 में अपराध विज्ञान प्रयोगशाला, मधुबन, करनाल (हरियाणा) के डॉ० के० पी० एस० कुशवाहा, सहायक निदेशक, ने स्रावक स्तर (Secretor Status) एवं P.T.C स्वादन क्षमता (P.T.C Tasting Ability) का रुधिर तथा जैव–रासायनिक लक्षणों के साथ प्रयोग करके एक पितृत्व विवाद को सुलझाने में न्यायालय की मदद की।

हरियाणा के जिला न्यायालंय में एक व्यक्ति ने अपनी पत्नी से विवाह–विच्छेद की अपील की। उसने अपनी पत्नी के विवाहेत्तर सम्बन्धों को उजागर करते हुए यह आरोप लगाया कि उसके विवाह के 7 महीने बाद जो पत्नी के बच्चा हुआ है, वह अवैध सन्तान है। वह विवाह के पश्चात् मात्र 3 दिन पत्नी के साथ रहा, लेकिन इन दिनों भी पत्नी से लैंगिक सम्बन्ध स्थापित भी नहीं किये, तो यह बच्चा कैसे जन्मा ? दूसरी ओर पत्नी ने पति के आरोप का खण्डन किया तथा पति पर इसके विपरीत यह आरोप लगाया कि उसके पति उसके पिता से अधिक दहेज पाने की इच्छा रखते हैं।

जब आनुवंशिक साक्ष्यों के आधार पर पति एवं कथित अवैध सन्तति का परीक्षण किया गया, तो

यह पाया गया कि पति एवं पत्नी की पितृजता असम्भव नहीं है। इन साक्ष्यों के आधार पर व्यक्ति की याचिका को खारिज कर दिया तथा उस व्यक्ति को नवजात शिशु का वास्तविक पिता माना। आनुवंशिक साक्ष्यों के विश्लेषण को निम्न तालिका में प्रदर्शित किया जा रहा है–

आनुवंशिक साक्ष्य प्रणालियाँ	पिता	माता	पुत्र	पितृत्व	X	Y
ABO	B	AI	B	सम्भावित	0.59	0.235
Rh	CcDe	CcDe	cDe	सम्भावित	0.5	0.522
MNSs	MSs	MNSs	MNss	सम्भावित	0.5	0.779
Kell	K–k+	K–k+	K–k+	सम्भावित	1.0	0.977
Duffy	a+b+	a+b–	a+b–	सम्भावित	0.5	0.423
PGMI	1–1	1–1	1–1	सम्भावित	1.0	0.643
EsD	2–1	1–1	1–1	सम्भावित	0.5	0.802
EAP	BB	BB	BB	सम्भावित	1.0	0.774
ADA	2–1	1–1	1–1	सम्भावित	0.5	0.888
AK	2–1	1–1	1–1	सम्भावित	0.5	0.893
GLOI	2–1	2–1	2–1	सम्भावित	0.5	0.500
Hb	AA	AA	AA	सम्भावित	––	––
Hp	2–2	2–2	2–2	सम्भावित	1.0	0.776
Gc	1–1	2–1	2–1	सम्भावित	1–.0	0.750
Tf	CC	CC	CC	सम्भावित	1.0	0.996
स्रावक	SeSe	SeSe	Sese	सम्भावित	1.0	0.514
कर्णखण्ड	स्वतन्त्र	सम्बद्ध जुडे	स्वतन्त्र	सम्भावित	0.67	0.491

उक्त विश्लेषण में 'पितृत्व की सम्भावना' (Likelihood of Paternity) आंकी गयी। इसे निम्न आंकलित किया गया है–

$$\text{LOP (Likelihood of Paternity)} = \frac{X}{(X+Y)}$$

यहाँ X का तात्पर्य संदिग्ध पिता (Putative Father) के उन पितृत्व जीनों की सम्भावना है जो बच्चे में पारगमित हुए है। संकेत Y का अभिप्राय उस जनसंख्या के एक अनादृचिक मनुष्य के उन जीनों की सम्भावना से है जो पुत्र में प्रवाहित हो सकते है। उपर्युक्त पितृत्व विवाद में LOP या पितृजता की सम्भावना का मान 93.29 % है। इससे पूर्णतः प्रमाणित होता है कि उस व्यक्ति की पितृजता असम्भव बिल्कुल नहीं है।

(4) गुणसूत्री विश्लेषण विधि (Chromosomal Approach)

गुणसूत्रों की आकारिकी (Morphology) से यह ज्ञात होता है कि मानव–गुणसूत्रों में वैयक्तिक विविधता (सूक्ष्म) होती है। यह वैयक्तिक विशिष्टता पीढ़ी दर पीढ़ी वंशागत होती है। इसके आधार पर विभिन्न कोशिका वैज्ञानिक तकनीकों से पितृजता सम्बन्धी विवादों को सुलझाया जा सकता है।

यदि किसी विशिष्ट आकार का कोई गुणसूत्र एक कथित अवैध सन्तति में पाया जाये तथा उसी आकार का गुणसूत्र किसी संदिग्ध व्यक्ति की कोशिकाओं में भी हो, तो यह स्पष्ट है कि वह व्यक्ति ही, वास्तविक पिता है। Y– गुणसूत्र केवल पुत्रों में पाया जाता है। इसका आकार प्रकार विशिष्ट होता है। यदि इस विशिष्ट आकार का Y गुणसूत्र संदिग्ध पिता में है तथा पुत्र में यह अपेक्षाकृत लम्बा है, तो व्यक्ति के पितृत्व को दावे के साथ नकारा जा सकता है। इसके अतिरिक्त गुणसूत्र समूह E तथा G में विविधतायें, सैटलाइट बिंदुओं का गुणांक आदि लक्षण पितृत्व निर्धारण में प्रामाणिक साक्ष्य है। गुणसूत्रों से मस्बन्धित आकारिक विविधताओं तथा इनके अध्ययन की तकनीकों का उल्लेख पिछले अध्यायों में किया जा चुका है, अतः यहाँ इन साक्ष्यों के विस्तृत वर्णन की आवश्यकता हमें प्रतीत नहीं होती।

(5) आणविक विधि (Molcular Approach)

नवीन वैज्ञानिक तकनीकों के आविष्कार से अब आनुवंशिक पदार्थ का आणविक विश्लेषण सम्भव हो गया है। अब यह ज्ञात हो चुका है कि सभी आनुवंशिक विविधतायें, जैसे– रुधिर वर्ग, नेत्र रंग, कर्ण प्रकार, प्रोटीन विशेषक, एन्जाइम प्ररूप आदि, आनुवंशिक तत्व अथवा अणु– 'डी आक्सीराइबोन्यूक्लक एसिड'(DNA) के अन्तर्गत जन्म लेती है। वस्तुतः डी एन ए (DNA) ही सूक्ष्म आनुवंशिक अणु है जिसकी विशिष्टता के फलस्वरूप आनुवंशिक लक्षण की निरन्तरता बनी रहती है। इससे सम्बन्धित विभिन्न आधुनिक तकनीकों का वर्णन गत अध्याय– 'आनुवंशिक अध्ययन की विधियाँ' में किया जा चुका है। इसलिए यहाँ उन महत्वपूर्ण तकनीकों का अति संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा, जो पितृजता निर्धारण तथा चिकित्सा विधिक मामलों में प्रयोग की जाती हैं।

डी एन ए फिंगर प्रिटिंग

(DNA Finger Printing)

विभिन्न पारिवारिक अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि किसी एक व्यक्ति के शरीर के द्रव्य अथवा शुष्क पदार्थों जैसे– रुधिर, शुक्राणु, शुष्क–शुक्राणु, ऊतक, बाल के टुकडे, लार, पसीना आदि के डी एन ए प्रारूप (DNA Pattern) विशिष्ट तथा आनुवंशिक होते हैं। एक विशिष्ट स्थल (Locus) के डी एन ए खण्ड (Fragment) जिन्हें "प्रॉब" (Probe) कहा जाता है, कई पीढ़ियों तक स्थायी रचना बनाये रहते हैं। ये प्रयोगशालाओं में उत्पन्न तापमान, नमी, उमस पराबैंगनी किरणों आदि वातावरण से प्रभावित नहीं होते। लेकिन इनमें प्रायोगिक प्रक्रिया की अवधिमें फंफूदी तथा जीवाणु का संक्रमण सम्भव है। अतः इस संक्रमण से बचाव के लिए DNA का 'इलेक्ट्रोफोरेसिस' तकनीक से पृथक्करण किया जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मानव जाति में जन्म लेने के कारण हम सभी प्राणी सामान जीनों को रखते हैं। लेकिन ये जीनी समानता मानव के कुल 5 % डी एन ए में होती है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक मानव का 5 % डी एन ए समान हो सकता है लेकिन शेष 95 % डी एन ए उस मानव की विशिष्टता को बताता है। ये डी एन ए विशिष्ट क्षार–प्रारूप रखते हैं जिसमें कुछ क्षारों की अधिकांशतः आनुवंशिक पुनरावृत्ति होती है। एक अनुमान के अनुसार यह क्षार–पुनरावृत्ति 9–40 लघु क्षार युग्मों में 200–300 मध्यवर्ती क्षार युग्मों में, तथा 1000 से ऊपर लम्बे क्षार युग्मों में होती है। ये क्षार–युग्मों की लघु–पुनरावृत्ति जो DNA का एक 'लघुतमखण्ड'(Short Fragment) है, इन्हें 'मिनी सैटेलाइट' (Minisatellites) कहते हैं। इनमें से प्रत्येक क्षार के लघु अनुक्रम की हजारों आवृत्तियाँ रखते हैं। ये सूक्ष्म सैटेलाइट अत्यधिक परिवर्तनशील होते हैं तथा

एक युग्मनज–यमजों (Identical Twins) के अतिरिक्त किन्हीं दो व्यक्तियों में समानता प्रकट नहीं करते। इन्हें 'बैरियेबल नम्बर टेण्डम रिपीट' (VNTR) कहते हैं। चूंकि ये अनुक्रम संख्यायें गैर–सम्बन्धी व्यक्तियों की एक समान नहीं होती, इसलिए इन दो व्यक्तियों के डी एन ए से उत्पन्न डी एन ए खण्ड (DNA 'Probe') भी विषम लम्बाई के होते है। ये विषम लम्बाई के 'डी एन ए खण्ड' जेल इलेक्ट्रोफोरेसिस तकनीक से पृथक् किये जाते हैं। अवलोकन करने से चूंकि ये 'अंगुलि छाप' के सदृश प्रतीत होते हैं इसलिए सामान्य भाषा में इन डी एन ए प्रारूपों को 'डी एन ए– फिंगर प्रिंट्स' या 'डी एन ए प्रोफाइल' (DNA Profile) कहा जाता है तथा सम्पूर्ण तकनीक को 'डी एन ए फिंगर प्रिंटिंग' (DNA Finger Printing) कहते है। पितृजता या अन्य चिकित्साविधिक विवादों के निस्तारण में यह एक विश्वसनीय तकनीक है।

इस तकनीक का महत्व और भी अधिक बढ गयाहै जब से 'पॉलीमरेज चेन रिऐक्सन' (P.C.R.) के द्वारा डी एन ए प्रारूप प्राप्त कर लिये जाते है। इस प्रक्रिया में डी एन ए की अल्पतम मात्रा भी विश्लेषण के लिए पर्याप्त होती है।

उदाहरण– अपराधिक मामलों में डीएन साक्ष्यों का सर्वप्रथम प्रयोग 1987 में ब्रिस्टल में स्थित न्यायालय (इंग्लैण्ड) में किया गया। भारत में अभी शीघ्र ही सन् 1995 में 'नैना साहनी तन्दूर हत्याकाण्ड' में इसका प्रयोग किया गया। इसमें नैना के हत्यारों ने उसे तन्दूर की भट्टी में जला कर राख कर दिया था लेकिन राख के ढेर से प्राप्त अस्थियों के टुकडे से 'डी एन फिंगर प्रिंट्स' प्राप्त किये गये जो नैना के माता–पिता के 'डी एन ए फिंगर प्रिंट्स' से मेल खाते थे। अतः डी एन ए साक्ष्य के आधार पर 'नैना हत्या' की पहचान की जा सकी।

सन् 1989 में मद्रास के उच्च न्यायालय में एक दम्पत्ति ने यह याचिका दायर की कि उनकी पुत्री लक्ष्मी (4 वर्ष) 10 माह से लापता है जिसकी प्रथम सूचना स्थानीय थानाक्षेत्र में दी गयी थी। उसे एक अन्य दम्पत्ति के घर में 'मैरी' नाम से रखा जा रहा है। दूसरी ओर दूसरे दम्पत्तियों ने 'मैरी' को अपनी पुत्री कहकर इसका खण्डन किया। इस विवाद को सुलझाने के लिए न्यायालय ने सी सी एम बी प्रयोगशाला, हैदराबाद से रुधिर परीक्षण करने को कहा। यहाँ पर इस लडकी, पक्ष तथा विपक्ष के दम्पत्तियों तथा उस लड़की के जुडवा भाई के रुधिर प्रतिदर्श से उपयुक्त आणविक तकनीकों से 'डी एन ए प्रिंट्स' BKM प्रॉब P32 रेडियोधर्मी तत्वों का प्रयोग करते हुए प्राप्त किये गये।इसके विश्लेषण से यह निर्धारित किया गया कि वह लडकी वर्तमान समय में जिन माता–पिता के साथ निवास कर रही है, उनकी वास्तविक पुत्री है तथा उसका न्यायालय में याचिका दायर करने वाले दम्पत्तियों की वास्तविक पुत्री होना असम्भव है।..

2. आनुवंशिक परामर्श
(Genetic Counselling)

अर्थ– "जब कोई आनुवंशिक विशेषज्ञ या चिकित्सक किसी दम्पत्ति या रोगी या उसके निकट सम्बन्धियों को अगली पीढ़ी में वंशागत होने वाली विकृतियों तथा उससे सम्बन्धित खतरे की सम्भावनाओं, बचाव के उपाय आदि कल्याणप्रद सुझाव देता है, तो इस प्रक्रिया को 'आनुवंशिक परामर्श' (Genetic Counselling) कहते है।"

सामान्यतया मानव समाज तथा परिवार में शरीर के कार्य अथवा रचना से सम्बन्धित नयी–नयी समस्यायें दृष्टिगोचर होती रहती है। इसके निदान के लिए प्रायः हम चिकित्सक की सलाह से तत्सम्बन्धित औषधि लेते हैं। लेकिन कभी–कभी वे शारीरिक समस्यायें पुत्र–पुत्रियों तथा अगली पीढ़ी में भी प्रकट होती है। ऐसी स्थिति में पूरा परिवार मानसिक रूप से परेशान होने लगता है। यदा कदा इस बीमारी से प्रभावित व्यक्ति या रोगी को अनेकों पारिवारिक सामुदायिक तथा सामाजिक भेदभाव एवं अश्प्रश्यता का शिकार भी होना पड़ता है। जिससे यह एक परिवार की ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण समुदाय की समस्या बन जाती है। लेकिन यदि हम इन जैविक समस्याओं के निदान हेतु किसी ऐसे चिकित्सक या विशेषज्ञ से सम्पर्क स्थापित करते हैं जिसे मानव आनुवंशिकी का ज्ञान हो, तो इन पारिवारिक समस्याओं का समाधान सरल विधियों से हो जाता है।दूसरे शब्दों में, वह जैविक बीमारी जिसकी कई पीढ़ियों तक निरन्तरता बनी रहे, तो इस बीमारी

का आनुवंशिक कारण समझ कर किसी आनुवंशिक चिकित्सक या सलाहकार (Genetic Doctor or Counsellor) से इसके निदान का परामर्श लेना ही यथोचित है क्योंकि आनुवंशिक चिकित्सक कथित बीमारी के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के उपरान्त उसके निदान की सलाह रोगी या उसके निकट सम्बन्धियों को देता है जिससे कथित रोग को यथासम्भव नियन्त्रित किया जा सकता है।

अतः आनुवंशिक परामर्श को यदि सरल शब्दों में परिभाषित करें तो हम कह सकते हैं कि 'आनुवंशिक परामर्श' मानव आनुवंशिकी की एक वह मानव कल्याण की विधि है जिसके माध्यम से कोई विशेषज्ञ या चिकित्सक किसी परम्परागत बीमारी के निदान हेतु रोगी, या उसके निकटसम्बन्धियों को परामर्श देता है।' यह सुजननिकी (Eugenics), जीन चिकित्सा (Genetheropy) तथा जीन अभियान्त्रिकी (Genetic Engineering) से भिन्न प्रणाली है जिसके माध्यम से आनुवंशिक चिकित्सक किसी आनुवंशिक रोग के प्रभाव को उत्तरोत्तर कम करता है।

ई.ई. इमरी (E.E. Emery) के अनुसार, "आनुवंशिक परामर्श किसी दम्पत्ति के विभिन्न सम्बन्धियों में पाया जाने वाले विकार का अध्ययन तथा उसके खतरे की सम्भावना के आंकलन से सम्बन्धित है, जिसके परिप्रेक्ष्य में वे (दम्पत्ति) उस विचार की पुनरावृत्ति के प्रति सूचित किये जाते हैं।"

कर्ट स्टर्न डॉ० इमरी से भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। उनके अनुसार, "आनुवंशिक परामर्श, चिकित्सा आनुवंशिकी का वह भाग है, जिसके माध्यम से आनुवंशिकी एवं बीमारी के अन्तर्सम्बन्धों की विवेचना की जाती हैं तथा जन समूहों से प्राप्त सूचनाओं का मानव-कल्याण में उपयोग किया जाता है।"

आनुवंशिक परामर्श के मुख्य लक्षण

(Saliant Features of Genetic Courselling)

नार्मन वी. राथवेल (Norman V. Rothvell, 1977) आनुवंशिक परामर्श को एक 'मानवसेवा' का एक स्वरूप मानते हैं जो आयुर्वैज्ञानिक एवं परीक्षणात्मक विधियों से निकटवर्ती सम्बन्ध रखती है। इनके अनुसार आनुवंशिक परामर्श के निम्नलिखित मुख्य लक्षण होते हैं–

1. सहकारी एवं संयुक्त प्रयास

आनुवंशिक परामर्श एक सहकारी सेवा है जिसमें एक से अधिक विशेषज्ञों के संयुक्त प्रयास आवश्यक है। इसमें आनुवंशिक विशेषज्ञ, प्रशिक्षित कर्मी, चिकित्सक तथा समाज कार्यकर्ता आदि संयुक्त रूप से किसी आनुवंशिक बीमारी का समाधान खोज पाने में समर्थ होते हैं। अतः परामर्श एक टोली कार्य (Team Work) है किसी एक व्यक्ति के द्वारा सम्पन्न होने वाला कार्य नहीं है क्योंकि आनुवंशिक सलाहकार को अन्य क्षेत्र के विशेषज्ञों जैसे- चिकित्सक, जैव-रसायन विद अथवा कोशिका/गुणसूत्र विशेषज्ञ, सामुदायिक नेता तथा समाजकार्यकर्ता आदि के प्रयासों की आवश्यकता होती है। परामर्शदाता या आनुवंशिक विशेषज्ञ को किसी विकृति (Disorder) के त्रुटिरहित परीक्षण के लिए एक कुशल चिकित्सक (Competant Physician) की आवश्यकता होती है। कभी-कभी रोग की आनुवंशिक क्रियाविधि संदिग्ध होती है। उदाहरण के लिए मांसपेशीय विकलांगता (Mascular Dystrophy) दो स्वरूपों में वंशागत होती है- लिंग सहलग्न तथा अप्रबल अलिंगसूत्री प्ररूप। ऐसी स्थिति में किसी विशेष घटना में इनमें से कौन वंशागति प्रकार का अनुसरण हो रहा है, यह सुनिश्चित कर पाना कठिन एवं भ्रामक हो सकता है, अतः त्रुटि से बचने के लिए किसी योग्य गुणसूत्र विशेषज्ञ या जैव रसायन की सहायता से उस रोग का रासायनिक या गुणसूत्री परीक्षण आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त उस रोग के निदान हेतु सभी निर्देशों का पालन करवाने हेतु किसी सुयोग्य सामुदायिक नेता तथा समाजकार्यकर्ताओं का सहयोग आवश्यक है।

2. आनुवंशिक सलाहकार की मीमांसा एवं सूझ-बूझ

समस्या जनित परिस्थितियों की सूझ-बूझ, सलाहकार के लिए अत्यावश्यक है। उसे मानव के विभिन्न आनुवंशिक विकारों का समसामयिक ज्ञान होना चाहिए। उसे इन हजारों आनुवंशिक रोगों की

जटिलताओं, दर्द आदि के प्रति सचेत होना चाहिए। अच्छा सलाहकार बनने के लिए भिन्न–भिन्न मानव के मनोविज्ञान की समझ होना आवश्यक है क्योंकि कुछ आनुवंशिक बीमारियों से परिवार, सम्बन्धियों तथा समुदाय की भावनायें प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध होती है। अतः आनुवंशिक परामर्श का अस्तित्व सलाहकार की कार्यक्षमता एवं सूझबूझ पर निर्भर करता है।

3. आवंशिक जटिलताओं के प्रचार–प्रसार का प्रबन्ध

जन सामान्य प्रायः विकारों से अनभिज्ञ रहता है। कई शिक्षित लोग भी आनुवंशिकी के इस उपयोगी क्षेत्र से अपरिचित होते हैं। इसलिए वे व्यक्ति जो आनुवंशिक विकारों के शिकार हैं, वे भी अपनी समस्या तब तक गम्भीरता से नहीं लेते जब तक कोई दूसरा उन्हें सचेत न करे। कभी–कभी लोगों में इन विकारों को छुपाने की भावना भी पायी जाती है, तथा सामाजिक कुरीतियाँ भी इन विकारों से जटिलतायें उत्पन्न करती हैं। इसलिए आनुवंशिक परामर्श के लिए निम्न प्राथमिकतायें होती है–

(i) आनुवंशिक जटिलताओं सम्बन्धी तथ्यों का प्रचार व प्रसार,

(ii) जनता को आनुवंशिक विकारों से सम्बनधित शिक्षा देना, तथा

(iii) किसी विशेष जनसंख्या में प्रकाशित आनुवंशिक विकारों की आवृत्ति तथा उसके खतरों से परिचित कराना

4. उच्च खतरे से प्रभावित व्यक्ति की खोज

उच्च खतरे से प्रभावित व्यक्ति (High risk individuals) की खोज आवश्यक है। यह कार्य चिकित्सालयों, आयुर्विज्ञान संस्थानों, समुदायों के संदिग्ध रोगियों की जांच से की जाती है। रोग के पता हो जाने पर उसके खतरे की सम्भावना (उच्च अथवा निम्न) का आंकलन वंशावली, आनुवंशिकता के नियमों तथा सांख्यकी की परिनियमावली से ज्ञात की जानी चाहिए। इस खोज को तब एक दिशा मिल जाती है जब सलाहकार विशिष्ट आनुवंशिक विकारों के परिप्रेक्ष्य में कदम उठाता है। उदाहरणस्वरूप यदि उसे यह ज्ञात है कि अफ्रीका मूल के निवासियों में हसियांकर कोशिकीय रक्ताल्पता (Sickle Cell Anaemia), भूमध्यसागरीय वंशजों में थैलासीमिया (Thalassemia), यूरोपियन यहूदियों में टे–शैक्स आदि की उच्च सम्भावनायें हैं, तो सलाहकार का 'आनुवंशिक परामर्श' प्रभावी साबित होता है।

5. प्राथमिक उपचार तथा सेवा की भावना

किसी विशेष रोग से पीड़ित व्यक्तियों का प्राथमिक उपचार तथा उनके सेवा की भावना आनुवंशिक परामर्श का आवश्यक तत्व है। इन परिस्थितियों में रोगी का सलाहकार के प्रति विश्वास बढ़ता है तथा रोगी एवं उसके सम्बन्धी वास्तविक लक्षणों व तथ्यपरक सूचनाओं को सरलता से प्रदान करता है।

6. निदान की सम्भावनाओं एवं विकल्पों का विश्लेषण

रोगी जब आनुवंशिक परामर्श की मांग करे या उसकी आवश्यकता अनुभव करे तो उस रोग के निदान एवं वैकल्पिक अवस्थाओं की पूर्व व्याख्या की जानी चाहिए। रोगी एवं उसके सम्बन्धियों का आनुवंशिक परामर्श के प्रति विश्वास बढ़े, इसलिए सलाहकार को सभी वैकल्पिक अवस्थाओं का पूर्व विवरण दिया जाता है।उदाहरण के लिए यदि कोई रोगी हीमोफीलिया (Hemophilia) रोग से ग्रसित है। इस रोग की जटिलताओं को जानने पर उस रोगी के सम्बन्धी भी भयभीत है। इन सम्बन्धियों में से रोगी का भाई सलाहकार के पास आकर अपने भय का कारण व्यक्त बताता है। सलाहकार उस रोग के परीक्षण के बिना इसकी सम्भावनाओं को आंकलित करता है तथा पूर्व अनुसंधानों के प्रकाश में उस व्यक्ति को उस रोग की वंशागति प्ररूप का संक्षिप्त परिचय देते हुए यह सलाह देता है कि वह भविष्य में इस रोग से पीड़ित नहीं होगा और न ही उसके बच्चों में यह रोग प्रकट होगा क्योंकि वह जिस X – गुणसूत्र को अपनी मां से प्राप्त कियाहै वह सामान्य है, अतः वह इस रोग की परिधि से परे है। दूसरी ओर, वह उस व्यक्ति के रोगी भाई को उस बीमारी के प्रति सचेत करता है तथा उसके खतरे की पूर्व सम्भावना को व्यक्त करता है।

महत्व

(Significance)

आनुवंशिक परामर्श, आनुवंशिकी की एक उपयोगी विधि है। यदि इसे मानव कल्याण में उपयोग किया जाये, तो अनेक जानलेवा आनुवंशिक बीमारियों से बचा जा सकता है, तनावों से मुक्त हुआ जा सकता है तथा जन्मजात विकृतियों की पुनरावृत्ति को रोका जा सकता है। लेकिन दुर्भाग्यवश इस विधि का समुचित विकास नहीं हो सका है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि विकसित देशों में भी इसका सीमित प्रयोग हुआ है। भारत तथा चीन जैसे विशाल देशों में इसका प्रयोग नगण्य है। अफ्रीकी, दक्षिणी अमेरिकी तथा एशियाई अल्प विकसित देशों में इस विधि के प्रयोग के विषय में लोग अनिभिज्ञ है। अतः इन देशों में जहाँ इस विधि के उपयोग की पर्याप्त सम्भावनाएँ हैं, वहाँ की सरकार तथा जनता का ध्यान आकृष्ट करके मानव समाज की सेवा तथा जीविकोपार्जन का साधन बनाया जा सकता है।

आनुवंशिक बीमारियाँ तथा विकृतियाँ प्रायः घातक तथा औषधिविहीन होती है। इनका उपचार सरलता से सम्भव नहीं है। प्रायः आयुर्वैज्ञानिक औषधियों से इनके प्रभाव जटिलताओं तथा पीड़ा को एक निश्चित अवधि के लिए कम किया जा सकता है, लेकिन इन विधियों से रोग को जड़ से समाप्त नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए हीमोफीलिया से पीड़ित व्यक्ति के कटने पर निरन्तर बहने वाले रुधिर की हानि की पूर्ति रक्ताधान से की जा सकती ।जिससे सम्भव है कि रोगी मृत्यु से बच जाये, लेकिन इस रोग से पीडित व्यक्ति की सन्ततियों में पारगमन को किसी औषधि या शल्य चिकित्सा से रोका नहीं जा सकता। इसी प्रकार 'एडस' (AIDS) आनुवंशिक तथा संक्रामक जानलेवा बीमारी है, इसका किसी औषधि प्रणाली से इलाज अभीतक सम्भव नहीं हो सका है। अतः जिन आनुवंशिक विकारों में उपयुक्त उपचार सम्भव नहीं है,उनके लिए आनुवंशिक परामर्श एकमात्र बचाव का उपाय है। जिन विकारों के क्षणिक एवं सावधि उपचार भी है, उनके लिए भी आनुवंशिक परामर्श बचाव का निर्णायक उपाय है।

आनुवंशिक परामर्श में निरोगी एवं स्वस्थ्य सन्तति की कामना प्रायः रोगी या उसके सम्बन्धियों के द्वारा की जाती है। इससे परिवार कल्याण एवं जनसंख्या नियन्त्रण भी होता है। उदाहरणस्वरूप एड्स की रोकथाम हेतु निरोध या कण्डोम के प्रयोग की सलाह दी जाती है जिससे इस रोग से बचाव के अतिरिक्त जनसंख्या वृद्धि में कमी अवैध सन्तानों के जन्मदर में गिरावट आदि मानव समाज की समस्यायें भी अपघटित होती हैं।

उद्देश्य

(Aims)

आनुवंशिक परामर्श के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

(i) आनुवंशिक विकारों तथा विकृतियों की विभिन्न तकनीकों से खोज करना,

(ii) उस विकारों से सम्बन्धित चिकित्सीय जटिलताओं, पीड़ा, आदि की व्याख्या, रोगी, उसके माता–पिता या निकट सम्बन्धियों से करना,

(iii) किसी परिवार में उस विशिष्ट रोग की पुनरावृत्ति की सम्भावना का पता करना, तथा

(iv) उस रोग के पुनः घटित होने के परिप्रेक्ष्य में उसके रोकथाम, बचाव तथा विकल्प का सुझाव देना।

आनुवंशिक परामर्श कैसे दे ?

(Teachniques of Genetic Counseling)

आनुवंशिक परामर्श देने की तकनीक किसी व्यक्ति (आनुवंशिक विद) की विशेषज्ञता तथा उसके टोली के सदस्यों की कार्यकुशलता पर आधारित होती है। परामर्श का विभित्र अवस्थाओं में कुशल प्रबन्धन इसकी अनिवार्य आवश्यकता है। कुशाग्र एवं दूरदर्शी सलाहकार इस क्षेत्र को नवीनतम ऊंचाइयाँ दे सकता है। आनुवंशिक परामर्श देने में निम्नलिखित तकनीकें तथा कार्ययोजना प्रयुक्त होती है–

1. आनुवंशिक सर्वेक्षण (Genetic Survey)
2. चिकित्सीय परीक्षण (Medical Examination)
3. रासायनिक विश्लेषण (Chemical Analysis)
4. वंशावली एवं पारिवारिक इतिहास (Pedegree and Family History)
5. पुनर्घटित खतरे का विश्लेषण (Risk recurrence Analysis)
6. मनोचिकित्सा (Psycho Therapy)
7. उपचार एवं बचाव के उपाय (Cure and Preventive Methods)
8. रोग की देखरेख (Follow–up Action)

1. आनुवंशिक सर्वेक्षण
(Genetic Survey)

आनुवंशिक विकारों का सर्वेक्षण दो विधियों से किया जाता है। क्षेत्रकार्य विधि, द्वितीय आंकड़ा विधि तथा प्रयोगशाला विधि। इनमें क्षेत्रकार्य विधि (Field Work Method) अत्यधिक जटिल है। इससे सलाहकर्ता विभिन्न क्षेत्रों की संदिग्ध बीमारियों के आंकड़े क्षेत्र भ्रमण अवलोकन पूछताछ आदि मानवैज्ञानिक क्षेत्रकार्य की तकनीकों से एकत्रित करता है। आवश्यकता पड़ने पर कुछ विशेष बीमारियों का अस्थायी प्रयोगशाला से परीक्षण भी करता है। इस अध्ययन में प्रायः वह प्रत्येक परिवार का एक सदस्य ही चुनता है जिसका विस्तृत विवरण तथा प्रतिदर्श एकत्रित करता है। कभी–कभी वह किसी विशेष बीमारी के लिए उस क्षेत्र के समस्त व्यक्तियों का अवलोकन तथा प्राथमिक परीक्षण करता है।

द्वितीय, आंकडा संग्रह विधि (Second Hand Data Collection Technique) अपेक्षाकृत सरल लेकिन अपूर्ण सर्वेक्षण है। इससे एक क्षेत्र के विभिन्न चिकित्सालयों, चिकित्सा केन्द्रों, चिकित्सकों आदि से अधिक पायी जाने वाली बीमारियों, उनकी जटिलताओं, प्रकोप तथा उनकी बारम्बारताओं को एकत्रित किया जाता है। इसके अतिरिक्त सरकारी, अर्धसरकारी तथा स्वयंसेवी संस्थाओं आदि से भी क्षेत्रवार बीमारियों से सम्बन्धित समस्त सूचनायें एकत्रित की जाती है।

प्रयोगशाला विधि विश्वसनीय लेकिन अत्यधिक सीमित सर्वेक्षण है। इसमें सर्वेक्षण कार्य परामर्श केन्द्र (Counseling Centre) पर ही किया जाता है। जितने रोगी इस केन्द्र पर किसी कारण से आते हैं, उनकी बीमारियों का सर्वेक्षण होता है, एक जनसंख्या के शेष व्यक्ति अछूते रहते है। आवश्यकता पड़ने पर रोगी के निकटवर्ती सम्बन्धियों में भी उस बीमारी की आवृत्ति ज्ञात की जाती है। आनुवंशिक सलाहकार प्रायः इसी विधि से बीमारियों का सर्वेक्षण करता है क्योंकि इससे वह अनावश्यक श्रम की बचत कर लेता है तथा रोगी की रुचि परामर्श के प्रति सरलता से विकसित कर सकता है।

2. प्रमुख विकारों का प्रचार–प्रसार
(Publicity of Major Defect)

प्राथमिक सर्वेक्षण से प्राप्त प्रमुख विकारों का प्रचार–प्रसार जनता तथा किसी विशेष क्षेत्र में आवश्यक है। इसके लिए सलाहकार विभिन्न प्रचार–प्रसार माध्यमों की सहायता लेता है। विभिन्न पोस्टर, पत्र, हैण्ड आउट्स हैण्डलेट्स आदि को मुद्रित करवा करके जन जागरण पैदा किया जाता है। इन माध्यमों से इन विकारों के फैलने की सम्भावनाओं तथा बचाव के उपायों का संक्षिप्त उल्लेख भी किया जाता है। विकारों से सम्बन्धित पूछतांछ के सकारात्मक समाधान हेतु अच्छा तो यह होगा कि एक प्रकोष्ठ (Cell) भी स्थापित की जाये। भारत तथा अनेकों देशों की महानगरियों में अब इस प्रकार के परामर्श प्रायः चिकित्सा केन्द्रों पर उपलब्ध होते हैं। सलाहकार को चाहिए कि अपने केन्द्र को परामर्श विशेषज्ञता को जनता तक विभिन्न प्रचार

माध्यमों, कार्यशालाओं, शिविरों आदि से पहुंचाये तथा उसका केन्द्र प्रत्येक पल जनसेवा के लिए तत्पर रहे।

3. चिकित्सीय परीक्षण
(Medical Examination)

जब किसी एक विशेष रोग के उपचार हेतु कोई रोगी, परामर्श केन्द्र से सम्पर्कस्थापित करे, तो उसके रोग का उचित परीक्षण परामर्श की प्राथमिक आवश्यकता है। सलाहकार किसी आनुवंशिक विकास के विशिष्ट लक्षणों के आधार पर परामर्श नहीं देता। वह उस रोग की पीड़ा, जटिलता, अन्तर्सम्बन्ध तथा उससे सम्बन्धित शारीरिक अथवा मानसिक विकृति का निर्धारण करता है। शारीरिक तथा जैविक लक्षणों का परीक्षण किसी योग्य चिकित्सक की सहायता से किया जाता है। चिकित्सक रोगी के शरीर की विभिन्न कार्य प्रणालियों (Functionaries or Systems) का गहनता से परीक्षण करता है तथा इन प्रणालियों की जैविक विसंगतियों से सम्बन्धित राय (Opinion) सलाहकार को देता है। आवश्यकता पड़ने पर रोग से सम्बन्धित उत्तेजना, तनाव आदि के प्रभाव को घटाने के लिए रोगी को प्राथमिक औषधि (First Aid) भी प्रदान की जाती है।

सलाहकार किसी योग्य चिकित्सक से राय इसलिए प्राप्त करना चाहता है क्योंकि वह यह जानता है कि समान लक्षण (Symptoms) प्रायः कुछ ऐसे विकारों से सम्बद्ध होते है जिनकी वंशागति भिन्न–भिन्न होती है। उदाहरण के लिए मांसपेशी विकलांगता (Mascular Dystrophy) लिंगसहलग्न एवं अलिंगसूत्री अप्रबल दोनों स्वरूपों में व्यक्त होती है लेकिन गहन एवं विस्तृत चिकित्सीय परीक्षण के आधार पर इसमें मौलिक भेद पहचान में आ जाते हैं। अतः रोग की विसंगतियों के साधारण विवरण के आधार पर परामर्श देना उचित नहीं है, जब तक किसी रोग का विस्तृत चिकित्सीय परीक्षण न करवा लें।

4. रासायनिक तथा आणविक विश्लेषण
(Chemical and DNA analysis)

आनुवंशिक विकारों की रोकथाम में जैवरासायनिक परीक्षण या निर्धारण (Biochemcal Diagnosis or detection) प्राथमिक भूमिका निभाते हैं। यदि उचित समय पर रोग का सटीक निर्धारण हो जाये तो इनके मृत्युदायक परिणामों तथा उपचार विहीन विकलांगताओं से बचाव किया जा सकता है। उदाहरण के लिए 'फिनाइल कीटोनूरिया' (Phenylketonuria) से जन्म के पूर्व तो की क्षति नहीं होती लेकिन यदि 'फिनाइललेमाइन' (Phenylalamine) अमीनो अम्ल, बराबर उपयोग किया जाये तो एक 'एन्जाइम' शरीर में उपस्थित होता है तथा उस शिशु को दैनिक भोजन देने पर वह मानसिक रूप से विक्षिप्त (Mental retard) हो जाता है। इस रोग की 'PKU' के नाम से पुकारते है, जो 'फिनाइललैमाइन–हाइड्रोजाइलेज'(Phenylalamine Hydroxylase) एन्जाइम की कमी से सम्बद्ध होता है। इसकी वंशागति 'अलिंगसूत्री अप्रबल' प्रारूप से होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसकी आवृत्ति प्रति 10 हजार है।

इसी प्रकार 'G–6–PD' एन्जाइम (Glucose–6–Phosphate Dehydrogenase) की कमी एक आनुवंशिक विकार है जिसकी वंशागति अप्रबल लिंग सहलग्न प्रकार से होती है। इसलिए यदि किसी व्यक्ति को यह ज्ञात हो कि वह उस जीन का वाहक है जिससे निर्धारित एन्जाइम की कमी का शिकार हुआ है तो वह किसी विशेष द्रव्य (Drugs) के प्रयोग का परित्याग कर दे जिससे इसकी गम्भीर प्रतिक्रिया से बच सकता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के एक संस्थान– 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ हेल्थ' (National Institute of Health) ने जैव रासायनिक परीक्षण से एक आनुवंशिक विकार– 'गॉचर रोग' (Gaucher's Disease) का पता लगाया जिससे लगभग 1000 व्यक्ति प्रभावित थे। 'टे–सैक्स रोग' (Tay–Sacks disease) के समान यह भी एक बसा जनित असामान्य कोशिका की आन्तरिक गांठ से बनता है। ये गांठ एक कोशिकीय एन्जाइम

की कमी के फलस्वरूप बनती है। इस एन्जाइम– 'ग्लूकोसेरीब्रोसिडेज' (Glucocerebrosidase) की अनुपस्थिति से रुधिर तथा अन्य शारीरिक ऊतकों में बसा की गुल्थी बन जाती है। प्रभावित पुरुष का यकृत (liver) तथा प्लीहा (Spleen) की अभिवृद्धि हो जाती है, अस्थियाँ कमजोर हो जाती है घावों मसूडों आदि से रक्त रिसता रहता है, तथा रोगी अन्ततः रक्ताल्पता तथा तेज शारीरिक दर्द का शिकार हो जाता है। यह रोग अप्रबल जीन के द्वारा वंशागत होता है। इसकी रोकथान के लिए उक्त संस्थान ने उत्तरदायी एन्जाइम का एक इंजेक्शन बनाया। इसके लेने से सम्बन्धित जटिलतायें कुछ वर्षों के लिए समाप्त हो जाती है। रसायन विदों के इस प्रयोग से अन्य आनुवंशिक विकारों– विशेषकर उन विकारों जिनकी आणविक स्थिति का ज्ञान है उनके जैव– रासायनिक उपचार की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं।

इन विकारों का निर्धारण प्रायः जन्म पूर्व जन्मोपरान्त किया जाता है। विकारों का जन्म पूर्व विश्लेषण (Prenatal detection) परामर्श हेतु निर्णायक कार्य करता है। इससे वे मृत्युदायक तथा घातक बीमारियों से ग्रसित भ्रूण का ऐच्छिक गर्भपात कराकर इनकी रोकथाम की जा सकती है। गर्भ में इन बीमारियों का पता एक तकनीक 'ऐम्नियोसेंटेसिस' (Amnio centesis) से किया जाता है।

उदाहरण के लिए 'डाउन सिंड्रोम' (Down's Syndrome) एक घातक आनुवंशिक विकृति है जो गुणसूत्र– 15–21' के स्थानान्तरण से उत्पन्न होती है। जब एम्नियॉसेंटेसिस तकनीक से एम्नियॉन द्रव का कोशिकीय संवर्धन (Cell Culture) करने पर यदि गुणसूत्रों की संख्या 46 है जिसमें दो 21वें तथा एक '15–21' है, तो निस्संदेह वह भ्रूण 'डाउन बच्चे' का है। सलाहकार को जब इस जांच की सूचना मिलती है तो माता–पिता को इसके गर्भपात का परामर्श देता है। सलाहकार 35 वर्ष से अधिक आयु की गर्भवती महिलाओं को एम्नियॉ सेन्टेसिस द्वारा गर्भ परीक्षण कराने का परामर्श देता है क्योंकि इस आयु वर्ग की माताओं के गर्भ में इस रोग की सम्भावना अधिक होती है। इसी प्रकार यदि दोनों माता–पिता 'टे–सैक्स' विकार के अप्रबल जीन वाहक होते हैं तो गर्भवती मां को 'ऐम्नियॉसेंटेसिस' की सलाह अवश्य देनी चाहिए।

इसी प्रकार यदि एक मां ने 'हीमोफीलिया' रोग से ग्रसित बच्चे को जन्म दिया हो तो इस रोग की वंशागति प्रकार के आधार पर एक सलाहकार उसके अगले गर्भ के लिए एम्नियॉसेंटेसिस परीक्षण आवश्यक बताता है। यद्यपि इस रोग का ज्ञान उक्त परीक्षण से नहीं हो पाता फिर भी यदि गर्भ का लिंग निर्धारण हो जाता है तो इससे माता–पिता को यह पता हो जाता है कि गर्भ लड़की का है या लडके का। लडके का गर्भ होने पर 'हीमोफीलिया' से पीड़ित होने की 50 प्रतिशत सम्भावना होती है।लड़की का गर्भ होने पर खतरे की कोई सम्भावना नहीं होती। एक सलाहकार लडके का गर्भ होने पर इससे बचाव का उचित विकल्प (गर्भपात) का सुझाव देता है। जिसके फलस्वरूप पति–पत्नी के तनावों से मुक्त हो सकते है।

डी एन ए संवर्धन तकनीक (DNA Recombinant–Technology) के विकसित होने से आज 3000 से अधिक आनुवंशिक विकारों को डी एन ए स्तर पर मानचित्रित किया गया है। विकार निर्धारण के लिए 'डी एन ए निर्धारक प्रॉब्स' (DNA Diagnostic Probes) विकसित किये जा चुके है। ये रेडियोधर्मी विधि से अंकित DNA खण्ड है। जो आनुवंशिक विकारों केसमान 'क्षार अनुक्रम' रखते हैं। यह निर्धारक प्रॉब्स संदिग्ध व्यक्ति या रोगी के डी एन ए से संकरित कराये जाते है यदि रोगी का DNA सकारात्मक रूप से संकरति हो गया तो वह रोगी उस विकार से ग्रसित है। इन 'प्रॉब' के प्रयोग से पहले संवर्धित कर लिया जाता है क्योंकि एक जीन (प्रॉब) अंकित संकरण हेतु पर्याप्त नहीं होता। 'प्रॉब' का संवर्धन PCR तकनीक (Ploymerase Chain Reaction) से किया जाता है।

अधिकांश आनुवंशिक विकारों के लिए 'जीन मानचित्रण' (Gene Mapping) हो चुका है। इनकी गुणसूत्री संख्या एवं स्थिति ज्ञात हो चुकी है। एक विकास के लिए पहले मोटे तौर पर जीनी स्थिति का अनुमान किया जाता है। तत्पश्चात् इसकापरीक्षण 'डी एन ए निर्धारक प्रॉब' से किया जाता है। आजकल LGR किट (Ligation Chain Recaction Kit) को विकसित किया जा रहा है। जिससे आनुवंशिक विकारों

का आणविक परीक्षण (Molecular Diagnosis) सरलतापूर्वक किया जा सकेगा।इससे चिकित्सा विशेषज्ञों तथा जैव–रसायन विदों की सहायता के बिना सफल परीक्षण सम्भव हो सकेगा।जहाँ पर यह किट उपलब्ध नहीं है उन परामर्श केन्द्रों में DNA विशेषज्ञ के लिये कोशिका विज्ञान तथा जैव रसायनिक प्रयोगशाला की सहायता अपरिहार्य होती।है।

5. वंशावली निर्माण एवं पारिवारिक इतिहास

(Pedigree Formation and Family History)

जब किसी रोग का परीक्षण कार्य पूर्ण हो जाता है, तो कुशल सलाहकार इसरोग की वंशावली का निर्माण करता है। इशके लिए भी प्रायः दो विधियों का प्रयोग करके बनाता है। पहली विधि से पूंछता तथा अवलोकन से ज्ञात साधारण लक्षणों के आधार पर, रोगी के सम्बन्धियों में उस रोग की आवृत्ति का अनुमान करता है। दूसरे रोग की आवृत्ति का पुनरीक्षण अन्य चिकित्सीय, रासायनिक एवं आणविक तकनीक से करता है।

एक रोग के वंशागति स्वरूप के निर्धारण के लिए वंशावली निर्माण नितान्त आवश्यक है। इसमें एक व्यक्ति (रोगी) के ज्ञात सभी सम्बन्धियों, उनकी आयु, जनन इतिहास, मृत गर्भ का जन्म, गर्भपात, जीवित जन्म आदि का वृतान्त, उन सम्बन्धियों के जन्म स्थान गोत्र, जाति, उपनाम (Surname) वैवाहिक स्थिति, विवाह तिथि (यदि ज्ञात हो) आदि पारिवारिक सूचनाएँ भी एकत्रित कर ली जाती है। ये सूचनाएँ रोग के आनुवंशिक क्रियाविधि की व्याख्या में सहायक होती है।

6. खतरे की सम्भावना का विश्लेषण

(Risk Recurrence Analysis)

एक बार जब परीक्षण हो जाता है तथा वंशावली एवं पारिवारिक इतिहास की सूचना प्राप्त हो जाती है तो सलाहकार परामर्श ग्राहक (Consultand) रोगी या रोगी के सम्बन्धी की सन्ततियों में खतरे की सम्भावना ज्ञात करता है। सलाहकार के समक्ष प्रायः दो प्रकार के विकार होते है– एक तो वे जो एक जीन अथवा दो या दो से अधिक विकल्पियों के द्वारा वंशागत होते हैं, दूसरे वे जो बहुजीन अथवा जीन समूह के द्वारा वंशागत होते हैं।

एक अध्ययन के अनुसार लगभग 50 प्रतिशत आनुवंशिक विकार एक जीन द्वारा वंशागत होते हैं, 20 प्रतिशत विकार जन्मजात या बहुजीनों द्वारा नियन्त्रित होते है जिनका वंशागति प्रकार संदिग्ध होता है। गुणसूत्री विकारों में 80 प्रतिशत मामले 'ट्राइसोमी 21' (Trisomi – 21) से सम्बन्धित होते हैं। शेष विकार उत्परिवर्तन (Mutation) या सगोत्रता (Consangunity) के कारण उत्पन्न देखे गये है। कूपर तथा स्मिथ (Cooper & Smith, 1986) ने आनुवंशिक विकारों की संदर्भ सूची (Catalogue) तैयार की है। रास्को तथा डाउन्स (Rasco and Downs, 1995) ने आनुवंशिक विकारों के लिए उत्तरदायी अनेकों जीन का विस्तृत मानचित्रण (Gene Mapping) किया है। डॉ० वी मकसिक (Dr. V. Mckusick) ने आनुवंशिक विकारों हेतु मानव में मेण्डलीय वंशागति की 'सन्दर्भ सूची' (Catalogue) प्रकाशित किया है। राबर्टस, रॉथयेल, इमरी, नील एवं शुल्ज, स्टर्न आदि आनुवंशिक विदों ने इन विकारों की सम्भावनाओं का विस्तृत उल्लेख किया है।

एक जीन द्वारा वंशागत विकार, प्रभावी या अप्रभावी विकल्पियों के द्वारा सन्ततियों में लाये जाते है। ये विकल्पी लिंग सूत्र (Sedx Chromosomes) या अलिंग सूत्रों (Autosomes) पर स्थित होते है। अतः उक्त विकल्पियों तथा सहलग्न जीनों द्वारा नियन्त्रित विकृतियों के खतरे की सम्भावना का आंकलन 'मेंडल तथा अन्य वंशागति क्रियाविधियों' के अनुसार किया जा सकता है। चूंकि 'संयोग की कोई स्मृति नहीं होती।' (Chance has no memory), इसलिए सलाहकार को यह पूर्व से ही मान लेना चाहिए कि प्रत्येक विकार की सम्भावना स्थापित नियमों से कुछ विचलित अवश्य हो सकती है।

लक्षणों का अध्ययन वंशावली तथा पारिवारिक इतिहास के माध्यम से करना चाहिए। इससे उस लक्षण की वंशागति की प्रत्येक सम्भावनायें ज्ञात हो जाती है। इसके अतिरिक्त उसके ऊपर अन्य उद्विकासीय प्रक्रियाओं के प्रभाव की सम्भवना भी ज्ञात कर लेनी चाहिए। वे लक्षण जो बहुल विकल्पी के द्वारा नियन्त्रित होते हैं, उनका अध्ययन भी रोगी के परिवार के अतिरिक्त उस समुदाय के अन्य लोगों के माध्यम से कर लेना चाहिए। वे रोग जिनके लिए बहुल जीन उत्तरदायी है, इसके खतरे की सम्भावना ज्ञात करना अत्यन्त कठिन है। इसमें जिस प्रकार रोगी के माता पिता के जीनी स्तर की सम्भावना नहीं ज्ञात हो पाती है उसी प्रकार रोगी तथा उसकी सन्ततियों में खतरे की सम्भावना ज्ञात करना कठिन है। अनेक विकृतियां/रोग जैसे हृदय रोग रक्तचाप (उच्च), मानासिक विकार, मधुमेह, गठिया, अस्थिरोग, तपैदिक हार्मोनी रोग, कैंसर आदि को देखा गया है कि ये आनुवंशिक आधार रखते हैं। यद्यपि ये रोग मेंडलीय वंशागति का पूर्णतः अनुसरण नहीं करते। ऐसा माना जाता है कि ये बहुल जीनों के द्वारा नियन्त्रित होते है। कई जीन विभिन्न जीनी संस्थिति पर एक ही लक्षण का नियन्त्रण करते हैं जिन पर पर्यावरण का प्रभाव भी पड़ता है। ऐसी स्थिति में खतरे की संभावना का आंकलन अत्यधिक सावधानीपूर्वक पूर्व तथ्यों के आधार पर करना चाहिए।

6. मनोचिकित्सा
(Psychotherapy)

अच्छे सलाहकार के लिए रोगी का मनोविज्ञान जानना भी आवश्यक है क्योंकि सलाहकार को विकृत जीन से उत्पन्न स्थितियों की सलाह एक बार में नहीं देना चाहिए। सर्वप्रथम सलाहकार को विकृत जीन तथा रोगी अथवा उसके पिता/माता/सन्ततियों की भावनाओं से सम्बन्ध ज्ञात करना चाहिए।उत्तम सलाहकार उनकी भावनाओं को रोग से पृथक् करने का पूर्ण प्रयास करता है। उदाहरण के लिए यदि किसी रोगी को यह ज्ञात हो जाये कि उसके पिता की मृत्य 'हडिंगटन रोग' से हुई तथा उस रोगी में उक्त जानलेवा रोग की वंशागति के 50 प्रतिशत सम्भावना है। ऐसी परिस्थिति में सलाहकार सावधानी से मानवीय आधार पर सहानुभूति के साथ सूचना दे तथा मर्म तथा रोगी मन को आहत न करें।

शेष रणनीतियां जैसे उपचार व बचाव के उपाय, रोगी की देखरेख आदि सलाहकार के आवश्यक कार्य क्षेत्र हैं जिनके लिये सलाहकार चिकित्सक, समाज कार्यकर्ता की सहायता से रोगियों के सम्बन्धियों तथा रोगी को रोग के प्रति जागरुक करता है तथा जब तक रोगी को लाभ प्राप्त न हो तब तक समय-समय पर उचित देखरेख करता ह। रोगी की देखरेख के द्वारा आनुवंशिक सलाह अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली सिद्धहो सकती है।रोग से बचाव केउपाय तथा देखरेख हेतु सलाहकार रोगी केसमुदाय केअथवा किसी बाहरी लोकप्रिय व प्रभावशाली सम्भ्रान्त व्यक्ति की सहायता भी ले सकता है। इस प्रकार रोगी एवं रोग दोनों का निदान सलाहकार संगठित प्रयास से करता है।

***

भाग – VI

21

प्रजाति की अवधारणा तथा उत्पत्ति

प्रजाति का अर्थ

प्रजाति यूरोपीय भाषा (फ्रेंच) के 'Race' शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है जिसका अर्थ होता है– वह मानव या प्राणि या वनस्पति समूह जो किसी सामान्य वंश समूह से सम्बन्धित हों। इसका तात्पर्य उस विशाल समूह से भी होता है जो किसी एक जात (Species) का होता है। गत कई शताब्दियों से इस शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता रहा है। इस शब्द का जितना अधिक प्रयोग हुआ है उतना ही उसका अर्थ भी अनिश्चित हुआ है। मानव वैज्ञानिक अर्थ में इसमें कई ऐसे समूहों या जनसमुदायों का समावेश होता है जिनके अनेक लक्षण दूसरे से भिन्न होते हैं। प्रजाति से अवधारणा को जब मानव समाज पर लागू किया जाता है तो सम्पूर्ण मानव समाज को मानव प्रजाति कह सकते है। हम प्रमुख रूप से यह मान सकते हैं कि सभी मनुष्यों में जो विभिन्नतायें होती है वह ग्रहण की हुई नहीं बल्कि जन्मजात है। इसके अलावा इस शब्द का उपयोग भाषाई समूहों के लिए भी होता है जैसे आर्य प्रजाति, लैटिन प्रजाति आदि। कुछ विचारक राष्ट्र और प्रजाति में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं स्वीकार करते। इनमें 'सर आर्थर कीथ' का नाम विशेष उल्लेखनीय है इनका विचार है कि जिन तत्वों के मिलने से एक राष्ट्र निर्मित होता है उन्हीं तत्वों के मिलने से प्रजाति भी निर्मित होती है।इसके विपरीत, कई विद्वान इस मत से सहमत नहीं है, उनके अनुसार जब राष्ट्रवाद की भावना अधिक विकसित होती है तो वह प्रजाति का रूप धारण कर लेती है। लेकिन मजूमदार के अनुसार सांस्कृतिक दृष्टि से समगुण समूह को भी प्रजाति कहते है। इस प्रकार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण प्रजाति शब्द अधिक जटिल हो गया है।फलस्वरूप हम आज यहूदी प्रजाति, जर्मन प्रजाति और इस्लामी प्रजाति इत्यादि भी कहते हैं।यदि एक प्रजाति के लोगों को शारीरिक लक्षणों के आधार पर ही पहचाना जाय तो वास्तव में इसका मौलिक अर्थ साकार होता है। अतः प्रजाति का तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जिनमें समान शारीरिक लक्षण पाये जाते है। यह प्रमुखतया शारीरिक गुणों तथा भौगोलिक दशाओं पर आधारित है। इसकी अवधारणा को अनेकों विद्वानों ने स्पष्ट किया है जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं–

मार्टिन (Martin)– मार्टिन ने 1928 में प्रजाति की परिभाषा दी। इनके अनुसार, "एक ही प्रजाति के मनुष्यों के लक्षण सर्वनिष्ठ होते है और लक्षणों का समुच्चय उनको दूसरे समूह से विलग करता है।"

"Individuals belonging to one race have a certain number of characteristics in common the combination of which distinguish them from other group."

–Martin.

कून (Coon)– कून ने प्रजाति की प्राणि वैज्ञानिक धारणा दी है। इनके अनुसार, "प्रजाति एक प्राणि वैज्ञानिक धारणा है जिसका आशय जात के एक भाग से है।"

"Race is a zoological concept meaning a division of a species."

–Coon.

हावेल (Hoebel)– हावेल ने 1967 में प्रजाति की परिभाषा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, "मानव प्रजातियाँ वास्तव में मानव जाति के सम्पूर्ण प्रभेद में एक प्रकार का स्थानीय सीमा बन्धन है।"

"Human races are really a kind of local limitation in the total variety of manking."

—Hoebel.

हाल्डेन (Haldane)— हाल्डेन "प्रजाति को एक ऐसा समूह है जिसमें सामान्य उस जन्मजात शारीरिक लक्षण होते हैं जिनकी उत्पत्ति एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में होती है।"

"Race is a group which shares in common a certain set of innate physical characters and geographical origin with a certain area."

—Haldane.

फिशर (Ficher)— फिशर (1933) के मतानुसार, "प्रजाति मनुष्यों का एक ऐसा समूह है जिसकी विशिष्टता है एक शारीरिक तथा मानसिक प्रकार, जो उस समूह में सर्वनिष्ठ होता है और जो उसको दूसरे समूह से अलग करता है।"

"Race is a group of a man characterized by the common hereditary possession of a physical and mental type distinguishing it from other group."

—Ficher.

एशले मॉंटेग्गू (Ashley Montagu)— एशले मॉंटेग्गू (1945) के विचार से " एक प्रजाति समरूप या समान बाह्य लक्षणों वाला मनुष्यों या जनसंख्याओं का एक समूह है जो कि उनकी सर्वनिष्ट वंशागति या वंश से ज्ञात होते हैं।"

"A race is a group of individuals or populations with the same or similar external characters, which have been determind by their common heredity or descent."

—Ashley Montagu.

1936 में रायल मानववैज्ञानिकीय संस्थान ने प्रजाति को परिभाषित करने की चेष्टा की। उनके अनुसार, "प्रजाति एक जैविकीय समूह है जिसमें संयुक्त आनुवंशकीय लक्षण एक अनिर्धारित संख्या में सर्वनिष्ट पायी जाते हैं और जिनके द्वारा उसे दूसरे समूह से अलग किया जा सकता है।"

"A biological group or stock, possessing in common an undermine number of associated genetical characterist ics by which it can be distinguished from other group."

कून (Coon), और बर्डसेल (1950) ने प्रजाति को भिन्न रूप से परिभाषित किया। इनके अनुसार, "एक प्रजाति एक जनसंख्या है जो बाह्य रूप में उन सभी समूहों से भिन्न होती है जिससे उनकी तुलना की गयी है।"

"A race is a population which differs phenotypically from all together with which it has been compared."

बॉयड(Boyd) ने प्रजाति की परिभाषा जीनों की आवृत्तियों के आधार पर दी है। उनके अनुसार मानव प्रजाति एक ऐसा जनसमुदाय है जो दूसरे मानव जनसमुदाय से उसमें पाई गई एक या अधिक जीनों की आवृत्तियों के आधार पर पूर्ण रूप से भिन्न होते हैं।"

"Human race is a population which differ significantly from other human population in regard to the frequency of one or more of the genes it possesses."

वाशबर्न (Washburn) ने प्रजाति की आनुवंशिकीय परिभाषा दी है **जो निम्न** है।

एक प्रजाति आनुवंशिकीय समान जनसमुदायों का एक समूह है। प्रजातियाँ अन्तःवर्गित होती है क्योंकि उनमें सदैव ही मध्यवर्ती जनसमुदाय होते हैं।

"A race is a group of genetically similar population and races intergrade because there are always intermediate population."

इस प्रकार उपरोक्त मतों से यह स्पष्ट होता है कि **प्रजाति एक जैविक अवधारणा है** जिसका तात्पर्य उस मानव समूह से है जो शारीरिक (आकारिक एवं आनुवंशिक) लक्षणों के आधार पर दूसरे मानव समूह से पृथक् होता है। लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् कुछ ऐसी मिथ्या अवधारणायें भी विकसित हुई जिससे इस शब्द का अनेक प्रयोग विभिन्न अर्थों और रूपों में किया गया। अधिकतर इस शब्द का प्रयोग उन मानव समूहों के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो देखने तथा भाषा या संस्कृति में एक–दूसरे से अलग होते है। इसके अतिरिक्त प्रजातियों को मनुष्य की उच्चता और निम्नता के आधार पर भी बाँटा गया। इसके पहले भी इस शब्द का प्रयोग अनेकों अर्थों में किया जाता था जैसे– काली और गोरी प्रजातियाँ, शुद्ध और अशुद्ध प्रजातियाँ, उच्च और निम्न प्रजातियाँ आदि। इस शब्द के भ्रामक प्रयोग के कारण ही मानव वैज्ञानिकों ने इसके स्थान पर 'नृवंश समूह' (Ethnic group) शब्द का प्रयोग करना आरम्भ किया। एश्ले मॉटिग्यू ने प्रजाति को मनुष्य की सबसे भयानक अवधारणा माना, क्योंकि उनका मानना है कि जितनी हानियों और संदेह इस शब्द से पैदा हुई उतनी किसी अन्य शब्द के प्रयोग से नहीं।

यद्यपि यह सर्वविदित है कि इस शब्द का अत्यन्त दुरुपयोग हुआ है फिर भी यह जानना अनुचित नहीं है कि इस शब्द का एक वैज्ञानिक अर्थ है अथवा इसको किसी तरीके से वैज्ञानिक रूप से प्रयोग में लाया जा सकता है। शब्दों का दुरुपयोग मानव समाज की अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण घटना है जो सदैव घटती रही है। शब्दों को ही आधार मानकर अनेकों प्रकार की धारणाओं का जन्म हुआ और उनको खंडित भी किया गया परन्तु इन शब्दों का परित्याग नहीं किया जा सका। इसी प्रकार इस शब्द की बैज्ञानिक अवधारणा किसी सीमा तक हमें मानव समुदायों के शेष सदस्यों को समझने में सहायता कर सकता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् यूनेस्कों (1951) ने आम सहमति स्थापित करने की चेष्टा की। इसके प्रयासों से लगभग सभी वैज्ञानिक इस मत से सहमत है कि सम्पूर्ण मानव समुदाय एक जाति वेधावी मानव के अन्तर्गत आता है।

"प्रजाति शब्द एक समूह या मानव समुदाय का बोधक है जिसमें कुछ लक्षण निश्चित होते है।यह शारीरिक लक्षणों या आनुवंशिक लक्षणों की आवृत्तियों तथा वितरण पर आधारित होता है। ये आवृत्तियाँ तथा इनका वितरण समयानुसार भौगोलिक तथा सांस्कृतिक पृथक्करण के कारण, बदलती रहती है।" इसके अतिरिक्त वे इस विचार से भी सहमत है कि पूरा मानव समाज एक मूल वंश (Common stock) से उत्पन्न है। मेधावी मानव बहुत से जनसमुदायों के मिलने से बना है और ये जनसमूह एक–दूसरे से जीन आवृत्ति की भिन्नता के कारण अलग होते हैं।

आनुवंशिकीय विज्ञान के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि मानवसमूहों में आनुवंशिक भिन्नतायें दो सेट (Set) की प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप जन्म लेती है। इसी आधार पर डब्लू० सी० बॉयड (W.C. Boyd) ने प्रजाति की परिभाषा दी है।इनके अनुसार– "प्रजाति एक ऐसा जनसमुदाय है जो दूसरे जनसमुदाय से उसमे पायी गयी एक या एक से अधिक जीनों की आवृत्तियों में अपूर्ण रूप से भिन्न होता है। अतः प्रजाति को जैविकीय एवं आनुवंशिकीय विचारधारा के रूप में मानना ही उचित तर्कसंगत है जिसके अनेक लाभ हैं जो इस प्रकार हैं–

1. ये लक्षण मनुष्य के वर्गीकरण विज्ञान और उदविकास को अधिक उत्तम रूप से समझने में सहायक होती है।

2. ये लक्षण मितिक होते है और मापे भी जा सकते हैं।

3. इन लक्षणों के ज्ञान के विकास के साथ–साथ ही हम वंशागत और वातावरण के प्रभावों को अलग–अलग बता सकते हैं।

4. लक्षण अधिकतर सीमित मात्रा में होते है।

5. भविष्य जनसमुदायों में इन लक्षणों के जीनों की आकृत्तियों में भिन्नता को पहले से अनुमानित किया जा सकता है।

इन तथ्यों के आधार पर ही 20 वीं शदी के प्रारम्भ में प्रजातियों को बाँटने के लिए रक्त समूहों को महत्व देने पर बल दिया गया है। 1943 में वाइनर (Weiner) ने ए० बी० ओ० और आर० एच० रक्त समूहों के आधार पर तीन प्रजातियों का उल्लेख किया। उसके बाद लैहोबरी (Lehovary) ने 1946 में प्रजाति वर्गीकरण एम० एन० तथा ए० बी० ओ० जीन के आधार पर किया और इन्होंने मानव समुदाय को आठ प्रजातियों में विभाजित किया। ऑटनबर्ग (Ottenberg) ने मानव समुदाय को ए० बी० ओ० रक्त समूहों के आधार पर छः रक्त समूही प्रजातियों में विभाजित करने की कोशिश की। परन्तु जीन आवृत्तियों को आधार मानकर सबसे अधिक नवीनतम वर्गीकरण बॉयड (Boyd) ने 1949 में किया। उन्होंने ए० बी० ओ०, एम० एन० तथा आर० एच० रक्तसमूहों के आधार पर मानव समुदायों को छः वर्गों में विभाजित किया। इस तरह के भिन्न मत होने के बावजूद भी यह निश्चय करना कठिन है कि कौन सा वर्गीकरण सर्वश्रेष्ठ है। प्रजातीय वर्गीकरण के लिए हमें सब प्रकार के लक्षणों को एकत्रित करना चाहिए और भौगोलिक विभाजन के आधार पर उसे सत्यापित करना चाहिए।

परन्तु इन सभी उक्त विचारधाराओं में एक प्रमुख वास्तविकता यह है कि प्रजाति का मूल विचार (Basic idea) एक है चाहें वह शारीरिक लक्षणों पर वर्गीकृत की गयी हों या जीन आवृत्तियों पर। परन्तु यदि सभी मानव समुहों में यादृच्छिक (Random) सम्बन्ध हों तो प्रजातियाँ नहीं होंगी। मानव में रीति–रिवाजों के आधार पर जो आंशिक भिन्नता दिखायी पड़ती है वह प्रमुख रूप से भौगोलिक कारणों से उत्पन्न होती है और इसी आंशिक भिन्नता के कारण आनुवंशिक भिन्नता होती है। एक प्रजाति को स्पष्ट करने के लिए दोनों प्रकार के लक्षणों को एक साथ भी प्रयोग किया जाता है और मानव समुदाय के विभिन्न समूहों में यह विभिन्नतायें शारीरिक लक्षणों के आधार पर बताई जा सकती है या जीन आवृत्तियों के आधार पर भी इन्हें जाना जा सकता है।

जहाँ तक शुद्ध प्रजाति की अवधारणा का प्रश्न है तो आधुनिक समय में यह बात महत्वपूर्ण स्थान रखती है कि एक समुदाय को दूसरे समुदाय से दूर रखा जाय और उसमें किसी अन्य समुदाय के व्यक्ति को न आने दिया जाय तो क्या इससे एक शुद्ध प्रजाति (Pure race) उत्पन्न होगी ?

फ्रिटोश (Fritoch) ने तीन मूल प्रजातियों से मिश्रित प्रजाति उत्पन्न हुई है उसे शुद्ध प्रजाति बताया है।

अतः निस्संदेह रूप से प्रजाति प्राणि वैज्ञानिक अवधारणा है जो एक निश्चित वैज्ञानिक विधि पर आधारित होती है। मेंडल के पृथक्करण के नियम के अनुसार सभी बच्चों में समानता नहीं होती है उनमें कुछ गोरे तथा कुछ काले भी होते है। यदि इन बच्चों को आपस में प्रजनन करने दिया जाय तो ऐसा हो सकता है कि उनके कई लक्षण एक ही जैसे हो परन्तु पूर्ण समानता कभी भी नहीं पायी जा सकती है और यदि काले और गोरे को मिला कर बच्चे उत्पन्न हों तो सब बच्चे बीच की स्थिति वाले होंगे और यह क्रम निरंतर चलता रहेगा। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है और इसी कारण इस बात को सत्य मान लिया गया है कि संसार में कोई भी प्रजाति शुद्ध नहीं थी और न है। अधिकतर ऐसा होता है कि आस–पास रहने वाली प्रजातियाँ एक दूसरे से अधिक मात्रा में मिल जाती है उनके अनेकों लक्षण समान हो जाते है और यही प्रमुख कारण है कि यह सम्भव नहीं हो पाता कि किसी एक मनुष्य कि किस समूह के अन्तर्गत रखा जाये।

इस प्रकार उन चयनात्मक, भौगोलिक और आनुवंशिक प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिए जिनके द्वारा प्रजाति के रूपों का निर्धारण होता है। इस समस्या को सिर्फ तथ्यात्मक प्रश्न के रूप में न देखकर प्रजाति की उत्पत्ति के रूप को भी देखना चाहिए।

यूनेस्को बैठक का आयोजन पेरिस में किया गया था और इसका मुख्य उद्देश्य प्रजाति शब्द के अर्थ

का निर्धारण करना था। इस सम्मेलन में अनेकों राष्ट्रों के समाजशास्त्री, मानवशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिकों ने भाग लिया। यूनेस्को ने अपने निष्कर्ष में प्रजाति सम्बन्धी कुछ तथ्यों का वर्णन किया जिन्हें जुलाई 19, 1950 में प्रकाशित किया गया। वे तथ्य इस प्रकार हैं–

1. सामाजिक परिवर्तन का प्रजाति के परिवर्तन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

2. मानव प्रजातियों का वर्गीकरण हो सकता है लेकिन न कोई प्रजाति उच्च है और न कोई निम्न।

3. सांस्कृतिक भिन्नता के कारण प्रजातीय भिन्नता नहीं होती।

4. सभी मनुष्यों का प्रारम्भिक स्रोत एक है ओर सभी एक ही जाति के हैं।

5. एक प्रजाति के सदस्यों में पाई गयी जैविक भिन्नता कभी–कभी दो विभिन्न प्रजातियों की जैविक भिन्नता से अधिक होती है।

6. मनुष्य में वंशानुक्रमण में परिवर्तन में परिवर्तन के कारण उत्परिवर्तन और अन्तरविवाह है।

7. मानव समूह अपनी निहित भावात्मक तथा बौद्धिक क्षमता में एक–दूसरे से भिन्न होते हैं, सम्भव नहीं है।

8. बुद्धिमान व्यक्ति प्रत्येक प्रजाति में हो सकते हैं।

9. प्रजाति के विभाजन में आज से कुछ समय पहले तक मानव ने शारीरिक लक्षणों को ही केवल साधन रूप में प्रयोग किया है।

10. प्राचीन काल से ही प्रजातियों का मिश्रण होता रहा है इसलिए कोई शुद्ध प्रजाति नहीं कहीं जा सकती है।

उक्त प्रजाति सम्बन्धी निष्कर्षों से राजनीतिक क्षेत्र की अनेक गलत अवधारणाओं पर कुठाराघात हुआ। साथ–साथ इसकी वास्तविक अवधारणा का प्रचार–प्रसार भी हुआ। इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के निष्कर्षों में यह भी स्वीकार किया गया कि प्रजाति सामाजिक, सांस्कृतिक या बौद्धिक अवधारणा न होकर के मूलतः यह एक जैविक अवधारणा है। इसकी कल्पना मानव जैविकी में उत्पन्न विभेदों के फलस्वरूप ही की जा सकती है। वस्तुतः जैविक विभेद ही इसकी अवधारणा के नियामक है। जिनके लिए उस जनसमूह या नृजाति समूह के जीन उत्तरदायी होते है। यह जीन ही उस नृजाति समूह का जीन समुच्चय या जीनपूल (Gene pool) बनाते है। यदि किसी नृजाति समूह या मानव जाति समूह के जीन पूल में किसी कारणवश विभेद उत्पन्न हो जाते है, तो वह समूह अपने पूर्वज समूह से विलग हो करके एक नवीन मानव समूह (Ethnic group) का निर्माण करता है।

प्रजातियों की उत्पत्ति

यद्यपि यह सर्वमान्य रूप से कहा जा चुका है कि आस्ट्रेलोपिथेसीन से उत्पन्न इनके परवर्ती वंशजों ने आधुनिक मानव को जन्म दिया। लेकिन किन वंशजों ने किस मानव समूह को जन्म दिया, यह कथन आज भी विवादग्रस्त है। प्रजाति उद्भव के प्रसिद्ध विचारक कार्लटन कून (1961) ने प्रजाति उद्भव से सम्बन्धित अनेकों विचारधाराओं का विश्लेषण किया। वे भी अन्त में आस्ट्रेलोपिथेसीन के स्थल को मानवजातियों का मौलिक स्थल मान बैठे। इनके विचारों को तब और प्रोत्साहन मिला जब केन्न तथा उनके सहयोगियों (1987) ने अफ्रीका मूल की 2,90,000 वर्ष पूर्व से 1,40,000 वर्ष पूर्व के मध्य की आधुनिक मावनी को खोज निकाला। इनका निष्कर्ष 'माइटोकाण्ड्रिया से प्राप्त डी एन ए के अध्ययन पर आधारित है। लेकिन अनेक पुरामानव वैज्ञानिक आधुनिक मानव की विभिन्न प्रजातियों के उद्भव के 'बहुकेन्द्रीय' सिद्धान्त का समर्थन करते रहे। बहुकेन्द्रीय सिद्धान्त के प्रणेता क्रेमर (1991) आदि विद्वान है जिन्होंने जावा के मानवों पर आधकारिक शोध किये है। उनका कथन है कि इस क्षेत्र में लगभग 10 लाख वर्ष पूर्व से आनुवंशिक

निरन्तरता बनी हुई है। सिमंस तथा स्मिथ (1991) ने भी बहुकेन्द्रीय आनुवंशिक निरन्तरता के पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत किये। लेकिन नेई तथा लिव्रशित्स (1989) ने सम्पूर्ण प्राचीन विश्व (एशिया, यूरोप एवं अफ्रीका) के लगभग 148 केन्द्रों के प्रतिदर्शों का विश्लेषण करने के पश्चात् केन्न के विचारों को मान्यता प्रदान की। इस प्रकार प्रजाति उद्भव से सम्बन्धित विरोधाभासी मतों की सत्यता की परख इस दिशा में होने वाले आगामी नवीन अनुसंधानों से हो ही सकेगी जो इससे सम्बन्धित अनेकों जटिल गुत्थियों को सुलझा सकेंगे।

प्रजाति उद्भव से सम्बन्धित इन दोनों विचारों को गहराई से उस समय भी समझ सकते है जब हम निर्माण के लिए उत्तरदायी कारकों को समझ लें। ज्ञातव्य हो कि एक–एक प्रेक्षित विभेद, अनेकों सूक्ष्म विभेदों के संयुक्त होने से उत्पन्न होता है। इस सूक्ष्म विभेदों के लिये जीन उत्तरदायी होते है। वस्तुतः जीनी परिवर्तन के फलस्वरूप ही एक प्रजाति का नवनिर्माण होता है लेकिन इस के लिए इन्हें प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। जीनी परिवर्तन अथवा नये जीन को उत्पन्न करने वाले कुछ उदविकासीय कारक होते हैं। वस्तुतः ये कारक ही एक प्रजाति का निर्माण करते हैं। प्रजाति निर्माण के लिए निम्नांकित प्रक्रियाओं की अन्तर्क्रिया उत्तरदायी हैं–

1. मिलन प्रारूप (Mating Pattern)
2. उत्परिवर्तन (Mutation)
3. प्राकृतिक वरण (Natural Selection)
4. जीन अपसरण (Genetic Drift)
5. प्रवसन अथवा संकरण (Migration or Hybridization)
6. पृथक्करण (Isolation)

उक्त समस्त प्रक्रियाओं का विस्तृत उल्लेख अध्याय–7 में किया गया है। अतः यहाँ पर पुनरुक्ति यथोचित प्रतीत नहीं होती। वहाँ पर यह स्पष्ट किया गया था कि मूलतः ये प्रक्रिया ही मानव जनसंख्याओं के जीनों में विभेद उत्पन्न करती हैं। यदि यह प्रक्रियाएँ पूर्णतः अनुपस्थित हों, क्रियाविहीन हों तो उस विशेष जनसंख्या की जीनी आवृत्ति सदैव स्थिर रहेगी। जब जीनी आवृत्ति स्थिर है जीन–परिवर्तन एवं नवीन जीन के अस्तित्व की कल्पना उस जनसंख्या में नहीं की जा सकती। ऐसी परिस्थिति में न तो सूक्ष्म विभेद उत्पन्न होंगे और न ही जनसंख्या में परिवर्तन घटित हो पायेगा।

वस्तुतः ये प्रक्रियायें स्वतः या किसी प्रेरणा से निरन्तर क्रियाशील रहती है इसलिये कोई भी जनसंख्या स्थायी नहीं होती। उसके जीन समुच्चय में संशोधन, परिमार्जन तथा विलोपन होता रहता है जो उस जनसंख्या के पूर्व स्वरूप के समान नहीं होते। यद्यपि प्रत्येक पीढ़ी में उत्पन्न विषमताओं के मुख्य स्रोत स्वयं आनुवंशिक क्रियाविधियाँ होती है लेकिन उक्त प्रक्रियाओं की अन्तक्रियायें जनसंख्या विभेदों के लिए निर्णायक सिद्ध होती है। चूंकि जनसंख्या विभेद ही प्रजाति विभेद होते है क्योंकि आधुनिक अवधारणा के अनुसार जनसंख्या ही एक प्रजाति का पर्याय है। अतः जनसंख्या विभेदन की प्रक्रियाएँ ही प्रजाति विभेदन की प्रक्रिया या कारक है। अध्याय–7 में किये गये उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि प्रजातीय विभेदों का उद्भव विश्व के कई भूभागों में विभिन्न प्रक्रियाओं के पारस्परिक क्रियाओं के फलस्वरूप हुआ है। इन प्रक्रियाओं से यह भी संकेत मिलता है कि वर्तमान मानव प्रजातियाँ किसी एक मूल–संग्रह (Original Stock) में उत्पन्न विभेदों की परिणाम है। मूल संग्रह में उपजे विभिन्न विभेद इन्हीं प्रक्रियाओं के कारण होते है।

संक्षेप में पृथक्करण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक तथा जैविक कारक प्रमुख रूप से उत्तरदायी होते है। यद्यपि संस्कृतिक कारक इन कारकों के पार्थक्य प्रभाव को कम करने का प्रयास करती है जिससे जीन–संकुल पर भी इस क्रियाविधि का प्रभाव कम से कम दृष्टिगोचर होता है

लेकिन सभी प्रजातियों के एक अनूठी सीमा रेखा में आवृद्ध होने से वातावरण का प्रभाव महत्वपूर्ण होता है। फलस्वरूप समान वातावरण की प्रजातियाँ (मानव) एक–दूसरे की सानिध्य में आती है, उनकी वंशवृद्धि अबाध गति से होने पर बंशज-जनसंख्या पूर्वज जनसंख्या से भिन्नता प्रदर्शित करती है। साथ ही साथ अन्य क्रियविधियों (जैसे– उत्परिवर्तन, जीन पुनर्मिलन, स्थानान्तरण, प्राकृतिक वरण, संकरण, जीन अपसरण) की सक्रियता से भिन्नता की गति और बढ़ जाती है। जब पृथक्करण किन्हीं सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक कारकों के फलस्वरूप होता है तो उसे आनुवंशिक पृथक्करण कहते हैं। इस तरह के पृथक्करण से जीन विनिमय भंग हो जाता है। जिन जीनों की अनुकूलन क्षमता अधिक होती है उनकी आवृत्ति के शनैः–शनैः बढ़ने के फलस्वरूप विभेदन उत्पन्न हो जाता है। जब कोई उपसमूह भौगोलिक रूप से पृथक् हो जाये तो अनुकूलन क्षमता के माध्यम से उत्पन्न होने वाला विभेदन अपेक्षाकृत कम रहता है लेकिन वहाँ पर दूसरे कारक जैसे जीन अपसरण, उत्परिवर्तन, संकरण आदि विभेदन उत्पन्न करते है। अतः पृथक्करण एक ऐसी प्रजातीय क्रिया विधि है जो दो रूपों में घटित होती है। (i) भौगोलिक पृथक्करण (ii) जीनी पृथक्करण। इनमें जीनी पृथक्करण तीन विधियों से घटित होता है– वाह्य सन्तान जनन, आन्तरिक संतान जनन तथा पश्च सन्तान जनन पृथक्करण। बाह्य सन्तान जनन उपप्रक्रिया में तीन मुख्य कारक होते हैं– परिस्थतिकीय (Ecologic), जीवनवृत्तीय (Ethologic) तथा सांस्कृतिक (भाषा, क्षेत्रीय भाषा परिवर्तन, रीति रिवाज, मान्यतायें आदि) ये तीनों कारक जब बाधक होते हैं तो कोई दो युगल (Mates) परस्पर लैंगिक सम्बन्ध (विवाह) स्थापित नहीं कर पाते। आन्तरिक जनन उपप्रक्रिया के घटित होने से किन्हीं विशेष व्यक्तियों के युग्मक (gametes) नष्ट ही जाया करते है जिससे निषेचन सम्भव नहीं होता। कुछ व्यक्तियों के युग्मनज मृत हो जाने से गर्भधारणा नहीं होता तथा स्वतः गर्भपात की आवृत्ति अधिक हो जाती है। पश्च जनन उपप्रक्रिया में संकरवर्ण सन्ततियाँ प्रायः बांझपन का शिकार हो जाती हैं अथवा ये सन्तति जनन में अपेक्षाकृत कम सक्षम होती है। ऐसी स्थिति में पृथक्करण की प्रक्रिया अबाध गति से विभेदन उत्पन्न करती जाती है जो अन्ततः नवीन जनसंख्या या प्रजाति के उद्भव में सहायक होती हैं।

मिलन–प्रारूप एक प्रजाति की संरचना में विभिन्न गति से परिवर्तन लाते हैं। ये प्रायः दो रूपों में पाया जाता है– याद्रच्छिक (Random) एवं अयाद्रच्छिक (Non–random)। याद्रच्छिक मिलन में किसी भी प्रकार का चुनाव नहीं होता और नहीं कोई प्रतिबन्ध। कोई भी युगल किसी का वरण कर सकता है। सभी युगल वरण के लिए एक समान अवसर रखते हैं। इस प्रकार के मिलन से किसी प्रजाति की जीनी संरचना में विषमता उत्पन्न नहीं होती लेकिन अयाद्रच्छिक मिलन से एक प्रजाति में जीनी विभेदन की गति अवश्य बढ़ती है।अयाद्रच्छिक मिलन, वस्तुतः एक चयनित मिलन है, जिसका नियन्त्रण सांस्कृतिक एवं सामाजिक मान्यताओं से होता है। इस प्रकार के मिलन में दो अवस्थायें पायी जाती है। पहली अवस्था में समान शारीरिक लक्षणों वाले मनुष्य के मध्य विवाह के लिए चयन किया जाता है। उदाहरणस्वरूप लम्बे कद के मनुष्य प्रायः लम्बे कद की स्त्रियों को वरण करने की तीव्र इच्छा व्यक्त करते हैं, इस प्रकार का विवाह भावात्मक अयाद्रच्छिक मिलन (Positive non–rantom mating) कहा जाता है। इस प्रकार के विवाह से केवल लम्बे कद के लिए उत्तरदायी जीन समूह की आवृत्ति की वृद्धि होगी तथा इसेके विपरीत छोटे कद का जीनी प्ररूप का वरण कम होता जायेगा। इसके अतिरिक्त अयाद्रच्छिक मिलन की दूसरी अवस्था नकारात्मक अयाद्रच्छिक विवाह है, जिसमें दो विषम लक्षण वाले मनुष्यों में विवाह की प्रवृत्ति पायी जाती है।

अन्तः प्रजनन (Inbreeding) के द्वारा एक प्रजाति में समयुग्मजों की संख्या में तो वृद्धि होती है जबकि विषमयुग्मजी की संख्या में क्षरण पाया जाता है। ऐसा इसलिए घटित होता है क्योंकि अन्तः प्रजनन प्रक्रिया में सगे–सम्बन्धियों (रक्त सम्बन्धी) के मध्य ही विवाह की प्रवृत्ति पायी जाती है। ऐसी परिस्थिति में दुर्लभ, अप्रभावी अलिंगसूत्री अथवा लिंगसूत्री गुण के व्यक्ति प्रायः समरक्त मिलन की सन्तान होते हैं। अनेकों असामान्य रोग जो अप्रबल युग्म विकल्पियों से नियंत्रित होते हैं, उनकी आवृत्ति की वृद्धि पायी जाती है, जो प्रजाति की रचना को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। अन्तर एवं वहिर्विवाह की प्रथा प्रजाति रचना को

प्रभावित करने वाले कारक हैं इससे जीन का प्रसार स्वतन्त्र रूप से नहीं होता। वैवाहिक दूरी (Matrimonial distance) प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों विधियों से प्रजाति के स्वरूप में विभेद उत्पन्न करने वाला कारक है।

इसी प्रकार उत्परिवर्तन, प्राकृतिक वरण, जीन अपसरण, संकरण एवं प्रवसन आदि प्रक्रियायें प्रजातियों के निर्माण तथा उनके स्वरूपों में संशोधन के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती है, जिनका विस्तृत वर्णन अध्याय–7 में कर चुके हैं।इनकी पुनः चर्चा करना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। इन क्रियाविधियों के द्वारा जो जैविक विभेद उत्पन्न किये जाते हैं, जिनके लिए एक या कई जीन उत्तरदायी होते है, जो प्रायः आकारिक या आनुवंशिक होते है, उनकी परिचर्चा अगले अध्याय में की जायेगी। यहाँ पर यह बताना प्रासंगित होगा कि मानव प्रजाति में इन प्रक्रियाओं के द्वारा अतीत से ही परिमार्जन होता रहा है। यह संशोधन वर्तमान तथा भविष्ट में भी नियमित रहेगा भले ही इसकी गति मंथर हो। यदि इन प्रक्रियाओं के स्वभाव पर दृष्टिपात करें तो ये सभी मूलतः आनुवंशिक या पर्यावरणिक है। अतः स्थूलरूप से यह कहना युक्तियुक्त होगा कि प्रजाति के विनिर्माण में पर्यावरण एवं वंशागति की भूमिका अपरिहार्य है तथा इसकी अनुपस्थिति में प्रजाति उद्भव की कल्पना निर्मूल एवं तथ्यविहीन है।

***

22

प्रजाति वर्गीकरण के आधार

प्रजाति की मूल जैविक अवधारणा का उल्लेख गत अध्याय में किया गया। लेकिन प्रजाति जिन अर्थों में जैविक अवधारणा हैं, इसका विश्लेषण इस अध्याय में किया जायेगा। उन सभी आधारभूत तथ्यों का उल्लेख किया जायेगा जिसके आधार पर प्रजाति की कल्पना की जाती है वस्तुतः यहीं आधारभूत प्रजातीय तथ्य अथवा लक्षण किसी एक प्रजाति को दूसरे से पृथक् करते हैं। ये तथ्य अथवा लक्षण ही प्रजाति के निर्धारक तत्व हैं। इनके आधार पर विश्व की समस्त मानव प्रजातियों का वर्गीकरण किया जा सका है।

ये प्रजाति के निर्धारक तत्व पूर्णतः जैविक हैं। प्रारम्भ में प्रजाति निर्धारण हेतु इन जैविक लक्षणों में से मुख्यतः वे ही लक्षण प्रयोग में लाये गये जो मानव शरीर के वाह्य स्वरूप की विवेचना करते थे लेकिन कालान्तर में उन लक्षणों पर अधिक बल दिया गया, जिनकी वंशागति पूर्णतः सरल एवं मेण्डलीय सिद्धान्तों के अनुसार होती है। आधुनिक अनुसंधानों के फलस्वरूप आज उन लक्षणों पर महत्व दिया जा रहा है जो जैव रासायनिक है। इन जैव रासायनिक लक्षणों में वंशागति के आधार तत्वों जैसे– गुणसूत्र एवं डी एन ए का स्थान केन्द्रीय है।

इन लक्षणों के परिवर्तनीय महत्व का परीक्षण करने के लिए डब्लू० सी० ब्यायड (1962) ने पाँच नियमों को प्रतिपादित किया इन नियमों के आधार पर भिन्न–भिन्न निर्धारक तत्वों की उपयोगिता की जांच की जा सकती है। ब्यायड के वे सभी नियम निम्नलिखित हैं–

1. प्रजाति लक्षण वस्तुनिष्ठ (Objective) होना चाहिए।

2. लक्षण पर पर्यावरण का प्रभाव कम से कम पड़ना चाहिए।

3. लक्षण एक जीन से नियन्त्रित होना चाहिए जिससे उस समुदाय की जीनी आवृत्ति का पता लगाया जा सके।

4. लक्षण की अनुकूलनशीलता अत्यल्प होना चाहिए।

5. लक्षण की उत्परिवर्तन आदि जीनी प्रक्रियाओं की दर अत्यल्प होनी चाहिए।

ब्वायड के उक्त मापदण्ड के प्रयोग के फलस्वरूप प्रजाति के वर्गीकरण एवं निर्धारण का तरीका त्रुटिविहीन एवं सुव्यवस्थित हो सका। इससे अपेक्षाकृत स्थायी प्रजाति विभेदों के अध्ययन में और अधिक बल मिला।

प्रजाति के ये सभी शारीरिक विभेद या लक्षण निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किये गये हैं–

1. आकारिक लक्षण (Morphological Characters)

2. आनुवंशिक लक्षण (Genetical Characters)

आकारिक लक्षणों का अभिप्राय उन लक्षणों से हैं जो बहुजीनों (Polygenes) के द्वारा निर्मित होते हैं। इस लक्षण के लिए कितने जीन उत्तरदायी होते है यह निश्चित नहीं है। इनकी जीनी बारम्बारता आंकी नहीं जा सकती है। इन लक्षणों को पुनः दो उपवर्गों में विभक्त किया गया है– आकारमितिक (Morphometric) एवं आकारविक्षिक (Morphoscopic)। आकारमितिक लक्षणों को मापा जा सकता है जैसे अंगों की लम्बाई, चौडाई, देशना आदि। शरीर के वे लक्षण जिनकी माप लेना कठिन है लेकिन ये लक्षण प्रजातीय अध्ययन में अति महत्वपूर्ण है जैसे– बाल का रंग, आकार–प्रकार, त्वचा का रंग आदि। आनुवंशिक लक्षण का तात्पर्य उन लक्षणों से है जिनके लिए कोई एक जीन उत्तरदायी होते है। ये एक निश्चित लक्षण है। इनकी जीनी बारम्बारता का सरलतापूर्वक आंकलन किया जा सकता है।

1. आकारिक लक्षण
(Morphological Characters)

शारीरिक कद (Body Stature)

कद प्रजातीय अध्ययन में अपना एक मुख्य स्थान रखता है। इसकी सरलतापूर्वक माप किया जा सकता है। कद पर पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है।प्रजातीय अध्ययन में युवावस्था तक मनुष्य का कद बढता है और इसके पश्चात् 10 वर्ष की अवस्था तक उसका कद 115 मि० मी० तक घट जाता है ।कद को टौपी नार्ड (Topinard) ने तीन भागों में विभाजित किया है–

लम्बा कद 5 फीट 7 इंच से अधिक

औसत कद 5 फीट 5 इंच तक

औसत से कम 5 फीट 3 इंच से कम

परन्तु कद पर पोषण, व्यवसाय, सामाजिक वर्ग आदि का अत्यन्त प्रभाव पड़ता है। कद को कुपोषण बहुत अधिक प्रभावित करता है। परन्तु उचित वातावरण मिलने पर वह अपने खोये हुए कद को पुनः प्राप्त कर लेते हैं।

कद के आधार पर प्रजाति को निश्चित करने के विषय में मतभेद है क्योंकि एक ही प्रजाति के लोग यदि दो भिन्न जलवायु में निवास करते हैं तो उनकी शारीरिक ऊँचाई में अंतर आ जाता है फिर भी प्रजातीय अध्ययन में यह अपना मुख्य स्थान रखता है। साधारण पुरुषों का कद 130 सेमी० से लेकर 200 सेमी० के मध्य पाया जाता है। शैलडन तथा उनके साथियों ने शरीर गठन के आधार पर इसे तीन वर्गों में विभाजित किया है– 1. बहिः आकृति, 2. मध्य आकृति तथा 3. अंतः आकृति। मार्टिन (1928) तथा डेनिकर (1900) ने मनुष्यों के औसत कद के आधार पर तालिका बनाई। मानव जाति के सबसे छोटे कद का समूह एशिया तथा अफ्रीका के नीग्रोटो पिग्मी हैं। मंगोलॉयड लोगों का कद 160 सेमी० से भी कम होता है। यूरोपीयन का कद 160 सेमी० से अधिक होता है। लम्बा कद डाईनिरिक, कुछ रुसी लोगों तथा भारत के सिख तथा जाट और कुछ उत्तरी चीनी लोगों में पाया जाता है।

इस प्रकार प्रजाति के विभाजन में कद का महत्वपूर्ण स्थान है और प्रजाति का निर्धारण करने में मानवशास्त्रियों के लिए लाभदायक है।

सिर का आकार (Head From)

सिर की ऊँचाई, चौडाई तथा लम्बाई के अनुपात के आधार पर भी मनुष्यों को विभाजित किया जा सकता है। जिस प्रकार कद के आधार पर प्रजाति को निश्चित करते हैं उसी प्राकर शीर्ष–देशना के आधार पर भी प्रजाति का वर्गीकरण किया जाता है। प्रत्येक प्रजाति की खोपडी एक–दूसरे से अलग होती है और यह भिन्नता प्रजाति भेद को बतलाती है। इसे मुख्य रूप से 3 वर्गों में विभाजित किया गया है–

1. लम्बी खोपडी (Dolicho cephalic)
2. मध्यम खोपडी (Meso cephalic)
3. चौडी खोपडी (Brachy cephalic)

सिर के आकार को ऊपर से देखने में भिन्न–भिन्न मनुष्यों में भिन्न प्रकार के आकार पाये जाते हैं। सिर की लम्बाई तथा चौड़ाई के प्रतिशत अनुमान को शीर्ष देशना कहते हैं।

$$\frac{\text{सिर की चौड़ाई}}{\text{सिर की लम्बाई}} \times 100$$

इसके आधार मानव को विभिन्न प्रजातियों में रखने की चेष्टा की गयी है। जिन प्रजातियों की शीर्ष देशना 75 से कम होती है उनकी खोपड़ी को लम्बी खोपड़ी में शामिल किया जाता है। ऐसी खोपड़ी उत्तरी अफ्रीका के लोगों में पायी जाती है। कुछ प्रजातियों के सिर मध्यम होते है इस प्रकार के लोग उत्तरी पश्चिमी यूरोप में पाये जाते है। यदि किसी कपाल की शीर्ष देशना 80 से अधिक होती है तो उन्हें चौड़ा कपाल कहा जाता है मंगोलियन स्कन्ध की सभी प्रजातियां प्रायः चौड़े कपाल की होती है।

इस प्रकार खोपड़ी की माप द्वारा प्रजातियों को वर्गीकृत किया जाता है। परन्तु कुछ वैज्ञानिकों को विश्वास है कि सिर का आकार जलवायु से भी प्रभावित होता है तथा कुछ लोग सिर के आकार को बदलने के लिए कृत्रिम साधनों का भी प्रयोग करते हैं। इस लिए उपयुक्त भिन्नता आधार पर उच्चता का निश्चय करना अनुचित है। यह भेद जलवायु तथा भौगोलिक स्थित पर भी निर्भर करता है।

नाक का आकार (Nose Form) :

द्वारा भी प्रजाति का निश्चय किया जाता है।नाक की चौड़ाई तथा चौड़ाई तथा लम्बाई के प्रतिशत अनुपात के लक्षण को बहुत मुख्यता दी जाती रही।इसे निकालने के लिए नासिका की चौड़ाई को 100 गुणाकर, उसमें इसकी लम्बाई को भाग दिया जाता है जैसे;

$$\text{नासिका देशना (Nasal Index)} = \frac{\text{नासिका की चौड़ाई}}{\text{नासिका की लम्बाई}} \times 100$$

इसे 3 भागों में विभक्त किया गया है–

1. लम्बी नाक (Leptorrhine)
2. चपटी नाक (Mesorrhine)
3. चौड़ी नाक (Pratyrrhine)

इसके आकार पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है। गर्म तथा नम स्थानों पर नासिका रन्ध्र चौड़ा होता है जबकि साधारण स्थान पर इसका रंध्र पतला हो जाता है। स्त्रियों की नाक पुरुषों की नाक की अपेक्षा अधिक चौड़ी तथा छोटी होती है।नासिका देशना आयु के साथ घटती रहती है। नीग्रो की नाक चौड़ी तथा मंगोल में छोटी तथा औसत नाक पायी जाती है। श्वेत लोगों में बड़ी नाक पायी जाती है।नाक ललाट की हडडी से जुड़ने पर गढ़ा बनता है, इसे नासिका जड़ (Nasal root) कहते हैं। इसी प्रकार नाक की हडिडयों के मिलने के स्थान को नासिका सेतु (Nasal bridge) कहते हैं। इसके अतिरिक्त नाक की नोक के पतली, मोटी, गोल या नुकीली होती है तथा नासिका पट (Nasal septum) जो समतल, ऊपर की ओर या नीचे की ओर झुका हुआ होता है को भी प्रजातीय अध्ययन में प्रयोग होती हैं। कुछ लक्षण किसी विशेष प्रजाति में विशिष्ट रुप से पाये जाते हैं।

इस प्रकार नाक के यह सभी लक्षण प्रजातीय वर्गीकरण में सहायक होते हैं और अलग–अलग प्रजातियों को वर्णन करते समय इनका वर्णन करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

मुखमण्डल का आकार (Facial Form)

चेहरे की लम्बाई तथा चौड़ाई पर शायद आयु तथा वातावरण का प्रभाव पड़ता है। इसके विषय में ठीक से तथ्य न मिलने के कारण कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। परन्तु किसी भी मनुष्य को पहचानने के लिए उसका चेहरा देखा जाता है और इस चेहरे के आधार पर प्रत्येक मनुष्य के भिन्न–भिन्न प्रजातियों में रखा जाता है। मनुष्य के चेहरे और सिर में एक प्रसंवादी (harmonie) सम्बन्ध है। अधिकतर चेहरा सिर के समान होता है।जिस आकार का सिर होता है उसी आकार का चेहरा भी पाया जाता है। परन्तु कुछ लोगों में ऐसा नहीं पाया जाता है।उन्हें अप्रसंवादी (dishoronie) अवस्था में रखा जाता है।

चेहरे के प्रत्येक भाग का अध्ययन करते समय जबडे के दर्धीकरण (Elongation) उदग्रता

(Prominence) तथा तिर्यंकता (Olliguity) को ध्यान में रखना चाहिए। इसी अवस्था को उद्धतध्नुता (Prognathism) कहते है। जिन मनुष्यों में ये लक्षण नहीं पाये जाते है उसे नियतह्नुता (Orthognathism) कहते हैं। यह स्थिति अधिकतर मनुष्यों में नहीं पायी जाती है परन्तु कुछ लोगों में काफी विकसित होती है। मनुष्य का चेहरा भिन्न आकार का पतला, गोल, लम्बा इत्यादि अनेकों प्रकार का होता है तथा आकार के आधार पर उन्हें विभाजित भी किया जाता है। इसके अतिरिक्त चेहरे की चौड़ाई तथा देशना के आधार पर भी उसे विभिन्न समूहों में रखा जाता है। परन्तु आनन देशना शीर्ष देशना की तुलना में कम महत्वपूर्ण है क्योंकि यह लक्षण आयु तथा लिंग से प्रभावित होता है।

अनेक प्रकार की कमियों के होते हुए भी चेहरे का आकार प्रजातीय विभाजन में एक सहायक लक्षण है।

उपरोक्त प्रमुख आकारमितिक लक्षणों कें अतिरिक्त और भी लक्षण है जो इसक विभाजन में सहयोगी हैं जैसे–हाथ–पैर की लम्बाई, खोपड़ी का घनत्व आदि।

आकारवीक्षिक लक्षण

(Morphoscopic characters)

इन्हें पृष्ठ लक्षण (Surface character) के नाम से भी जानते है।ये अनिश्चित लक्षणों की कोटि में रखे जाते है। इन्हें किसी मानवमितिक उपकरण से मापा नहीं जा सकता। प्रजातीय अध्ययन में इनका विशेष रुप से प्रयोग किया जाता है क्योंकि ये शारीरिक गठन एवं वैयक्तिक पहचान का गुणात्मक आधार प्रदान करते हैं। इन लक्षणों में प्रमुख निम्नलिखित हैं :

1. **त्वचा का रंग** (Skin colour)– जनसमूहों में भिन्न वर्ण की त्वचा पाई जाती है। इसको भिन्नता एवं समानता के आधार पर प्रजातीय वर्गीकरण गत शताब्दियों से किया जाता रहा हैं। त्वचा का रंग अन्तःत्वचा (dermis) के बाहरी स्तर में तथा वाह्यत्वचा (Epidermis) के भीतरी स्तर में स्थित रंजक कण (pigment) मेलनिन (melanin) पर आधारित होता है। त्वचा का रंग पांच रंजको – मेलनिन (melanin) मैलानॉयड (melanoid), करोटिन (carotine) कम हीमोग्लोबिन (reduced hemogolobin), आक्सी हीमोग्लोबिन (oxyhemo–globin) तथा प्रकाशीय प्रभाव पर आधारित होता है। इनमें प्रमुख त्वचा रंजक – मेलनिन होता है जो जनक भाग (germinatum) में स्थित होता है जिसमें काले से लेकर गहरे भूरे रंग के अनेकों कण पाये जाते है। इन रंजक कणों की संख्या अधिक होने से त्वचा गहरे रंग भूरा, पीली–काली दिखाई पड़ती है। इनकी संख्या कम होने से हल्का रंग – सफेदं, गौर आदि दिखाई पड़ती है। इन रंजक कणों–मेलनिन की मात्रा वंशागत होती है जो बहुजीनों (ploygenes) के द्वारा नियन्त्रित होती है।

इन रंजक कणों की मात्रा पूरे शरीर में एक समान नहीं होती। पुरुषों में इन रंजक कणों की मात्रा स्त्रियों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है। इन रंजक कणों पर ताप एवं प्रकाश का प्रभाव पड़ता है। प्रकाश मेलनिन के उत्पादन को उत्प्रेरित करता है फलस्वरुप अफ्रीका के बन निवासियों की त्वचा का रंग गहरा होता है।

मानव में त्वचा के रंग का निर्धारण अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि इसके लिए अभी तक मानक त्वचा रंग चार्ट (standard skin colour chart) उपलब्ध नहीं हैं, यद्यपि कुछ मानववैज्ञानिकों ने इससे समबन्धित चार्ट बनाये हैं। ब्रोका (Broca) वान लुशेन (von–luschan) आदि विद्वानों ने रंग–चार्ट बनाने का प्रयास किया है। हूटन (Hootan) नें विभिन्न वर्णों का लाल सफेद, हल्का सफेद, रक्ताभ जैतूनी (Olive), मध्यम पीतयूरा (Light Yellow Brown), अल्प भूरा , मध्यम पीत भूरा (Medium Yellow Brown), ताम्र (Copper), गहरा भूरा (Dark Brown) तथा श्यामल (Black) में वर्गीकृत किया है।

2. **बाल या केश** (Hair)– मानव–केश अपनी विशिष्ट आकृति, वाह्य एवं आन्तरिक रंग, रचना,

मात्रा, आदि लक्षणों के कारण प्रजातीय अध्ययनों में विशेष स्थान रखते हैं।इन्हें निम्न स्वरूपों में अवलोकित किया जाता है :

(1) **आकृति** (Form)– यह लक्षण बहुल जीनों के द्वारा नियिन्त्रत होता है। बालों के आकार में उत्परिवर्तन के उदाहरण अल्पतम हैं। इनकी आकृति के आधार पर संसार की प्रजातियों में निम्नलिखित प्रकार के बाल पाये गये है :

(i) –सीधे (straight) : मोट तथा सीधे होते है।

(ii)–चिकने तथा कोमल (Smooth Sleek Hair) : चिकने, पतले तथा अन्त में हल्के मु ड़े होते हैं।

(iii)–हल्के लहरदार (Light Wavy) : अल्पतम छोटे–छोटे लहरदार होते है।

(iv)–मध्य लहरदार (Medium Wavy) : मध्यम लहरें पाई जाती है।

(v)–सघन लहरदार (Deep Wavy) : बालों में सघन लहरें पाई जाती है।

(vi)–घु ंघराले (Curly) : इनमें अनेकों कुण्डलियां पाई जाती है।

(vii)–ऊनी बाल (Wooly Hair) : ये अधिक छोटे–छोटे घु ंघरूओं के समान होते है।

(viii)–छल्लेदार (Frizzly) : इनमें बहुत से छल्ले बने हुए है।

(xi)–पेपर कार्न (Pepper Corn) : ये मुड़े बीजों के समान होते हैं।

(x)–कटीलें (Spiral) : ये अधिक मुड़े तथा उलझे कटीली झाड़ी के समान होते है।

(ii) **रंग** (Colour) : बालों का रंग पाये जाने वाले रजंक कणों (– मेलनिन) की मात्रा के आधार पर परिवर्तित होता रहता है।वर्णहीन (सफेद – Grey) बालों में रंजक नहीं पाया जाता है। श्वेत बालों में अधिकांशतः रंजक कण बालों के दण्ड (Shaft) के मध्य स्तर पर पाया जाने वाला कोर्टेक्स (Cortex) पर पाया जाता है।परन्तु काले बालों में आन्तरिक भाग – मेडुला (Medula) में मेलनिन के कण भरे रहते हैं। बालों का रंग एक वंशानुगत लक्षण है जो बहुजीनों द्वारा नियन्त्रित होता है।

(iii) **संरचना** (Texture) : मानव केश की मोटाई के गार्न (Garn) ने 25 से 125 तक मापा। इसके आधार पर इन्हें तीन वर्गों में रखा :

(i) पतला (Fine) : 56 से नीचे, बारीक तथा चिकने

(ii) मध्यम (Medium) : 57 से 84 तक

(iii) रूखा (Course) : मोटे तथा खुरदरे 85 से ऊपर।

यदि बाल के आंडी काट (Transrerse Section) तो भी इनकी वैज्ञानिक विधि से अध्ययन किया जा सकता है। इस आधार पर इन्हें गोलाकार एवं अण्डाकार (Oval) दो भागों में बाटा गया है।

(iv) **मात्रा** (Quantity) : बालों की मात्रा प्रत्येक जन समूह में एक समान नहीं होती। उदाहरण के लिए जापान में पाये जाने वाल ऐनू तथा आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों में बालों की मात्रा अधिक पायी जाती है। मंगोलॉयड में बाल लम्बे नीग्रायड में छोटे तथा कॉकेसॉयड में मध्यम प्रकार के बाल पाये जाते हैं। बालों की मात्रा मंगोलायड में कम पाई जाती है। बालों की संख्या के आधार पर मानव केश–वितरण को निम्न तीन वर्गों में रखा जाता है :

(i) घने (Thick or dens)

(ii) मध्यम (Medium)

(iii) विरल (Sparse or Scanty)

(v) **सीमा** (Unit) : मानव में माथे अथवा मस्तक पर बालों की सीमा भिन्न–भिन्न होती है। इसके आधार पर भिन्न–भिन्न व्यक्तियों को वर्गीकृत किया जाता है। मानव जनसंख्याओं में प्रायः तीन प्रकार की

बालों की सीमायें पायी जाती है जो निम्नलिखित है :

(i) यू–आकार (U–shaped)

(ii) वी–आकार (V–shaped)

(iii) चापाकार (Arch–shaped)

(vi) **आक्सिपिटल चक्र** (Occipital Whorl) : मनुष्यों में सामान्यतया सिर पर आक्सिपिटल क्षेत्र पर ऊपर एवं पीछे की ओर एक चक्र पाया जाता है जिससे बालों की मात्रा एक चक्र की भांति पाई जाती है। इन्हें दिशा एवं संख्या के आधार पर तीन–तीन वर्गों में बाटा गया है :

(i) दिशा के आधार पर चक्र दो प्रकार के होते हैं– बामावर्ती आक्सिपिटल चक्र (Anti–clockwise whorl) एवं दक्षिणवर्ती चक्र (clockwise whorl)

(ii) संख्या के आधार पर चक्र तीन प्रकार के होते हैं : एक चक्र, दो चक्र (Double whorl) एवं बहुचक्र (Multiple whorl)

3. **आंख या नेत्र** (Eye Region) : नेत्र वैयक्तिक पहचान एवं प्रजातीय वर्गीकरण में प्रयोग किया जाने वाला एक प्रमुख लक्षण है। इसमें आंखों का रंग आदि लक्षणों का विशेष रुप से अध्ययन किया जाता है जो निम्न है :

(I) **आंखों या नेत्र खुलाव** (Eye Opening) : मानव नेत्र अपने दोनों मध्यवर्ती एवं बहिर्वर्ती किनारों से खुलते है। इन्हें क्रमशः इण्डो कैथियान (Endo canthion) एवं इक्टोकैंथियन (Ectocanthion) बिंदु कहते है। इन दोनों बिन्दुओं की स्थित प्रत्येक मानव में समान नहीं हाती। इन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया गया है :

(i) **क्षैतिजिक नेत्र** (Horizontal Eye) : जब दोनों समान तल पर स्थित होते है।

(ii) **ऊर्ध्वतिर्यक नेत्र** (Slanting Upward Eye) : जब इक्टोकैंथियन बिंदु का तल इण्डो–कैंथियन के तल से उंच्चा हो तो ऐसे नेत्र को ऊर्ध्व तिर्यक नेत्र कहते हैं।

(iii) **अधो तिर्यक नेत्र** (Slanting Downward Eye) : इसमें इक्टोकैथियन बिंदु का तल इण्डो–कैथियन बिंदु के तल से नीचा होता है।

(II) **नेत्र–मोड़** (Eye Fold) : कुछ मनुष्यों की आंख के ऊपरी पलक के स्वतन्त्र भाग पर कुछ त्वचीय भाग (Slit) लटकता रहता है। इससे आंखों की ऊपरी पलक पर एक मोड बन जाता है। इसे इपीकैंथिक मो ड (Epicanthic Fold) कहते हैं। यह मंगोलॉयड प्रजाति में विशेष रुप से पाया जाता है इसलिए 'मंगोलियन मो ड' (Mongoloid or Mongolian Fold) भी कहते है। यह मो ड चार प्रकार के पाये जाते हैं :

(i) **अन्त इपीकैथिक मोड़** (Internal Epicanthic Fold) : आंख के ऊपरी पलक का स्वतन्त्र भाग आंख के मध्यवर्ती क्षेत्र पर लटकता रहता है फलस्वरुप आंखों के भीतरी भाग पर मोड़ बन जाता है।

(ii) **बहिरस्थ इपीकैंथिक मोड़** (External Epicanthic Fold) : नेत्र के बाहर की ओर आंख का मोड़ पाया जाता है।

(iii) **मध्यस्थ इपीकैंथिक मोड़** (Median Epicanthic Fold) : दोनों छोरों पर मोड़ नहीं पाया जाता बल्कि नेत्र के मध्य–क्षेत्र पर मोड़ विद्यमान होता है।

(iv) **पूर्ण इपीकैंथिक मोड़** (Complete Epicanthic Fold or Mongolian Eye) : इसमें मोड़ पूरी आंख के ऊपरी पलक पर पाया जाता है। इस स्थिति में आंखों के खुलाव प्रायः तिरछे (Slanting) होते है।

(III) **नेत्र–वर्ण** (Eye Colour) : इसमें आंखों की आइरिस (Lris) का परीक्षण किया जाता है।

इसके लिए विभिन्न नेत्र–वर्ण चार्ट (Eye Colour Chart) की सहायता ली जा सकती है जैसे– बर्टिलान (Bertiton), मार्टिन (Martin), मार्टिन तथा शुल्ज (Martin and Schultz) मार्टिन तथा सैलर (Martin and Saller), सैलर (Saller) आदि के नेत्र–वर्ण चार्ट। मार्टिन तथा शुल्ज चार्ट के अनुसार निम्नलिखित प्रमुख चार वर्ण प्रकार हैं :

1 a – 2 b हल्का नीला से नीला (Light blue – Blue)

3 a – 6 b हल्का खाकी या धूसर से गहरा खाकी या धूसर (Light Gray ot Dark Gray)

7 a – 8 b हरित (Green)

9 a – 16 b हल्का भूरा से गहरा भूरा (Light Brown to Dark Brown)

आंखों का रंग वंशानुगत लक्षण है। हल्का नीला रंग भूरे रंग की अपेक्षा अप्रभावी पाया गया है। काला या काला भूरा (गहरा भूरा) सभी रंगों पर प्रभावी होता है। रेटिना (Retina) की रंजक स्तर का प्रकाश आंखों में प्रतिविम्बित होने के कारण आंखों का रंग काला दिखाई पड़ता है। नीग्रो की आंखों का रंग काला या काला भूरा रंग, वाह्य स्त्रर से पाये गये मेलनिन रंजक की मात्रा पर निर्भर करता है। हल्के रंग की आंखों वाली प्रजातियों का भूरा रंग, भीतरी स्तर में पाये गये रंजको के कारण होता है। वर्णहीन व्यक्तियों की आंखों की आइरिस या तारा मण्डल (Iris) तथा रेटिना रंजक विहीन होती हैं तथा ऐसी स्थिति में रुधिर वहिकायें (Blood Vessels) आंखों को पीला रंग प्रदान करती है। कॉकेसॉयड की आंखे हल्की नीली से हल्के भूरे रंग की होती हैं। मंगोलॉयड की आंखे हल्के भूरे से गहरें भूरे रंग की तथा नीग्रायड प्रजाति की आंखें गहरे भूरे से लगभग काली रंग की पायी जाती है।

4. **कान** (Ear) : कान के मुख्य दो लक्षणों कर्ण–खण्ड (Ear Lobe) एवं कर्ण–गांठ या डार्विन ट्यूवरकल (Darwin's Tubercle) का प्रयोग मानव अध्ययन में किया जाता है। कान के रध्र के पीछे एवं ऊपर त्वचीय वलय को हेलिक्स (Helix) कहते हैं। हेलिक्स दो भागों में जिन्हें दो किनारे से विभक्त होता है : अग्र किनारा (Pre–margin) एवं पश्चकिनारा (Post–margin)। पश्च–किनारे के ऊपरी एवं पिछले भाग पर कुछ मनुष्यों में एक त्वचीय गांठ (Tubercle) पाई जाती है इसे 'डार्विन ट्यूवरकल कहते है। कभी–कभी मनुष्यों में यह गांठ बड़े एवं छोटे दोनों आकार में पायी जाती है।

कर्ण रन्ध्र के निचले लटकते भाग को कर्णखण्ड (Ear lobe) के नाम से पुकारा जाता है। इसके आकार के आधार पर मनुष्यों में विभेद पाये जाते है। कर्ण खण्डों को छोटे से लेकर के बड़े आकार तक देखा गया है। यह कुछ मनुष्यों में अनुपस्थित भी होता है। यह लक्षण भी एक आनुवंशिक लक्षण हैं।

5. **होंठ** (Lips) : उच्च एवं निम्न दोनों होंठो को मोटाई के आधार पर चार भागों में बाँटा गया है : पतले (Thin), मध्यम (Medium), मोटे (Thick) एवं अधिक मोटे (Very Thick)। मार्टिन (Martin) ने होंठों को मोटाई के आधार पर पतले, मध्यम, मोटे तथा लटका (Everted) आदि वर्गों में विभाजित किया है। इनके मापों के मानक भी निर्धारित किये गये है। 0 से 5 मि० मी० के मध्य वाले होंठों को बहुत पतला, 5 से 10 मिमी० वाले होंठों को पतला, 10 से 15 मि० मी० के होंठों को मध्यम 15 से 20 मि० मी० के होंठों को मोटा तथा इसके भी ऊपर की माप वाले होंठों को अधिक मोटे की कोटि में सम्मिलित किया जाता है।

आकारानुवंशिक लक्षण (Morpho–genetic characters)

मानव शरीर के बाहरी सतह (surface) पर कुछ ऐसे भी लक्षण होते हैं जिन पर जन्मोपरान्त पर्यावरण का प्रभाव नहीं पड़ता। वे जन्मपर्यन्त परिवर्तनशील नहीं होते। किन्हीं दो व्यक्तियों में वे तादात्म्य रुप से नहीं पाये जाते। ये प्रायः बहुलजीनों द्वारा नियन्त्रित होते हैं लेकिन पूर्णरूप से आकारिक लक्षणों के समान अनुकरणशील (Adaptive) नहीं होते हैं। इनके कुछ लक्षण एक जीन द्वारा भी नियन्त्रित होते हैं। इसलिए इन लक्षणों को तो पूरी तौर से पूर्णरुप से आकारिक (Morphological) और आनुवंशिक (Genetic) लक्षणों

की श्रेणी में, नहीं रखा जा सकता। फलतः कुछ विद्वान इन्हें 'आकारानुवंशिक' (Morpho-genetic) लक्षण कहते हैं। ये निम्न हैं :--

त्वचीय प्रारुपों के विज्ञान को 'डरमैटोग्लि फिक्स' (Dermatoglyphics) कहते हैं। यह यूनानी भाषा के 'डर्मा' (Derma) एवं 'ग्लिफ' जर्चॉए्िझ से बना हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है, क्रमशः त्वचीय (Skin) एवं प्रारुप (Pattern)। इनके अध्ययन को 'डरमैटोग्लिफिक्स' के नाम से सर्वप्रथम 1926 में कमिन्स (Cummins) एवं मिड्लो (Midlo) ने पुकारा।इस क्षेत्र में फ्रांसिस गाल्टन (Francis Galton) के अथक प्रयासों से यह विज्ञान विकसित हो सका इसलिए उन्हें 'डरमैटोग्लिफिक्स का जनक' (Father of Dermatoglyphics) भी मानते हैं।

प्रायः हथेली, अंगुलियों एवं तलवों की सतह पर नियमित एवं धारदार रेखाये (Ridges) पाई जाती है। ये अंगुलियों के पोरों हथेली एवं तलवों पर निश्चित प्रारुपों का निर्माण करती हैं। ये प्रारुप गर्भावस्था के तीसरे माह तक विकसित हो जाते हैं। इसके पश्चात् ये जीवनमर्यन्त उसी प्रकार के बने रहते हैं। ये लक्षण मानव के अतिरिक्त प्राइमेटों अथवा उच्चस्तनीयों (Primates) में भी पाये जाते हैं। इनका प्रजातीय अध्ययन में विशेष महत्व है।

प्रजातीय अध्ययन में मुख्यतः अगुलियों एवं हथेली पर पाये गये प्रारुपों का अध्ययन होता है। इनमें निम्नलिखित मुख्य प्रवृत्तियां पाई गयी हैं :

अंगुलि डरमैटोग्लिफिक्स (Finger Dermatoghyphics) :

अंगुलि के बाहरी भाग पर पाये जाने वाले प्रारुपों का सर्वप्रथम अध्ययन फ्रांसिस गाल्टन (1892) ने किया। इन्होंने इन प्रारुपों को तीन भागों में बांटा :

(i) चक्र (Whorl)

(ii) शंख (Loop)

(iii) चाप (Arch)

अन प्रारुपों की पहचान हेतु दो आधारभूत तत्वों (Basic elements) **कोर** (core) एवं **ट्राइरंडियस** (Triradius) को उत्तरदायी माना। प्रारुप के अन्तः क्षेत्र में पायी जाने वाली केन्द्रीय रचना को 'कोर' के नाम से पुकारा। इसका स्वरुप बिन्दु, रेखा, द्वीप, वृत्त, हुक आदि के समान होता है। प्रारुप के वाह्य क्षेत्र में 'ट्राइरेडियस' पाया जाता है। यह तीन दिशाओं से आने वाली नियमिति रेखाओं या रेडियेंट्स (Radiants) से बनता है जिसका शाब्दिक अर्थ भी होता है तीन रेडियेंटों का संगम क्षेत्र।

चक्र में बाहरी क्षेत्र की दोनों दिशाओं की ओर दो **ट्राइरेडियस** पाये जाते हैं। अन्तः भाग पर एक 'कोर' पाया जाता है। इन दोनों निश्चित बिन्दुओं के मध्य की सभी रेखायें (Ridges) चक्राकार अथवा वृत्ताकार होती हैं। शंख में मध्य की ओर 'कोर' स्थित होता है। यह **कोर** उन सभी मुड़ी रेखाओं से घिरा होता है जो ट्राइरेडियस के विपरीत दिशा की ओर खुलती हैं। चाप में सभी.रेखायें प्रारुप के अन्तः क्षेत्र में लहर बनाती हुई बाहरी दिशा में निकल जाती हैं। इनमें **कोर** एवं **ट्राइरेडियस** अनुपस्थित होता है। कालान्तर में सर हैनरी (1935) ने इन प्रारुपों को निम्नलिखित कुल 9 उपभागों में विभक्त किया :

1. चक्र अथवा मूल चक्र (True whorl)

2. शंख (loop)	:	(i)	रेडियायी शंख (Radial loop)
		(ii)	अल्ना शंख (Ulnar loop)
3. चाप (Arch)	:	(i)	साधारण पाकेट लूप (Central Pocket loop)
		(ii)	लैटरल पाकेट लूप (Lateral Pocket loop)

(iii) यमज लूप (Twin loop)

(iv) ऐक्सीडेंटल प्रारुप (Accidental pattern)

उपरोक्त हैनरी वर्गीकरण में चक्रों को और अधिक सुपरिभाषित किया गया। वे प्रारुप जो इनके समकक्ष दो ट्राइरेडियस को रखते थे, उन्हें पृथक् कर दिया गया। **शंखों** को पुनः दो उपभागों में बांटा गया। वह शंख जिनकी कोर को घेरती हुई रेखा अग्र भुजा की रेडियस अस्थि की दिशा में खुलती हैं उन्हें **रेडियाई** शंख कहते हैं जब कि इसके विपरीत दिशा में अल्ना अस्थि की ओर इन रेखाओं के खुलने से **अल्नायी शंख** (Ulnar loop) का निर्माण होता है। चापों को भी पुनः दो उपभागों में बांटा। वे चाप जो सामान्य रुप से प्रारुप के बाहरी क्षेत्र इसके अन्तः क्षेत्र में लहर बनाती हुई प्रवेश करें तथा कोर एवं ट्राइरेडियस अनुपस्थित हो, उन्हें **साधारण चाप** कहते हैं। **तम्बू आकार चाप** (Tented arch) वे हैं जिनमें रेखायें अन्तः क्षेत्र में तम्बू के समान मुड़ी हुई होती है। इनके केन्द्रीय भाग में जहां अन्य प्रारुपों में कोर पाया जाता है वहां ट्राइरेडियस पाया जाता है। हैनरी ने एक चौथे प्रकार का प्रारुप खोजा जो कम से कम दो प्रतिरुपों से संयुक्त होकर बनते है। ये **संयुक्त प्रारुप** पुनः चार उपवर्गों में बांटे गये है। **'सेंट्रल पाकेट लूप'** प्रारुप में दो ट्राइरेडियस तथा एक कोर होता है। एक दिशा की ओर का ट्राइरेडियस लगभग केन्द्रीय अथवा मध्य क्षेत्र में स्थित होता है।उस ओर के ट्राइरेडियस का बिन्दु एक बाहरी क्षेत्र से आने वाली रेखा (Radiant) से मिलता है जिससे यह प्रारुप एक रेखा से खुलता हुआ प्रतीत होता है। इस ट्राइरेडियस एवं कोर; के मध्य की सभी रेखायें लगभग वृत्ताकार होती है। यह प्रारुप चक्र एवं शंख के संयुक्त होन से बनता है। **'लैटरल पाकेट लूप'** दो शंखों के संयुक्त होने से निर्मित होता है। इसमें दोनों शंख उच्च एवं निम्न दिशा में स्थित होते है। उच्च शंख निम्न शंख पर आच्छादित होता है। वक्रता (curvature) निम्न शंख की अपेक्षा अधिक होती है। निम्न शंख प्रायः सीधा होता है। इसमें दोनों शंख एक ही दिशा में खुलते हैं। **'यमज लूप'** भी दो शंखो के संयुक्त होने से बनता है. लेकिन दोनों शंख ताला एवं चावी की भांति एक दूसरे में पिरोये होते हैं। ये दोनों शंख विपरीत दिशा में खुलते हैं। इनमें दोनों ट्राइरेडियस दोनों बाहरी क्षेत्र एवं विपरीत दिशा में स्थित होते है। **'ऐक्सीडेटंल प्रारुप'** भी दो या दो से अधिक किन्हीं भी प्रारुपों से मिलकर बनते हैं। इनमें भी अन्य संयुक्त प्रारुपों की भांति दो कोर एवं दो ट्राइरेडियस विद्यमान होते हैं।

प्रारुप सूचकांक (Pattern Indices) :

इन अंगुलि प्रारुपों की बारम्बारता एवं संरचना के आधार पर प्रमुखतः निम्न तीन सूचकांकों का प्रजातीय अध्ययन में प्रयोग किया जाता है :

(i) प्रारुप गहनता सूचकांक (Pattern Intensity Index)

(ii) फरूहाटा सूचकांक (Furuhata's Index)

(iii) डैंकमाइज़र सूचकांक (Dankmeiger's Index)

'प्रारुप गहनता सूचकांक' (Pattern Intensity Index) ट्राइरेडियसों (Triradii) की संख्या के आधार पर आंकी जाती है। इसमें एक व्यक्ति की अगुलियों में स्थित सभी ट्राइरेडियस की गणना की जाती है क्योंकि किसी भी प्रारुप की गहनता उसमें पाये जाने वाले ट्राइरेडियस पर निर्भर करता है। इसका सूत्र निम्न है :

$$\frac{2\,(\text{चक्र}) + \text{शंख}}{\text{संख्या}\,(1)}$$

उक्त सूत्र के चक्रों में हैनरी वर्गीकरण के सभी संयुक्त प्रांरुपों को भी सम्मिलित किया जाता है। चूंकि चक्र में दो ट्राइरेडियस विद्यमान होते हैं इसलिए चक्रों की संख्या को दो से गुणा करते हैं तथा उसमें शंखों की संख्या को जोड़ देते हैं। यह सूचकांक एक व्यक्ति की अंगुलियों में पाये गये आंकड़ों पर आंकलित किया जाता है।

'फरूहाटा सूचकांक' (Furuhata's Index) में शंख एवं चक्र के समानुपात को आंका जाता है। यह समानुपात किसी जनसमूह में पाये जाने वाले कुल शंख/चक्र की बारम्बारताओं के आधार पर निकाला जाता है। इस सूचकांक को फरूहाटा (1927) ने प्रस्तावित किया था, फलस्वरुप इसका नाम फरूहाटा सूचकांक पड़ा। इसका सूत्र निम्न है :

चक्रों की संख्या

------------ x 100

शंखों की संख्या

डैंकमाइज़र सूचकांक (Dankmeijer's Index) चापों एवं चक्रों के समानुपात को कहते हैं। इसे डैंकमाइज़र ने 1938 में प्रस्तावित किया था। इसका सूत्र निम्न है :

चापों की संख्या

----------- x 100

चक्रों की संख्या

डैंकमाइज़र 1947 ने उक्त सूचकांक का उपयोग विश्व की प्रजातियों के अध्ययन में किया। इस सूचकांक की गणना मंगोलियन में 10 के नीचे, दक्षिणी यूरोपियाई में 10–20 के मध्य एवं, उत्तरी यूरोपियनों में 20–40 के मध्य पाया जाता है।

रेखा संगणन (Ridge Counting) :

अंगुलि प्रारुपों के आकार को मापने हेतु रेखा संगणन करना एक सरल विधि है। इसके लिये एस० बी० होल्ट (S.B. Holt) ने 1949 में एक मानक निर्धारित किया जो निम्नलिखित है :

(i) अंगुलि रेखा संगणन कोर एवं ट्राइरेडियस के मध्य की पाई जाने वाली रेखाओं का किया जाता है।

(ii) उन्हीं रेखाओं की संगणना की जाती है जो कोर एवं ट्राइरेडियस को मिलाने वाली ऋजु रेखा के आर–पार गुजरे।

(iii) उक्त ऋजु–रेख को मात्र स्पर्श करने वाली रेखाओं को संगणना नहीं की जाती है।

(iv) कोर एवं ट्राइरेडियस को स्पर्श करने वाली रेखाओं को संगणना में सम्मिलित नहीं किया जाता है।

इस प्रकार की संगणना में चापों की अगुलि रेखा संगणन सदैव शून्य होता है। लूप या शंखों में एक संगणना होती है। चक्र एवं संयुक्त प्रारुपों में दो संगणनायें की जाती हैं। इन प्रारुपीय संगणनाओं के आधार पर वैयक्तिक संगणना ज्ञात की जाती है जिसमें एक व्यक्ति की सभी अंगुलियों की प्राप्त संगणनाओं का कुल योग निकाल जाता है। ज्ञातव्य हो कि चक्र में दो संगणनायें होती हैं इनमें से अधिक संगणना रखने वाले संगणन को उस प्रारुप का प्रतिनिधि संगणन माना जाता है। कुल योग ज्ञात करने पर इसी संगणन का उपयोग किया जाता है। कुल योग ज्ञात करने पर इसी संगणन का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार की वैयक्तिक संगणना को 'कुल अंगुलि रेखा संगणन' (Total Finger Ridge Count) कहते हैं।

हथेली प्रारुप (Palmar Patterns) :

हथेली में मुख्यतः चार आकारिक दिशायें (Anatomical Directions) होती है। शरीर की ओर (भुजाओं की ओर) की दिशा में 'प्राक्सिमल दिशा' (Proximal Direction), अंगुलियों की ओर की दिशा को 'डिस्टल दिशा' (Distal Direction), अंगूठे की ओर की दिशा को 'रेडियल दिशा' (Radial Direction) तथा, कनिष्ठिका अथवा अल्ना अस्थि की ओर की दिशा को 'अल्नर दिशा' (Ulnar Direction) कहते हैं। सम्पूर्ण हथेली क्षेत्र को निम्न उप क्षेत्रों में विभक्त किया गया है :

(i) थिनर क्षेत्र (Thenar Area)

(ii) हाइपो–थिनर क्षेत्र (Hypo Thenar Area)

(iii) प्रथम अंगुलि क्षेत्र (Ist Digital Area)

(iv) द्वितीय अंगुलि क्षेत्र (IInd Digital Area)

(v) तृतीय अंगुलि क्षेत्र (IIIrd Digital Area)

(vi) चतुर्थ अंगुलि क्षेत्र (IVth Digital Area)

(vii) प्रथम अंगुलि अन्तराल क्षेत्र (Ist Interdigital Area)

(viii) द्वितीय अंगुलि अन्तराल क्षेत्र (IInd Interdigital Area)

(ix) तृतीय अंगुलि अन्तराल क्षेत्र (IIIrd Interdigital Area)

(x) चतुर्थ अंगुलि अन्तराल क्षेत्र (IVth Interdigital Area)

इन समस्त क्षेत्रों में पहले छः क्षेत्र उत्तल तथा अन्तिम चार क्षेत्र अवतल होते है। अंगुलि क्षेत्र (Digital Area) को अंगुलि गद्दी (Digital Pad) भी कहते हैं, ये प्रायः उभरे होते हैं। इसी प्रकार अंगुलि अन्तराल क्षेत्र (Interdigital Area) को गद्दी अन्तराल क्षेत्र (Interdigital Pad) पर ट्राइरेडियस पाये जाते हैं। ये ट्राइरेडियस द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पचंम अंगुलियों के आधार क्षेत्र क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ अंगुलि क्षेत्रों पर स्थित होते हैं जिन्हें 'a', b, c, एवं d अक्षरों से अभिहित करते हैं क्योंकि द्वितीय अंगुलि को A, तृतीय को B, चतुर्थ को C एवं पंचम को D अक्षर से नामकरण किया जाता है।

हथेली मुख्य रेखा

इन अंगुलि ट्राइरेडियस तीन रेडियेंट से निर्मित होते हैं :

अल्नर (Ulnar), रेडियल (Radiar) एवं प्राक्सिमल (Proximal)।

इनमें प्राक्सिमल रेडियेंट सर्वाधिक लम्बा होता है। इसका आरम्भिक बिन्दु मन्य ट्राइरेडियस के आरम्भिक बिंदु की अपेक्षा निम्नतम होता है। इसे हथेली की मुख्य रेखा (Palmar Main Line) कहते है। हथेली के अंगुलि क्षेत्र से विकसित होने वाली ये मुख्य रेखायें क्रमशः A, B, C एवं D के नाम से जानी जाती है।

हथेली के प्राक्सिमल दिशा की ओर मणिबन्धों (Bracelets) के ऊपर ट्राइरेडियस स्थित होता है। यह हाइपोथिनर एवं थिनर क्षेत्र के मध्य हथेली के अक्षीय भाग पर पाया जाता है। इसे 'अक्षीय ट्राइरेडियस' (Axial Triradius) कहते हैं। इसका 'डिस्टल रेडियेंट' सर्वाधिक लम्बा होता है जो हथेली की एक मुख्य रेखा का निर्माण करता है इसे 't' से सम्बोधित करते हैं। जब अक्षीय ट्राइरेडियस की स्थिति हथेली पर निम्नतम (Lower) होती है तो 't' से जब यह उच्चस्थिति (Higher Position) में होता है तो 't' से एवं जब इस ट्राइरेडियस की स्थिति मध्यवर्ती हो तो 't' संकेताक्षरों से पुकारते हैं।

मुख्य रेखा सूत्रं

हथेली की इन मुख्य रेखाओं के आधार पर 'मुख्य रेखा सूत्र' (Main Line Formula) को ज्ञात किया जाता है इसे निम्न क्रम से लिखते हैं :

D.C.B.A.T.

उक्त सूत्र को ज्ञात करने के लिए हथेली के बाहरी, ऊपरी एवं निचली दिशा क्षेत्रों 'मोडल नम्बर' (Modal Number) आंवटित किये जाते है। जिस 'मोडल नम्बर' पर जो मुख्य रेखा समाप्त होती है, तो उससे सम्बन्धित 'संकेत संख्या' उक्त सूत्र में रख दी जाती है। ये 'मोडल नम्बर' अथवा संकेत संख्यायें 1 से लेकर 13 तक आबंटित की जाती है। 1 से 5" तक 'थिनर' एवं हाइपोथिनर क्षेत्रों के लिए तथा 6 से 13 तक अंगुलि एवं अंगुलि अन्तराल क्षेत्रों हेतु आवंटित की जाती है। मुख्य रेखाओं का रेखांकन **कमिंस** एवं **मिडलो** (1961) द्वारा प्रतिपादित नियमों के अनुसार किया जाता है।

मुख्य रेखा सूचकांक (Main Line Index) :

मुख्य रेखा सूत्र में हथेली की सभी रेखाओं का उचित परीक्षण नहीं हो पाता है। इनमें वे रेखायें जो उदासीन (Nuetral) होती है तथा अपने गंतव्य क्षेत्र तक नहीं पंहुच पाती हैं, उनका उल्लेख भी इस सूत्र में नहीं होता। हथेली की रेखायें किस दिशा की ओर अग्रसर होती है, इसका ज्ञान भी उक्त मुख्य रेखा सूत्र से नहीं होता। अतः इन सभी आवश्यक लक्षणों की सूचना के लिए मुख्य रेखा सूचकांक प्रजातीय अध्ययनों हेतु अति महत्वपूर्ण है।

इस सूचकांक में A एवं D मुख्य रेखाओं के समाप्ति क्षेत्र अथवा तत्सम्बन्धित 'मोडल नम्बर' का योग ज्ञात किया जाता है। इसके लिए समस्त 'मोडल क्षेत्रों' को 'पुन संख्याकिन' (Renumbering) करना पड़ता है। पूर्व किये गये मोडल संख्याकन के 1 से 4 तक मोडल क्षेत्र संख्यायें पूर्ववता रहती है। 5' एवं 5" मोडल क्षेत्र क्रमशः 5 एवं 6 से पुनर्स्थापित किये जाते है जब कि 7 से 13 अंगुलि मोडल क्षेत्र संख्यायें परिवर्तित होकर के 1 से 8 हो जाती है। मुख्य रेखा सूचकांक में इन्हीं संकेत संख्याओं का प्रयोग किया जाता है।

हथेली के उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त हथेली के विभिन्न क्षेत्रों में पाये जाने वाले प्रारुपों का अध्ययन भी किया जाता है। हथेली में चक्र, शंख एवं तम्बू आकार चाप पाया जाता है। इनकी रचना अंगुलियों के प्रारुपों से कुछ भिन्न होती है। इनमें अंगुलि की अपेक्षा एक–एक ट्राइरेडियस अधिक पाया जाता है 'थिनर क्षेत्र' में प्रायः खुले क्षेत्र (Open Field) एवं 'वेस्टीज' (vestige) पाये जाते है। चक्र, तम्बू–आकार चाप, शंख प्रायः हाइपोथिनर क्षेत्र में देखे गये है। शंख एवं खुले क्षेत्र प्रारुप अधिकांशतः 'अंगुलि अन्त क्षेत्रों' पर पाये जाते हैं।

हथेली की 'रेखा संगणना' (Ridge Counting) भी की जाती है। इनमें अंगुलि क्षेत्र के ट्राइरेडियस a एवं b, b एवं c, c एवं d तथा d एवं d के मध्य संगणनायें की जाती है। इन्हें क्रमशः a – b, b – c, c – d एवं a – d हथेली रेखा संगणना कहते है। इसी प्रकार atd कोण का प्रयोग भी प्रजातीय अध्ययनों में किया जाता है। इसमें 't' को 'a' तथा d ट्राइरेडियस से मिला दिया जाता है। यह कोण आयु से प्रभावित देखा गया है।

आनुवंशिक लक्षण (Genetic Character)

1. ABO रूधिर वर्ग :

आनुवंशिक लक्षणों में ABO रूधिर वर्गों का प्रमुख स्थान है। इसकी खोज 1900 में सर्वप्रथम लैण्डस्टाइनर (Landsteiner) ने की। इन्होंने सर्वप्रथम केवल तीन वर्ग – A, B, एवं O की खोज की। लेकिन दो वर्षों बाद चौथे रूधिर वर्ग AB की खोज, इन्होंने अपने विद्यार्थियों – डिकैस्टैलो (Decastallo) एवं स्टर्ली (Sterli) के साथ किया। ये चारों रूधिर वर्ग बहु विकल्प (Multiple alleles) के द्वारा नियन्त्रित होते हैं।मुख्यतः इनकी वंशागति मेंडलीय सिद्धान्तों के अनुसार होती है। इनमें AB रूधिर वर्ग की वंशागति एक अपवाद है जो सह प्रभावी वंशागति का अनुसरण करती है।

इन चारों रूधिर वर्गों को लाल रक्त कणिका की मूकापालीसैक्राइड (Mucopoly saccride) सतह पर स्थित प्रतिजन एवं सीरम में स्थित प्रतिरोधात्मक गुणों (Immunological properties) के आधार पर पृथक् किया जाता है। लाल रक्त कणिकाओं में दो प्रकार के प्रतिजन (Antigenes) : A एवं B तथ सीरम में दो प्राकृतिक प्रतिपिण्ड (Antibodies) : anti – A एवं anti – B होते हैं। प्रत्येक रूधिर वर्ग में इन्हीं दो रूधिर अभिकारकों का विशेष समूह होता है। यदि यह विशेष संयोग टूट जाये तो प्रतिजन एवं प्रतिपिण्ड में परस्पर नकारात्मक प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। फलस्वंरुप लाल रक्त कणिकाओं का पारस्परिक सम्बन्ध (Ionic charges) टूट जाता है तथा ये कणिकायें बिखरने लगती है जिससे इनके मध्य का समान बंध एवं दूरी भंग हो जाती है। इसे अग्रांकित तालिका में दर्शाया गया है :

रूधिर वर्ग	प्रतिजन (antigen)	प्रतिपिण्ड (antibody)
A	A	anti–B
B	B	anti–A
AB	A एवं B	–
O	–	anti–A anti–B

उक्त रूधिर वर्गों में A वर्ग के उपसमूहों की खोज 1911 में वान डनगर्न (Von Dungern) तथा हर्सफील्ड (Hersfield) ने पहली बार किया। इन्होंने दो उपसमूह A1 तथा A2 बताये। वाइडेनरीच (Weidenreich) ने 1936 में इसका तीसरा उपसमूह A3 खोजा। 1908 में इप्सटीन (Epstein) एवं आटेनबर्ग (Ottenberg) ने यह पाया कि ये सभी रूधिरवर्ग (A1 A2 A3 BO) वंशानुगत होते हैं। इनके वंशानुक्रम को विस्तृत रुप से बर्सटीन (Berstein) ने प्रस्तुत किया। इन्होंने 1930 में जीनी आवृत्तियों के आधार पर मानव समूहों को विभिन्न वर्गों में बांटा। इनके वंशानुक्रम को निम्न तालिका में दर्शाया गया है :

रूधिर वर्ग (Blood group)	व्यक्तस्वरुप Phenstype	जीनी प्ररुप Genstype	वंशागति प्रकार Inheritance type
A	A	1^A1^A 1^A1^o	प्रभावी (Dominant)
B	B	1^B1^B 1^B1^o	प्रभावी (Dominant)
AB	AB	1^A1^B	सह प्रभावी (Codominant)
O	O	1^o1^o	(Recessive)

सामान्यतया विश्व में इनरुधिर वर्गों में O जीन का वितरण सर्वाधिक (0.623) है। B जीन का वितरण न्यूनतम (0.162) है तथा A जीन मध्यवर्ती स्थिति (0.215) प्रदर्शित करता है।

अमेरिकन इंडियन में O जीन की प्रमुखता देखी गयी है। इस्कीमों में O जीन प्रमुख रुप से वितरित है। A जीन मंगोलायडो तथा A जीन कॉकेसॉयडों में प्रबल रुप से पाया जाता है।

केन्द्रीय एशिया तथा उत्तरी भारत में B जीन प्रमुख रुप से वितरित है। आस्ट्रेलियन आदिम जातियों में B जीन लगभग अनुपस्थित है। प्रशान्त महासागर के पश्चिम उत्तर की ओर बढ़ने A जीन की बारम्बारता बढ़ती जाती है।

2. MNs रूधिर वर्ग :

1927 में लैण्डस्टाइनर (Landsteiner) एवं लेवीन (Levine) ने दो मानव प्रतिजनों – M एवं N की खोज की। ये प्रतिजन ABO रूधिर वर्ग के प्रतिजनों की भांति अपने साथ सीरम में प्राकृतिक प्रतिपिण्ड (Anti bodies) नहीं रखते थे। अतः इनका रुधिर आधान (Blood Transfusion) में कोई विशेष महत्व नहीं रहता है। जब रुधिर में प्रतिजन – M विद्यमान रहता है, तो N वर्ग का होता है। उस समय जब रुधिर में दोनों प्रतिजन (अर्थात् प्रतिजन M एवं N) एक साथ विद्यमान होते है तो उसे MN वर्ग को माना जाता है। इनकी वंशागति मेण्डलीय विधियों से होती है। जब कि MN वर्ग की वंशा गति सह प्रभावी प्रकार की होती है जो मेण्डलीय अवधारणा से कुछ भिन्न है।

आस्ट्रेलिया में M रूधिर वर्ग की बारम्बारता कम (20%) लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका में अधिक (90%) है। दक्षिणी पूर्वी एशिया अरब आदि क्षेत्रों में भी रुधिर वर्ग की बहुलता पायी जाती है। यूरोपीय देशों में यह औसत रुप में (50%) है।

1947 में सैंगर (Sanger) एवं रेस (Race) ने इन रुधिर वर्गों में एक तीसरे प्रतिजन (Antigen) – S की खोज की। यह M तथा N प्रतिजनों से भिन्न था। तीन व्यक्तियों के रुधिर में दो और प्रतिजन S तथा s देखा। इस प्रकार इन रुधिर वर्गों में कई समूह देखें गये : MS MS NS NS MS NS Ms MS Ns NS MS Ns, Ms Ms, Ns Ns, Ms Ns, Ms Ns। भारत में S की बारम्बारता सर्वाधिक (40%) देखी गयी जिसमें Ms समूह प्रबल रुप से पाया गया। यूरोप में इसकी बारम्बारता 30–35% तथा पूर्वी एशिया में अल्पतम (5–20%) मिली।

1961 में गार्न ने MNS रुधिर प्रणाली में एक नवीन युग्म–U (Allele) की उपस्थित को बताया जिसे Su संकेताक्षर से सम्बोधित किया। यूरोप के लगभग सभी लोग U + ve वर्ग के है। नीग्रोमें लगभग 1% लोंग u–ve के पाये गये।

3. Rh रूधिर वर्ग :

1940 में लैंडस्टाइनर (Landsteiner) एंव वीनर (Weiner) ने मानव में एक ऐसा रूधिर प्रकार देखा जो रहीसस बानर के रुधिर को खरगोश या गुयाना सुवर के अन्दर प्रविष्ट कराने से प्राप्त सीरम से पहचाना जाता है। इसी आधार पर इस रूधिर वर्ग का नाम Rh रुधिर वर्ग रखा। आरम्भ में Rh + ve एवं Rh – ve रुधिर वर्गों की खोज हुई। यह विश्वास किया जाता है कि इस रुधिर वर्ग में केवल दो विकल्पी (Allele) – D/d ही पाये जाते हैं। इसके तीन जीनी प्ररुप DD] Dd एवं dd होते है जिनमें आरम्भिक दो को व्यक्त पुरुष (Phenotype) एवं शेष का Rh–ve होता है। लेकिन कालान्तर में फिशर (Fisher) ने 6 विकल्पियों C, D, E, c, d, e का मत प्रस्तुत किया। इनमें से तीनं विकल्पी एक ही गुणसूत्र (chromosome) पर स्थित होते है। इन 6 विकल्पी से बने निम्न 8 जीनी प्ररुपों का उल्लेख किया गया :

(i) CDE

(ii) CDe

(iii) cDE

(iv) cDe

(v) Cde

(vi) CdE

(vii) cdE

(viii) cde

उक्त जीनी प्ररुपों में प्रथम चार Rh + ve एवं शेष चार Rh − ve व्यक्त प्ररुप में सम्मिलित किये जाते हैं। इनको पहचानने हेतु मौलिक anti−Rh सीरम anti−D ही हैं। यद्यपि 6 विकल्पियों की पहचान हेतु पांच सीरमों – anti − D, −C, −E, −c, −e की खोज तो गयी है, लेकिन एक सीरम anti−d का पता आज तक हो सका है।

वीनर (Weiner) उक्त सहलग्न जीन मत को नहीं स्वीकारते और उस मत का प्रतिपादन करते है जिसमें युग्मकों की श्रंखला एक ही संस्थिति (locus) पर जटिल प्रभावों से नियन्त्रित होते हैं। इनके अनुसार ये 8 विकल्पी इस प्रकार हैं : RZ, R1, R2, Ro, r, r', r एवं ry।

लैण्डस्टाइनर (Landsteiner) एवं वीनर (Weiner) ने 1940 में पुनः एक और प्रणाली (LW system, जिसका नामकरण इन विद्वानों के नाम पर किया गया) का पता लगाया जो Rh रूधिर प्रणाली से सम्बद्ध है।

Rh रूधिर वर्ग, ABO रुधिर वर्ग के समान एक विशिष्ट प्रतिजन हेतु प्राकृतिक प्रतिपिण्ड नहीं रखता। अतः Rh− व्यक्ति का रुधिर यदि Rh+ में चढ़ाया जाय तो वह रुधिर प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। ऐसी स्थिति में रुधिर प्लाविका में प्रतिरोधात्मक प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। यदि पुनः Rhट रुधिर उस व्यक्ति को दिया जाय तो तेजी से रुधिर कणिकायें उत्पन्न प्रतिपिण्डों के द्वारा नष्ट कर दी जाती है। यही घटना उस समय भी घटित होती है जब Rh− मां अपने Rh+ गर्भ के प्रति संवेदित हो जाती है। गर्भ के भ्रूण की रुधिर कोशिकायें उस समय फट जाती है जब वे अपरा (Placenta) के द्वारा मां की रुधिर में प्रवाह में प्रवेश करती है। मां के रुधिर में प्रतिपिण्ड सामान्यतया इस प्रकार विकसित नहीं होते जिससे कि गर्भ के भ्रूण को अत्यन्त खतरा हो लेकिन यदि मां दो या तीन गर्भों को धारण कर ले, तो यह भी सम्भव है। प्रायः लगातार दूसरे एवं तीसरे गर्भधारण के दौरान, जो मां के रुधिर में प्रतिपिण्ड उत्पन्न हो जाते हैं, वे भ्रूण के रुधिर प्रवाह में प्रवेश करके भ्रूण नष्ट भी हो सकता है इस विसंगति को 'इरिथ्रोब्लेस्टॉसिस फीटैलिस' (Erythroblastasis Foetalis) कहते है। इस स्थिति में बच्चे के जीवन हेतु अनेकों रुधिर आधान की आवश्यकता होती है इससे मां को Rh प्रतिपिण्ड वाला सीरम प्राप्त हो जाता है जिससे मां के रुधिर में प्रतिरोधी प्रतिक्रिया करने वाला Rh प्रतिपिण्ड उत्पन्न नहीं हो पाता और गर्भ के भ्रूण को बचाया जा सकता है।

Rh−ve की बारम्बारता Rh+ve से बहुत कम होती है। मंगोलायड में यह सर्वाधिक कम (0.5 − 1.5%), काकेसॉयड में 15% तक तथा नीग्रो में 5.8% तक इसकी बारम्बारता पायी गयी है।

4. 'डफी रुधिर वर्ग (Duffy System) :

'डफी' रूधिर वर्ग की खोज 1950 में कटवश (Kutbush), मालीसन (Mollison) तथा पारकिन (Parkin) ने की। इस रूधिर वर्ग हेतु दो युग्म − Fya तथा Fyb उत्तरदायी होते है जो क्रमशः डफी+ एवं डफी⁻ व्यक्त प्ररुप का नियन्त्रण करते हैं। इनमें Fya दूसरे युग्म − Fyb पर प्रभावी होता है। इनसे उत्पन्न निम्न तीन जीनी प्ररुप देखे गये है ;

(i) Fya / Fya ⎤ डफी +
(ii) Fya / Fyb ⎦
(iii) Fyb / Fyb ⎤ डफी —

इंगलैंड में डफी+ 65% लोगों में पाया जाता है। भारत तथा पाकिस्तान में भी Fya की बारम्बारता अधिक है। भारत तथा पाकिस्तान में भी Fya की बारम्बारता अधिक है। इसकी सबसे कम बारम्बारता अमेरिकी जनसंख्याओं में देखी गयी है।

5. डीगो 'रुधिर वर्ग' (Diego System) :

इसकी खोज 1955 में लेरिसी (Layrisse), ऐरिन्डस (Arends), तथा डोमिनगूज (Dominguez) ने की। दो युग्मक – Di a क्रमशः Di b क्रमशः दो रुधिर वर्ग डी#d + एवं डीगो– का नियन्त्रण करते है। Di a एलील प्रभावी होता है तथा इसमें डीगो प्रतिजन (+ve वर्ग) के लिए उत्तरदायी होता है।

अनुसंधानों से यह पता चला है कि डीगो+ एशियायी प्रजातियां है। नई दुनिया के लोगों से उत्पन्न हुए हैं। इसकी खोज से ऐसा माना जाता है कि मंगोलायड की उत्पत्ति अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन नहीं है जिससे डी#d + इसकी एक अनूठी विशेषता है। डीगो + (Di a) यूरोपीय, अफ्रीकन, आस्ट्रेलियन, माइक्रोनेशियम, पालीनेशियम तथा इस्कीमों में अनुपस्थित पाया गया है।

6. 'किड' रुधिर वर्ग (Kidd' system) :

दो विकल्पी JKa (प्रभावी) तथा JKb (अप्रभावी) दो रुधिर वर्गों – Kiddट एवं Kidd– के लिए उत्तरदायी होते हैं। यह पश्चिमी अफ्रीका एवं अमरीकी लोगों में सामान्यतया पाया जाता है। चीन के जनसंख्या में इसकी बारम्बारता बहुत कम हैं। इसकी खोज 1951 में ऐलन (Ailen) डाइमंड (Diamond) एवं नाइडजिला (Niedziela) ने की।

7. अन्य रुधिर वर्ग (Other blood group system) :

उपरोक्त रुधिर वर्गों के अतिरिक्त अन्य रुधिर वर्ग जैसे – पी (P), लूथन (Luthen), केल (Kell), लेविस (Lewis), वाई टी (yt), ए यू (A u), एस जी (Xg), डामब्रोक (Dombrok) एवं बाम्बे (Bombay) जी एम (Gm) आदि खोजे गये हैं जिनकी वंशागति सामान्य मेंडलीय अवधारणा के अनुसार होती है। लेकिन इन रुधिर वर्गों का अध्ययन विश्व की प्रजातियों पर विरले ही हुआ है। इन रुधिर वर्गों का प्रयोग प्रजातीय अध्ययन में अब तेज़ी से हो रहा है।

8. 'एच एल–ए' प्रणाली (HL–A system) :

मानव लूकोसाइट प्रतिजन (Human Laucocyte Antigen) को संक्षेप में एच एल–ए (HL–A) कहते हैं। यह प्रायः मानव के सभी अंगों की सतह पर उपस्थित होता है। यह अधिरोपणों (Graft) की अस्वीकृत के लिए विशेष रुप से उत्तरदायी होता है। गुणसूत्र – 6 की छोटी भुजा (arm) की निकटस्थ एवं सहलगन संस्थितियों – A, B, C, D तथा Dr पर ये प्रतिजन उपस्थित होते है। इन संस्थियों पर क्रमशः 19, 27, 7, 11 एवं 7 युग्मक पाये गये हैं जिससे इनके प्ररुप बनते हैं। इन युग्मकों को तीन वर्गों में सम्मिलित किया गया है। एक वह वर्ग जो लगभग सभी जनसंख्याओं में बहुलता से पाया जाता है उसे A_2 वर्ग के नाम से जानते है। दूसरा वह जो सभी जनसमूहों में तो उपस्थित होता है लेकिन अफ्रीका लोगों में अधिक होता है, उसे A, वर्ग के नाम से जाना जाता है। तीसरा Bw A2 वर्ग जो कुछ जनसमूहों में ही पाया जाता है।

9. हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) :

यह लाल रुधिर कणिकाओं का रंजक होता है जिसके कारण इन कोशिकाओं का रंग लाल होता है। यह रंजक आकसीजन को मानव के फेफड़े (Lungs) से ऊतकों (Tissues) तक पहुंचाने में मार्मिक भूमिका अदा करता है। यह मूलभूत प्रोटीन एवं ग्लोबिन से बना हुआ होता है जो 'हीम' (Haem) से सहलग्न होती है। इसका आणविक भार 65,500 होता है। ये 'हीम' के चार समूह रखता है जिससे इसके एक अणु (molecule) में चार लौह परमाणु (atom) होते हैं। आक्सीजन के एक अणु को आकर्षित करने की अपार क्षमता हीमोग्लोबिन के प्रत्येक लौह परमाणुओं में होती है। इस प्रक्रिया से आक्सीहीमोग्लोबिन (Oxyhaemoglobin) बनता है। इसका रंग चमकीला लाल होता है। जिस प्रकार आक्सीजन के अणुओं के यह लौह परमाणु फेफड़े में आकर्षित करते हैं, उसी प्रकार ऊतकों में इन अणुओं को छोड़ते भी है। यह आक्सीजन के 'आंशिक दबाव' (Partial pressure) पर निर्भर करता है क्योंकि यह दबाव फेफड़े में

अधिकतम तथा ऊतकों में न्यूनतम होता है। यह कार्य 'P^{H}' पर भी निर्भर करता है क्योंकि जब PH निम्न होता है अर्थातद्य अम्लीय (Acidic) होता है तो आक्सीजन को आकर्षित रखे रहने की लौह परमाणुओं की क्षमता घट जाती है जिससे आक्सीजन का अणु इन परमाणुओं से छूट जाता है तथा कार्बनडाइ आक्साइड का अणु इन परमाणुओं से सहलग्न हो जाता है। इन परमाणुओं की इस निर्भरता को 'बोर प्रभाव' (Bohr Effect) कहते हैं।

इस प्रकार हीमोग्लोबिन चार प्रोटीन की श्रंखलाओं – $\alpha, \alpha, \beta, \beta$, से बना हुआ होता है। प्रत्येक श्रंखला एक 'हीम समूह' रखती है। α श्रंखला में 'जीन α ग्लोबिन' 16वें गुणसूत्र पर होता है तथा β, श्रंखला में 11वें गुण्सूत्र पर 'जीन β ग्लोबिन' उपस्थित होता है। एवं β दोनों श्रंखलायें क्रमशः 141 एवं 146 'अमीनोअम्ल' (Amino acid) रखती है। भ्रूण एवं प्रौढ़ व्यक्ति का हीमोग्लोबिन हल्की रासायनिक भिन्नता रखता है। प्रौढ़ हीमोग्लोबिन चार श्रंखलाओं – $\alpha, \alpha, \beta, \beta$ वाला होता है इसे 'हीमोग्लोबिन – A' कहते है। लगभग दो प्रतिशत (2%) प्रौढ़ हीमोग्लोबिन में भिन्न श्रंखलायें – $\alpha, \alpha, \alpha, \alpha$ होती हैं इसे 'हीमोग्लोबिन – A2' कहते हैं। भ्रूण हीमोग्लोबिन α, α, y, y श्रंखलायें रखता है जो β – श्रंखला से 39 स्थितियों (Positions) में भिन्न होती है। यह सभी सामान्य हीमोग्लोबिन होते हैं जो क्रमशः 16वें एवं 11वें गुणसूत्र पर पाये जाते हैं।

आज तक लगभग 100 से अधिक हीमोग्लोबिन विभेदक (Variant) देखे गये हैं (लगभग 70 a श्रंखला वाले एवं 35 β श्रंखला वाले)। लेकिन इनमें कुछ 'बहुआकारी' (Polymorphic) स्वभाव को प्रदर्शित करते हैं जैसे – Hbs, Hbc, HbE, HbD पंजाब तथा (β श्रंखला से सम्बन्धित) एवं 'Hbj टोंगारिकी' (d श्रंखला वाले) आदि।

Hbs: यह उत्परिवर्तन के फलस्वरुप उत्पन्न हुआ है जिससे दोनों B श्रंखलाओं के 6वें स्थान पर 'ग्लूटामिक अम्ल' का 'वेलाइन' के द्वारा प्रतिस्थापन हो जाता है। यह विभेदक अफ्रीकी लोगों में विशेष रुप से पाया जाता है। इससे व्यक्ति की मलेरिया रोग के प्रति प्रतिरोधी क्षमता बढ़ जाती है। यह लक्षण दक्षिणी भारत में देखा गया है। इसे 'हंसियाकार कोशिका लक्षण' (Sickle cell Trait) भी कहते हैं। जब दोनों युग्म रुधिर कोशिकाओं में हंसिकार हो जाते हैं तो वह लक्षण न रह करके एक खतरनाक रोग का रुप धारण कर लेता है इसे 'सिक्लीमिया' (Sicklaemia) कहते है।

Hbc: इसमें B श्रंखला के 6ठवें स्थान पर 'लीसाइन' (Lysine) का स्थान ग्लूटामाइन अम्ल ले लेता है। यह विभेदक 'इलेक्ट्रोफोरेसिस' (Electrophoresis) की क्रिया करने से Hbs की अपेक्षा अत्यन्त धीमी गति से अपना 'बंध' या चिन्ह (Band) संचालित हो करेक प्रदर्शित करता है। सहयुग्मजी Hbc (Hbc / Hbc) वाला व्यक्ति हल्का 'एनीमिया रोगी' (Anaemia) को रखता है जब कि विषमयुग्मजी Hbc (Hba / Hbc) सामान्य होता है। Hbc लक्षण पश्चिमी अफ्रीकी जनसमूहों में विशेष रुप से पाया जाता है। इसकी सर्वाधिक बारम्बारता (30%) उत्तरी घाना में पायी गयी है। यह रोग / लक्षण 'सिक्लीमियां' से कम खतरंनाक है।

Hb–D: हीमोग्लोबिन D एवं हीमोग्लोबिन – S में 'इलेक्ट्रोफोरेसिस प्रयोग' से भेद स्थापित नहीं हो पाता। लेकिन इससे लाल रुधिर कोशिकायें हासियांकार नहीं होती। इसमें B श्रंखला के 121 वें स्थान का ग्लूटामिक अम्ल ग्लिस (Glyc) से प्रतिस्थापित हो जाता है। यह पंजाबी सिखों एवं गुजरातियों में अधिकतम (1.5%) देखा गया है। इस हीमोग्लोबिन के उपविभेदक विश्व की अन्य जनसंख्याओं जैसे – इबादन (Hb–D Ibadan), बुशमैन (Hb–D Bushman), बाल्टीमोर (Hb–D Baltimore) में अभी जल्दी ही पाये गये हैं।

Hb–E: दक्षिणी पूर्वी एशिया में हीमोग्लोबिन – E प्रकार पाया गया है। यह लक्षण B श्रंखला के 26वें स्थान पर पाया जाने वाला ग्लूटामिक अम्ल, लाइसिन (Lysine) से प्रतिस्थापित होने के पश्चात् बना है।

10. थैलासीमिया (Thalassaemia) :

मानव विकास के दौरान हीमोग्लोबिन की श्रंखलायें भ्रूणावस्था से युवावस्था तक बदलती रहती है। सामान्य प्रौढ़ हीमोग्लोबिन प्रकार (Hb–A) में दो d श्रंखलायें एवं दो β श्रंखलायें होती हैं। थैलासीमिया लक्षण तब देखा जाता है जब 'd' अथवा β श्रंखला के संलेषण में विसंगति हो जाती है। d श्रंखला की विसंगति को d थैलासीमिया तथा B श्रंखला की इस विसंगति को β थैलासीमिया कहते हैं।

β–थैलासीमिया दो प्रकार की होती है : मेजर (Major) एवं माइनर (Miner)। पहला लक्षण समयुग्मजी स्थिति (जब दोनों β श्रंखलाओं में संश्लेषणात्मक विसंगति पायी जाती) में प्रकट होता है तथा दूसरा लक्षण विषमयुग्मजी स्थित को कहा जाता है। d श्रंखला की विसंगति (d थैलासीमिया) में लाल रुधिर कोशिकाओं की बाहरी परत (Membrane) फट जाती है जिससे एनीमिया रोग उत्पन्न हो जाता है। इसे कूले एनीमिया (Cooley's anaemia) भी कहते है। यह दोनों प्रकार के थैलोसीमिया लक्षण मुख्यतः अमेरिका के कुछ भाग, भारत, दक्षिणी पूर्णी एशिया, न्यूगिनी, प्रशान्त महासागरीय द्वीप समूह में देखा गया है।

11. ग्लूकोज – 6 – फास्फेट डिहाइड्रोजिनेज (G – 6 PD) :

इस लक्षण को संक्षेप में जी 6– पीडी (G–6 PD) कहते हैं। यह लाल रक्त कोशिकाओं में पाया जाता है। जब लाल रक्त कोशिका की बाहरी सतह को तोड़ा जाय तो हीमोग्लोबिन के साथ लगभग प्रोटीन का 5% भाग विशेष कार्य करने वाले इंजाइमों या उत्प्रेरकों (Enzymes) का होता है। इन्हीं एजाइमों में से एक 'जी – 6 पी डी' (G–6PD) होता है।

इन एन्जाइमों का प्रायः कार्य एक जैसा होता है लेकिन वे रचना में भिन्न होते है तो इन्हें– 'आइसो इन्जाइम'(Isoenzyme) या 'आइसोजाइम' (Isozyme) कहते हैं। 'जी–6 पी डी' (G–6PD) एक प्रकार का 'आइसोजाइम' है। यहआइसोजाइम ग्लूकोज–6 फास्फेट को 6–फास्फो–ग्लूकोनेट में परिवर्तित करता हुआ अन्ततः पेंटोज – 6 फास्फेट के रुप में बन जाता है :

G–6 PD PGD

G 6P--------------- 6 फास्फोग्लूकोनेट--------------- पेंटोज 5–फास्फेट

कुछ लोगों में यह एजाइम नहीं पाया जाता जिससे लाल रुधिर कोशिका नष्ट हो जाती है। G–6 PD की क्षीणता से उत्पन्न रोग की खोज उस समय हुई जब अफ्रीकी एवं एशियायी मूल के कुछ अमेरिकाई लोगों का उपचार मलेरिया को रोकने वाली औषधि – प्राइमाक्वीन (Primagueen) से किया गया। इस उपचार से इन लोगों के रुधिर में लालकणिकायें मंद गति से फटने लगी। अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि इन लोगों में G– 6 PD क्षीणता थी। यह अनुमानित किया गया कि इन लोगो में G–6 PD अत्यन्त निम्न मात्रा में विद्यमान है इसके फलस्वरुप हीमोलिसिस या रुधिर संलयता मंद गति से आरम्भ हो गयी थी। इस अवस्था का 'फाविज्म' या 'विसिया फावा' (Favism or Vicia Fara) भी कहते हैं।

G–6 PD क्षीणता एक X– सहलग्न लक्षण के रुप में वंशागत होता है। यह अपूर्णरुप से प्रबल वंशागति का अनुसरण करता है। वे स्त्रियां जो कि इस लक्षण के लिए स्पष्ट रुप से समयुग्मजी होती है, उनमें क्षीणता उतनी ही होती है जितनी कि पुरुषों में होती है। इस क्षीणता का वितरण 'फैलनीपेरम मलेरिया' के साथ देखा गया है। यह क्षीणता का अफ्रीका के विषुवत रेखीय कुछ देशों, भूमध्य सागरीय ऐशियायी देश, भारत, वर्मा, थाइलैण्ड, जावा, बोनियो, सुमात्रा, इण्डोनेशिया, मलपेशिया तथा प्रशान्त महासागरीय प्रदेशों में देखी गयी है। दक्षिणी चीन के 5% लोगों में भी यह क्षीणता पायी जाती है।

इस एंजाइम की बहुरुपता का अनुमान इलेक्ट्रोफोसिस प्रयोग विधि से इसके संचलन की दर के आधार पर किया गया है। इसके सामान्य रुप को [Gd (B^+)] कहते है। इसके अन्य रुप [Gd (B–)] [Gd (A+)]

एवं [Gd (A−)] है। B (−) रुप भारत ग्रीस, भूमध्य सागरी देशों में लगभग 20% अफ्रीकी लोगों में पाया गया है।

12. अम्लीय फास्फटेज एवं फास्फोग्लूकोमुटेज :

लाल रक्त कोशिका अम्ल फारफटेज तीन भिन्न आणविक स्वरुपों में पाया जाता है। प्रत्येक स्वरुप एक अप्रभावशाली अलिंगसूत्री युग्म विकली से नियन्त्रित होता है। इस एजाइम के विविध स्वरुप विद्युत परिपथ (Electric Field) पर स्टार्च जेल के माध्यम से प्राप्त किये जाते है। यह एजाइम कार्बन यौगिकों से फास्फेट समूहों के निष्कासन को उत्प्रेरित करता है।

फास्फोग्लूकोम्यूटेज (PGM) रुधिर संलावित लाल रक्त कणिकाओं पर स्टार्च जेल इलेक्ट्रोफारेसिस की क्रिया करके सरलता से पहचाना जा सकता है। यह ग्लेकोज के साथ पाये जाने वाले कार्बन पर एक फास्फेट समूह के स्थान्तरण की क्रिया को प्रेरित करता है। इसकी तीन पट्टिया − PGM1, PGM2−1 एवं PGM2 का मानव समूहों में भिन्न−भिन्न वितरण पाया गया है।

13. सीरम प्रोटीन :

प्रजातीय अध्ययन में सीरम प्रोटीनों का उपयोग एक नवीन विधि है। इसमें रुधिर सीरम से प्राप्त अनेकों प्रोटीन विशेषकों जैसे − हैप्टोग्लोबिन, ट्रांसफोरेन, अल्ब्यूमिन, समूह विशेषक तत्व, इम्यूनोग्लोबिन आदि का प्रयोग जनसंख्या अध्ययनों में किया जाता है।

(i) **हैप्टोग्लोगबिन** : यह एक सीरम प्रोटीन है जो स्वतन्त्र हीमोग्लोबिन को वृक्क (Liver) तक लाता है जिससे वृक्क हीमोग्लोबिन के 'हीम' (Haem) भाग को तोड़कर पित्त लवण (Bile Salt) एवं बाइलीवर्डिन का निर्माण करता है। शरीर में हैप्टोग्लोबिन सीरम में स्वतन्त्र हीमोग्लोबिन से मिल जाता है जिससे स्वतन्त्र हीमोग्लोबिन वृक्क नलिकाओं में केशिकाओं के जाल से निकल नहीं पाता। इससे वृक्क नलिकायें क्षतिग्रस्त नहीं होती।

स्मिथीज (Smithies) ने सन् 1955 में हैप्टोग्लोबिन के तीन रुपों को प्रदर्शित किया जो निम्न हैं :

(i)	Hp−1−1	जीनी प्ररुप	Hp1 / Hp1
(ii)	Hp 2 −1	"	Hp1 / Hp1
(iii)	Hp 2−2	"	Hp2 / Hp2

अभिरंजित होने के पश्चात् Hp 1−1 एक गहरी पट्टी की भांति प्रदर्शित होता है। Hp 2−2 में कई पट्टियां दिखाई पड़ती है लेकिन Hp 1−1 की भांति जेल (Gel) में दूरी नहीं रखती। Hp 2−1 में Hp 1−1 पट्टी (Band) के समान गतिशीलता की केवल एक ही पट्टी होती है। यह दो युग्मविकल्पियों − Hp1 एवं Hp2 द्वारा वंशागत होते हैं।

अध्ययन यह बताते है कि Hp1 जीन पश्चिमी यूरोप में लगभग 40 प्रतिशत वितरित है। इस जीन की बारम्बारता विषुवत क्षेत्रीय अफ्रीका में अधिकतम (60−70%) पायी गयी है। भारत एवं चीन में इसकी बारम्बारता 10 से 20 प्रतिशत तक घटती बढ़ती रहती है। ओशिनिया में 50 से 60 प्रतिशत, आस्ट्रेलियायी आदिवासियों में 17 प्रतिशत यूरोपीयायीं मूल के आस्ट्रेलियन में 38 प्रतिशत, दक्षिणी अमेरिका में 30−60 प्रतिशत, यूरोपीय उत्पति वाले उसी अमेरिकाइयों में 38−46 प्रतिशत एवं अफ्रीकी मूल के उत्तरी अमेरिकीयों में 50से 60 प्रतिशत पायी गयी है।

(ii) **ट्रांसफेरिन** : ट्रांसफेरिन सीरम के β श्रंखला का एक भाग होता है जो लौह अणुओं (फेरिक आयन−आक्सीकृत लौह) को आंत (Intenstine) में लाल रुधिर कोशिका के टूटने वाले स्थल (Site) से अस्थीय मज्जा (Bone Marrow) तक लाते है। यह प्रोटीन एक महत्वपूर्ण कार्य करता है क्योंकि लौह अणु बहुत सी जैविक प्रक्रियाओं में आवश्यक होता है।

ट्रांसफेरिन के लगभग 20 उपविभेदक (Variants) इलेक्ट्रोफोरसिस क्रिया के द्वारा पहचाने जा चुके हैं। एक मंद विभेदक – TfD1 अफ्रीका, आस्ट्रेलिया एवं न्यूगिनी में सामान्य रुप से पाया जाता है। Tf D chi जो गतिशीलता में लगभग TfD, के समान है यह चीन, दक्षिणी पूर्वी देशों, भारत के आदिवासियों एवं श्रीलंका के वेद्दाओं में पाया जाता है। यह इंगित करते है कि ट्रासफेरिन के सभी विशेषकों में Tf–c की आवृत्ति विश्व में सर्वाधिक है। यह जीन उत्तरी अमेरिकीयों में 90 से 100 प्रतिशत, दक्षिणी अमेरिका में भी 90 से 100 प्रतिशत, यूरोपीयों में 98% भारत में 93 से 100 प्रतिशत, अफ्रीका में 83 से 100%, आस्ट्रेलियन आदिमों में 55 से 84 प्रतिशत, न्यूगिनी में 82 से 91%, ओशीनिया में 97 से 100 प्रतिशत तथा मेडागास्कर में 87 से 90 प्रतिशत वितरित पाया गया है।

(iii) **अल्ब्यूमिन** (Al) : यह एक सीरम प्रोटीन है जो एक गतिशील (anodal) विशेषक है। इसके लगभग 12 प्रकार पाये जा चुके हैं जो मलेशियायी, भारतीय, अफ्रीकी, यूरोपीय एवं न्यूगिनी की जनसंख्या के अध्ययनों पर आधारित है। यह जीन लैब्रोडोर के नैसकापी माँटैग्नैस इंडियन लोगों में 9 से 14 प्रतिशत पाया गया है। यह जीन उत्तरी अमेरिका के जनसमूहों में विशेषतः वितरित है।

(iv) **समूह विशिष्ट अवयव** (Gc) : समूह विशिष्ट अवयव (Group Specefic Component) को संक्षेप में 'Gc' कहते हैं। इसकी खोज 1951 में हिर्सफील्ड ने किया था। स्टार्च जेल इलेक्ट्रोफोरेसिस में Gc प्रोटीन अल्ब्यूमिन की अपेक्षा मंद गति से स्थानान्तरित होते है। इन्हें पहले 'पोस्टअल्ब्यूमिन' भी कहा ज़ाता था।

कई मानवसमूहों में इसकी तीन 'व्यक्तप्ररुप' मिले हैं : Gc 1–1, Gc 2–1 एवं Gc 2–2। यह दो अप्रबल अलिंगसूत्री युग्मविकल्पियों के द्वारा वंशागत होते हैं। इनके तीन जीनी प्ररुप हैं। Gc1/Gc1, Gc2/Gc1 एवं Gc2/Gc2 जीन की आवृत्ति उत्तरी अमेरिका के यूरोप मूल के लोगों में अफ्रीका उत्पत्ति के लोगों की अपेक्षा अधिक है जो क्रमशः 27 एवं 10 प्रतिशत है। यूरोप में यह 12 से लेकर 27 प्रतिशत, एशिया में 19 से 33%, अफ्रीका में 05 से 09 प्रतिशत, तथा आस्ट्रेलिया आदिम समूहों में 04 से 19 प्रतिशत Gc2 जीन की आवृत्ति देखी गयी है।

इम्युनोग्लोविन (Ig) :

इम्यूनोग्लोबिन एक 'ह्यूमोरल एण्टीबाडी' (Humoral antibodies) हैं जो 'β– लिम्फोसाइट' रुधिर कोशिकाओं के द्वारा बनाये जाते है जब कोई विदेशी अथवा वाह्य तत्व शरीर से प्रवेश करता है। इस प्रकार यह शरीर की प्रतिरोधी शक्ति का वर्धन करते है। ये पांच प्रकार के होते हैं : Ig G] IaA] IgM] IgD एवं IgE। इन विभेदकों का प्रजातीय अध्ययन में उपयोग किया जाने लगा है।

स्रावक लक्षण (Secetor Factor) :

यह पाया गया है कि AB जीन (रक्त समूह जैसा तत्व) लार, आमाशय रस, मूत्र आदि भी स्थित होते हैं। जिन मनुष्यों की लार में यह जीन पाये जाते है उन्हें (Secretor) एवं जिनमें नहीं होते है उन्हें अस्रावक (Non–Secretor) कहते है। यह दो युग्मविकल्पियों द्वारा वंशागत होता है। स्रावक जीन – S प्रबल एवं अस्रावक जीन – s अप्रबल होता है। इसके तीन जीनी प्ररुप पाये जाते है :

(i) SS (स्रावक)

(ii) Ss (स्रावक)

(iii) ss (अस्रावक)

अध्ययन यह संकेत देते हैं कि काकेसॉयडो में स्रावक – S की आवृत्ति सर्वाधिक नीग्रायड में इसकी आवृत्ति न्यूनतम होती है। नीग्रायड में अस्रावक जीन – s की बारम्बारता अधिक पायी जाती है। मंगोलायड में इन दोनों युग्म विकल्पियों की स्थित मध्यवर्ती है।

स्वाद क्षमता (Tasting Ability) :

कुछ मनुष्यों में एक कार्बनिक यौगिक – 'फिनाइल–थायो–कार्बायाइड' (Phenyl–Thio–carbamide) अथवा P.T.C. को चखने की जन्मजात क्षमता पायी जाती है तथा कुछ पूर्णतः अक्षम होते हैं। जो व्यक्ति इस रसायन के घोल को चखने में सक्षम होते है उन्हें स्वादक (Taster) कहते है। इसके विपरीत सक्षम व्यक्तियों को 'अस्वादक' (Non–Taster) कहा जाता है यह स्वादक एवं अस्वादक क्षमता क्रमशः दो युग्म विकल्पियों T एवं t द्वारा नियन्त्रित होती है। स्वादक जीन – T प्रबल एवं अस्वादक जीन – s अप्रबल होता है। इसके तीन जीनी प्रकार होते हैं :

(i) TT (स्वादक)

(ii) Tt (स्वादक)

(iii) tt (अस्वादक)

अध्ययनों से यह पाया गया है कि काकेसायडों में स्वादक जीन – T उच्च आवृत्ति अधिक होती है। मंगोलॉयड इन जीनों के लिए मध्यवर्ती स्थित प्रदर्शित करते हैं।

उपरोक्त आनुवंशिक लक्षणों के अतिरिक्त अन्य लक्षणों जैसे – वर्णान्धिता, कर्ण–खण्ड, मिडफैलेंजियल बाल, हाइपरट्रॉइकासिस, डार्विन्स ट्यूबरकल आदि का भी प्रजातीय वर्गीकरण में उपयोग किया जाता है।

गुणसूत्रीय विविधता (Chromosomal Variation) :

मानव जनसंख्याओं के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि गुणसूत्र – y एक जन समूह से दूसरे जन समूह तक अपनी लम्बाई में परिवर्तित होता है। यह कभी–कभी अधिक लम्बे आकार का होने से G – समूह (13–15 गुणसूत्र) का सदस्य प्रतीत होता है तथा कभी–कभी इतना छोटा होता है कि 'एक्रोसेंट्रिक' गुणसूत्र प्रतीत होता है। यह विभेद सम्भवः Q रंजक हिटरोक्रोमैटिन की अविक मात्रा लम्बी भुजा के बाहरी क्षेत्र में हाने से प्रकट होता है। जापान के लोगों में यह गुण्सूत्र अपेक्षाकृत लम्बा एवं आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों में छोटे आकार का पाया गया है। इस प्रकार का Q पटटी विभेद (Q – Band Variation) गुणसूत्र – 3 में भी देखा गया है।

डी एन ए बहुरुपता (D N A Polymorphism) :

प्रतिबन्ध एन्जाइमों (Restriction Enzymes) के प्रयोग से डी० एन० ए० (DNA) में कई उपविभेदक पाये गये हैं जैसे – RFLPs, VNTR, CA–repeat आदि।

डी० एन० ए० विशेषक – RFLPs एक महत्वपूर्ण एंजाइम प्रतिबन्ध के प्रयोग के फलस्वरुप उत्पन्न हुआ है।यह 'रेस्ट्रिक्शन इण्डोन्यूक्लीज़ एंजाइम' (Restriction Endonuclease Enzyme)डी० एन० ए० स्तर पर अभूतपूर्व भिन्नता प्रदर्शित करता है। Hpal एन्जाइम के प्रयोग से B ग्लोबिन जीन पर उपस्थित GTTAAC अनुक्रम से 7.6 kb (Kilobase : 1 kb = 1000 Basepair) लम्बा खण्ड उत्पन्न हुआ। GTTAAC से GCTAAC उत्परिवर्तन के मध्य तक खण्ड स्थल छूट जाने से दूसरे DNA खण्ड की लम्बाई 13.0 Kb पायी गयी। एक और उत्परिवर्तन से एक अतिरिक्त खण्ड स्थल पाया गया जिससे DNA खण्ड की लम्बाई 7 Kb पाई गयी। इनमें 7.6 Kb लम्बा RFLPs कीनिया, सऊदी अरब एवं भारत के हसियांकार जीन सम्बद्ध RFLPs की लम्बाई 13 Kb है।

इसी प्रकार Bam–H एन्जाइम भी भिन्न प्रकार के DNA खण्ड उत्पन्न करते है। इन एन्जाइमों के प्रयोग से यह अनुमान किया गया है कि RFLPs की संख्या 85 न्यूक्लोटाइडो में। प्रतिबन्ध एन्जाइम स्थल से लेकर 500 न्यूक्लोटाइडों में। प्रतिबन्ध एन्जाइम स्थल तक परिवर्तित हो सकती है। 85 – न्यूक्लोटाइडों से बना DNA खण्ड – RFLPs की लम्बाई न्यूनतम एवं 500 न्यूक्लोटाइडों से बने DNA खण्ड की लम्बाई

अधिकतम होगी। 85–500 न्यूक्लोटाइडों के मध्य कितने RFLPs होंगे, इसका उत्तर तो आगामी अध्ययन ही दे सकेंगे।यद्यपि यह निश्चित है कि इस प्रकार के मानव जीनोम (Genome) में याद्दच्छिक रुप से (Randomly) घटित नहीं होते हैं।

डी एन ए – VNTR (Variable Number Tendem Repeat) डी एन ए के 'मिनीसैटलाइट' (Minisattelite) में पाये जाते हैं। डी एन ए 'मिनी सैटेलाइट इसके पुनः घटित होने वाले अनुक्रम के क्षेत्र हैं। यह डी एन ए सैटेलाइट से भिन्न होते हैं। यह सामान्य क्षार युग्म (Base pair) की केवलं छोटी लम्बाई वाले होते हैं। इनमें सदैव समानता नहीं होती। इनकी लम्बाई परिवर्तित होती रहती है। एक परिवार के परीक्षण में 16 क्षार केन्द्रीय अनुक्रम (Base Core Repeat) के आसपास के 29 अनुक्रम एक वंशावली के 54 सदस्यों में नहीं पाये गये। इस आधार पर अब जनसंख्याओं की तुलना भी की जा रही है।

माइटोकांड्रियल DNA लगभग 16.5 Kb लम्बे निकटवर्ती वृत्त के समान दिखाई पड़ते हैं। प्रतिबंध इण्डोन्यूक्लीज एन्जाइम के प्रयोग से यह देखा गया कि ये DNA व्यक्ति में एकरुपता प्रदर्शित नहीं करते। केवल 112 व्यक्तियों में ही 12 प्रतिबंध इण्डो न्यूक्लीजों के द्वारा 163 प्रकार की DNA बहुरुपता पायी गयी। इसके प्रयोग से कुछ प्रजातीय समस्याओं के समाधान तलाशे जा सकते हैं।

***

23

विश्व की प्रजातियाँ

सम्पूर्ण विश्व की जीवित मानव जनसंख्या को अनेक मानव समूहों अथवा नृजाति समूहों (Ethnic groups) अथवा प्रजातियों (Races) में आकारिक एवं आनुवंशिक लक्षणों के आधार पर विभक्त किया गया है। मानव समुदाय को भिन्न-भिन्न प्रजातियों में विभक्त करने का प्रयास ईसा पूर्व से ही किया जाता रहा है। 200 वर्ष ईसा पूर्व चीन देशवासियों को त्वचीय रंगों के आधार पर पाँच समूहों– पीतवैंगनी, पीताभ, देहवर्ण, श्वेत, श्याम में बाँटा गया। ईसा पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी में फ्रैंक्वाय वर्नियर (Francois Bernier 1625 – 1688) ने सम्पूर्ण विश्व के मानवों को चार भांगों में बांटा। लिनायस (Linnaeus) ने कई शारीरिक लक्षणों को आधार मानकर संसार की चार प्रमुख प्रजातियों यूरोपियन (European), अमरीकन इंडियन (American Indian), एशियाई (Asiatic) एवं अफ्रीकाई (African) में बाँटा।

अठारहवी शताब्दी में सर्वप्रथम ब्लूमेनवाख (Blumenbach) ने व्यवस्थित तरीके से विश्व के मानव समूहों को कई वाह्य शारीरिक एवं कंकालीय लक्षणों के आधार पर पाँच प्रजातियों को माना :

1. काकेशियन (Caucasian)
2. मंगोलियन (Mongolian)
3. इथियोपियन (Ethiopean)
4. अमरीकन (American)
5. मलायन (Malayan)

ब्लूमेनवाख (Blumenbach) के उक्त अध्ययन के पश्चात् 'प्रजाति' मानव विज्ञान के अध्ययन क्षेत्रों कर प्रमुख विषय बन गया। उन्नीसवीं शताब्दी का प्रमुख प्रजातीय अध्ययन हक्सले (Huxley) के द्वारा 1970 में किया गया। इन्होंने मानव जनसंख्याओं को पांच प्रजातियों एवं चौदह उपप्रजातियों में विभाजित किया, जो निम्नलिखित है :

(1) **नीग्रॉयड** (Negroid)	:	बुशमैन, नीग्रो, पापुअन
(2) **आस्ट्रेलॉयड** (Australoid)	:	अस्ट्रेलियन, द्रविडियन, इथियोपियन।
(3) **मंगोलॉयड** (Mongoloid)	:	मंगोलियन, पालीनेशियन, अमेरिडियन, एस्कीमों तथा मलायन।
(4) **जैनटोरियाड** (Xantoriod)	:	उत्तरी यूरीपियन
(5) **मेलैनोक्रायडड** (Melancroid)	:	दक्षिण यूरोप के मेलैनोक्रायड, एशियाई मेलैनोक्रायड, अरब, अफगान, हिन्दू आदि।

बीसवीं शताब्दी में डिक्सन (Dixon) ने तीन आकारिक सूचकांको (Indices) – क्षैतिज शीर्ष देशना (Horizontal Head Index), लम्बाई–चौड़ाई देशना (length–breadth Index) तथा नासिका सूचकांक (Nasal Index) का प्रजातीय वर्गीकरण का आधार माना। हैडन (Haddon) ने वाह्य आकारिक लक्षणों – बालों की रचना (Hair Texture), शरीर वजन (Weight), शीर्ष सूचकांक (Head Index) नासिका सूचकांक (Nasal Index) के आधार पर संसार की प्रजातियों के वर्गीकरण का आधार माना। 1931 में हूटन (Hootan) ने विश्व की मानव जनसंख्या को तीन प्राथमिक एवं 6 मिश्रित प्रजातियों में विभक्त किया। इन्होंने 1947 में इसे निम्न प्रकार से संशोधित किया :

1. श्वेत (White) – इसमें 6 उपप्रजातियों 6 मेडीटेरियन (Mediterraneam) आइनू (Ainu), केल्टिक (Keltic), नार्डिक (Nordic) अल्पाइन (Alpine) तथा पूर्वी वाल्टिक (East Baltic) तथा 2 संयुक्त प्रजातियों : आर्मीन्वॉयड (Armenoid) तथा डाइनेरिक (Dinaric) को सम्मलित किया।

2. नीग्रॉयड(Negroid) – इस प्राथमिक प्रजाति को तीन उपप्रजातियों में विभक्त किया : अफ्रीकन नीग्रो (African Negro) नाइलोटिक नीग्रो (Nilotic Negro) तथा नीग्रिटो (Nerito) या पिग्मी (Pigmies)।

3. मंगोलॉयड(Mongoloid) – इसे प्राक मंगोलायड (Classic Mongoloid) एवं आर्कटिक मंगोलॉयड (Arctic Mongoloid) उपप्रजातियों में विभक्त किया गया।

4. मिश्रित प्रजातियां : इसे तीन वर्गों में पुनः वर्गीकृत किया गया।
   (i) बहुल श्वेताभ (Predominantly white) : आस्ट्रेलियन, इण्डोद्रविडियन, पालीनेशियन।
   (ii) बहुल मंगोलाभ (Predeminatly Mongoloid) अमरीकन इंडियन, इण्डोनेशिन मंगोलॉयड एवं मलयेशियन।
   (iii) बहुल नीग्राभ (Predominantly Negroid) : मलयेशियन पापुअन, ओशेनिक नीग्रायड, बुशमैनहाटेनटाट, तस्मानियन।

उक्त समस्त प्रजातीय वर्गीकरण शारीरिक लक्षणों (Morphological characters) के आधार पर किये गये थे। लेकिन बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जब मानव रुधिरों – A, B, AB एवं O की खोज की गयी तो इन रुधिर वर्गों को मानव जनसंख्याओं के अध्ययन में उपयोग पर मोरैन्ट (Maurant) ने सर्वप्रथम बल दिया। 1925 में ओटेनबर्ग (Ottenberg) ने इन्हीं रुधिर वर्गों के आधार पर संसार के मनुष्यों को 6 प्रजातियों में रखा। सिंदर (Synder, 1926) ने 7 प्रजातीय वर्गों में विभक्त किया। चूंकि ये वर्गीकरण एक ही मानव लक्षण पर आधारित थे, इस लिए इनको अधिक महत्व नहीं दिया गया। सर्वप्रथम वीनर (Wener 1946, 1948) ने रुधिर के अन्य लक्षण–प्ररुपों के आधार पर विश्व की जनसंख्या को 6 वर्गों में विभक्त किया :

(i) काकेसायड (Caucasoid)

(ii) नीग्रायड (Negloid)

(iii) मंगोलायड (Mongoloid)

(iv) एशियाई उपसमूह (Asiatic Sub Groups)

(v) प्रशान्त महासागरीय द्वीपसमूह एवं आस्ट्रेलियन (Pacefic Islands and Australians)

(vi) अमेरिंडियन एवं एस्कीमों (Amerindians and Eskimos)

उक्त प्रजातीय वर्गों में काकेसॉयड समूह में Rh–ve की जीनी बारम्बारता सर्वाधिक, 25% A2 एवं अधिकांश M वर्ग के व्यक्ति पाये गये। द्वितीय प्रजाति में Rh + ve की जीनी बारम्बारता Rh–ve की अपेक्षा

अधिक, A2 रुधिर की बहुलता तथा M वर्ग की बहुलता देखी गयी। तृतीय प्रजाति वर्ग में Rh−ve की जीनी बारम्बारता अत्यन्त तथा A2 उपवर्ग की लगभग अनुपस्थिति पायी गयी है। चतुर्थ प्रजाति के प्रमुख लक्षणों में M वर्ग का बाहुल्य है। पांचवीं प्रजाति – प्रशान्त महासागरीय द्वीप समूह एवं आस्ट्रेलियाई है इनमें प्रमुखतया N वर्ग का बाहुल्य पाया गया है। अमेरिन्डियन तथा एस्कीमों प्रजाति में M रुधिर वर्ग की जीनी बारम्बारता N वर्ग की अपेक्षा अधिक है।

इस प्रकार बीसवीं शदी के अर्धाशं तक प्रजातीय वर्गीकरण के विशेषज्ञों में आम सहमति विकसित न हो सकी। कार्लटन कून (Carlton Coon 1962) ने प्रकार्यत्मक लक्षणों जैसे दांत, जबड़ा, नेत्र गुहा, अधिभ्रू, शरीर प्रकार, त्वचीय रंग, वालों की बनावट वितरण, रचना आदि पर अधिक ब्रल दिया। इन्होंने मानव को निम्न प्रजातियों में बाँटने की चेष्टा की :

1. काकेसॉयड(Caucasoid)
2. मंगोलायड(Mongoloid)
3. आस्ट्रेलायड(Australoid)
4. कार्गायड(Congoid)
5. कैप्वायड(Capoid)

लेकिन इनकी अन्तिम दो प्रजातियों को सर्वमान्यता प्राप्त न हो सकी इसी मध्य डब्ल्यू–सी ब्वायड (W.C. Boyd, 1958) ने वीनर(Weiner 1948) के वर्गीकरण में संशोधन किया जिसे कुछ मानववैज्ञानिकों ने प्रजातीय वर्गीकरण के इतिहास में प्रमुखता दिया है। इन्होंने निम्न संशोधित वर्गीकरण को प्रस्तावित किया प्रमुख भौगोलिक समूह एवं तेरह भौगोलिक उपसमूहों को सम्मिलित किया गया :

(i) यूरोपियनी (European)	:	(i) पूर्व यूरोपियन (Early European), (ii) लैप्स (Lapps), (iii) उत्तरी पश्चिमी यूरोपीय (Northern European), (iv) पूर्वी तथा मध्य यूरोपीय (Eastern & Central European), (v) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)।
(2) अफ्रीकाई (African)	:	(vi) उत्तरी अफ्रीकाई, कांगो, कैप्सियन आदि।
(3) एशियाई (Asian)	:	(vii) एशियाई (Asian Race), (viii) इण्डो–द्रविडियन (Indo−dravidian)।
4. अमेरिकाई (American)	:	(ix) अमेरिकन इंडियन (American Indians) जिसमें एस्कीमों में सम्मिलित की गयी है।
5. प्रशान्त महासागरीय समूह (Pacific Group)	:	(x) इण्डोनेशियन (Indonesian), (xi) मेलानेशियन (Melanesian), (xii) पालीनेशियन (Polynesian)।
6. आस्ट्रेलियाई (Australian)	:	(xiii) आस्ट्रेलियन समूह (Australian Race)।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी प्रमुख प्रजातीय वर्गीकरण या तो आकारिक या आनुवंशिक लक्षणों पर आधारित हैं, अथवा वे किन्हीं विशिष्ट वाह्य शारीरिक लक्षणों का अनुसरण करते हुए किसी भौगोलिक सीमा से परिबद्ध किये गये हैं। लेकिन इन वर्गीकरणों में पारस्परिक अन्तर्विरोध होने से सर्वसम्मत वर्गीकरण का उल्लेख करना अत्यधिक कठिन है। यदि विशेषज्ञ किसी मानव समूह को प्राथमिक प्रजाति मानता है तो दूसरा उसे मिश्रित अथवा उप प्रजाति की श्रेणी में रखता है। इस प्रकार की विजातीयता की अभिवृद्धि से किसी एक प्रजाति के स्थाई शारीरिक एवं आनुवंशिक लक्षणों की परिकल्पना मात्र की जा सकती है, वास्तविक स्वरुप का वर्णन नहीं। प्रजातीय संकरता के बढ़ने किसी भी वर्तमान प्रजाति का जैविक

प्रारुप स्थिर नहीं है। उद्विकास की सूक्ष्म प्रक्रियाओं के इन प्रजातियों के जैविक स्वरुप पर निरन्तर कार्य करते रहने से इनके जैविक लक्षणों में संशोधन सदैव होता रहा है। इसी के फलस्वरुप वर्तमान समय में किसी एक प्रजाति के मौलिक रुप का उल्लेख करना एक दुष्कर कार्य है।

जैविक लक्षणों जैसे त्वचीय रंग बाल का रंग, रुप एवं इसका वितरण, सिर का रुप, शरीर भार एवं कई की समानताओं के आधार पर 1951 में एश्ले मांटेगू (Ashley Montagu 1951) ने विश्व की तीन प्रजातियों को प्राथमिक रुप से माना जिसे अनेकों मानव वैज्ञानिकों ने उचित ठहराया है। ये प्रजातियां निम्नलिखित हैं :

1. काकेसॉयड(Caucasoid)
2. मंगोलॉयड(Mongoloid)
3. नीग्रॉयड(Negroid)

1. कॉकेसॉयड(Caucasoid)

'काकेसॉयड' शब्द का सर्वप्रथम ब्लूमेनवाख(Bluemenbach) ने काकेशश (Caucasus) पर्वत क्षेत्र के रहने वाले मानव समूहों हेतु किया था। इसके पश्चात् इसका प्रयोग यूरोपीय 'गोरे' एवं श्वेत मानव समूहों हेतु भी होने लगा। कुछ मानववैज्ञानिकों ने इसीलिए 'काकेसॉयड' के स्थान पर 'श्वेत' शब्द का प्रयोग किया। कुछ वैज्ञानिक इन दोनों शब्दों को एक दूसरे का पर्यायवाची मानते हैं। लेकिन ये मान्यतायें भ्रामक है। आज काकेसायॅड प्रजाति में 'श्वेत' रंग के मानव समूहों से लेकर गहरे भूरे रंग के मानव समूहों को सम्मिलित किया जाता है। इनके विशिष्ट लक्षण निम्नलिखित हैं :

1. इने सिर के बाल लहरदार होते हैं। ये हल्के सीधे एवं लहरदार से लेकर घुंघरालेपन के मध्य होते हैं। बालों का रंग हल्का भूरा से लेकर गहरे काले भूरे के मध्य पाये जाते हैं। इनका वितरण शरीर के अन्य अंगों एवं मुखमण्डल पर विशेष रुप से होता है।

2. इनकी नासिका पतली होती है। नासिका मूल (Nasal root), तथा सेतु (Bridge) ऊंचे उठे हुए होते हैं। यह संकीर्ण नासा (Leptorrhine) से लेकर मध्यम मध्यम (Mesorrhine) की पायी जाती है।

3. इनकी आंखों का रंग हल्का नीला से लेकर गहरा भूरा तक होता है। यदाकदा आंखों के बाहरी दिशा में अक्ष–पटल मुड़ा होता है।

4. होंठ पतले होते हैं। प्रायः दोनों होंठ पतले से मध्यम प्रकार के पाये गये हैं। निम्न होठ हल्का लटका होता है।

5. गाल की अस्थि उभरी नहीं हैं। मुखमण्डलीय उद्गतहनुता पूर्णतया अनुपस्थित है। ललाट (forehead) उच्च, ठुडडी या चिबुक सुविकसित एवं मध्यम प्रकार की पायी जाती है। इनका मुखमण्डल सकरा, चौड़ा एवं ऊंचा होता है।

6. इनके सिर लम्बे से लेकर चौड़े तक पाये जाते हैं। इनकी ऊंचाई मध्य एवं उच्च प्रकार की होती है।

7. इनकी शारीरिक ऊंचाई प्रायः लम्बी होती है। लेकिन ये लम्बी से मध्यम के बीच परिवर्तित होती रहती है।

उक्त लक्षणों के अतिरिक्त इस प्रजाति के अन्य जैविक एवं आनुवंशिक लक्षण निम्नवत हैं :

–इनकी हथेली का मुख्य रेखा सूत्र (Main Line Formula) 11:9:7 है।

–इनके हाथ की अंगुलियों में प्रायः चक्र (whorl) की आवृत्ति 20–30 शंख (Loops) की आवृत्ति 60–70 एवं चापो (Arehes) की आवृत्ति 4–7 के मध्य पायी गयी है जिससे इनमें 'पैटर्न इंटेसिटी इंडेक्स' (Pattern Intensity Index) अल्पमान रखती है।

–ABO रुधिर वर्ग में A– रुधिर वर्ग की आवृत्ति सर्वाधिक पायी गयी है।

–Rh रूधिर वर्ग में Rh–ve की आवृत्ति अधिक (up to 15%) पायी गयी है।

–इनकी लार (saliva) में ABH स्तर उच्च एवं इनमें 'सिक्रीटर जीन' – S (secretor gene–S) की आवृत्ति अधिक देखी गयी है।

–इनमें स्वादा जीनों (Taster genes) की संख्या अस्वादक की अपेक्षा अधिक है।

इस प्राथमिक प्रजाति को निम्न उपप्रजातियों में विभक्त किया गया है–

1. मेडीटिरेनियन या भूमध्य सागरीय समूह (Mediterranean)
2. नार्डिक (Nordic)
3. एल्पाइन (Alpine)
4. डाइनेरिक (Dinaric)
5. आर्मीनॉयड (Armenoid)
6. पूर्वी वाल्टिक (East Baltic)
7. लैप्स (Lapps)
8. इण्डो–द्रविडियन (Indo–dravidian)
9. केल्टिक (Keltic)
10. पालीनेशियन (Polynesian)
11. पुरा काकेसायड या आस्ट्रेलॉयड (Archae–Caucasoid or Australoid)

1. 'मेडीटिरेनियन' या 'भूमध्यसागरीय' (Mediterranean) :

यह उपप्रजाति मूल रूप से भूमध्य सागर के किनारे पर बसी हुई थी जो आज अंध महासागर (Atlantio Ocean) से भारत तथा अफ्रीका तक विस्तृत हो गयी है। ये लोग मुख्यतः पुर्तगाल, स्पेन, फ्रांस, इटली, यूनान, टर्की, अरब, ईरान, अफगानिस्तान, भारत में पाये जाते हैं। इस उपप्रजाति का एशियायी मंगोलॉयड, अफ्रीकाई नीग्रॉयड एवं श्रीलंकाई वेडडा समूहों से मिश्रण हुआ है जिससे इनके जैविक लक्षणों में कतिपय सूक्ष्म विभेद आये है। इनकी त्वचा श्वेत से गहरे भूरे रंग की, बाल भूरे, गहरे भूले एवं काले रंग के एवं सीधे, हल्के लहरियादार एवं घुंघराले हैं। मुखमण्डल एवं शरीर पर बालों का वितरण पाया जाता है। होठ मध्यम प्रकार के ठोढी विकसित मुखमण्डल अण्डाकार होता है। इनके शरीर का औसत कद 162 सेमी० है। इसे तीन वर्गों में विभक्त किया गया है–

(i) **मूल–भूमध्य सागरीय** (Basic/Classic Mediterranean)– ये मूलरूप से भूमध्य सागर के किनारे पाये जाने वाले देशों जैसे– पुर्तगाल, स्पेन, इटली, मोरक्को तथा मिश्र में विस्तृत है। ये दीर्घ एवं मध्य शिरस्क वाले लोग है। इनकी नासिका सीधी एवं पतली होती है। इनके शरीर का औसत कम 165 सेमी० है। इनका मुखमण्डल ऊँचा, लम्बा, गण्ड अस्थिया चपटी, ठोंढी पैनी होती है।

(ii) **अटलांटिक भूमध्यसागरीय** (Atlanto Mediterranean)– ये जनसमूह पूर्वी अफ्रीका, उत्तरी अफ्रीका, ईराक, पूर्वीवाल्कन, आयरलैण्ड, स्पेन एवं पुर्तगाल अल्पसंख्या में पाये जाते है। लेकिन ईराक, फिलिस्तीन तथा अरब के कुछ भागों में मुख्य रूप से पाये जाते है। इनकी त्वचा गौर एवं श्वेत होती है। इनके बालों का रंग काला तथा इनकी बनावट लहरियादार एवं घुंघराली होती है। ये दीर्घ एवं मध्यम शिरस्क के लोग हैं जिनकी नासिका सीधी, लम्बी एवं ऊनी होती है। इनका मुखमण्डल लम्बा, अध्यक्षि उभार सुविकसित होता है। इनके शरीर का औसत कदम 170 सेमी० तक पायी जाती है। कद के आधार पर ये लोग मध्यम से ऊँचे होते है।

(iii) **ईरानी–अफगान या इण्डो–अफगान** (Irani–Afgan Or Indo–Afgan)– मुख्यतः ये जनसमूह ईरान, अफगानिस्तान, भारत, पाकिस्तान, अरब तथा उत्तरी अफ्रीका में विस्तीर्ण है। इनकी त्वचा का रंग हल्का भूरा श्वेतांग व श्यामल होता है। बाल सीधे–लहरियादार तथा काले–भूरे रंग के होते है। इनकी नेत्रों का रंग काला–भूरा, नासिका संकीर्ण एवं नासिका सेतु सीधा उत्तल होता है। मुखमण्डल लम्बा एवं संकरा होता है। इनका सिर दीर्घ (लम्बा) से मध्यम प्रकार का होता है। इनके शरीर की औसत ऊँचाई मध्यम होती है।

2. नार्डिक (Nordic) :

ये उप प्रजाति अटलांटिक भूमध्यसागरीय जनसमूह के समान प्रतीत होती है। मुख्य रूप से यह मानव समूह स्कैण्डीनेविया, आइजलैण्ड, फीजियन लैण्ड, ब्रिटिश द्वीप समूह, बेल्जियम, नीदरलैण्ड एवं उत्तरी पूर्वी यूरोप (उत्तरी फ्रांस, उत्तरी जर्मनी, स्वीडन, नार्वे) में विस्तृत है। इनकी त्वचा का रंग रक्ताभ या गुलाबी श्वेत (Pinkish White) होता है। इनके केश रक्ताभ–पीले या बहुत कम भूरे या लालपन लिये हुए हल्के लहरदार अथवा घुंघराले होते है। शरीर एवं मुखमण्डल पर बालों का वितरण अल्प होता है। मुखमण्डल लम्बा व पतला तथा भ्रूकटक उठा होता है। नाक सीधी, पतली तथा ठोढी विकसित होती है। ये मध्यशिरस्क सिर वाले होते है लेकिन इनमें कभी–कभी लम्बा सिर भी पाया जाता है। इनके शरीर की औसत ऊँचाई 172 सेमी० होती है। इनकी आँखों का रंग नीला, भूरा अथवा पीला होता है। इनकी गण्डास्थियाँ धंसी हुई होती है। एश्ले मांटेगू के अनुसार, ये भूमध्य सागरीय जनसमूह जैसे समान लक्षणों का प्रतिनिधित्व करने वाली उप प्रजाति भूमध्यसागरीय मूल से सम्भवतः उत्परिवर्तन (Mutation) के फलस्वरूप उत्पन्न हुई।

3. अल्पाइन (Alpine) :

ये उप प्रजाति आल्पस पर्वतीय क्षेत्र के पूर्व बाल्कन, एशिया माइनर, साइबेरिया, रूस (उत्तरी पश्चिमी), मध्य यूरोप में विस्तृत है। ये उत्तर–पश्चिमी में स्थित नार्डिक तथा दक्षिण में स्थित भूमध्य सागरीय जनसमूहों के मध्यम में फैले होने के कारण अपने पड़ोसी जनसमूहों में मिश्रित भी हुए हैं। यह चौड़े एवं गोल एवं ऊँचे सिर वाले है। भ्रूकटक मध्यम एवं विकसित होती है। मुखमण्डल गोल, उभरी एवं चौड़ी नाक एवं विकसित ठोढी होती है। इनके मुखमण्डल में उद्गतहनुता प्रतीत होती है। इनकी त्वचा का रंग हल्का श्वेत अथवा जैतूनी होता है। इनके बाल हल्के भूरे (Chestnut brown) काले–भूरे होते है। बालों का वितरण शरीर एवं मुखमण्डल पर अधिक होता है। इनका शरीर नाटा एवं गठीला होता है। शरीर की औसत ऊँचाई 165 सेमी० पायी गयी है।

4. डाइनेरिक (Dinaric) :

ये जनसमूह पूर्वी स्विटजरलैण्ड में अल्बानिया तक आस्ट्रिया, युगोस्लाविया एवं हंगरी में विस्तृत है। इनका सिर मध्य शिरस्क से औसत लघुशिरस्क होता है। ललाट ढलवा होता है। भ्रूकटक विकसित तथा मुखमण्डल लम्बा होता है। होंठ मध्यम तथा ठोढी विकसित होती है। बाल काले व भूरे तथा इनकी बनावट सीधी व लहरदार होती है। नेत्रों का रंग हल्का भूरा होता है। इनकी त्वचा हल्के रंग की पायी जाती है। इनके शरीर की औसत ऊँचाई 172 सेमी० की पायी जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि डाइनेरिक जनसमूहों में कुछ लक्षण अल्पाइन, अटलांटो–भूमध्य सागरीय एवं ईरानी–अफगान के भी मिश्रित हो गये हैं।

5. आर्मीनॉयड (Armenoid) :

ये जनसमूह आर्मीनिया, टर्की, काला सागर के दक्षिणी पूर्वी क्षेत्रों में केन्द्रित है। इनके कुछ लक्षण डाइनेरिक उप प्रजाति के समान प्रतीत होते है। ये गठीले शरीर वाले जिसका औसत कद 167 सेमी० होता है। भौहे गहरी कभी–कभी भूरी लेकिन मध्य क्षेत्र में संयुक्त होती है। नेत्रों का रंग कत्थई, बालों का रंग भूरा एवं काला–भूरा, बालों की बनावट सीधी एवं लहरदार होती है। गाल की अस्थियाँ एवं होंठ विकसित होते है। नांक लम्बी, उभरी, उत्कीर्ण एवं उत्तल होती है। सिर मध्य शिरस्क से औसत लघुशिरस्क वाला होता है।

6. पूर्वी बाल्टिक (East Baltic) :

ये मूलरूप से बाल्टिक क्षेत्र में बसे हुए है। ये लोग उत्तर पूर्वी जर्मनी, पौलैण्ड, ब्रिटिश द्वीप समूह तथा फिनलैण्ड में पाये जाते है। त्वचा, बाल तथा आँख के रंग में अशक्त रंजकता (Feeble Pigmentation) पायी गयी है। त्वचा का रंग मुख्यतः श्वेत होता है। सिर के बाल भूरे व हल्के काले पाये जाते है। बालों की बनावट सीधी होती है। शरीर पर बालों का वितरण अत्यल्प होता है। आँखों का रंग हल्का नीला होता है। माथा चौड़ा एवं ऊँचा होता है। गण्डास्थियाँ उभरी तथा सिर लघुशिरस्क व पीछे की ओर चपटा होता है।ठोढ़ी व भ्रूकटक विकसित होते है। इन्हें वर्गाकार सिर वाले (Square Headed) भी कहते है।

7. लैप्स (Lapps) :

ये जनसमूह उत्तरी स्कैन्डीनेविया के उच्च भाग, स्वीडन, उत्तरी फिनलैण्ड के टुण्ड्रा तथा नार्वे के कुछ भाग रूस के कोला प्रायद्वीप (Kola Peninsula) आदि भागों में फैले हुए है। ये जंगलों, पहाडियों, नदीं एवं समुद्र के किनारों पर निवास करते है। आरम्भ में इन्हें मंगोलायड भी माना गया था। इनकी आँखे गहरे रंग की अंदर की ओर धसी होती है। यदा कदा मंगोलियन मोड पाया जाता है। बाल गहरे भूरें, काले रंग के होते है। यह सीधे एवं हल्के लहरदार पाये गये है। शरीर एवं मुखमण्डल पर बालों का वितरण कम पाया जाता है। मुखमण्डल चौड़ा एवं गण्डास्थियाँ उभरी होती है। होंठ मध्यम प्रकार के होते है। सिर पतला, आगे निकला तथा लघुशिरस्क प्रकार का होता है। इनकी त्वचा का रंग श्यामल से पाण्डु या पीला तक पाया जाता है। इनके शरीर की औसत ऊँचाई 159 सेमी० आंकी गयी है।

8. इण्डो द्रविडियन या ईरानी-द्रविडियन (Indo-Dravidiyan Or Irano-Dravidiyan) :

ये भारत एवं श्रीलंका में फैले हुए है। प्राथमिक रूप से ये मेडीटेरेनियन है जिनमें प्रोटो आस्ट्रेलायड एवं नीग्रायड के लक्षण मिश्रित है। इनका औसत कद 164 सेमी० है। इनकी त्वचा का रंग हल्का एवं गहरा भूरा पाया गया है। बाल काले तथा हल्के लहरदार एवं घुंघराले है। शंरीर एवं चेहरे पर बालों का वितरण अल्पतम है। नाक सीधी, चौडी तथा उभरी हुई होती है। मुख मण्डल पतला तथा मध्यम ऊँचाई वाला है। सिर दीर्घ एवं लघुशिरस्की होता है। इनका ललाट प्रायः गोलाकार देखा गया है। अधिभ्रू मध्यम रूप से विकसित है।

9. पालीनेशियन (Polynesian) :

हवाई एवं फिजी द्वीप समूह, न्यूजीलैण्ड एवं पांटो आर्चीपालोगो द्वीप के निवासियों को 'पालीनेशियन' नाम से पुकारा जाता है ये लम्बे तथा सुन्दर आकार प्रकार के मानव है। सम्भवतः इन लोगों में भी मंगोलायड एवं नीग्रायड का मिश्रण है। इन लोगों का औसत कद 178 सेमी० है। इनकी त्वचा का रंग हल्का भारी तथा बालों का रंग गहरा भूरा है। ये मुख्य रूप से लघुशिरस्की, ऊँचे सिर वाले लोग है। इनके मुखमण्डल लम्बे व चौड़े होते है। गाल की अस्थियाँ तथा नासिका उत्कीर्ण होती है। नासिका निचले छिद्र के समीप अधिक चौड़ी होती है। इनकी ठोढी विकसित तथा शरीर पर बालों का वितरण कम होता है। इनकी आँखों में यदा कदा मंगोलियन मोड़ पाया जाता है।

10. केल्टिक (Keltic) :

ये जनसमूह आयरलैण्ड, स्कांटलैण्ड, वेल्स तथा इंग्लैण्ड में विस्तृत है। इनकी त्वचा का रंग पीला, श्वेत एवं रक्ताभ होता है। इनके बाल गहरे भूरे से मध्यम एवं हल्के भूरे होते है। नेत्रों का रंग नीला, भूरा, पीला अथवा मिश्रित रंग होता है। इनका मुखमण्डल लम्बा व संकरा होता है। इनकी गण्डास्थियाँ दबी हुई होती है। इनके होंठ मध्यम से मोटे होते हैं। नासिका ऊँची, लम्बी तथा संकरी होती है। इनके बाल लहरदार एवं घुंघराले होते है। इनका शारीरिक कद ऊँचा (178 सेमी० औसत) होता है।

11. पुरा-काकेसॉयड या आस्ट्रेलॉयड (Archaic Caucasoid Or Australoid) :

इस उप प्रजाति को कुछ विद्वान एक पृथक प्रजाति मानते हैं लेकिन शारीरिक समानताओं के आधार

पर एश्ले मांटेगू (1952) ने इन्हें कॉकेसॉयड की एक शाखा माना है। इन्हें चार उपभागों में विभक्त किया गया है–

(i) आस्ट्रेलियन आदिम जाति (Australian Aboriginiese)

(ii) बेडडा (Vedda)

(iii) पूर्व–द्रविडियन (Pre–Dravidian)

(iv) ऐनू (Ainu)

(i) आस्ट्रेलियन आदिम जाति (Australian Aboriginese) :

जीवित मानव समूहों में ये लोग सर्वाधिक प्राचीन माने जाते है। इनकी त्वचा रक्ताभ एवं चाकलेटी भूरी होती है। इनका सिर दीर्घ शिरस्की तथा ललाट आगे की ओर उभरा होता है। भ्रूकटक विकसित तथा मुखमण्डल छोटा होता है। नाक चौड़ी तथा नासिका मूल दबा हुआ होता है। होठ मोटे, काले लम्बे व बडे होते है। मुखमण्डल उद्गत एवं मध्यम होता है। सिर के बाल हल्के भूरे से काले तथा सीधे–लहरदार होते है। इनका औसत कद 165 सेमी० पाया गया है। इनका विकास सम्भवतः नीग्रायड एवं महासागरीय समूहों के मिश्रण के फलस्वरूप हुआ।

(ii) वेडडा (Vedda) :

ये छोटा जनसमूह श्रीलंका में बसा हुआ है। इनका शारीरिक कद छोटा (152 सेमी० औसत) होता है। सिर के बाल कोमल, लहरदार तथा यदा–कदा कटीले आकार के होते हैं। इनका रंग श्याम एवं लालिम होता है। चेहरे एवं शरीर के अन्य अंगों पर बहुत कम बालों का वितरण होता है। ये बहुत की कम एवं भूरे रंग के बाल जिन्हें लेनूगो (Lanugo) के नाम से भी जानते है। इनके सिर का आकार छोटा है लेकिन यह दीर्घ शिरस्क (Dolichocephalic) प्रकार का होता है। ढलवा माथा, होंठ मध्यम एवं नासिका मूल दबी हुई होती है। इनके कपालीय लक्षण आस्ट्रेलियन आदिम जनसमूह, बुशमैन एवं पूर्वद्रविडियन के समान प्रतीत होते है।

(iii) पूर्व द्रविडियन (Pre–Dravidian) :

ये जनसमूह भारत में फैला हुआ है जो यहाँ का सर्वाधिक प्राचीन एवं आदिम मानव समूह है। इनके शारीरिक लक्षण यह इंगित करते है कि ये लोग प्रोटोआस्ट्रेलॉयड एवं नीग्रिटो समूहों से मिश्रित हुए है। इनके शरीर की औसत ऊँचाई 157 सेमी० है। इनका माथा ढलवा, लम्बा सिर (दीर्घ शिरस्क) निम्न मुखमण्डल उद्गत तथा नाक चौड़ी एवं चपटी होती है। होठ मध्यम एवं मोटे होते है। बाल काले, भूरे लहरदार एवं घुंघराले होते है। शरीर पर बालों का वितरण कम होता है। इन जनसमूह में कई आदिम जनजातियों जैसे– कादर (Kadar), कुरुम्बा (Kurumba) पनियन (Paniyen) एवं इरुला (Irula) दक्षिण भारत की भील, गोंड, कंध ओरांध तथा कोलैरियन पूर्वी (मध्य भारत के) सम्मिलित की गयी है। इनका औसत कद 148 सेमी० त्वचा का रंग पीताभ एवं गहरा भूरा सिर मध्य शिरस्क, नाक चौड़ी तथा चपटी होती है। इनके होंठ मध्यम एवं सिर के बाल, काले, लहरदार तथा घुंघराले होते हैं।

(iv) आयनू (Ainu) :

ये लोग पाषाणकाल से जापान में निवास करते है। मंगोलॉयड प्रजाति के फैलने से यह जनसमूह होकैडो (Hokkaido) एवं सखालीन (Sakhalin) द्वीपों में सीमित हो गये।पुरुष वर्ग में सर्वाधिक बाल पाये जाते है।इसलिये इन्हें बालदार आयनू (Hairy Ainu) भी कहते है। बाल लहरदार गाढ़े भूरे या काले होते है। इनके मुख्य लक्षणों में मध्यम शिरस्की सिर, पतले होंठ, विकसित निम्न जबड़ा तथा ठोढी, बडा भ्रूकटक, दबी नासिका मूल, बडे आकार की नासिका रंध्र एवं छोटे आकार का मुखमण्डल हैं। इनके त्वचा का रंग भूरा एवं सफेद तथा औसत शारीरिक कद छोटा होता है।

2. मंगोलॉयड(Mongoloid)

यह विशाल जनसंख्या वाली प्रजाति चीन, जापा, वर्मा, थाइलैण्ड, फिलीपाइंस, मलेशिया, ईस्टइण्डीज आदि उत्तरी–दक्षिण पूर्वी एशियायी क्षेत्र तथा अमेरिका में फैली हुई है। कुछ मानव वैज्ञानिक जैसे वाइडेनरीख (Weidenreich) इन्हें सिनैन्थ्रापस का वंशज मानते है। इनके प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं–

1. इनकी शारीरिक लम्बाई मध्यम (166 सेमी० औसत) होती है।

2. इनका सिर अधिकांशतया चौड़ा एवं लघु शिरस्क होता है लेकिन मध्य एवं दीर्घ शिरस्क प्रकार के लोग भी पाये जाते है। सिर का पश्चभाग उभरा होता है।

3. इनकी त्वचा प्रायः केसरिया से पीले–भूरे रंग की होती है।

4. माथा मध्यम व गोल, चेहरा चपटा एवं गण्डास्थियाँ उभरी होती है।

5. होंठ मोटे एवं मध्यम तथा ठोढ़ी उभरी होती है।

6. इनकी नाक चपटी, चौड़ी, छोटी तथा नासिका मूल अधिक नीचा होता है।

7. कुछ लोगों (10 %) में कृन्तक दांत फावड़ा (Shovel Shaped) का पीछे की ओर मुडा होता है। ऊपरी जबडा निम्न जबड़े की तुलना में आगे की ओर प्रवृत्त प्रतीत होता है।

8. इनका विशिष्ट लक्षण आँख पर पूर्ण या आधा मंगोलियन फोल्ड (Mogolian Or epicanthic Fold) है।

9. इनके सिर के बाल काले, रुखे एवं सीधे होते हैं। शरीर के अन्य भागों में बालों की मात्रा बहुत कम होती है।

उक्त लक्षणों के अतिरिक्त निम्न जैविक लक्षण इनमें पाये गये हैं–

(i) इनकी हथेली की मुख्य रेखाओं का सूत्र (Main Line Formula) मयबयप है।

(ii) इनकी हथेली की रेखायें (Ridge) लम्बवत् होती है जो मुख्य रेखा देशना (Main Line Index) के द्वारा इंगित होता है।

(iii) इनकी अंगुलियों में चक्र की संख्या अन्य प्रजातियों की अपेक्षा सर्वाधिक (40–50) एवं चापों की संख्या अन्य समूहों की अपेक्षा न्यूनतम (1–2) होती है। इसलिये इनमें पैटर्न इंटेंसिटी इंडेक्स का मान सर्वोच्च होता है।

(iv) ABO रुधिर वर्गों में B– वर्ग की आवृत्ति तथा Rh रुधिर प्रणाल में Rh–ve अत्यल्प (0.5–1.5 %) होता है।

(v) ABH जीन स्तर में S एवं s जीनों की मध्यवर्ती स्थिति होती है।

(vi) स्वादक एवं अस्वादक क्षमता के जीन T एवं t की आवृत्ति भी मध्यवर्ती स्थिति प्रदर्शित करती है।

एश्ले माटेगू ने इन्हें **चार भागों** में विभक्त किया–

(i) मध्य या प्राचीन मंगोलॉयड (Central Or Classical Mongoloid)

(ii) उत्तरी अथवा ध्रुवीय मंगोलॉयड (Northern Or Arctic Mongoloid)

(iii) अमेरिकन इंडियन (American Indian)

(iv) दक्षिणी अथवा इण्डोमलॉयन (The Southern Or ClassicalMonogoloid)

(i) मध्य या प्राचीन मंगोलॉयड (Central Or Classical Mongoloid) :

यह उप प्रजाति पूर्वी साइबेरिया, मंगोलिया, उत्तरी चीन, तिब्बत आदि क्षेत्रों में फैली है। इनका

सिर चौड़ा होता है। इनके सिर की देशना 85.0 (दीर्घ) होती है। इनमें मंगोलॉयड मोड सदैव पाया जाता है। शेष लक्षण पूर्वमुक्त वर्णन के अनुसार पाये जाते है। ये लक्षण इन स्थलों की अनेकों जनजातियों जैसे– गिलयक, कलमक, गोल्डी, कोरयक आदि में पाये जाते है।

(ii) उत्तरी अथवा ध्रुवीय (Northern Arctic Mongoloid) :

इन्हें एस्कीमॉयड(Eskinoid) के नाम से भी जाना जाता है। यह जनसमूह उत्तरी अमेरिका के आर्कटिक तटीय क्षेत्रों, ग्रीन लैण्ड, लैब्रोडोर, पश्चिमी अलास्का एवं उत्तरी साइबेरिया में विस्तृत है। ये मध्यम शारीरिक कद (162–165 सेमी०) को प्रदर्शित करते है। इनका सिर लघुशिरस्क (Brachycephalic) होता है। लेकिन ध्रुवीय एवं ग्रीनलैण्ड के एस्कीमों मध्यशिरस्क होते है। इनमें सम्पूर्ण मंगोलॉयड मोड़ पाया जाता है। इनके हाथ–पैर छोटे तथा धड़ लम्बा तथा टांगे अनुपात में छोटी होती है। शेष सामान्य लक्षणों का वर्णन पूर्वोक्त किया जा चुका है।

(iii) अमेरिकन इंडियन (American Indian) :

इन्हें अमेरिडियन (Amerindian) भी कहते हैं। इनकी त्वचा पीली, भूरी एवं लाल भूरी होती है। इनके होठ पतले से मध्यम होते है। आँखों का रंग मध्यम से गाढ़ा भूरा होता है। इनमें सम्पूर्ण मंगोलॉयड फोल्ड (Mongoloid Fold) नहीं होता। लेकिन अन्तः एपीकैंथिक मोड (Internal Epicanthic Fold) स्त्रियों में वाह्य एपीकैंथिक मोड़ (External Epicanthic Fold) पुरुषों में अधिकांशतया देखा गया है। सिर मध्यम तथा चेहरा चौड़े प्रकार का होता है।

(iv) इण्डो–मलायन (Indo–Malayan) :

इन्हें ओशेनिक मंगोलॉयड (Oceanic Mongoloid) भी कहा जाता है। इनका विस्तार दक्षिणी पूर्वी एशियायी क्षेत्रों– इण्डोनेशिया, दक्षिणी चीन, इण्डोचीन, भारत के उत्तरी पूर्वी हिमालयन क्षेत्रों, वर्मा, थाइलैण्ड, मलय आदि फिलीपांइस, जापान आदि में हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें काकेसॉयड एवं नीग्रॉयड लक्षणों का मिश्रण हुआ है। इनका सिर प्रायः मध्य से दीर्घ शिरस्क होता है। इनकी नाक प्रायः पतली तथा ऊँची होती है। इनमें पूर्ण एवं वाह्य मंगोलियन फोल्ड सर्वाधिक पाया जाता है। इनके बाल सीधे एवं लहरदार होते हैं। ये प्रायः नाटे एवं गठीले शरीर वाले होते है। शेष लक्षण सामान्य मंगोलॉयड के सदृश होते हैं।

3. नीग्रायड(Negroid)

इस मानव समूह के लोग मुख्यतः अफ्रीका महाद्वीप एवं उसके आस–पास के क्षेत्रों में फैले हुए हैं। यह मुख्यतया अफ्रीकी देशों, एशियायी विश्वतरेखीय प्रदेशों (मलाया, ओशेनिया, मेलानेशिया भारतीय द्वीपों, सुमात्रा, फिलीपाइंस, न्यूगिनी, आदि) आस्ट्रेलिया, नीदरलैण्ड, वेस्टइण्डीज आदि भागों में निवास करते है। उत्तरी अमेरिकी में भी नीग्रायड समूह के लोग पाये जाते हैं जिन्हें कई मानव वैज्ञानिक नीग्रॉयड प्रजाति से भिन्न मानते है क्योंकि वातावरण परिवर्तन एवं कुछ मिश्रण के कारण इनके शारीरिक लक्षणों में अफ्रीकी नीग्रो से कुछ भिन्नता आ गयी है। नीग्रायड जनसमूह की जैविक विशिष्टतायें निम्नलिखित हैं–

1. इनके सिर के बाल रुखे ऊनी, फ्रिजली, एवं काले रंग के होते है।

2. इनकी त्वचा गहरे कत्थई से काले रंग की पाई जाती है।

3. इनकी आँखों का रंग गहरा भूरा एवं काला पाया जाता है। अधिभ्रू अथवा भ्रूकटक क्षेत्र अधिक उभरा नहीं होता।

4. इनके कान छोटे लेकिन चौड़े जिनकी कुण्डली संकरी एवं घुमावदार होती है।

5. इनकी नासिका मूल चौड़ी एवं दबी, अन्तिम सिरे पर मोटी तथा सेतु उन्नतोदर होता है। नासिका चौड़ी एवं नासिका देशना का मान 85 % है।

6. ऊपरी होंठ उन्नतोदर, मध्यम एवं मोटे, निम्न होठ–मोटे होते है। इनमें होंठ मोड (Lip eversion) पाया जाता है।

7. इनका ललाट गोल, मुखमण्डलीय उद्गतहनुता तथा गण्डास्थियाँ उभरी एवं ठोढी कम उन्नत होती है।

8. इनका सिर दीर्घशिरस्क होता है।

9. इनका मुख मध्यम, सकरा एवं चौड़ा एवं उच्च होता है।

10. इनका शारीरिक कद छोटे से लेकर ऊँचा तक होता है।

उक्त लक्षणों के अतिरिक्त अन्य जैविक विशिष्टतायें निम्नवत् हैं–

इनकी हथेली में मुख्य रेखा सूत्र (Main Line Index) 7:5:5 है।

इनकी हथेली की रेखाये (Ridges) लम्बवत् प्रकार की होती है जो मुख्य रेखा-देशना (Main line Index) से ज्ञात होता है।

इनमें अन्य प्राथमिक प्रजाति की अपेक्षा चाप (Arches) की आवृत्ति सर्वाधिक (6–7) पायी गयी है। शंख एवं चक्र की आवृत्तियाँ क्रमशः 50–60 एवं 30.0 है जो मध्यवर्ती स्थित प्रदर्शित करती हैं।

ABO रुधिर वर्गों में O की आवृत्ति अधिक पायी जाती है। Rh रुधिर प्रणाली में Rh–ve जीन की आवृत्ति 5–8 % पायी गयी है जो अन्य प्रजातियों की तुलना में मध्यवर्ती स्थित बताती हैं।

ABH स्तर में सिक्रीटर जीन –S की आवृत्ति मध्यवर्ती पायी गयी है।

अस्वादक जीन –t की आवृत्ति इनमें सर्वाधिक पायी गयी है।

एश्ले मांटेशू ने नीग्रायड प्रजाति को **दो उपभोगों** में विभक्त किया है–

1. अफ्रीकन नीग्रॉयड (African Negroid)
2. ओशीनिक नीग्रॉयड (Oceanic Negroid)

1. अफ्रीकन नीग्रॉयड (African Negroid) :

अफ्रीका के दक्षिणी, दक्षिण–पूर्वी, दक्षिण–पश्चिमी एवं मध्यवर्ती क्षेत्रों में इस प्रजाति के लोग विस्तृत है। इस महाद्वीप के उत्तरी एवं दक्षिणी भागों में कुछ संख्या में कॉकेसॉयड प्रजाति के मानव भी फैले हुए हैं। अफ्रीकन नीग्रायड जनसमूह में क्षेत्रीय भिन्नतायें परिलक्षित होती है। फलस्वरूप इन्हें पुनः निम्न भागों में विभक्त किया गया है–

(i) वास्तविक या मौलिक नीग्रो (True Negro)
(ii) जंगली नीग्रो (Forest Negro)
(iii) नाइलोटिक नीग्रो (Nilotic Negro)
(iv) अर्ध हैमिट (Half–Hamite)
(v) बांटू नीग्रो (Bantu Negro)
(vi) बुशमैन–हाटेनटाट (Bushman Hottentot)
(vii) पिग्मी (Pygmy)

(i) वासितविक या मौलिक नीग्रो (True Negro) :

यह उप मानव समूह पश्चिमी अफ्रीका के सेनेगल नदी से नाइजीरिया की पूर्वी सीमा तक फैला हुआ है। सूड़ान, कैमरुन एवं कांगों में इन लोगों की बहुलता है। इनके सिर मध्यम एवं लम्बा, नाक चपटी एवं चौडी, होंठ मोटे एवं नीचे की ओर मुड़े आदि प्रमुख शारीरिक लक्षण है। इनकी त्वचा का रंग काला होता है। इनका मुखमण्डल उद्गतहनुता प्रदर्शित करता है। ये लोग प्रायः लम्बे कद (173 सेमी० औसतन) के होते हैं।

(ii) जंगली नीग्रो (Forest Negro) :

ये लोग अफ्रीका के ऊष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों (Tropical regions) पश्चिम में सेनेगल नदी से सूडान

एवं युगान्डा तक, पूर्व में उत्तरी रोडेशिया तक तथा दक्षिण में निचले अंगोला तक फैले हुए हैं। इनके सिर लम्बे, माथा आगे की ओर ढलवा, नाक चपटी, होंठ पीछे की ओर मुड़े होते हैं। गण्डास्थियाँ उभरी तथा मुखमण्डल उद्गतहनुता रखता है। इनका वक्षस्थल ढोलक (Barrel) के सदृश होता है। इनकी टांगे अपेक्षाकृत छोटी होती तथा भुजायें लम्बी होती है। इनकी त्वचा का रंग गाढा एवं श्यामल होता है। इनका शरीर गठीला जिसका औसत ऊँचाई 170 सेमी॰ होती है।

(iii) नाइलोटिक नीग्रो (Nilogic Negro) :

यह जनसमूह नील नदी के घाटी के आस–पास देशों में विस्तीर्ण है। इनका सिर लम्बा तथा अधिकांशतः नाक चौड़ी होती है। इनके बाल ऊनी होते है। ये पतले शरीर वाले जिनकी औसत ऊँचाई 178 सेमी॰ पायी जाती है।

(iv) अर्ध हैमिट (Half–Hamite) :

ये लोग पूर्वी एवं पूर्व–मध्यवर्ती अफ्रीकी देश– टांगनिका एवं कीनिया में फैले हुए हैं। इनकी उत्पत्ति नीग्रो एवं हैमिट के मिश्रण से हुई, ऐसा माना जाता है। इनकी त्वचा चाकलेटी रंग की होती है। सिर लम्बा एवं मध्यम, नाक चपटी एवं चौड़ी, होंठ मोटे एवं मुड़े हुए गण्डास्थियाँ उभरी होती है। इनका मुखमण्डल हल्की उद्गतहनुता प्रदर्शित करता है। इनका औसत कद 170 सेमी॰ का पाया गया है।

(v) बांटू नीग्रो (Bantu Negro) :

यह मानव समूह मध्य एवं दक्षिणी अफ्रीकी भूभाग में फैला हुआ है। इनका विस्तार रिपो ढेलरे नदी के मुहाने के पश्चिम तटीय क्षेत्र से जूब नदी के मुहाने तक पाया जाता है। ये लोग बांटू भाषा भाषी हैं। इनमें हैमिटिक, नीग्रिटों एवं बुशमैन हाटेनटाट का मिश्रण पाया जाता है। इनकी त्वचा पीलापन लिए भूरी होती है। इनका सिर लम्बा, माथा चपटा, मुखमण्डल हल्का उद्गत होता है। ये लोग अपेक्षाकृत मध्यम कद (167 सेमी॰ औसतन) को प्रदर्शित करते हैं।

(vi) बुशमैन हाटेनटाट (Bushman Hottenot) :

इन्हें 'खोइसन' (Khoisan) के नाम से भी पुकारा जाता है। इस नाम का पूर्व भाग खोट (Khot) हाटेनटाट लोगों हेतु तथा पश्च भाग– 'सन' (San) वुशमैन मानव समूह के लिए है। 'हाटेनटाट' को 'खोई खाम' (Khoi–Kham) भी कहते है। ये दोनों मानव समूह अफ्रीका के कालाहारी मरुस्थल में पाये जाते है। इनके सिर मध्यम (Mesocephalic) तथा मुखमण्डल चौडे एवं चपटे होते हैं। इनमें उद्गतहनुता परिलक्षित होती है। इनके होंठ मोटे तथा मुडे, नाक छोटी तथा चौडी, गण्डास्थियाँ उभरी, माथा पतला, तथा ठोढी विकसित होती है। इनके आँखों में इंपीकैथिक फोल्ड उपस्थिति है।इनके सिर केबाल कटीले होते है। इनके मुखमण्डल एवं शरीर पर बाल बहुत कम पाये जाते है। स्त्रियों के कूल्हे बहुत उभरे होते है जिसे स्टीटोपीजिया (Steatopygia) कहते है। बुशमैन–हाटेनटाट का औसत कद 152 सेमी॰ आंका गया है।

(vii) पिग्मी (Pigmy) :

ये लोग अफ्रीका के विष्वतरेखीय क्षेत्र– कांगों के आस–पास विस्तृत हैं। इसके अतिरिक्त यह उप प्रजाति एशियायी द्वीपों– प्रायद्वीपो मलय, सुमात्रा फिलीपाइंस, नीदरलैण्ड, न्यूगिनी आदि में फैले हुए है। कुछ मानव वैज्ञानिक इस नृजातिसमूह को मानव की सर्वाधिक प्राचीन शाखा मानते है। लेकिन कई मानव वैज्ञानिक आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों को प्राचीन मानव समूह मानते हैं। पिग्मियों का कद नाटा (142 सेमी॰ औसतन) पाया जाता है। इनका रंग पीत–भूरा एवं श्यामल होता है। इनका सिर छोटा एवं मध्य प्रकार का होता है। इनके चेहरे चौड़े, नाक चपटी, ऊपरी होंठ उभरे एवं मोटे, निचले होंठ मोटे एवं मुडे ऑखे बडी एवं उत्कीर्ण एवं मुखमण्डल उद्गतहनुता रखता है। इनके बाल काले एवं कोमल होते है। पिग्मियों को पुनः तीन उपसमूहों– अफ्रीकी पिग्मी, एशियायी पिग्मी एवं ओशीनिक पिग्मी में बांटा गया है।

अफ्रीकी पिग्मी जिन्हें नीग्रिलो (Negrillo) भी कहते हैं, ये कांगों क्षेत्र के निवासी है। इनकी शारीरिक ऊँचाई अन्य पिग्मी समूहों की तुलना में छोटी होती है। यह औसतन 136 सेमी० पायी गयी है। इनकी नाक के नथुने ऊँचे एवं चौडे होते हैं।

एशियायी पिग्मियों को नीग्रिटों भी कहा जाता है। ये अण्डमान मलय एवं सुमात्रा प्रायद्वीप तथा फिलीपाइंस में फैले हुए है। इनके निवास क्षेत्र के आधार पर क्रमशः अण्डमानी, सेमंग (Semang) एवं ऐटा (Aeta) नृजातिसमूहों में पुनः विभक्त किया जाता है। इनकी शारीरिक कद नाटा एवं गठीला होता है लेकिन सेमंग का औसत शारीरिक कद 152 सेमी० अण्डमानी पिग्मी का 148 सेमी० तथा ऐटा का 142 सेमी० पाया गया है। इनके सिर के बाल सामान्यतया घुंघराले तथा गहरे भूरे से काले रंग के होते है। शेष लक्षण सामान्य पिग्मियों की भाँति होते हैं।

ओशीनिक पिग्मी को न्यूगिनी पिग्मी (New Guinea Pigmy) भी कहते हैं। न्यूगिनी के मध्य भाग में ये लोग सघन रूप से पाये जाते हैं। इनका औसत कद 145 सेमी० होता है। इनकी त्वचा पीत–भूरी होती है। सिर लम्बा एवं मध्यम प्रकार का होता है। सिर के बाल ऊनी तथा काले होते हैं। इनके शरीर पर बालों का वितरण होता है। इनकी नाम छोटी, चौडी एवं चपटी होती है। इनका होंठ गहरा होता है।

2. ओशीनिक नीग्रायड (Oceanic Negroid) :

ये लोग फिजी एवं न्यूगिनी द्वीपों में रहते हैं। इनकी त्वचा भूरे अथवा काले रंग की होती है। इनका माथा गोल, नाक उभरी (अफ्रीकन नीग्रों की तुलना में) होंठ हल्के मोटे एवं मुड़े होते हैं। बालों का रंग काला होता है। ये अफ्रीकन नीग्रों की तुलना में अधिक सघन मात्रा में पाये जाते हैं। इस उप प्रजाति को मुख्यतः दो उपभागों में बांटा गया है– पापुआन (Popuwan) एवं मेलानेशियन (Melanesian)।

(i) **पापुआन** (Papuwan)– ओशीनिक अथवा महासागरीय द्वीपों के नीग्रायडों में पापुआन सर्वाधिक है। इनकी त्वचा चाकलेटी रंग की काजल–भूरी होती है। इनका सिर लघु से दीर्घ प्रकार का होता है। इनका माथा ढलवा एवं झुका होता है। इनकी नाक चौड़ी एवं उभरी होतीहै। बाल हल्के घुंघराले तथा काले होते है। इनके चेहरे पर बालों का वितरण अधिक होता है। इनका औसत कद 168 सेमी० पाया गया है।

(ii) **मेलानेशियन** (Melanesian)– ये मेलानेशियन द्वीपों में फैले हुए हैं। इनके कद छोटे से मध्यम प्रकार के होते हैं। इनकी त्वचा तांबे के सदृश गहरी चाकलेटी रंग की पायी जाती है। अधिकांशतया सिर लम्बा तथा माथा गोल होता है। नाक सीधी एवं चौडी होती है। बाल घुंघराले, छल्लेदार एवं काले होते हैं। इनके शरीर पर बालों का वितरण अल्पतम होता है।

***

भारत में प्रजातीय तत्व

भारत एक विशाल देश है जहाँ अनेकों जातियाँ, जनजातियाँ एवं आदिम नृजातियाँ निवास करती है। इन मानव समूहों में विश्व की तीनों प्राथमिक प्रजातियों के तत्व मिश्रित प्रतीत होते है। इनमें से कौन सी मानव जाति भारत की मूल निवासी है, कौन सा प्रजातीय समूह सर्वाधिक प्राचीन है, यह सुनिश्चित कर पाना एक दुर्लभ कार्य हैं क्योंकि इसके उत्तरी पश्चिमी भाग में कॉकेसायड, उत्तरी पूर्वी भाग में मंगोलॉयड एवं दक्षिणी मध्यवर्ती भाग में नीग्रिटों तत्वों का इन नृजातियों में बाहुल्य दिखाई पड़ता है। दूसरे यहाँ की जनजातियों एवं आदिम जातियों का असमान प्रसार इस प्रश्न को और अधिक दुरुह बनाता है क्योंकि ये 427 जनजातियाँ जो कुल जनसंख्या का 7.5 प्रतिशत भाग है ये भारत के प्रत्येक भाग में समानरूप से नहीं पायी जाती। इनमें तीनों प्रजातीय तत्वों का वितरण भी समान रूप से नहीं पाया जाता। प्रागैतिहासिक काल से इस भू-भाग में कौन से लोग रह रहे हैं यह भारतीय मानववैज्ञानिकों के लिए आज भी अभूतपूर्व चुनौती है। लेकिन विद्वानों में प्रायः यह मान्यता व्याप्त लगती है कि यहाँ भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न प्रजातियों के लोग आते रहे, इन प्रत्येक नवागन्तुकों के आगमन ने मानव-मिश्रण को प्रत्येक बार और अधिक बढ़ाया है, इस कई नवीन प्रजातियाँ उत्पन्न होती गयी है। लेकिन इनके साक्ष्य अनुपलब्ध होने से भारत के प्रजातीय इतिहास का वर्णन करना एक कठिन कार्य है।

भारतीय प्रजातियों का व्यवस्थित अध्ययन सर्वप्रथम सर एच० एच० रिजले ने किया। सन् 1891 में भारत की जनगणना जो तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने करवाई गयी, उसका जिसका निर्देशन रिजले ने किया। इन्होंने सर्वप्रथम शरीरमिति एवं अन्य सरलतापूर्वक उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर भारतीय प्रजातियों के वर्गीकरण की भी चेष्टा की। इनके परिणामों को 1908 में अपनी पुस्तक 'द पीपुल्स ऑफ इंडिया' (The Peoples of India) में प्रकाशित करवाया। इसमें उन्होंने व्यक्त किया कि भारत की प्रजातियों की उत्पत्ति मूल तीन प्रजातियों- द्रविडियन (Dravidian), मंगोलॉयड (Mongoloid) एवं इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan) से हुई। भारत की जनजातियों में मंगोलॉयड (Mangoloid) एवं द्रविडियन (Dravidian) के लक्षण पाये जाते हैं। रिजले के अनुसार भारत में निम्न सात प्रजातीय समूह पाये जाते हैं-

1. तुर्को-ईरानियन (Turko-Iranian)
2. इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan)
3. साइथो-द्रविडियन (Scytho-Dravidian)
4. आर्यो-द्रविडियन (Aryo-Dravidian)
5. मंगोलो-द्रविडियन (Mongolo-Dravidian)
6. मंगोलॉयड(Mangoloid)
7. द्रविडियन (Dravidian)

1. तुर्को-ईरानियन (Turko-Iranian) :

रिजले ने यह सम्भावना व्यक्त की कि यह समूह टर्की एवं ईरान के लोगों के मिश्रण से उत्पन्न हुआ जो बलूचिस्तान एवं पाकिस्तान के सीमावर्ती भूभागों में पाये जाते हैं। इनमें बलोची एवं अफगान लोग आते हैं। इनकी त्वचा का रंग गोरा, शारीरिक कद लम्बा, आँखे काली एवं भूरी होती है। इनका सिर चौड़ा तथा बाल काले होते हैं। इनके चेहरे पर बाल अधिक पाये जाते हैं। इनकी नाक प्रायः नुकीली तथा उभरी होती हैं।

2. इण्डो–आर्यन (Indo–Aryan) :

ये लोग अधिकांशतया उत्तरी भारत में पूर्वी पंजाब, राजपूताना तथा काश्मीर की घाटी में फैले हुए है। इस प्रजाति में राजपूत, जाट तथा खत्री आदि जातियों के लोग सम्मिलित किये गये है। ये लोग प्रायः लम्बे कद एवं चौड़े सिर (लघुशिरस्क) वाले लोग होते हैं। इनकी त्वचा का रंग औसतन गोरा, नाक नुकीली उभरी तथा लम्बी होती है। इनकी आँखे काली होती है। इनके शरीर पर बालों का वितरण पाया जाता है। इनके सिर के बाल काले, काले–भूरे, सीधे तथा लहरदार होते हैं।

3. साइथो–द्रविडियन (Scytho–Dravidian) :

इनकी उत्पत्ति साइथियन (Scythian) उच्च जाति तथा द्रविडियन (Dravidian) निम्न जाति के मिश्रण से हुई। इस प्रजाति के लोग मध्य प्रदेश, गुजरात तथा कुर्ग के पहाड़ी क्षेत्रों में विस्तृत है। इनमें मराठी, ब्राह्मण, कुनवी, तथा कुर्ग सम्मिलित किये गये हैं। ये लोग मध्यम कद तथा गोरी त्वचा वाले होते हैं। इनका सिर मध्यम तथा चौड़ा होता है। इनके शरीर पर बालों का वितरण कम पाया जाता है। इनके सिर के बाल भूरे, काले सीधे व लहरदार होते हैं।

4. आर्यो–द्रविडियन (Aryo–Dravidian) :

यह प्रजाति इण्डो–आर्यन एवं द्रविडियन के मिश्रण से उत्पन्न हुई। इसमें उत्तर प्रदेश, राजपूताना तथा बिहार में निवास करने वाले लोग सम्मिलित किये गये हैं। इनका कद छोटा तथा मध्यम होता है। ये हल्के भूरे या हल्के काले रंग.के होते है। इनका सिर लम्बा तथा नाक मध्यम एवं चपटी होती है। ये इण्डो–आर्यन से अपेक्षाकृत छोटे कद एवं चौडी नाक लक्षणों के आधार पर पृथक होते हैं। ऐसा माना जाता है कि यह प्रजाति एक विशिष्ट देशज अथवा हिन्दुस्तानी समूह का प्रतिनिधित्व करती है।

5. मंगोलों–द्रविडियन (Mongolo–Dravidian) :

इसी उत्पत्ति मंगोलियन तथा द्रविडियन के मिश्रण से हुई है। इस समूह के लोग उडीसा तथा बंगाल में पाये जाते हैं। इस प्रजाति के लोगों में बंगाली ब्राह्मण, कायस्थ तथा बंगला देशवासी सम्मिलित किये जाते है। ये लोग मध्यम कद तथा श्यामल रंग के होते है। इनका सिर गोल व चौड़ा, नाक मध्यम अथवा चौडी होती है। इनके मुखमण्डल एवं शरीर पर बालों का वितरण अधिक पाया जाता है। इनका सिर इण्डो–आर्यों की तुलना में अधिक चौड़ा होता है। ये विशिष्ट लक्षण लगभग सभी बंगालियों की विशेषता है इसलिए इसे प्रायः 'बंगाली प्रकार' भी कहा जाता है।

6. मगोलॉयड (Mongoloid) :

इस प्रजाति के लोग हिमालय पर्वतक्षेत्रों तथा असम एवं उत्तरी पूर्वी भागों में अधिक संख्या में फैले हुए हैं। इनकी आँखों में इपीकैंथिक मोड़ (Epicanthic Fold) पाया जाता है। इनकी नाक चौड़ी, मुखमण्डल चपटा तथा सिर चौडा होता है। इनके बाल सीधे एवं काले पाये जाते है। शरीर पर बालों का वितरण बहुत कम पाया जाता है। इनकी त्वचा का रंग गहरा–पीला होता है। इनके शरीर की ऊँचाई छोटी होती है।

7. द्रविडियन (Dravidian) :

रिजले के मतानुसार यह प्रजाति भारत की मूल निवासी (Aborogine) है। इसमें पडोसी प्रजातियों का मिश्रण होने से इनके शारीरिक लक्षणों में संशोधन हुआ है। ये लोग दक्षिणी एवं मध्य भारत के प्रान्तों में फैले हुए है। इनकी त्वचा का रंग श्यामल होता है। इनका सिर लम्बा (दीर्घशिरस्क) होता है। इनके सिर के बाल काले एवं घुंघराले होते है। इनका शारीरिक कद छोटा होता है।

रिजले का उक्त प्रजातीय वर्गीकरण मुख्य रूप से बंगाल, पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त (United Provinces of Agra and Avadh) की 89 जातियों एवं जनजातियों पर ली गयी मापों पर आधारित है जो कालान्तर में विवादों के घेरे में आ गया। इसकी आलोचना कई मूलभूत तथ्यों के आधार पर की गयी। इनके

आलोचकों में अग्रगणी ए० सी० हैडन (A.C. Haddon) इस वर्गीकरण को नहीं मानते। इनके मतानुसार भारत की सर्वाधिक प्राचीन प्रजाति पूर्व–द्रविडियन (Pre–Dravidian) है न कि द्रविडियन (Dravidian)। हट्टन (Hattan) आदि प्रजातिविदों ने नीग्रिटों को सर्वाधिक प्राचीन माना है। जिसका उल्लेख भी रिजले के वर्गीकरण में नहीं हुआ है।

हट्टन (J.H. Hatton) ने उक्त प्रजातीय वर्गीकरण पर टिप्पणी करते हुए कहा कि रिजले का यह कथन कि आरम्भ में भारतवर्ष एशिया से पृथक् था और इसके निवासी आर्य लोगों के आगमन से पूर्व तक जंगली थे', उचित प्रतीत नहीं होता। डी० एन० मजूमदार (D.N. Majumdar) ने रिजले की इस बात पर आलोचना की कि बंगाल के समस्त लोगों की आँखों में मो ड़ उपस्थित होता है, यह सर्वथा असत्य एवं भ्रामक है क्योंकि बंगाल के ब्राह्मणों एवं कायस्थों में यह तत्व नहीं पाया जाता है। पी० सी० महलानबीस (P.C. Mahalanobis) एवं कार्ल पियर्सन (Carl Pearson) के अनुसार रिजले ने बंगाल में मंगोलॉयड प्रजाति के प्रभाव पर आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है जबकि यह एक भाषायी समूह (Linguistic group) है।

इसके अतिरिक्त रिजले की अध्ययन विधियों की भी समीक्षा की गयी। रिजले का सम्पूर्ण वर्गीकरण शरीरमितिक तथ्यों पर आधारित है।वह मापें रिजले ने स्वयं नहीं ली इसमें निहित भिन्नता की पर्याप्त सम्भावना हो सकती है परिणामों को भ्रामक बना सकते हैं दूसरे इनकी प्रतिचयन विधि (Sampling Technique) दोषयुक्त है क्योंकि ऊँची जाति के लोगों को प्रतिचयन से निकाल दिया गया जो निम्न जातियों के समान लक्षण प्रदर्शित कर रहे थे। तीसरे इनकी सांख्यकीय गणना त्रुटियुक्त है तथा कई छोटी–छोटी भूलें पायी गयी हैं। चौथे, इन्होंने चौडे सिर वाले मनुष्यों की उत्पत्ति का आधार मंगोलॉयड प्रजाति को माना। लेकिन सभी मंगोलॉयड समूह को लोग चौड़े सिर वाले नहीं होते और गुजरात के चौडे सिर वाले लोगों को मंगोलॉयड समूह से बिना किसी आधार के पृथक् कर लेना भी दोषमुक्त प्रणाली है। पाँचवे द्रविडियन एवं आर्यन जो सर्वमान्य भाषाई समूह (Linguistic group) है, उन्हें प्रजाति मानना सर्वथा भ्रामक है।इन प्रजातियों में भी अन्य प्रजातियों के लक्षण पाये जाते है इसे नजरंदाज नहीं किया जा सकता।

रिजले के अध्ययन के उपरान्त अनेकों प्रजातिविदों ने भारत की प्रजातियों का अध्ययन करने की चेष्टा की। सन् 1924 में ए० सी० हैडन भारतीय मानव समूहों को पाँच भागों में विभक्त किया–

1. पूर्व द्रविडियन (Pre–Dravidian)
2. द्रविडियन (Dravidian)
3. इण्डो–आर्यन (Indo–Aryan)
4. इण्डो–अल्पाइन (Indo–Alpine)
5. मंगोलॉयड(Mangoloid)

इस प्रजातियों का प्रसार–क्षेत्र सम्पूर्ण भारत के तीन भौगोलिक भागों को बताया। जो निम्नलिखित है–

1. हिमालय क्षेत्र

हैडन के अनुसार इस क्षेत्र में इण्डो–आर्यन, इण्डो–अफगान तथा मंगोलॉयड प्रजातियाँ निवास करती है। इण्डो–आर्यन श्वेत त्वचा, ऊँचा कद, संकीर्ण नासिका वाले लोग है। कुल्लू घाटी के कैनेट तथा नेपाली इनमें सम्मिलित किये गये है। बाल्टी इण्डो अफगान का उदाहरण है। मंगोलॉयड प्रजाति इस क्षेत्र में अधिकांश रूप में फैले हुए है। इनकी त्वचा का रंग गहरा–पीला, बाल काले सीधे तथा गण्डास्थियाँ उभरी होती है। खासी, बोडो लप्चा आदि असम, मेघालय, त्रिपुरा की जनजातियाँ इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

उत्तर–पूर्वी क्षेत्र (NEFA) में अन्य प्रजातीय तत्व भी दृष्टिगोचर होते हैं। इनको हैडन ने 6 उपभागों में बांटा। प्रथम दीर्घशिरस्क एवं चौड़ी नासिका जो तत्व खासी, कुकी, मणिपुरी, कछारी आदि में मुख्यतः तथा कुछ नागा में है। द्वितीय समूह– दीर्घशिरस्क एवं मध्यम नासिका ये तत्व प्रमुखतया नागा में पाये जाते

है। तृतीय समूह– मध्यम शिरस्क तथा चौडी नासिका– ये तत्व खासी जनजाति में पाया जाता है। चतुर्थ समूह लघुशिरस्क (चौडे सिर) एवं सकरी नाक– ये लक्षण एशियाटिक भागों से आये लोगों में पाया जाता है। पंचम समूह– लघु शिरस्क एवं चौड़ी नाक– ये लक्षण पेरीमोइन में पाये जाते है। छठा समूह दीर्घशिरस्क एवं चौडी नाक– ये लक्षण मूलतः भारतीय है।

2. उत्तरी मैदानी क्षेत्र

इस क्षेत्र में मुख्यतः इण्डो–अफगान प्रजाति पायी जाती है। इनका सिर लम्बा होता है। इनकी नाक लम्बी, उठी एवं सीधी होती है। इनका कद मध्यम एवं लम्बा होता है। इनकी आँख काली, त्वचा का रंग भूरा (कत्थई) तथा बाल काले तथा लहरदार होते हैं। ये लक्षण मुख्यतः जाट एवं राजपूतों में विद्यमान है। ये तत्व निम्न जातियों (Lower Caste) में भी मिश्रित हो गये है।

3. दक्षिणी अथवा दकन क्षेत्र

इस क्षेत्र के जनसमूहों में नीग्रिटों तत्व पाया जाता है। इनका माथा उभरा, त्वचा श्यामल तथा बाल काले व घुंघराले होते हैं। कोचीन के कादर, नीलगिरि के युरुला तथा पालनी पहाडियों के युनियंस में ये तत्व विद्यमान है। इसके अतिरिक्त हैडन ने इस क्षेत्र में पाये जाने वाले मुख्यतया चार तत्वों का वर्णन किया है– (i) आदि–द्रविडियन या पूर्व–द्रविडियन– इनकी नाक चौड़ी, कद छोटा तथा सिर लम्बा होता है। जैसे संथाल, भील, गौड आदि, (ii) द्रविडियन– इनकी नाक मध्यम, कद मध्यम एवं सिर लम्बा होता है जैसे– तमिल ब्राह्मण, मालावार एवं कोचीन के लोग, (iii) दक्षिणी चौड़े शिरस्क– इनकी नाक मध्यम, कद मध्यम तथा सिर मध्यम एवं चौडा होता है। जैसे– पवाश, पनियन, तिन्नीवेली तट के मछुवारे, (iv) पश्चिमी दीर्घशिरस्क, इनकी नाक लम्बी, सिर चौडा एवं त्वचा कत्थई रंग की होती है जैसे– नागर ब्राह्म एवं कुर्ग लोग।

इस प्रकार हैडन ने रिजले के वर्गीकरण से भिन्न मत प्रस्तुत किया। इनके अनुसार पूर्व द्रविडियन अथवा आदि द्रविडियन भारत की प्राचीनतम प्रजाति अथवा मूल निवासी जाति है। इनके मतानुसार चौडे सिर वाले लोग अल्पाइन प्रजाति मूल के प्रवासी तत्व है। इस प्रकार इससे स्पष्ट होता है कि आदि द्रविडियन, इण्डो–आर्यन, इण्डो–अल्पाइन तथा मंगोलियन भारत के मौलिक प्रजातीय तत्व है।

1926 में बोन युगान वान ईक्सटेड (B.E. Von Eiekstedt) ने भारत में चार प्रजातियों के विस्तार का मत प्रस्तुत किया जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं–

1. वैडिडड (Veddid)– (i) गोंडिड, (ii) मेंलिड
2. मेलानिड (Melanid)– (i) दक्षिण मेलानिड, (ii) कोलिड
3. इण्डिड (Indid)– (i) ग्रेसाइल इंडिड (ii) उत्तरी इंडिड
4. पैलियो–मंगोलॉयड (Palaeo Mongoloid)।

उक्त प्रजातीय वर्गीकरण शारीरिक, भाषायी एवं सांस्कृतिक तत्वों के आधार पर किया गया, लेकिन यह वर्तमान प्रजातीय अवधारणा के अनुरूप वर्गीकरण नहीं है। इसके अनुसार वेडिडड सबसे अधिक प्राचीन समूह है जिन्हें प्राचीन भारतीय भी कहा जाता है। ये लोग प्रायः जंगलों में निवास करते है। इन्हें दो समूहों– गोंडिड (Gondid) तथा मैलिड (Malid) में बाँटा गयाहै। गोंडिड गहरे भूरे रंग वाले, काले बाल वाले मातृवंशीय परिवार है जो टोटम पर अधिक विश्वास करते है जैसे– गोंड, भील, उराव, तथा थारू आदि। मैलिक गहरे भूरे रंग वाले आदि संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते है। इनके बाल घुंघराले होते है जैसे– कुरुम्बा, बेडडा आदि।

मेलानिड समूह को 'काले भारतीय' के नाम से भी पुकारा जाता है। इन्हें दक्षिणी मेलानिड (South Melanid) तथा कोलिड (Kolid) में बांटा गया है। दक्षिणी मेलानिड मातृवंशीय काले रंग वाले लोग हैं जबकि कोलिड की त्वचा काली अथवा भूरी होती है ये टोटम पर अधिक विश्वास करने वाले मातृवंशीय परिवार है। मुंडा, हो, संथाल जनजातियाँ कोलिड का उदाहरण हैं।

इंडिड नवीन भारतीय हैं। इनकी विकसित संस्कृति तथा सुंदर शरीर वाले लोग है। इन्हें ग्रेसाइल इंडिड तथा उत्तरी इंडिड समूहों में बांटा गया ह। इनके क्रमशः वगाली एवं राजपूत उदाहरण है। ये दोनों पितृवंशीय समूह हैं।

पैलियो मंगोलायड की त्वचा पीलापन लिये हुए भूरी होती है। इनके बाल सीधे तथा आँखों में मोड़ (Epicanthic Fold) पाया जाता है। इनमें अनेकों जनजातियों सम्मिलित की जाती है। मद्रास के पुलायन भी इसका उदाहरण है।

जे० एच० हट्टन (J.H. Hutton) ने नीग्रिटों को भारत की सबसे पुरानी प्रजाति माना है। इनके अनुसार इस तत्व के पश्चात् भारत में प्रोटो आसट्रेलॉयड प्रजाति का आगमन हुआ। सम्भवतः इनके पर्वज फलीस्तीन के रहने वाले लोग होंगे। मेडीटेरेनियन समूह के लोग कई किस्तों में भारत में आये। इनमें पहली शांखा के लोग अधिक विकसित तकनीक रखते थे जिन्हें धातु का प्रयोग का ज्ञान था। सम्भवतः इन्हीं लोगों ने सिंधु घाटी की सभ्यता को जन्म दिया। हट्टन ने भारत में निम्नलिखित प्रजातियें के अस्तित्व को उजागर किया है–

1. नीग्रिटो (Negrito)
2. प्रोटो–आस्ट्रेलायड(Proto–Australoid)
3. मेडीटेरेनियन (Mediterranean)
4. अस्पाइन प्रजाति के आर्मीन्वायड (Armenoid of Alpine Race)
5. मंगोलायड(Mangoloid)
6. इण्डो–आर्यन (Indo–Aryan)

ज्यूफ्रीडा एवं रिगेरी (Giuffrida & Riggeri, 1934) में 1934 में निम्न प्रजाति वर्गीकरण को प्रस्तुत किया–

(i) नीग्रिटो (Negrito) जिसमें बेडडा तथा दक्षिण भारत के लोग सम्मिलित किये।

(ii) आदि द्रविडियन अथवा आस्ट्रेलायड (Predraidian Or Australoid) जिसमें वैदिक संथाल, मुण्डा, ओरांव आदि जनजातियों को सम्मिलित किया।

(iii) द्रविडियन (Dravidian) इसमें तेलगू, तमिल भाषा भाषी लोगों को रखा गया है।

(iv) ऊँचा दीर्घशिरस्क (High Dolichocephalic) टोडा जनजाति इसका उदाहरण है।

(v) दीर्घशिरस्क आर्यन (Dolichocephalic Aryan) इण्डो एवं इण्डो ईरान में ये लक्षण पाये जाते हैं।

(vi) श्वेत त्वचीय लघु शिरस्क (While Skin Brachycephalic) आमिनों तथा जार्जियन आदि समूहों में ये लक्षण देखने को मिलते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्गीकरण रिजले के वर्गीकरण से कई तथ्यों के आधार पर तो पृथक् अवश्य हैं लेकिन भारत की प्रजातियों के वर्गीकरण का व्यवस्थित एवं सर्वमान्य ढांचा प्रस्तुत करने में पूर्णतया असमर्थ हैं। ये सभी अध्ययन व्यापक क्षेत्रीय कार्यों एवं आंकडों पर आधारित न होने से भारतीय प्रजातियों के सम्पूर्ण चित्र को प्रस्तुत नहीं कर पाते।

सन् 1931 में बी० एस० गुहा(B.S. Guha) ने भारतीय जनसंख्या का विस्तृत अध्ययन किया। इसके आधार पर इन्होंने कुछ भिन्न प्रकार का प्रजातीय वर्गीकरण 1939 में प्रकाशित किया, जिसे कई मानव वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। इन्होंने 2500 मनुष्यों पर कई शारीरिक मापें ली जिन्हें प्रजातीय समता का गुणांक (Coefficient of Racial Likelihood) के आधार पर इन मनुष्यों को विभिन्न प्रजातियों में विभाजित किया। इस मानव मितिक अध्ययन के आधार पर इन्होंने सम्पूर्ण भारत के निवासियों को निम्न 6 प्रजातियों में विभक्त किया–

1. नीग्रिटों (Negrito)
2. प्रोटों–आस्ट्रेलॉयड(Proto–Atstraloid)
3. मंगोलॉयड(Mongoloid)
4. मेडीटेरेनियन 'या' भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
5. पश्चिमी लघुशिरस्क (Western Brachycephalic)
6. नार्डिक (Nordic)

1. नीग्रिटो (Negrito) :

गुहा का मत है कि नीग्रिटों भारतवर्ष की सबसे पुरानी प्रजाति है। अधिकांशतया ये लोग अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूहों में पाये जाते हैं। नीग्रिटो केरल तथा तमिलनाडु में भी पाये जाते हैं। यह तत्व विशेषकर कदार, पलयान, इरुला तथा कोचीन एवं त्रावनकोर की पहाड़ी क्षेत्रों की जनजातियों में पाये जाते है। ये शारीरिक लक्षणों में मेलानेशियन एवं अफ्रीकी निग्रिटो तत्वों से समानता रखते है।

इन लोगों की त्वचा का रंग श्याम तथा बाल काले घुंघराले एवं ऊनी प्रकार के हैं। इन लोगों का कद छोटा तथा शरीर गठीला होता है। इनका सिर चौड़ा तथा मध्यम होता है। इनका ललाट (Forehead) उभरा होता है। इनकी नाक चपटी और चेहरा छोटा एवं उद्‌गत होता है। इनकी भ्रूकटक समान एवं चपटे तथा होंठ मोट होते हैं।

लेकिन भारतवर्ष में नीग्रिटों तत्व कीं उपस्थिति एक विवाद का विषय बना हुआ है। इस देश में इस तत्व की उपस्थिति के बारे में सर्वप्रथम डि क्वाट्रिफेगस (De Quatrefages) तथा 1877 में कीने (Keane) ने अपनी पुस्तक 'इंडियन इथनोलॉजी' (Indian Ethnology) में किया जिसमें इस तत्व की उपस्थिति के मत को प्रस्तुत किया। इनके मतानुसार यह तत्व भारत में मलाया से आया।जिसका प्रतिनिधित्व बेडडा, कदार, इरुला एवं कुरुम्बा जनजातियों में करती हैं। इसके लिए इन जनजातियों के अफ्रीकी एवं ओशीनिक नीग्रिटों की भाँति ऊनी (Frezzly) बालों को आधार माना। इन्होंने एल० के० ए० अय्यर (L.K.a. Ayyar) की पुस्तक 'कोचीन कास्ट एण्ड ट्राइब्स' की प्रस्तावना लेखन में भारत में आई प्रजातियों के कालक्रम (Chronology) को प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इसके बाद लैपीक्यू (Lapieque) ने 1903–1904 में कदार जनजाति के अध्ययन के आधार पर इसमें प्राचीन नीग्रिटों तत्व की उपस्थिति को बताया। लेकिन थर्सटन (Thurston, 1909) ने लैपीक्यू के मत को अस्वीकार किया और कहा कि नीलगिरि एवं अण्डमान में रहने वाली जनजातियों में नीग्रिटों लक्षण तो प्रतीत होता है लेकिन यह अण्डमानी तत्व के समान नहीं है इसे पूर्व–द्रविडियन माना जा सकता है। टर्नर (Turner, 1905) ने भी कीने के मत का खण्डन किया तथा नीग्रिटो तत्व उपस्थिति को निराधार माना।

इस प्रकार भारत में नीग्रिटो तत्व की उपस्थिति पर बीसवीं सदी के भारतीय प्रजातिविदों में बहुत अधिक मतभेद रहे हैं। इसका खण्डन रिजले (Haddon), हावेल (Howell, 1936), आइकस्टेड फाउलर (Fowler) तथा मजूमदार (Majumdar) सरीखे मानवैज्ञानिकों ने किया है। रिजले ने 1915 तथा 1936 में क्रमशः डूल बक्सटन (Duelley Buxton) तथा हावेल (Howell) ने अपने–अपने दक्षिणी भारत के जनसमूहों के अध्ययन आधार पर कीने के मत का खण्डन किया है। लेकिन हावेल यह मानते हैं कि नीग्रिटो तत्व भारत की प्रजातियों में प्राचीनतम है लेकिन कालान्तर में अन्य प्रजातियों के आगमन से यह समाप्त हो गया है।

मजूमदार नीग्रिटो तत्व की भारत में उपस्थिति पर शंकालु प्रतीत होते हैं। वे नीग्रिटों को, भारत का प्राचीन तत्व भी नहीं मानते उनके अनुसार 'प्रोटो–आस्ट्रेलॉयड' (Proto–Australoid) भारत की प्राचीन प्रजाति है।

कुछ विद्वान जैसे– हैडडन (Haddon, 1924), अय्यप्पन (Aiyappan), इहरनफेल्स (Ehrenfels, 1952), सरकार (S.S. Sarkar, 1936), कैप्रियन (Capriane) आदि विद्वान् ये मानते हैं कि नीग्रिटों तत्व किसी न किसी रूप में आज भी भारतीय जनसमूहों में पाया जाता है। हैडडन के अनुसार नीग्रिटो तत्व कदार में पाया जाता है तथा यह एक प्राचीन तत्व है। अय्यप्पन ने कदार, उरली एवं कन्निकर आदि समूहों को बालों के आधार पर नीग्रिटो प्रजाति में रखा है। गेट्स ने भारत के संदर्भ में नीग्रिटों शब्द का प्रयोग अति व्यापक बताया है। इनके अनुसार पुलायन (Pulayan) जनजाति जो नीग्रिटो तत्व का प्रतिनिधित्व करती है, के लहरदार बाल तथा चौडी नाक, मोटे होठ आदि प्रमुख नीग्रो लक्षण हैं। मित्रा तथा चटर्जी ने पुलायन, पोलाची, कदार तथा कोल जनसमूहों में इस तत्व की उपस्थिति का संकेत दिया है। इहरनफेल्स ने कुरियन कुट्टी के मनुष्यों में इस तत्व की विद्यमानता पर बल दिया है। कून (1958) ने कदार नीग्रिटो उपप्रजाति का प्रतिनिधि माना है। सरकार ने यह मत प्रदान किया कि दक्षिण प्रायद्वीप के कुछ समुद्रतटीय जनपदों में सम्भवतः नीग्रो दासों के आगमन से यह मिश्रण हो गया होगा। फिशर (1932) ने कदार के ऊनी तथा बेडडा के लहरदार वालों को उत्परिवर्तन बताया है तथा यह भी कहा है कि आस्ट्रेलॉयड में इस प्रकार के कम से कम तीन उत्परिवर्तन पाये गये हैं। इसी प्रकार मोर (Mohr) ने 1932 में नार्वे परिवार में बाल का उत्परिवर्तन होना बताया है। इस आधार पर सरकार ने कहा कि जिस प्रकार नार्वे में नीग्रायड तत्व की कोई चर्चा नहीं करता उसी प्रकार भारत में भी नीग्रिटों तत्व की उपस्थिति को नकारा जा सकता है।

भारतीय जनसमूहों में रक्त समूहों की आवृत्ति के आधार पर भारत में नीग्रिटो तत्व की विद्यमानता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। लेकिन मुण्डा तथा भील में अपवाद स्वरूप 'बी' रुधिरवर्ग की बहुलता पायी गयी है लेकिन अन्य शारीरिक लक्षणों के आधार पर यह नीग्रिटो से पृथक होते है। मानवमितीय तथा त्वचा प्ररूपों (Dermotoy atoglyphic) के आधार पर कदार ज़नजाति को वेडडायड (Veddoid) अथवा प्रोटो–आस्ट्रेलायड(Proto–Australoid) प्रजाति का माना जाता है।

इस प्रकार उक्त वैज्ञानिकों के विचारों का विश्लेषण करें तो यह प्रतीत होता है कि भारतीय प्रायद्वीप में अब यह तत्व नहीं पाया जाता लेकिन अण्डमान द्वीपसमूह की जनजाति जैसे– ओंगे आदि में यह तत्व विद्यमान है, जो बारतवर्ष का एक भाग है। दूसरे बालों को ही नीग्रिटो तत्व की विद्यमानता ठोस आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह उत्परिवर्तन का परिणाम भी हो सकता है। यद्यपि गुहा इसे भारत की एक प्रजाति मानते है, फिर भी नीग्रिटो तत्व की विद्यमानता को सिद्ध करने हेतु और अधिक व्यवस्थित शोध की आवश्यकता है।

2. प्रोटो–आस्ट्रेलायड (Proto–Australoid) :

गुहा के मतानुसार यह भारत की दूसरी प्राचीनतम प्रजाति है। इस प्रजाति का वितरण प्रमुखतया समस्त मध्य एवं दक्षिण भारत की जनजातियों में तथा गंगा नदी के तटीय क्षेत्रों में पाया जाता है। छोटा नागपुर अथवा मध्य पूर्वी भारत के उराव, संथाल, मुण्डा तथा हो, दक्षिण भारत के चेंचू (Chenchn), कुरुम्बा (Kurumba) आदि जनजातियों समूह इस प्रजाति के प्रतिनिधित्व हैं। ये गहरे काले या गहरी भूरी त्वचा के होते हैं। इनका शारीरिक कद छोटा होता है। इनका सिर लम्बा तथा भ्रूकटक उभरा होता है। इनकी नाक चौडी व चपटी तथा जड पर दबी हुई है। इनके बाल घुंघराले एवं लहरदार हैं। गुहा के अनुसार सम्भवतः ये लोग आस्ट्रेलिया से आये होंगे जिनकी उत्पत्ति नीग्रिटो से मिश्रित होने के पश्चात् हुई।

3. मंगोलायड (Mongoloid) :

इस जनसमूह के सदस्यों की शारीरिक ऊँचाई मध्यम होती है। इनकी गण्डास्थियाँ उभरी तथा चेहरा चपटा हुआ होता है। इनकी नाक चौडी तथा दबी हुई होती है। इनके शरीर एवं मुखमण्डल पर बालों वितरण अत्यल्प होता है। इनकी आँखे तिरछी जिनमें आँख का मोड (Epicanthic Fold) पाया जाता है। भारत में ये जनसमूह उत्तरी एवं उत्तरी–पूर्वी हिमालय क्षेत्रों में

(i) पुरा मंगोलायड (Palaeo–Monogloid)

(ii) तिब्बतो–मंगोलायड (Tebeto–Mongoloid)

(i) **पुरा–मंगोलायड** (Palaeo–Monogloid)– ये अधिक प्राचीन हैं। ये पुनः दो उपभागों में लम्बे एवं चौड़े सिर वालों में बाँटे गये हैं। ये सामान्यतः मध्यम कद के होते हैं। इनकी त्वचा का रंग काला एवं गहरा भूरा होता है। इनका चेहरा चपटा तथा नाक मध्यम होती है। इनकी आँखों में मोड़ अनिवार्य रूप से पाया नहीं जाता लेकिन आँखों में तिरछापन पाया जाता है। इस प्रकार की रचना वाले ये मानव सामान्यतः बर्मा देश के सीमावर्ती भागों एवं चटगांव के पहाड़ी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। खासी, नागा, होरी लम्बे सिर वाले पुरा–मंगोलॉयड का प्रतिनिधित्व करते हैं जबकि लेपचा, कलिमपोंण की जनजातियाँ चौड़े सिर वाले प्रकार का प्रतिनिधित्व करती है।

(ii) **तिब्बतो मंगोलॉयड** (Tebeto–Mongoloid)– इनका कद अपेक्षाकृत ऊँचा, नाक मध्यम से लम्बी, सिर चौड़ा, मुखमण्डल लम्बा एवं चपटा, त्वचा पीले रंग की तथा आँखे तिरछी होती हैं। इनकी आँखों में मोड (Epicanthic Fold) पाया जाता है। ये जनसमूह भूटान एवं सिक्किम में निवास करने वाले तिब्बती हैं।

4. भूमध्य सागरीय अथवा मेडीटिरेनियन (Mediterranean) :

जनसंख्या एवं विस्तार की दृष्टि से यह सबसे बडी भारतीय प्रजाति है। ऐसा माना जाता है कि यह जनसमूह भूमध्य सागरीय क्षेत्रों से कई खेमों में आया होगा। इन्हीं लोगों ने भारत की आदि सभ्यता 'सिंधुघाटी सभ्यता' को जन्म दिया। इन्हें तीन भागों में बांटा गया है–

(i) पुरा–मेडीटिरेनियन (Palaeo–Mediterranean)

(ii) वास्तविक मेडीटिरेनियन (Proper Mediterranean)

(iii) प्राच्य प्रकार या प्राच्य मेडीटिरेनियन (Oriental Type Or Oriental Mediterranean)

(i) पुरा–मेडीटिरेनियन

इस उप प्रजाति के प्रतिनिधि तेलगू, तमिल ब्राह्मण तथा दक्षिण भारत के नायर हैं। ये मध्यम कद वाले मानव हैं। इनकी त्वचा का रंग गहरा होता है। इनका सिर लम्बा तथा मस्तक उद्‌गत एवं पतला होता है। इनकी नाक चौड़ी एवं मुखमण्डल पतला होता है। इनके चेहरे एवं शरीर पर बालों का वितरण कम होता है।

(ii) वास्तविक मेडीटिरेनियन

ये लोग उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बंगाल में फैले हुए हैं। इस समूह में इन्दौर की मराठा स्त्रियाँ एवं कोचीन के नम्बूदरी ब्राह्मणों को भी सम्मिलित किया गया है। ये लोग लम्बे एवं मध्यम कद के होते हैं। इनकी त्वचा का रंग श्याम, भूरा, जैतूनी होता है। इनका सिर तथा चेहरा लम्बा होता है। इनके चेहरे एवं शरीर पर बालों का वितरण होता है।

(iii) प्राच्य प्ररूप अथवा प्राच्य मेडीटिरेनियन

ये लोग पंजाब, राजस्थान, गुजरात तथा उत्तरप्रदेश में फैले हुए है। राजपूत तथा जाट इस प्रकार के भूमध्यसागरीयों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये लोग भूमध्यसागरीय क्षेत्रों के वर्तमान मानव समूह से समानता रखते हैं। इनकी नासिका लम्बी तथा उत्तल कद लम्बा, त्वचा गौर एवं भूरी तथा सिर लम्बा होता है। इनके शरीर पर बालों का वितरण पाया जाता है।

5. पश्चिमी लघुशिरस्क (Western Brachycephals) :

पश्चिमी लगुशिरस्कियों को निम्न तीन उपसमूहों में विभक्त किया गया है–

(i) अल्पाइन (Alpine)

(ii) डाइनेरिक (Dinaric)

(iii) आरमीनॉयड (Armenoid)

(i) **अल्पाइन–** ये लोग सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र तथा सौराष्ट्र में निवास करते हैं। यह माना जाता है कि ये लोग यूरोप के आल्पस पर्वतीय क्षेत्रों से यहाँ आये। इन लोगों के कद मध्यम तथा त्वचा गहरे भूरे रंग की होती है। इनका सिर चौड़ा तथा मुखमण्डल गोल होता है। इनकी नाक उभरी होती है।

(ii) **डाइनेरिक–** ये लोग कुर्ग, उडीसा तथा बंगाल में फैले हुए है। इनके शारीरिक लक्षण यूरोप में फ्रांस से लेकर ग्रीस के मेसाडोनिया में पाये जाने वाले जनसमूह 'डाइनेरिक' से मिलते–जुलते है। इनके शरीर गठीले तथा कद लम्बे होते हैं। इनकी त्वचा का रंग प्रायः श्यामल पाया जाता है।इनका सिर चौड़ा तथा ऊँचा होता है। इनकी नाक उत्तल तथा चेहरा लम्बा होता है।

(iii) **आर्मीनॉयड–** बम्बई के पारसी इसके विशिष्ट प्रतिनिधि है। इसके अतिरिक्त बंगाली कायस्थ तथा वैश्य समुदाय को इस जनसमूह में सम्मिलित किया जाता है। इन लोगों के कद छोटे अथवा मध्यम होते हैं। इनकी त्वचा गौर रंग की होती है। इनका सिर चौडा तथा नाक पतली होती है। इनके कुछ लक्षण डाइनेरिक उपसमूह से भी मिलते हैं।

6. नार्डिक (Nordic) :

ये लम्बे कद (यदा–कदा मध्यम कद भी) गोरे रंग, लम्बे सिर लम्बी नाक वाले मानव हैं। इनकी नाक पतली तथा ऊँची होती है। इनकी आँखे हल्की नीली होती हैं। इनके निचले होंठ पतले एवं सुन्दर होते हैं। ये शक्तिशाली जबडे, लम्बे चेहरे वाले होतेहै। इनके गहरे भूरे रंग तथा सीधे होते है। इस प्रजाति में सम्मिलित किये जाने वाले लोग हिन्दुकुश पहाडी क्षेत्रों, पंजाब, राजस्थान, (पंजाबी, राजपूत आदि) में फैले हुए हैं। इसमें 'काफिर' (Kaffir) को भी सम्मिलित किया जाता है। इस जनसमूह में पठान, भूमध्यसागरीय तथा डाइनेरिक प्रजाति के लक्षण मिश्रित प्रतीत होते हैं।

गुहा का उपरोक्त वर्गीकरण भारत के प्रजातीय वर्गीकरण इतिहास में एक प्रमुख स्थान रखता है क्योंकि यह उनके द्वारा किये गये शोध कार्य पर आधारित है। लेकिन इनके कई कथन अध्ययन की कसौटी पर खरे नहीं उतरते, जिसके लिए इनके वर्गीकरण की ख्यातिलब्ध मानववैज्ञानिकों ने आलोचना की है। गुहा ने अपने वर्गीकरण में नीग्रिटो प्रजाति की भारत में उपस्थित दर्शायी है। मजूमदार एवं अनेकों विद्वान इसे नहीं मानते और न ही नीग्रिटो को भारत की प्राचीन प्रजाति स्वीकार करते है। इनके अनुसार ये लोग दक्षिण एशिया में रहते थे लेकिन भारत के लोगों में इसके साक्ष्य देखने को नहीं मिलते कीथ (Kicth) गुहा की इस बात पर टिप्पणी करते है कि गुहा का यह मत– 'भारत में सभी प्रजातियाँ बाहर से आयी हैं' सत्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि भारत में किसी भी प्रजाति का उदविकास न हुआ हो, असम्भव है। इसी प्रकार एस० एस० सरकार गुहा की आलोचना 'चौड़े सिर वाली प्रजाति की बहुलता के आधार पर की है क्योंकि इन्होंने अपने अध्ययनों में कुछ ही प्रान्तों में चौड़े सिर वाले लोगों को देखा। परन्तु इन आलोचनाओं के उपरान्त भी गुहा का वर्गीकरण प्रासंगिक एवं तथ्याधारित है।

एस० एस०सरकार(S.S. Sarkar) ने भारतीय जनसमूहों का अध्ययन लगभग दो दशक तक किया। इन्होंने अपने अध्ययन 'सिर की देशना' (Cephalic Index) को बनाया। इन्होंने अपने वर्गीकरण को 1954 में अपनी पुस्तक 'दि एवारीजनल रेसेज ऑफ इण्डिया' (The Aboriginal races of India) में प्रकाशित किया। इन्होंने भारत में कुल 6 प्रजातीय तत्वों की उपस्थिति का मत प्रस्तुत किया जो संक्षेप में निम्नवत् हैं–

1. आस्ट्रेलायड(austaloid)
2. इण्डो आर्यन (Indo–Aryan)
3. ईरानो–स्काइथियन (Irano–Scythian)

4. मुण्डारी भाषायी (Mundari Speaking People)

5. फार–ईस्टर्न (For Eastern)

6. मंगोलियन (Mongolians)

1. **आस्ट्रेलायड–** ये छोटे कद, गहरे रंग की त्वचा, चौडी एवं चपटा नाक एवं लम्बे सिर (dolichocephalic) वाले भारतीय है। ये प्रमुख लक्षण सम्पूर्ण भारत की निचली जातियों में पाया जाता है। इनके बाल लहरदार होते हैं। इन्हें प्रोटो–आस्ट्रेलायड, प्री–द्रविडियन एवं वेडिडड आदि नामों से भी कुछ विद्वान पुकारते हैं। सरकार के अनुसार, इस प्रगति के वास्तविक प्रतिनिधि उरली, कदार, पनियान आदि दक्षिण भारतीय जनजातियाँ हैं।

2. **इण्डो–आर्यन–** इनके सिर लम्बे तथा भारी है। इनके कद लम्बे, त्वचा गोरी तथा हल्के भूरे होते हैं। इनके प्रतिनिधि हिन्दुकुश पर्वत क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इस समय यह जनसमूह सिंधु नदी एवं गंगा नदी के मैदानी भाग, उत्तर प्रदेश, बिहार पश्चिमी बंगाल तथा असम तक फैला हुआ है।

3. **ईरानो–स्काइथियन–** इनका कद एवं सिर मध्यम (Mosocephalic 77–79) होता है। ये बिहार, बंगाल तथा असम में फैले हुए है। इसके अतिरिक्त ये अल्प संख्या में गुजरात, महाराष्ट्र तथा मैसूर में भी बिखरे हुए हैं। उनके वितरण के आधार पर ऐसा माना जाता है कि ये लोग भारत के उत्तरी–पश्चिमी सीमा से प्रविष्ट होकर यहाँ धीरे–धीरे अन्य क्षेत्रों में फैले हैं।

4. **मुण्डारी भाषायी समूह** (Mundari Speaking People)– ये लोग गठे शरीर वाले छोटे कद के होते है। इनका सिंर लम्बा तथा आस्ट्रेलायड की तुलना में त्वचा हल्के भूरे रंग की होती है। इनके बाल सीधे तथा गहरे काले रंग के होते हैं। ये पूर्वी–मध्य भारत जैसे छोटा नागपुर, (बिहार, बंगाल) उडीसा एवं मध्यप्रदेश में पाये जाते हैं। यह जनसमूह मंगोलायड प्रजाति के सन्निकट प्रतीत होता है।

5. **फार–ईस्टर्न–** ये जनसमूह टूटकोरियनतिन्रेविली तट तथा चिन्तागोंग तटीय पहाड़ी क्षेत्रों में पाया जाता है जो मलायन–पॉलीनेशियन समूहों के शारीरिक लक्षणों में समानता रखता है। इस जनसमूह के विशिष्ट लक्षणों में गहरे रंग की त्वचा, चौड़ा सिर तथा छोटा कद है जिसके आधार पर ये मलाया प्रायद्वीपीय लोगों से भिन्न लगते हैं।

6. **मंगोलियन–** ये लोग भारत के उत्तरी पूर्वी सीमावर्ती क्षेत्रों में फैले हुए हैं। इनकी त्वचा का रंग पीताभ होता है। इनकी शरीर एवं त्वचा पर बालों का अत्यल्प वितरण पाया जाता है। आँखें तिरछी तथा इनमें मोंड़ (Epicanthic Fold) पाया जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त वर्गीकरण से सरकार ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारत में लम्बे सिर वाले (Dolichocephalic) लोग बहुलसंख्यक है। मध्यम एवं लघु शिरस्क लोग भी उचित अनुपात में पाये जाते हैं। इन्होंने हड़प्पा एवं मोहन–जो–दारों से प्राप्त कंकालीय अवशेषों का विस्तृत अध्ययन करके इनके कपालीय देशना को ईरान के टेप–हिस्सार की देशना के समान बताया। इन्होंने यह भी विचार व्यक्त किया कि सिंधु घाटी लोगों में प्राचीन प्रकार बेडिडड अथवा आस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्व प्रदर्शित करते है। ब्रह्मगिरि के कंकालों में आस्ट्रेलॉयड तथा ईरानो स्काइथियन प्रजातीय तत्वों को प्रकाशित किया। अतः सरकार का यह वर्गीकरण कुछ नवीन तथ्यों को अवश्य उजागर करता है जो रिजले एवं गुहा के वर्गीकरण से स्पष्ट नहीं होते। लेकिन साथ ही साथ सरकार आलोचना से परे नहीं हैं क्योंकि वह विवादित पहलू जो रिजले के वर्गीकरण में मिलते हैं और जिनकी आलोचना पूर्ववर्ती विद्वानों ने पहले ही की थी, उन्हें सरकार अपने वर्गीकरण में किसी ठोस तर्क के बिना स्थान दिया है, जैसे– इण्डो–आर्यन प्रजाति, मुण्डारी भाषा भाषी प्रजाति आदि।

***

पठनीय ग्रंथ

(Suggested Readings)

Ashley Montagu (1961)	:	An Introduction to Physical Anthropology, Cearles Thomas, Ilinds.
A.C. Haddon (1946)	:	Races of Man, Cambridge University Press.
B.G. Compbell (1982)	:	Humankind Evolving, Little Brown and Company. Boston
Carleton Coon (1965)	:	Origin of Races.
G.W. Lasker and R.N. Tyzzer (1976)	:	Physical Anthropology.
Deniel Hartl	:	Human Genetics
F. Vogel and A.G. Motulski (1982)	:	Human Genetics - New York
Norman V. Rothwell (1978)	:	Human Genetics. Prentice Hall Inc. N.J. U.S.A.
Curt. Stern (1962)	:	Human Genetics.
J.B. Birdsell (1972)	:	Human Evolution; An Introduction to the New Physical Anthropology. Chicago.
J. Buettner Janusch (1969)	:	Origins of Man, Willey Eastern Pvt. Ltd.
G.G. Simpson	:	
Ottovon Merren & Kasdan	:	Anthropology and the Behavioural and Health Science. University of Pittsburgh Press.
Ernst Mayr. (1982)	:	The Growth of Biological Thought, Diversity Evolution and Inheritance. Harward University Press.
John Napier (1967)	:	The Antiquity of Human Walking.
Boyd, W.C. (1950)	:	Genetics and Races of Man, Boston.
H. Cunmins & Midlo (1943)	:	Finger Prints, Palms and Soles; An Introduction to Dermatoglyphics, Philadelphia
Charles Darwin (1858)	:	On the origin of Spicies Through Natural Selection, London.
B.S. Guha (1931)	:	Census of India. I : III (1935) Govt. of India.
F.S. Hulse (1973)	:	Human Spices;An Introduction to Physical Anthropology. Random.
Le. Gross Clark (1960)	:	Antecidants of Man.
T. Dobzhansky (1962)	:	Mankind Evolving. Yale.
David Pilbeam (1972)	:	The Ascents of Man. Mac Millan.
E.E. Simmons (1972)	:	Primate Evolution. Mac Millan.
F. Weidenreich (1946)	:	Apes, Giants and Man, Chicago.
D.N. Majumdar (1973)	:	Races and Cultures of India.
T.H. Huxley (1963)	:	Man's place in Nature, London.
S.S. Sarkar (1954)	:	Aboriginal Races of India, Culcutta.
S.L. Washburn (1971)	:	The study of Human Evolution, New York.
S.L. Washburn (1968)	:	Perspectives on Human Evolution. Holt. Rinehart and Wiston, New York.
B.R.K. Shukla and Sudha Rastogi (1990)	:	Physical Anthropology and Human Genetices, New Delhi.

❑❑❑

लेखक के विषय में



डॉ० उदय प्रताप सिंह (जन्म 1964) सम्प्रति दीनदयाल उपाध्याय राजकीय महिला महाविद्यालय, राजाजीपुरम, लखनऊ में मानवविज्ञान विभाग के अध्यक्ष हैं। इसके पूर्व आपने मानव विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ में लगभग 10 वर्षों तक (1988-98) अध्यापन तथा शोधकार्य किया। शोधकार्य हेतु आपने तीन भारतीय जनजातियों-उरांव (बिहार), भोक्सा, एवं थारू (उ०प्र०) में गहन मानववैज्ञानिक क्षेत्रकार्य किया। इन अध्ययनों पर आधारित आपके एक दर्जन से भी अधिक शोधपत्र एवं लेख राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शोध-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में प्रकाशित हुए हैं। उत्तर प्रदेश की भोक्सा जन जातियों के जनसांख्यिकी एवं जैव-शारीरिक पक्ष पर शोधकार्य करने के फलस्वरूप लखनऊ विश्वविद्यालय ने आपको डॉक्टोरेट उपाधि (पी एच० डी०) प्रदान किया। उक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त आप "इंडियन जरनल ऑफ फिज़िकल एन्थ्रोपॉलोजी एण्ड ह्यूमन जेनेटिक्स" के सहायक सम्पादक, उत्तर भारत की एक ख्यातिलब्ध समाज कल्याण संस्था 'अनुराग' (एसोसियेशन फॉर नेचुरल यूनीवर्सल रिकांस्ट्रक्शन एण्ड एकैडमिक गाइडेंस) के अपर निदेशक तथा "नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ ह्यूमन डेवलपमेंट" के अवैतनिक निदेशक भी हैं। आप अनेक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के शैक्षिक संगठनों से सक्रिय रूप से सम्बद्ध हैं। शीघ्र ही आपका एक ग्रंथ- 'ह्यूमन इकोलॉजी एण्ड डेवलपमेंट इन इंडिया' प्रकाशित हुआ है।